॥ श्रीहरि: ॥

637

श्रीजैमिनीयाश्वमेधपर्व

हिन्दी टीकासहित

गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीहरि:

भूमिका

महर्षि जैमिनिको महाभारत शान्तिपर्व (अध्याय ३।२७।२७) में व्यासदेवके पाँच प्रधान शिष्योंमें अन्यतम बतलाया गया है। भागवत (१।५।२१ तथा १२।६।५३) में इन्हें सामवेदका आचार्य बतलाया गया है—'**सामगो जैमिनिः कविः।**' विष्णुपुराण (३।४ तथा ६।४) में भी यही बात कही गयी है। कहते हैं, इनके नाम लेनेसे वज्र गिरने, अग्निदाह या बिजली आदिका भय नहीं होता। इस सम्बन्धमें यह वचन बहुत प्रसिद्ध है—

मुनेः कल्याणमित्रस्य जैमिनेश्चापि कीर्तनात्। विद्युदग्निभयं नास्ति पठिते च गृहोदरे॥
जैमिनिश्च सुमन्तुश्च वैशम्पायन एव च। पुलस्त्यः पुलहश्चैव पञ्चैते वज्रवारकाः॥

(शब्दकल्पद्रुम)

इनकी बनायी हुई कई पुस्तकें मिलती हैं, जिनमें जैमिनीय मीमांसा-दर्शन बहुत ही प्रसिद्ध है। इसपर शबरस्वामीका शाबरभाष्य, भट्टपाद कुमारिलके श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक, टुप्टीका, पार्थसारथि मिश्रकी 'शास्त्रदीपिका' आदि कितने ही टीका-व्याख्या-भाष्यादि ग्रन्थ हैं। इनका ज्यौतिष-विषयक 'जैमिनीयसूत्रम्' बहुत ही प्रसिद्ध है। इसपर नीलकण्ठ दैवज्ञकी संस्कृत-टीका है। 'मार्कण्डेयपुराण' तथा 'पाद्म क्रियायोगसार' के ये ही प्रधान श्रोता हैं*। इनके नामसे एक 'उपाकर्माङ्ग-पद्धति' भी मिलती है।

---

* मार्कण्डेयपुराण इन्होंने द्रोणपक्षीके पुत्रों पिङ्गाक्ष, विबोध आदिसे सुना था। इस सम्बन्धमें एक बड़ी रहस्यपूर्ण बात विद्वानोंमें प्रचलित है। कहते हैं, अपने मीमांसादर्शनके 'तिर्यगधिकरण' (६।१।२) में जैमिनिने कई सूत्रोंमें पक्षियोंके ज्ञानादिमें भी अधिकारका खण्डन किया है। पर व्यासदेवने उनके इस मतका खण्डन उत्तरमीमांसामें किया है। इसीसे 'मार्कण्डेय' ने स्वयं जैमिनिजीकी शङ्काओंका उत्तर न देकर उन्हें ज्ञानी पक्षियोंके पास भेजा। पक्षियोंके ज्ञानपर उनका विश्वास न था, अत: वे चकित होकर कहने लगे कि यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है कि पक्षी होकर भी उन्हें दुर्लभ विज्ञान प्राप्त है। तिर्यक् योनिमें उन्हें ज्ञान कैसे प्राप्त हो गया (मार्कण्डेयपुराण, अध्याय १)। मार्कण्डेयजीने उन्हें सब समझाया और पक्षियोंके पास जाकर इन्होंने अपनी शङ्काएँ दूर कीं। काकभुशुण्डि आदिका ज्ञान कितना विशाल है, यह ये समझ पाये। इन सब बातोंका विस्तार वाल्मीकीय रामायण, किष्किन्धाकाण्ड, बालि-वध-प्रकरणके १८ वें अध्यायके १९ वें श्लोककी 'तिलक' व्याख्यामें देखनी चाहिये।

यह बात बहुत प्रसिद्ध है कि व्यासदेवके समान ही महर्षि जैमिनिने भी एक विशालकाय 'महाभारत' नामक ग्रन्थकी रचना की थी। वह 'जैमिनीय महाभारत' नामसे प्रसिद्ध था। किंतु काल-प्रभावसे अनेक बहुमूल्य ग्रन्थोंके समान उसका भी लोप हो गया और आज उसका एकमात्र 'आश्वमेधिकपर्व' ही हमारे बीच अवशिष्ट रह गया है*। यह जैमिनीय अश्वमेध व्यासकृत आश्वमेधिकपर्वसे बड़ा है और इसके १२ अध्यायोंमें पद्मपुराण, पातालखण्डोक्त 'श्रीरामाश्वमेध' का भी एक विशेषरूप सम्मिलित है†। इसमें चार हजारके लगभग श्लोक हैं। व्यासकृत आश्वमेधिकपर्वमें नीलकण्ठके अनुसार प्रायः तीन सहस्र श्लोक ही हैं। इसकी कथाएँ भी बड़ी मधुर, रोचक, सरस, भक्ति-प्रेमपरिपूर्ण तथा अत्यन्त आकर्षक हैं। उदाहरणार्थ नवाँ तथा दसवाँ अध्याय पढ़िये। भीमसेनके आन्तरप्रेम तथा बहिष्क्रोधकी ये बातें अन्यत्र कहाँ मिलेंगी? ग्यारहवें, बारहवें अध्याय भी इसी प्रकार बड़े विनोदपूर्ण हैं। अध्याय १७ से २० तक भक्त सुधन्वाकी बड़ी सुन्दर कथा है। मयूरध्वज तथा ताम्रध्वजके धर्मप्रेमकी कथा भी अद्भुत है। ५१ से ६० तक १० अध्यायोंमें 'चन्द्रहास' की बड़ी रम्य तथा प्रसिद्ध कथा है, जो (संस्कृतके ग्रन्थोंमेंसे) केवल इसी ग्रन्थमें मिलती है। शेषमें अर्जुनकी युद्ध-यात्रा है, जो बहुत ही रोचक है और प्रायेण वैयासिक अश्वमेधपर्वसे सर्वथा भिन्न है। इसकी रम्यता—चित्ताकर्षता भी अत्यन्त विलक्षण है। सदुपदेशमयी सूक्तियाँ भी जगह-जगह भरी हैं। इसे एक बार आरम्भ करनेपर फिर छोड़ना कठिन हो जाता है। वस्तुतः यह ग्रन्थ भारतीय वाङ्मयकी मर्यादाका परम उन्नायक है।

इतना होनेपर भी यह पुस्तक प्रायः कहींसे प्रकाशित न थी। वेंकटेश्वरप्रेससे एक पत्राकार संस्करण प्रकाशित था। इसलिये वह न सबको सुलभ थी और न सुविधाजनक। गीताप्रेसने महाभारत पत्रके चौथे वर्षमें ९ से ११ तकके अङ्कोंमें इसे प्रकाशित किया और यह अब एक सजिल्द, सचित्र, सटीक पुस्तकके रूपमें आपके हाथोंमें उपस्थित है। इसकी टीका सरस तथा भाषा प्रवाहमयी एवं हृदयग्राहिणी है। श्लोकोंका भाव भी ठीक, शब्दानुपूर्वी तथा स्पष्ट है। अस्तु, इस प्रकार भगवत्कृपासे यह कार्य पूरा हुआ। आशा है, पाठक इसके पठन, मनन आदिसे अपना ज्ञान संवर्धनकर सब प्रकार लाभ उठायेंगे। यदि इसमें कोई भ्रम या अशुद्धि हो तो वे हमें सूचित करें, अगले संस्करणोंमें उसे दूर करनेकी चेष्टा की जायगी।

विनीत—**जानकीनाथ शर्मा**

---

* बड़ौदा ओरियन्टल इन्स्टीच्यूटके संग्रहालयमें 'अभिमन्यु-उपाख्यानम्' की एक हस्तलिखित प्रति सुरक्षित है। इसका लेखनकाल सं० १९०९ है। मूलग्रन्थ—जिसकी यह प्रतिलिपि है, पहलेका होगा। उसे महाभारत, द्रोणपर्वका ही उपाख्यान बतलाया गया है। पर व्यासके महाभारतमें वह कथा बिलकुल नहीं मिलती। विद्वानोंका अनुमान है कि यह 'जैमिनीयभारत' का ही अंश है।

† द्रष्टव्य अध्याय २५ से ३६।

श्रीहरिः

जैमिनीयाश्वमेधपर्वकी विषय-सूची

चित्र-सूची

(तिरंगे)

(एकरंगे)

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतस्य जैमिनीयाश्वमेधपर्व[1]

प्रथमोऽध्यायः

युधिष्ठिरकी चिन्ता, व्यासजीका उन्हें समझाते हुए द्रव्य-प्राप्तिका उपाय, अश्वमेध-यज्ञकी विधि तथा उसमें छोड़े जानेवाले अश्वके लक्षणोंका वर्णन करना, यज्ञके विषयमें युधिष्ठिर भीमसेन-संवाद और व्यासजीका अश्वका पता बताना

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥ १ ॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उनकी लीलाओंको संकलित करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत आदि इतिहास-पुराण) का पाठ करना चाहिये ॥ १ ॥

जनमेजय उवाच

कथं युधिष्ठिरः प्रीतो मम पूर्वपितामहः ।
हयमेधं क्रतुवरं चक्रे बन्धुभिरन्वितः ॥ २ ॥

जनमेजयने पूछा—मुने ! (महाभारत-युद्धके पश्चात्) मेरे परदादा महाराज युधिष्ठिरने अपने भाइयोंके साथ प्रसन्नतापूर्वक यज्ञोंमें श्रेष्ठ अश्वमेधका अनुष्ठान किस प्रकार किया था ? ॥ २ ॥

जैमिनिरुवाच

शृणु राजन् प्रवक्ष्यामि धर्मराजस्य चेष्टितम् ।
दिवं पितामहे याते धर्मपुत्रोऽतिदुःखितः ॥ ३ ॥
यदृच्छया च सम्प्राप्तं व्यासं पप्रच्छ सादरम् ।
केनोपायेन मे ब्रह्मन् गोत्रहत्याकृतं भयम् ॥ ४ ॥
ध्रुवं विनाशमाप्नोति तन्मे ब्रूहि तपोधन ।

जैमिनिजीने कहा—राजन् ! मैं धर्मराज युधिष्ठिरका चरित्र विस्तारपूर्वक कहता हूँ, सुनो ! पितामह भीष्मके स्वर्ग-लोक चले जानेपर जब धर्मनन्दन युधिष्ठिर अत्यन्त शोकमें डूबे हुए थे, उसी समय स्वेच्छानुसार विचरते हुए व्यासजी उनके समीप पधारे । तब युधिष्ठिरने व्यासजीका आदर-सत्कार करके उनसे पूछा—'ब्रह्मन् ! जाति-भाइयोंकी हत्यासे उत्पन्न हुआ मेरा भय (पाप) किस उपायसे निश्चय ही नष्ट हो सकता है ? तपोधन ! वह उपाय मुझे बताइये ॥३–४½॥

विना भीष्मेण कर्णेन तथा द्रोणेन वर्जितम् ॥ ५ ॥
न मे प्रीतिप्रदं राज्यं यत् प्राप्तं पूर्वजार्जितम् ।

'क्योंकि पूर्वजोंद्वारा उपार्जित जो यह राज्य मुझे प्राप्त हुआ है, वह भीष्म, कर्ण तथा द्रोणाचार्यसे रहित होनेके कारण मेरे लिये हर्षप्रद नहीं हो रहा है ॥ ५½ ॥

कर्णस्य मन्दिरं रम्यं ब्रह्मघोषसमन्वितम् ॥ ६ ॥
मया शून्यं कृतं तच्च साम्प्रतं दानवर्जितम् ।

'कर्णका रमणीय भवन, जो नित्य वेदध्वनिसे गूँजता रहता था, वह मेरे द्वारा शून्य कर दिया गया । इस समय वह दानकर्मसे वञ्चित हो गया है ॥ ६½ ॥

यत्रार्थिनां गणा नित्यं लब्ध्वा मानं तथा धनम् ॥ ७ ॥
हर्षादश्रूणि मुञ्चन्ति तत्र मुञ्चन्ति शोकजम् ।

'जिस भवनमें याचकोंके दल प्रतिदिन सम्मान और धन पाकर हर्षके आँसू बहाते थे, वहीं अब वे शोकजन्य अश्रु गिरा रहे हैं ॥ ७½ ॥

धिङ् मदीयमिदं राज्यं यत्र भीष्मो न भानुजः ॥ ८ ॥
ताभ्यां विरहितं तद्वद् देहं चक्षुर्विवर्जितम् ।

'जिसमें पितामह भीष्म तथा सूर्यपुत्र कर्ण नहीं हैं, मेरे इस राज्यको धिक्कार है ! क्योंकि उन दोनोंसे हीन होनेके कारण यह राज्य नेत्रोंसे हीन शरीरकी भाँति शोभाहीन प्रतीत हो रहा है ॥ ८½ ॥

बहुधा शासितस्तेन भीष्मेणामितबुद्धिना ॥ ९ ॥
न जहाति च मां शोको घातयित्वा तथाविधान् ।
त्यक्त्वा राज्यं गमिष्यामि राज्यं भीमः करोतु वै ॥ १० ॥

'यद्यपि उन अगाधबुद्धि पितामह भीष्मने मुझे अनेक प्रकारके उपदेश देकर समझाया था, तथापि वैसे महानुभावों-का वध करनेके कारण शोक मेरा पिण्ड नहीं छोड़ रहा है । अतः मैं राज्यका परित्याग करके चला जाऊँगा । भीमसेन ही इस राज्यका शासन करें ॥ ९-१० ॥

यानि तीर्थानि दानानि तथा यज्ञक्रियाः शुभाः ।
कृत्वा पूतो भविष्यामि न पश्यामि हि साम्प्रतम् ॥ ११ ॥

जिन तीर्थों, दानों और शुभ यज्ञकर्मोंका सेवन एवं अनुष्ठान करके मैं पवित्र हो सकूँ, वे भी मुझे इस समय नहीं सूझ रहे हैं ॥ ११ ॥

---

[1] यह ग्रन्थ जैमिनिरचित महाभारतका एक पर्व है । उसके अन्य पर्व अब उपलब्ध नहीं होते हैं ।

व्यास उवाच

मा भयं कुरु राजेन्द्र न दोषस्ते भविष्यति।
तमुपायं करिष्यामि येन पूतो भविष्यसि ॥ १२ ॥

व्यासजीने कहा—राजेन्द्र ! तुम भयभीत मत होओ ! मैं ऐसा उपाय करूँगा, जिससे तुम पवित्र हो जाओगे और तुम्हें किसी प्रकारका दोष नहीं लगेगा ॥१२॥

यथा गोत्रकृतां हिंसामपहास्यसि पाण्डव।
अश्वमेधं क्रतुवरं यजस्व कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

पाण्डुपुत्र ! कुरुनन्दन ! तुम क्रतुश्रेष्ठ अश्वमेधका अनुष्ठान करो, जिसके द्वारा कुल एवं जाति-भाइयोंके वधके पापसे छूट जाओगे ॥ १३ ॥

रामेणापि पुरा वीर हयमेधत्रयं कृतम्।
यज्ञं कृत्वा तथा पुत्र राज्यं पालय मारिष ॥ १४ ॥

श्रेष्ठ वीर ! प्राचीनकालमें भगवान् रामने भी तीन अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान किया था। पुत्र ! तुम भी उसी प्रकार अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान करके राज्यका पालन करो ॥

राजधर्मेण यल्लब्धं शासनान्माधवस्य तु।
तद् राज्यं तु परित्यज्य कस्माद् गन्तुमिहेच्छसि ॥१५॥

भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञासे राजधर्मानुसार युद्ध करके तुमने जिस राज्यको प्राप्त किया है, उसे छोड़कर क्यों जाना चाहते हो ? ॥ १५ ॥

इह लोके परां कीर्तिं कुरु पुत्रक सुस्थिराम्।
यावत् ते बान्धवाः सर्वे वशगाः सन्ति साम्प्रतम् ॥१६॥

बेटा ! तुम्हारे सभी भाई इन दिनों जबतक तुम्हारे वशमें हैं; तबतक ही तुम इस लोकमें अपनी उत्तम कीर्तिको सुस्थिर बना लो ॥ १६ ॥

शरीरं दोषरहितं तावच्छ्रेयः समाचर।
दिवं प्राप्ता हि राजानः कृत्वा पुण्यादिकाः क्रियाः ॥१७॥

जबतक तुम्हारा शरीर जरा-व्याधि आदि दोषोंसे रहित है, तबतक तुम अपने श्रेयका भलीभाँति सम्पादन कर लो; क्योंकि पूर्वकालमें भी बहुत-से नरेश पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करके स्वर्गको प्राप्त हुए हैं ॥ १७ ॥

जैमि[illegible]ाच

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य व्यासस्यामिततेजसः।
उवाच दीनया वाचा धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १८ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! अमित तेजस्वी महर्षि व्यासके इस वचनको सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने दीन वाणीमें कहा ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

न वित्तं विद्यते मह्यं विना वित्तं न वै क्रतुः।
जायते मम विप्रर्षे न च पीडयितुं प्रजाः ॥ १९ ॥
न शक्नोमि नृपान् हन्तुं पितृमातृविवर्जितान्।

युधिष्ठिर बोले—ब्रह्मर्षे ! मेरे पास धन नहीं है और धनके बिना यज्ञ नहीं हो सकता। धनके लिये न तो मुझे प्रजाओंको पीड़ा देनेकी इच्छा होती है और न मैं माता-पिताओंसे हीन बालक राजाओंको ही मार सकता हूँ ॥१९½॥

दुर्योधनेन क्षपिता पृथिवी वित्तकारणात् ॥ २० ॥
तां कथं पीडयिष्यामि धरणीं काञ्चनेच्छया।

एक तो दुर्योधनने ही इस पृथ्वीको धनके निमित्त नष्ट कर डाला है, फिर उसे मैं भी सुवर्ण-प्राप्तिकी इच्छासे कैसे पीड़ा पहुँचाऊँ ? ॥ २०½ ॥

साहाय्यं नैव पश्यामि सुहृदः समरे हताः ॥ २१ ॥
तस्माद् राज्यं परित्यज्य गमनं मम रोचते।
किमत्रानन्तरं कार्यं तन्मे गदितुमर्हसि ॥ २२ ॥

इसके अतिरिक्त मुझे कोई अपना सहायक भी नहीं दीख रहा है; क्योंकि अपने सभी सुहृद् समरमें मारे जा चुके हैं। इसलिये अब राज्यको छोड़कर चला जाना ही मुझे अच्छा जान पड़ता है। ऐसी स्थितिमें अब आगे मेरा क्या कर्तव्य है ? यह मुझे बतानेकी कृपा कीजिये ॥ २१-२२ ॥

व्यास उवाच

मरुत्तेन कृतो यागस्तुष्टाः सर्वे द्विजोत्तमाः।
तैस्त्यक्तं बहुलं भूमौ काञ्चनं नृपनन्दन ॥ २३ ॥
हिमाचले तिष्ठति तत् पतितं त्वं समानय।
यत्नेतुमसमर्थास्ते विप्रा राज्ञा समर्पितम् ॥ २४ ॥
मरुत्तेन वदान्येन द्रविणं शतधा मखे।

व्यासजीने कहा—राजपुत्र ! पूर्वकालमें राजा मरुत्तने एक यज्ञ किया था, जिसमें उन्होंने सभी श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको दक्षिणा आदिसे संतुष्ट किया था। उदार दानी राजा मरुत्तने उस यज्ञमें सैकड़ों प्रकारके द्रव्य ब्राह्मणोंको समर्पित किये थे, जिन्हें ले जानेमें वे ब्राह्मण असमर्थ हो गये। तब उन्होंने बहुत-सा सुवर्ण वहीं पृथ्वीपर छोड़ दिया। वह सुवर्ण हिमालयपर्वतपर अभीतक पड़ा हुआ है, उसे तुम ले आओ॥

युधिष्ठिर उवाच

धन्योऽसौ मरुतो राजा येन यागस्तथाविधः ॥ २५ ॥
कृतो बहुसुवर्णाढ्यो यत्र विप्रास्तु तर्पिताः।
त्यक्त्वा सुवर्णं च गताः कथं तदहमानये ॥ २६ ॥

युधिष्ठिर बोले—महर्षे ! वे राजा मरुत्त धन्य हैं, जिन्होंने बहुत अधिक सोनेसे भरा-पूरा वैसा यज्ञ किया और उसमें ब्राह्मणोंको ऐसा तृप्त किया कि वे उस सुवर्णको छोड़कर चले गये। भला, उस धनको मैं कैसे ले आऊँ ? ॥२५-२६॥

ब्राह्मणानां विशेषेण वित्तं दुःखतरं मम।
मत्तः परो न निन्द्योऽन्यो भविष्यति नराधिपः ॥ २७ ॥

ब्राह्मणोंका धन (ले लूँ तो वह) मेरे लिये विशेषरूपसे कष्टदायक होगा। ऐसा करनेपर मुझसे बढ़कर निन्दनीय राजा दूसरा कोई नहीं होगा ? ॥ २७ ॥

ब्रह्मस्वे यस्य नृपतेर्मतिर्भवति दारुणा।
ग्रहणान्मज्जयत्येनं शिलेवाम्भसि दुस्तरा ॥ २८ ॥

जिस राजाकी बुद्धि ब्राह्मणका धन हड़प लेनेके लिये क्रूरतापूर्ण हो जाती है, उसे वह बुद्धि उस धनको ग्रहण करनेसे जलमें पड़ी हुई दुस्तर शिलाकी भाँति डुबो देती है ॥

प्रहसिष्यन्ति मां विप्रा मम यज्ञे तथाविधे।
अस्मदीयं धनं राजा प्रयच्छति हि नः करे ॥ २९ ॥
तस्मान्न कुत्सितं कर्म करिष्यामि कथंचन।

उस प्रकारके धनसे मेरे यज्ञके सम्पादित होनेपर द्विज मेरी हँसी उड़ायेंगे और कहेंगे कि यह राजा हमारे ही धनको हमलोगोंके हाथोंमें समर्पित कर रहा है, अतः ऐसा निन्दनीय कर्म मैं किसी प्रकार भी नहीं करूँगा ॥ २९½ ॥

एका त्रपा मे महती यन्मया संगरे हताः ॥ ३० ॥
कुरवो गुरवश्चैव सुहृत्सम्बन्धिबान्धवाः।
सम्मार्जयितुमेकां हि न समर्थोऽस्मि तां त्रपाम् ॥ ३१ ॥
द्वितीयैषा महाभाग विप्रद्रव्याद् भविष्यति।

महाभाग ! मैंने युद्धस्थलमें जो कौरवों, गुरुजनों, सुहृदों, सम्बन्धियों और बान्धवोंका संहार कर डाला है, यही मेरे लिये एक बहुत बड़ी लज्जाकी बात हो गयी है। मैं उस एक लज्जाका ही मार्जन करनेमें समर्थ नहीं हो पाता हूँ; फिर ब्राह्मणोंका द्रव्य ग्रहण करनेसे तो मेरे लिये दूसरी लज्जाकी बात उपस्थित हो जायगी ॥ ३०-३१½ ॥

व्यास उवाच

धन्योऽसि नृपशार्दूल सम्यगुक्तं त्वया वचः ॥ ३२ ॥
ब्रह्मस्वं प्रति यां शङ्कां प्रकरोषि वृथा हि सा।
यदा त्यक्तं धनं तैर्हि स्वाम्यं तेषां तदा गतम् ॥ ३३ ॥

व्यासजीने कहा—राजसिंह ! तुम धन्य हो ! तुमने बहुत अच्छी बात कही है । परंतु ब्राह्मणोंका धन लेनेके विषयमें जो तुम शङ्का कर रहे हो, तुम्हारी वह शङ्का व्यर्थ है; क्योंकि ब्राह्मणोंने जिस समय उस धनको त्याग दिया, उसी समय उनका स्वामित्व उस धनसे उठ गया ॥ ३२-३३॥

रामेण भूः पुरा दत्ता कश्यपाय महात्मने।
कथं गृह्णन्ति च महीं राजानः पापभीरवः ॥ ३४ ॥

पूर्वकालमें परशुरामजीने महात्मा कश्यपको यह पृथ्वी दानमें दे दी थी; फिर पापसे भय करनेवाले नरेश अब इस पृथ्वीको कैसे ग्रहण करते हैं ? ॥ ३४ ॥

दैत्यैर्जिता धरा चेयं दैत्येभ्यः क्षत्रियैर्जिता।
गतं स्वाम्यं च विप्राणां तस्माद् दोषो न विद्यते ॥ ३५ ॥

पहले इस पृथ्वीको दैत्योंने जीता था, फिर दैत्योंसे इसको क्षत्रियोंने जीता । इस प्रकार उसपरसे ब्राह्मणोंका अधिकार जाता रहा, अतः इसमें कोई दोष नहीं है ॥ ३५ ॥

यदा धराधिपत्यं हि प्राप्तं येन नृपेण च।
तदा तस्याखिलं वित्तं जायते नात्र संशयः ॥ ३६ ॥

जिस समय जिस राजाको इस पृथ्वीका स्वामित्व प्राप्त होता है, उसी समय उसका पृथ्वीके समस्त धनपर अधिकार होता है—इसमें कोई संदेह नहीं है ॥ ३६ ॥

तद् धनं त्वं समानीय कुरु यज्ञं च पाण्डव।
श्रुत्वा व्यासवचो राजाह्यपृच्छद् यज्ञसाधनम् ॥ ३७ ॥

अतः पाण्डुपुत्र ! तुम उस धनको लाकर यज्ञ करो। व्यासजीके इस वचनको सुनकर राजा युधिष्ठिरने यज्ञके साधनके विषयमें जिज्ञासा प्रकट की ॥ ३७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

ब्राह्मणाः कतिसंख्याका दक्षिणा कीदृशी क्रतौ।
हयश्च कीदृशो भाव्यस्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ३८ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—महर्षे ! अश्वमेध यज्ञमें कितने ब्राह्मण होने चाहिये ? इसमें किस प्रकारकी दक्षिणा दी जाती है ? और कैसा अश्व होना चाहिये ? इन सब बातोंका विशद विवेचन कीजिये ॥ ३८ ॥

व्यास उवाच

द्विजा विंशतिसाहस्रा मखादौ सम्प्रकीर्तिताः।
कुलीनाः सम्मताः प्राज्ञा वेदशास्त्रार्थपारगाः।
एकैकस्मै द्विजायात्र दक्षिणां प्रवदामि ते ॥ ३९ ॥

व्यासजीने कहा—राजन् ! यज्ञके आदिमें ब्राह्मणोंकी संख्या बीस हजार बतलायी गयी है । वे ब्राह्मण उत्तम कुलमें उत्पन्न, माननीय, बुद्धिमान् तथा वेद-शास्त्रोंके अर्थ-ज्ञानमें पारंगत होने चाहिये । इस यज्ञमें एक-एक ब्राह्मणको कितनी दक्षिणा देनी चाहिये ? यह मैं तुम्हें बतलाता हूँ ॥ ३९ ॥

एको गजो रथश्चैको हयश्चैकः सकाञ्चनः।
प्रत्येकं गोसहस्रं च रत्नप्रस्थं सकाञ्चनम् ॥ ४० ॥
भारश्च काञ्चनस्यैकः प्रदेया दक्षिणा मखे।
यस्मिन् दिने हयो राजन् मुच्यते प्रथमा हि सा ॥ ४१ ॥

इस यज्ञमें प्रत्येक ब्राह्मणको एक हाथी, एक रथ, सुवर्णभूषित एक अश्व, एक हजार गौएँ, सुवर्णयुक्त एक सेर रत्न और एक भार सोना दक्षिणारूपमें दिया जाना चाहिये । राजन् ! जिस दिन अश्व छोड़ा जाता है, उस दिनकी यह पहिली दक्षिणा कही गयी है ॥ ४०-४१ ॥

दक्षिणा कथिता रम्या तुरगं कथयामि ते।
गोक्षीरसमवर्णं च कुन्देन्दुहिमसंनिभम् ॥ ४२ ॥

पीतपुच्छं श्यामकर्णं सर्वतोगतिमुत्तमम् ।
श्यामं चापि महीपाल यज्ञेऽस्मिंस्तुरगं विदुः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार यज्ञकी रमणीय दक्षिणा कही गयी। अब तुमसे अश्वका वर्णन करता हूँ। उस अश्वका वर्ण गो-दुग्धके समान अथवा कुन्द, चन्द्रमा और हिमके सदृश उज्ज्वल होना चाहिये। उसकी पूँछ पीली और दोनों कान श्याम होने चाहिये। वह सब ओर जा सकनेवाला हो। भूपाल! ऐसे उत्तम श्यामकर्ण अश्वको मुनिजन इस यज्ञमें ग्रहण करने योग्य मानते हैं ॥ ४२-४३ ॥

चैत्रमासस्य राकायां मोच्योऽयं तुरगो नृप ।
वर्षमात्रं रक्षणीयः सर्वयोधैर्महाबलैः ॥ ४४ ॥

नरेश! चैत्रमासकी पूर्णिमा तिथिको यह अश्व छोड़ा जाना चाहिये और ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये कि बहुत-से महाबली योद्धा सालभरतक इसकी रक्षामें नियुक्त रहें ॥ ४४ ॥

पुत्रो वा बान्धवः शूरो रक्षणार्थं नियोज्यते ।
स्वयं यः कुरुते यज्ञमसिपत्रव्रतं चरेत् ॥ ४५ ॥
नियतः स च राजेन्द्र नात्र कार्या विचारणा ।
इष्टभोगान् वर्षमात्रं सेवेन्नारीविवर्जितान् ॥ ४६ ॥
एकत्र शयनं कार्यं पत्न्या सह नराधिप ।

राजेन्द्र! अपने शूरवीर पुत्र अथवा बान्धवको इस अश्वकी रक्षाके लिये नियुक्त किया जाता है तथा जो यज्ञका अनुष्ठान करता है, वह यजमान स्वयं नियमपूर्वक रहकर असिपत्र-व्रतका* पालन करे। जनेश्वर! इस विषयमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। यजमान एक वर्षतक स्त्री-समागमके अतिरिक्त अन्य सभी इष्ट भोगोंका सेवन कर सकता है। इस व्रतमें पत्नीके साथ एक शय्यापर शयन करना चाहिये ॥ ४५-४६½ ॥

यावदागमनं तस्य पुनरेव प्रजायते ॥ ४७ ॥
तावत् प्रयत्नवान् कर्त्ता निवसेद् धैर्यसंयुतः ।

जबतक वह अश्व पुनः लौटकर न आवे, तबतक यज्ञकर्ताको चाहिये कि वह धैर्यके साथ उपर्युक्त नियमोंका प्रयत्नपूर्वक पालन करता रहे ॥ ४७½ ॥

हयः पुरीषं मूत्रं वा कुरुते यत्र यत्र च ॥ ४८ ॥
गोसहस्रं प्रदेयं हि कर्तव्यं हवनं द्विजैः ।
पूजनीयाश्च ते विप्रा दक्षिणाभिर्न संशयः ॥ ४९ ॥

(पृथ्वीपर भ्रमणके लिये छोड़ा हुआ) अश्व जहाँ-जहाँ विष्ठा अथवा मूत्रका त्याग करता है, वहाँ एक सहस्र गोदान करे और ब्राह्मणोंद्वारा हवन करावे। फिर प्रचुर दक्षिणाओंद्वारा उन ब्राह्मणोंका सत्कार करना चाहिये, इसमें संशय नहीं है ॥ ४८-४९ ॥

ललाटे तुरगस्यापि पत्रं संलिख्य काञ्चनम् ।
बद्ध्वा स्वनामसंयुक्तं स्वप्रतापसमन्वितम् ॥ ५० ॥
कथनीयमिदं वाक्यं मयायं तुरगोत्तमः ।
विमुक्तोऽस्ति नृपः कश्चित् प्रतिगृह्णातु चेद् बली ॥ ५१ ॥

इसके सिवा, राजा एक सोनेके पत्रपर अपने नाम और प्रतापके सूचक वाक्यका उल्लेख करके उसे अश्वके ललाटपर बाँधे। उस पत्रमें निम्नाङ्कित वक्तव्य वाक्य लिखा जाय—'मैंने इस उत्तम अश्वको (दिग्विजयके लिये) छोड़ा है। यदि किसी राजामें बल हो तो वह इसे पकड़ ले' ॥ ५०-५१ ॥

यस्तु तं प्रतिगृह्णाति स जेतव्यो बलात् स्वयम् ।
अनेन विधिना वीर क्रतुरेष प्रजायते ॥ ५२ ॥

तदनन्तर यदि कोई राजा उस अश्वको पकड़ लेता है तो स्वयं पराक्रम करके उसे जीतना चाहिये। वीर! इस विधिसे यह अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न होता है ॥ ५२ ॥

असिपत्रव्रतयुतो बहुपुण्यफलप्रदः ।
एवमेव पुरा शक्रश्चक्रे हयक्रतोः शतम् ॥ ५३ ॥
देवेन्द्रत्वमवाप्यासौ मोदते च त्रिविष्टपे ।

असिपत्रव्रतके पालनपूर्वक किये जानेपर यह यज्ञ अधिक पुण्यफल प्रदान करनेवाला होता है। प्राचीनकालमें इन्द्रने इसी विधिसे सौ अश्वमेध यज्ञ किये थे, जिसके फलस्वरूप उन्हें देवराजपदकी प्राप्ति हुई और वे स्वर्गमें आनन्दका अनुभव कर रहे हैं ॥ ५३½ ॥

हयमेधशतं चक्रे देवेन्द्रो व्रतवर्जितम् ॥ ५४ ॥
यस्तु व्रतयुतं कुर्यादश्वमेधं महाक्रतुम् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तां प्रकरोति वसुन्धराम् ॥ ५५ ॥

उन देवराज इन्द्रने तो असिपत्रव्रतके बिना ही सौ अश्वमेध यज्ञ किये थे, परंतु जो उस व्रतके साथ-साथ इस यज्ञश्रेष्ठ अश्वमेधका अनुष्ठान करता है, वह पृथ्वीको समस्त पापोंसे रहित कर देता है ॥ ५४-५५ ॥

अनङ्गं को भवेज्जेता विना भीष्मं हि मानवः ।
तस्माद् भीता न कुर्वन्ति व्रतयुक्तं महामखम् ॥ ५६ ॥

भीष्मके अतिरिक्त दूसरा कौन मनुष्य है, जो कामदेवपर विजय पा सके! इसीलिये कामदेवसे भयभीत होकर मनुष्य असिपत्रव्रतके साथ इस श्रेष्ठ यज्ञका अनुष्ठान नहीं करते हैं ॥ ५६ ॥

यदि ते विद्यते शक्तिरनङ्गं प्रति भारत ।
विजेतुं कुरु यज्ञस्य प्रारम्भं कुरुनन्दन ॥ ५७ ॥

भारत! कुरुनन्दन! यदि तुम कामदेवको जीतनेकी शक्ति रखते हो तो इस यज्ञका आरम्भ करो ॥ ५७ ॥

---

* निर्विकारं मनः कुर्यादसिपत्रव्रतं त्विदम् ॥ पत्नीके साथ रहकर भी ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक मनको निर्विकार रखे—यह असिपत्र-व्रत कहलाता है।

युधिष्ठिर उवाच

सर्वथा हयमेधेऽहं शोच्योऽस्मि मुनिसत्तम।
न च द्रव्यं न च हयो न सहायाश्च सन्ति मे ॥ ५८ ॥

युधिष्ठिर बोले—मुनिश्रेष्ठ ! अश्वमेध यज्ञके विषयमें तो मैं सर्वथा शोचनीय ही हूँ; क्योंकि न तो मेरे पास धन है न वैसा अश्व है और न सहायता करनेवाले योद्धा ही हैं ॥५८॥

भीमादयोऽपि च मया क्लेशिता बहवो रणे।
कर्णस्य पुत्रो बलवान् वृषकेतुरुदारधीः ॥ ५९ ॥
बालः षोडशवर्षीयो धर्मतस्तं न योजये।
घटोत्कचसुतं चैकं मेघवर्णं न योजये ॥ ६० ॥
पितास्य निहतो रात्रौ मदर्थे भानुसूनुना।

भीमसेन आदि अपने भाइयोंको भी मैंने युद्धमें बहुत कष्ट पहुँचाया है। हाँ, कर्णका पुत्र वृषकेतु अवश्य बलवान् तथा उदार बुद्धिवाला है; परंतु वह अभी सोलह वर्षका बालक है, अतः धर्मतः उसे इस अश्व-रक्षणरूप कार्यमें नहीं नियुक्त करूँगा। इसी प्रकार घटोत्कचके पुत्र मेघवर्णको भी इस कार्यमें मैं नियुक्त नहीं कर सकता; क्योंकि वह अपने पिता-का एकलौता पुत्र है। इसका पिता घटोत्कच मेरे ही लिये सूर्यपुत्र कर्णद्वारा रात्रियुद्धमें मार डाला गया था ॥ ५९-६०½ ॥

यस्य प्रसादात् सततं पाण्डवः पृथिवीपतीन् ॥ ६१ ॥
जितवान् केशवश्चापि स दूरे मधुसूदनः।

जिसकी कृपासे पाण्डुपुत्र अर्जुन सदा राजाओंको जीतते रहे हैं, वे मधुसूदन श्रीकृष्ण भी तो इस समय दूर हैं॥६१½॥

एतावदुक्त्वा वचनं समाहूय वृकोदरम् ॥ ६२ ॥
प्रत्युवाच महाबुद्धिर्भीमसेनमिदं वचः।

व्यासजीसे इतनी बात कहकर महाबुद्धिमान् युधिष्ठिरने भीमसेनको बुलाया और उनसे इस प्रकार कहा—॥ ६२½ ॥

भीम भीम महाबाहो कथं यज्ञः प्रजायते ॥ ६३ ॥
गोत्रहिंसां कथं भीम नाशयिष्ये हि तद्वद।

'महाबाहु भीमसेन ! यह यज्ञ किस प्रकार सम्पन्न हो सकता है ? तथा गोत्रहिंसाजनित अपना पाप मैं किस प्रकार नष्ट कर सकूँगा ? वह उपाय मुझे बताओ ॥६३½॥

बहुविघ्नकरो यागस्तस्माच्छोचामि पाण्डव ॥ ६४ ॥
उपहास्यपदं यास्ये यद्यपूर्णो भविष्यति।

'पाण्डुनन्दन ! अश्वमेध यज्ञमें बहुत-से विघ्न उपस्थित हो जाते हैं, इसीलिये मैं चिन्तामें पड़ा हूँ। यदि यज्ञ पूर्ण नहीं हुआ तो मैं उपहासका पात्र बन जाऊँगा ॥ ६४½ ॥

भीम उवाच

हयो न विद्यते राष्ट्रे न वित्तं भवतोदितम् ॥ ६५ ॥
न समीपे हृषीकेशः कस्मात् प्रोक्तं हि तद् वचः।
समीपस्थः सदा कृष्णो विद्यते तव मारिष ॥ ६६ ॥
सर्वाश्च सम्पदः सन्ति यदि कृष्णः समीपगः।

भीमसेनने कहा—राजन् ! आपने किस कारणसे यह बात कही कि मेरे राज्यमें न तो (श्यामकर्ण) अश्व है, न मेरे पास धन है और न इस समय श्रीकृष्ण ही मेरे समीप हैं। आर्य ! श्रीकृष्ण तो सदा आपके सन्निकट ही रहते हैं और यदि श्रीकृष्ण समीप हैं तो वहाँ सारी सम्पदाएँ अपने-आप आ जाती हैं ॥ ६५–६६½ ॥

सर्वपापविनिर्मुक्ता यन्नामग्रहणेन च ॥ ६७ ॥
नरा भवन्ति राजेन्द्र समीपस्थस्य किं फलम्।

राजेन्द्र ! जिनके नामका संकीर्तन करनेसे ही मनुष्य समस्त पापोंसे मुक्त हो जाते हैं, वे भगवान् स्वयं समीप हों तो उनके सान्निध्यका कैसा महान् फल होगा ? ॥ ६७½ ॥

न पातकं ते नृपते गोत्रहिंसाकृतं भुवि ॥ ६८ ॥
विनापि माधवो यज्ञं पावयिष्यति मे मतिः।

नरेश्वर ! इस पृथ्वीपर गोत्रहिंसाजनित पाप तो आपको लगा ही नहीं है, (यदि लगा हुआ मान भी लिया जाय तो) मेरी ऐसी धारणा है कि यज्ञानुष्ठान न करनेपर भी श्रीकृष्ण ही आपको पवित्र कर देंगे ॥ ६८½ ॥

पूर्वमेव हि राजेन्द्र युद्धकाल उपस्थिते ॥ ६९ ॥
नोदिताः स्मो वयं तेन कृष्णेनामितबुद्धिना।
कुर्वन्तु युद्धं सततमिति ते विस्मृतं कथम् ॥ ७० ॥

राजेन्द्र ! उन अगाधबुद्धि श्रीकृष्णने युद्धका अवसर उपस्थित होनेपर पहले ही हमें प्रेरित किया था कि तुमलोग निरन्तर युद्ध करो * उनकी इस बातको आप भूल कैसे गये ? ॥ ६९–७० ॥

राजसूयाश्वमेधानां पुण्यं पावयितुं जनम्।
न समर्थं महाराज विना तं यज्ञनायकम् ॥ ७१ ॥

महाराज ! श्रीकृष्ण तो यज्ञोंके अधीश्वर हैं, अतः उनके बिना तो राजसूय और अश्वमेध यज्ञोंका पुण्यफल भी मनुष्य-को पवित्र करनेमें समर्थ नहीं हो सकता ॥ ७१ ॥

व्यासं पृच्छस्व राजेन्द्र क्रतुयोग्यं तुरङ्गमम्।
कुत्रापि वर्तमानं मे शंसत्वेष महामुनिः ॥ ७२ ॥

राजेन्द्र ! अश्वमेधयज्ञमें छोड़े जाने योग्य अश्वके विषय-में आप व्यासजीसे पूछिये। वे महामुनि, वह अश्व कहीं भी वर्तमान हो, मुझे सूचित करनेकी कृपा करें ॥ ७२ ॥

जैमिनिरुवाच

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य भीमस्यामिततेजसः।
प्रत्युवाच पुनर्व्यासो धर्मराजमिदं वचः ॥ ७३ ॥

* देखिये गीता २। ५८; २। ३१ से ३८ तक; ८। ७; ११। ३३-३४।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! अमित तेजस्वी भीमसेनके इस कथनको सुनकर व्यासजीने धर्मराज युधिष्ठिरके सामने भीमसेनसे पुनः निम्नाङ्कित वचन कहना आरम्भ किया ॥ ७३ ॥

व्यास उवाच

धन्योऽसि वीर भद्रं ते रुचिरं तव भाषितम् ।
हयस्तु विद्यते दूरे पुरीं भद्रावतीं प्रति ॥ ७४ ॥

व्यासजीने कहा—वीर ! तुम्हारा कल्याण हो ! तुम धन्य हो ! तुमने तो बड़ी सुन्दर बात कही । अश्वमेधयज्ञके योग्य अश्व तो यहाँसे बहुत दूर भद्रावतीपुरीमें विद्यमान है ॥ ७४ ॥

यौवनाश्वेन वीरेण रक्ष्यमाणो दिने दिने ।
अक्षौहिणीभिर्दशभिः पाल्यते धर्मनन्दन ॥ ७५ ॥

धर्मनन्दन ! वह अश्व वीर यौवनाश्वद्वारा सुरक्षित है । दस अक्षौहिणी सेनाएँ प्रतिदिन उसकी रखवाली करती हैं ॥

पवनेनापि सम्पर्को लभ्यते नास्य वाजिनः ।
मानवस्य वराकस्य संख्या का ग्रहणे नृप ॥ ७६ ॥

राजन् ! उस अश्वके पास तो वायुदेव भी नहीं फटक सकते, फिर बेचारे मनुष्यकी क्या गणना है ? जो उसे पकड़ सके ॥ ७६ ॥

कृपणेन यथा वित्तं पाल्यते तुरगस्तथा ।
राजा रक्षापरो नित्यं बलात् तं कः समानयेत् ।
तुरङ्गं यज्ञसिद्ध्यर्थं धर्मराजस्य पाण्डव ॥ ७७ ॥

जैसे कृपण मनुष्य अपने धनकी रक्षा करता है, उसी प्रकार उस अश्वकी रखवाली होती है । वह राजा सदा उस अश्वकी रक्षामें तत्पर रहता है । पाण्डुनन्दन ! ऐसी दशामें ऐसा कौन वीर है, जो धर्मराज युधिष्ठिरके यज्ञकी सिद्धिके लिये बलपूर्वक उस अश्वको ले आवे ? ॥ ७७ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि यज्ञप्रारम्भो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें यज्ञका प्रारम्भविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

भीमसेनकी अश्व लानेके लिये दृढ़ प्रतिज्ञा, भीमसेनके साथ वृषकेतु और मेघवर्णकी बातचीत, युधिष्ठिरका अश्वमेध यज्ञके लिये चिन्तित होकर भाइयोंसे पूछना, भीमसेनका उत्तर, युधिष्ठिरके स्मरण करनेपर श्रीकृष्णका आगमन और युधिष्ठिरके साथ उनका वार्तालाप

जैमिनिरुवाच

ततोऽब्रवीद् भीमसेनः प्रहसन्निव भारत ।
अहं हयं तं तु बलादानयिष्यामि मारिष ॥ १ ॥
एकाकी तत्र यास्यामि जित्वा तं बलिनं नृपम् ।
ससैन्यं यातु ते राजन् संशयः सुमहानपि ॥ २ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—भारत ! तदनन्तर भीमसेन हँसते हुए-से कहने लगे—'आर्य ! मैं अकेला ही भद्रावती-पुरीको जाऊँगा और सेनासहित उस बलवान् राजा यौवनाश्वको पराजित करके बलपूर्वक उस अश्वको ले आऊँगा; अतः राजन् ! इस विषयमें आपके मनमें जो बड़ा भारी संदेह हो, वह भी दूर हो जाना चाहिये ॥ १-२ ॥

वासुदेवं चिन्तयानो नरः कर्म करोति यः ।
सर्वार्थसिद्धिं लभते सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ३ ॥

'जो मनुष्य वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण करके कार्य आरम्भ करता है, उसके सारे प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं, यह मैं आपसे सत्य कह रहा हूँ ॥ ३ ॥

वासुदेवमनादृत्य तपोयज्ञादिकं च यत् ।
निष्फलं जायते सर्वं यथा भाग्यस्य चेष्टितम् ॥ ४ ॥

'श्रीकृष्णका अनादर करके जो तप और यज्ञ आदि कर्म किये जाते हैं, वे भी भाग्यहीन मनुष्यके प्रयत्नकी भाँति निष्फल हो जाते हैं ॥ ४ ॥

नानये तुरगं चाहं गतिं घोरामवाप्नुयाम् ।
ये लोका मातृहन्तॄणां ये चैव पितृघातिनाम् ॥ ५ ॥
ते लोका मम जायेरन् यदि तं नानये हयम् ।

'यदि मैं उस अश्वको न ले आऊँ तो मुझे घोर गतिकी प्राप्ति हो । यदि मैं उस घोड़ेको न ला सकूँ तो माता-पिताकी हत्या करनेवालोंको जिन लोकोंकी प्राप्ति होती है, वे ही लोक मुझे भी मिलें ॥ ५½ ॥

एककूपोदकग्रामे ये वसन्ति द्विजातयः ॥ ६ ॥
न वेदाध्ययनं यत्र यत्र नो शिवपूजनम् ।
तत्र क्षणं निवसतां लोका ये मम सन्तु ते ॥ ७ ॥
इत्येवमुक्त्वा वचनं भीमस्तूष्णीं स्थितस्तदा ।

'इतना ही नहीं, जिस ग्राममें एक ही कूपका जल सबके

उपयोगमें आता हो, उसमें जो द्विज निवास करते हैं; तथा जहाँ वेदाध्ययन और शिवपूजन न होता हो, वहाँ क्षणमात्र भी जो लोग वास करते हैं, उनके लिये जो लोक नियत हैं, वे ही मेरे लिये भी प्राप्त हों।' ऐसी बात कहकर भीमसेन उस समय चुपचाप खड़े रहे ॥ ६-७½ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भीमसेन महाबाहो ग्रहणं तुरगस्य मे ॥ ८ ॥
विषमं भाति हृदये त्वयैकेन वृकोदर।
यौवनाश्वोऽपि बलवान् बलिनस्तस्य सैनिकाः ॥ ९ ॥
एकाकी तत्र गन्तासि चिन्ता तु महती मम।

तब युधिष्ठिर बोले—महाबाहु भीमसेन ! अकेले तुम्हारे द्वारा उस घोड़ेका लाया जाना मेरे मनमें कठिन जान पड़ता है; क्योंकि वृकोदर ! राजा यौवनाश्व स्वयं भी बलवान् है तथा उसके सैनिक भी शूरवीर हैं। इधरसे तुम अकेले ही वहाँ जाओगे, इस बातकी मुझे बड़ी चिन्ता हो रही है ॥ ८–९½ ॥

जैमिनिरुवाच

धर्मराजस्य तद् वाक्यं श्रुत्वा कर्णात्मजोऽब्रवीत्।
भीमसेन द्वितीयं मां सहायं नय मा चिरम् ॥१०॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मराज युधिष्ठिरका वह वचन सुनकर कर्णपुत्र वृषकेतुने कहा—'चाचा भीमसेनजी ! आप अपने साथ द्वितीय सहायकके रूपमें मुझे ले चलिये। अब इस कार्यमें विलम्ब नहीं होना चाहिये' ॥१०॥

भीमसेन उवाच

पिता तव हतोऽस्माभिर्यदाप्रभृति पुत्रक।
विलोक्य त्वन्मुखं लज्जा जायते महती हि नः ॥ ११ ॥

भीमसेनने कहा—बेटा ! जबसे हमलोगोंने तुम्हारे पिता कर्णको मार डाला है, तबसे तुम्हारे मुखकी ओर देखकर हमें बड़ी लज्जा होती है (फिर तुम्हें युद्धकार्यमें कैसे लगायें ?) ॥ ११ ॥

वृषकेतुरुवाच

उपकारः कृतः सम्यग् जनको मे रणे हतः।
भवद्भिः क्षात्रधर्मेण कुत्सितं तस्य नाशितम् ॥ १२ ॥
दुर्योधनस्य भृत्योऽसौ यावज्जीवं धरातले।
संजातो धर्मविद्वेषी समलोऽनन्तवर्जितः ॥ १३ ॥

वृषकेतु बोला—चाचाजी ! आपलोगोंने क्षत्रिय-धर्मके अनुसार युद्धस्थलमें जो मेरे पिताका वध किया है, वह तो उनका सब प्रकारसे उपकार ही किया है; क्योंकि ऐसा करके आपलोगोंने उनके कुत्सित कर्म (पाप) का नाश कर डाला है। वे जीवनपर्यन्त पृथ्वीपर दुर्योधनके भृत्य होकर रहे, धर्मस्वरूप युधिष्ठिरसे द्वेष रखते थे और उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णसे सदा अपनेको अलग ही रखा था, अतः वे पापलिप्त हो गये थे ॥ १२-१३ ॥

क्लिश्यन्ती च सभामध्ये द्रौपदी योषितां वरा।
तेन कर्णेन सा दृष्टा यथा तु विजने सती ॥ १४ ॥

जब स्त्रियोंमें श्रेष्ठ महारानी द्रौपदी कौरव-सभामें कष्ट पा रही थीं, उस समय उन ख्यातनामा कर्णने उनकी ओर उसी प्रकार देखा, मानो वह सती-साध्वीदेवी निर्जन वनमें रो रही हो (उनके उस रोदनका उनपर कोई प्रभाव न पड़ा) ॥ १४ ॥

गोसहस्राणि मत्स्यस्य गृहीतानि मया श्रुतम्।
मत्पित्रा पाण्डवेनापि मोचितानीति चिन्तये ॥ १५ ॥

मैंने सुना है कि मेरे पिता कर्णने मत्स्यराज विराटकी हजारों गौओंका अपहरण कर लिया था, जिन्हें चाचा अर्जुनने छुड़ाया था। अपने पिताके इस कुकृत्यके कारण मैं सदा चिन्तित रहता हूँ ॥ १५ ॥

अत्यन्तमलपूर्णाय कर्णाय युधि पातनम्।
कृतं तु पाण्डवैर्वीरैः शुद्ध्यर्थं दानमुत्तमम् ॥ १६ ॥

शूरवीर पाण्डवोंने युद्धस्थलमें जो घोर पापोंसे भरे हुए कर्णका वध किया, वह मानो उनके द्वारा कर्णकी शुद्धिके लिये उत्तम दान किया गया है ॥ १६ ॥

कश्चिद् गृह्णाति हि करात् काचं वापि वराटिकाम्।
दत्त्वा चिन्तामणिं यद्वदर्जुनेन तथा कृतम् ॥ १७ ॥

जैसे कोई मनुष्य हस्तगत चिन्तामणिको देकर उसके बदले क्षुद्र काच अथवा कौड़ी ले ले, चाचा अर्जुनने भी वैसा ही किया है अर्थात् कर्ण-वधजनित क्षुद्र अपकीर्ति लेकर उन्हें चिन्तामणिस्वरूप स्वर्गलोक प्रदान किया है ॥ १७ ॥

गृहाङ्गणे वर्तमानं कस्यचित् त्वफलं तरुम्।
समुन्मूल्य नयेत् कश्चित् संस्थाप्य सुरपादपम् ॥१८॥
तदापराधः किं तेन ब्रूहि भीम महामते।
भवत्प्रसादात् कर्णोऽसौ प्राप्तवान् भास्करं पदम्॥१९॥

भीमसेनजी ! आप तो स्वयं ही महान् बुद्धिमान् हैं, बताइये, यदि कोई मनुष्य किसीके घरके आँगनमें लगे हुए एक फलहीन वृक्षको उखाड़ ले जाय और उसकी जगह कल्पवृक्ष लगा दे तो इसमें उसने क्या अपराध किया ? चाचाजी ! आपकी कृपासे ही तो कर्णको सूर्यपदकी प्राप्ति हुई है ॥ १८-१९ ॥

अपकीर्तिस्तु तस्येयं वर्ततेऽद्यापि भूतले।
तामस्मिन् यज्ञकाले ते नाशयिष्यामि पाण्डव ॥ २० ॥

पाण्डुनन्दन ! उनका यह कलंक जो अभीतक भूतलपर वर्तमान है, उसे मैं आपके इस अश्वमेध यज्ञके अवसरपर धो डालूँगा ॥ २० ॥

यौवनाश्वस्य नृपतेर्निर्मथ्य बलसागरम् ।
तुरङ्गं भीमसेनस्तु समानयतु सत्वरम् ॥ २१ ॥

इस समय आप राजा यौवनाश्वके सैन्यसमुद्रका मन्थन करके शीघ्र ही उस अश्वको ले आइये ॥ २१ ॥

जैमिनिरुवाच

भीमस्तस्य वचः श्रुत्वा समालिङ्ग्याथ कर्णजम् ।
समीपस्थं निजं पौत्रमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २२ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! कर्णपुत्र वृषकेतुकी यह बात सुनकर भीमसेनने उसे छातीसे लगा लिया और फिर समीपमें खड़े हुए अपने पौत्र मेघवर्णसे निम्नाङ्कित वचन कहना आरम्भ किया—॥ २२ ॥

घटोत्कचेन ते पित्रा तारिताः सर्वपाण्डवाः ।
स्वपृष्ठं तान् समारोप्य नीता वै गन्धमादनम् ॥ २३ ॥

'वत्स ! तेरे पिता घटोत्कचने तो पाण्डवोंको अपनी पीठपर चढ़ाकर गन्धमादन पर्वतपर पहुँचाया था, इस प्रकार उसने सभी पाण्डवोंका संकटसे उद्धार किया था ॥ २३ ॥

तथा त्वं धर्मराजानं वीर पालय पृष्ठतः ।
अहं तु कर्णपुत्रेण सहितो हयमानये ॥ २४ ॥

'वीर ! उसी प्रकार तू भी मेरे चले जानेके बाद धर्मराज युधिष्ठिरकी रक्षामें तत्पर रहना और मैं कर्णपुत्र वृषकेतुके साथ जाकर उस अश्वको ले आऊँगा ॥ २४ ॥

पार्थेन च त्वया राजा रक्षणीयः प्रयत्नतः ।
यावद् गृहीत्वा तुरगं पुनरायामि सत्वरम् ॥ २५ ॥

'जबतक मैं घोड़ेको लेकर पुनः शीघ्र ही लौटकर आऊँ, तबतक तुझे और अर्जुनको प्रयत्नपूर्वक राजा युधिष्ठिरकी रक्षा करनी चाहिये' ॥ २५ ॥

मेघवर्ण उवाच

तव गात्रात् समुत्पन्नो धीरः स च घटोत्कचः ।
पवित्रं तत् कृतं कर्म तेन कश्चात्र विस्मयः ॥ २६ ॥

मेघवर्णने कहा—दादाजी ! वे धैर्यशाली मेरे पिता घटोत्कच आपके शरीरसे उत्पन्न हुए थे, अतः उन्होंने यदि वैसा पवित्र कार्य किया तो इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है ? ॥ २६ ॥

तावद् रथ्याजलं हीनं यावत् सुरनदीगतम् ।
न जायते पुनः प्राप्तं वारि तत् पातकापहम् ॥ २७ ॥

(वर्षाकालमें) गलियोंका जल तभीतक तुच्छ माना जाता है, जबतक कि वह गङ्गाजीमें नहीं मिल जाता है । गङ्गामें पहुँच जानेपर तो पुनः वही जल पापोंका संहार करनेवाला हो जाता है ॥ २७ ॥

सतां सङ्गाच्च दुष्प्रापं किं च नैवास्ति देहिनाम् ।
शिला रामपदं प्राप्य किं न पूता पुराभवत् ॥ २८ ॥

सत्पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त होनेसे देहधारियोंके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं रह जाता । क्या पूर्वकालमें श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंका स्पर्श पाकर शिलारूपिणी अहल्या पवित्र नहीं हुई थी ? (अर्थात् पवित्र हो ही गयी थी) ॥ २८ ॥

पुरीं भद्रावतीं वीर गमिष्यस्यमुना सह ।
तत्र मां नय भद्रं ते हयं तमहमानये ॥ २९ ॥

वीर ! आपका कल्याण हो । आप इस वृषकेतुके साथ भद्रावतीपुरीको जाना चाहते हैं तो मुझे भी वहाँ ले चलिये । मैं उस घोड़ेको ले आऊँगा ॥ २९ ॥

भवान् युद्धगतस्थो हि युद्धं कर्ता तु कर्णजः ।
अहं स्वपृष्ठमारोप्य तुरगं तमिहानये ॥ ३० ॥

क्योंकि जिस समय आप युद्धस्थलमें खड़े होंगे और कर्णपुत्र वृषकेतु युद्ध करनेमें संलग्न रहेंगे, उस समय मैं उस अश्वको अपनी पीठपर लादकर यहाँ ले आऊँगा ॥ ३० ॥

शीघ्रं निर्गच्छ भीमाद्य नमस्कृत्य धराधिपम् ।
ध्रुवस्ते विजयः पार्थ भविष्यति महद् यशः ॥ ३१ ॥

दादा भीमसेनजी ! भूतलके स्वामी महाराज युधिष्ठिरको नमस्कार करके शीघ्र ही आज प्रस्थान कीजिये । कुन्तीपुत्र ! आपकी विजय तो निश्चित ही है, साथ ही आपको महान् यशकी भी प्राप्ति होगी ॥ ३१ ॥

नमस्कारो हरेः पुंसां किं किं न कुरुते बत ।
पुत्रमित्रकलत्रार्थराज्यस्वर्गापवर्गदः ॥ ३२ ॥

श्रीहरिके चरणोंमें किया गया प्रणाम पुरुषोंको क्या-क्या नहीं दे सकता ? वह उन्हें पुत्र, मित्र, स्त्री, धन, राज्य, स्वर्ग और मोक्ष भी प्रदान करनेवाला है ॥ ३२ ॥

हरिस्त्वघं ध्वंसयति व्याधीनाधीन् निरस्यति ।
धर्मं विवर्धयन् नित्यं प्रयच्छति मनोरथम् ॥ ३३ ॥
किञ्चिन्न दुष्कृतं पार्थ हरिं प्रणमतां नृणाम् ।

श्रीहरि पापोंका नाश कर देते हैं, रोग तथा मानसिक चिन्ताओंको हर लेते हैं और सदा धर्मकी वृद्धि करते हुए सभी मनोरथोंको पूर्ण कर देते हैं । यहाँतक कि श्रीहरिके चरणोंमें नमस्कार करनेवाले मनुष्योंका थोड़ा-सा भी पाप शेष नहीं रह जाता ॥ ३३½ ॥

भीम उवाच

धन्योऽसि पुत्र कुशलं भाषसे परमं हितम् ॥ ३४ ॥
त्वमागच्छ मया सार्द्धं वृषकेतुरयं तथा ।
साहाय्यार्थं महावीर तथा त्वमपि पुत्रक ॥ ३५ ॥
त्रयो वयं गमिष्यामः परराष्ट्रे न संशयः ।

भीमसेन बोले—महान् वीर ! वत्स ! तू धन्य है ! तेरा वचन कौशलपूर्ण एवं परम हितकारी है । अतः यह

वृषकेतु तथा तू भी दोनों सहायताके लिये मेरे साथ चलो। इस प्रकार हम तीनों ही उस राजाके राज्यमें चलेंगे, इसमें कोई संदेह नहीं है ॥ ३४-३५½ ॥

जैमिनिरुवाच

एतत् तयोः शुभं वाक्यं निशम्य कुरुनन्दनः ॥ ३६ ॥
महता चैव हर्षेण प्रत्युवाच वृकोदरम् ।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! उन दोनोंके इस शुभ वचनको सुनकर कुरुनन्दन युधिष्ठिर परम प्रसन्न हुए और भीमसेनसे बोले—॥ ३६½ ॥

मुनिना भाषितं कार्यं तत् सर्वमवधारितम् ॥ ३७ ॥
क्रियते भवता सर्वमावाभ्यामपि पाण्डव ।
रात्रिर्जाता तु महती गन्तुकामस्तपोधनः ॥ ३८ ॥
तस्माद् गच्छामहे सर्वे ऋषिं भावयितुं गृहात् ।
व्यासस्ततो निर्जगाम गृहात् सम्पूजितस्तु तैः ॥ ३९ ॥

'पाण्डुनन्दन ! महर्षि व्यासजीने जो कार्य बतलाया है, वह सब तो हमलोगोंने सुन ही लिया और वह तुम्हारे तथा हमलोगोंके द्वारा भी सम्पन्न किया ही जायगा । परंतु इस समय बहुत अधिक रात्रि बीत चुकी है, जिससे तपोधन व्यासजी जानेके लिये उद्यत हैं । इसलिये हम सबको उन महर्षिका सत्कार करनेके लिये घरसे चलना चाहिये । तदनन्तर व्यासजी पाण्डवोंद्वारा भलीभाँति पूजित एवं प्रशंसित होकर राजमहलसे चले गये ॥ ३७–३९ ॥

गते व्यासे धर्मराजः पुनश्चिन्तापरोऽभवत् ।
कं च पृच्छामि सुहृदं कथं वित्तसमागमः ॥ ४० ॥
भ्रातृभिः सहितो रात्रौ दुःखितो वाक्यमब्रवीत् ।

व्यासजीके चले जानेपर उस रातमें भाइयोंसहित बैठे हुए धर्मराज युधिष्ठिर पुनः चिन्तामग्न हो विचार करने लगे कि 'किस प्रकार मुझे धनकी प्राप्ति हो सकती है, इसके लिये मैं अपने किस हितैषी मित्रसे परामर्श करूँ ?' इसी चिन्तासे दुखी होकर कहने लगे ॥ ४०½ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं हयस्यानयनं कथं यज्ञक्रिया भवेत् ॥ ४१ ॥
सर्वास्वापत्सु नः पाति सर्वदा मधुसूदनः ।
स दूरे देवकीपुत्रः को हितं मे करिष्यति ॥ ४२ ॥

युधिष्ठिर बोले—भाइयो ! किस प्रकार उस अश्वका लाया जाना तथा यज्ञकार्यका सम्पन्न होना सम्भव हो सकता है; क्योंकि सभी आपत्तियोंमें मधुसूदन श्रीकृष्ण ही सदा हमलोगोंकी रक्षा करते आये हैं, किंतु इस समय वे देवकी-नन्दन हमसे दूर हैं। ऐसी स्थितिमें कौन हमारा हित करेगा ? ॥

हा निमग्नोऽस्मि गोविन्द गोत्रहिंसार्णवेऽप्लवे ।
कथं यज्ञं करिष्यामि त्वं चेत् त्राता न जायसे ॥ ४३ ॥

'हा गोविन्द ! मैं इस ज्ञातिवधरूपी हिंसाके समुद्रमें, जिसे पार करनेके लिये कोई नौका (सहारा) भी नहीं है, डूब गया हूँ । यदि आप मेरे रक्षक नहीं होंगे तो किस प्रकार मैं इस यज्ञको पूर्ण कर सकूँगा ? ॥ ४३ ॥

यथा लज्जार्णवे मग्ना द्रौपदी तारिता त्वया ।
तथा तारय मामस्माद् वृजिनान्मधुसूदन ॥ ४४ ॥

'मधुसूदन ! जिस प्रकार आपने लज्जाके अगाध सागरमें डूबती हुई द्रौपदीको उबारा था, उसी प्रकार मेरा भी इस संकटसे उद्धार कीजिये ॥ ४४ ॥

एह्येहि कृष्ण गोविन्द दामोदर दयार्णव ।
त्वं चेत् त्राता न चास्माकं तर्हि ह्येष विधिश्च्युतः॥४५॥

'श्रीकृष्ण ! गोविन्द ! आइये, आइये । दयासागर दामोदर ! यदि आप हमारे रक्षक नहीं होंगे तो यह यज्ञविधि भ्रष्ट हो जायगी' ॥ ४५ ॥

जैमिनिरुवाच

एतावदुक्त्वा वचनं पुनः कृष्णकथामृतम् ।
यावत् स्मरति गोविन्दं तावद् द्वारे समागतः ॥ ४६ ॥
स्वयं स कृष्णो भगवान् सर्वव्यापी रमापतिः ।
अब्रवीच्च प्रतीहारं मां निवेदय भूपतेः ॥ ४७ ॥
समयेनैव राजानो द्रष्टव्या विदुषां मतम् ।
तत् केशववचः श्रुत्वा द्वारपो वाक्यमब्रवीत् ॥ ४८ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! इतनी बात कहकर धर्मराज युधिष्ठिर श्रीकृष्णकी अमृतमयी कथाओंके साथ ज्यों ही गोविन्दका चिन्तन करने लगे, त्यों ही वे सर्वव्यापी लक्ष्मी-पति भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही राजद्वारपर आ पहुँचे और द्वारपालसे बोले—'राजा युधिष्ठिरको मेरे आनेकी सूचना दे दो; क्योंकि राजाओंद्वारा नियत किये हुए समयके अनुसार उनसे मिलना चाहिये, ऐसा विद्वानोंका मत है ।' श्रीकृष्णके उस वचनको सुनकर द्वारपालने उत्तर दिया ॥ ४६–४८ ॥

प्रतीहार उवाच

सर्वदा तव गोविन्द समयो धर्मनन्दने ।
कथितो धर्मराजेन ममाग्रे समयस्तव ।
परापवादनिरताः परद्रव्यापहारिणः ॥ ४९ ॥
परस्त्रीकामुका यत्र तत्र नावसरस्तव ।
नायं परद्रव्यरतो नापवादी न कामुकः ॥ ५० ॥

द्वारपाल बोला—गोविन्द ! धर्मनन्दन युधिष्ठिरके पास आपके लिये सदा ही समय है; क्योंकि धर्मराजने मुझसे आपके समयके विषयमें ऐसा कहा था कि 'जहाँ परायी निन्दा करनेवाले, दूसरेका धन हड़प लेनेवाले तथा परस्त्री लम्पट लोग निवास करते हैं, वहाँ आपके जानेका अवसर नहीं होता' परंतु ये हमारे महाराज तो न परद्रव्यापहारी हैं, न परनिन्दक अथवा कामी हैं ॥ ४९-५० ॥

तस्माद् विलोकय नृपं कुरु चास्य मनोरथम् ।
अर्जुनं पुरतः कृत्वा भीमसेनसमन्वितः ॥ ५१ ॥
त्वां चिन्तयति गोविन्द तस्याशां परिपूरय ।

इसलिये आप महाराजसे मिलिये और उनका मनोरथ पूर्ण कीजिये । इस समय वे अर्जुनको आगे करके भीमसेनके साथ बैठे हुए आपका ही ध्यान कर रहे हैं । गोविन्द ! आप उनकी आशा परिपूर्ण कीजिये ॥ ५१½ ॥

जैमिनिरुवाच

एवं तु कथ्यमानं तं प्रत्युवाच जनार्दनः ॥ ५२ ॥
राजानं याहि भद्रं ते शासनान्मम सत्वरम् ।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तब इस प्रकार कहनेवाले उस द्वारपालसे जनार्दन श्रीकृष्णने कहा—'द्वारपाल ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम मेरी आज्ञासे शीघ्र ही राजाके पास जाओ' ॥ ५२½ ॥

इत्युक्तो वासुदेवेन त्वरितो धर्मनन्दनम् ॥ ५३ ॥
प्रत्युवाच हसन् वाग्मी गत्वा कृष्णं न्यवेदयत् ।
कृष्णश्चैवागतो द्वारि प्रवेशं कर्तुमिच्छति ।

वसुदेव-नन्दन श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर वचन-रचनामें निपुण वह द्वारपाल तुरंत ही हँसते हुए धर्मनन्दन युधिष्ठिरके पास पहुँचा और उनसे श्रीकृष्णके आगमनकी सूचना देता हुआ बोला—'महाराज ! श्रीकृष्ण राजद्वारपर आये हुए हैं और भीतर प्रवेश करना चाहते हैं' ॥ ५३½ ॥

तच्छ्रुत्वा भाषितं तस्य धर्मराजस्त्वरान्वितः ॥५४॥
विहाय चासनं भीमं प्रत्युवाच महामतिः ।

द्वारपालका यह कथन सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर शीघ्रतापूर्वक अपने आसनसे उठ खड़े हुए और उन महाप्राज्ञने भीमसेनसे कहा ॥ ५४½ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भीम ब्रूते प्रतीहारः कृष्णमत्र समागतम् ॥ ५५ ॥
अर्धरात्रे मत्प्रियार्थं मखनिष्पत्तयेऽथवा ।
त्वमायाहि मया सार्धं यामि यत्र स मे प्रियः ॥ ५६ ॥

युधिष्ठिर बोले—भीमसेन ! द्वारपाल कह रहा है कि 'राजद्वारपर श्रीकृष्ण पधारे हुए हैं ।' इस आधी रातके समय उनका आगमन अवश्य ही मेरा प्रिय कार्य सम्पादन करनेके लिये अथवा अश्वमेध यज्ञको निष्पन्न करनेके निमित्त ही हुआ है । अतः जहाँ वे मेरे प्यारे श्रीकृष्ण हैं, मैं वहीं चल रहा हूँ, तुम भी मेरे साथ आओ ॥ ५५-५६ ॥

निर्ययौ धर्मराजोऽथ भ्रातृभिस्तं हरिं प्रति ।
तावत् तेनापि हरिणा शिरसा स नमस्कृतः ॥ ५७ ॥

धर्मराज युधिष्ठिर भाइयोंसहित ज्यों ही श्रीकृष्णके पास पहुँचे, त्यों ही उन श्रीहरिने उन्हें सिर झुकाकर नमस्कार किया॥

समुत्थाप्य कराभ्यां तं मूर्ध्नि चाघ्राय पाण्डवः ।
समालिङ्ग्य स्थितः कृष्णं नेत्राम्भः शिरसि क्षिपन् ॥ ५८ ॥

तब पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने श्रीकृष्णको अपने दोनों हाथोंसे उठाकर उनका मस्तक सूँघा और फिर उनके सिरपर अश्रुजल गिराते हुए वे उन्हें छातीसे लगाकर खड़े हो गये ॥ ५८ ॥

कृष्णबाह्वन्तरे लीनः स तद्दोरन्तरे हरिः ।
भीमार्जुनौ हरिपदे संलग्नौ पुरतो यमौ ॥ ५९ ॥

उस समय श्रीकृष्णकी दोनों बाहोंके बीचमें युधिष्ठिर थे और युधिष्ठिरकी दोनों भुजाओंके बीचमें श्रीकृष्ण । फिर भीमसेन और अर्जुन भी उनसे मिले तथा नकुल, सहदेवने भी आगे आकर श्रीकृष्णके चरणोंमें नमस्कार किया ॥ ५९ ॥

अर्घ्यादिक्रिययाभ्यर्च्य पाण्डवा विस्मयं ययुः ।
द्रौपदी तं नमस्कृत्य हसन्ती वाक्यमब्रवीत् ॥ ६० ॥

तत्पश्चात् पाण्डवोंने अर्घ्य-पाद्य आदि क्रियाद्वारा श्रीकृष्णका सत्कार किया और (उन्हें आधी रातके समय अकस्मात् आया हुआ देखकर) वे परम आश्चर्यमें पड़ गये । उस समय द्रौपदी वहाँ आकर श्रीकृष्णको नमस्कार करके हँसती हुई कहने लगी ॥ ६० ॥

द्रौपद्युवाच

किमर्थं क्रियते वीरैर्विस्मयः केशवं प्रति ।
अर्धरात्रे पुरा प्राप्तो यदा दुर्वाससो भयम् ॥ ६१ ॥
आजगाम भयत्राता युष्मान् स मधुसूदनः ।
वस्त्ररूपी सभामध्ये मिषतां वः पुरा हरिः ।
भक्तानामनुकम्पार्थं तस्याविर्भाव इष्यते ॥ ६२ ॥

द्रौपदी बोली—इस आधी रातके समय श्रीकृष्णके पधारनेसे आप वीरोंको आश्चर्य क्यों हो रहा है ? क्योंकि पहले भी तो ये इस प्रकार हमारे पास आ चुके हैं । जिस समय महर्षि दुर्वासासे भय प्राप्त हुआ था, उस समय भी ये मधुसूदन उस भयसे रक्षा करनेके लिये आपलोगोंके पास आये थे । पहले भी कौरवसभामें आपलोगोंके सामने ही इन श्रीहरिने वस्त्ररूप धारण करके मेरी लाज बचायी थी । इस तरह भक्तोंपर कृपा करनेके हेतु इनका प्राकट्य हुआ करता है ॥ ६१-६२ ॥

यस्मिन् काले न जननी न पिता न च बान्धवाः ।
भर्तारो न भवन्तश्च गुरवो न पितामहाः ॥ ६३ ॥
रक्षितुं मां समर्था हि तदा संरक्षितामुना ।

जिस (चीरहरणके) समय न माता, न पिता, न भाई-बन्धु, न आपलोगों-जैसे पति, न गुरुजन तथा न पितामह भीष्म आदि भी मेरी रक्षा करनेमें समर्थ हुए, उस समय इन्हीं श्रीकृष्णने मेरी रक्षा की थी ॥ ६३½ ॥

दुर्योधनेन प्रहितो दुर्वासा मुनिपुङ्गवः ॥ ६४ ॥

शिष्यायुतैः परिवृतो वने निवसतां यदा।
तदा मे मनसा ध्यातो दयासिन्धुर्जनार्दनः ॥ ६५ ॥

जिस समय आपलोग वनमें निवास कर रहे थे, उस समय जब दुर्योधनने दस हजार शिष्योंसहित मुनिश्रेष्ठ दुर्वासाको असमयमें आपके पास भेजा था, तब मैंने इन्हीं दयासागर जनार्दनका मनसे स्मरण किया था ॥ ६४-६५ ॥

प्रियामङ्कगतां त्यक्त्वा वायुवेगः समागतः।
स्थाल्याः कोणेऽवशिष्टं तु शाकपत्रं नराधिप ॥ ६६ ॥
भुक्त्वा मुनिगणाः सर्वे नीतास्तृप्तिं कृपालुना।

नरेश्वर ! उस समय ये अङ्कशायिनी प्रियतमाको भी छोड़कर वायुके समान वेगसे आ पहुँचे थे और फिर इन कृपालुने बटलोईके कोनेमें चिपके हुए शाकपत्रको खाकर सभी मुनियोंको तृप्त कर दिया था ॥ ६६½ ॥

यदा यदा सतां ग्लानिर्जायते भुवि भारत ॥ ६७ ॥
तदा तदा स्वयं कृष्णस्त्राता भवति संस्मृतः।

भारत ! जब-जब भूतलपर सत्पुरुषोंको कष्ट होता है, तब-तब स्मरण किये जानेपर स्वयं श्रीकृष्ण उनके रक्षक होते हैं ॥ ६७½ ॥

जैमिनिरुवाच

इत्थं स्तुतस्तया देव्या तुतोष निषसाद च।
ततः परं धर्मराजो वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ६८ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! देवी द्रौपदीद्वारा इस प्रकार स्तुति किये जानेपर श्रीकृष्ण परम संतुष्ट होकर आसनपर विराजमान हुए। तदनन्तर धर्मराज युधिष्ठिरने इस प्रकार कहा ॥ ६८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अधुनैव स्मृतोऽसि त्वं क्लेशितेन मया हरे।
सफलं कार्यमेतन्मे भविष्यति जनार्दन ॥ ६९ ॥

युधिष्ठिर बोले—हरे ! दुःखमें पड़कर मैंने अभी-अभी आपका स्मरण किया है। जनार्दन ! अब आपके पधारनेसे मेरा यह कार्य अवश्य सफल होगा ॥ ६९ ॥

हयमेधे मतिर्जाता हितं प्रब्रूहि केशव।
यदि यज्ञं प्रति विभो समर्थोऽसि धरातले ॥ ७० ॥

केशव ! मेरा विचार अश्वमेध यज्ञ करनेका है। विभो ! इस भूतलपर यदि मैं वह यज्ञ करनेमें समर्थ होऊँ तो आप मुझे हितकारक सलाह दीजिये ॥ ७० ॥

श्रीकृष्ण उवाच

त्वया कर्तुं न शक्योऽस्ति समये धर्मनन्दन।
यागोऽयं सहसा भूमौ वीराणां तपतामिह ॥ ७१ ॥

श्रीकृष्णने कहा—धर्मनन्दन ! इस भूतलपर प्रतापी शूरवीरोंके मध्य इस समय आप सहसा यह यज्ञ करनेमें समर्थ नहीं हैं ॥ ७१ ॥

भीममन्त्रेण राजेन्द्र क्रियते शोभना मतिः।
नायं जानाति बह्वाशी कश्चिन्मन्त्रं तथा मतिम् ॥७२॥

राजेन्द्र ! मालूम होता है भीमसेनकी सम्मतिसे ही आपको यह सुन्दर बुद्धि उत्पन्न हुई है। अरे ! इन भोजनभट्टको तो न किसी मन्त्रकी ही जानकारी है और न इनकी बुद्धि ही उत्तम है ॥ ७२ ॥

स्थूलोदरः परं मन्दो जायते नात्र संशयः।
विवर्णा राक्षसी भार्या विद्यतेऽस्य गृहे सदा ॥ ७३ ॥
तया हृता मतिश्चास्य तस्माद् वेत्ति न पाण्डवः।

जिसका उदर स्थूल होता है, निस्संदेह वह मन्दबुद्धि होता है। तथा इनके महलमें सदा वर्णहीना राक्षसी भार्या हिडिम्बा निवास करती है। उसने इनकी बुद्धि हर ली है। इसीसे भीमसेन कुछ भी नहीं जानते हैं ॥ ७३½ ॥

ईदृशस्याल्पबुद्धेश्च भवान् मन्त्रं करोति चेत् ॥ ७४ ॥
तर्हि जातः परो यागो मन्त्री यस्य वृकोदरः।

अतः यदि आप ऐसे अल्पबुद्धिकी सलाहपर चलेंगे तब तो भीमसेन जिनके मन्त्री हैं, उस आप-जैसे यजमानका यह उत्तम यज्ञ हो चुका ॥ ७४½ ॥

व्यङ्गाङ्गहीना बधिराः कुयोनिषु रताश्च ये ॥ ७५ ॥
तेषां मन्त्रो ह्यसुखदः प्रोक्तः कविभिरेव च।
कामुकानां जडानां च स्त्रीजितानां तथैव च ॥ ७६ ॥

विद्वानोंका कथन है कि जो अधिक अङ्गवाले अथवा अङ्गहीन, बहरे, कुयोनिमें रत रहनेवाले, कामी, मूर्ख तथा स्त्रीके वशीभूत हैं, उनकी सलाह सुखदायिनी नहीं होती ॥

श्वशुरस्य गृहे नित्यं जामाता कर्मकारकः।
तस्यापि न भवेन्मन्त्रः कार्यसिद्धौ कदाचन ॥ ७७ ॥

जो जामाता सदा श्वशुरके घरमें रहकर उसका कर्म करता रहता है, उसकी सम्मति भी कभी कार्यसिद्धि करनेवाली नहीं होती ॥ ७७ ॥

भीमो वेत्ति जरासंधं हिडिम्बं बकमेव च।
साम्प्रतं ये तु संजाताः क्षत्रियाः सुमहाबलाः ॥ ७८ ॥
ये न दृष्टा राजसूये भीमसेनादिभिर्नृपाः।
धर्मिष्ठाः सुमहावीर्या वदान्याश्च जितेन्द्रियाः ॥ ७९ ॥
तान् न जानाति भीमोऽसौ सुबहून् बलदर्पितान्।

साथ ही भीमसेनको तो केवल जरासंध, हिडिम्ब और बकासुरका ही ज्ञान है, परंतु आजकल तो और भी बहुत-से महाबली क्षत्रिय नरेश उत्पन्न हो गये हैं। वे सब धर्मात्मा, महान् पराक्रमी, उदार तथा जितेन्द्रिय हैं। राजसूय यज्ञके अवसरपर तो भीमसेन आदिको उन नरेशोंका दर्शन भी नहीं

हुआ होगा, अतः बलके घमंडमें भरे हुए उन बहुत-से राजाओंको ये भीमसेन नहीं जानते हैं ॥ ७८–७९½ ॥

अर्जुनेन प्रतिज्ञातं जयद्रथवधं प्रति ॥ ८० ॥
अनामन्त्र्य मया सार्धं तत् साहसतरं महत्।
अधुनापि महाराज भीमसेनबलेन च ॥ ८१ ॥
कथं यास्यसि यज्ञस्य पारं पाण्डव भूमिप।
यज्ञेऽस्मिंश्च महीपाल तत् साहसतरं मम।
कथं सम्पाल्यते घोटो दिक्षु सर्वासु भारत ॥ ८२ ॥

पहले भी अर्जुनने जो मुझसे सलाह लिये बिना ही जयद्रथ-वधके लिये प्रतिज्ञा कर ली थी, वह एक बड़े भारी साहसका काम था। महाराज! इस समय भी आप भीमसेनके बलसे किस प्रकार यज्ञ पूर्ण कर सकेंगे। पाण्डुपुत्र! भूपाल! इस यज्ञके विषयमें आपका विचार मुझे अत्यन्त साहसका ही कार्य प्रतीत हो रहा है। भारत! बताइये, किस प्रकार सभी दिशाओंमें घोड़ेकी रक्षा हो सकेगी? ॥ ८०–८२ ॥

सर्वत्र परिगन्तासौ देवगन्धर्वमानवान्।
तेऽपि वीरा विजेतव्या धारयन्ति च ये हयम् ॥ ८३ ॥

क्योंकि वह अश्व देवता, गन्धर्व और मनुष्योंके लोकोंमें सभी जगह परिभ्रमण करेगा और जो वीर उसे पकड़ लेंगे, उन्हें भी जीतना पड़ेगा ॥ ८३ ॥

असिपत्रव्रतं कार्यं प्रथमं दीक्षितेन हि।
पुरा रामेण रक्षार्थं तुरगस्य महाबलः ॥ ८४ ॥
नियुक्तो भरतो वीरो बद्धः स च हयान्वितः।
वीरेण सुरथेनैव पुरीं शुक्तिमतीं प्रति ॥ ८५ ॥
पश्चात् स राघवेणापि मोचितः पौरुषेण सः।

साथ ही जो अश्वमेध यज्ञके लिये दीक्षित होता है, उसे पहले असिपत्रव्रतका पालन करना चाहिये। पूर्वकालमें भी श्रीरामचन्द्रजीने अपने अश्वमेध यज्ञके अश्वकी रक्षाके लिये महाबली भरतको नियुक्त किया था; परंतु शुक्तिमतीपुरीमें पहुँचनेपर वीरवर राजा सुरथने घोड़ेसहित उन भरतको बाँध लिया था। फिर पीछे रामचन्द्रजीने ही अपने पुरुषार्थसे उन्हें उस बन्धनसे मुक्त किया था ॥ ८४–८५½ ॥

हयं ते पाण्डवः पार्थः पालयिष्यति मत्सखा ॥ ८६ ॥
कस्त्वामत्र स्थितं त्राता कस्तु मोचयितार्जुनम्।
गृहीतं तत्र केनापि वीरेण हयरक्षकम्।
एष मे संशयस्तीव्रो जायते धर्मनन्दन ॥ ८७ ॥

धर्मनन्दन! जब मेरे प्रिय सखा पाण्डुपुत्र अर्जुन आपके अश्वकी रक्षामें नियुक्त होकर चले जायँगे और यदि कहीं किसी वीरने उन अश्वरक्षकको पकड़ लिया तो ऐसी दशामें कौन वीर यहाँ आपकी रक्षा करेगा और कौन अर्जुनको छुड़ा सकेगा। मेरे मनमें यह बड़ा भारी संदेह उत्पन्न हो रहा है ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि श्रीकृष्णोक्तिश्रवणं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें श्रीकृष्णके वचनका श्रवणनामक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

भीमसेनका श्रीकृष्णकी बातोंका उत्तर देते हुए उनके गुणोंका वर्णन, श्रीकृष्णकी प्रसन्नता, भीमसेनका वृषकेतु और मेघवर्णके साथ भद्रावतीपुरीमें पहुँचकर वहाँकी शोभा देखना और अश्वकी प्रतीक्षामें पर्वतपर स्थित होना

जैमिनिरुवाच

वासुदेवस्य वाक्यानि श्रुत्वा भीमोऽब्रवीद् वचः।
मेघगम्भीरया वाचा प्रहसन्निव केशवम् ॥ १ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! भगवान् श्रीकृष्णके वचनोंको सुनकर भीमसेन हँसने लगे और फिर वे मेघके समान गम्भीर वाणीमें उन केशवसे बोले ॥ १ ॥

भीम उवाच

रम्योऽयं समयः श्लाघ्यः सहसा वीरपूजितः।
धर्मराजेनैव कृष्ण कर्तुं शक्यो महाक्रतुः ॥ २ ॥

भीमसेनने कहा—श्रीकृष्ण! यह बड़ा रमणीय एवं स्पृहणीय समय है। इस समय धर्मराज युधिष्ठिर वीरोंद्वारा प्रशंसित उस महान् यज्ञ अश्वमेधका अनुष्ठान करनेमें पूर्णतः समर्थ हैं ॥ २ ॥

प्रत्युत्तरं मया दत्तं त्वां विचिन्त्य जनार्दन।
सत्यं स्थूलोदरादेव जायन्ते मतिवर्जिताः ॥ ३ ॥
त्वयोदितं च बह्वाशी मतिहीनश्च जायते।
एतत् सर्वं त्वच्छरीरे मयैव च निरीक्षितम् ॥ ४ ॥

जनार्दन! आपके महत्त्वका विचार करके ही मैं यह उत्तर दे रहा हूँ। आपने जो यह कहा कि उदरके स्थूल होनेसे लोग बुद्धिहीन हो जाते हैं तथा अधिक भोजन करनेवाला मतिहीन होता है, वह सत्य ही है; परंतु यह सब तो मैंने आपके ही शरीरमें देखा है ॥ ३-४ ॥

तवोदरे विश्वमिदं भाति सर्वं चराचरम्।
स्थूलोदरः कस्त्वदन्यो बह्वाशी कस्तवाधिकः ॥ ५ ॥
ब्रह्मादयः सुराः सर्वे सरितः सागरादयः।
सर्वाधारा दिशश्चैव किं न माति तवोदरे ॥ ६ ॥

जब यह समस्त चराचर विश्व आपके उदरमें ही भासित होता है, तब आपसे अधिक स्थूल पेटवाला दूसरा कौन है ? तथा आपसे बढ़कर अधिक-भोजन करनेवाला भी और कौन है ? क्या ब्रह्मा आदि देवता, सारी नदियाँ, सागर, सबको धारण करनेवाली यह धरणी एवं दिशाएँ आपके उदरमें नहीं समा जाती हैं ? ॥ ५–६ ॥

त्वत्तः स्थूलोदरः कश्चिन्न भूतो न भविष्यति ।
स भवान् मामकं भोज्यमुदरं च जनार्दन ॥ ७ ॥
शंसँल्लज्जां न चाप्नोषि त्वं वै मां भाषसे मृषा ।

जनार्दन ! आपसे अधिक स्थूल उदरवाला न कोई हुआ है और न होगा ही । फिर आप मेरे बहुभोजन तथा बढ़े हुए उदरकी बात कहनेमें लज्जाका अनुभव क्यों नहीं करते ? आप झूठे ही मुझे बदनाम कर रहे हैं ॥ ७½ ॥

कस्तु जाम्बवतीं भार्यां वानरीं माधवं विना ॥ ८ ॥
कुरुते रुक्मिणीं प्राप्य गुणज्ञः खलु केशवः ।
वराहमत्स्यकूर्माणां योनिः प्रियतमा तव ॥ ९ ॥

भला, श्रीकृष्णके अतिरिक्त कौन ऐसा पुरुष होगा, जो रुक्मिणी-सी स्त्रीको पत्नीरूपमें पाकर रीछ या वानर जातिकी कन्या (जाम्बवती)को अपनी भार्या बनायेगा ? ऐसा तो गुणज्ञ केशव ही कर सकते हैं; आपको ही सूकर, मीन और कच्छपकी योनियाँ अत्यन्त प्यारी हैं ॥ ८-९ ॥

वामनस्त्वं पुरा जातस्तस्माद् वक्रं प्रभाषसे ।
लज्जाश्रयस्ते सततं कामः पुत्रपदं गतः ॥ १० ॥

पूर्वकालमें आप वामनरूपसे अवतीर्ण हुए थे; इसीलिये ऐसी टेढ़ी-मेढ़ी बातें कर रहे हैं । कामदेव, जो सर्वदा लज्जाका स्थान है, वह आपका पुत्र होकर पैदा हुआ है ॥ १० ॥

स्त्रीजितो न त्वदन्योऽस्ति देवानां त्वं महातरुम् ।
पारिजातं समुत्पाट्य स्त्रीनिमित्तमिहानयत् ॥ ११ ॥

आप अपनी भार्या सत्यभामाके लिये देवताओंके महान् वृक्ष पारिजातको उखाड़कर देवलोकसे भूतलपर उठा लाये, अतः आपसे बढ़कर स्त्रीका दास दूसरा कोई नहीं है ॥

क्षीराब्धौ सततं वासः श्वशुरस्य गृहे तव ।
एते रम्यगुणाः प्रोक्ता बहवोऽन्येऽपि तैरलम् ॥ १२ ॥

जो आपके श्वशुरका गृह है, उस क्षीरसागरमें आप ही सदा निवास करते हैं । इस प्रकार मैंने आपके इन कुछ ही सुन्दर गुणोंका वर्णन किया है । यों तो आपके दूसरे भी ऐसे बहुत-से गुण हैं; परंतु उनके कहनेसे क्या लाभ ? ॥ १२ ॥

कस्माद् दूषयसे यज्ञं भीषयन् वै नराधिपम् ।
ये हताः क्षत्रियाः पूर्वं जरासंधमुखा मया ॥ १३ ॥
भवन्तं पुरतः कृत्वा तथैवारीञ्जयाम्यहम् ।
बाहुभ्यामुद्धरे चोर्वीं विकिरन् सर्वपर्वतान् ॥ १४ ॥

केशव ! जिस प्रकार पहले आपको आगे करके मैंने जरासंध आदि प्रमुख क्षत्रियोंका संहार किया था, उसी तरह इस समय भी मैं शत्रुओंको परास्त कर दूँगा । अपनी भुजाओंसे समस्त पर्वतोंको बिखेरता हुआ मैं इस पृथ्वीको उठा सकता हूँ । ऐसी दशामें आप महाराज युधिष्ठिरको भयभीत करते हुए किसलिये यज्ञमें दोष दिखा रहे हैं ॥

कारयिष्याम्यश्वमेधं नान्यथा नृपचिन्तितम् ।
आगमिष्यति मे कृष्णः करिष्यति च मत्प्रियम् ॥ १५ ॥
इत्थं चिन्तितमस्माभिः समागत्यान्यथा कथम् ।
करोषि देवकीपुत्र सफलोऽस्तु तवाश्रयः ॥ १६ ॥

देवकीनन्दन ! मैंने तो ऐसा सोचा था कि मैं महाराज युधिष्ठिरसे अश्वमेध यज्ञ कराऊँगा; क्योंकि उन नरेशका विचार अन्यथा नहीं हो सकता । तथा उस यज्ञमें मेरे प्यारे श्रीकृष्ण अवश्य पधारेंगे और मेरा प्रिय सम्पादन करेंगे; परंतु यहाँ आ करके भी आप ऐसी विपरीत बातें क्यों कर रहे हैं ? केशव ! मैंने जो आपका आश्रय लिया है, यह सफल होना चाहिये ॥ १५-१६ ॥

पिपासया पीड्यमानो बहुकालेन चातकः ।
मेघस्योदयमुद्ग्रीवः साभिलाषं निरीक्षते ॥ १७ ॥
तादृशस्य गले वृष्टिं खदिराङ्गारपूरिताम् ।
यदि पातयते मेघस्तेन किं क्रियते तदा ॥ १८ ॥

अधिक समयसे प्याससे पीड़ित हुआ चातक चोंच ऊपर उठाकर अभिलाषापूर्वक मेघके उदयकी बाट जोहता रहता है । ऐसे प्रेमी चातकके गलेमें यदि मेघ खैरके अंगारोंसे भरी हुई वृष्टि करता है तो उस समय वह बेचारा चातक क्या कर सकता है ? ॥ १७-१८ ॥

पंके मग्नां हि गां त्रातुं प्राप्तो नाथः सुहर्षिता ।
धेनुर्भवति गोविन्द स च तां चेन्निमज्जयेत् ॥ १९ ॥
तया कस्यैव पुरतः कथनीयं जनार्दन ।
अस्माकमपि सावस्था त्वामाश्रित्यात्र दृश्यते ॥ २० ॥

गोविन्द ! कीचड़में फँसी हुई गायका उद्धार करनेके लिये यदि उसका स्वामी आ जाता है तो उसे देखकर गौ परम प्रसन्न हो जाती है, परंतु यदि वही स्वामी उस गौको कीचड़में डुबा दे तो वह बेचारी गौ किसके आगे अपना दुःख निवेदन करे । जनार्दन ! आज आपका आश्रय लेकर हमारी भी वही दशा दीख रही है ॥ १९-२० ॥

जैमिनिरुवाच

भीमस्य वचनं श्रुत्वा प्रत्युवाच जनार्दनः ।
हर्षेण महता युक्तस्तेजः संवर्द्धयन्निव ॥ २१ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! भीमसेनकी बात सुनकर श्रीकृष्ण अत्यन्त प्रसन्न हुए और उनके तेजकी वृद्धि करते हुए-से बोले ॥ २१ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

धन्योऽसि भीम भद्रं ते दीयतां परिरम्भणम् ।
त्वद्वाक्येनामुना वीर संतुष्टं मम मानसम् ॥ २२ ॥

श्रीकृष्णने कहा--भीमसेन ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम धन्य हो । आओ, मेरे गलेसे लग जाओ। वीर ! तुम्हारे इस वचनसे मेरा चित्त प्रसन्न हो गया है ॥ २२ ॥

एकं पृच्छामि राजानं किमर्थं भयविह्वलः ।
करोति हयमेधं हि घातयित्वा रणे कुरून् ॥ २३ ॥
द्रोणं भीष्मं तथा कर्णं सुहृत्सम्बन्धिबान्धवान् ।
मन्यते पातकं जातमात्मनस्तु कलेवरे ॥ २४ ॥
प्रददातु च तत् सर्वं मत्करे किल्बिषं नृपः ।
नाशयिष्येऽखिलं पापं पूतस्तिष्ठतु धर्मजः ॥ २५ ॥

परंतु मैं राजा युधिष्ठिरसे एक बात पूछता हूँ कि वे किसलिये भयभीत होकर अश्वमेध यज्ञ करना चाहते हैं ? यदि धर्मनन्दन महाराज युधिष्ठिर संग्राममें कौरवोंका तथा द्रोणाचार्य, भीष्म पितामह, कर्ण, सुहृदों, सम्बन्धियों और बान्धवोंका संहार करके अपने शरीरमें पापको प्रविष्ट हुआ मानते हैं तो वे उस सारे पापको मेरे हाथमें सौंपकर पवित्र हो जायँ । मैं इनके सम्पूर्ण पापोंका नाश कर डालूँगा ॥

भीम उवाच

त्वत्करे चार्पितं देव स्वल्पं तद् बहुलं भवेत् ।
वस्तुजातं नृपो वेत्ति न ददाति हि दुष्कृतम् ॥ २६ ॥
यज्ञजं सुकृतं हस्ते तव दास्यति पाण्डवः ।

भीमसेन बोले--देव ! आपके हाथमें यदि कोई थोड़ी-सी वस्तु भी समर्पित की जाय तो वह बढ़कर बहुत अधिक हो जाती है और ये महाराज इस वस्तुस्थितिको जानते हैं; अतः ये पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर आपके हाथमें अपना पाप नहीं दे सकते; परंतु यज्ञानुष्ठानसे प्राप्त हुआ पुण्य ये अवश्य आपको समर्पित कर देंगे ॥ २६½ ॥

अहं तत्र गमिष्यामि तुरगार्थं रमापते ॥ २७ ॥
भवान् रक्षतु राजानं यावदागमनं मम ।
सुरक्षिते नृपे चैव सफलाः सर्वसिद्धयः ॥ २८ ॥
धर्मा भवन्ति देवेश सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।
सुकृतेन विना जीवा न राजन्ते कथंचन ॥ २९ ॥

रमापते ! अब मैं उस अश्वको लानेके लिये भद्रावती पुरीको जाऊँगा और जबतक मैं लौटकर आऊँ, तबतक आप महाराजकी रक्षा करें; क्योंकि राजाके सुरक्षित रहनेपर ही सारी सिद्धियाँ तथा सभी धर्म सफल होते हैं । देवेश ! यह मैं आपसे सत्य कहता हूँ कि शुभ कर्मके बिना किसी प्रकार भी जीवोंकी शोभा नहीं होती ॥ २७–२९ ॥

सर्वं सुकृतिजं पुण्यं भवान् गृह्णातु नः करात् ।
फलार्थी नैव राजासौ न चाहं देवकीसुत ॥ ३० ॥

देवकीनन्दन ! फिर भी शुभ कर्मजनित समस्त पुण्य आप हमारे हाथसे ग्रहण करनेकी कृपा करें; क्योंकि न तो इन महाराज युधिष्ठिरको ही फलकी कामना है और न मुझे ही ॥ ३० ॥

हरिं विना न ते लोका वैकुण्ठप्रमुखा हि नः ।
प्रिया भवन्ति सुखदा संगतिश्चास्तु ते सदा ॥ ३१ ॥

हमलोग तो यही चाहते हैं कि आपकी सुखदायिनी संगति सदा प्राप्त होती रहे; क्योंकि आपके बिना तो हमलोगोंको वैकुण्ठ आदि प्रमुख लोक भी प्रिय नहीं हैं ॥३१॥

जैमिनिरुवाच

ततो युधिष्ठिरः प्रीतो बभूव जनमेजय ।
बुभुजे कृष्णसहितः सुष्वाप भवने सुखम् ॥ ३२ ॥

जैमिनिजी कहते हैं--जनमेजय ! तदनन्तर युधिष्ठिर परम प्रसन्न हुए और फिर उन्होंने श्रीकृष्णके साथ भोजन करके राजभवनमें सुखपूर्वक शयन किया ॥ ३२ ॥

प्रभातसमये जाते भीमः कर्णात्मजस्तथा ।
मेघवर्णो महाबाहुस्त्रयस्ते निर्गता मुदा ॥ ३३ ॥
कुन्तीं युधिष्ठिरं कृष्णं नमस्कृत्य तथापरान् ।
ददौ कुन्ती मोदकांश्च पाथेयं पाण्डवाय सा ॥ ३४ ॥

प्रातःकाल होनेपर भीमसेन, कर्णपुत्र वृषकेतु और महाबाहु मेघवर्ण--ये तीनों कुन्ती, युधिष्ठिर, श्रीकृष्ण तथा अन्यान्य गुरुजनोंको प्रणाम करके प्रसन्नतापूर्वक भद्रावतीपुरीके लिये प्रस्थित हुए । उस समय माता कुन्तीने भीमसेनको पाथेयके रूपमें मोदक प्रदान किया ॥ ३३-३४ ॥

जननीकरसंस्पृष्टांस्तृप्तः प्राश्य वृकोदरः ।
मोदकैस्त्वन्यथा तृप्तिर्जायते न कथंचन ॥ ३५ ॥

माताके हाथसे दिये जानेके कारण उन मोदकोंको खाकर भीमसेन तृप्त हो गये, अन्यथा उन्हें लड्डुओंसे किसी प्रकार तृप्ति होती ही न थी ॥ ३५ ॥

तथान्यान् मोदकान् भीमो मेघवर्णकरे ददौ ।
समालिङ्ग्यार्जुनं तत्र चेदं वचनमब्रवीत् ॥ ३६ ॥

तत्पश्चात् शेष मोदकोंको भीमसेनने मेघवर्णके हाथमें दे दिया और फिर वे वहाँ अर्जुनका आलिङ्गन करके इस प्रकार बोले--॥ ३६ ॥

पार्थ पालय राजानं ब्राह्मणान् प्रतिपालय ।
प्राप्तं मां मन्दिरं विद्धि गृहीत्वा तुरगं प्रति ॥ ३७ ॥

'पार्थ ! तुम महाराज युधिष्ठिरकी और ब्राह्मणोंकी

सब तरहसे रक्षा करना तथा मुझे उस अश्वको लेकर राजमहलको लौटा हुआ ही समझो ॥ ३७ ॥

प्रसन्नं केशवं पश्यन् संतुष्टं मम मानसम् ।
सहायौ चापि हर्षितावुद्योगं प्रति पाण्डव ॥ ३८ ॥

'क्योंकि श्रीकृष्णको प्रसन्न देखकर मेरा मन सब तरहसे संतुष्ट हो गया है । पाण्डुनन्दन ! मेरे ये दोनों सहायक भी उस कार्यके प्रति हर्ष प्रकट कर रहे हैं ॥ ३८ ॥

स्मरणाद् वासुदेवस्य लयं गच्छन्त्युपद्रवाः ।
पातकानि यथा पार्थ विद्रवन्ति तथाहिताः ॥ ३९ ॥

'पार्थ ! श्रीकृष्णका स्मरण करनेसे जैसे सारे उपद्रव तथा पाप नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार शत्रु भी भाग खड़े होते हैं ॥ ३९ ॥

यौवनाश्वं सतुरगं प्राप्तं विद्धि ससैनिकम् ।
प्रसादात् केशवस्यास्य संशयो मे न विद्यते ॥ ४० ॥

'इन श्रीकेशवकी कृपासे अश्व तथा सेनासहित राजा यौवनाश्वको यहाँ आया हुआ ही समझो, इसमें मुझे कुछ भी संदेह नहीं है' ॥ ४० ॥

जैमिनिरुवाच

एतावदुक्त्वा वचनं पुरीं भद्रावतीं प्रति ।
ययौ ताभ्यां युतो धीमान् पदातिः प्राङ्मुखस्तदा ॥४१॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय अर्जुनसे इतनी बात कहकर बुद्धिमान् भीमसेन वृषकेतु और मेघवर्णको साथ लेकर पूर्व दिशाकी ओर मुख करके पैदल ही भद्रावतीपुरीको चल दिये ॥ ४१ ॥

लङ्घयित्वा स विषयांस्तृतीयेऽहनि तां पुरीम् ।
प्राप्तः कतिपयैर्वीरैः पुरीं रम्यां कुरूद्वह ॥ ४२ ॥
ददर्श पर्वतारूढो यौवनाश्वेन पालिताम् ।
काननानां सहस्रैस्तु समन्तात् परिवारिताम् ॥४३॥

कुरुनन्दन ! बहुत-से देशोंको लाँघते हुए वे तीसरे दिन उस पुरीके समीप पहुँचे । वहाँ भीमसेनने पर्वतपर चढ़कर राजा यौवनाश्वद्वारा पालित उस रमणीय पुरीको देखा, जिसकी रक्षामें कुछ वीर नियुक्त थे । वह चारों ओरसे हजारों काननोंसे घिरी हुई थी ॥ ४२–४३ ॥

सम्पूर्णसरसीयुक्तां भूषितां नगरीं शुभाम् ।
यूपैर्न लभ्यते मार्गो होमधूमैर्न दृश्यते ॥ ४४ ॥

उस सुन्दर नगरीकी बावड़ियाँ जलसे परिपूर्ण थीं, जिससे वह और सुशोभित हो रही थी । वहाँ इतने यज्ञ-स्तम्भ थे कि उनके कारण मार्ग मिलना कठिन हो रहा था तथा हवनके धूएँकी अधिकताके कारण वहाँ कुछ सूझता भी न था ॥ ४४ ॥

न बहिः श्रूयते शब्दो वेदघोषैर्धनुःस्वनैः ।
नगर्यास्तोरणै रम्यैः प्रासादैर्मण्डपैर्मठैः ॥ ४५ ॥
सत्रैस्त्रयस्ते संतुष्टाः प्राकारैः परिखादिभिः ।

वहाँ इतनी वेदोंकी ध्वनि तथा धनुषोंके टंकारकी आवाज होती थी कि बाहर कोई शब्द सुनायी ही नहीं पड़ता था । उस नगरीके रमणीय फाटक, प्रासाद, मण्डप, मठ, यज्ञ, परकोटा और खाई आदिको देखकर वे तीनों परम प्रसन्न हुए ॥ ४५½ ॥

ददर्श भीमसेनो वै वनं चैव द्रुमैर्युतम् ॥ ४६ ॥
फलिता यत्र रम्भास्ताः स्वफलैर्भान्ति भूरिशः ।
नम्राः फलातिभारेण सुगुणैः सज्जना इव ॥ ४७ ॥

तत्पश्चात् भीमसेन उस नगरीके समीपस्थ वनको देखने लगे, जो नाना प्रकारके वृक्षोंसे व्याप्त था । जहाँ केलेके वृक्षोंमें खूब फल लगे हुए थे । वे अपने फलोंसे युक्त होनेके कारण अत्यन्त भले मालूम पड़ते थे और फलोंके अत्यन्त भारसे वे ऐसे झुक गये थे, जैसे सत्पुरुष अपने सुन्दर गुणोंसे नम्र हो जाते हैं ॥ ४६-४७ ॥

सुवृत्तैः सरला दीर्घा नारिकेलद्रुमाः फलैः ।
दृश्यन्ते बहुला यत्र वंशाः सत्पुरुषैरिव ॥ ४८ ॥

जहाँ बहुत-से सीधे तथा लंबे नारियलके वृक्ष दिखायी पड़ते थे, जो सत्पुरुषोंद्वारा शोभित कुलकी भाँति अपने सुन्दर गोलाकार फलोंसे सुशोभित हो रहे थे ॥ ४८ ॥

रक्षन्ति स्वफलैर्नित्यं नरवक्त्राणि सर्वदा ।
सर्वकार्याणि कुर्वन्ति तत्र वै क्रमुकद्रुमाः ॥ ४९ ॥

उस वनमें उगे हुए सुपारीके वृक्ष अपने फलोंद्वारा सदा मनुष्योंके मुखोंकी रक्षा (अर्थात् मुखशुद्धि) करते थे । इस प्रकार वे वृक्ष सर्वदा उनके सभी सम्भावित कार्य पूर्ण करते थे ॥ ४९ ॥

सकण्टकैः फलैर्नित्यं पनसाः परतृप्तये ।
स्थिताः सर्वाङ्गजैस्तत्र दृष्टा भीमेन भारत ॥ ५० ॥

भारत ! भीमसेनने यह भी देखा कि काँटेदार फलोंसे युक्त कटहलके वृक्ष नित्य दूसरोंको तृप्त करनेके लिये वहाँ खड़े हैं ॥ ५० ॥

अनन्तत्वं गता वृक्षाः खर्जूराणां सहस्रशः ।
फलैः संकुचितैरेव नृणां तापापहारिणः ॥ ५१ ॥

उस वनमें सहस्रों प्रकारके खजूरके वृक्ष थे, जिनकी गणना नहीं हो सकती थी । वे अपने सिकुड़े हुए फलोंसे ही मनुष्योंके तापका अपहरण करनेवाले थे ॥ ५१ ॥

विदीर्णैर्यत्र दाडिम्ब्यः स्वफलैः शुकसंयुतैः ।
बीजपूरैः सरागैस्तैः कुर्वन्ति हि हितं जने ॥ ५२ ॥

उस वनके अनारके वृक्ष अपने फलोंद्वारा जनताका हित-साधन कर रहे थे । वे फल विदीर्ण हो गये थे, जिससे उनके

लाल-लाल दाने दीख रहे थे और उन दानोंके लोभसे उनपर शुकपक्षी बैठे हुए थे ॥ ५२ ॥

रसालाः कोकिलैर्लुब्धैः सारंगैश्च शिखण्डिभिः ।
सेव्यन्ते माधवस्येव गुणाः सद्भिर्निरन्तरम् ॥ ५३ ॥

जैसे संतलोग निरन्तर माधवके गुणोंका सेवन करते हैं, उसी तरह वहाँ कोयल, भ्रमर और मयूर मुग्ध होकर आम्र-वृक्षोंका सेवन कर रहे थे ॥ ५३ ॥

पञ्चधैव त्वचात्यन्तां फलानि करमर्दिनाम् ।
प्रयच्छन्ति रुचिं रम्यां नामानीव हरेर्गतिम् ॥ ५४ ॥

वहाँ हरे, सफेद, बैगनी, गुलाबी और काले—इन पाँच प्रकारके छिलकोंसे युक्त करौंदेके फल उसी तरह अत्यन्त सुन्दर रुचि उत्पन्न करते थे, जैसे श्रीहरिके नाम शुभ गति प्रदान करते हैं ॥ ५४ ॥

वहतां जलयन्त्राणामुदकं सरसीगतम् ।
प्रीणाति विविधान् वृक्षानतिथीनातिथेयवत् ॥ ५५ ॥

तालाबके जलको खैंचकर बहानेवाले जलयन्त्रोंका जल नाना प्रकारके वृक्षोंको उसी प्रकार तृप्त करता था, जैसे अतिथि-सत्कारमें कुशल मनुष्य अतिथियोंको (भोजन आदिसे) संतुष्ट करता है ॥ ५५ ॥

बीजपूरकनारङ्गजम्बीरामलकद्रुमाः ।
जम्बूनिम्बकदम्बाश्च वातादाः कोलका वने ॥ ५६ ॥
चिंचिणीबदरीशालाः पुष्पिताशोकचम्पकाः ।
नागकेसरपुन्नागा बकुलाः पाटलाः शुभाः ॥ ५७ ॥
चञ्चरीकाः शुका बर्हिसारिकारुतनादिताः ।

उस वनमें बिजौरा नीबू, नारंगी, जँबीरी नीबू, आँवला, जामुन, नीम, कदम्ब, बादाम, बहुवार, इमली, बेर, शाखू, फूले हुए अशोक, चम्पा, नागकेसर, पुन्नाग (जायफल), मौलसिरी और सुन्दर पाटलके वृक्ष शोभा पा रहे थे । वे वृक्ष भ्रमरोंके गुंजार तथा शुक, मयूर और सारिकाओंके कलरवोंसे गूँज रहे थे ॥ ५६-५७½ ॥

सुवर्णकेतकीजातीयूथिकामुद्गरादयः ॥ ५८ ॥
शतपत्री सुपत्री च कर्णिकाश्चापि पुष्पिताः ।
विलोक्य भीमः संतुष्टो वनं सुरभिपादपम् ॥ ५९ ॥

वहाँ सुवर्णकेतकी (पीला केवड़ा), चमेली, जूही, मोगरा, शतपत्री (गुलाब), सुपत्री (पीली जीवन्ती) और कनेरके पुष्प भी खिले हुए थे । ऐसे सुगन्धित वृक्षोंसे भरे हुए उस वनको देखकर भीमसेन परम प्रसन्न हुए॥५८-५९॥

वीराय कर्णपुत्राय दर्शयित्वा महद्वनम् ।
नगरीं च सुरम्यां तां वाजिपानं सरः शुभम् ॥ ६० ॥
रत्नालयं रौप्यशिलाबद्धं शीतजलं शिवम् ।
नानासत्त्वसमाकीर्णं केशवस्येव मानसम् ॥ ६१ ॥

तदनन्तर भीमसेनने कर्णपुत्र वीर वृषकेतुको उस महान् वन एवं अत्यन्त रमणीय भद्रावती नगरीको दिखाकर उस सुन्दर सरोवरकी ओर भी लक्ष्य कराया, जिसमें घोड़ोंको जल पिलाया जाता था । उसके तटपर रत्नोंके घर बने थे, उसका घाट चाँदीकी शिलाओंसे बनाया गया था, उसमें सदा शीतल जल भरा रहता था, वह कल्याणकारी सरोवर समस्त प्राणियों-से परिपूर्ण श्रीकृष्णके हृदयकी भाँति नाना प्रकारके जल-जन्तुओंसे व्याप्त था ॥ ६०–६१ ॥

अब्रवीद् वृषकेतुं तं किं कर्त्तव्यं मयाधुना ।
मध्याह्ने तुरगस्यात्र भविष्यति समागमः ॥ ६२ ॥
रक्ष्यमाणः सुबलिभिर्वीरैः संग्रामकोविदैः ।
न मुञ्चन्ति हयं वीराः कृपणाः स्वधनं यथा ॥ ६३ ॥

तत्पश्चात् भीमसेनने वृषकेतुसे कहा कि 'इस समय मुझे क्या करना चाहिये । दोपहरके समय उस अश्वका इस सरो-वरपर आगमन होगा । उस समय युद्धकलामें निपुण बहुत-से बलवान् शूरवीर उसकी रक्षामें नियुक्त रहेंगे । वे वीर उस अश्वको उसी प्रकार नहीं छोड़ते हैं, जैसे कंजूस अपने धनको ॥ ६२–६३ ॥

त्रयो वयं पर्वतेऽस्मिँल्लतावृक्षसमाकुले ।
तावत्तिष्ठामहे सर्वे यावद्धयसमागमः ॥ ६४ ॥

अतः जबतक वह अश्व यहाँ नहीं आता, तबतक हम सब तीनों व्यक्ति लताओं एवं वृक्षोंसे व्याप्त इस पर्वतपर ही खड़े रहें ॥ ६४ ॥

पाल्यमानं च तुरगं ग्रहीष्यामो न संशयः ।
अहमादौ गमिष्यामि रणमध्ये महाबलः ॥ ६५ ॥
मत्पृष्ठपालकौ वीरौ भवन्तौ भवतां प्रभू ।
एवं मन्त्रस्तु सुखदो भविष्यति यशःप्रदः ॥ ६६ ॥

वीरोंद्वारा सुरक्षित रहनेपर भी हमलोग उस अश्वको पकड़ लेंगे, इसमें संदेह नहीं है । उस समय युद्धस्थलमें पहले मैं जाऊँगा, क्योंकि मुझमें बलकी अधिकता है । तथा तुम दोनों सामर्थ्यशाली वीर मेरे पृष्ठभागकी रक्षा करना । यही विचार सुखदायक एवं यश प्रदान करनेवाला होगा ॥ ६५–६६ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि भीमवाक्यं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें भीमसेनका वाक्यनामक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

वृषकेतुद्वारा भीमको प्रोत्साहन, सरोवरमें हाथियों और घोड़ोंके स्नान एवं जलपानका वर्णन, श्यामकर्ण अश्वके लिये भीमकी चिन्ता, उस अश्वका सरोवरतटपर आगमन, मेघवर्णका भीमकी आज्ञा लेकर उस अश्वको हर लाना, देवताओंकी शङ्का और मेघवर्णकी बातसे उनका संतुष्ट होना, मेघवर्णकी विजय, वृषकेतुद्वारा अश्वरक्षक सैनिकोंकी पराजय, सेनासहित राजा नीलध्वजका आगमन, वृषकेतुका उसकी सेनाके साथ स्वयं ही युद्ध करनेके लिये भीमसेनसे आग्रह तथा भीमसेनकी स्वीकृति और वृषकेतु तथा राजा नीलध्वजकी बातचीत

जैमिनिरुवाच

भीमस्य वचनं श्रुत्वा प्रत्युवाच स कर्णजः।
अक्षौहिणीनां दशकं श्रूयते चास्य भूपतेः॥ १॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! भीमसेनकी बात सुनकर कर्णपुत्र वृषकेतुने कहा—'चाचाजी! सुना जाता है कि इस राजा यौवनाश्वके पास दस अक्षौहिणी सेनाएँ हैं॥ १॥

तन्मध्ये हयरक्षार्थमागमिष्यन्ति केचन।
त्वद्बाहुबलमासाद्य न भवन्ति रणे जनाः॥ २॥

'उनमेंसे कुछ लोग उस अश्वकी रक्षाके हेतु यहाँ आयेंगे, परंतु युद्धस्थलमें आपके बाहुबलका सामना पड़नेपर वे जीवित नहीं बचेंगे॥ २॥

गङ्गातटमिवासाद्य पातकानां गणा नृणाम्।
विनाशं चैव गच्छन्ति तथा भीम तवाहिताः॥ ३॥

'भीमसेनजी! जैसे मनुष्योंके पापसमूह गङ्गातटपर पहुँचकर विनष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार आपके शत्रु आपके सामने पड़नेपर जीवित नहीं रह सकते॥ ३॥

कालकूटं विषं तावत् परितापेन दारुणम्।
रुद्रस्य पुरतो नैव यावद् भवति संगतम्॥ ४॥

'कालकूट विष अपने संतापदायक प्रभावसे तभीतक भयंकर होता है, जबतक वह भगवान् रुद्रके सामने नहीं प्राप्त होता॥ ४॥

कामुका विषयैस्तावद् बाध्यन्ते प्राणिनो भुवि।
यावद् वस्तुविचारेण संगता न भवन्ति ते॥ ५॥

'भोगोंकी इच्छा रखनेवाले जीव भूतलपर सांसारिक विषयोंसे तभीतक पीड़ित होते हैं, जबतक कि वे वस्तुके परमार्थ स्वरूपके विचारमें नहीं लग जाते हैं॥ ५॥

गमनागमनं तावद् देहिनामिह जायते।
स्मरणं वासुदेवस्य यावत् तेषां न रोचते॥ ६॥

'प्राणियोंको तभीतक इस संसारमें आवागमनके चक्करमें पड़ना पड़ता है, जबतक कि उन्हें भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण नहीं रुचता है॥ ६॥

पितॄणां बन्धनं तावन्नरके पतनं तथा।
न यावत् कुलजः पुत्रो गयापिण्डप्रदो भवेत्॥ ७॥

'तभीतक पितरोंका बन्धन एवं नरकमें पतन होता है, जबतक कि उनके कुलमें उत्पन्न हुआ पुत्र गयामें पिण्डदान नहीं कर देता है॥ ७॥

धर्मराजनिमित्तं च कृष्णप्रीत्यै वृकोदर।
तुरगग्रहणे नूनं सिद्धिरत्र विलोक्यते॥ ८॥

'वृकोदर! धर्मराज युधिष्ठिरके कार्यके निमित्त तथा श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये इस अश्वके पकड़नेमें हमें अवश्य सिद्धि प्राप्त होगी, ऐसा लक्षण दिखायी देता है॥८॥

एते पश्य गजाः प्राप्ताः समदा मधुपैर्वृताः।
करेणवश्च करभाः कज्जलस्येव पर्वताः॥ ९॥

'चाचाजी! देखिये, जिनके गण्डस्थल भ्रमरोंसे व्याप्त हैं, ऐसे ये बहुत-से मदमत्त गजराज, हथिनियाँ तथा उनके बच्चे आ पहुँचे हैं, जो कज्जलके पर्वत-से दीख रहे हैं॥९॥

जलपानं न कुर्वन्ति निर्मलं कलुषं जलम्।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति महामात्रैरधिष्ठिताः॥ १०॥
प्रीताः प्रेमजलैः स्त्रीणां कामुकाः पुरुषा इव।

'ये जलपान नहीं करते हैं, केवल जलमें गोते लगाते और ऊपरको उठते हैं, अतः सरोवरके निर्मल जलको मटमैला

कर रहे हैं। इनके ऊपर महावत बैठे हुए हैं। इन्हें सरोवरके जलसे उसी प्रकार प्रसन्नता प्राप्त हो रही है, जैसे स्त्रियोंके प्रेमरूपी जलसे कामी पुरुषोंको तृप्ति प्राप्त होती है ॥१०½॥

जलेन येन जीवन्ति सरागं कुर्वते च तत् ॥ ११ ॥
सिन्दूरेणातिरागेण स्वकपोलच्युतेन च ।

'जिस जलसे समस्त प्राणी जीवन धारण करते हैं, इसीको ये हाथी अपने गण्डस्थलसे गिरे हुए गहरे लाल रंगवाले सिन्दूरसे रँग दे रहे हैं ॥ ११½ ॥

नागकुम्भान् दानहीनान् मधुपा नलिनीवने ॥ १२ ॥
प्रविष्टास्तान् परित्यज्य मलिनेषु न सौहृदम् ।

'धुल जानेसे मदहीन हुए गजराजोंके कुम्भस्थलोंका परित्याग करके भौंरे कमलिनीके वनमें घुस गये। सच है, मलिन प्राणियोंमें सौहार्द नहीं होता है ॥ १२½ ॥

मृणालानि मरालाश्च गृह्णन्ति कृपयान्विताः ॥ १३ ॥
षट्पदेभ्यः प्रयच्छन्ति भूतसाम्यं गता इव ।
उच्छलन्ति जले मत्स्या धनं प्राप्य यथाधनाः ॥ १४ ॥

'हंस कमल-नालोंको ग्रहण कर रहे हैं और फिर वे समस्त प्राणियोंमें समत्वभावको प्राप्त हुए संतोंकी भाँति कृपापूर्वक भ्रमरोंके लिये उन मृणालोंको दे रहे हैं। जैसे निर्धन मनुष्य धन पाकर हर्षसे उछलने लगते हैं, उसी प्रकार इस सरोवरके जलमें मछलियाँ उछल रही हैं ॥ १३–१४ ॥

चक्रवाकाश्चक्रवाक्यः संगताः प्रेमपूरिताः ।
दृश्यन्तेऽस्मिन् हि सरसि भीमसेन महाबल ॥ १५ ॥

'महाबली भीमसेन! इस सरोवरमें चकई-चकवे प्रेमपूर्ण हृदयसे परस्पर मिलते दिखायी देते हैं ॥ १५ ॥

अतः परं हि तुरगाः समागच्छन्ति सत्वराः ।
गोक्षीरहिमवर्णाश्च रक्ष्यमाणा महारथैः ॥ १६ ॥
रेणुः समुत्थितो भूरि पश्य पाण्डव वाजिभिः ।
वादित्राणां तथा घोषः पताका गगनं गताः ॥ १७ ॥
धूयन्ते च महाबाहो कालजिह्वा यथा स्थिताः ।
यौवनाश्वो नृपः प्राप्तो भविष्यति न संशयः ॥ १८ ॥

'पाण्डुनन्दन! इसके बाद वह देखिये, गोदुग्ध एवं हिमके समान उज्ज्वल वर्णवाले घोड़े, जो महारथी वीरोंद्वारा सुरक्षित हैं, बड़े वेगसे इधर आ रहे हैं। इन घोड़ोंकी टापोंसे बहुत-सी धूल ऊपरको उठ रही है, बाजोंका शब्द हो रहा है और पताकाएँ आकाशमें इस प्रकार फहरा रही हैं, मानो कालकी जिह्वाएँ लपलपा रही हों। महाबाहो! इससे सूचित होता है कि राजा यौवनाश्व भी पधारेंगे, इसमें संशय नहीं है ॥ १६–१८ ॥

वीराणां पश्य धीराणां मण्डलानि सहस्रशः ।
ध्वजाग्रे विद्यते गृध्रः कस्य तं च न विद्महे ॥ १९ ॥

'चाचाजी! इन धैर्यशाली वीरोंके सहस्रों मण्डलोंकी ओर भी दृष्टिपात कीजिये। इनमेंसे किसकी ध्वजाके अग्रभागपर गीधका चिह्न विद्यमान है। उसे हमलोग नहीं जानते हैं ॥ १९ ॥

शुको भाति ध्वजस्थोऽपि रोरवीति च दुन्दुभिः ।
एवं हि बहवो यान्ति वीरा रणविशारदाः ॥ २० ॥
एवं विलोक्यते यत्र तत्र वीरसमागमः ।

'किसीकी ध्वजापर तोतेका चिह्न सुशोभित हो रहा है। कहीं दुन्दुभियोंका गम्भीर नाद हो रहा है। इस प्रकार बहुत-से रणबाँकुरे वीर इस सरोवरकी ओर आ रहे हैं। इसी तरह जहाँ-तहाँ वीरोंका समागम दीख रहा है' ॥ २०½ ॥

जैमिनिरुवाच

इत्थं वदति वीरे तु वृषकेतौ महाबले ॥ २१ ॥
तुरगा जलपानार्थं यौवनाश्वस्य मारिष ।
मध्याह्ने तत्र सम्प्राप्ता नानावर्णाः सहस्रशः ॥ २२ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—मारिष! महाबली वीर वृषकेतु इस प्रकार कह ही रहा था कि राजा यौवनाश्वके अनेक रंगवाले सहस्रों घोड़े दोपहरके समय जल पीनेके लिये उस सरोवरपर आ पहुँचे ॥ २१ २२ ॥

त्रिभिस्त्रिभिस्ते विधृता दशध्रुवकमण्डिताः ।
मन्दुरैर्बलिभिश्चित्रगतयः शिक्षिताश्च ये ॥ २३ ॥

उन घोड़ोंमेंसे प्रत्येकको तीन-तीन साईसोंने पकड़ रखा था। वे दस 'ध्रुवकों' (स्तम्भाकार चिह्नों) से विभूषित थे। बलवान् अश्वशिक्षकोंद्वारा सिखाये जानेके कारण वे विचित्र गतिसे चल रहे थे ॥ २३ ॥

धाराभिः पञ्चभिर्युक्ताश्चलत्प्रोथाः सुकन्धराः ।
मुखेभ्यो निःसरन्तीव दृश्यते खुरसन्ततिः ॥ २४ ॥
द्विजाननेभ्यो हि यथा निर्याति पदपद्धतिः ।

वे अश्व पाँच प्रकारकी धारियों (रेखाओं) से युक्त थे। उनके नथुने फड़क रहे थे तथा उनकी गर्दन बड़ी सुहावनी थी। जैसे ब्राह्मणोंके मुखसे पदावली प्रकट होती है,

उसी प्रकार उन शीघ्रगामी अश्वोंके मुखोंसे खुरोंकी पङ्क्ति प्रकट होती-सी दीख रही थी ॥ २४½ ॥

मायूरीं तैत्तिरीमौष्ट्रीं कुर्वन्तो गतिमुत्तमाम् ॥ २५ ॥
नाकुलीं गतिमास्थाय समायान्ति महत्सरः ।

उनमेंसे कुछ मोर, तीतर और ऊँटोंकी-सी उत्तम गतिका प्रदर्शन करते हुए चल रहे थे और कुछ नेवलोंकी-सी गतिका आश्रय लेकर उस महान् सरोवरके तटपर आ रहे थे ॥ २५½ ॥

आकण्ठं विनिमग्नास्ते पपुस्तोयं सनिःस्वनम् ॥ २६ ॥
आगता निर्गताश्चान्ये दृष्टा भीमेन भारत ।
वृषकेतुं प्रत्युवाच भीमो वचनमुत्तमम् ॥ २७ ॥

वहाँ कण्ठपर्यन्त जलमें डूबकर वे हिनहिनाते हुए जल पीने लगे । भारत ! भीमसेनने देखा, फिर बहुत-से अश्व वहाँ आये और दूसरे अश्व वहाँसे निकल गये, तब उन्होंने वृषकेतुसे यह उत्तम वचन कहा ॥ २६-२७ ॥

भीम उवाच

प्राप्ता हयाश्च बहवः स हयो नैव वीक्ष्यते ।
यन्निमित्तमिह प्राप्ता वयं तावत् त्रयो जनाः ॥ २८ ॥

भीमसेन बोले—वीर ! घोड़े तो बहुत-से आये; परंतु जिसके लिये हम तीनों यहाँ आये हैं, वह अश्व तो नहीं दीख रहा है ॥ २८ ॥

किं वा नृपगृहे बद्धः स जलं परिपास्यति ।
हरिं विना नैव गतिर्धर्मराजस्य मन्दिरे ॥ २९ ॥
अस्माकं विद्यते तात भवान् जानाति नेतरः ।

क्या वह अश्व राजमहलमें बँधा हुआ ही जल पियेगा ? उस अश्वके बिना तो हमलोगोंका धर्मराज युधिष्ठिरके भवनमें किसी प्रकार प्रवेश ही नहीं हो सकता । तात ! इस बातको तुम्हीं जानते हो, दूसरा कोई नहीं जानता ॥ २९½ ॥

अपुत्राणां यथा लोका भवन्ति न सुखप्रदाः ॥ ३० ॥
अदातॄणां यथा कामा ब्रह्मचर्यरतां यथा ।
बन्धूनां च यथा सङ्गो जितस्त्रीणां विलोक्यते ॥ ३१ ॥
नृपतीनाममन्त्राणां चिरं राज्यं न सुस्थिरम् ।
न यशः पुण्यहीनानां न सुखं परिवादिनाम् ॥ ३२ ॥
न मोक्षो भक्तिहीनानां विष्णोरमिततेजसः ।
वैभवं हि यथा नृणामनाराध्य च शंकरम् ॥ ३३ ॥
तथा हयं विनास्माकं गमनं न गजाह्वये ।

बेटा ! जैसे पुत्रहीनोंको कोई भी लोक सुखप्रद नहीं होते, जैसे दान न करनेवालोंकी कामनाएँ सफल नहीं होतीं; जिन्होंने स्त्रीरूपी विषयको जीत लिया है, ऐसे ब्रह्मचारियोंको जिस प्रकार बन्धुओंका संग सुखद नहीं दिखायी देता, जैसे योग्य मन्त्रियोंसे रहित राजाओंका राज्य चिरकालतक स्थिर नहीं रह सकता, जैसे पुण्यहीनोंको यशकी प्राप्ति दुर्लभ है, जैसे निन्दकोंको सुख नहीं मिलता, जैसे अमिततेजस्वी भगवान् विष्णुकी भक्तिसे हीन पुरुषोंको मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती तथा जैसे भगवान् शंकरकी आराधना बिना मनुष्योंको धन नहीं मिलता, उसी प्रकार उस अश्वके बिना हमलोगोंका हस्तिनापुरमें जाना सम्भव नहीं है ॥ ३०—३३½ ॥

भीमस्य वचनं श्रुत्वा यावद् वदति कर्णजः ॥ ३४ ॥
तावत् स तुरगः प्राप्तो रथिभिः परिवारितः ।
महागजैश्च समदैः सादिभिः पत्तिभिस्तथा ॥ ३५ ॥

भीमसेनकी बात सुनकर कर्णपुत्र वृषकेतु जबतक कुछ कहे, तबतक वह अश्व वहाँ आ पहुँचा । उस समय वह रथियों, मदमत्त गजराजों, घुड़सवारों तथा पैदल सैनिकोंसे घिरा हुआ था ॥ ३४-३५ ॥

चामरैर्वीज्यमानस्तु सबलो बद्धचामरः ।
श्वेतातपत्रैः संछन्नः क्षुद्रघण्टाभिरन्वितः ॥ ३६ ॥

उस बलवान् अश्वको चँवर डुलाये जा रहे थे । उसके मस्तकपर कलँगी तथा गलेमें घुँघुरू बँधे हुए थे । उसपर श्वेत छत्र तना हुआ था ॥ ३६ ॥

चन्दनेन सुगन्धेन कुङ्कुमेनापि चर्चितः ।
तरुणीकरचिह्नानि धारयन् स्वतनौ हयः ॥ ३७ ॥

सुगन्धित चन्दन तथा कुङ्कुमसे उसकी पूजा की गयी थी । उसके शरीरपर तरुणी स्त्रियोंके हाथके छापे (थापे) लगे हुए थे ॥ ३७ ॥

धृतमाल्यो विचित्राङ्गो मालाभिश्च विभूषितः ।
उभाभ्यां संगृहीतश्च जयशब्दैः सुमङ्गलैः ॥ ३८ ॥

उसके गलेमें हार पड़ा था तथा विचित्र अङ्गोंवाला वह अश्व पुष्पमालाओंसे विभूषित था । सुन्दर माङ्गलिक जय-जयकार शब्दके साथ दो साईस उसे पकड़े हुए थे ॥ ३८ ॥

कृष्णागुरुमुखैर्धूपैर्धूप्यमानः पुरोगमैः ।
स्पृशते न खुराग्रैश्च धरणीं बहुवल्लभाम् ॥ ३९ ॥

उसके आगे चलनेवाले लोग काले अगुरु आदि उत्तम

धूपोंसे उसके लिये धूप निवेदन करते चलते थे। वह इतनी जल्दी-जल्दी पैर उठा रहा था, मानो बहुत-से पुरुषोंकी वल्लभा बननेवाली इस पृथ्वीका अपने खुरोंके अग्रभागोंसे स्पर्श ही नहीं करना चाहता हो ॥ ३९ ॥

नानावादित्रनादेन वीराणां गर्जितेन च।
हयह्रेषेण नागानां बृंहितेन बभौ हयः ॥ ४० ॥

अनेक प्रकारके बाजोंके शब्द, वीरोंके गर्जन, घोड़ोंकी हिनहिनाहट तथा हाथियोंके चिग्घाड़नेसे उस अश्वकी विशेष शोभा हो रही थी ॥ ४० ॥

भाविदर्शनपुण्येन श्रीकृष्णस्य न संशयः।
पूज्यते तुरगो नानाधूपैर्दीपैः सुमङ्गलैः ॥ ४१ ॥

निःसंदेह श्रीकृष्णके भावी दर्शनजन्य पुण्यसे ही वह अश्व अनेक प्रकारके धूप-दीप आदि माङ्गलिक द्रव्योंद्वारा पूजित हो रहा था ॥ ४१ ॥

तं विलोक्य तथारूपं रक्षितं सुमहारथैः।
बालस्तद्ग्रहणे बुद्धिं स चक्रे भीमनन्दनः ॥ ४२ ॥
उत्सुकं तं तथाऽऽलोक्य भीमसेनोऽब्रवीत् सुतम्।

इस प्रकार उस अश्वको बड़े-बड़े महारथियोंद्वारा सुरक्षित देखकर भीमसेनको आनन्द देनेवाले मेघवर्णने बालस्वभाव-वश उसे पकड़ लेनेका विचार किया। उसे ऐसा करनेके लिये उत्सुक देखकर भीमसेनने अपने उस पौत्रसे कहा ॥ ४२½ ॥

भीमसेन उवाच

किं चिकीर्षसि वत्स त्वं ब्रूहि सत्यं ममाग्रतः ॥ ४३ ॥

भीमसेन बोले—वत्स! मेरे सामने सच-सच कह दे कि तू क्या करना चाहता है? ॥ ४३ ॥

उवाच भीमं तरसा मेघवर्णोऽथ राक्षसः।

तब राक्षस मेघवर्ण शीघ्रतापूर्वक भीमसेनसे बोला ॥ ४३½ ॥

मेघवर्ण उवाच

त्वयाऽऽज्ञप्तो भीमसेन तुरगं पर्वतोपरि ॥ ४४ ॥
गृहीत्वा वत्सवद् वीर तिष्ठामीति मतिर्मम।
सर्वेषां पश्यतां वीर वीराणां गणना न मे ॥ ४५ ॥

मेघवर्णने कहा—वीरवर दादा भीमसेनजी! मेरा ऐसा विचार है कि यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं इन सभी शूरवीरोंके देखते-देखते उस अश्वको बछड़ेकी भाँति पकड़कर इस पर्वतपर ले आऊँ और यहीं खड़ा रहूँ। वीर! मैं इन वीरोंको कुछ नहीं गिनता ॥ ४४-४५ ॥

तं हरिं प्रसमीक्ष्याथ वायुजं समयाचत।
अनुज्ञां देहि मे स्वामिन् यौवनाश्वं सपुत्रकम् ॥ ४६ ॥
बद्ध्वाऽऽनयामि पश्य त्वं वृषकेतुश्च कर्णजः।
अथवा क्षात्रधर्मेण युद्धे जित्वा महारिपुम् ॥ ४७ ॥
तुरङ्गमानयिष्यामि सम्भूतो यद्यहं त्वया।
स्वभृत्ये विद्यमाने किं स्वामी युध्यति मारिष ॥ ४८ ॥

तदनन्तर पुनः उस अश्वकी ओर देखकर मेघवर्ण वायु-नन्दन भीमसेनसे याचना करने लगा—'स्वामिन्! यदि आप मुझे आज्ञा दे दें तो मैं पुत्रोंसहित राजा यौवनाश्वको बाँध-कर यहाँ ले आऊँ और आप तथा कर्णपुत्र वृषकेतु इस दृश्यको देखते रहें। अथवा यदि मैं आपका वंशज हूँ तो क्षात्रधर्मानुसार युद्धस्थलमें उस महान् शत्रुको जीतकर घोड़ेको ले आऊँगा। आर्य! अपने दासके रहते हुए क्या कहीं स्वामी भी युद्ध करता है? ॥ ४६–४८ ॥

आनीयाहं च तुरगं करिष्ये वृक्षसंयुतम्।
एतावदुक्त्वा वचनं प्रययौ राक्षसस्तदा ॥ ४९ ॥

'मैं घोड़ेको लाकर वृक्षसे बाँध दूँगा।' इतनी बात कह-कर वह राक्षस उस समय आगे बढ़ा ॥ ४९ ॥

भूधरात् खं समुत्पत्य मायां कुर्वन् स राक्षसीम्।
अन्धकारस्तदा ह्यासीत् कालमेघ इवोदितः ॥ ५० ॥
स्फुरन्ति विद्युतोऽजस्रं स्फूर्जथुश्च मुहुर्मुहुः।
तन्मध्ये सिंहनादं च स चकार पुनः पुनः ॥ ५१ ॥

वह उस पर्वतसे उछलकर आकाशमें पहुँचा और राक्षसी मायाका विस्तार करने लगा। उस समय वहाँ उमड़े हुए काले मेघकी भाँति घोर अन्धकार छा गया, लगातार बिजली कौंधने लगी और बारंबार वज्रकी गड़गड़ाहटके समान शब्द होने लगा। उसी बीचमें वह राक्षस भी बारंबार सिंहनाद करने लगा ॥ ५०-५१ ॥

व्याकुलाश्च दिशः सर्वा न प्राज्ञायत किंचन।
देवासुरमनुष्याणां महद्भयमुपाविशत् ॥ ५२ ॥

उस समय सारी दिशाएँ व्याकुल हो गयीं। अन्धकारके कारण कुछ सूझ नहीं पड़ता था। देवता, असुर और मनुष्यों-के मनमें महान् भय समा गया ॥ ५२ ॥

मेघनादस्य रूपेण व्याप्तं तद् व्योममण्डलम्।
विमानानि च सर्वाणि भ्रमन्ति स्म इतस्ततः ॥ ५३ ॥

मेघके समान गर्जना करनेवाले मेघवर्णके रूपसे वह सारा आकाशमण्डल व्याप्त हो गया, जिससे देवताओंके सारे विमान इधर-उधर चक्कर काटने लगे ॥ ५३ ॥

एतस्मिन्नन्तरे देवः कश्चिदागत्य सत्वरः।
उवाच शक्रमासीनं सभामध्येऽतिदुःखितः ॥ ५४ ॥

इसी बीचमें किसी देवताने शीघ्रताके साथ आकर सभामें बैठे हुए इन्द्रसे अत्यन्त दुःखपूर्वक निवेदन किया ॥ ५४ ॥

देव उवाच

भो भोः स्वामिन् न जानीषे ह्यात्मनश्च शुभाशुभम्।
दैत्यः कश्चिदिहागत्य कुरुते लोकयातनाम् ॥ ५५ ॥
मायां विकुरुतेऽत्यन्तं लोकक्षयचिकीर्षया।
तं त्वं जहि महाबाहो लोकानां रक्षको ह्यसि ॥ ५६ ॥

देवताने कहा—भो स्वामिन्! इस समय आपको अपने शुभ और अशुभका कुछ भी ज्ञान नहीं है। कोई दैत्य यहाँ आकर समस्त लोकोंको यातना दे रहा है। वह जगत्‌का विनाश करनेकी इच्छासे घोर मायाका विस्तार कर रहा है। अतः महाबाहो! आप उसका वध कर डालिये; क्योंकि आप लोकोंके रक्षक हैं ॥ ५५-५६ ॥

इति श्रुत्वा महेन्द्रोऽसौ रोषात् प्रस्फुरिताधरः।
उवाच सकलान् देवाञ्जानीध्वं कोऽयमागतः ॥ ५७ ॥

उसकी यह बात सुनकर इन्द्रमें रोषका आवेश हो गया, उनके होठ फड़कने लगे और उन्होंने समस्त देवताओंको आज्ञा दी कि 'पता लगाओ, यह कौन आया है?' ॥ ५७ ॥

समागत्य प्रपश्यन्ति देवा दूरस्थिताश्च तम्।
दूतस्तु तैः समाहूतः पृच्छ गत्वा च को भवान् ॥ ५८ ॥

तब वे देवता उस स्थानपर आये और दूरसे ही खड़े होकर मेघवर्णको देखने लगे। फिर उन्होंने एक दूतको बुलाकर कहा—'तुम उसके पास जाओ और उससे पूछो कि तू कौन है?' ॥ ५८ ॥

स दूतस्तत्र गत्वा वै पृष्टवान् मेघवर्णकम्।

वह देवदूत मेघवर्णके पास जाकर पूछने लगा ॥ ५८½ ॥

देवदूत उवाच

कस्त्वं वीर समायातः सत्यं ब्रूहि ममाग्रतः ॥ ५९ ॥
त्वयि दृष्टे महावीर देवानां भयमाविशत्।
दूतोऽहं प्रेषितस्तैस्तु किं तवात्र चिकीर्षितम् ॥ ६० ॥

देवदूत बोला—वीर! तुम कौन हो? यह मुझसे सच-सच बतलाओ; क्योंकि महावीर! तुम्हें देखकर देवगण भयभीत हो गये हैं, अतः उन्होंने मुझ दूतको भेजा है। बताओ, तुम यहाँ क्या करना चाहते हो? ॥ ५९-६० ॥

मेघवर्ण उवाच

न भेतव्यं सुरैः क्वापि नाम्नाहं मेघवर्णकः।
भीमस्य पौत्रो हैडिम्बिर्यज्ञसाहाय्यकारकः ॥ ६१ ॥
हयं ग्रहीष्ये राज्ञोऽहं यौवनाश्वस्य भोः सुर।
सम्भ्रमस्तु तदर्थं मे धर्मयज्ञार्थसिद्धये ॥ ६२ ॥

मेघवर्णने कहा—देवदूत! देवताओंको कभी भी मुझसे भय नहीं करना चाहिये; क्योंकि मेरा नाम मेघवर्ण है। मैं भीमसेनका पौत्र और हिडिम्बाकुमार घटोत्कचका पुत्र हूँ तथा यज्ञमें सहायता करनेके लिये आया हूँ। मैं धर्मराज युधिष्ठिरके अश्वमेध यज्ञकी सिद्धिके लिये राजा यौवनाश्वके अश्वको ले जाऊँगा, उसीके लिये यह मेरा सारा उद्योग है ॥ ६१-६२ ॥

इति श्रुत्वा स दूतस्तु हर्षनिर्भरमानसः।
इन्द्राय सर्ववृत्तान्तं धर्मराजार्थमुत्तमम् ॥ ६३ ॥
कथयामास हृष्टास्ते देवा इन्द्रादयस्तदा।
अपश्यन् कौतुकं तत्र मेघवर्णस्य संयुगे ॥ ६४ ॥

यह सुनकर देवदूतका मन प्रसन्नतासे भर गया और उसने इन्द्रके पास आकर उनसे धर्मराज युधिष्ठिरके अश्वमेध यज्ञके लिये होनेवाले इस सारे उत्तम वृत्तान्तका वर्णन किया। तब वे इन्द्र आदि समस्त देवता प्रसन्न हो वहाँ आकर मेघवर्णके उस युद्धमें कौतुक देखने लगे ॥ ६३-६४ ॥

मेघवर्णोऽपि तं दृष्ट्वा हयं चाम्बरमाश्रितः।
जिहीर्षुराव्रजत् तत्र यत्रासौ यज्ञियो हयः ॥ ६५ ॥

तत्पश्चात् मेघवर्ण भी उस घोड़ेको देखकर उसका अपहरण करनेकी इच्छासे आकाशमार्गसे उस स्थानपर आया, जहाँ वह यज्ञसम्बन्धी अश्व खड़ा था ॥ ६५ ॥

मोहयित्वा तु तान् सर्वान् भूमौ सम्पात्य वायुना।
रज उद्धूय च बलात् सैनिका भयविह्वलाः ॥ ६६ ॥

वहाँ पहुँचकर उसने उन समस्त अश्वरक्षकोंको मोहित

करके उन्हें बलपूर्वक भूतलपर गिरा दिया और आँधी चलाकर इतनी धूल उड़ायी कि वे सभी सैनिक भयसे व्याकुल हो गये ॥ ६६ ॥

केचिद् गृहीतशस्त्रास्ते केऽप्यधावन्नितस्ततः।
एवं तु व्याकुलीकृत्य शिलावर्षेण वायुना ॥ ६७ ॥
सिंहनादं प्रकुर्वाणो हरिं तं जगृहे मुदा।

कोई तो अस्त्र-शस्त्र लेकर वहाँ डटे रहे और कुछ सैनिक इधर-उधर भागने लगे। इस तरह आँधी और पत्थरोंकी वर्षाद्वारा सबको व्याकुल करके स्वयं भी सिंहनाद करते हुए मेघवर्णने हर्षपूर्वक उस घोड़ेको पकड़ लिया ॥ ६७½ ॥

खमुत्पतन्तं ददृशुर्नीलमेघाकृतिं जनाः ॥ ६८ ॥
कुण्डलाङ्गदकेयूरमुकुटाद्यैर्विराजितम् ।

उस समय लोगोंने नील मेघकी-सी आकृतिवाले मेघवर्णको आकाशमार्गसे जाते हुए देखा। वह कुण्डल, अंगद, केयूर और मुकुट आदि आभूषणोंसे विभूषित था ॥ ६८½ ॥

कोऽयं कोऽयं कुतश्चायं छिन्धि भिन्धीति वादिनः॥६९॥
इति जल्पन्ति ते वीरा वीक्षन्तः खं समाश्रितम्।

फिर तो वे शूरवीर योद्धा उसे आकाशमें स्थित देखकर 'यह कौन है? यह कौन है? यह कहाँसे आया है? इसके टुकड़े-टुकड़े कर दो। इसे विदीर्ण कर दो' इस तरह कोलाहल करने लगे ॥ ६९½ ॥

साश्वं व्रजन्तं ते देवाः पुष्पवृष्ट्या सिषेविरे ॥ ७० ॥
हैडिम्बे कृतकृत्योऽसौ धर्मराजोऽनुजैः सह।
त्वादृशो यस्य पौत्रोऽभूद् धर्मसाहाय्यहेतवे ॥ ७१ ॥
इति स्तुत्वा तु तं देवा जग्मुस्ते स्वमथालयम्।
मेघनादोऽपि हंसं तं गृहीत्वा शीघ्रमागतः ॥ ७२ ॥

देवताओंने घोड़ेको लेकर जाते हुए मेघवर्णके ऊपर पुष्पवृष्टि करके उसकी सेवा की और कहा—'हैडिम्बे! जिसके तुम-जैसा धर्मकार्यमें सहायता देनेवाला पौत्र उत्पन्न हुआ है, वे धर्मराज युधिष्ठिर भाइयोंसहित कृतकृत्य ही हैं।' इस प्रकार मेघवर्णकी प्रशंसा करके वे देवता अपने-अपने स्थानको चले गये। मेघवर्ण भी उस घोड़ेको लेकर शीघ्र ही अपने स्थानपर लौट आया ॥ ७०-७२ ॥

आकाशस्थं समालोक्य साश्वं तौ हर्षपूरितौ।
सिंहनादं प्रकुर्वन्तौ वीक्षन्तौ च मुहुर्मुहुः ॥ ७३ ॥

अश्वसहित मेघवर्णको आकाशमें स्थित देख भीमसेन और वृषकेतु हर्षसे परिपूर्ण हो गये और उसकी ओर देखते हुए वारंबार सिंहनाद करने लगे ॥ ७३ ॥

अत्रान्तरे महानासीद् गते हंसे रवस्तदा।
यौवनाश्वबले तस्मिन्नन्योन्यं जघ्नुरुद्भटाः ॥ ७४ ॥

इस बीचमें घोड़ेके अपहृत हो जानेपर राजा यौवनाश्वकी सेनामें महान् कोलाहल होने लगा। उस समय उस सेनामें योद्धा एक दूसरेपर प्रहार करने लगे ॥ ७४ ॥

गत्वा ते कथयामासू राज्ञे वृत्तान्तमादितः।
तच्छ्रुत्वा सहसा राजा पुत्रैः सह समागतः ॥ ७५ ॥

फिर उन योद्धाओंने राजधानीमें जाकर राजा यौवनाश्वके सामने आदिसे लेकर सारा वृत्तान्त ज्यों-का-त्यों कह सुनाया। उस समाचारको सुनकर राजा यौवनाश्व अपने पुत्रोंके साथ सहसा उस स्थानपर आ पहुँचे ॥ ७५ ॥

गतं हंसं तु तं श्रुत्वा दुःखक्रोधसमन्वितः।
उवाच केन नीतोऽयं हंसो ह्यल्पायुषा मम ॥ ७६ ॥
सदेवानपि नेष्यामि मानवान् यमसादनम्।

उस घोड़ेको अपहृत हुआ सुनकर वे दुःख और क्रोधमें भरकर बोले—'किसकी आयु समाप्त हो चुकी है, जिसने मेरे इस घोड़ेका अपहरण किया। यदि देवता भी उन अश्व चुरानेवाले मनुष्योंका साथ देते हों तो मैं उनके सहित उन सारे मनुष्योंको यमलोकमें भेज दूँगा' ॥ ७६½ ॥

इत्युक्त्वा सहसा राजा क्रोधेन व्याकुलीकृतः ॥ ७७ ॥
आजुहाव रथान् दिव्यान् नाम्ना कालान्तकोपमान्।

ऐसा कहकर राजा यौवनाश्व क्रोधसे व्याकुल हो गये और सहसा अपने उन दिव्य रथियोंका नाम ले-लेकर पुकारने लगे, जो काल एवं यमराजके समान थे ॥ ७७½ ॥

आयातास्ते रथाः शीघ्रं नमस्कृत्य च तं प्रभुम् ॥ ७८ ॥
आदेशो दीयतां स्वामिन् कोऽद्य प्राणैर्वियोज्यताम्।

फिर तो वे रथी शीघ्र ही वहाँ पहुँचे और राजाको नमस्कार करके बोले—'स्वामिन्! आज्ञा दीजिये। आज किसको प्राणोंसे हीन कर दिया जाय?' ॥ ७८½ ॥

राजोवाच

वियन्नीतो हरिर्वीराः शीघ्रं धावत मा चिरम् ॥ ७९ ॥

राजा यौवनाश्वने कहा—शूरवीरो! किसीने आकाश-

मार्गसे घोड़ेका अपहरण कर लिया है, अतः शीघ्र ही दौड़ो, विलम्ब मत करो ॥ ७९ ॥

इत्युक्ताः सहसोत्पत्य सहस्राणां चतुष्टयम् ।
तरसा गगने तं तु रुरुधुर्मुमुचुः शरान् ॥ ८० ॥

ऐसा आदेश पाकर चार हजार दिव्य रथी सहसा वेगपूर्वक उछलकर आकाशमें पहुँचे । उन्होंने मेघवर्णको चारों ओरसे घेर लिया और उसपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥

मेघनादस्तु तान् वीरान् प्रहसन् वाक्यमब्रवीत् ।

तब मेघवर्णने हँसते हुए उन वीरोंसे कहा ॥ ८०½ ॥

मेघनाद उवाच

यमलोके हि गन्तव्यं भवद्भिर्नात्र संशयः ॥ ८१ ॥

मेघवर्ण बोला—वीरो ! निस्संदेह अब आपलोगोंको यमलोकका पथिक होना पड़ेगा ॥ ८१ ॥

इत्युक्त्वा ताञ्जघानाशु तलमुष्टिभिराशुगान् ।
शिलामादाय तान् सर्वान् पोथयामास राक्षसः ॥ ८२ ॥

ऐसा कहकर राक्षस मेघवर्णने वेगपूर्वक धावा करनेवाले उन रथियोंको शीघ्र ही थप्पड़ और मुक्कोंसे मारना आरम्भ किया । फिर बड़ी भारी शिला उठाकर उसके प्रहारसे उन सबको पीस डाला ॥ ८२ ॥

ते हता भीमकर्माणः कायं त्यक्त्वा दिवं गताः ।
शापान्मनुष्यजन्मानः प्राप्तास्ते वै सुरालयम् ॥ ८३ ॥

इस प्रकार मारे गये वे भयंकर कर्म करनेवाले रथी शरीरको त्यागकर स्वर्गलोकको चले गये । वे शापवश मनुष्ययोनिमें उत्पन्न हुए थे । इस समय वे शापमुक्त होकर पुनः देवलोकको प्राप्त हो गये ॥ ८३ ॥

स तान् निर्मथ्य संग्रामे यत्र तौ वृषपाण्डवौ ।
विहायसा तत्र गन्तुं मेघवर्णः प्रचक्रमे ॥ ८४ ॥

जब मेघवर्णने संग्राममें उन वीरोंको मथ डाला, तब वह जहाँ वृषकेतु और भीमसेन थे, वहाँ आकाशमार्गसे जानेके लिये आगे बढ़ा ॥ ८४ ॥

सैनिकाश्च परे राज्ञो युद्धायैव मनो दधुः ।
हाहाकारो महानासीत् संगृहीते हये तदा ॥ ८५ ॥

उस समय राजा यौवनाश्वके दूसरे सैनिकोंने भी युद्धमें ही मन लगाया । घोड़ेके पकड़ लिये जानेके कारण वहाँ महान् हाहाकार मचा हुआ था ॥ ८५ ॥

गृहीतस्तुरगो येन तं गृह्णीतेति वादिनः ।
क गतः केन नीतोऽसौ कुतो यास्यति नः पुरः ॥ ८६ ॥

वहाँ लोग कह रहे थे कि 'जिसने घोड़ेको पकड़ लिया है, उसे बाँध लो । वह कहाँ चला गया ? किसने उस घोड़ेका अपहरण किया है ? वह हमारे सामनेसे निकलकर कहाँ जा सकेगा ? ॥ ८६ ॥

नूनमात्मविनाशाय जहार तुरगं हि यः ।
अमर्त्यमपि नेष्यामो मृत्युलोकं न संशयः ॥ ८७ ॥

'जिसने घोड़ेको चुराया है, निश्चय ही उसने अपने विनाशका साधन जुटाया है; क्योंकि यदि वह देवता भी होगा तो भी हम निस्संदेह उसे मृत्युके लोकमें पहुँचा देंगे'॥

जैमिनिरुवाच

एवं ब्रुवन्तस्ते सर्वे गगने राक्षसेन हि ।
नीयमानं च ददृशुर्हरिं कोपसमन्विताः ॥ ८८ ॥
मुमुचुः शरवर्षाणि रुरुधुस्ते दिशो दश ।
बाणैर्व्याप्य नभः सर्वं पातयन्ति स्म राक्षसम् ॥ ८९ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! इस तरहकी बातें कहते हुए उन्होंने देखा, एक राक्षस आकाशमार्गसे उस अश्वको लिये जा रहा है । फिर तो वे क्रोधमें भरकर उसपर बाणोंकी वर्षा करने लगे । उन्होंने बाणोंसे दसों दिशाओंको भर दिया । वे सारे आकाशमण्डलको बाणोंसे व्याप्त करके उस राक्षसको गिराना चाहते थे ॥ ८८-८९ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु वृषकेतुर्महाबलः ।
उवाच भीमं प्रहसन् प्राप्तोऽसौ मेघवर्णकः ॥ ९० ॥

इसी समय महाबली वृषकेतु हँसता हुआ भीमसेनसे बोला—'चाचाजी ! मेघवर्ण आ पहुँचा' ॥ ९० ॥

वृषकेतुरुवाच

धन्योऽसौ राक्षसो भीम श्लाघ्यं कर्मामुना कृतम् ।
गृहीत्वा तुरगं प्राप्तः स कथं पात्यते परैः ॥ ९१ ॥
एतान् पश्य रणे प्राप्तान् वीरान् रणविशारदान् ।
धारयामि समक्षं ते पातयिष्ये न संशयः ॥ ९२ ॥

(इतना कहकर) वृषकेतुने फिर कहा—भीमसेनजी ! यह राक्षस मेघवर्ण धन्य है । इसने बड़ा ही प्रशंसनीय कार्य किया है; क्योंकि यह घोड़ेको लेकर आ गया । अब इसे शत्रु कैसे गिरा सकते हैं ? देखिये, रणभूमिमें

उपस्थित हुए इन सभी युद्धकुशल वीरोंको मैं अभी रोके लेता हूँ। आपके सामने ही मैं इन सबको मार गिराऊँगा—इसमें संदेह नहीं है ॥ ९१-९२ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं गृहीत्वा परमं धनुः।
पदातिः प्रययौ धन्वी भीमसेनस्य पश्यतः ॥ ९३ ॥
पिनाकपाणिर्भगवान् यथा दैत्यगणांस्तथा।

इतनी बात कहकर वृषकेतुने अपना विशाल धनुष हाथमें लिया और भीमसेनके देखते-देखते वह धनुर्धर वीर पैदल ही आगे बढ़ा। ठीक उसी तरह जैसे पिनाकपाणि भगवान् शङ्कर दैत्यगणोंपर आक्रमण करते हैं ॥ ९३½ ॥

अधुना च रणे वीरास्तिष्ठध्वमिति चाब्रवीत् ॥ ९४ ॥
निवर्त्तध्वं वृथा प्राणान् मा त्यजध्वं ममान्तिके।

वहाँ पहुँचकर उसने कहा—'वीरो! अब युद्धस्थलमें डटकर मेरा सामना करो अथवा लौट जाओ। मेरे समीप आकर व्यर्थ अपने प्राणोंको मत गँवाओ' ॥ ९४½ ॥

ते तु श्रुत्वा वचस्तस्य विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ॥ ९५ ॥
कोऽयं कस्यात्मजो वीरः किं वा ज्ञापयति स्वयम्।
अस्माकं पुरतः स्थित्वा समाह्वयति कालवत् ॥ ९६ ॥

वृषकेतुके इस वचनको सुनकर उन वीरोंके नेत्र विस्मयसे खिल उठे और वे कहने लगे—'यह वीर पुरुष कौन है? और किसका पुत्र है? तथा यह अपने-आप क्या आदेश दे रहा है? हमलोगोंके सामने स्थित होकर यह कालकी भाँति हमलोगोंको बुला रहा है' ॥ ९५-९६ ॥

प्रब्रुवन्तो वचश्चैवं पुनस्ते रुरुधुस्तदा।
तं कर्णपुत्रं समरेऽवर्षयंस्ते यथा घनाः ॥ ९७ ॥

उस समय इस प्रकारके वचन कहते हुए उनके सैनिकोंने समरभूमिमें कर्णपुत्र वृषकेतुको चारों ओरसे घेर लिया और फिर वे बादलकी भाँति उसके ऊपर बाणोंकी वर्षा करने लगे॥

स तान् बाणगणैर्घोरैः पातयित्वा धरातले।
ननाद सिंहवद् वीरः सिंहस्कन्धो महाभुजः ॥ ९८ ॥

तब जिसके कंधे सिंहके समान तथा भुजाएँ लंबी-लंबी थीं, वह वीर वृषकेतु अपने भयंकर बाणसमूहोंसे उन वीरोंको धराशायी करके सिंहके समान दहाड़ने लगा ॥ ९८ ॥

महारथाः शरैश्छन्ना न दृश्यन्ते नराधिप।
गजा विदारिता बाणैः पतिता धरणीतले ॥ ९९ ॥

नरेश्वर! उस समय सायकोंसे ढके होनेके कारण बड़े-बड़े विशाल रथोंका दीखना बंद हो गया। बड़े-बड़े गजराज बाणोंसे विदीर्ण करके पृथ्वीपर गिरा दिये गये ॥ ९९ ॥

सादिनः पत्तयः सर्वे विनष्टाः शतशो रणे।
तानि सैन्यानि भग्नानि तस्मात् कर्णात्मजात् तदा॥१००॥
स्मरणाद् वासुदेवस्य पातकानीव सर्वशः।

उस युद्धमें सैकड़ों घुड़सवार तथा समस्त पैदल सैनिक विनष्ट हो गये। उस समय वृषकेतुसे पीड़ित हो वे सारी सेनाएँ उसी प्रकार छिन्न-भिन्न हो गयीं, जैसे भगवान् वासुदेवके स्मरणसे समस्त पातक विलीन हो जाते हैं ॥१००½॥

तत्र केचित् पुरीं प्राप्ताः कथयन्ति हि वै क्षयम् ॥१०१॥
हयो नीतः परै राजन्नयुतं विदलीकृतम्।
वीराणां रणधीराणां यौवनाश्वं नृपं प्रति ॥१०२॥

उनमेंसे कुछ वीर भद्रावतीपुरीमें राजा यौवनाश्वके पास गये और सैन्यविनाशकी सूचना देते हुए कहने लगे—'राजन्! शत्रु हमारे घोड़ेको तो ले ही गये, उन्होंने हमारी सेनाके दस सहस्र रणधीर वीरोंका संहार भी कर डाला' ॥ १०१-१०२ ॥

जैमिनिरुवाच

यौवनाश्वो महाबाहुर्विस्मयं परमं गतः।
तच्छ्रुत्वा भाषितं तेषां महाकोपेन पूरितः ॥१०३॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! सैनिकोंका वह कथन सुनकर महाबाहु राजा यौवनाश्वको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे अत्यन्त क्रोधसे भर गये ॥ १०३ ॥

निर्ययौ स्वबलेनैव निखिलेन जनाधिपः।
पप्रच्छ कति ते प्राप्ताः सन्ति वीराः कियद् बलम्॥१०४॥

अब राजा यौवनाश्व अपनी सारी सेनाको साथ लेकर नगरसे बाहर निकले और पूछने लगे—'वीरो! वे कितने योद्धा आये हैं और उनकी सेना कितनी है?' ॥ १०४ ॥

ऊचुस्तेऽपि त्रयो दृष्टाश्चतुर्थो न समागतः।
एकेन गगने राजन् नीतः स तुरगस्तव ॥१०५॥

तब उन सैनिकोंने उत्तर दिया—'राजन्! शत्रुपक्षमें तीन ही योद्धा देखे गये हैं; चौथा कोई नहीं आया है। उनमेंसे एक वीर आपके घोड़ेको लेकर आकाशमें चला गया है॥

यूना परेण सैन्यं तु पातितं चापरः स्थितः।
यथा ह्यवैष्णवः पुत्रः स्वकुलं निरयेऽशुचौ ॥१०६॥

'दूसरे नवयुवक वीरने आपकी सेनाको उसी तरह धराशायी कर दिया है, जैसे विष्णुभक्तिसे हीन पुत्र अपने कुलको अपवित्र नरकमें गिरा देता है और तीसरा योद्धा अभीतक चुपचाप खड़ा है' ॥ १०६ ॥

यौवनाश्व उवाच

त्रयो देवाश्च ते नूनं गृह्णन्ति तुरगं मम।
न मानुषैः शक्यतेऽसौ हयो नेतुं कथंचन ॥१०७॥

राजा यौवनाश्वने कहा--वीरो ! निश्चय ही वे तीनों देवता हैं, जिन्होंने मेरे घोड़ेको पकड़ लिया है; क्योंकि मनुष्योंमें किसी प्रकार भी उस अश्वको ले जानेकी शक्ति नहीं है ॥ १०७ ॥

नयन्ति मानुषा हंसं यदि ते नैव मानुषाः।
रणयज्ञे हि तान् देवांस्तोषयिष्येऽहमद्य वै ॥१०८॥

यदि मनुष्य ही उस घोड़ेको ले जा रहे हैं तो भी वे मनुष्य नहीं, देवता ही हैं; अतः आज मैं इस युद्धरूपी यज्ञमें उन देवोंको संतुष्ट करूँगा ॥ १०८ ॥

जैमिनिरुवाच

इत्युक्त्वा प्रययौ राजा सैन्येन महता वृतः।
प्रथमं राजशार्दूलस्तं ददर्श वृकोदरम् ॥१०९॥

जैमिनिजी कहते हैं--जनमेजय ! ऐसा कहकर अपनी विशाल सेनासे घिरे हुए राजा यौवनाश्व आगे बढ़े। उन राजसिंहने पहले-पहल भीमसेनको देखा ॥ १०९ ॥

वृषध्वजं स्थितं युद्धे विलोक्य हर्षितोऽभवत्।
धन्योऽसौ बालकश्चैको वीक्षते मां समागतम् ॥११०॥

फिर युद्धस्थलमें वृषकेतुको खड़ा हुआ देखकर वे परम प्रसन्न हुए और कहने लगे--'यह बालक धन्य है, जो अकेला ही युद्धस्थलमें उपस्थित हुए मुझको देख रहा है ॥

न भयं विद्यते चास्य मृगराडिव लक्ष्यते।
मृत्योर्भयं न कुरुते यथा योगी तथा शिशुः ॥१११॥
तस्मात् सर्वे ममैतस्य पश्यन्तु बलमुत्तमम्।

'इसमें लेशमात्र भी भय नहीं है। यह सिंहके सदृश निर्भय दिखायी देता है। जैसे योगीको मृत्युका भय नहीं होता, उसी तरह यह शिशु भी मृत्युसे भय नहीं मान रहा है; अतः सभी योद्धा आज मेरे और इसके उत्तम बलको देखें' ॥

जैमिनिरुवाच

तं तथा भाषमाणं तु ससैन्यं हि समागतम् ॥११२॥
निरीक्ष्य भीमस्तरसा योद्धुं प्रायाद् गदान्वितः।
वारयन् कर्णपुत्रं च पातयन्निव तद्बलम् ॥११३॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! सेनासहित आये हुए राजा यौवनाश्वको इस प्रकार भाषण करते देख भीमसेन हाथमें गदा लेकर युद्धके लिये वेगपूर्वक आगे बढ़े। वे वृषकेतुको मना करके राजा यौवनाश्वकी सेनाको धराशायी करते हुए-से जान पड़ते थे ॥ ११२-११३ ॥

प्रत्युवाच तदा भीमं वृषकेतुर्मुदा वचः।
त्रैलोक्यं यदि सम्प्राप्तं संग्रामे कुन्तिनन्दन ॥११४॥
तदा तव भवेद् युद्धं स्वल्पं सैन्यं च मामकम्।
सेनेयं तु वृता तात प्रथमं पुत्रकेण ते ॥११५॥

उस समय वृषकेतु प्रसन्नतापूर्वक भीमसेनको उत्तर देता हुआ बोला—'कुन्तीनन्दन ! यदि त्रिलोकीके सभी वीर संग्रामभूमिमें उपस्थित हो जायँ तभी आपका उनके साथ युद्ध होना चाहिये। यह थोड़ी-सी सेना तो मेरे हिस्सेमें है। आपके इस पुत्रने पहले ही इस सेनाका वरण कर लिया है॥

मया भीम महायुद्धे वर्जनीया त्वयाद्य सा।
इमां निर्मथ्य सकलां यशः पैत्रं तु ते करे ॥११६॥
समुत्पाद्य प्रदास्यामि मा त्वं क्रीडय मारिष।

'इसलिये भीमसेनजी ! आपको अब मेरे द्वारा वरण की हुई उस सेनाके निकट नहीं जाना चाहिये। इस महायुद्धमें मैं सारी सेनाको मथकर अपने पैतृक यशका भलीभाँति उत्पादन करके उसे आपके हाथमें समर्पित कर दूँगा। आर्य ! आप इसके साथ क्रीडा मत कीजिये ॥ ११६½ ॥

न स्थिरः सर्वदा देहस्तारुण्यं चञ्चलं तथा ॥११७॥
स्थिरा रमा न कस्यापि दृश्यते मन्दिरे विभो।
तस्माद् यशः स्थिरं कार्यं प्राणिभिर्भूतलेऽखिले ॥११८॥

'विभो ! यह शरीर सर्वदा स्थिर रहनेवाला नहीं है। युवावस्था भी चञ्चल ही है। सारे भूमण्डलमें किसीके भी घरमें लक्ष्मी स्थिर नहीं देखी जाती; अतः प्राणियोंको अपना यश स्थिर कर लेना चाहिये ॥ ११७-११८ ॥

विपरीतः परो धर्मः कविभिर्भाषितः क्षितौ।
परसेनामतिप्रौढां नानामुखविलोकिनीम् ॥११९॥
निर्मथ्य ये नरा यान्ति प्राप्नुयुस्ते यशः स्थिरम्।

'विद्वानोंने पृथ्वीपर जो यह परम धर्म बतलाया है कि बहुतोंके मुखकी अपेक्षा रखनेवाली अत्यन्त प्रौढ़ शत्रुसेनाका जो लोग मन्थन करके आगे बढ़ते हैं, उन्हें स्थिर यशकी प्राप्ति होती

है, उनका वह कथन धर्मविपरीत मालूम पड़ता है; क्योंकि एक वीरके वरण कर लेनेपर वह सेना पर-स्त्रीके समान हो जाती है, अतः दूसरेको उसपर आक्रमण नहीं करना चाहिये॥

वधूस्ते मम सेनास्त्री सभावं मां निरीक्षते ॥१२०॥
कर्तुं च सक्षतं वक्षः शस्त्ररूपैर्नखैर्दृढम् ।
सेनामुखं मम मुखे सङ्गतं पश्य पाण्डव ॥१२१॥

'यह सेना मेरी स्त्री है, अतः आपकी पुत्रवधू है। यह अपने कठोर वक्षःस्थलको शस्त्ररूपी नखोंद्वारा क्षत-विक्षत करनेके लिये भावसहित मेरी ओर देख रही है। पाण्डुनन्दन! देखिये न, इस सेनाका मुख मेरे मुखकी ओर ही संलग्न हो रहा है ॥ १२०-१२१ ॥

भवन्तं श्वशुरं वीक्ष्य विमुखा हि भविष्यति ।
पताकापल्लववृतं न मुखं दर्शयिष्यति ॥१२२॥

'आप इसके श्वशुर हैं, अतः आपको देखकर यह विमुख हो जायगी और पताकारूपी अञ्चलसे ढके हुए अपने मुखको नहीं दिखायेगी ॥ १२२ ॥

तस्मात् त्वया च स्थातव्यं यावद् भवति सङ्गतम् ।
ममाद्य संगरे तात सेनायास्तावदेव हि ॥१२३॥

'अतः तात ! जबतक आज मेरा इस सेनाके साथ युद्धस्थलमें समागम होता है, तबतक आपको दूर ही खड़ा रहना चाहिये' ॥ १२३ ॥

भीमसेन उवाच

भवान् प्रयातु प्रथमं सेनामेनां विलासिनीम् ।
वधूजितं यदा वीक्ष्ये त्वां तु पुत्रक संगरे ॥१२४॥
तदा वधूं शासयिष्ये गदादण्डेन दूरतः ।
शासिता हि वधूः पुत्र सफला ते भविष्यति ॥१२५॥

भीमसेनने कहा—बेटा ! अच्छा, इस विलासिनी सेनाके पास पहले तुम्हीं जाओ। जिस समय मैं देखूँगा कि युद्धभूमिमें वधूने तुम्हारे ऊपर अधिकार जमा लिया है, उस समय दूरसे ही मैं अपने गदादण्डद्वारा उस बहूको ताड़ना अथवा शिक्षा दूँगा। वत्स ! मेरेद्वारा शासित (दण्डित) होनेपर वह वधू तुम्हारे लिये विजयरूप उत्तम फल देनेवाली होगी॥

गुरुभिः शास्यते नैव स्नुषा यदि धरातले ।
तस्या दुर्वृत्तभावेन तेषां हि पतनं ध्रुवम् ॥१२६॥

यदि भूतलपर गुरुजन बहूका शासन न करें तो उस बहूके दुराचरणसे उनका पतन हो जाना निश्चित ही है ॥

एतत् समीक्ष्य गन्तव्यं त्वया वीर महाचमूम्।
पदातिस्त्वं रथस्थास्ते परे प्राप्ता हि कर्णज ॥१२७॥
एकाकिनं प्रेरयितुं न क्षमोऽस्मि महाबल ।

वीर ! इन सब बातोंका विचार करके तुम्हें इस विशाल सेनामें प्रवेश करना चाहिये; परंतु कर्णनन्दन ! तुम पैदल हो और ये युद्धस्थलमें आये हुए शत्रु रथारूढ़ हैं; इसलिये महाबली वीर ! तुम्हें अकेले ही युद्धस्थलमें जानेकी आज्ञा देनेके लिये मैं समर्थ नहीं हूँ ॥ १२७½ ॥

जैमिनिरुवाच

एतस्मिन्नन्तरे राजन् वृषकेतुरुदारधीः ॥१२८॥
भीमं प्रदक्षिणीकृत्य निर्ययौ स चमूं प्रति ।
कामीवारुणनेत्रोऽयमबलां वरवर्णिनीम् ॥१२९॥

जैमिनिजी कहते हैं—राजन् ! इसी बीचमें उदारबुद्धि वृषकेतु भीमसेनकी प्रदक्षिणा करके लाल आँखें किये उस सेनाकी ओर इस तरह बढ़ा, जैसे काममदसे अरुण नेत्रवाला कामी पुरुष किसी सुन्दरी स्त्रीके पास जाता है ॥

श्रीखण्डघनसारेण कटदानेन वासिताम् ।
बिभेद वाहिनीं मध्ये गजकुम्भपयोधराम् ॥१३०॥

युद्धस्थलमें पहुँचकर उसने चन्दन तथा कपूरसे और हाथियोंके गण्डस्थलसे बहते हुए मदकी सुगन्धसे सुवासित एवं गजराजोंके कुम्भस्थलरूपी स्तनोंसे सुशोभित उस सेनाको बीचोबीचसे विदीर्ण कर दिया ॥ १३० ॥

बाणैस्तीक्ष्णैर्महाबाहुर्वीक्षमाणः पितामहम् ।
वीरान् पातयते रोषान्न रोषस्तस्य शाम्यति ॥१३१॥

महाबाहु वृषकेतु पितामह सूर्यकी ओर देखता हुआ अपने पैने बाणोंसे शत्रु-वीरोंको रोषपूर्वक गिराने लगा; फिर भी उसका क्रोध शान्त नहीं होता था ॥ १३१ ॥

मद्बाणैः पातिता वीरा रणमध्ये विदारिताः ।
शत्रुतां नैव मुञ्चन्ति किं कर्त्तव्यमितो मया ॥१३२॥

(वह सोचने लगा—) संग्राममभूमिमें शत्रु-पक्षके बहुत-से वीर मेरे बाणोंद्वारा विदीर्ण करके पृथ्वीपर गिरा दिये गये तो भी वे शत्रुता नहीं छोड़ रहे हैं। अतः अब मुझे क्या करना चाहिये ? ॥ १३२ ॥

एवं संचिन्तयानोऽपि पुनः शत्रून् व्यपोथयत् ।
चन्दनागुरुगन्धीनि रणे राज्ञां मुखानि सः ॥१३३॥
विच्छिन्नानीव पद्मानि निरीक्ष्य समरे हसन् ।
एतानि जलहीनानि न म्लायन्ति ममाग्रतः ॥१३४॥

इस तरह विचार करते हुए भी वह पुनः शत्रुओंका मर्दन करने लगा । रणभूमिमें कटकर गिरे हुए राजाओंके मुखोंको, जो चन्दन और अगुरुकी सुगन्धसे युक्त तथा नाल से टूटकर गिरे हुए कमलोंकी भाँति सुशोभित हो रहे थे, देखकर वृषकेतु हँसता हुआ कहने लगा--'अहो ! ये कमल जलसे रहित होनेपर भी मेरे सामने मलिन नहीं हो रहे हैं' ॥

मत्वा बिभेद राजेन्द्र रणे गजघटाः पुनः ।
मौक्तिकानि सुवृत्तानि गजकुम्भच्युतानि च ॥१३५॥
शूरकण्ठेषु चिक्षेप मण्डनानि स कर्णजः ।

राजेन्द्र ! ऐसा मानकर कर्णपुत्र वृषकेतु पुनः काली घटाके समान स्थित हुई गजसेनाको विदीर्ण करने लगा । उस समय गजराजोंके कुम्भस्थल फट जानेसे उनसे जो सुन्दर गोल-गोल गजमुक्ताएँ गिर रही थीं, उन्हें वह शूर वीरोंके कण्ठोंपर आभूषणोंके रूपमें फेंक देता था ॥ १३५½ ॥

तं तथा समरे वीरं संहरन्तं निजं बलम् ॥१३६॥
यौवनाश्वो गजारूढः समागत्येदमब्रवीत् ।

इस प्रकार समरभूमिमें अपनी सेनाका संहार करनेवाले उस वीर वृषकेतुके पास आकर राजा यौवनाश्व, जो उस समय एक विशाल गजराजपर सवार थे, यों कहने लगे ॥

यौवनाश्व उवाच

रथं गृहाण वीर त्वं मया दत्तं समारुह ॥१३७॥
भूमिस्थेन समं युद्धं न प्रशंसन्ति सूरयः ।

राजा यौवनाश्वने कहा--वीर ! विद्वान् लोग भूमिपर खड़े हुए शत्रुके साथ किये गये युद्धकी प्रशंसा नहीं करते; अतः मैं तुम्हें यह रथ प्रदान कर रहा हूँ, तुम इसे स्वीकार कर लो और इसपर सवार हो जाओ ॥ १३७½ ॥

परदेशात् पुरं प्राप्तं बालं श्रमसमन्वितम् ॥१३८॥
योधितं बहुभिः सार्धं विरथं योधये कथम् ।

क्योंकि तुम अभी बालक हो और परदेशसे मेरे नगरमें आये हो । साथ ही तुमने बहुत-से वीरोंके साथ युद्ध भी किया है, जिससे थके-माँदे भी हो । ऐसी दशामें मैं तुम-जैसे रथहीनके साथ कैसे युद्ध कर सकता हूँ ? ॥ १३८½ ॥

तव नाम न जानामि न गोत्रं जनकं च ते ॥१३९॥
विष्णोरिव जगत्पूज्यं न वेद्मि कुलनिर्णयम् ।
तस्मात् प्रब्रूहि समरे यथा युद्धं करोमि ते ॥१४०॥
धन्यस्त्वमपरो धन्यस्त्वत्तो नास्तीति मे मतिः ।

वीर ! मैं तुम्हारा नाम और गोत्र नहीं जानता, न तुम्हारे पिताका ही मुझे ज्ञान है । जैसे भगवान् विष्णुके विश्ववन्द्य कुलका निर्णय किसीको ज्ञात नहीं होता, उसी प्रकार तुम्हारे भी जगन्मान्य वंशका निर्णय मुझे ज्ञात नहीं है, अतः मुझे यह सब विस्तारपूर्वक बताओ, जिससे मैं रणभूमिमें तुम्हारे साथ युद्ध कर सकूँ । तुम धन्य हो । मेरा तो ऐसा विचार है कि तुमसे बढ़कर धन्यवादका पात्र दूसरा कोई है ही नहीं ॥ १३९-१४०½ ॥

वृषकेतुरुवाच

कुलं कश्यपसम्भूतं मामकं रविभासितम् ॥१४१॥
पृथिव्यां नापरो दाता यं विना जनकः स मे ।
सभामध्ये द्रौपदी च क्लिश्यती येन वीक्षिता ॥१४२॥
धर्मादयो न गणिता दुर्योधनहितैषिणा ।
विना नतं स्थितो यस्तु तस्य पुत्रं निबोध माम् ॥१४३॥
अर्जुनेनैव नीतोऽसौ परमं पदमव्ययम् ।
कर्णः पिता मे संग्रामे वृषकेतुरहं स्थितः ॥१४४॥

वृषकेतुने कहा--राजन् ! मेरा कुल सूर्यदेवसे प्रकाशित एवं महर्षि कश्यपसे उत्पन्न हुआ है । मेरे पिता वे थे, जिनके अतिरिक्त उस समय पृथ्वीपर दूसरा कोई दानी नहीं था । जिन्होंने कौरव-सभामें कष्ट पाती हुई महारानी द्रौपदीकी ओर कुदृष्टिसे देखा था तथा दुर्योधनके हितमें तत्पर रहकर धर्मराज युधिष्ठिर आदिको कुछ नहीं गिना था । जो किसीके सामने झुके नहीं थे तथा जिन्हें अर्जुनने संग्राममें अविनाशी परमपदको भेज दिया है, वे कर्ण मेरे पिता हैं । मुझे उन्हींका पुत्र जानिये । मेरा नाम वृषकेतु है, जो आपके सामने युद्धमें स्थित हूँ ॥१४१--१४४॥

युधिष्ठिरस्य यज्ञार्थं तुरगो नीयते मया ।
न रथं च त्वया दत्तं प्रतिगृह्णामि संगरे ॥१४५॥
युद्धे जितं तु गृह्णन्ति न दत्तं वै नराधिप ॥१४६॥

राजा युधिष्ठिरके अश्वमेध-यज्ञका सम्पादन करनेके लिये

मैं घोड़ा ले जा रहा हूँ। युद्धस्थलमें आपके द्वारा दिये गये रथको मैं ग्रहण नहीं कर सकता, क्योंकि नराधिप! क्षत्रिय दान नहीं लेते, वे तो युद्धमें जीती हुई वस्तुओंको ही ग्रहण करते हैं ॥ १४५-१४६॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि यौवनाश्ववृषकेतुवाक्यवर्णनं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें यौवनाश्व और वृषकेतुके वाक्यका वर्णननामक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

वृषकेतु और यौवनाश्वका युद्ध, उसमें दिव्यास्त्रोंका प्रयोग, वृषकेतुके मूर्च्छित होनेपर भीमसेनका रणभूमिमें आगमन, भीमसेन और सुवेगका युद्ध और दोनोंकी मूर्च्छा, पुनः वृषकेतु और यौवनाश्वका युद्ध, यौवनाश्वके मूर्च्छित होनेपर वृषकेतुद्वारा उनकी जीवनरक्षा और सचेत होनेपर यौवनाश्वद्वारा वृषकेतुका आलिङ्गन

यौवनाश्व उवाच

धन्योऽसि कर्णपुत्र त्वं प्रथमं प्रहराशु माम्।
बालं चपलमालोक्य तस्मान्न प्रहरामि ते ॥ १ ॥

राजा यौवनाश्वने कहा—कर्णपुत्र! तुम धन्य हो। पहले तुम्हीं मुझपर शीघ्र प्रहार करो; तुम्हें एक चपल बालक समझकर मैं पहले तुमपर प्रहार करना नहीं चाहता ॥ १ ॥

वृषकेतुरुवाच

बहुपुत्रोऽसि राजेन्द्र मत्तो वृद्धतरो भवान्।
कृष्णदर्शनहीनोऽसि न समो मद्बलेन वै ॥ २ ॥

वृषकेतुने कहा—राजेन्द्र! आपके बहुत-से पुत्र उत्पन्न हो चुके हैं अतः आप मेरी अपेक्षा बहुत वृद्ध हैं; परंतु आपको श्रीकृष्णका दर्शन नहीं हुआ है, अतः आप बलमें मेरी समानता नहीं कर सकते ॥ २ ॥

त्वच्छरीरे महाराज विद्यते न बलं क्वचित्।
अहं तावद् युवा राजन् भवान् वृद्धतरो मम ॥ ३ ॥

महाराज! आपके शरीरमें कहीं बल नहीं है; क्योंकि मैं तो नौजवान हूँ और आप मेरी दृष्टिमें बहुत वृद्ध हो चुके हैं॥

जैमिनिरुवाच

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य नृपतिर्दशभिः शरैः।
ताडयामास हृदये वृषकेतुं हसन्निव ॥ ४ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! वृषकेतुका वह वचन सुनकर हँसते हुए-से राजा यौवनाश्वने उसके हृदयपर दस बाणोंद्वारा प्रहार किया ॥ ४ ॥

स ताञ्छरांस्त्रिधा चक्रे नृपकोदण्डनिर्गतान्।
बाणेनैकेन तरसा छित्त्वा तं त्रिभिरार्दयत् ॥ ५ ॥

तब वृषकेतुने राजाके धनुषसे छूटे हुए उन बाणोंको वेगपूर्वक चलाये हुए एक ही बाणसे काटकर उनके तीन-तीन टुकड़े कर डाले और तीन बाण मारकर राजाको भी पीड़ित कर दिया ॥ ५ ॥

तस्य बाणा नृपं विद्ध्वा प्रविष्टा धरणीतलम्।
पूर्वजाः कूटसाक्ष्यं हि ब्रुवतो यान्त्यधो यथा ॥ ६ ॥

उसके बाण राजाको घायल करके पृथ्वीमें समा गये। ठीक उसी तरह, जैसे झूठी गवाही देनेवालेके पूर्वज अधोगतिको प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

अर्धचन्द्रेण चिच्छेद कोदण्डं नृपतेः पुनः।
सगुणं चातपत्रं च चामरव्यजनानि सः ॥ ७ ॥

तत्पश्चात् वृषकेतुने एक अर्धचन्द्राकार बाण चलाकर राजाके प्रत्यञ्चासहित धनुष, छत्र, चामर और व्यजनको भी काट डाला ॥ ७ ॥

वक्रवाक्येन तीक्ष्णेन च्छिद्यन्ते प्रीतिजा गुणाः।
यथा चैकेन बालस्य बाणेनैकेन तत् तथा ॥ ८ ॥
निखिलं भूपतेस्तत्र पातितं धनुरादिकम्।

जैसे एक ही टेढ़ी बात कह देनेसे प्रेमजनित समस्त गुणोंका उच्छेद हो जाता है, उसी प्रकार बालक वृषकेतुके एक ही बाणने रणभूमिमें राजा यौवनाश्वके धनुष आदि सम्पूर्ण उपकरणोंको काट गिराया ॥ ८½ ॥

सोऽन्यत्कार्मुकमादाय सज्यं कृत्वा महाबलः ॥ ९ ॥
विव्याध कर्णजं षष्ट्या शराणां नतपर्वणाम् ।

तब महाबली राजा यौवनाश्वने दूसरा धनुष लेकर उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी और झुकी हुई गाँठवाले साठ बाण मारकर वृषकेतुको घायल कर दिया ॥ ९½ ॥

ते तस्य हृदयं भित्त्वा पपुः शोणितमाहवे ॥ १० ॥
जीवनं भानुकिरणाः पिबन्ति तरसा यथा ।

वे बाण वृषकेतुके हृदयको विदीर्ण करके उसके रक्तका पान करने लगे, जैसे सूर्यकी किरणें वेगपूर्वक पृथ्वीके जलको सोख लेती हैं ॥ १०½ ॥

तथा स भिन्नहृदयो बहुभिः परिवारितः ॥ ११ ॥
चकार युद्धं सुमहन्नृपतिं परिपीडयन् ।

तब घायल हृदयवाला वृषकेतु बहुत-से योद्धाओंद्वारा घिरा होनेपर भी राजाको पीड़ित करता हुआ अत्यन्त घोर युद्ध करने लगा ॥ ११½ ॥

चतुर्भिस्तुरगांस्तस्य शरैर्निन्ये यमक्षयम् ॥ १२ ॥
सारथेश्च शिरः कायात् पातयामास भूतले ।

उसने चार बाण मारकर राजाके घोड़ोंको यमलोक पहुँचा दिया और सारथिका सिर उसके धड़से काटकर पृथ्वी-पर गिरा दिया ॥ १२½ ॥

अदृश्यं नृपतिं चक्रे योधानां पश्यतामपि ॥ १३ ॥
हतो राजेति शब्दोऽभूत् तस्मिन् युद्धे तथाविधे ।

साथ ही वृषकेतुने समस्त योद्धाओंके देखते-देखते राजा-को अदृश्य कर दिया । उस समय उस युद्धस्थलमें 'राजा मारे गये' ऐसा कोलाहल मच गया ॥ १३½ ॥

बाणान्धकारे च कृते कर्णपुत्रेण लीलया ॥ १४ ॥
पितामहस्य स्वस्यैव नाशं युधि रिपोः पुरः ।
लज्जितः संदधे घोरं पावकास्त्रं समन्त्रकम् ॥ १५ ॥

जब कर्णपुत्रने लीलापूर्वक बाणोंकी वर्षा करके वहाँ अन्धकार फैला दिया, तब युद्धस्थलमें शत्रुके समक्ष अपने ही पितामह (सूर्य) को अदृश्य हुआ देख उसे संकोच हुआ । फिर तो उसने मन्त्र पढ़कर भयंकर आग्नेयास्त्रका संधान किया ॥ १४-१५ ॥

प्रकाशमकरोत् तेन वह्निना नृपसत्तम ।
वारुणेनाथ राजापि शमयामास पावकम् ॥ १६ ॥

नृपश्रेष्ठ ! तब उस अस्त्रसे प्रकट हुई अग्निके द्वारा उसने वहाँ प्रकाश फैला दिया । तदनन्तर राजा यौवनाश्वने भी वारुणास्त्रका प्रयोग करके उस आग्नेयास्त्रको शान्त कर दिया ॥ १६ ॥

पवनास्त्रेण बलवान् कर्णपुत्रोऽपि वारुणम् ।
विध्वंसयित्वा व्यनदन्महानादं रणाङ्गणे ॥ १७ ॥

तब महाबली वृषकेतु भी पवनास्त्रद्वारा वारुणास्त्रका विनाश करके युद्धके मैदानमें घोर सिंहनाद करने लगा ॥ १७ ॥

यौवनाश्वस्तदा क्रुद्धो दृष्ट्वामानुषपौरुषम् ।
रथमन्यं समारुह्य पर्वतास्त्रेण संहरन् ॥ १८ ॥
मारुतास्त्रं च राजेन्द्र कर्णपुत्रमपीडयत् ।
शिलाः सहस्रधाऽऽकाशादपतन् भुवि भासुराः ॥ १९ ॥

उस समय उसके अमानुषिक पुरुषार्थको देखकर राजा यौवनाश्व क्रोधमें भर गये और दूसरे रथपर चढ़कर पर्वतास्त्र-द्वारा पवनास्त्रका संहार करके वृषकेतुको पीड़ित करने लगे । उस समय आकाशसे हजारों चमकती हुई शिलाएँ पृथ्वीपर गिरने लगीं ॥ १८-१९ ॥

तस्योपरि शरास्तीक्ष्णाः पतिता नृपहस्ततः ।
शरैर्न दृश्यते वीरः संग्रामे लोमहर्षणे ॥ २० ॥

तथा वृषकेतुके ऊपर राजाके हाथसे छूटे हुए तीखे बाण गिर रहे थे । उस रोमाञ्चकारी संग्राममें बाणोंसे आच्छादित हो जानेके कारण वीर वृषकेतुका दीखना बंद हो गया ॥ २० ॥

तं वीक्ष्य कुपितो भीमः पुत्रं मोचयितुं ययौ ।
तं विलोक्य रणे प्राप्तं भीमं कर्णात्मजस्त्वरन् ॥ २१ ॥
प्रमथ्य शरवृष्टिं तां नृपमुक्तां हसन्निव ।
पर्वतास्त्रं च चक्रेण विनाश्य व्यचरद् रणे ॥ २२ ॥

उसे इस अवस्थामें पड़ा हुआ देख भीमसेन कुपित हो-कर अपने पुत्र (भतीजे) को उस संकटसे मुक्त करनेके लिये युद्धस्थलमें गये । तब कर्णपुत्र वृषकेतु उन भीमसेनको रणभूमिमें आया हुआ देख बड़ी उतावलीके साथ राजाद्वारा की हुई उस बाणवर्षाको मथकर और चक्रास्त्रद्वारा पर्वतास्त्र-का विनाश करके हँसता हुआ युद्धस्थलमें विचरने लगा २१-२२

यौवनाश्वेन वीरेण तदस्त्रं च वृथा कृतम् ।
भल्लेन हृदयं तस्य भिन्नं तेन महात्मना ॥ २३ ॥

तब महामनस्वी वीर राजा यौवनाश्वने उस चक्रास्त्रको

व्यर्थ कर दिया और एक भल्ल मारकर वृषकेतुके हृदयको भी बींध दिया ॥ २३ ॥

मूर्च्छितो निपपातोर्व्यां वृषकेतुर्महाबलः।
कर्णपुत्रे च पतिते भीमः कोपसमन्वितः ॥ २४ ॥
चिन्तयित्वा स्वहृदये किं वदिष्यामि धर्मजम्।
कुन्तीं कृष्णं च पार्थं तं विना कर्णसुतं गतः ॥ २५ ॥

उस प्रहारसे महाबली वृषकेतु मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। उसके धराशायी हो जानेपर भीमसेन परम कुपित होकर अपने हृदयमें विचार करने लगे कि वृषकेतुके बिना हस्तिनापुरमें लौटकर मैं धर्मनन्दन युधिष्ठिर, माता कुन्ती, श्रीकृष्ण और अर्जुनको क्या उत्तर दूँगा ? ॥ २४-२५ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु गृहीत्वा महतीं गदाम्।
तद् बलं पोथयामास वेगाद् रुद्र इवाहरत् ॥ २६ ॥

इसी बीचमें उन्होंने अपनी विशाल गदा लेकर वेगपूर्वक उस सेनाको कुचलना आरम्भ किया और (प्रलयकालमें) रुद्रदेवकी भाँति सारी सेनाका संहार कर डाला ॥ २६ ॥

गजकुम्भान् स गदया विदार्य च बहून् क्षणात्।
रथानश्वानपि नरान् पातयामास भूतले ॥२७॥

उन्होंने क्षणमात्रमें अपनी गदासे बहुत-से गजराजोंके कुम्भस्थल विदीर्ण कर दिये और रथों, घोड़ों तथा पैदल सैनिकोंको भी पृथ्वीपर मार गिराया ॥२७ ॥

जानुभ्यां भीमसेनस्य पवनस्तु समुत्थितः।
भ्रामितास्तेन मातङ्गा गगने सरथा हयाः ॥ २८ ॥

रणमें विचरते हुए भीमसेनकी जानुओंसे जो प्रचण्ड वायु उठी, उससे प्रेरित होकर गजराज तथा घोड़ोंसहित रथ आकाशमें ही चक्कर काटने लगे ॥ २८ ॥

नरा भ्रमन्ते राजेन्द्र मुक्तकेशा यथासुराः।
गजा गजैर्नीयमानाः सम्प्राप्ता वसुधातले ॥ २९ ॥

राजेन्द्र ! जिनके बाल खुल गये थे, ऐसे सैनिक बिखरे हुए केशवाले असुरोंकी भाँति आकाशमें ही चक्कर काट रहे थे। हाथी हाथियोंको पकड़े हुए भूतलपर गिर पड़ते थे ॥ २९ ॥

भ्राम्यमाणं च तत्सैन्यमितश्चेतश्च दृश्यते।
वासुदेवस्य माहात्म्यमश्रुत्वा च यथा जगत् ॥ ३० ॥

जैसे श्रीकृष्णके माहात्म्यको न सुननेसे जगत्के प्राणी आवागमनके चक्करमें पड़े रहते हैं, उसी प्रकार वह सेना इधर-उधर चक्कर काटती हुई दिखायी देती थी ॥ ३० ॥

ऊर्ध्वपादा वस्त्रहीना नानालंकारवर्जिताः।
अधोवक्त्राः सरुधिराः शुष्कास्या गजसादिनः ॥ ३१ ॥

(उस समय गजारोहियोंकी दशा विचित्र थी) वे नीचे मुख किये गिर रहे थे। उनके पैर ऊपरकी ओर थे, शरीरसे वस्त्र खिसक गये थे तथा उनके अनेक प्रकारके आभूषण भी गिर पड़े थे। वे खूनसे लथपथ थे और उनके मुख सूख गये थे ॥ ३१ ॥

राजपुत्रा भिन्नगात्राः स्रवन्तो रुधिरं मुखात्।
गगनाद् भूतलं प्राप्ताः क्षीणपुण्या यथा नराः ॥ ३२ ॥

राजकुमारोंके शरीर छिन्न-भिन्न हो गये थे। वे मुखसे खून उगलते हुए आकाशसे पृथ्वीपर गिर रहे थे, ठीक उसी तरह, जैसे पुण्य क्षीण हो जानेपर मनुष्य स्वर्गलोकसे नीचे गिर जाते हैं ॥ ३२ ॥

नराश्वगजदेहेभ्यः शोणितौघाः सहस्रशः।
प्रावर्तन्त महाराज भीमे युध्यति भूतले ॥ ३३ ॥

महाराज ! भीमसेनके युद्ध करते समय पृथ्वीपर मनुष्य, घोड़े तथा हाथियोंके शरीरसे निकली हुई हजारों रुधिरकी धाराएँ बह चलीं ॥ ३३ ॥

ततो नृपसुतः प्राप्तः सुवेगो नाम वीर्यवान्।
भीमं योधयितुं क्रोधादिदं वचनमब्रवीत् ॥ ३४ ॥

तब राजा यौवनाश्वका पराक्रमी पुत्र, जिसका नाम सुवेग था, भीमसेनसे युद्ध करनेके लिये सामने आया और क्रोधपूर्वक इस प्रकार कहने लगा ॥ ३४ ॥

सुवेग उवाच

यौवनाश्वसुतं विद्धि सुवेगं मां महाबलम्।
तिष्ठ युद्धं कुरु मया सार्द्धं यास्यसि वै कुतः ॥ ३५ ॥

सुवेग बोला— वीर ! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि मैं राजा यौवनाश्वका महाबली पुत्र सुवेग हूँ। अतः खड़े रहो, मेरे साथ युद्ध करो, अब तुम कहाँ जाओगे ॥ ३५ ॥

इत्युक्त्वा स रथं त्यक्त्वा गृहीत्वा महतीं गदाम्।
भीमं जघान गदया मूर्ध्नि वक्षःस्थले तदा ॥ ३६ ॥

ऐसा कहकर सुवेग अपनी विशाल गदा हाथमें लेकर रथसे उतर पड़ा। उसने तत्काल ही भीमसेनके मस्तक और छातीपर उस गदासे प्रहार किया ॥ ३६ ॥

वृकोदरस्तं गदया जघान समरे बली।
तावन्योन्यं गदाभ्यां च जघ्नतुः क्रोधमूर्च्छितौ ॥ ३७ ॥

तब महाबली भीमसेनने भी युद्धमें गदाद्वारा सुवेगपर आघात किया। इस तरह वे दोनों वीर क्रोधसे मोहित होकर एक दूसरेको गदासे चोट पहुँचाने लगे ॥ ३७ ॥

ततो भीमः समुत्थाप्य सुवेगं गगनेऽक्षिपत्।
भ्रामयित्वा शतगुणं निष्पिपेष धरातले ॥ ३८ ॥

तदनन्तर भीमसेनने सुवेगको पकड़कर उठा लिया और उसे सौ बार घुमाकर आकाशमें फेंक दिया। फिर वे उसे पृथ्वीपर रगड़ने लगे ॥ ३८ ॥

सुवेगः पुनरुत्थाय गृहीत्वा पवनात्मजम्।
भूमौ ममर्द राजेन्द्र तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ३९ ॥

राजेन्द्र! तब सुवेग पुनः उठ खड़ा हुआ और पवन-पुत्र भीमसेनको पकड़कर उन्हें भूमिपर गिराकर मसलने लगा। यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ ३९ ॥

भीमो गजं गृहीत्वैकं सुवेगोपरि चिक्षिपे।
समायान्तं गजं तं तु चिक्षेप पवनात्मजे।
स गजः प्रेरितस्ताभ्यां यातायातं करोति वै ॥ ४० ॥

तब भीमसेनने एक गजराजको पकड़कर उसे सुवेगके ऊपर फेंक दिया। फिर सुवेगने भी अपनी ओर आते हुए उस गजराजको पकड़कर भीमसेनपर फेंका। यों उन दोनोंद्वारा फेंका जाता हुआ वह गजराज इधर-उधर दोनों ओर आने-जाने लगा ॥ ४० ॥

मुष्टिभिर्जानुभिर्घोरैः प्रहारैस्तौ च जिग्यतुः।
उभौ तौ मर्दितौ तत्र पतितौ धरणीतले ॥ ४१ ॥

फिर वे दोनों वीर मुक्कों, घुटनों तथा भयंकर प्रहारोंसे एक दूसरेको पराजित करनेकी चेष्टा करने लगे। इस तरह एक दूसरेको मसलते हुए वे दोनों पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ४१ ॥

जैमिनिरुवाच

वृषकेतुस्ततो मूर्च्छां त्यक्त्वा राजानमाहवे।
पञ्चभिस्ताडयामास शरैः संनतपर्वभिः ॥ ४२ ॥

जैमिनिजी कहते हैं--जनमेजय! उधर वृषकेतुने भी मूर्च्छा त्यागकर युद्धस्थलमें राजा यौवनाश्वको झुकी हुई गाँठवाले पाँच बाण मारे ॥ ४२ ॥

तैर्बाणैर्मूर्च्छितो राजा यौवनाश्वो महाबलः।
विसंज्ञं समरे वीक्ष्य वृषकेतुः समीपगः ॥ ४३ ॥
वस्त्रवातेन नृपतिं वीजयन् वाक्यमब्रवीत्।

उन बाणोंकी चोटसे महाबली राजा यौवनाश्व मूर्च्छित हो गये। तब समरभूमिमें राजाको संज्ञाशून्य हुआ देख वृषकेतु उनके पास गया और अपने वस्त्रसे उनपर हवा करता हुआ बोला ॥ ४३½ ॥

वृषकेतुरुवाच

यत्किंचिद् विद्यते पुण्यं कृष्णाराधनसम्भवम् ॥ ४४ ॥
सर्वेण तेन राजासौ पुनर्जीवतु संगरे।
पौरुषं वेत्ति मे कस्तु चेन्न जीवति पार्थिवः ॥ ४५ ॥

वृषकेतुने कहा--भगवान् श्रीकृष्णकी आराधनासे उत्पन्न हुआ मेरा जो कुछ भी पुण्य है, उस समस्त पुण्यके प्रभावसे इस युद्धमें ये राजा यौवनाश्व पुनः जीवित हो जायँ; क्योंकि यदि राजा जीवित नहीं होंगे तो कौन मेरे पुरुषार्थको जान सकेगा? ॥ ४४-४५ ॥

मूर्च्छां विहाय राजापि तिष्ठ तिष्ठेति वै पुनः।
उत्थाय च रणे प्राह तं ददर्श तथाविधम् ॥ ४६ ॥
कर्णपुत्रं समालिङ्ग्य चेदं वचनमब्रवीत्।

इसी समय राजाकी भी मूर्च्छा दूर हो गयी और वे उठकर रणभूमिमें पुनः 'खड़ा रह, खड़ा रह' ऐसा कहने लगे। परंतु उसी क्षण जब उन्होंने वृषकेतुको उस तरह अपनी सेवा करते देखा, तब वे उसको गलेसे लगाकर इस प्रकार बोले ॥ ४६½ ॥

यौवनाश्व उवाच

प्राणदस्त्वं मदीयोऽसि यत्त्वया परिभाषितम् ॥ ४७ ॥
तच्छ्रुत्वा क्रियते युद्धं न निन्द्योऽस्ति हि मां विना।
गृहाण राज्यं सकलं जीवितं वशगं तव ॥ ४८ ॥

यौवनाश्वने कहा--वीर! तुम मेरे प्राणदाता हो। तुमने मेरे प्रति जो कुछ कहा है, उसे सुनकर भी यदि मैं युद्ध करूँ तो मेरे समान निन्दनीय दूसरा कोई नहीं है। अब तुम मेरा सम्पूर्ण राज्य ग्रहण करो; क्योंकि मेरा जीवन अब तुम्हारे अधीन है ॥ ४७-४८ ॥

त्वत्प्रसादाद्धरिं वीक्ष्ये भीमं दर्शय मारिष।
मर्त्ये कर्णः सदा दाता दातृत्वं तस्य दर्शितम् ॥ ४९ ॥
त्वया पुत्रेण वीरेण पालयित्वा हि मां रणे।

आर्य ! तुम्हारी कृपासे मैं श्रीकृष्णका दर्शन करूँगा, इस समय मुझे भीमसेनसे मिला दो। मृत्युलोकमें कर्ण सदा दानी रहे हैं, तुम उन्हीं दानी कर्णके वीर पुत्र हो। तुमने युद्ध-में मेरे जीवनकी रक्षा करके (प्राणदान देकर) उनके दातापनको सिद्ध कर दिखाया है ॥ ४९½ ॥

त्वमायाहि मया सार्धं यत्र तौ बलिनौ रणे।
सुवेगभीमौ पतितौ मूर्च्छिताविव लक्षितौ ॥ ५० ॥

अब तुम मेरे साथ उस स्थानपर चलो, जहाँ दोनों महाबली वीर सुवेग और भीमसेन रणभूमिमें गिरे हुए मूर्च्छित-से दीख रहे हैं ॥ ५० ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि यौवनाश्वपराजयो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें यौवनाश्वकी पराजयनामक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

राजा यौवनाश्वका भीमसेनसे कृतज्ञता प्रकट करते हुए उन सबको नगरमें ले जाना और प्रभावतीद्वारा उनकी आरती उतारा जाना, राजाद्वारा अपने राज्य आदिका श्रीकृष्णको समर्पण, हस्तिनापुर चलनेके लिये प्रजाको आदेश देना, सुदेवकी माता जरद्गवा और राजाका संवाद, जरद्गवाको बाँधकर साथ ले चलना, मार्गमें भीमसेनका पहले ही हस्तिनापुर पहुँचना और युधिष्ठिरको अश्वसहित यौवनाश्वके आगमनकी सूचना देना

जैमिनिरुवाच

ततो बुद्धौ महावीरौ यौवनाश्वेन वारितौ।
संस्तूय भीमं तरसा पुरीं प्रावेशयत् स्वकाम् ॥ १ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर वे दोनों महाबली वीर भीमसेन और सुवेग मूर्च्छासे जाग उठे। उस समय राजा यौवनाश्वने उन दोनोंको युद्ध करनेसे रोक दिया तथा भीमसेनकी प्रशंसा करके वे उन्हें जोर देकर अपनी नगरीमें ले जानेका विचार करने लगे ॥ १ ॥

मेघवर्णस्तु तुरगं गृहीत्वा भीमसंनिधौ।
स्थितः प्राह हसन् वीरः किमिदं भाग्यकारितम् ॥ २ ॥

उस समय वीर मेघवर्ण उस घोड़ेको लेकर भीमसेनके निकट उपस्थित हुआ और हँसता हुआ कहने लगा—'दादाजी ! देखिये, भाग्यने यह क्या कर दिखाया ?' ॥ २ ॥

चिन्तयन् बहुधा देवमनन्तं सर्वतोमुखम्।
ततो नृपः प्रसन्नात्मा वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ३ ॥
प्रशंसन् पाण्डवं वीरं वृषकेतुं च मारिष।

आर्य ! तदनन्तर सब ओर मुखवाले, अनन्तस्वरूप परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णका बारंबार ध्यान करनेसे राजाका चित्त प्रसन्न हो गया। फिर वे नरेश भीमसेन तथा वीर वृषकेतुकी प्रशंसा करते हुए इस प्रकार कहने लगे ॥ ३½ ॥

यौवनाश्व उवाच

भीम पश्य कुमारस्य वृषकेतोर्महद्बलम् ॥ ४ ॥
संजीवितोऽस्म्यनेनाजौ दयायुक्तेन साधुना।
प्राणदेन कथं युद्धं पुनरेव प्रजायते ॥ ५ ॥

यौवनाश्व बोले—भीमसेन ! कुमार वृषकेतुके महान् बलको तो देखिये। इस दयालु एवं साधु (परोपकारी) वीरने युद्धस्थलमें मुझे जीवनदान दिया है। फिर ऐसे प्राणदाता वीरके साथ युद्ध कैसे किया जा सकता है ? ॥ ४–५ ॥

तस्मान्मां नय भद्रं ते गोविन्दं प्रति पाण्डव।
मदीयं मानसं चाद्य त्वरते धर्मदर्शने ॥ ६ ॥

इसलिये पाण्डुनन्दन ! आपका कल्याण हो। आप मुझे भगवान् गोविन्दके पास ले चलिये। इस समय मेरा मन धर्मराज युधिष्ठिरका दर्शन करनेके लिये उतावला हो रहा है ॥ ६ ॥

यस्य कृष्णे परा भक्तिर्मुक्तेरपि गरीयसी।
यत् किंचिद् विद्यते वित्तं पुत्रपौत्रादिकं मम ॥ ७ ॥
शरीरमपि राज्यं च सर्वं कृष्णवशं कुरु।
गजानां मम शुभ्राणामयुतं विद्यते शुभम् ॥ ८ ॥

क्योंकि जिसकी भगवान् श्रीकृष्णमें अनन्यभक्ति हो जाती है, उसके लिये वह मुक्तिसे भी बढ़कर सुखदायिनी होती है। वीर ! मेरे पास जो कुछ भी धन, पुत्र, पौत्र

आदि विद्यमान हैं, उनको तथा शरीर और सम्पूर्ण राज्यको भी श्रीकृष्णके समर्पण कर दीजिये। साथ ही मेरे पास जो ये उज्ज्वल वर्णके दस हजार सुन्दर गजराज हैं, इन्हें भी श्रीकृष्णको ही सौंप दीजिये ॥ ७-८ ॥

इदं शिरस्तथा वीर धर्मराजार्थमाहवे।
पातयिष्यामि यज्ञेऽस्मिंस्तुरगस्यापि रक्षणे ॥ ९ ॥

तथा वीर! मैं धर्मराज युधिष्ठिरके कार्यकी सिद्धिके लिये उनके इस अश्वमेध यज्ञमें अश्वकी रक्षा करता हुआ अपने इस मस्तकको युद्धमें निछावर कर दूँगा ॥ ९ ॥

शुभ्रे गजे भीमसेन मया सार्धं समारुह।
सुवेगकर्णजावेतौ गजे मत्ते सकाञ्चने ॥ १० ॥
आरूढौ मत्पुरीं रम्यां प्रविशेतां ममाज्ञया।
नगरीं तु जना यान्तु केचिच्छोभयितुं पुरः ॥ ११ ॥
पताकाभिर्विचित्राभिश्चन्दनोदकशीतलाम्।
प्रभावती भीमसेनं नीराजयतु भामिनी ॥ १२ ॥
लाजाभिश्चैव मालाभिर्भावयन्तु हि कन्यकाः।

भीमसेनजी! आप मेरे साथ इस उज्ज्वल वर्णके गजराजपर सवार होइये और सुवेग तथा वृषकेतु सुवर्णभूषित मदमत्त गजराजपर चढ़कर मेरी रमणीय पुरीमें प्रवेश करें। मेरी आज्ञासे जिसके राजमार्ग चन्दनमिश्रित जलके छिड़कावसे शीतल कर दिये गये हैं, उस नगरीको अनेक रंगकी पताकाओंसे सुशोभित करनेके लिये कुछ लोग पहले ही जायँ। सुन्दरी प्रभावती भीमसेनकी आरती उतारें तथा कन्याएँ लाजा और पुष्पमालाओंद्वारा इनका स्वागत-सत्कार करें ॥ १०—१२½ ॥

एवमादिश्य नृपतिः प्रविवेश सपाण्डवः ॥ १३ ॥
मेघवर्णेन सहितो मुदायुक्तो नराधिपः।

इस प्रकार आज्ञा देकर प्रजाओंका पालन करनेवाले राजा यौवनाश्वने भीमसेन और मेघवर्णके साथ प्रसन्नतापूर्वक अपने नगरमें प्रवेश किया ॥ १३½ ॥

राजमन्दिरमायान्तं भीमं देवी ददर्श सा ॥ १४ ॥
सुवर्णपात्रे दीपं तु कृत्वा पञ्चशिखं शिवम्।
कर्पूरपुलकोद्भूतं स्त्रीभिर्युक्ता समाययौ।
नीराजयित्वा तान् वीरानिदं वचनमब्रवीत् ॥ १५ ॥

जब देवी प्रभावतीने देखा कि भीमसेन राजमहलकी ओर आ रहे हैं, तब वह सोनेकी थालमें कपूरकी डलीसे प्रज्वलित पाँच शिखावाले माङ्गलिक दीपको सँजोकर (सौभाग्यवती) स्त्रियोंके साथ आगे बढ़ी और उन वीरोंकी आरती उतारकर इस प्रकार कहने लगी ॥ १४-१५ ॥

प्रभावत्युवाच

येन मे कण्ठसूत्रं हि सुश्लथं परिरक्षितम्।
कर्णजेनाद्य तस्याथ कीर्तिः स्थूला भविष्यति ॥ १६ ॥

प्रभावती बोली—जिस कर्णपुत्र वृषकेतुने (सौभाग्यचिह्नस्वरूप) मेरे ढीले हुए कण्ठसूत्रकी रक्षा की है, उसे विशाल कीर्तिकी प्राप्ति होगी ॥ १६ ॥

जैमिनिरुवाच

जाते नीराजने राजन्नुपविष्टा वरासने।
ततो नानाकथाः कृत्वा भुक्त्वा च शयनं गताः ॥ १७ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—राजन्! आरतीका कार्य सम्पन्न हो जानेपर वे वीर उत्तम आसनोंपर विराजमान हुए। तदनन्तर नाना प्रकारकी बातें करते हुए उन्होंने भोजन किया। फिर (शय्याओंका आश्रय लेकर) वे सो गये ॥ १७ ॥

प्रभातसमये जाते कृतकार्यो नराधिपः।
उपविष्टः सभामध्ये सह भीमेन भारत ॥ १८ ॥

भारत! प्रातःकाल होनेपर राजा यौवनाश्व अपने आवश्यक कार्यसे निवृत्त होकर भीमसेनके साथ सभाभवनमें विराजमान हुए ॥ १८ ॥

आदिदेश जनं सर्वं पुरस्थं धर्मकोविदः।
सर्वे गच्छन्तु वै तत्र यत्र तौ कृष्णपाण्डवौ ॥ १९ ॥

उस समय उन धर्मज्ञ नरेशने समस्त पुरवासियोंको इस प्रकार आज्ञा दी—'सब लोग उस स्थानपर चलें, जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण और पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर विद्यमान हैं ॥

यः कश्चिन्मामके राष्ट्रे चातुर्वर्णोऽन्त्यजोऽपि वा।
न गच्छेत् कृष्णसान्निध्यं स वध्यश्चोरवन्मया ॥ २० ॥

'मेरे राज्यमें बसनेवाला ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा अन्त्यज जो कोई भी हो, यदि वह श्रीकृष्णके समीप नहीं जायगा तो मेरेद्वारा चोरकी भाँति मारा जायगा' ॥

इत्याघोष्य तदा तेन भेरीदुन्दुभिनिःस्वनैः।
सदाराः पुत्रकैः साकं सधनास्तु ममाज्ञया ॥ २१ ॥

उस समय भेरियों और नगाड़ोंको बजवाकर राजाने

ऐसी घोषणा कर दी कि 'मेरी आज्ञासे सब लोग स्त्री, पुत्र और धनके साथ वहाँ चलें ॥ २१ ॥

निर्यातु द्रौपदीं द्रष्टुं रुक्मिणीं च यशस्विनीम् ।
प्रभावती च नारीणामयुतेन विभूषिता ॥ २२ ॥
वधूवृन्देन संयुक्ता धर्मराजपुरं प्रति ।

'दस हजार नारियोंसे घिरकर सुशोभित होती हुई रानी प्रभावती अपनी बहुओंको साथ लेकर द्रौपदी तथा यशस्विनी रुक्मिणीका दर्शन करनेके लिये धर्मराज युधिष्ठिरके नगर हस्तिनापुरको प्रस्थान करें ॥ २२½ ॥

मदीयो वीणकश्चायमयुतस्तम्भमण्डितः ॥ २३ ॥
पश्चिमाशामुपाश्रित्य दीयतां गमनाय मे ।

'मेरे इस वीणक नामवाले खेमेको, जो दस हजार खंभोंसे शोभित होता है, मेरी यात्राके लिये पश्चिम दिशाकी ओर भेज दिया जाय ॥ २३½ ॥

दुन्दुभिस्ताड्यतां घोरो मेघरावो गजोपरि ॥ २४ ॥
सुवर्णपूरिता यान्तु करभाः शकटा वृषाः ।

'हाथीकी पीठपर रखकर मेघके समान गम्भीर शब्द करनेवाले विशाल नगाड़ेको पीटकर यह घोषित कर दिया जाय कि 'ऊँट, छकड़े तथा बैल सुवर्णका भार लेकर चलें' ॥

बहुनात्र किमुक्तेन मदीयं वसु यद् भवेत् ॥ २५ ॥
तत् सर्वं कृष्णसांनिध्ये नीयतामात्मकारिणः ।

'इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ ? मेरे पास जो कुछ भी धन है, वह सब-का-सब भगवान् श्रीकृष्णके समीप पहुँचा दिया जाय; क्योंकि मैं अपने आत्माका कल्याण करना चाहता हूँ ॥ २५½ ॥

यत्र भागीरथी गङ्गा यज्ञेशो भगवान् हरिः ॥ २६ ॥
संयोगश्चैव सर्वेषां कस्य चित्तं न तोषयेत् ।

'जहाँ भागीरथी गङ्गा और यज्ञोंके स्वामी भगवान् श्रीहरि वर्तमान हों, वहाँ इनके साथ समागम होना किसके चित्तको संतुष्ट नहीं करेगा ?' ॥ २६½ ॥

सुदेवं च समाहूय संदिदेश नराधिपः ॥ २७ ॥
वसुवृन्देन संयुक्तो नानासज्जनसंयुतः ।
त्वमस्माकं पुरे श्रीमान् सन्त्यन्ये सधना जनाः ।
आत्मना सहितान् सर्वान् धर्मराजपुरं नय ॥ २८ ॥

फिर राजाने सुदेवको बुलाकर आज्ञा दी—'सुदेव ! तुम हमारे नगरके सबसे बड़े धनवान् हो, तुम्हारे अतिरिक्त दूसरे धनाढ्य लोग भी यहाँ रहते हैं, तुम भारी धनराशि और नाना प्रकारके सत्पुरुषोंसे संयुक्त हो। उन सब धनवानोंको अपने साथ धर्मराज युधिष्ठिरके नगरको ले चलो' ॥

जैमिनिरुवाच

एवं तेन समादिष्टो जनं प्राह पुरः स्थितम् ।
भवद्भिर्गम्यतां तत्र यत्र तौ कृष्णपाण्डवौ ॥ २९ ॥
युधिष्ठिरस्याश्वमेधो भविष्यति सुशोभनः ।
एवमुक्ता जनाः सर्वे हृष्टा जाताः सुखान्विताः ॥ ३० ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! राजासे ऐसा आदेश पाकर सुदेवने सामने खड़े हुए लोगोंसे कहा—'जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण और पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर विद्यमान हैं, आपलोग वहीं चलिये; क्योंकि वहाँ महाराज युधिष्ठिरका अत्यन्त सुन्दर अश्वमेध यज्ञ होगा ।' सुदेवके ऐसा कहनेपर वहाँकी सारी जनता प्रसन्न एवं सुखी हो गयी ॥ २९-३० ॥

सुदेवो मातरं प्राह राजा मां नेतुमिच्छति ।
यत्र धर्मसुतो राजा यत्र तौ कृष्णपाण्डवौ ॥ ३१ ॥

फिर सुदेवने अपनी मातासे कहा—'माँ ! जहाँ धर्मनन्दन महाराज युधिष्ठिर तथा श्रीकृष्ण और अर्जुन हैं, वहाँ राजा मुझे ले जाना चाहते हैं' ॥ ३१ ॥

जननी स्वसुतस्येदं वाक्यमाकर्ण्य चाप्रियम् ।
प्रोवाच वचनं पुत्र न गन्तव्यं कदाचन ॥ ३२ ॥

तब अपने पुत्रके इस अप्रिय वचनको सुनकर माता बोली—'बेटा ! तुझे वहाँ कभी भी नहीं जाना चाहिये ॥

वित्तव्ययो न कर्त्तव्यो मयि जीवति पुत्रक ।
वित्तहीना ह्यहं तात न जीवितुमिहोत्सहे ॥ ३३ ॥

'पुत्र ! मेरे जीते-जी तुझे इस प्रकार धनका अपव्यय नहीं करना चाहिये; क्योंकि तात ! धनसे हीन होकर मैं इस संसारमें जीना नहीं चाहती' ॥ ३३ ॥

पुत्र उवाच

तत्र भागीरथी गङ्गा नाना सन्तः समागताः ।
स्वयं स भगवान् यत्र कृष्णस्तिष्ठति साग्रजः ॥ ३४ ॥
युधिष्ठिरस्य यज्ञेऽन्ये ऋषयोऽपि समागताः ।
उत्तिष्ठ जननि त्वं हि गोविन्दं पश्य साग्रजम् ॥ ३५ ॥

तब पुत्र (सुदेव) ने कहा—माँ ! वहाँ महाराज

युधिष्ठिरके यज्ञमें भागीरथी गङ्गाका सांनिध्य है, बहुत-से संत-महात्मा पधारे हुए हैं, स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण अपने बड़े भ्राता बलरामजीके साथ विराजमान हैं तथा और भी बहुत से ऋषि-मुनि आये हुए हैं; अतः माता ! तुम भी उठो और वहाँ चलकर बलदेवसहित भगवान् गोविन्दका दर्शन करो ॥

वृद्धोवाच

मैवं वद सुदेव त्वं न गमिष्याम्यहं पुरम् ।
न देवो न च धर्मोऽपि श्रुतपूर्वः कदाचन ॥ ३६ ॥

तब वृद्धा बोली--सुदेव ! तू ऐसा मत कह । मैं हस्तिनापुरको नहीं जाऊँगी । मैंने पहले भी कभी देवता और धर्मकी बात नहीं सुनी है ॥ ३६ ॥

भर्त्रा नैव कृतो धर्मो मत्पित्रा तु कदाचन ।
कस्योपदेशात् त्वं पुत्र प्रवृत्तोऽसि धनक्षये ॥ ३७ ॥

मेरे पिता तथा पतिने भी कभी धर्म नहीं किया है। पुत्र ! किसके उपदेशसे तू धनका विनाश करनेपर उतारू हो गया है ? ॥ ३७॥

सर्वं प्रतारणं मन्ये यज्ञदानादिकाः क्रियाः ।
अर्थवादो मतो वेदो ब्राह्मणा लोकवञ्चकाः ॥ ३८ ॥

ये जो यज्ञ-दान आदि कर्म हैं, इन सबको मैं ठगविद्या समझती हूँ । मेरी समझसे तो वेद भी अर्थवादस्वरूप है और ब्राह्मण लोगोंको बहकाने या ठगनेवाले हैं ॥ ३८ ॥

प्राणव्ययेन यल्लब्धं धनं तत् को नु नाशयेत् ।
अस्माकं च कुले धर्मो न कस्यापि सुखप्रदः ॥ ३९ ॥

अपनी जानको जोखिममें डालकर जो धन प्राप्त किया गया है, उसे कौन नष्ट कर सकता है। हमारे कुलमें किसीको भी यह धर्म सुखदायी नहीं हुआ है ॥ ३९ ॥

वृद्धाहं साम्प्रतं जाता कथं धर्मं समाचरे ।
अकृतं न करिष्यामि ह्येतत् सत्यं वचो मम ॥ ४० ॥

अब तो मैं बूढ़ी हो गयी, अतः किस प्रकार धर्मका अनुष्ठान कर सकती हूँ । साथ ही जो काम मैंने आजतक नहीं किया, उसे मैं नहीं करूँगी—यह मैं सत्य कह रही हूँ ॥ ४० ॥

जैमिनिरुवाच

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्याः सुदेवो नृपतिं ययौ ।
प्रत्युवाच वचो रम्यं नृप हास्यकरं परम् ॥ ४१ ॥

जैमिनिजी कहते हैं--राजन् ! माताकी यह बात सुनकर सुदेव राजाके पास गया और उनके लिये हास्यजनक परम सुन्दर वचन कहने लगा ॥ ४१ ॥

सुदेव उवाच

नायाति जननी देव मया सह महाक्रतुम् ।
धर्मराजस्य तं द्रष्टुं न गृहं परिमुञ्चति ॥ ४२ ॥

सुदेव बोला--देव ! माताजी धर्मराज युधिष्ठिरके उस महान् यज्ञको देखनेके लिये मेरे साथ नहीं चल रही हैं; क्योंकि वे घरको नहीं छोड़ सकतीं ॥ ४२ ॥

राजा तस्य वचः श्रुत्वा समानीय जरद्गवाम् ।
प्रोवाच वचनं रम्यं हितं तस्या यथा भवेत् ॥ ४३ ॥

सुदेवकी बात सुनकर राजा उस बूढ़ी रानीको बुलवाकर उसे ऐसे मनोहर वचनोंसे समझाने लगे, जिनसे उसका कल्याण हो जाय ॥ ४३ ॥

राजोवाच

सर्वे लोकास्तत्र यान्ति यत्र तौ धर्ममाधवौ ।
मयैव सहिता याहि कुरु पुण्यं गजाह्वये ॥ ४४ ॥

राजाने कहा--देवि ! सभी लोग वहाँ जा रहे हैं, जहाँ धर्मराज युधिष्ठिर और माधव हैं । तुम भी मेरे साथ हस्तिनापुरको चलो और वहाँ पुण्यका अनुष्ठान करो ॥४४॥

तत्र तिष्ठति कृष्णोऽपि रुक्मिणी च वधूवृता ।
अन्याश्च पावना नार्यस्तत्र मान्याः समागताः ॥ ४५ ॥

वहाँ भगवान् श्रीकृष्ण और वधुओंसे घिरी हुई महारानी रुक्मिणी भी विद्यमान हैं तथा और भी बहुत-सी सम्माननीया सती-साध्वी नारियाँ वहाँ आयी हुई हैं ॥ ४५ ॥

सतां दर्शनमात्रेण विलयं यान्ति देहिनाम् ।
पातकानि समग्राणि नात्र कार्या विचारणा ॥ ४६ ॥

सत्पुरुषोंके दर्शनमात्रसे प्राणियोंके सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं । इसमें अन्यथा विचार करनेकी कोई बात नहीं है ॥ ४६ ॥

वृद्धोवाच

नागमिष्यामि राजेन्द्र द्रव्यं मम गमिष्यति ।
वधूगणश्च मे दुष्टो नाशयिष्यति मद्गृहम् ॥ ४७ ॥

वृद्धा बोली---राजेन्द्र ! मैं हस्तिनापुर नहीं चलूँगी; क्योंकि मेरे जानेसे मेरा धन लुट जायगा । मेरी बहुएँ दुष्ट

स्वभावकी हैं, वे मेरे घरका विनाश कर देंगी ॥ ४७ ॥

गोधूमाः परिपक्वा मे क्षेत्रे तिष्ठन्ति साम्प्रतम् ।
नवनीतं च गोपा वै संक्षयिष्यन्ति मामकम् ॥ ४८ ॥

इस समय मेरे खेतमें गेहूँ पके हुए खड़े हैं (वे चौपट हो जायँगे) । ग्वाले मेरे मक्खन आदिका सर्वनाश कर डालेंगे ॥ ४८ ॥

दासदासीगणो रौद्रो गमिष्यति यथागतम् ।
मदाधारं गृहमिदं स्थितं राजन् न संशयः ॥ ४९ ॥

मेरे नौकर तथा नौकरानियाँ भी विकट हैं, वे जैसे आये हैं, वैसे ही चल देंगे (घरका काम-काज पड़ा रह जायगा)। राजन् ! यह घर मेरे ही सहारे टिका हुआ है, इसमें संदेह नहीं है ॥ ४९ ॥

मम कृष्णेन किं कार्यं न मे धर्मेण साम्प्रतम् ।
यथा स्वकर्मणि व्यग्राः कृष्णधर्मादयः स्थिताः ॥ ५० ॥
तथा स्वगृहकार्येषु सावधानास्मि भूमिप ।

मुझे श्रीकृष्णसे क्या काम है और धर्मराजसे भी मेरा कोई प्रयोजन नहीं है । भूपाल ! जैसे श्रीकृष्ण और युधिष्ठिर आदि अपने-अपने काममें लगे हुए हैं, उसी तरह मैं भी अपने घरके कामोंमें सावधानीसे लगी हुई हूँ ॥ ५०½ ॥

भवान् राज्यं परित्यज्य वृथा गच्छति तत् पुरम् ॥५१॥
बालोऽसि द्रव्यहानिस्ते भविष्यति न संशयः ।

नरेश्वर ! आप नादान हैं, जो राज्यकार्यको छोड़कर व्यर्थ ही उस नगरको जा रहे हैं; क्योंकि वहाँ जानेसे आपके धनका नाश होगा, इसमें संशय नहीं है ॥ ५१½ ॥

गताः प्राणा वरं मन्ये न धनं भूपते क्वचित् ॥ ५२ ॥
सर्वलोकस्य संक्लेशो भविष्यति नराधिप ।

भूपते ! मैं प्राणोंका चला जाना उत्तम मानती हूँ, परंतु धनका विनाश मुझे किसी तरह सह्य नहीं है; क्योंकि धनकी हानि होनेसे सभी लोगोंको कष्ट भोगना पड़ेगा ॥ ५२½ ॥

जैमिनिरुवाच

एवं ब्रुवाणां नृपतिर्गृहीत्वा तां जरद्गवाम् ।
बद्ध्वा तत्र रुदन्तीं च दोलामारोप्य तां ययौ ॥ ५३ ॥

जैमिनिजी कहते हैं--जनमेजय ! बूढ़ी रानी इस प्रकार कह ही रही थी कि राजा यौवनाश्वने उसे पकड़कर बाँध लिया और उस रोती हुई वृद्धाको डोलीमें चढ़ाकर वे अपने साथ ले चले ॥ ५३ ॥

प्रहसन् विस्मयन्नेव तृष्णां गर्हन् पुनः पुनः ।
भीमाय कथयामास चरितं चित्तविभ्रमम् ॥ ५४ ॥
तस्या जरद्गवायास्तु ततो नागपुरं ययौ ।
आशा बलवती भीम काचिदाश्चर्यशृङ्खला ॥ ५५ ॥
यया बद्धाः प्रधावन्ति मुक्तास्तिष्ठन्ति पङ्गुवत् ।

उस समय राजा यौवनाश्व आश्चर्यचकित-से होकर हँसते हुए बारंबार तृष्णाकी निन्दा करने लगे । उन्होंने वृद्धाके चरित्र एवं चित्त-व्यामोहका वृत्तान्त भीमसेनसे कहा । तत्पश्चात् वे हस्तिनापुरको चले। (राजा बोले-) 'भीमसेन ! आशा बड़ी बलवती होती है, वह एक ऐसी आश्चर्यमयी साँकल है, जिससे बँधे हुए प्राणी वेगपूर्वक दौड़ते हैं, किंतु जो उससे मुक्त हैं, वे पंगुकी भाँति एक जगह पड़े रहते हैं ॥ ५४-५५½ ॥

जीर्यन्ति जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः ॥ ५६ ॥
चक्षुःश्रोत्रे च जीर्येते तृष्णैका न तु जीर्यते ।
तृष्णायाः परमं दुःखं तत्त्यागात् परमं सुखम् ॥ ५७ ॥

'वृद्ध हुए प्राणीके बाल पककर गिर जाते हैं, दाँत जीर्ण होकर टूट जाते हैं, चक्षु-इन्द्रिय तथा श्रोत्रेन्द्रियकी शक्ति जाती रहती है, परंतु एक तृष्णा ही ऐसी है, जो कभी बूढ़ी नहीं होती (प्रत्युत वह तरुण होती जाती है) । तृष्णा-से महान् दुःख होता है और उसका त्याग कर देनेसे परम आनन्द प्राप्त होता है' ॥ ५६-५७ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं स भीमं परितोषयन् ।
न्यवसत् पञ्चरात्रं च पश्चाद् वीरो विनिर्ययौ ॥ ५८ ॥
बलेन महता युक्तो धर्मराजपुरं प्रति ।

इतनी बात कहकर भीमसेनको संतुष्ट करते हुए राजा यौवनाश्वने पाँच राततक मार्गमें निवास किया। तत्पश्चात् वे वीर नरेश बहुत बड़ी सेनाके साथ युधिष्ठिरके नगरके लिये प्रस्थित हुए ॥ ५८½ ॥

योजनानां स्थितो भूमिर्यत्र विंशतिरेव सः ॥ ५९ ॥
पप्रच्छ भीमो राजानमहं यास्येऽग्रतो नृपम् ।
त्वां निवेदयितुं देवं सम्प्राप्तं बलसंयुतम् ॥ ६० ॥

रास्तेमें जहाँसे हस्तिनापुरकी दूरी बीस योजन (असी कोस) शेष रह गयी, वहाँ खड़े हो भीमसेनने राजासे पूछा-

'महाराज! क्या मैं सेनासहित पधारे हुए आपका समाचार निवेदन करनेके लिये राजा युधिष्ठिरके पास पहले ही जाऊँ?॥५९-६०

कर्णजस्तव शुश्रूषां करिष्यति गते मयि।
एवं निरूप्य तरसा स जगाम युधिष्ठिरम्॥ ६१॥

'मेरे चले जानेपर यह वृषकेतु आपकी सेवा करेगा।' ऐसा कहकर भीमसेन (उनकी अनुमति ले) बड़े वेगसे युधिष्ठिरके पास गये॥ ६१॥

ततो ददर्श राजानं भ्रातृभिः परिवारितम्।
नमस्कृत्य महाबुद्धिर्धर्मराजं वृकोदरः।
समालिंग्य जनान् सर्वानिदं वचनमब्रवीत्॥ ६२॥

वहाँ पहुँचकर महाबुद्धिमान् भीमसेनने भाइयोंके साथ बैठे हुए धर्मराज युधिष्ठिरका दर्शन किया और उनको प्रणाम करनेके पश्चात् उपस्थित सभी लोगोंका आलिङ्गन करके वे इस प्रकार बोले॥ ६२॥

भीम उवाच

तव प्रसादान्नृपते वयं कुशलिनः सदा।
समायातः स तुरगो यौवनाश्वेन संयुतः॥ ६३॥

भीमसेनने कहा—नृपते! आपकी कृपासे हमलोग सदा सकुशल रहे और राजा यौवनाश्वसहित वह यज्ञिय अश्व भी आ रहा है॥ ६३॥

कर्णपुत्रेण संग्रामे राजा स परितोषितः।
बलेन महता राजा सदारः ससुहृद्वृतः॥ ६४॥

वृषकेतुने संग्रामभूमिमें राजाको संतुष्ट कर दिया था, जिससे वे नरेश अपनी स्त्री, सुहृद् और बहुत बड़ी सेनाके साथ आ रहे हैं॥ ६४॥

प्रभावती तस्य भार्या द्रौपदीं द्रष्टुमागता।
महत्या सा श्रिया युक्ता स्त्रीसहस्रैर्विलासिनी॥ ६५॥
विष्णुभक्तिर्यथा राजञ्छान्तिक्षान्तियुता नृप॥ ६६॥

नरेश्वर! राजा यौवनाश्वकी पत्नी महारानी प्रभावती भी द्रौपदीको देखनेके लिये आ रही हैं। वे बहुत बड़े ऐश्वर्यसे सम्पन्न तथा सहस्रों स्त्रियोंसे सुशोभित हैं। ठीक उसी तरह, जैसे भगवान् विष्णुकी भक्ति शान्ति और क्षमा आदिसे युक्त होती है॥ ६५-६६॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि भीमागमो नाम षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें भीमसेनका आगमननामक छठा अध्याय पूरा हुआ॥ ६॥

सप्तमोऽध्यायः

युधिष्ठिरकी आज्ञासे भीमसेनका द्रौपदीके पास जाना और उसके साथ भीमसेनकी बातचीत, युधिष्ठिरद्वारा राजा यौवनाश्वका स्वागत और उनसे वार्तालाप, सुदेवद्वारा वृषकेतुकी प्रसंशा, श्रीकृष्णका युधिष्ठिरकी आज्ञासे द्वारकापुरीको लौटना, युधिष्ठिरके पूछनेपर व्यासजीका उनसे राजा मरुत्तके यज्ञका वृत्तान्त सुनाना

जैमिनिरुवाच

समागतं नृपं श्रुत्वा धर्मो वचनमब्रवीत्।
भीमसेनं प्रति तदा हर्षेण महता युतः॥ १॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! राजा यौवनाश्वके आगमनका समाचार सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर बड़े हर्षके साथ भीमसेनसे बोले॥ १॥

युधिष्ठिर उवाच

गच्छ त्वं द्रौपदीपार्श्वे कथयैतद् वृकोदर।
यथा करोति वै भूषां प्रभावत्याश्च दर्शने॥ २॥

युधिष्ठिरने कहा—वृकोदर! तुम द्रौपदीके पास जाओ और उससे यह समाचार कह दो, जिससे वह प्रभावती-से मिलनेके लिये आभूषण आदि धारण करके तैयार हो जाय॥ २॥

जैमिनिरुवाच

जगाम भीमसेनोऽथ यत्र सा पार्षतात्मजा।
विलोक्य भीमं सम्प्राप्तं पार्षती हर्षपूरिता॥ ३॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! तब भीमसेन उस स्थानपर गये, जहाँ द्रुपदकुमारी द्रौपदी विद्यमान थी। भीम-सेनको आया हुआ देखकर द्रौपदी हर्षसे भर गयी॥ ३॥

तस्थौ भीमं शशिमुखी स्वागतं चेति वादिनी।
ददर्श गात्रं सम्भिन्नं नानाशस्त्रैश्च मुष्टिभिः ॥ ४ ॥

उस समय 'आइये, आपका स्वागत है' ऐसा कहकर चन्द्रमुखी द्रौपदी भीमके सम्मुख खड़ी हो गयी और नाना प्रकारके शस्त्रों तथा मुक्कोंसे क्षत-विक्षत हुए उनके शरीरको देखने लगी ॥ ४ ॥

ददौ निजासनं देवी पप्रच्छ कुशलं पुनः।
वृषकेतुं मेघवर्णं तदा कुशलिनं सती ॥ ५ ॥

फिर सती-साध्वी देवी द्रौपदीने भीमसेनको बैठनेके लिये अपना आसन समर्पित किया और उनका कुशल-समाचार पूछा। साथ ही उसने वृषकेतु और मेघवर्णकी कुशलताके विषयमें भी जिज्ञासा की ॥ ५ ॥

भीम उवाच

राजा समागतो देवि सभार्यः ससुतः स्वयम्।
यौवनाश्वो मुदा युक्तः समृद्धबलवाहनः ॥ ६ ॥

तब भीमसेनने कहा—देवि! अपनी स्त्री तथा पुत्रके साथ स्वयं राजा यौवनाश्व हर्षपूर्वक यहाँ पधार रहे हैं, उनके साथ बहुत बड़ी सेना तथा वाहन आदि भी हैं ॥ ६ ॥

तस्य भार्या विशालाक्षी स्त्रीसहस्रैः समन्विता।
वीक्षितुं त्वां च मानार्हामिह चायाति सुन्दरी ॥ ७ ॥

उनकी पत्नी परम सुन्दरी तथा विशाल नेत्रोंवाली है। वह सहस्रों नारियोंके साथ तुझ माननीया महारानीका दर्शन करनेके लिये यहाँ आ रही है ॥ ७ ॥

तस्माद् भूषां कुरु शुभे स्वनारीगणसंयुता।
सहितास्तत्र वै यान्तु सर्वे देवि नृपं प्रति ॥ ८ ॥

इसलिये शुभे! देवि! तुम अपनी सखियोंके साथ श्रृङ्गार करके तैयार हो जाओ, जिससे सब लोग एक साथ होकर राजाका स्वागत करनेके लिये वहाँ चलें ॥ ८ ॥

कृष्णो देवि कुतो यातस्तं विना तव मण्डनम्।
न पश्यामि तथा रूपं सम्भवेन्मम विस्मयः ॥ ९ ॥

देवि! भगवान् श्रीकृष्ण कहाँ चले गये? उनके बिना तुम्हारा वैसा श्रृंगार होता नहीं दिखायी देता, जो मुझे भी विस्मयमें डालनेवाला हो ॥ ९ ॥

यदि द्वारवतीं कृष्णः परित्यज्य नृपं गतः।
भवित्री तव का शोभा प्रभावत्या सहाधुना।
वित्तेन महता चासौ पूरिता नृपतेः प्रिया ॥ १० ॥

यदि श्रीकृष्ण महाराज युधिष्ठिरको छोड़कर द्वारका चले गये होंगे तो इस समय प्रभावतीके सामने तुम्हारी क्या शोभा होगी; क्योंकि राजा यौवनाश्वकी वह प्रियतमा भार्या बहुत अधिक धनसे सम्पन्न है ॥ १० ॥

द्रौपद्युवाच

अन्तर्गृहे निवसति गोविन्दः किल पाण्डव।
सर्वं सुमण्डनं मह्यं निगच्छामो वृकोदर ॥ ११ ॥

द्रौपदी बोली—पाण्डुनन्दन वृकोदर! भगवान् गोविन्द महलके भीतर विराजमान हैं। मेरा सारा श्रृंगार सुन्दर ही होगा, अच्छा अब हमलोग जा रही हैं ॥११॥

जैमिनिरुवाच

ततः कृष्णः समागत्य सह धर्मात्मजेन वै।
यौवनाश्वं भावयितुं सपुत्रं प्रययौ मुदा ॥ १२ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर श्रीकृष्ण वहाँ आये और धर्मपुत्र युधिष्ठिरके साथ पुत्रसहित राजा यौवनाश्वका स्वागत-सत्कार करनेके लिये हर्षपूर्वक प्रस्थित हुए ॥ १२ ॥

चम्पका यत्र बहुलाः पुष्पितास्तत्र संस्थिताः।
यौवनाश्वोऽपि तुरगं पुरस्कृत्य तु कर्णजम् ॥ १३ ॥
सम्मुखं स्थित एवासौ वीक्षमाणो नृपागमम्।
नानावाद्यनिनादेन कम्पयन् वसुधातलम् ॥ १४ ॥

राजा यौवनाश्व भी श्यामकर्ण अश्व तथा वृषकेतुको आगे करके जहाँ खिले हुए बहुत-से चम्पाके वृक्ष खड़े थे, वहाँ आकर नाना प्रकारके बाजोंके शब्दसे भूतलको कम्पित करते हुए महाराज युधिष्ठिरके आगमनकी प्रतीक्षामें सम्मुख ही खड़े थे ॥ १३ १४ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु धर्मपुत्रः समागतः।
ददर्श नृपतिं पार्श्वे सर्वसैन्यसमन्वितम् ॥ १५ ॥

इसी बीचमें धर्मपुत्र युधिष्ठिर वहाँ आ पहुँचे और पास पहुँचकर उन्होंने सम्पूर्ण सेनासहित राजा यौवनाश्वको देखा ॥ १५ ॥

उत्तीर्य वाहनात् तस्मादालिङ्ग्य वसुधाधिपम्।
नमस्कृतः स तेनापि यौवनाश्वेन धीमता ॥ १६ ॥

फिर तो अपने वाहनसे उतरकर उन्होंने राजा यौवनाश्वका आलिङ्गन किया और उन बुद्धिमान् राजा यौवनाश्वने भी युधिष्ठिरको प्रणाम किया ॥ १६ ॥

तमुवाच स धर्मात्मा यथा भीमादयो मम।
तथा त्वमसि राजेन्द्र नात्र कार्या विचारणा ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरने यौवनाश्वसे कहा—'राजेन्द्र ! मेरे लिये जैसे भीमसेन आदि हैं, उसी तरह आप भी हैं; इस विषयमें आपको कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ १७ ॥

पश्य कृष्णं महाबुद्धे सहायं मम भूपते।
प्रभावती द्रौपदीं च कुन्तीं पश्यतु सत्वरा ॥ १८ ॥

'महाबुद्धिमान् भूपाल ! ये मेरे सहायक भगवान् श्रीकृष्ण हैं, आप इनका दर्शन करें और रानी प्रभावती भी शीघ्र ही माता कुन्ती तथा द्रौपदीसे मिलें' ॥ १८ ॥

जैमिनिरुवाच

यौवनाश्वोऽच्युतं कृष्णमनन्तं प्रणतोऽब्रवीत्।
प्रहृष्टवदनो भूत्वा धर्मपुत्रस्य शृण्वतः ॥ १९ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर यौवनाश्वका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा और वे धर्मपुत्र युधिष्ठिरके सुनते-सुनते अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले अनन्त भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम करके बोले ॥ १९ ॥

यौवनाश्व उवाच

धन्योऽस्मि देव तुरगो धन्योऽयं यस्य कारणे।
भीमादयस्त्रयो वीराः सम्प्राप्ता मत्पुरं प्रति ॥ २० ॥

यौवनाश्वने कहा—देव ! मैं धन्य हूँ तथा जिसके कारण भीमसेन आदि तीनों वीर मेरे नगरमें पहुँचे, वह यह घोड़ा भी धन्य है ॥ २० ॥

वृषकेतुरयं धन्यो ममात्मा येन रक्षितः।
कृपाविष्टेन मनसा युद्धभूमिगतेन च ॥ २१ ॥

तथा इन वृषकेतुको भी धन्यवाद है, जिनके मनमें करुणाभरी हुई है तथा जिन्होंने युद्धस्थलमें मेरे प्राणोंकी रक्षा की है ॥ २१ ॥

क्व पार्थस्ते सखा कृष्ण वैष्णवानां सदाग्रणीः।
येन त्वं दर्शितो लोके सर्वपापप्रणाशनः ॥ २२ ॥
जितवान् वै कुरुक्षेत्रे यस्त्वया सहितो रणे।

श्रीकृष्ण ! जो वैष्णवोंमें सदा अग्रगण्य हैं, जिन्होंने समस्त पापोंका समूल नाश करनेवाले आपके स्वरूपको संसारमें प्रकट करके दिखा दिया है तथा आपकी सहायतासे कुरुक्षेत्रके मैदानमें होनेवाले महाभारत युद्धमें जिन्होंने सभी वीरोंपर विजय पायी है, वे आपके सखा अर्जुन कहाँ हैं ? ॥ २२½ ॥

जैमिनिरुवाच

प्रभावती च तां कुन्तीं पार्षतीं चैव सात्वतीम् ॥ २३ ॥
समालिङ्ग्य नमस्कृत्य तस्थौ हर्षपरायणा।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! रानी प्रभावतीने भी कुन्ती, द्रौपदी तथा सुभद्राको नमस्कार करके उनका आलिङ्गन किया और फिर हर्षमग्न होकर उनके पास खड़ी हो गयी ॥ २३½ ॥

तथा ब्रुवन्तं नृपतिं नमस्कृत्यार्जुनोऽब्रवीत् ॥ २४ ॥

उधर अर्जुन पूर्वोक्त रूपसे जिज्ञासा करनेवाले राजा यौवनाश्वको प्रणाम करके बोले ॥ २४ ॥

अर्जुन उवाच

यथा युधिष्ठिरोऽस्माकं तथा त्वं हि नराधिप।
वृद्धो मान्यश्च सततं दृष्टो दैवात् समागतः ॥ २५ ॥

अर्जुनने कहा—नरेश ! हमारे लिये जैसे महाराज युधिष्ठिर हैं, वैसे ही-आप भी वृद्ध एवं माननीय हैं। बड़े भाग्यसे आप यहाँ पधारे और हमें आपका दर्शन हुआ ॥

सुवेगोऽपि हि तान् सर्वान् नमस्कृत्य जनार्दनम्।
प्रोवाच वचनं तत्र धर्मराजं महामतिम् ॥ २६ ॥

फिर सुवेग* भी वहाँ उपस्थित सभी गुरुजनोंको तथा भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम करके महाप्राज्ञ धर्मराज युधिष्ठिरसे कहने लगा—॥ २६ ॥

किं वर्णयामि राजेन्द्र वृषकेतोर्महात्मनः।
महिमानमतीवास्य यत्कृष्णो दर्शितोऽमुना ॥ २७ ॥

'राजेन्द्र ! इन महामनस्वी वृषकेतुकी महिमा तो बहुत बड़ी है; मैं उसका क्या वर्णन करूँ ? क्योंकि इन्होंने मुझे भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन कराया ॥ २७ ॥

---

* सुवेगके दो नाम थे—सुदेव और सुवेग, दोनों नामोंका प्रयोग जहाँ-तहाँ देखनेमें आता है।

विना कृष्णं हि यद् राज्यं शरीरं च तथा धनम् ।
धार्यते मानवैर्भूप तत् सर्वं प्रेतभूसमम् ॥२८॥

'भूपाल ! मनुष्योंके पास जो कुछ भी राज्य, धन अथवा शरीर आदि हैं, वे सभी श्रीकृष्णके बिना श्मशानभूमिके सदृश हैं' ॥ २८ ॥

अतः परं हृषीकेश न मोक्ष्ये ते पदाम्बुजम् ।
विसर्जयाशु तुरगं यज्ञार्थं वै नृपस्य हि ॥ २९ ॥

(इतना कहकर सुदेव पुनः श्रीकृष्णसे बोला--) 'हृषीकेश ! अब भविष्यमें मैं आपके चरणकमलोंका आश्रय नहीं छोड़ूँगा । भगवन् ! अब शीघ्र ही महाराज युधिष्ठिरके यज्ञके लिये घोड़ा छोड़िये' ॥ २९ ॥

जैमिनिरुवाच

ततो हरिस्तुष्टमनास्तद्वाक्येन च भारत ।
सहैव संस्थितं वीरमालिङ्ग्य रविपौत्रकम् ॥ ३० ॥
प्रविवेश पुरीं कृष्णो धर्मपुत्रेण संयुतः ।
उषित्वा मासमेकं तु प्रत्युवाच युधिष्ठिरम् ॥ ३१ ॥

जैमिनिजी कहते हैं--भारत ! तदनन्तर सुदेवकी वह बात सुनकर भगवान् श्रीकृष्णका हृदय प्रसन्न हो गया । साथ ही वहाँ खड़े हुए सूर्यपौत्र वृषकेतुको छातीसे लगाकर वे धर्मनन्दन युधिष्ठिरके साथ हस्तिनापुरको लौट गये और वहाँ एक मासतक निवास करनेके पश्चात् युधिष्ठिरसे बोले ॥

श्रीकृष्ण उवाच

चैत्री गता महाराज पौर्णमासीह पृष्ठतः ।
यज्ञस्यावसरो दूरे मासि चैकादशे नृप ॥ ३२ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—महाराज ! अब तो चैत्रमासकी पूर्णिमा तिथि व्यतीत हो चुकी, अतः यज्ञका समय बहुत दूर चला गया । अब वह अवसर पुनः ग्यारहवें मासमें आयेगा ॥ ३२ ॥

तस्माद् गच्छामि नगरीं द्वारकां यादवाश्रयाम् ।
नान्योऽस्ति रक्षकस्तस्यां मां विना पाण्डुनन्दन ॥३३॥

इसलिये पाण्डुनन्दन ! अब मैं यादवोंकी निवासभूता द्वारकापुरीको जा रहा हूँ; क्योंकि मेरे अतिरिक्त वहाँ दूसरा कोई रक्षक नहीं है ॥ ३३ ॥

अतोऽहं त्वरितो यामि पृच्छे त्वां गन्तुमुत्सुकः ।
गते मयि भविष्यन्ति यादवा हर्षनिर्भराः ॥३४॥

इसीलिये मैं तुरंत जाऊँगा । जानेके लिये उत्सुक होकर ही मैं आपसे पूछता हूँ; क्योंकि मेरे वहाँ जानेपर सभी यदुवंशी हर्षसे परिपूर्ण हो जायँगे ॥ ३४ ॥

तावत् त्वं यौवनाश्वेन सह पालय वाजिनम् ।
तव यज्ञे वयं सर्वे ह्यश्वमेधे निमन्त्रिताः ।
आगमिष्यामहे नूनं तथा कार्यं विधीयताम् ॥ ३५ ॥

तबतक आप राजा यौवनाश्वके साथ रहकर इस अश्वकी रक्षा कीजिये । आपके अश्वमेध यज्ञमें निमन्त्रित होकर हम सब लोग अवश्य आयेंगे । अतः आप उसी तरह कार्य करें ॥ ३५ ॥

जैमिनिरुवाच

तच्छ्रुत्वा वासुदेवस्य वचनं धर्मनन्दनः ।
अनुज्ञां दत्तवांस्तस्मै ज्ञात्वा कृष्णस्य मानसम् ॥३६॥

जैमिनिजी कहते हैं--जनमेजय ! भगवान् श्रीकृष्णकी यह बात सुनकर उनका मनोभाव जान लेनेपर धर्मनन्दन युधिष्ठिरने उन्हें जानेकी आज्ञा दे दी ॥ ३६ ॥

केशवे तु गते राजा व्यासेन हि समन्वितः ।
तुरगं पालयामास यौवनाश्वेन चानुजैः ॥ ३७ ॥

उन केशवके चले जानेपर राजा युधिष्ठिर महर्षि व्यास, राजा यौवनाश्व तथा अपने भाइयोंके सहयोगसे उस अश्वकी रक्षा करने लगे ॥ ३७ ॥

सभां च कारयामास मण्डपं समकारयत् ।
द्वैपायनं ततोऽपृच्छन्मरुत्तस्य विचेष्टितम् ॥ ३८ ॥

फिर उन्होंने सभाभवन तथा यज्ञमण्डपका निर्माण कराया । तदनन्तर व्यासजीसे राजा मरुत्तका वृत्तान्त पूछा ॥

व्यासश्च कथयामास मरुत्तस्य महाध्वरम् ।
मरुत्तेन वृतः पूर्वं यज्ञार्थं जीव एव हि ॥ ३९ ॥
इन्द्रस्तं वारयामास न याज्यो जीव मानवः ।

तब महर्षि व्यासने राजा मरुत्तके महान् यज्ञका वृत्तान्त सुनाते हुए कहा—'राजन् ! राजा मरुत्तने यज्ञ-कार्य सम्पन्न करानेके लिये पहले बृहस्पतिजीको वरण किया था; परंतु इन्द्रने यह कहकर कि 'बृहस्पते ! (आप देवताओंके पुरोहित हैं, अतः) मनुष्योंका यज्ञ मत कराइये ।' उन्हें मना कर दिया ॥ ३९½ ॥

ततो नृपोऽपि संवर्त्तं नारदाच्छ्रुणोन्मुनिम् ॥ ४० ॥

प्रार्थयित्वा क्रतुं चक्रे संवर्त्ताच्छक्रपावकौ।
स्तम्भयित्वा वरं प्राप्य क्रतुं कृत्वा च शोभनम्।
यथागतं गतो राजा पूतः स्नात्वा दिवं ययौ ॥४१॥

तदनन्तर राजा मरुत्तने नारदजीके मुखसे महर्षि संवर्तके विषयमें सुना (कि वे यज्ञ करा सकते हैं), तब राजाने संवर्तमुनिके पास जाकर उनसे प्रार्थना की और उन्हें लाकर अपना यज्ञ पूर्ण किया। उस यज्ञमें महर्षि संवर्तकी कृपासे राजाने इन्द्र और अग्निको स्तम्भित करके उनसे वर प्राप्त किया और उस सुन्दर यज्ञको समाप्त करके अपनी मनोगत अभिलाषा पूर्ण की। तत्पश्चात् अवभृथ-स्नानसे पवित्र होकर वे स्वर्गलोकको चले गये ॥ ४०-४१ ॥

जैमिनिरुवाच

युधिष्ठिरोऽपि पप्रच्छ व्यासं धर्मान् पुनः पुनः।
यथामति श्रुतान् सर्वान् कथयामास पावनान् ॥४२॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार राजा युधिष्ठिर व्यासजीसे धर्मके विषयमें बारंबार पूछते रहते थे और व्यासजी भी उन सभी पवित्र धर्मोंके विषयमें जैसा उन्होंने सुना था, अपनी बुद्धिके अनुसार उत्तर देते थे ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि मरुत्तयज्ञकथनं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें मरुत्तके यज्ञका वर्णनविषयक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका व्यासजीसे धर्मविषयक प्रश्न करना और व्यासजीद्वारा वर्णधर्म, विधवाओंके कर्तव्य और कुलटा स्त्रियोंके स्वरूप एवं लक्षणका निरूपण

जैमिनिरुवाच

श्रुत्वा व्यासमुखाद् धर्मान् धर्मराजो युधिष्ठिरः।
पप्रच्छ चापरान् धर्मान् सर्वलोकहितावहान् ॥ १ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! व्यासजीके मुखसे धर्मविषयक चर्चा सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने उनसे दूसरे धर्मोंके विषयमें भी प्रश्न किया, जो सम्पूर्ण लोकोंके लिये हितकारी थे—॥ १ ॥

भगवन् किं नरैः कार्यं संसारभयभीरुभिः।
कथमत्र भवेत् कीर्तिः परत्र च कथं सुखम् ॥ २ ॥
वासुदेवः कथं तुष्येत् तत् तद् ब्रूहि यथातथम्।

'भगवन्! संसारके भयसे भीत मनुष्योंको उससे मुक्त होनेके लिये कौन-सा प्रयत्न करना चाहिये? कैसा कर्म करनेसे इहलोकमें उत्तम कीर्ति और परलोकमें परम सुखकी प्राप्ति हो सकती है? तथा वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण किस प्रकार प्रसन्न हो सकते हैं? यह सब यथार्थरूपसे वर्णन कीजिये' ॥ २½ ॥

व्यास उवाच

ब्राह्मणो धर्मशास्त्राणि सम्यग् ज्ञात्वा न कुत्सितम् ॥३॥
प्रकरोति शुभं कर्म चेह कीर्तिं सुखं परे।
परापवादाद् भीतश्च परद्रव्यं परस्त्रियम् ॥ ४ ॥
न कामयेन्न गृह्णाति न शृणोति हि तद्वचः।

व्यासजीने कहा—राजन्! ब्राह्मण यदि धर्मशास्त्रोंके सम्यक् ज्ञानका उपार्जन करके निन्दित कर्म न करे, सदा शुभ कर्मोंका ही अनुष्ठान करे, परायी निन्दासे डरे, दूसरेके धन तथा स्त्रीकी न तो कामना करे और न उन्हें ग्रहण ही करे तथा इन विषयोंसे सम्बन्ध रखनेवाले वचनोंको भी न सुने तो उसे इस लोकमें उत्तम कीर्ति तथा परलोकमें परमानन्दकी प्राप्ति होती है ॥ ३-४½ ॥

क्षत्रियः सर्वधर्मज्ञो दाता युद्धपरायणः ॥ ५ ॥
आत्मवित् संगरे प्राणान् सम्मुखस्त्यजते यदि।
सम्प्राप्नोत्यमलां कीर्तिमिह लोके परत्र च ॥ ६ ॥

क्षत्रिय यदि सम्पूर्ण धर्मोंका ज्ञाता, दानी, आत्मज्ञानसम्पन्न और युद्धमें तत्पर रहनेवाला हो तथा संग्रामभूमिमें शत्रुके सम्मुख जूझते हुए प्राणोंका परित्याग करे तो वह इहलोक एवं परलोकमें निर्मल कीर्तिका भागी होता है ॥ ५-६ ॥

वैश्यो धनसमृद्धस्तु सत्यवादी प्रियातिथिः।
शुश्रूषणं गवां कुर्यात् तत्परः प्राणिनां हितम् ॥ ७ ॥
प्राप्नोति विमलां कीर्तिं गतिं कृष्णनिषेवणात्।

वैश्य धनसम्पन्न होनेपर यदि सत्य बोलनेवाला और

अतिथियोंका प्रेमी हो, गौओंकी सेवा तथा तत्परतापूर्वक समस्त प्राणियोंका हितसाधन करे और भगवान् श्रीकृष्णकी आराधना करता रहे तो वह इस लोकमें उत्तम कीर्ति और परलोकमें परमगतिको प्राप्त कर लेता है ॥ ७½ ॥

शूद्रस्तु सेवते विप्राञ्छ्रद्धया नावमन्यते ॥ ८ ॥
यशः परमवाप्नोति ध्यात्वा नारायणं विभुम् ।

शूद्र यदि श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणोंकी सेवा करता है, कभी उनका अपमान नहीं करता और सर्वव्यापी भगवान् नारायणके ध्यानमें लीन रहता है तो वह उत्तम यश पाता है ॥ ८½ ॥

विधवा या भवेन्नारी कामासक्ता सुभोगिनी ॥ ९ ॥
गुरुवादकरी दुष्टा हृष्टा परनरं प्रति ।
धनयुक्ता रागपरा सर्पिणीव सपक्षिणी ॥ १० ॥
आत्मानं पातयेदाशु पत्या सह महीपते ।

पृथ्वीनाथ ! जो नारी विधवा होनेपर काममें आसक्त, भलीभाँति भोगोंको भोगनेवाली, गुरुजनोंके साथ विवाद करनेमें तत्पर, दुष्टा, परपुरुष-सम्पर्कसे प्रसन्न रहनेवाली, धनसे सम्पन्न होकर विषयोंमें आसक्त होनेवाली और नागिन-की-सी वेणी धारण करनेवाली होती है, वह शीघ्र ही पतिसहित अपने-आपको घोर नरकमें गिराती है ॥ ९-१०½ ॥

तां यः कामयते मन्दो दुष्टात्मा स नराधमः ॥ ११ ॥
सोऽपि वै नारकीं योनिं प्राप्नोतीह न संशयः ।
सा रण्डा दुर्गतिं याति शरीरस्य च विक्रयात् ॥ १२ ॥

राजन् ! जो मूर्ख उस विधवाकी कामना करता है, वह दुष्टात्मा और मनुष्योंमें अधम है । वह भी नारकी योनिको प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं है । साथ ही वह राँड़ भी अपने शरीरका विक्रय करनेके कारण दुर्गति भोगती है ॥

शुद्धस्नानं च ताम्बूलं चन्दनं चासनानि च ।
इच्छाभोज्यं तथा पेयं पत्युरिच्छाविहारिणी ॥ १३ ॥
नित्यं धर्मपरा या तु गृहकार्यकरी तथा ।
श्वश्रूश्वशुरयोश्चैव पादवन्दनतत्परा ॥ १४ ॥
ज्येष्ठदेवरयोश्चापि ह्यनुवृत्तिपरायणा ।
प्राप्नोति सद्गतिं कीर्तिमिह लोके परत्र च ॥ १५ ॥

इसके विपरीत, जो स्त्री शुद्ध स्नान, ताम्बूल, चन्दन, आसन, इच्छानुकूल भोजन एवं पीनेके योग्य पदार्थ पतिको अर्पित करके उसके इच्छानुसार विहार करती है, नित्य धर्म-परायण रहकर गृहकार्यमें संलग्न रहती है, सास-ससुरके चरणोंकी वन्दनामें तत्पर रहा करती है, ज्येष्ठ तथा देवरके भी अनुकूल चलती है, उसे इस लोकमें उत्तम कीर्ति तथा परलोकमें भी सद्गतिकी प्राप्ति होती है ॥ १३–१५ ॥

प्राक्कर्मयोगजं चिह्नं बिभ्रती लक्षणं त्विदम् ।
कृष्णवर्णां तालुजिह्वां स्वाङ्गुल्या स्पृशते भुवम् ॥ १६ ॥
एतैश्च लक्षणैर्युक्ता भर्तृसम्बन्धघातिनी ।
स्वकर्मवशतस्ते तु तस्या वै संगतिं गताः ॥ १७ ॥
तया स्थेयं पितुर्गेहे न परेषां गृहं व्रजेत् ।

पूर्वजन्मके कर्मोंके योगसे उत्पन्न होनेवाले चिह्नको शरीरमें धारण करनेवाली नारीका लक्षण इस प्रकार है—जिसके तालु तथा जिह्वा काले रंगकी होती है और चलते समय जो पहले अपनी अँगुलियोंसे ही पृथ्वीका स्पर्श करती है—ऐसे लक्षणोंसे युक्त नारी अपने पतिके सम्बन्धका विनाश करने-वाली (विधवा) होती है । वे अशुभ लक्षण उसके शरीरमें अपने पूर्वकर्मवश ही प्रकट होते हैं । ऐसी कुलक्षणा स्त्रीको चाहिये कि वह आजीवन पिताके घरमें ही निवास करे, विवाहित होकर दूसरेके घरमें न जाय ॥ १६-१७½ ॥

जटिला पङ्कबहुला भोजने लुब्धमानसा ॥ १८ ॥
अनाचारवती या तु सा सुखं नैव विन्दति ।

(कंघी न करनेके कारण) जिस स्त्रीके बाल जटाका रूप धारण कर लेते हैं, (स्नान न करनेके कारण) जिसके शरीरपर बहुत-सी मैल जम जाती है, जिसका मन सदा भोजन-में ही लुभाया रहता है, जो आचार-भ्रष्टा होती है, वह कभी सुखकी भागिनी नहीं होती ॥ १८½ ॥

बालत्वे रक्षति पिता यौवनत्वे निजः पतिः ॥ १९ ॥
वार्धके रक्षते पुत्रो न स्वतन्त्रा हि योषितः ।
स्वतन्त्रता योषितां हि न शुभायोपकल्पते ॥ २० ॥

बाल्यावस्थामें पिता, युवावस्थामें अपना पति और बुढ़ापेमें पुत्र स्त्रियोंकी रक्षा करता है । स्त्रियाँ कभी स्वतन्त्र नहीं रहती हैं; क्योंकि नारियोंकी स्वतन्त्रता कभी कल्याणकारिणी नहीं होती ॥ १९-२० ॥

कृच्छ्रातिकृच्छ्रपाराकैः परं शोषयते तनुम् ।
विधवा सा सुखं जीवेत् परलोके च मोदते ॥ २१ ॥

जो विधवा नारी कृच्छ्र[1], अतिकृच्छ्र[2] तथा पराकनामक[3] व्रतोंका पालन करके अपने शरीरको सुखा डालती है, वह इस लोकमें सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करती है और परलोकमें वह आनन्दका उपभोग करती है ॥ २१ ॥

न व्रजेत् तीर्थयात्रां हि न कदाचिच्छुभव्रतम् ।
करोति विधवा नारी सा गच्छेन्नरकं ध्रुवम् ॥ २२ ॥

वह न तो तीर्थयात्राको जाय और न (सधवा स्त्रीके द्वारा करनेयोग्य) किसी माङ्गलिक व्रतका ही पालन करे। यदि (इस निषेधको न मानकर वह) ऐसा करती है तो निश्चय ही नरकमें गिरती है ॥ २२ ॥

कर्तव्यं तु तया राजञ्छरीरपरिशोषणम् ।
उपवासादिभिर्नित्यं शमः कार्यो न संशयः ॥ २३ ॥

राजन् ! विधवाको तो उपवास आदि कठोर नियमोंका पालन करके सर्वथा अपने शरीरको सुखाना ही चाहिये। उसे सदा शम (मनको वशमें करने) का ही अनुष्ठान करना चाहिये, इसमें संशय नहीं है ॥ २३ ॥

शीलभङ्गे तु नारीणां दोषास्तु बहवो नृप ।
स्त्रीणां नैव तु विश्वासः कर्तव्यस्तु कदाचन ॥ २४ ॥
अन्याश्रितान्यचित्तानां विश्वासो न सुखप्रदः ।

नरेश्वर ! नारियोंका शील भंग होनेपर उनमें बहुत-से दोष घटित हो जाते हैं। साधारणतया स्त्रियोंका कभी विश्वास नहीं करना चाहिये; क्योंकि जो नारियाँ परपुरुषोंका आश्रय लेती तथा उनमें मन लगाती—आसक्त होती हैं, उनपर किया हुआ विश्वास सुखदायक नहीं होता है ॥ २४½ ॥

बहुधा हसते या तु बालं च परिचुम्बति ॥ २५ ॥
दृष्ट्वा पुमांसं त्वरिता प्रस्खलन्त्यनुधावति ।
गायन्ती सुस्वरं दृष्ट्वा कर्णं कण्डूयते कटिम् ॥ २६ ॥
अचैलं मस्तकं स्वं तु हासं च कुरुते वृथा ।
ईदृशी या भवेन्नारी विज्ञेया बन्धकी नरैः ॥ २७ ॥

जो (दूसरे पुरुषको दिखाकर) बारंबार हँसती एवं बालकका चुम्बन करती है तथा पर-पुरुषको देखकर स्खलित होती हुई उसके पीछे दौड़ पड़ती है, हर्षमें भरकर उच्च एवं मधुर स्वरसे गाती हुई अपने कान तथा कटिप्रदेशको खुजलाने लगती है, मस्तकपरसे वस्त्र हटाकर उसे नंगा कर देती है और अकारण ही हँसती रहती है—ऐसी स्त्रीको 'कुलटा' जानना चाहिये ॥ २५–२७ ॥

वृथा परगृहं याति वृथा पश्यति तं जनम् ।
दूतिकां जननीं वेत्ति तत्सङ्गेऽतीवलालसा ॥ २८ ॥
मालाकारी नापिती च नटी प्रव्राजिका तथा ।
फणिवततिपत्राणि विक्रीणाति तु या भुवि ॥ २९ ॥
सैरन्ध्री चापि दासी च तथा पतिविवर्जिता ।
सूतिका धवहीना च तथा कापालिकी तु या ।
ईदृशीनां सङ्गमेन यस्यास्तुष्यति मानसम् ॥ ३० ॥
स्वैरिणीनां तु सा राज्ञी विज्ञेया धर्मनन्दन ।
तस्माद् रक्षेत् स्त्रियं पार्थ दुष्टसङ्गाद् विशेषतः॥ ३१ ॥

धर्मनन्दन ! जो व्यर्थ ही दूसरेके घर जाती है और उस घरके पुरुषोंकी ओर व्यर्थ ही निहारा करती है, जो दूती (कुटनी) को माताके समान समझती है और उसके साथ रहनेके लिये जिसके मनमें विशेष लालसा बनी रहती है, मालिन, नाइन, नटी, जोगिन, भूतलपर पानके पत्ते बेचनेवाली, सैरन्ध्री (स्त्रियोंके

---

१. कृच्छ्र अथवा कृच्छ्रसांतपन व्रतका लक्षण इस प्रकार है—

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् ।
एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सांतपनं स्मृतम् ॥
(मनुस्मृति अध्याय ११, श्लोक २१२)

पहले दिन गोमूत्र, गोबर, दूध, दही, घी और कुशाका जल—इन सबको मिलाकर पिये और दूसरे दिन उपवास करे; यह कृच्छ्र-सांतपन व्रत माना गया है।

२. अतिकृच्छ्र व्रतका लक्षण इस प्रकार है—

एकैकं ग्रासमश्नीयात् त्र्यहाणि त्रीणि पूर्ववत् ।
त्र्यहं चोपवसेदन्त्यमतिकृच्छ्रं चरन् द्विजः ॥
(मनुस्मृति अध्याय ११, श्लोक २१३)

अतिकृच्छ्र व्रतका आचरण करनेवाला द्विज पूर्ववत् (प्राजापत्यके समान) तीन दिन प्रातःकाल, तीन दिन सायंकाल और तीन दिन बिना माँगे मिले हुए भोजनका केवल एक-एक ग्रास ग्रहण करे और अन्तमें तीन दिनोंतक उपवास करे।

३. पराकव्रतका लक्षण इस प्रकार है—

यतात्मनोऽप्रमत्तस्य द्वादशाहमभोजनम् ।
पराको नाम कृच्छ्रोऽयं सर्वपापापनोदनः ॥
(मनुस्मृति अध्याय ११, श्लोक २१६)

जिसमें मन और इन्द्रियोंको वशमें करके सावधान होकर बारह दिनोंतक निराहार रहना पड़ता है, यह पराक नामक कृच्छ्र है, जो सब पापोंका नाश करनेवाला है।

केश आदि गूँथकर आजीविका चलानेवाली), दासी, पतिसे परित्यक्ता, कापालिकी तथा विधवा दाई—ऐसी स्त्रियोंकी संगतिसे जिस नारीका मन प्रसन्न होता है, उसे कुलटाओंकी महारानी समझना चाहिये । अतः पार्थ ! दुष्ट-संगसे स्त्रियोंकी विशेषरूपसे रक्षा करनी चाहिये ॥ २८–३१ ॥

असूयकोऽथ पिशुनो नास्तिको धूर्तको नरः ।
समीपे संस्थितो राज्ञां प्रजानां दुर्लभं सुखम् ॥ ३२ ॥
प्रजाः पालय भद्रं ते तासु नष्टासु नश्यति ।

जब राजाओंके समीप परदोषदर्शी, चुगलखोर, नास्तिक और धूर्त मनुष्य रहने लगते हैं, तब प्रजाओंके लिये सुख दुर्लभ हो जाता है । राजन् ! प्रजाके नष्ट हो जानेपर राजाका भी नाश हो जाता है, अतः तुम्हारा कल्याण हो । तुम प्रजाका पालन करो ॥ ३२½ ॥

नाचरन्ति तु ये धर्मान् नृपते ब्राह्मणादयः ॥ ३३ ॥
न चिन्तयन्ति देवेशं देवकीनन्दनं हरिम् ।
नास्तिकास्ते नरा ज्ञेयाः सर्वधर्मबहिष्कृताः ॥ ३४ ॥
एतैः सहासनं स्पर्शं मनसापीह नाचरेत् ।

जनेश्वर ! जो ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंके लोग अपने वर्णधर्मका पालन नहीं करते तथा देवोंके भी अधीश्वर देवकी-नन्दन भगवान् श्रीहरिका स्मरण नहीं करते, उन्हें समस्त धर्मकृत्योंसे बहिष्कृत नास्तिक समझना चाहिये । ऐसे लोगोंके साथ बैठनेका तथा इन्हें स्पर्श करनेका विचार भी मनमें नहीं लाना चाहिये ॥ ३३-३४½ ॥

आराधयन्ति देवेशं प्राणिनां मुक्तिदं हरिम् ।
देवतुल्याश्च ते ज्ञेयाश्चाण्डालोऽपि हरेः प्रियः ॥ ३५ ॥

तथा जो लोग प्राणियोंको मोक्ष प्रदान करनेवाले देवेश्वर भगवान् श्रीहरिकी आराधना करते हैं, उन्हें देवताओंके समान समझना चाहिये; क्योंकि भगवद्भक्त चाण्डाल भी श्रीहरिको अत्यन्त प्यारा है ॥ ३५ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि व्यासवाक्यं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें व्यासवाक्यनामक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका व्यासजीसे लक्ष्मीकी स्थिरता तथा भगवान्‌की प्रसन्नताका उपाय पूछना, व्यासजीका युधिष्ठिरको उनके प्रश्नका उत्तर देते हुए श्रीकृष्णको बुलानेके लिये आदेश देना, युधिष्ठिरका भीमसेनको श्रीकृष्णको बुलानेके लिये आदेश देना, भीमसेनका द्वारकामें पहुँचना, वहाँ श्रीकृष्णके भोजनका वर्णन और सत्यभामा और देवकीका वार्तालाप, श्रीकृष्णका अपने पास आते हुए भीमसेनको रोकना

युधिष्ठिर उवाच

कथं लक्ष्मीः स्थिरा तात प्राणिनां जायते गृहे ।
गोविन्देन सहावासः कथं जायेत तद् वद ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—तात ! प्राणियोंके घरमें किस उपायसे लक्ष्मी स्थिर होकर रहती हैं तथा कैसा कर्म करनेसे उनका भगवान् गोविन्दके साथ मनुष्योंके घरमें निवास होता है ? उसे बताइये ॥ १ ॥

व्यास उवाच

शृणु वत्स प्रवक्ष्यामि यथा लक्ष्मीः स्थिरा भवेत् ।
सत्यं शौचं विशेषेण प्राणिनां शिवचिन्तनम् ॥ २ ॥
तत्र स्थिरायते लक्ष्मीस्तत्र नारायणो हरिः ।

व्यासजी बोले—वत्स ! जिस प्रकार लक्ष्मी स्थिर होकर निवास करती हैं, उसका वर्णन करता हूँ, सुनो । जहाँ सत्य और पवित्रताका पालन होता है तथा विशेष-रूपसे प्राणियोंके हितका चिन्तन किया जाता है, वहाँ लक्ष्मी स्थिर रहती हैं और भगवान् श्रीहरि भी वहीं निवास करते हैं॥

मातरं पितरं पुत्रो भ्रातरं ज्येष्ठमेव च ॥ ३ ॥
मन्यते बान्धवगणं तत्र लक्ष्मीः स्थिरायते ।

जहाँ पुत्र माता, पिता, ज्येष्ठ भाई तथा बन्धुगणोंका आदर-सत्कार करता है, वहाँ लक्ष्मी स्थिर हो जाती हैं ॥

भार्या पतिपरा यत्र पतिः क्रोधवशो न चेत् ॥ ४ ॥
कृतं जानाति योऽमानी कूटसाक्ष्यं न यो वदेत् ।

श्राद्धं न वञ्चयेद् यस्तु वित्तशाठ्येन पैतृकम् ॥ ५ ॥
श्रद्धावान् कुरुते कर्म दत्त्वा दानं न यो वदेत् ।
कृत्वा शूरत्वमाजौ हि न भवेद् यो विकत्थनः ॥ ६ ॥
परस्त्रियं हि वन्देत मातृतुल्यां महीपते ।
आरामकारकश्चैव वापीकूपमठादिकृत् ॥ ७ ॥
तडागसत्रप्रासादविप्रमन्दिरकारकः ।
कन्यादानं च यो दद्यात् सदा तीर्थावगाहकः ॥ ८ ॥
सदा दानपरोऽतीतः पापाच्चैव नरोत्तमः ।
एवंविधं नरं पार्थ रमा संश्रयते भुवि ॥ ९ ॥

पार्थ ! जहाँ पत्नी पतिपरायणा होती है और पति क्रोधके अधीन नहीं होता, जो स्वयं मान न करके दूसरेके किये हुए उपकारको मानता है, जो झूठी गवाही नहीं देता, कंजूसी करके पिताके श्राद्धका उलङ्घन नहीं करता, श्रद्धापूर्वक यथोचित कर्म करता है तथा दान देकर उसका ढिंढोरा नहीं पीटता है, जो युद्धस्थलमें वीरता दिखाकर अपने मुखसे अपनी प्रशंसा नहीं करता, परायी स्त्रीको माताके समान समझकर उसकी वन्दना करता है, जो बगीचा लगानेवाला तथा बावड़ी, कुआँ और देवमन्दिर बनवानेवाला है, जो पोखरा, यज्ञशाला और ब्राह्मणोंके गृहका निर्माण करानेवाला है, जो कन्यादान करनेवाला तथा तीर्थस्नायी होता है तथा जो सदा दानपरायण और सभी पापोंसे दूर रहता है—लक्ष्मी इस भूतलपर ऐसे ही श्रेष्ठ पुरुषोंका आश्रय लेती हैं ॥४–९॥

दुष्टात्मानं त्यजेल्लक्ष्मीः पिशुनं वृषलीपतिम् ।
तथा च द्यूतकर्तारं द्यूतं च तव सुप्रियम् ॥ १० ॥
प्रथमं वारिताश्चासि सर्वैः पार्थिव बन्धुभिः ।
दुर्योधनादिभिः सार्द्धं कृतं द्यूतं वराटकैः ॥ ११ ॥
अक्षैश्चतुर्भिर्भवता क्रीडितं न च शोभनम् ।

जो दुष्टात्मा, चुगलखोर, शूद्राके साथ समागम करनेवाले और जुआरी हैं, उनको लक्ष्मी त्याग देती हैं । परंतु जूआ तो तुम्हें भी बहुत प्रिय है । भूपाल ! पहले तुम्हारे सभी भाइयोंने तुम्हें जूआ खेलनेसे रोका था, तो भी तुमने (क्षुद्र प्रकृतिवाले) दुर्योधन आदिके साथ कौड़ियों या पासोंसे जूआ खेला ही । उस समय तुमने चार पासोंसे जूआ खेला था, किंतु उसका परिणाम अच्छा नहीं हुआ ॥१०-११½॥

जितमित्येव शकुनिः सह ताताधमैर्नरैः ॥ १२ ॥
मया तदैव विज्ञातं कौरवाणां ध्रुवं क्षयः ।
स त्वं श्रिया परित्यक्तो द्यूतदोषेण भारत ॥ १३ ॥

तात ! जिस समय अधम पुरुषोंके साथ बैठे हुए शकुनिने 'मैंने जीत लिया' ऐसी घोषणा की, उसी समय मैंने समझ लिया था कि अब कौरवोंका विनाश निश्चित है । भारत ! उसी जूएके दोषसे लक्ष्मीने तुम्हारा भी परित्याग कर दिया था॥

त्यज्यते स श्रिया नित्यं परान्ने यस्तु लम्पटः ।
मदिरापानमत्तो यो मृगयासक्तचेतनः ॥ १४ ॥
साधुनिन्दाकरो यस्तु यस्त्वारामादिभञ्जकः ।
तस्करः काञ्चनादीनां धातूनां च तथा नृप ॥ १५ ॥

राजन् ! जो सदा दूसरेके अन्नका लोभी और मदिरा-पान करके नशेमें चूर रहता है, जिसका चित्त शिकार खेलनेमें आसक्त होता है, जो सत्पुरुषोंकी निन्दा करनेवाला है, बाग-बगीचा आदिको कटवा डालता है तथा सुवर्ण आदि धातुओंकी चोरी करनेवाला है, ऐसे लोग लक्ष्मीसे रहित हो जाते हैं ॥ १४-१५ ॥

रसानां चैव धान्यानां पुस्तकस्यापहारकः ।
तृणकाष्ठसमूहानां फलादीनां नराधिप ॥ १६ ॥
स्तेनोऽपि वस्तुजातानां स श्रिया त्यज्यते नरः ।

जनेश्वर ! जो रासायनिक पदार्थ, धान्य, पुस्तक, तृण, काष्ठ और फल आदिका अपहरण करनेवाला है । यहाँतक कि वस्तुमात्रकी चोरी करनेवाला है, ऐसे पुरुषका लक्ष्मी परित्याग कर देती हैं ॥ १६½ ॥

अमायां रविसंक्रान्तौ व्यतीपाते च वैधृतौ ॥१७॥
पितृक्षयाहे तीर्थे यो मैथुनी न रमास्पदम् ।
इति ते कथिता धर्मा अत ऊर्ध्वं निशामय ॥ १८ ॥

जो अमावस्या तिथि, सूर्यकी संक्रान्ति, व्यतिपात और वैधृति योग, पिताकी मृत्युतिथि और तीर्थमें मैथुन करता है, वह लक्ष्मीका पात्र नहीं रह जाता । इस प्रकार मैंने तुमसे धर्मके विषयमें वर्णन किया । अब आगेके कर्तव्यके विषयमें सुनो॥

समानय त्वं गोविन्दं यथा यज्ञः प्रजायते ।
विना तु वासुदेवं ते न हि वासः सुखावहः ॥ १९ ॥

राजन् ! अब तुम भगवान् श्रीकृष्णको बुलवाओ, जिससे यज्ञ-कार्य आरम्भ हो; क्योंकि उन वासुदेवके बिना आपका निवासस्थान सुखप्रद नहीं प्रतीत होता ॥ १९ ॥

जैमिनिरुवाच

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य मुनेरमिततेजसः ।
प्रत्युवाच ततो राजा भीमं विनयतत्परम् ॥ २०॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! अमित तेजस्वी महर्षि व्यासकी यह बात सुनकर राजा युधिष्ठिरने विनम्र रहनेवाले भीमसेनसे कहा ॥ २० ॥

युधिष्ठिर उवाच

भीम याहि महाबाहो कृष्णं प्रति ममाज्ञया ।
तमानयाशु गोविन्दं पुत्रपौत्रसमन्वितम् ॥ २१ ॥
यशोदां देवकीं देवीं सत्यभामां च रुक्मिणीम् ।

युधिष्ठिर बोले—महाबाहु भीमसेन ! तुम मेरी आज्ञासे भगवान् श्रीकृष्णके पास जाओ और पुत्र-पौत्रोंसहित उन गोविन्दको तथा यशोदा, देवी देवकी, सत्यभामा और रुक्मिणीको शीघ्र ही यहाँ लिवा लाओ ॥ २१½ ॥

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य धर्मराजस्य धीमतः ॥२२॥
नमस्कृत्य च तं भीमः प्रतस्थे द्वारकां प्रति ।

बुद्धिमान् धर्मराजका यह वचन सुनकर भीमसेन उन्हें प्रणाम करके द्वारकाके लिये चल पड़े ॥ २२½ ॥

मार्गे बहुविधान् देशानतिचक्राम सत्वरः ॥ २३ ॥
नानाविधानि रम्याणि नानावृक्षयुतानि च ।
वनानि समतिक्रम्य चचार पवनात्मजः ॥ २४ ॥

मार्गमें उन्होंने शीघ्रतापूर्वक चलकर बहुत-से देशोंको पार किया । पवननन्दन भीमसेन अनेक प्रकारके वृक्षोंसे भरे हुए बहुत-से मनोहर वनोंको लाँघकर आगे बढ़ गये॥२३-२४॥

पर्वतान् विविधान् रम्याञ्छिखरैरतिशोभितान् ।
अतिवेगवतीश्चैव सरितो विपुलाः पथि ॥ २५ ॥
अतिक्रम्य ददर्शासौ दूरात् कृष्णपुरीं तदा ।

द्वारकाके पथमें पड़नेवाले अपने शिखरोंद्वारा सुशोभित बहुत-से रमणीय पर्वतों तथा अत्यन्त वेगपूर्वक बहनेवाली बड़ी-बड़ी नदियोंको लाँघनेके बाद उन्होंने दूरसे ही श्रीकृष्णकी पुरी द्वारकाको देखा ॥ २५½ ॥

सुवर्णकलशोपेतां तोरणैरतिशोभिताम् ॥ २६ ॥
चन्दनोदकसेकेन सिक्तमार्गां तथैव च ।
हृष्टपुष्टजनोपेतामुग्रसेनेन पालिताम् ॥ २७ ॥
नानावृक्षसमाकीर्णैर्नानावल्लिविराजितैः ।
क्रीडावनैर्विराजन्तीं प्राकारैः परिखावृताम् ॥ २८ ॥
अक्रूराद्या यत्र भक्ताः सेवन्ते गरुडध्वजम् ।
रुक्मिणीसत्यभामाद्याः स्त्रियो भगवतश्च याः ॥ २९ ॥
ताः सर्वा भगवत्प्रीत्या यस्यां सेवन्ति तं हरिम् ।
एवंविधां द्वारकां तां दृष्ट्वा भीमो महाबलः ॥ ३० ॥
हर्षेण महता युक्तो बभूव जनमेजय ।
द्वारकाया बहिर्देशे महासरसि शोभने ॥ ३१ ॥
स्नात्वा सर्वविधिं कृत्वा प्रवेशायोपचक्रमे ।
परद्वारेण सम्प्राप्य द्वारवत्यां वृकोदरः ॥ ३२ ॥

वह पुरी सोनेके कलशोंसे युक्त एवं बड़े-बड़े फाटकोंसे सुशोभित हो रही थी । उसके राजमार्ग चन्दनमिश्रित जलसे सिंचे हुए थे । वह हृष्ट-पुष्ट लोगोंसे भरी हुई थी । महाराज उग्रसेनद्वारा वह पुरी सुरक्षित थी । नाना प्रकारके वृक्षोंसे व्याप्त एवं अनेक तरहकी लताओंसे सुशोभित क्रीडा-उद्यानोंसे उसकी विशेष शोभा हो रही थी । वह परकोटे और खाइयोंसे घिरी हुई थी । वहाँ अक्रूर आदि भक्त भगवान् गरुडध्वजकी सेवा करते थे । उस पुरीमें भगवान् श्रीकृष्णकी जो रुक्मिणी और सत्यभामा आदि पटरानियाँ थीं, वे सभी भगवान्‌के प्रति प्रेम होनेके कारण वहाँ उन श्रीहरिकी सेवा करती रहती थीं । ऐसी द्वारकापुरीको देखकर महाबली भीमसेनको महान् हर्ष हुआ । जनमेजय ! फिर उन्होंने द्वारकापुरीके बाहरी प्रदेशमें स्थित एक सुन्दर सरोवरमें स्नान किया और अपने सभी नित्य-नियमोंको पूरा करके पुरीमें प्रवेश करनेके लिये वे आगे बढ़े तथा पश्चिम दरवाजेसे द्वारकापुरीके भीतर जा पहुँचे ॥ २६–३२ ॥

यदा प्रवेशं कुरुते मन्दिरे माधवस्य सः ।
तदा स कुरुते कृष्णो भोजनं बहुभिर्वृतः ॥ ३३ ॥
रम्यं तु देवकीदत्तं पात्रे वै काञ्चने शुभे ।
कचोलानां चतुःषष्ट्यिन्यस्ते सुघटिते हरिः ॥ ३४ ॥

जब उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके महलमें प्रवेश किया, उस समय वे श्रीहरि बहुत-से लोगोंके साथ भोजन कर रहे थे । माता देवकीने सुन्दरताके साथ बनायी गयी एक सोनेकी सुन्दर थालीमें, जिसके भीतर चौंसठ कटोरियाँ सजाकर रखी गयी थीं, बढ़िया अन्न परोसकर उनके सामने रख दिया था ॥ ३३-३४ ॥

पायसं चन्द्रसंकाशं सितशर्करया युतम् ।
भक्तं कुमुदवर्णाभं मुद्गदालिस्तथैव च ॥ ३५ ॥
नानाव्यञ्जनसंयुक्तं त्रिभिः पङ्क्तिभिरेव च ।
निम्बूरसेन सार्द्रेण फलमूलयुतेन च ॥ ३६ ॥

उस भोजनमें श्वेत शक्करसे मिश्रित चन्द्रमाके समान

उज्ज्वल वर्णकी खीर, कुमुदके सदृश सफेद भात और मूँगकी दाल थी। वह भात तीन पङ्क्तियोंमें सजाये गये नाना प्रकारके व्यञ्जनोंसे संयुक्त था। वह भोजन नीबूके रस, अदरख और फल-मूलसे युक्त था ॥ ३५-३६ ॥

विकृतानि कृतान्येव शतशो भोजने विभो।
मरीचं पिप्पली चार्द्रं रम्भा शर्करया युता ॥ ३७ ॥
सितया सहितेनाथ दुग्धेन क्वथितेन च।
घृतं सितायुतं देव्या दत्तं प्रीत्या यशोदया ॥ ३८ ॥
पूरिकाश्च तथा क्षीरविकाराश्च प्रसाधिताः।
मृद्वीकाशिशुपाचूतकरमर्दकृताः शुभाः ॥ ३९ ॥

प्रभो! उस भोजन-सामग्रीमें सैकड़ों प्रकारकी उत्तम वस्तुएँ तैयार करके रखी गयी थीं। उसमें काली मिर्च, पीपर और अदरख भी थे। केलेके फल और शक्कर भी रखे गये थे। चीनी डालकर औंटाया हुआ दूध परोसा गया था। यशोदा मैयाने प्रेमपूर्वक मिश्री मिलाया हुआ घी (माखन) परोसा था। अनेक प्रकारकी पूरियाँ थीं। दूधसे बनाये गये रबड़ी-मलाई आदि पदार्थ भी प्रस्तुत किये गये थे। मुनक्का, शिशुपा-फल आम और करौंदेकी बनी हुई सुन्दर-सुन्दर चटनी आदि सामग्रियाँ भी थीं ॥ ३७–३९ ॥

मरीचपिप्पलीयुक्ता एलाचन्द्रकसंयुताः।
क्वथिताः कथिका यस्मिन् भोजने भूरिशो हरेः ॥ ४० ॥

श्रीहरिके उस भोजनमें काली मीर्च, पीपर, इलायची और कपूर मिलाकर औंटायी गयी कथिका (कढ़ी) की मात्रा अधिक थी ॥ ४० ॥

प्रलेहिकाः कृता यत्र कच्चोले रससंयुताः।
नानाकुसुमसम्मोदयुक्ताः सूदैः कृता हि ताः ॥ ४१ ॥

कटोरियोंमें रसदार चटनी रखी गयी थी, जिसे रसोइयों-ने नाना प्रकारके पुष्पोंकी सुगन्ध (इत्र) से सुवासित करके तैयार किया था ॥ ४१ ॥

मण्डका वर्तुला रम्याः समाः सर्वत्र बिम्बवत्।
मधुयुक्तेन गव्येन शुक्ते तस्मिन् सुभाजने ॥ ४२ ॥
काञ्चने तु कचोले वै स्थितं काञ्चनसुप्रभम्।
घृतं सुवासितं प्रीत्या दत्तं देव्या यशोदया ॥ ४३ ॥

मधु और दहीसे युक्त उस सुन्दर पात्रमें मैदेकी रोटियाँ शोभा पा रही थीं, जो देखनेमें सुन्दर, गोल-गोल, चन्द्रमाके बिम्बके समान तथा सब ओरसे बराबर थीं। सोनेकी कटोरीमें स्वर्णकी सी आभावाला सुगन्धित घी रखा था, जिसे देवी यशोदाने प्रेमपूर्वक परोसा था ॥ ४२-४३ ॥

तत्र गोधूमचूर्णेन चन्द्रकेण विलोडितम्।
घृतं न दृश्यते तत्र काञ्चनप्रभयान्वितम् ॥ ४४ ॥

वहाँ गेहूँका आटा और कपूर डालकर बिलोया हुआ घृत रखा था, जिसकी प्रभा सुवर्णके समान थी। वह उस सोनेकी कटोरीमें उसीकी प्रभाके साथ इस प्रकार मिल गया था कि पृथक् दिखायी ही नहीं देता था ॥ ४४ ॥

सौहालिकाः पूरिकास्तु शतच्छिद्रास्तु वेष्टिकाः।
पूपिकास्तु तथा क्षीरविकारास्तु प्रकाशिताः ॥ ४५ ॥

वहाँ सोहाल या सोहारी, पूरी, शतछिद्र (घेवर), जलेबियाँ, पूए तथा दूधसे बने हुए रबड़ी-मलाई-दही आदि पदार्थ चमक रहे थे ॥ ४५ ॥

मणयः सूत्रसंघाश्च मालतीकुसुमादयः।
पर्पटाः कर्बुरा रम्या माषकूष्माण्डसंयुताः ॥ ४६ ॥

मणि (गोझा या गुझिया), सूत्रसंघ (सेंवई या भुजिया), मालतीकुसुम आदि (मिष्टान्नविशेष) और उड़द तथा कुम्हड़ेसे बने हुए सुन्दर चितकबरे पापड़ भी थे ॥ ४६ ॥

वटकान् विविधान् रम्यान् भुङ्क्ते वै देवकीसुतः।
हिङ्गुजाजीरमरिचैः पूरितार्द्रेण ते शुभाः ॥ ४७ ॥

देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण अनेक प्रकारके बड़े खा रहे थे। वे बड़े हींग, जीरा, काली मिर्च और अदरखसे युक्त एवं सुन्दर थे ॥ ४७ ॥

शुक्लेन लवणेनापि शुद्धतैलेन पूरिताः।
कुङ्कुमाभाः स्नेहहीनाः सक्षता इव दुर्जनाः ॥ ४८ ॥

कुछ बड़े सेंधानमक डालकर शुद्ध तैलमें तले हुए थे, उनकी कान्ति कुङ्कुमकी-सी दीख रही थी। किसीके द्वारा चोट खाये हुए दुष्ट मनुष्य उसके प्रति स्नेहहीन हो जाते हैं, उसी प्रकार उन बड़ोंमें भी स्नेह (चिकनाई) की प्रतीति नहीं होती थी ॥ ४८ ॥

दधिदुग्धयुताः केचिच्चिञ्चिणीचूतसंयुताः।
द्राक्षारसयुताः केचित् तथान्ये कथिकायुताः ॥ ४९ ॥

कुछ बड़े दुग्धमिश्रित दहीमें भिगोये गये थे। कुछमें इमली और आमका रस पड़ा हुआ था। कुछ दाखके रसमें भीग रहे थे और कुछमें कढ़ी पड़ी हुई थी ॥ ४९ ॥

राजिकाजलमध्याश्च शुभान्ये सितया युताः।
रसैश्चतुर्भिश्चैवान्ये वटका नवधा स्थिताः ॥ ५० ॥

कुछ राईके जलमें भिगोये गये थे तो कुछ खाँड़में पगे हुए थे और कुछ चार प्रकारके रसोंसे संयुक्त थे। इस तरह वहाँ नौ प्रकारके बड़े रखे थे ॥ ५० ॥

वज्रप्रभास्तु कनकाश्चारबीजसुखारिकैः।
शकलैर्नारिकेलस्य लवङ्गशतसंयुतैः ॥ ५१ ॥

उस थालमें कनक (बर्फी) नामवाले पदार्थ हीरेकी भाँति चमक रहे थे, उनमें चारबीज, सुखारिक, गरीके टुकड़े और सैकड़ों लौंग पड़े थे ॥ ५१ ॥

घृतक्षीरसितान्यस्ताः कटाहे तु प्रलोडिताः।
लब्ध्वा सितास्तु कृसरं रम्यास्तत्रैव फेनिकाः ॥ ५२ ॥

वहीं फेनिका (फेनी) नामक मिठाइयाँ रखी थीं, जो कड़ाहीमें घी, दूध और चीनी डालकर पलटेसे उलट-पलटकर तैयार की गयी थीं। शक्कर और खिचड़ीके मेलसे उनकी मनोहरता और बढ़ गयी थी ॥ ५२ ॥

पेडारिकास्तु वै बह्व्यः कृता राजन् कवोष्णिकाः।
मोदकास्तत्र सम्भूताश्चारबीजभवाः परे ॥ ५३ ॥
सितया तु कृताश्चान्ये दुग्धाज्येन विनिर्मिताः।
नारिकेलफलैश्चान्ये वृक्षनिर्यासनिर्मिताः ॥ ५४ ॥
चणकैश्च शुभाश्चान्ये तिलैश्चणकबीजकैः।
ईदृशान् मोदकान् रम्यान् कृष्णस्यार्थे तु भोजने ॥५५॥

राजन्! उस थालमें बहुत-से पेड़े परोसे गये थे, जो कुछ गरम थे। वहीं लड्डू भी थे; जिनमें कुछ चारबीज (मोतीचूर) के और कुछ बेसनके बने हुए थे। कुछ खाँड़के बने थे और कुछका निर्माण घी और दूध डालकर हुआ था। कुछ नारियलके फलोंसे तथा कुछ वृक्षोंकी गोंद-से निर्मित हुए थे। कुछ सुन्दर लड्डू केवल चनेके बने हुए थे और कुछको तिल एवं चनेके सम्मिश्रणसे तैयार किया गया था। श्रीकृष्णके लिये परोसे गये उस भोजनमें इतने प्रकारके बढ़िया लड्डू थे ॥ ५३–५५ ॥

अर्शोघ्नं मानिनीकन्दं सिन्धुवारेन्द्रवाहकम्।
नारङ्गं चिञ्चिणीकन्दं कौकुरीफलमेव च ॥ ५६ ॥
दशारं कर्कटीजातं शुभं निम्बफलं शिवम्।
टिण्टाफलं लवङ्गं च श्रीफलं नीरकल्ककम् ॥ ५७ ॥
वल्कलं वंशकारीरं तथा कायफलं नवम्।
द्राक्षाफलं चूतफलं रम्यं कण्टकितं फलम् ॥ ५८ ॥
धात्रीफलं शुक्तिभवं फलमम्बाडकं तथा।
रम्भाफलं पिप्पली च मरीचाश्च मनोहराः ॥ ५९ ॥

उस थालमें बवासीरका विनाश करनेवाला जमीकन्द, सिंधुवार, इन्द्रवाहक, नारंगी, इमलीका गूदा, कौकुरीफल, दस धारियोंवाली ककड़ी, मङ्गलकारक सुन्दर निम्बफल (नीबू), टिंटाफल (टिंडा), लौंग, बेल, नीरकल्कक, वल्कल, वंशकारीर, नवीन कायफल, दाख, आम, सुन्दर कटहल, आँवला, बादाम, अम्बाडक (अमड़ा), केला, पीपर और सुन्दर मिर्चें भी थे ॥ ५६–५९ ॥

शुद्धसर्षपतैलेन लवणेन च वेष्टितम्।
तथा राजिकया विद्धं त्रिभिर्वर्षैर्घटे स्थितम् ॥ ६० ॥

जिनमें नमक तथा राई भरकर शुद्ध सरसोंके तेलमें डालकर तीन वर्षतक घड़ेमें रखकर उनका अचार तैयार किया गया था ॥ ६० ॥

भुङ्क्ते च भगवांस्तत्र देवकीवाक्यतोषितः।
समीपस्था रुक्मिणी तु लक्ष्मणा चारुलोचना ॥ ६१ ॥
सत्यभामा जाम्बवती व्यजनेन समन्विताः।
चारुनूपुरसंरावा रणद्वलयमेखलाः ॥ ६२ ॥

वहाँ भगवान् श्रीकृष्ण माता देवकीके वचनोंसे संतुष्ट हो भोजन कर रहे थे। उस समय उनके समीप रुक्मिणी, सुन्दर नेत्रोंवाली लक्ष्मणा, सत्यभामा और जाम्बवती हाथमें पंखा लिये खड़ी थीं। उनके सुन्दर पायजेब बज रहे थे तथा कंगन और करधनीसे भी रुनझुन शब्द निकल रहे थे ॥ ६१-६२ ॥

हारकेयूरशोभिन्यः कृष्णपार्श्वे सुसंस्थिताः।
पृथक् पृथङ्निरीक्षन्त्यो वीजयन्त्यो हसन्ति च ॥६३॥

वे हार और बाजूबंदसे सुशोभित होकर श्रीकृष्णके पार्श्व-भागमें खड़ी थीं और पंखा झलती हुई पृथक्-पृथक् उनकी ओर देखकर हँस रही थीं ॥ ६३ ॥

कथयन्त्यः कथाः काश्चिन्निरीक्षन्त्यो जगत्प्रभुम्।
पारिजातभवान्यानि बिभ्रत्यः कुसुमानि ताः ॥६४॥
सत्यभामा स्मितं कृत्वा कृष्णं वचनमब्रवीत्।

उस समय वे पारिजातके पुष्पों तथा अन्य प्रकारके फूलों-से भी विभूषित थीं और जगदीश्वर श्रीकृष्णको निहारती हुई

तरह-तरहकी कथाएँ कह रही थीं। तब सत्यभामाने मुसकराकर श्रीकृष्णसे कहा ॥ ६४½ ॥

सत्यभामोवाच

साम्प्रतं भोजनं कृष्ण समीचीनं सुशिक्षितम् ॥ ६५ ॥
गोपालत्वं परित्यज्य तक्रपानं तथोदकम्।
ईषन्नम्रो भवान् भूत्वा दुग्धं पक्वं तु यः पुरा ॥ ६६ ॥
पीत्वा च धावसेऽरण्ये कालिन्दीतीरसंस्थितः।
गोपालानां यदन्नानि हरसे तत्तु विस्मृतम् ॥ ६७ ॥

सत्यभामा बोलीं—श्रीकृष्ण ! इस समय आपने ग्वालेपनका परित्याग करके मट्ठा और जल पीना छोड़कर अच्छी तरह भोजन करना सीख लिया। पहले तो आप थोड़ा नम्र होकर औंटाया हुआ दूध पीकर वनमें गायोंके पीछे दौड़ते-फिरते थे तथा यमुना-तटपर खड़ा होकर ग्वालोंका अन्न छीना करते थे। वह सब तो भूल गया है ॥६५–६७॥

इदानीं मानुषं धर्मं जानाति सकलं भवान्।
धर्मपुत्रस्य सङ्गत्या विज्ञातं भवताखिलम् ॥ ६८ ॥

इस समय आप सारे मानवोचित धर्मको जान गये हैं। धर्म-नन्दन युधिष्ठिरकी संगतिसे आपको अब सब बातोंका ज्ञान हो गया है ॥ ६८ ॥

चामरैर्वीज्यते दिव्यैः पश्य रुक्मिणि वैभवम्।
अस्याश्रयेण मे नाशः कर्मणः सम्भविष्यति ॥ ६९ ॥

बहिन रुक्मिणी! इस समय इनका ऐश्वर्य तो देखो, अब इनके ऊपर दिव्य चँवर डुलाये जा रहे हैं। इनका आश्रय ग्रहण करनेसे मेरे कर्मोंका सर्वथा विनाश हो जायगा ॥ ६९ ॥

मत्तोऽन्यां पट्टमहिषीमात्मानं च सुशोभनम्।
न मां पश्यति कल्याणि भुञ्जानां कर्मणां फलम् ॥ ७० ॥

कल्याणि ! ये मतवाले-से होकर न तो दूसरी पटरानीको देखते हैं, न अपने ही सुन्दर रूपपर दृष्टिपात करते हैं और न अपने कर्मके फलको भोगती हुई मेरी ओर ही कभी दृष्टि डालते हैं ॥ ७० ॥

आयामि यामि पुरतो न मां वारयते हरिः।
वेदभाषितमाकर्ण्य कृष्णे मे रमते मनः ॥ ७१ ॥
तस्मान्मयापि क्रियते सेवनं सर्वदा क्षितौ।

बहिन ! मैं बारंबार इनके सामनेसे आती-जाती हूँ, परंतु ये श्रीहरि कभी मुझे मना नहीं करते हैं (मेरी ओर-से उदासीन बने रहते हैं), फिर भी (ईशावास्यमिदं सर्वम्—यह सारा जगत् इन परमेश्वर श्रीकृष्णसे ही व्याप्त है—यह) वेदोंका वचन सुनकर मेरा मन इन श्रीकृष्णमें ही रम रहा है। इसी कारण मैं भी इस भूतलपर सदा इनकी सेवा करती रहती हूँ ॥ ७१½ ॥

देवक्युवाच

न लज्जसे कथं त्वं तु ब्रुवन्ती केशवं प्रति ॥ ७२ ॥
अहं तथास्य जननी वसुदेवोऽस्य वै पिता।
उभाभ्यां क्रियते कर्म कृष्णतुष्टिकरं परम् ॥ ७३ ॥

सत्यभामाके यों कहनेपर देवकीने कहा—अरी सत्यभामे ! श्रीकृष्णके सम्बन्धमें ऐसी बातें कहते हुए तुझे लज्जा क्यों नहीं आती ? मैं इनकी माता हूँ और वसुदेवजी इनके पिता हैं, तो भी हम दोनों श्रीकृष्णको ही हर्ष प्रदान करनेवाले उत्तम कर्मोंको करते रहते हैं ॥ ७२-७३ ॥

निखिलोऽयं पुरा देहे विधृतस्तु मया लघुः।
अहं करोम्यस्य कर्मब्रुवती त्वं न लज्जसे ॥ ७४ ॥

पहले इन पूर्ण परमेश्वरको मैंने लघु शिशुके रूपमें अपने शरीरके भीतर (गर्भमें) धारण किया था। (तो भी मैं तो कुछ नहीं कहती और) तू कहती है कि 'मैं इनकी सेवा करती हूँ।' क्या ऐसा कहते तुझे लज्जा नहीं आती ? ॥७४॥

ममोदरे यदा प्राप्तस्तदा प्राप्तं सुबन्धनम्।
वसुदेवेन वीरेण पश्य त्वं कर्मणो गतिम् ॥ ७५ ॥

अरी ! तू कर्मकी गति तो देख, जिस समय ये मेरे गर्भमें आये, उस समय वीर वसुदेवजी गाढ़ बन्धनमें पड़ गये (बंदी बना लिये गये) थे ॥ ७५ ॥

अलक्ष्यलक्षणश्चायं संवृतः शत्रुसूदनः।
तस्मान्माता चास्य पिता न भार्या प्राप्नुते सुखम् ॥७६॥

ये शत्रुसंहारक श्रीकृष्ण सब तरहसे अपनेको छिपाये रखते हैं। इनके लक्षण किसीके जाननेमें नहीं आते। अतः इनके माता, पिता और पत्नीको जो सुख नहीं मिल रहा है (इसमें उनका प्रारब्ध कर्म ही कारण है) ॥ ७६ ॥

सर्वे स्वकर्मणा भद्रे जीवन्त्येव हि मानवाः।
ये भजन्ति हरिं कृष्णं प्राप्नुयुस्ते सुखं शुभे ॥ ७७ ॥

भद्रे ! सभी मनुष्य अपने प्रारब्ध कर्मानुसार ही जीवन

धारण करते हैं, परंतु शुभे ! जो इन श्रीकृष्णका भजन करते हैं, उन्हें अवश्य सुखकी प्राप्ति होती है ॥ ७७ ॥

सत्यभामोवाच

भवत्या साधु वचनं प्रोक्तं कृष्णस्य संनिधौ ।
तत् कथं वै प्रशंसन्ति सर्वे विप्रा जनार्दनम् ॥ ७८ ॥
एनं हि तावकं पुत्रं विस्मयस्तत्र मे परः ।
कर्मणां नाशकृद् देवो महतां देवकीसुतः ॥ ७९ ॥

तब सत्यभामा बोली—आर्ये ! इन श्रीकृष्णके समक्ष आपने यथार्थ बात कही है, परंतु मुझे तो इस बातपर परम आश्चर्य हो रहा है कि सभी ब्राह्मण आपके पुत्र इन जनार्दन-की यह कहकर प्रशंसा क्यों करते हैं कि देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण महान्[1] पुरुषोंके कर्मोंका विनाश करनेवाले हैं ॥ ७८–७९ ॥

अस्मिन् देहे महत् कष्टं कुर्वाणां वेत्ति माधवः ।
हृदये तु धृतः पूर्वं त्वया नैव निरीक्षितः ॥ ८० ॥
मया तु धार्यते भद्रे हृदये परिदृश्यते ।
तस्मान्मे कर्मणां नाशः क्रियते ह्यमुना शुभे ॥ ८१ ॥

देवि ! (बड़े-बड़ोंके कर्मोंका नाश करनेवाले) ये माधव इस जन्ममें मुझ महान् कष्ट सहन करनेवालीको भी जानते ही हैं । भद्रे ! पहले गर्भावस्थामें आपने इन्हें हृदयमें तो धारण किया था, परंतु इनका दर्शन नहीं किया था । मैं तो इन्हें प्रेमपूर्वक हृदयमें भी धारण करती हूँ और प्रत्यक्ष भी देख रही हूँ । शुभे ! इसी कारणसे ये मेरे कर्मोंका नाश कर रहे हैं ॥ ८०-८१ ॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा प्रसन्नवदनो हरिः ।
यावद् वदति तां देवीं तावद् भीमः समागतः ॥ ८२ ॥

सत्यभामाकी यह बात सुनकर श्रीहरिका मुख हर्षसे उत्फुल्ल हो उठा और ज्यों ही वे इस देवीसे कुछ कहें, त्यों ही वहाँ भीमसेन आ पहुँचे ॥ ८२ ॥

दृष्ट्वा तदा समायान्तं हृषीकेशो वृकोदरम् ।
वारयामास हि तदा सैरन्ध्रीवचनेन तम् ॥ ८३ ॥
किं वदिष्यति भीमोऽसाविति बुद्ध्या नराधिप ।
कौतुकी भीमवचनश्रवणे सर्वदा हरिः ॥ ८४ ॥

नरेश्वर ! उन्हें आते हुए देख भगवान् हृषीकेशने सैरन्ध्रीसे कहलाकर भीमसेनको वहाँ आनेसे मना कर दिया । उन्होंने ऐसा इसलिये किया कि देखें, रोक दिये जानेपर ये भीमसेन क्या कहते हैं ? क्योंकि उन श्रीहरिके मनमें भीमसेन-की व्यङ्ग्यपूर्ण बात सुननेके लिये बड़ी उत्सुकता रहती थी ॥ ८३-८४ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि भीमागमो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें भीमसेनका आगमनविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका भीमसेनको दिखाकर भोजन करना, भीमसेनके श्रीकृष्णके प्रति आक्षेपपूर्ण वचन, श्रीकृष्णका भीमसेनको भोजन कराकर पान देना और नगरवासियोंको कृतवर्माद्वारा नगारा बजाकर हस्तिनापुर चलनेके लिये आदेश देना तथा दल-बलसहित हस्तिनापुरको प्रस्थान, मार्गमें मालिन और तेलिनकी श्रीकृष्णसे बातचीत

जैमिनिरुवाच

निवारितं तु कृष्णेन ज्ञात्वाऽमानं वृकोदरः ।
प्रहसन्नब्रवीद् राजन् मेघगम्भीरया गिरा ॥ १ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—राजन् ! जब श्रीकृष्णने भीम-सेनको भवनमें प्रवेश करनेसे मना कर दिया, तब वे इस निषेधाज्ञाको अपना अपमान समझकर हँसते हुए मेघकी-सी गम्भीर वाणीमें बोले ॥ १ ॥

भीम उवाच

मामवज्ञाय कृष्णोऽसौ भोजनं कुरुते यदि ।
सैरन्ध्रि वद देशेऽस्मिन् किं चिकीर्षति माधवः ॥ २ ॥

[1] जो परम ज्ञान अथवा पराभक्तिसे सम्पन्न हैं, वे महान् पुरुष हैं ।

मृता किं देवकी देवी सत्यभामाथवा मृता।
महर्घे किल धान्यानां मेघो राष्ट्रे न वर्षति ॥ ३ ॥
किं च पुत्रास्तथा पौत्रा राक्षसेन हता बलात्।
किं वा स्त्रीभिः सहैवायं भोजनं कुरुते हरिः ॥ ४ ॥

भीमसेनने कहा—सैरन्ध्रि ! यह तो बताओ, यदि माधव श्रीकृष्ण मेरी अवहेलना करके अकेले भोजन कर रहे हैं तो वे यहाँ क्या करना चाहते हैं ? क्या देवकीदेवीकी मृत्यु हो गयी ? या सत्यभामाका ही स्वर्गवास हो गया ? अथवा इस राज्यमें मेघोंने जलकी वर्षा नहीं की है ? जिससे अन्नकी महँगी पड़ गयी है ? अथवा किसी राक्षसने इनके पुत्रों और पौत्रोंका बलपूर्वक संहार कर डाला है, या ये श्रीहरि स्त्रियोंके साथ ही भोजन करते हैं ? ॥ २–४ ॥

जैमिनिरुवाच

एवं वदति भीमे तु कौतुकार्थं महीपते।
कृष्णश्च वादयामास फेणिकाचर्वणस्वनम् ॥ ५ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—भूपाल ! भीमसेन ऐसा कह ही रहे थे कि भगवान् श्रीकृष्णने कौतुकके लिये फेनिकाओंको चबाना आरम्भ किया, जिनके दबनेसे जोर-जोरकी आवाज होने लगी ॥ ५ ॥

पर्पटानां महच्छब्दस्तत्र कृष्णेन वै कृतः।
प्रपिबन् कथिकां शब्दघण्टिकाघटनिस्वनम् ॥ ६ ॥
कुर्वन्नोष्ठपुटं रम्यं भीमसेनं प्रकोपयन्।
वृकोदरस्तु तच्छ्रुत्वा वाक्यं प्राह हसन्निव ॥ ७ ॥

फिर श्रीकृष्ण पापड़ चबाने लगे, उससे और भी जोरसे शब्द होने लगा। इसके बाद वे कढ़ी पीने लगे, जिसको घोंटनेसे गलेमें 'घट-घट' शब्द होने लगा। उस समय भीमसेनको चिढ़ानेके लिये उन्होंने होठोंकी विचित्र ही भावभंगी बना ली। तब भीमसेन उस शब्दको सुनकर हँसते हुए-से कहने लगे—॥ ६–७ ॥

तक्रं पिबति यः पूर्वं साम्प्रतं क्वथितं कथम्।
सूतिकां तां न जानामि यया कण्ठोऽस्य वर्धितः ॥ ८ ॥
नासाच्छेदो वधो न्याय्यः पापिष्ठायास्ततोऽधिकम्।
किमङ्गुष्ठेन जनितो मुसलेन हलेन वा ॥ ९ ॥

'अरे ! जो पहले मट्ठा पीनेके ही अभ्यासी थे, वे इस समय औंटाया हुआ दूध आदि कैसे पी रहे हैं ? मैं उस दाईको भी नहीं जानता, जिसने उनके गलेको बढ़ा दिया हो। यदि पता लग जाय तो उस पापिनी दाईकी नाक ही काट लेनी चाहिये अथवा उसका वध कर डालना ही उचित है। न जाने उसने इनके गलेमें अँगूठा डालकर उसे बढ़ाया था या मूसल अथवा हल डालकर' ॥ ८-९ ॥

न श्रृणोति यदा शब्दं पुनरेवाह पाण्डवः।
वटकः किं गले लग्नो गदया पोथयाम्यहम् ॥ १० ॥

परंतु जब श्रीकृष्णने इनकी बात अनसुनी कर दी, तब पाण्डुनन्दन भीमसेन फिर बोले—'क्या तुम्हारे गलेमें बड़ा अटक गया है ? क्या मैं आकर उसे गदासे मसल दूँ ? ॥ १० ॥

धिक् धिक् तर्कं मदीयं वै यस्य कण्ठे महीधराः।
दृश्यन्ते प्रलये नित्यं विशमाना निरर्गलम् ॥ ११ ॥
वटकस्य वराकस्य गणना कात्र कीर्त्यते।
तेनाभ्यासेन गोविन्द मा कुटुम्बं प्रभक्षय ॥ १२ ॥

'नहीं, नहीं, मेरे इस तर्कको धिक्कार है ! धिक्कार है !! क्योंकि प्रलयकालमें जिनके गलेमें बड़े-बड़े पर्वत नित्य बिना किसी अटकके प्रविष्ट होते देखे जाते हैं, वहाँ इस बेचारे वटक (बड़े) की क्या गिनती की जा सकती है। परंतु गोविन्द ! उस प्राचीन अभ्यासके कारण कहीं अपने कुटुम्बियोंको मत निगल जाना ॥ ११-१२ ॥

दूरदेशात् समायान्तं मा मा भक्षय मामितः।
भक्षितो नैव सुखदो भविष्यामि हरे तव ॥ १३ ॥
अधो न गमनं मह्यमूर्ध्वं गन्तास्मि ते शिरः।
यत्र प्रविष्टेन मया दृश्यते सचराचरम् ॥ १४ ॥

'हरे ! कहीं दूर देशसे यहाँ आये हुए मुझ भीमको ही न खा जाना, नहीं तो तुम्हारे उदरमें पहुँचकर मैं सुखदायक नहीं सिद्ध होऊँगा; क्योंकि मेरा गमन नीचेकी ओर नहीं होता। मैं सदा ऊपरकी ओर ही गमन करनेवाला हूँ। ऐसी दशामें तुम्हारे सिरकी ओर ही जाऊँगा और वहाँ प्रवेश करके चराचर विश्वको देखूँगा ॥ १३-१४ ॥

कुत्सयिष्यन्ति वै लोकास्त्वामेव पुरुषोत्तम।
आशया परया प्राप्तं भक्षमाणं हि पाण्डवम् ॥ १५ ॥
एकाकिनं भीमसेनं नृपवाक्यप्रणोदितम्।

'पुरुषोत्तम ! उस समय लोग तुम्हारी ही निन्दा करते हुए कहेंगे कि 'महाराज युधिष्ठिरकी आज्ञासे पाण्डुपुत्र भीमसेन बहुत बड़ी आशा लेकर अकेले ही आये थे, उन्हें श्रीकृष्णने खा लिया ॥ १५½ ॥

किं करिष्यति कुन्ती सा विना भीमं रसातले ॥ १६ ॥
तस्मात् पुत्रयुतां कुन्तीं भक्षयित्वा सुखी भव ।

'भीमसेनके बिना इस भूतलपर माता कुन्ती क्या करेंगी (वे आश्रयहीना हो जायँगी), इसलिये मेरे साथ-साथ तुम उन्हें भी खाकर सुखी हो जाओ ॥ १६½ ॥

पालितं धर्मराजेन त्वया चाद्य निपातितम् ॥ १७ ॥
श्रुत्वा तु भगिनी भद्रा मंस्यते त्वां तु राक्षसम् ।
कथयिष्यति कस्मै सा बाला पुत्रवियोगिनी ॥ १८ ॥

'जिसकी धर्मराज युधिष्ठिरने सदा रक्षा की है, ऐसे मुझ भीमको आज तुम्हारे द्वारा खाया गया सुनकर तुम्हारी बहिन सुभद्रा तुम्हें राक्षस समझेगी, फिर वह पुत्रहीना बाला किससे अपना दुःख निवेदन करेगी ? ॥ १७-१८ ॥

सर्वान् संहरसे त्वं च तव दोषो न जायते ।
सर्वान् सृजसि पश्चात्त्वं भीमसेनं तु मा सृज ॥ १९ ॥
सृजसे यदि मां नाथ स्वदासं न वृथा सृज ।

'प्रलयकालमें तुम्हीं सबका संहार करते हो, अतः तुमको दोष नहीं लगता है; क्योंकि पीछे (सृष्टिकालमें ब्रह्मा-रूपसे) तुम सबकी सृष्टि भी कर देते हो । परंतु नाथ ! सृष्टिकालमें इस भीमसेनकी सृष्टि मत करना और यदि मुझे उत्पन्न ही करना हो तो व्यर्थमें अपना दास न बनाना' १९½

जैमिनिरुवाच

एतद् वृकोदरवचः श्रुत्वा विस्मितमानसः ॥ २० ॥
उवाच देवकीपुत्रो भीमसेनं स्मयन्निव ।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! भीमसेनकी यह बात सुनकर देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके मनमें बड़ा विस्मय हुआ और वे मुसकराते हुए-से उनसे बोले ॥ २०½ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

भीमसेन स्वागतं ते कुशल्यास्ते युधिष्ठिरः ॥ २१ ॥
मया त्वं सहितो वीर भोजनं कुरु मानद ।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—भीमसेन ! तुम्हारा स्वागत है । महाराज युधिष्ठिर सकुशल तो हैं न ? दूसरेको मान देनेवाले वीर ! आओ, तुम मेरे साथ बैठकर भोजन करो ॥ २१½ ॥

भीम उवाच

तृप्तोऽसि कृष्ण पश्चान्मां परिपृच्छसि सादरम् ॥२२॥
तृप्ते त्वयि जगन्नाथे परां तृप्तिं गतोऽस्म्यहम् ।

तब भीमसेन बोले—श्रीकृष्ण ! पहले तुम खाकर भलीभाँति तृप्त हो लिये, तब पीछे आदरपूर्वक मुझे खानेके लिये पूछ रहे हो । तुम तो सारे संसारके स्वामी हो, तुम्हारे संतुष्ट हो जानेपर मैं भी परम तृप्त हो गया ॥ २२½ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

भुज्यतां भवता भीम मया दत्तं महाबल ॥ २३ ॥
न च मेऽस्ति प्रियं किञ्चिद् विना पार्थाद् धनंजयात् ।
न दारा न च पुत्रो वा न मित्राणि न बान्धवाः ॥ २४ ॥
कश्चिद्वान्यः प्रियतमः कुन्तीपुत्राद् धनंजयात् ।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—महाबली भीमसेन ! अब तुम मेरे परोसे हुए पदार्थोंको भोजन करो । मुझे पृथापुत्र अर्जुनके बिना कुछ भी अच्छा नहीं लगता । मेरे लिये उन कुन्तीनन्दनसे बढ़कर स्त्री, पुत्र, मित्र, बान्धव अथवा अन्य कोई भी प्रिय नहीं है ॥ २३-२४½ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं गृहीत्वा दक्षिणे करे ॥ २५ ॥
भीमसेनं भोजयित्वा सहैव स समुत्थितः ।

इतनी बात कहकर श्रीकृष्णने भीमसेनका दाहिना हाथ पकड़कर बैठा लिया और उन्हें भोजन कराकर उनके साथ ही वे भी आसनसे उठ पड़े ॥ २५½ ॥

फणिव्रततिपत्राणि फालेयं स्निग्धशालयः ॥ २६ ॥
दिव्यचन्दनकर्पूरमुखामोदसमन्वितम् ।
गृहीत्वा भीमसेनाय ददौ देवो जनार्दनः ॥ २७ ॥

(फिर आचमन आदि करनेके पश्चात्) भगवान् जनार्दन-ने सुपारी, चिकने चावल (इलायची) के दाने, दिव्य चन्दन, कपूर और मुखको सुगन्धित करनेवाले पदार्थोंसे युक्त पान लेकर भीमसेनको दिया ॥ २६-२७ ॥

उवाच च तदाक्रूरं साम्बं जाम्बवतीसुतम् ।
प्रद्युम्नमनिरुद्धं च निशठं शठमेव च ॥ २८ ॥
उवाच कृतवर्माणं दुन्दुभिं ताडयाशु वै ।
यथा महाजनः सर्वो धर्मराजपुरं व्रजेत् ॥ २९ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने अक्रूर, जाम्बवतीनन्दन साम्ब, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, शठ और निशठको (हस्तिनापुर चलनेके लिये)

आज्ञा दी और कृतवर्माको आदेश दिया कि 'तुम शीघ्र ही नगाड़ा बजाओ, जिससे सारा जनसमुदाय धर्मराजकी नगरी हस्तिनापुरको चलनेके लिये तैयार हो जाय ॥ २८-२९ ॥

मदाज्ञया वाजिमेधं प्रयान्त्वेते यथासुखम् ।
देवकीप्रमुखाश्चैव मातरो मम यान्तु वै ॥ ३० ॥
रुक्मिणीसत्यभामाद्याः सर्वा वध्वस्तथैव च ।

'मेरी आज्ञासे ये सब लोग अश्वमेध यज्ञमें सम्मिलित होनेके लिये सुखपूर्वक प्रस्थान करें । साथ ही देवकी आदि मेरी माताएँ तथा रुक्मिणी और सत्यभामा आदि सभी बहुएँ भी वहाँ चलें ॥ ३०½ ॥

एक एव पुरे रामो वसुदेवसमन्वितः ॥ ३१ ॥
पालयन् द्वारकां रम्यां तिष्ठत्वत्र यथासुखम् ।
अतः परं धर्मपुत्रो हयमेधं करिष्यति ॥ ३२ ॥

'यहाँ नगरमें अकेले बलरामजी पिता वसुदेवजीके साथ रमणीय द्वारकापुरीकी रक्षा करते हुए सुखपूर्वक रहेंगे । हम लोगोंके पहुँचनेपर धर्मनन्दन युधिष्ठिर अश्वमेध यज्ञ आरम्भ करेंगे ? ॥ ३१-३२ ॥

यत् किंचिद् विद्यते वित्तं शकटैः करभैश्च तत् ।
अश्वैरश्वतरैर्यातु धर्मराजनिकेतनम् ॥ ३३ ॥
सुवर्णमणिमाणिक्यरुक्ममुक्ताफलानि च ।
यत्राहं तत्र दारिद्र्यं कथमेतद् भवेत् क्षमम् ॥ ३४ ॥

तथा मेरे पास सुन्दर-सुन्दर रंगवाली मणियाँ, जवाहरात सुवर्ण और मोती आदि जो कुछ भी धन है, वह सब छकड़ों, ऊँटों, घोड़ों और खच्चरोंपर लादकर धर्मराजके महलमें पहुँचाया जाय; क्योंकि जहाँ मैं रहूँ, वहाँ दरिद्रता रहे—यह कैसे उचित हो सकता है ? ॥ ३३-३४ ॥

जैमिनिरुवाच

कृतवर्मा तदा राजन् समाहत्याथ दुन्दुभिम् ।
प्रोवाच स्वजनान् सर्वान् कृष्णादेशेन यादवाः ॥ ३५ ॥
सर्वाः प्रकृतयश्चैव निर्गच्छन्तु ममाज्ञया ।

जैमिनिजी कहते हैं—राजन् ! उस समय कृतवर्माने श्रीकृष्णके आदेशानुसार नगाड़ा पीटकर सभी आत्मीयजनोंसे कहा—'मेरी (श्रीकृष्णकी) आज्ञासे समस्त यदुवंशी तथा सारी प्रजा हस्तिनापुरको चलनेके लिये नगरसे बाहर निकलें' ॥ ३५½ ॥

श्रुत्वा भोजवचः सर्वे द्वारकावासिनो जनाः ॥ ३६ ॥
द्रष्टुं तमश्वमेधं च धर्मराजस्य मन्दिरे ।
विनिर्गता द्वारकाया गन्तुं तन्नागसाह्वयम् ॥ ३७ ॥

कृतवर्माद्वारा श्रीकृष्णकी वह आज्ञा सुनकर समस्त द्वारका-वासी जन धर्मराज युधिष्ठिरके भवनमें होनेवाले उस अश्वमेध यज्ञको देखनेकी लालसासे हस्तिनापुर जानेके लिये द्वारकापुरी-से बाहर निकले ॥ ३६-३७ ॥

परं कौतुकयुक्तास्ते कृष्णादेशेन भूपते ।
ये ये विनिर्गता राजंस्तांस्तांश्च कथयामि ते ॥ ३८ ॥

भूपते ! उस समय उनके मनमें परम कौतूहल हो रहा था । राजन् ! अब श्रीकृष्णकी आज्ञासे यात्राके लिये जो-जो लोग नगरसे बाहर निकले थे, उन-उनका वर्णन तुम्हें सुनाता हूँ ॥ ३८ ॥

ब्राह्मणा वेदनिपुणाः सर्वशास्त्रविशारदाः ।
धर्मज्ञाः कर्मनिपुणाः शुचयः समदर्शिनः ॥ ३९ ॥
भार्यापुत्रयुताः सर्वे शिष्यैर्बहुभिरन्विताः ।
वैश्या धनसमृद्धाश्च विनिर्यातास्तदाज्ञया ॥ ४० ॥

उस समाजमें बहुत-से ब्राह्मण थे, जो वेदोंके तत्त्वज्ञ, सम्पूर्ण शास्त्रोंमें पारंगत, धर्मज्ञ, कर्मकाण्डमें निपुण, पवित्र आचार-वाले और समदर्शी थे । उनके साथ उनकी पत्नी और पुत्र तथा बहुत-से शिष्य भी थे । उस समय उन श्रीकृष्णकी आज्ञासे बहुत-से धन-सम्पन्न वैश्य भी यात्राके लिये निकले थे॥

शूद्रा विनिर्गताः सर्वे द्विजसेवारताः स्वयम् ।
कांस्योपजीविनः सर्वे बहुभाजनसंयुताः ॥ ४१ ॥

द्विजोंकी सेवामें तत्पर रहनेवाले सभी कोटिके शूद्र अपने आप ही चलनेकी तैयारी कर रहे थे । जो काँसेके पात्रसे अपनी जीविका चलानेवाले थे, वे सभी काँसेके बहुत-से बर्तन लेकर चले ॥ ४१ ॥

परीक्षकाश्च रत्नानां मणीनां चैव सर्वशः ।
मुक्ताफलानां च तथा साधकाः स्वर्णकारकाः ॥ ४२ ॥
गोविन्दपुरवासाद् वै साग्नयो निर्ययुश्च ते ।
मणीनां जन्मकर्तारः पूरकास्त्रपुजीविनः ॥ ४३ ॥

जो रत्नों तथा मणियोंको पूर्णरूपसे परखनेवाले (जौहरी) एवं मोतियोंको साफ करके उनके आभूषण बनाने-वाले सुनार थे तथा जो मणियोंको खान आदिसे प्राप्त करने-

वाले, पूरक (टूटे हुए बर्तन आदिकी मरम्मत करनेवाले) और राँगेसे जीवन-निर्वाह करनेवाले थे, वे सभी अग्नि आदि सामग्री साथ लेकर द्वारकापुरीसे बाहर निकले ॥ ४२-४३ ॥

धान्यविक्रयिणश्चैव वस्त्रनिर्णेजकास्तथा ।
पूगीफलयुताश्चान्ये वरताम्बूलजीविकाः ॥ ४४ ॥
मालाकारास्तैलकाराः सहयन्त्रा विनिर्ययुः ।

अन्नकी बिक्री करनेवाले, कपड़े धोनेवाले, सुपारी आदि सामग्रीसहित उत्तम पान बेचनेवाले तमोली, माली और अपने यन्त्रों (कोल्हू) सहित तेली भी प्रस्थित हुए ॥ ४४½ ॥

तन्तुवायास्तथैवान्ये वरसूत्रधराश्च ये ॥ ४५ ॥
कोष्ठिकाः कर्मनिरता मार्ष्टिकाः क्षौमवाससाम् ।
कर्मणो गुरवः सूत्रवर्धकारास्तथैष्टिकाः ॥ ४६ ॥
यन्त्रकाः शस्त्रकर्तारः कुलालाश्चाम्बुवाहकाः ।
निर्णेजकाः सरजका नटास्तत्रैव सूचकाः ॥ ४७ ॥
नापिता भित्तिकर्तारश्चित्रकर्मरतास्तथा ।
तथा सुराप्रकर्त्तारो ध्वजिनश्चर्मजीविनः ॥ ४८ ॥
मृगयाजीविनश्चैव गोविन्देन प्रणोदिताः ।

जुलाहे, दूसरे उत्तम सूतके व्यापारी, कर्ममें तत्पर रहनेवाले राजगीर, रेशमी वस्त्रोंको शुद्ध करनेवाले, कर्मगुरु (कारीगरोंके उस्ताद), सूत बढ़ानेवाले, ईंट बनाने या जोड़नेवाले, यन्त्रक (यन्त्र आदिके द्वारा वस्तुओंका निर्माण करनेवाले—शिल्पी), शस्त्र बनानेवाले, कुम्हार, पानी ढोनेवाले कहार, धोबी, रंगरेज, नट, दरजी, नाई, दीवार बनानेवाले चित्रकार, शराब खींचनेवाले कलवार, चर्मकार तथा शिकारसे जीविका चलानेवाले लोग भी भगवान् गोविन्दकी आज्ञा पाकर प्रस्थित हुए ॥ ४५–४८½ ॥

कुट्टिनीगुरवो वेश्या नानाभावप्रवेदकाः ॥ ४९ ॥
नृपमण्डनकर्त्तारो मल्ला भट्टाश्चिकित्सकाः ।
शैलूषा मागधाश्चैव सर्ववर्णोपजीविनः ॥ ५० ॥
तथेन्द्रजालकाराश्च कथकाः पाठकाः परे ।
तथा जाङ्गलिका भूर क्षुरकर्मोपजीविनः ॥ ५१ ॥
व्याधाः सपञ्जराश्चैव कृष्णं संवाहयन्ति ये ।
घटकाश्चाम्बुवाहाश्च तृणवाहास्तथापरे ॥ ५२ ॥
सैरन्ध्रया सङ्गता दास्यस्तथा ये सौविदल्लकाः ।
सूतिकाः शस्त्रवैद्याश्च जलौकाजीविनश्च ये ॥ ५३ ॥
अन्ये कृष्णाज्ञया प्रीता द्वारकाया विनिर्ययुः ।
निर्गतं बहुधा सैन्यं चतुरङ्गं महत् तदा ॥ ५४ ॥

राजन् ! कुट्टिनी, वेश्याओंको नाना प्रकारके भावोंका ज्ञान करानेवाले गुरु (उस्ताद), राजाका शृङ्गार करनेवाले, पहलवान, भाट, वैद्य, सभी वर्णोंसे जीविका चलानेवाले नट, मागध आदि, इन्द्रजाल (जादूके खेल) करनेवाले बाजीगर, तरह-तरहकी कथाएँ कहनेवाले, सद्ग्रन्थोंका पाठ करनेवाले अथवा शिक्षक, जंगलकी जड़ी-बूटियोंसे चिकित्सा करनेवाले विषवैद्य, क्षौर-कर्म करके जीविका-निर्वाह करनेवाले, पिंजरा लिये हुए बहेलिये, श्रीकृष्णके चरण आदि दबानेवाले सेवक, घटक (काम पूरा करनेवाले चतुर व्यक्ति), पानी ढोनेवाले, घासका बोझ ढोनेवाले, सैरन्ध्रीके साथ रहनेवाली दासियाँ, रनवासके छड़ीदार, दाइयाँ, शस्त्रवैद्य (जर्राह), जोंक आदिके द्वारा दूषित रक्त निकालकर जीविका चलानेवाले— ये सभी तथा और भी बहुत-से लोग भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञासे प्रसन्नतापूर्वक द्वारकासे बाहर निकले। साथ ही उस समय एक बहुत बड़ी एवं विविध सैनिकोंसे भरी हुई चतुरंगिणी सेना द्वारकासे हस्तिनापुरको प्रस्थित हुई ॥

न दृश्यते तदा सूर्यो रजसा संवृतं नभः ।
महारावस्तदा ह्यासीत् तस्मिन् सैन्ये विसर्पति ॥ ५५ ॥

उस सेनाके चलते समय इतनी धूल उठी कि आकाश आच्छादित हो गया और सूर्यका दीखना बंद हो गया। साथ ही उस सेनामें महान् कोलाहल होने लगा ॥ ५५ ॥

वणिजानां तु शकटैर्नानावीथिवहैस्तथा ।
द्वीपिवाहैः पक्षिवाहैर्मार्गो नैव तु लभ्यते ॥ ५६ ॥

नाना प्रकारकी गलियों एवं मार्गोंपर चलनेवाले व्यापारियोंके छकड़े व्याघ्रोंकी भाँति उछलते और पक्षियोंके समान उड़ते हुए-से तीव्र वेगसे चल रहे थे, उनके कारण दूसरोंको आगे बढ़नेके लिये मार्ग नहीं मिल रहा था ॥५६॥

शम्भलयेका तदा वृद्धा प्रहसन्ती सखीजनैः ।
प्रोवाच धावमाना सा वृथा किं क्रियते श्रमः ॥ ५७ ॥
अविवेकी हरिश्चायं न धनं सम्प्रदास्यति ।
संतुष्टो हि भवेद् येषां तेषां हरति वै धनम् ॥ ५८ ॥

उसी समय एक बुढ़िया कुट्टिनी दौड़ती हुई आयी और अपनी सखियोंके साथ हँसकर कहने लगी—'सखियो ! क्यों व्यर्थ परिश्रम कर रही हो ? ये श्रीहरि तो विवेक-शून्य हैं । तुम्हें धन नहीं देंगे; क्योंकि ये जिनपर प्रसन्न होते हैं उलटे उनका सारा धन हर लेते हैं' ॥ ५७-५८ ॥

वृषभे सा समारूढा यावद् याति स्वलीलया।
तावत् तस्याश्च वृषभो दृष्ट्वा दासेरकं पथि ॥ ५९ ॥
पलायनपरो भूत्वा पातयामास शम्भलीम्।
पतितां तां समालोक्य प्रहसन्ति स्म सैनिकाः ॥ ६० ॥

ऐसा कहकर बैलपर सवार हुई वह वृद्धा ज्यों ही लीला-पूर्वक आगे बढ़ी, त्यों ही उसका बैल मार्गमें एक ऊँटको देखकर (चौंका और) भागने लगा। उसने उस कुट्टिनीको अपनी पीठसे नीचे गिरा दिया। उसे गिरी हुई देखकर सभी सैनिक हँसते हुए कहने लगे—॥ ५९-६० ॥

श्रीकृष्णस्य कृता निन्दा साम्प्रतं दुष्टयानया।
स्वकर्मणेयं वृषभात् पतिता धरणीतले ॥ ६१ ॥
नूनमेतत् तु सम्भाव्यं पापिनां पतनं भुवि।

'इस दुष्टाने अभी-अभी भगवान् श्रीकृष्णकी निन्दा की है, अतः अपने उस दुष्कर्मके कारण ही यह बैलकी पीठसे पृथ्वीपर गिरी है। इस भूतलपर पापियोंका ऐसा पतन निश्चय ही होना चाहिये' ॥ ६१½ ॥

सा च तेषां वचः श्रुत्वा शम्भली पुनरुत्थिता ॥ ६२ ॥
कथयन्ती शुभं वाक्यं सैनिकान् प्रति भारत।
कृष्णमत्र विलोक्याहं पुनरेव वृषस्थिता ॥ ६३ ॥
तस्मान्मूढा न जानन्ति स्मरणं केशवस्य वै।
पतितानां पावनं हि नान्यं पश्यामि केशवात् ॥ ६४ ॥

भारत ! उन सैनिकोंकी बात सुनकर वह कुट्टिनी पुनः उठकर खड़ी हो गयी और उनसे शुभ वचन बोली—'मैं यहाँ श्रीकृष्णका दर्शन करके जो पुनः बैलपर सवार हो गयी, इसीके फलस्वरूप मेरा पतन हुआ है। मूढ मनुष्य भगवान् श्रीकृष्णके स्मरणका प्रभाव नहीं जानते। मैं तो इन केशवके अतिरिक्त अन्य किसीको पतितपावन नहीं समझती'॥६२–६४॥

जैमिनिरुवाच

कृष्णस्ततो हयं शुभ्रं समारुह्याग्रतो ययौ।
मध्याह्नसमये सर्वैर्हृष्टस्तु स्वपुराद् बहिः ॥ ६५ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर दोपहर होते-होते भगवान् श्रीकृष्ण एक श्वेत वर्णके घोड़ेपर सवार होकर सभी नगरवासियोंके साथ अपने नगरसे बाहर निकले और प्रसन्नतापूर्वक सबके आगे-आगे चलने लगे ॥ ६५ ॥

कशामादाय तत्रैव द्विगुणां दर्शयत्यसौ।
धर्मराजस्य तं मार्गं यथा लोका व्रजन्ति ते ॥ ६६ ॥

वहाँ उन्होंने अपने कोड़ेको, जो दो रस्सियोंके मेलसे बना था, हाथमें लेकर उससे धर्मराजके नगरकी ओर जाने-वाले मार्गका संकेत किया, जिससे सभी लोग उसी रास्तेसे चलने लगे ॥ ६६ ॥

कोटिकोटिसहस्रैस्तु रथानां दन्तिनां तथा।
खर्वसंख्यैर्महासैन्यैर्वेष्टितो देवकीसुतः ॥ ६७ ॥
भीमसेनयुतो भूप स्वदारपरिवारितः।

भूपाल ! उस समय करोड़ों रथों, हजारों दन्तार गजराजों और खर्वोंकी संख्यावाली विशाल सेनासे घिरे हुए देवकी-नन्दन श्रीकृष्ण भीमसेन तथा अपनी पत्नियोंके साथ चल रहे थे ॥ ६७½ ॥

कृष्णं विना न तिष्ठन्ति द्वारकावासिनो जनाः ॥ ६८ ॥
सर्वे विनिर्गता हर्षात् स्वेच्छया कौतुकेन तु।
मालाकारी हरिं वीक्ष्य हृष्टा वचनमब्रवीत् ॥ ६९ ॥

द्वारकावासी जन श्रीकृष्णके बिना उस पुरीमें ठहर नहीं सकते थे, अतः वे सब स्वेच्छानुसार कौतूहलवश बड़े हर्षके साथ नगरसे बाहर निकल पड़े थे। उस समय एक मालिन श्रीहरिको देखकर प्रसन्न हो इस प्रकार कहने लगी ॥

मालाकार्युवाच

कथं मध्यन्दिने कृष्ण निर्गमिष्यन्ति मानवाः।
सर्वे गच्छन्ति देवेश स्ववस्तुधनजीविनः ॥ ७० ॥
वयमत्र परं शोच्याः सुमनोभिश्च जीविनः।

मालिन बोली—श्रीकृष्ण ! इस दोपहरीमें किस प्रकार लोग नगरके बाहर निकलेंगे ? देवेश ! अपनी वस्तुरूपी धनसे जीविका चलानेवाले ये सभी लोग चल रहे हैं; परंतु पुष्पोंद्वारा जीवन-निर्वाह करनेवाली हमलोगोंकी दशा तो इस समय बड़ी शोचनीय हो गयी है ॥ ७०½ ॥

त्वदर्थे संगृहीतानि सुमनांसि मयाच्युत ॥ ७१ ॥
न म्लायन्तु च तान्येव मम देयं च मौक्तिकम्।

अच्युत ! मैंने आपके लिये जो इन पुष्पोंका संग्रह किया है, ये इस दोपहरीमें कुम्हला न जायँ, इसलिये आपको इनके मूल्यरूपमें मुझे मोती तो दे ही देना चाहिये ॥

छत्रच्छायासमुदितं वदनं तव माधव ॥ ७२ ॥
तापपूर्णा कथं यामि देव कृष्ण पदानुगा ।
गुणयुक्तानि माल्यानि गृहाण त्वं जनार्दन ॥ ७३ ॥

माधव ! आपका मुख तो छत्रकी छायासे आच्छादित है, परंतु देव ! श्रीकृष्ण ! पैदल ही यात्रा करनेवाली मैं तापसे संतप्त होकर कैसे चल सकूँगी ? अतः जनार्दन ! आप सुगन्ध-सौन्दर्य आदि गुणोंसे युक्त इन पुष्पहारोंको तो ग्रहण कर लीजिये ॥ ७२-७३ ॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा कृष्णः प्रोवाच सस्मितः ।

मालिनकी वह बात सुनकर श्रीकृष्ण मुस्कराते हुए बोले ॥ ७३½ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

दास्यामि भद्रे सर्वं ते वाञ्छितं मौक्तिकं धनम् ॥७४॥
धर्ममाश्रय मद्वाक्याद् यथा तुष्यति मे मनः ।

श्रीकृष्णने कहा—भद्रे ! मैं तेरी इच्छाके अनुसार सब मुक्तामय धन तुझे प्रदान करूँगा, परंतु तू धर्मका आश्रय ग्रहण कर, जिससे मेरा मन प्रसन्न होता है ॥ ७४½ ॥

जैमिनिरुवाच

एवं वदति वै यावत् तावत् तैलान्विता परा ॥ ७५ ॥
उवाच वचनं देव श्रूयतां क्रियतां विभो ।
तैलं निःसरते कृष्ण भित्त्वा जीर्णघटं मम ॥ ७६ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान् श्रीकृष्ण ऐसा कह ही रहे थे कि तेल लिये हुए एक दूसरी स्त्री वहाँ आ पहुँची और बोली—'देव ! विभो ! मेरी बात सुनिये और उसे पूर्ण कीजिये । श्रीकृष्ण ! मेरे पुराने घड़ेको फोड़कर तेल चू रहा है ॥ ७५-७६ ॥

व्यथां न कृष्ण जानासि मदीयां यन्त्रसम्भवाम् ।
अधुनैव समुत्तीर्य गृहाण स्नेहमेव च ॥७७॥

'श्रीकृष्ण ! कोल्हूसे तेल पेरकर निकालनेमें मुझे कितना कष्ट भोगना पड़ा है, इसका तो आपको पता है नहीं; अतः इसी समय घोड़ेसे उतरकर आप मेरे स्नेह (तेल) को ग्रहण करें ॥ ७७ ॥

मार्गो न लभ्यते नाथ शकटैस्तैलपूरितैः ।
चलितुं नैव शक्नोमि तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ ७८ ॥

'नाथ ! इन तेलसे भरे हुए छकड़ोंके कारण रास्ता नहीं मिल रहा है, जिससे मैं चलनेमें असमर्थ हो गयी हूँ; अतः इसके लिये किसी नीतिका विधान कीजिये' ॥ ७८ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि श्रीकृष्णप्रयाणं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें श्रीकृष्णका प्रस्थानविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

श्रीकृष्ण और भीमसेनका विनोदपूर्ण वार्तालाप, मार्गमें ऊँटकी पीठसे गिरी हुई सूतिकाकी प्रार्थना, वसुदेवजीका श्रीकृष्णको उपदेश, भीमसेनद्वारा वसुदेवजीकी बातका खण्डन, श्रीकृष्णका सरोवर-पर आना और रुक्मिणीको बुलाकर नलिनीके व्याजसे स्त्रियोंपर आक्षेप करना, रुक्मिणी-का उन्हें उत्तर देना, व्रजमें पहुँचकर गोप-गोपियोंकी श्रीकृष्णसे भेंट और उनकी दशाका वर्णन, श्रीकृष्णका देवकी, यशोदा, रुक्मिणी और प्रद्युम्न आदिको कर्तव्यका उपदेश तथा हस्तिनापुरमें याज्ञिक ब्राह्मण, संन्यासी, शम्भली और वन्दियोंद्वारा श्रीकृष्णकी आलोचना

भीम उवाच

कृष्ण कृष्ण महाबुद्धे पश्यैतास्तव सुप्रियाः ।
आतपम्लानवदना विश्रामय यथासुखम् ॥ १ ॥

भीमसेनने कहा—महाबुद्धिमान् श्रीकृष्ण ! श्रीकृष्ण ! अपनी इन प्रियतमाओंकी ओर तो दृष्टिपात कीजिये । इनके मुख धूपसे कुम्हला गये हैं, अतः इन्हें थोड़ी देरतक सुखपूर्वक विश्राम कराइये ॥ १ ॥

विश्रामं कृतवान् कृष्णो ह्यदूरे स्वपुरात् ततः ।
तं भीमसेनः सम्प्राह वासुदेवं विनोदकृत् ॥ २ ॥

भीमसेनके ऐसा कहनेपर भगवान् श्रीकृष्णने अपने नगरसे थोड़ी ही दूरपर विश्राम करनेके लिये पड़ाव डाल दिया। तब विनोद करनेवाले भीमसेनने उन वासुदेवसे कहा—॥ २ ॥

कृष्ण कृष्ण महाबाहो मम चेतसि भासते।
सर्वासां योषितामासां त्वमेव प्रायशः पतिः ॥ ३ ॥
मालाकारी तैलकारी नापिती शम्भली च सा।
त्वामेव खलु जानन्ति स्वपतिं न तथा हृदि ॥ ४ ॥

'श्रीकृष्ण! महाबाहु श्रीकृष्ण! मेरे मनमें तो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि इन सभी स्त्रियोंके पति प्रायः आप ही हैं; क्योंकि ये मालिन, तेलिन, नाइन और कुटनी आदि स्त्रियाँ अपने हृदयमें जैसा आपको समझती हैं, वैसा अपने पतिको नहीं मानतीं ॥ ३-४ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

भवान् गृह्णातु सततं पौरुषं चेद् वृकोदर।
स्थूलोदरं भीमसेनं वरं वरय शोभने ॥ ५ ॥
त्वं तु शम्भलि गच्छाशु भीमं दन्तविवर्जिते।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—वृकोदर! यदि तुममें निरन्तर पुरुषार्थ हो तो तुम्हीं इन सबको रख लो। (भीमसेनसे ऐसा कहकर वे उस कुट्टनीसे बोले–) 'शोभने! तू इन बड़े पेटवाले भीमसेनको अपना पति स्वीकार कर ले। बिना दाँतोंवाली कुटनी! तू शीघ्र ही भीमसेनके पास चली जा'॥

भीमस्तु प्रत्युवाचेदं राक्षसी मे गृहे प्रिया ॥ ६ ॥
वारयिष्यति मा यातु भक्षयिष्यति तां हि सा।
तस्मात् कृष्णगताः सन्तु सर्वा दन्तविवर्जिताः ॥ ७ ॥

तब भीमसेनने यों उत्तर दिया—'श्रीकृष्ण! मेरे घरमें मेरी राक्षसी पत्नी रहती है। वह इसे 'यहाँ मत आ' ऐसा कहकर मना कर देगी और यदि नहीं मानेगी तो वह इसे खा जायगी। इसलिये बिना दाँतोंवाली सभी स्त्रियाँ आप श्रीकृष्णको ही प्राप्त हों ॥ ६-७ ॥

कृष्णाभिसक्तचित्तानां सर्वत्र सुखमेव हि।
रुक्मिणीप्रमुखा भार्याः साध्व्यः कृष्णैकमानसाः ॥८॥
यत्र नेर्ष्यां करिष्यन्ति प्रीयतां तेन केशवः।
अन्योऽन्यं च सपत्नीनां क्रोधश्चात्र न दृश्यते ॥ ९ ॥
यत्र जाम्बवती भार्या सेर्ष्या नैव प्रजायते।
त्वामाश्रित्य प्रवर्तन्ते ये जनाः सर्वतः सुखम् ॥ १० ॥
सम्भवन्ति कथं भूमौ पुनस्ते गतिवर्जिताः।

'क्योंकि जिनका चित्त श्रीकृष्णमें आसक्त है, उनके लिये सर्वत्र सुख-ही-सुख है। आपकी रुक्मिणी आदि सती-साध्वी पत्नियोंका मन एकमात्र आपमें ही आसक्त रहता है, अतः वे वहाँ (इन स्त्रियोंको देखकर भी) ईर्ष्या नहीं करेंगी। इससे आप भगवान् केशव ही इन स्त्रियोंको ग्रहण करके प्रसन्न हों; क्योंकि आपके यहाँ पत्नियोंमें परस्पर सौतियाडाह नहीं देखा जाता। यहाँतक कि ऋक्ष-कन्या जाम्बवती भी आपकी पटरानी है। वह भी किसीके प्रति ईर्ष्यायुक्त नहीं होती। ठीक ही है, जो लोग आपका आश्रय लेकर व्यवहारमें प्रवृत्त होते हैं, उन्हें सब तरहसे सुख ही प्राप्त होता है। फिर वे इस भूतलपर गतिहीन कैसे हो सकते हैं' ॥८–१०½॥

श्रीकृष्ण उवाच

स्थानभ्रष्टाङ्गनांश्चैवोद्धर्ता तु पवनात्मजः ॥ ११ ॥
तस्माद् याहि भीमसेनं समानय ममान्तिकम्।

श्रीकृष्णने कहा—भीमसेन! यह तो तुम ठीक ही कहते हो, परंतु स्थानभ्रष्ट लोगोंके उद्धारकर्ता तो पवननन्दन भीमसेन ही हैं, इसलिये शम्भलि! तू भीमसेनके पास जा और उन्हें मेरे पास ले आ ॥ ११½ ॥

एवं तां तु समादिश्य यावद् गच्छति केशवः॥ १२ ॥
सूतिका पतिता तावत् करभेणातिगामिना।
सा चाह देवकीबालं सूतिकां मां समुद्धर ॥ १३ ॥

उस कुट्टिनीको यों आदेश देकर श्रीकृष्ण ज्यों ही आगे बढ़े त्यों ही एक दाई अत्यन्त वेगसे चलनेवाले ऊँटकी पीठसे पृथ्वीपर गिर पड़ी। तब उसने देवकीनन्दनसे कहा—'प्रभो! मैं बालकोंके जन्म-समयमें परिचर्या करनेवाली दाई हूँ, अतः मेरा उद्धार कीजिये ॥ १२-१३ ॥

वसुदेवादयो ये च यादवाः सन्ति तेऽनघ।
तेषां मां सूतिकां विद्धि त्वन्मातृपरिवञ्चिता ॥ १४ ॥
देवकी त्वां तु सुषुवे नाहूतास्मि तदैव तु।

'अनघ! आपको विदित होना चाहिये कि ये वसुदेव आदि आपके जितने यदुवंशी हैं, मैं उन सबकी सूतिका हूँ। केवल आपकी माताने ही मुझे छोड़ दिया है; क्योंकि देव! जिस समय देवकी देवीने आपको जन्म दिया था, उस समय उन्होंने मुझे नहीं बुलाया था ॥ १४½ ॥

आत्मानमात्मना देव सृजस्येते च यादवाः ॥ १५ ॥
तथा सृजन्ति नात्मानं तेन जीवामि माधव ।
सूतिकावचनं श्रुत्वा कृष्णः प्राह वृकोदरम् ॥ १६ ॥

'प्रभो ! आप तो स्वयं ही अपने-आपको प्रकट कर लेते हैं, परंतु ये समस्त यदुवंशी उस तरह अपने स्वरूपको (मेरी सहायताके बिना ही) प्रकट न कर सकें—ऐसी कृपा कीजिये; क्योंकि माधव ! मैं इसी सूतिका-कर्मसे ही अपना जीवन-निर्वाह करती हूँ ।' दाईकी बात सुनकर श्रीकृष्णने भीमसेनसे कहा ॥ १५-१६ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

उत्थापयाशु भीमैनां वसुदेवं विलोकय ।
सम्प्राप्तं ददृशे भीमः समुत्थाप्य हि सूतिकाम्॥ १७ ॥

श्रीकृष्ण बोले—भीमसेन ! इस दाईको जल्दी उठा दो; क्योंकि उधर देखो, वसुदेवजी आ रहे हैं । तब भीमसेनने उस दाईको उठाकर देखा कि वसुदेवजी आ पहुँचे हैं॥१७॥

वसुदेवं नमस्कृत्य कृष्णभीमौ महामती ।
बद्धाञ्जलिपुटावग्रे प्रोचतुर्वचनं शुभम् ॥ १८ ॥

फिर तो महाबुद्धिमान् श्रीकृष्ण और भीमसेन वसुदेवजी-को प्रणाम करके हाथ जोड़कर उनके आगे खड़े हो गये और यह सुन्दर वचन बोले—॥ १८ ॥

गच्छाव धर्मराजानं त्वयाऽऽज्ञप्तौ परंतप ।
वसुदेवस्तु तत्रैव प्रागात् कृष्णं समादिशत् ॥ १९ ॥

'परंतप ! आपकी आज्ञा हो तो हम दोनों धर्मराज युधिष्ठिरके पास जायँ ।' तब वसुदेवजीने वहीं आकर श्रीकृष्णको आज्ञा दी ॥ १९ ॥

वसुदेव उवाच

गच्छ गच्छ हृषीकेश मयाऽऽज्ञप्तो गजाह्वयम् ।
पुनरागमनं तेऽस्तु कुरु वाक्यं ममाच्युत ॥ २० ॥

वसुदेवजीने कहा—हृषीकेश ! मैंने तुम्हें आज्ञा दे दी । तुम हस्तिनापुर जाओ और पुनः शीघ्र ही वहाँसे लौटो । साथ ही अच्युत ! मेरी इस आज्ञाका पालन करना ॥

ये वेदनिरता विप्राः शास्त्राध्ययनतत्पराः ।
दानं तेभ्यस्त्वया देयं सदाचारपरेषु च ॥ २१ ॥

'जो वेदोक्त धर्मोंका पालन करनेवाले, शास्त्रोंके अध्ययन-में तत्पर और सदाचारपरायण हों, ऐसे विप्रोंको तुम्हें अवश्य दान देना चाहिये ॥ २१ ॥

परापवादविमुखाः शिष्टाचारपरास्तथा ।
नेतव्याः सहितास्ते वै समलोष्टाश्मकाञ्चनाः ॥ २२ ॥

'परायी निन्दा करनेमें जिनकी अभिरुचि न हो, जो शिष्टाचारपरायण हों और जिनकी दृष्टिमें मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्ण एक-समान हों, ऐसे सत्पुरुषोंको तुम्हें अपने साथ ले जाना चाहिये ॥ २२ ॥

न वस्त्रमलिने दानं नैवाचारविवर्जिते ।
देयं त्वया च राज्ञा वै सत्पात्रं पूज्यते यतः ॥ २३ ॥

'मलिन वस्त्र धारण करनेवाले तथा आचारहीनको दान नहीं देना चाहिये; क्योंकि तुम तथा राजा युधिष्ठिर सत्पात्रकी ही पूजा करनेवाले हो ॥ २३ ॥

क्षत्रियाश्चापि नेतव्या दानधर्मपरायणाः ।
युद्धे कुशलिनः शूराः क्षत्रधर्मरतास्तथा ॥ २४ ॥

'क्षत्रियोंमें भी उन्हींको अपने साथ ले जाना चाहिये, जो दानधर्ममें तत्पर रहनेवाले, युद्धकलामें निपुण, शूरवीर और क्षत्रिय-धर्मका पालन करनेवाले हों ॥ २४ ॥

वृथाभिमानिनो ये च स्त्रीजिता दुष्टसङ्गिनः ।
विकत्थनाश्च संत्याज्यास्तथाऽऽत्मस्तुतिकारकाः॥२५॥

'जो व्यर्थ ही अभिमान करनेवाले, स्त्रीके वशीभूत, कुसंगका सेवन करनेवाले, बकवादी तथा अपने मुखसे अपनी ही प्रशंसा करनेवाले हों, उनका परित्याग कर देना उचित है ॥

परोपतापिनो ये च सदा कामपरा जनाः ।
एवंविधा न संग्राह्याः श्वशुराहृतवृत्तयः ॥ २६ ॥

'जो परसंतापी, सदा कामपरायण और श्वशुरद्वारा प्राप्त हुई सम्पत्तिसे जीविका चलानेवाले हों, ऐसे लोग भी ग्रहण करनेयोग्य नहीं हैं ॥ २६ ॥

जामातृजेन वित्तेन ये जीवन्ति नराधमाः ।
अपुत्रस्य मृतस्येह ये गृह्णन्ति धनं छलात् ॥ २७ ॥
द्यूतकर्मरता नित्यमपरीक्षितकारिणः ।
गुर्विणीं येऽभिगच्छन्ति सुपर्वविमुखास्तथा ॥ २८ ॥
ऋतुकालं संत्यजन्ति ये वै मोहपरायणाः ।
नारीभिः सहिताश्चैव ये प्रकुर्वन्ति भोजनम् ॥ २९ ॥

तथोत्सृजन्ति ये वीर्यं कुयोनौ पापबुद्धयः।
परस्त्रियाभितप्यन्ते पिशुनाः पापबुद्धयः ॥ ३० ॥
तथान्ये पापिनो ये च ये च सज्जननिन्दकाः।
महापातकिनो ये च विशुद्धान् दूषयन्ति ये ॥ ३१ ॥
मासोपवासिनीं साध्वीं कामयाना हि पापिनः।
अर्थिनं धनसम्पन्नो विमुखं यः करोति वै ॥ ३२ ॥
दरिद्रस्तपसा हीनः कातरो बहुजल्पकः।
पापिष्ठा चापि या नारी पतिवञ्चनतत्परा ॥ ३३ ॥
गृहकार्येषु विमुखा सत्यशौचविवर्जिता।
न नेतव्या त्वया सार्धं कदाचिन्मधुसूदन ॥ ३४ ॥

जो नराधम जामाताद्वारा उपार्जित धनसे जीवन-निर्वाह करते हैं, जो यहाँ पुत्रहीन मृतकके धनको छलपूर्वक हथिया लेते हैं, जो सदा जुआ खेलनेमें तत्पर, बिना सोचे-विचारे काम करनेवाले, उत्तम-उत्तम पर्वोंके पालनसे विमुख और गर्भिणी स्त्रीके साथ समागम करनेवाले हैं, जो मोहपरायण पुरुष ऋतुकालके समय अपनी स्त्रीसे समागम नहीं करते, जो स्त्रियोंके साथ बैठकर एक थालमें भोजन करते हैं, जो पापबुद्धि पुरुष कुयोनिमें वीर्यपात करते हैं, परायी स्त्रीको देखकर काम-संतप्त हो जाते हैं, चुगलखोर हैं, जिनकी बुद्धि सदा पापकर्ममें लगी रहती है, इनके सिवा जो अन्य प्रकारके पाप कर्म करनेवाले हैं, जो सज्जनोंकी निन्दा करनेवाले, महापातकी और निर्दोषपर भी दोषारोपण करनेवाले हैं, जो पापी मास-पर्यन्त व्रतोपवासमें तत्पर रहनेवाली सती-साध्वी स्त्रीकी कामना करनेवाले हैं, जो धन-सम्पन्न होकर भी याचककी याचना पूर्ण नहीं करते, जो दरिद्र होनेपर भी तपस्या न करनेवाला, भयभीत और बहुत बक-बक करनेवाला हो तथा जो पापिनी नारी अपने पतिको धोखा देनेवाली, गृह-कार्यसे जी चुराने-वाली और सत्य, शौच आदि उत्तम आचरणोंसे रहित हो, मधुसूदन! ऐसे लोगोंको तुम्हें कभी भी अपने साथ नहीं ले जाना चाहिये ॥ २७–३४ ॥

जैमिनिरुवाच

एवं ब्रुवन्तं पितरं नमस्कृत्य जनार्दनः।
ततः प्रदक्षिणीकृत्य स्फुटं वचनमब्रवीत् ॥ ३५ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर जनार्दनने ऐसी बात कहनेवाले अपने पिता वसुदेवजीको प्रणाम करके उनकी प्रदक्षिणा की और स्पष्ट शब्दोंमें कहा ॥ ३५ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

सर्वं तात करिष्यामि त्वयोक्तं परमं हितम्।
महापातकिनस्त्यक्त्वा याम्यहं तं युधिष्ठिरम्॥ ३६ ॥

श्रीकृष्ण बोले—तात! आपके कहे हुए वचन मेरे लिये परम हितकारी हैं। मैं उन सबका पूर्णरूपसे पालन करूँगा। मैं ऐसे महापापियोंका परित्याग करके ही राजा युधिष्ठिरके पास जाऊँगा ॥ ३६ ॥

भीम उवाच

वसुदेवेन वृद्धेन यदुक्तं वचनं तव।
त्याज्याः सर्वे जना भूमौ तत् साहसतरं मम ॥ ३७ ॥

भीमसेनने कहा—श्रीकृष्ण! वृद्ध वसुदेवजीने आपसे जो बात कही है, उसके अनुसार तो पृथ्वीपर सभी लोग आपके लिये त्याज्य ही सिद्ध होते हैं। यह तो मुझे बड़े साहसकी बात प्रतीत होती है ॥ ३७ ॥

साधवो यत्र तिष्ठन्ति तत्र वासश्च ते सदा।
किमत्र चित्रं गोविन्द दुष्टे चित्तं निवेशय ॥ ३८ ॥

जहाँ सत्पुरुष निवास करते हैं, वहाँ तो आप सदा रहते ही हैं; इसमें कौन-सी विचित्रता हुई? गोविन्द! (विचित्रता तो इसमें है कि) आप पापियोंके उद्धार करनेमें अपना मन लगावें ॥

उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः।
अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते ॥ ३९ ॥
समदृष्टिर्भवाशु त्वं सर्वभूतेषु केशव।

क्योंकि जो अपना उपकार करनेवालेके प्रति सद्भाव दिखाता है, उसकी उस साधुतामें क्या विशेषता हुई (ऐसा तो होना ही चाहिये); परंतु जो अपने अपकारीके प्रति उपकार करता है, सत्पुरुष उसीको साधु कहते हैं। अतः केशव! आप शीघ्र ही समस्त प्राणियोंके प्रति समान-दृष्टि रखनेवाले हों ॥ ३९½ ॥

भीमसेनवचः श्रुत्वा वसुदेवादयस्तथा ॥ ४० ॥
साधु साध्विति संवाच्य निर्ययुस्ते पुरीं प्रति।

भीमसेनकी बात सुनकर वसुदेव आदि सभी लोगोंने 'ठीक है, ठीक है' ऐसा कहकर उनकी प्रशंसा की और पुरीको लौट जानेके लिये प्रस्थित हुए ॥ ४०½ ॥

रामेण सहितो गच्छन् वसुदेवो महामनाः ॥ ४१ ॥
उवाच वाक्यं गोविन्दं विह्वलः स्नेहलालसः।

उस समय जब महामना वसुदेवजी बलरामजीके साथ चलनेके लिये उद्यत हुए, तब स्नेहसे विह्वल होकर श्रीकृष्ण-से बोले ॥ ४१½ ॥

वसुदेव उवाच

किं करोमि हृषीकेश त्वद्वियोगेन जीवितम् ॥ ४२ ॥
न समर्थो धारयितुं यथा दशरथः पुरा।
सम्यक् त्यजामि कार्यं चेत् सर्वं नष्टं भविष्यति॥ ४३॥

वसुदेवजीने कहा—हृषीकेश ! जैसे पूर्वकालमें राजा दशरथ भगवान् रामके वियोगमें अपना जीवन नहीं रख सके थे वैसे ही इस समय तुम्हारे वियोगमें मैं जीवन धारण करने-में असमर्थ हो गया हूँ; परंतु क्या करूँ ? यदि सहसा मैं प्राण-त्याग कर देता हूँ तो सब कार्य नष्ट हो जायगा ॥४२-४३॥

राज्ञा दशरथेनैव वियोगाद् राघवस्य हि।
शोकभावेन संत्यक्तं जीवितं स्वं प्रियं भुवि ॥ ४४ ॥

राजा दशरथ ही एक ऐसे पुत्रवत्सल पिता थे, जिन्होंने अपने पुत्र श्रीरामसे वियोग होनेके कारण शोकाभिभूत होकर अपने प्यारे प्राणोंका इस भूतलपर परित्याग कर दिया था (मुझमें वैसा स्नेह कहाँ है ?) ॥ ४४ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं परिष्वज्यात्मजं ततः।
विससर्जाशु गमने परिवारसमन्वितम् ॥ ४५ ॥

इतनी बात कहकर वसुदेवजीने अपने पुत्र श्रीकृष्णको हृदयसे लगा लिया और फिर शीघ्र यात्रा करनेके लिये परिवार-सहित उन्हें विदा कर दिया ॥ ४५ ॥

जैमिनिरुवाच

ततः कृच्छ्रेण महता वसुदेवः पुरं ययौ।
भीमेन सहितः कृष्णस्तथान्तःपुरसंयुतः ॥ ४६ ॥
यावद् गच्छति मार्गेऽसौ तावद् दृष्टं महत् सरः।
हंसकारण्डवाकीर्णं चक्रवाकोपशोभितम् ॥ ४७ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर वसुदेवजी बड़ी कठिनाईसे द्वारकापुरीको लौटे । भगवान् श्रीकृष्ण भी अपने रनवास तथा भीमसेनके साथ आगे बढ़ गये। वे ज्यों ही कुछ दूरका मार्ग तै कर चुके, त्यों ही उन्हें एक विशाल सरोवर दिखायी पड़ा, जिसमें हंस और बत्तक आदि पक्षी सब ओर फैले हुए थे। वह चकवोंसे सुशोभित हो रहा था ॥

अम्लानपङ्कजां तत्र ददृशे पद्मिनीं ततः।
समाहूयाब्रवीत् तत्र रुक्मिणीं भीष्मकात्मजाम् ॥४८॥

उस सरोवरमें श्रीकृष्णने एक कमलिनीको देखा, जिसका पुष्प कुम्हलाया हुआ नहीं था। तब उन्होंने भीष्मककुमारी रुक्मिणीको वहाँ बुलाकर कहा ॥ ४८ ॥

वासुदेव उवाच

इमां त्वं पश्य सुभगे रविभार्यामनिन्दिताम्।
गजैर्गृहीतां मुक्तां च मरालैर्विदलीकृताम् ॥ ४९ ॥
चञ्चरीकद्वयवृतां स्त्रीणां चित्तं तु चञ्चलम्।
निजं नाथं वञ्चयित्वा रमयन्ति परं जनम् ॥ ५० ॥

वासुदेव बोले—सुभगे ! तुम सूर्यकी इस अनिन्द्य सुन्दरी भार्या कमलिनीको तो देखो, इसे गजराजोंने अपने सूँडरूपी हाथोंसे पकड़ा और फिर मुक्त कर दिया है। हंसोंने इसे रौंदकर विदलित (पत्रहीन या नग्न) कर दिया है। यह दो रस-लोलुप भ्रमरोंसे घिरी हुई है । अहो ! स्त्रियोंका चित्त बड़ा चञ्चल होता है। वे अपने पतिको धोखा देकर पर-पुरुष-के साथ रमण करती हैं ॥ ४९-५० ॥

न विलोक्य निजं कान्तं म्लायन्ति च निशागमे।
हृदये कलुषं गृह्य षट्पदं प्रस्वपन्ति च ॥५१॥
नाथागमे प्रहृष्यन्ति चित्रं मे योषितां मनः।

ये कमलिनियाँ सायंकालमें अपने प्रियतम सूर्यको न देखकर मलिन हो जाती हैं; किंतु उस काले-कलूटे भ्रमरको हृदयसे लगाकर सो जाती हैं। फिर प्रातःकाल अपने स्वामी सूर्यके आने या उदय लेनेपर पुनः हर्षसे खिल उठती हैं। अतः मुझे तो स्त्रियोंका मन विचित्र ही प्रतीत होता है ॥

पद्मिनीनां सम्भवस्तु पङ्कादिह विलोक्यते ॥ ५२ ॥
कलुषं मानसं स्त्रीणां निदानादेव दृश्यते।

कमलिनियोंकी उत्पत्ति यहाँ कीचड़से ही देखी जाती है, उत्पत्तिस्थान अथवा कुलकी मलिनतासे ही स्त्रियोंका मन दूषित होता देखा जाता है ॥ ५२½ ॥

चञ्चलेन परामृष्टा दिवा कम्पत्यहर्निशम् ॥ ५३ ॥
प्राणनाथभयाद् भीता लक्ष्यते सधना यथा।

यह नलिनी दिनमें चञ्चल भौंरेद्वारा स्पर्श की जानेके कारण अपने प्राणनाथके डरसे डरी हुई-सी रात-दिन उसी

तरह काँपती रहती है, जैसे धनी पुरुष अपने धनके विनाशके भयसे सदा काँपते रहते हैं ॥ ५३½ ॥

वासुदेववचः श्रुत्वा रुक्मिणी वाक्यमब्रवीत् ॥ ५४ ॥
स्मितं कृत्वा विशालाक्षी वक्रोक्त्या केशवं प्रति ।

श्रीकृष्णकी बात सुनकर विशाल नेत्रोंवाली रुक्मिणीजी मुसकराकर उन केशवसे वक्रोक्तिपूर्वक कहने लगीं ॥ ५४½ ॥

रुक्मिण्युवाच

हरिं जानाति नाथं वै पद्मिनी पद्मलोचना ॥५५॥
स्वसुतानागतान् मत्वा पुष्णात्येषा गृहागतान् ।
पुत्रपौत्रादिकान् नाथ षट्पदादीञ्जनार्दन ॥ ५६॥

रुक्मिणी बोलीं—नाथ ! जनार्दन ! यह कमलनयनी पद्मिनी (कमलिनी अथवा 'पद्मिनी' नायिका रुक्मिणी) हरि (सूर्य अथवा श्रीकृष्ण) को ही अपना स्वामी समझती है। यह इन भ्रमरोंको घरपर आये हुए अपने पुत्र समझकर इनका पोषण करती है । ये भ्रमर आदि इसके पुत्र-पौत्र आदि हैं, जिनका यह पालन करती है ॥ ५५-५६ ॥

स्तनौ रुदन्तौ पद्मिन्याः पिबेते भ्रमराविमौ ।
प्राणनाथ समीपे तु षट्पदौ बालकाविव ॥ ५७ ॥

प्राणनाथ ! देखिये न उस कमलिनीके समीप ये दोनों भ्रमर बालककी भाँति रो रहे हैं और उसका स्तन-पान कर रहे हैं ॥ ५७ ॥

दोषः कश्चात्र गोपाल रुचिरं क्रियतेऽनया ।
दूरे प्रियं तथा वीक्ष्य कुरुते चञ्चलं मनः ॥ ५८ ॥
न तु नाथं वञ्चयति रममाणा परात्परम् ।
एतत् सतां मतं नाथ पद्मिन्याश्चरितं महत् ॥ ५९ ॥

गोपाल ! इसमें दोषकी क्या बात है; यह तो वह बहुत अच्छा कर रही है । अपने प्रियतम पतिको परदेश गया जानकर इसका मन चञ्चल या व्याकुल हो उठा है, अपने कम्पनद्वारा यह उसी व्याकुलताको व्यक्त करती है । एकसे दूसरे पुरुषोंके साथ रमण करती हुई पतिको धोखा नहीं दे रही है । नाथ ! कमलिनीका यह महान् चरित्र तो सत्पुरुषोंको भी मान्य है ॥ ५८-५९ ॥

कथं न म्लायते कृष्ण नारी नाथः परां व्रजेत् ।
रात्रौ विरहिणी बालं गृहीत्वा पश्य षट्पदम् ॥ ६०॥
नित्यं निद्रां च कुरुते ह्येष धर्मः सनातनः ।

श्रीकृष्ण ! (आप जो यह कहते हैं कि यह सायंकालमें मलिन हो जाती है तो भला) जिस नारीका पति रातमें परायी स्त्रीके पास चला जाय, उसका मन कैसे उदास नहीं होगा ? देखिये न, यह बेचारी विरहिणी पद्मिनी रातमें नित्य ही (पतिके लिये चिन्तामग्न हो) अपने भ्रमररूपी बालकोंको गोदमें लेकर सोती है । यही नारीका सनातन धर्म है ? ॥

पद्मिनीकुचमादाय तप्तोऽलिर्विरहाग्निना ॥ ६१ ॥
कुर्वन् कृष्णमुखं प्राप्य मृतोऽसौ षट्पदो यदि ।
ये कृष्णहृदया देव ते तिष्ठन्ति कथं विभो ॥ ६२ ॥

यह भ्रमर कमलिनीके स्तनके सम्पर्कमें आकर उसकी विरहाग्निसे संतप्त हो उठा है । देव ! यदि काले मुखवाले उसके स्तनोंका पान करके (अथवा कृष्णमुख (सर्प) का सम्पर्क पाकर) यह भ्रमर मर गया तो विभो ! जो काले हृदयवाले(अथवा श्रीकृष्णमें ही मन लगानेवाले) हैं, वे भला, कैसे चैनसे रह सकते हैं ? ॥ ६१-६२ ॥

प्रियोदये विकसिता यदि गोविन्द पद्मिनी ।
जायते कमलं चास्याः समारोहति शङ्करम् ॥ ६३ ॥
विलोक्य नलिनीं नाथ विस्मितोऽसि वदाधुना ।

गोविन्द ! अपने प्रियतम सूर्यके उदय होनेपर यदि कमलिनी विकसित हो जाती है तो उससे कमल-पुष्पकी उत्पत्ति होती है, जो पूजाके समय भगवान् शङ्करके मस्तकपर चढ़ता है । नाथ ! अब बताइये, आप पद्मिनीको देखकर क्यों विस्मित हो गये हैं ? ॥ ६३½ ॥

धरा हरिपदक्षुण्णा सरजा हि पुराभवत् ॥ ६४ ॥
तस्या रजस्तु पतितं जले हरिपदच्युतम् ।
ततो जलरजोभ्यां हि जातः पङ्कः किलाच्युत ॥ ६५ ॥

प्रभो ! पूर्वकालमें यह पृथ्वी वराहरूपधारी भगवान् विष्णुके चरणोंसे खुदकर धूलसे युक्त हो गयी थी । उसकी वह धूलि श्रीहरिके पदोंसे झरकर जलमें गिरी । अच्युत ! निश्चय ही उसी जल और धूलिके संयोगसे पंककी उत्पत्ति हुई है ॥ ६४-६५ ॥

पङ्कं विलोक्य न चिरान्निदानं तु निरीक्ष्य हि ।
ज्ञायते तव वाक्येन भीमसेनस्य शृण्वतः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार कीचड़को देखकर और उसकी उत्पत्तिके कारणपर भी विचार करके भीमसेनके सुनते-सुनते आपने जो

बात कही है, उसीसे शीघ्र ही मेरी कही हुई सारी बातें भी स्पष्टतः समझमें आ जाती हैं ॥ ६६ ॥

यथा सर्वगतस्त्वं मां न तथा वेत्ति किं भवान् ।
स्त्रियस्तु बह्व्यः सन्त्यन्या मां जानासि दिने दिने ६७

प्रभो ! जैसे आप सर्वव्यापी हैं, उसी तरह सर्वज्ञ भी तो हैं। फिर मैं जैसी हूँ वैसी ही क्या आप मुझे नहीं जानते हैं ? यद्यपि आपके अन्य भी बहुत-सी पत्नियाँ हैं, तथापि मैं कैसी हूँ, इस बातको तो आप प्रतिदिन जानते (या परखते) हैं॥

न त्वदन्यं हि पश्यामि चिन्तयन्ती जनार्दनम् ।
यत् किंचिद् दृश्यते लोके त्वया व्याप्तं विभाति मे॥६८॥

मैं आपके अतिरिक्त किसी अन्य पुरुषको देखती ही नहीं, सदा आप जनार्दनका ही चिन्तन करती रहती हूँ। संसारमें जो कुछ भी दीखता है, वह सब मुझे आपसे ही व्याप्त प्रतीत होता है ॥ ६८ ॥

जैमिनिरुवाच

इति तस्या वचः श्रुत्वा कृष्णस्तोषसमन्वितः ।
समुत्तीर्य हयात् तस्मात् समाहूय बलाधिपम् ॥६९॥
अब्रवीत् केशवस्तं वै भेरीं वादय मा चिरम् ।
कृतवर्मा तथा चक्रे गोविन्दवचनान्नृप ॥ ७० ॥

जैमिनिजी कहते हैं—राजन् ! रुक्मिणीकी बात सुनकर श्रीकृष्ण परम संतुष्ट हुए। तदनन्तर उस घोड़ेसे उतरकर केशवने सेनापतिको बुलाया और उसे आज्ञा दी—'सेनापते ! अब पड़ाव डालनेके लिये नगाड़ा बजाओ, विलम्ब मत करो।' नरेश्वर! श्रीकृष्णकी आज्ञा पाकर कृतवर्माने तुरंत वह कार्य सम्पन्न किया ॥ ६९-७० ॥

रात्रौ परिजनेनाथ सहितो न्यवसद्धरिः ।
कृताह्निकः स प्रभाते सैन्यं निजमचोदयत् ॥ ७१ ॥

तत्पश्चात् रातमें श्रीहरिने अपने परिजनोंके साथ वहीं निवास किया और प्रातःकाल उठकर संध्या आदि आह्निक कृत्योंको समाप्त करके अपनी सेनाको प्रस्थान करनेकी आज्ञा दी ॥ ७१ ॥

शनैः शनैश्च सम्प्राप्तो देशं धर्मेण पालितम् ।
मार्गे यान्तं हरिं वीक्ष्य पामराः पशुपालकाः ॥ ७२ ॥
व्रजौकसश्च पश्यन्ति कृष्णं दधिभृतः परे ।
गोपाला वंशहस्ताश्च गुञ्जाभूषणभूषिताः ॥ ७३ ॥

धीरे-धीरे चलकर वे धर्मराज युधिष्ठिरद्वारा सुरक्षित देशमें जा पहुँचे। मार्गमें निम्न वर्गके पशुपालक, व्रजवासी तथा दूसरे दही बेचनेवाले ग्वाले भी श्रीकृष्णको देखने लगे। उस समय उनके हाथमें बाँसकी बाँसुरी थी और वे गुंजा (घुँघुची) का आभूषण धारण किये हुए थे ॥ ७२-७३ ॥

वादित्राणि स्वकान्येव वादयन्ति पुनः पुनः ।
मुख्योऽस्माकमसौ गोपो नन्दपुत्रो न संशयः॥ ७४ ॥

वे बारंबार अपने-अपने बाजे बजा रहे थे और कह रहे थे कि 'निस्संदेह ये नन्दबाबाके पुत्र हैं। ये हमलोगोंमें प्रधान गोप हैं' ॥ ७४ ॥

इति ब्रुवन्तस्ते कृष्णं समालिङ्ग्य पथि स्थिताः ।
पृच्छन्ति च हसन्त्यन्ये साट्टहासं मुहुर्नृप ॥ ७५ ॥
दध्योदनं प्रयच्छन्ति प्रणिपातपुरःसरम् ।
पश्य कृष्णाद्य मे वंशवीणामतिमनोरमाम् ॥ ७६ ॥

ऐसा कहते हुए वे श्रीकृष्णका गाढ़ आलिङ्गन करके मार्गमें खड़े हो गये। राजन् ! उनमेंसे कुछ तो उनका कुशल-मङ्गल पूछने लगे और दूसरे बारंबार ठहाका मारकर हँसने लगे। कुछ गोप प्रणामपूर्वक दही-भात देने लगे। कुछ कहने लगे—'श्रीकृष्ण ! आज मेरी इस बाँसकी बाँसुरीको तो देखो, यह कैसी सुन्दर है' ॥ ७५-७६ ॥

गावो मया रक्ष्यमाणा देव यान्ति ततस्ततः ।
इदानीं ताः स्वयं प्राप्तास्त्वां विलोक्यातिदुर्धरम् ।७७।

कुछ कहने लगे—'देव ! मेरे रक्षा करनेपर भी गायें इधर-उधर चली जाती थीं, परंतु आज आप अत्यन्त दुर्धर्ष वीरको देखकर वे स्वयं ही लौट आयी हैं ॥ ७७ ॥

भीतास्त्रस्ताधुना व्याघ्रैर्लोभमोहमयैर्हरे ।
मोचिता मम गोविन्द त्वया मित्रेण साम्प्रतम् ॥ ७८ ॥

'हरे ! इस समय मेरी गौएँ लोभ-मोहरूपी सिंहोंसे अत्यन्त भयभीत तथा उद्विग्न थीं, परंतु गोविन्द ! आज मित्रस्वरूप आपके द्वारा वे भयसे मुक्त कर दी गयीं॥ ७८ ॥

कथं हयं समारूढः स्त्रीभिश्चैव समन्वितः ।
कुतो मणिस्त्वया लब्धः कौस्तुभः कुञ्जरा इमे ॥ ७९ ॥
क्व यासि कृष्ण पदकं कुतो लब्धं त्वया हृदि ।
तत्रापरोऽब्रवीद् वाक्यं मूढ वेत्सि न केशवम्॥ ८० ॥

यावद्धृदि पदं लग्नं श्रीवत्सं च द्विजन्मनः।
तावच्छ्रीमानयं जातः सर्वं च लभते हरिः ॥ ८१ ॥

कुछ पूछने लगे—'आप कैसे घोड़ेपर चढ़े हुए हैं और इन स्त्रियोंके साथ कहाँ जा रहे हैं? आपको यह कौस्तुम मणि कहाँसे प्राप्त हुई है और ये हाथी कहाँ मिले हैं? श्रीकृष्ण! आप कहाँ जाते हैं? वक्षःस्थलपर सुशोभित होता हुआ यह पदक आपको कहाँसे मिला है?' यह सुनकर वहाँ दूसरा गोप बोल उठा—'मूर्ख! तू इन केशवको नहीं जानता? अरे जबसे इनकी छातीपर ब्राह्मण भृगुजीका चरण-चिह्न श्रीवत्सके रूपमें अङ्कित हुआ, तबसे ये श्रीहरि श्री-सम्पन्न हो गये और इन्हें सब कुछ प्राप्त हो जाता है' ॥

जैमिनिरुवाच

गोपानां तद् वचः श्रुत्वा प्रहृष्टो भगवानभूत्।
सर्वान् सम्पूज्य चापश्यत् स्त्रियश्चैव समागताः ॥८२॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! ग्वालोंका वह कथन सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण परम प्रसन्न हुए। उन्होंने उन सबका आदर-सत्कार किया और फिर वे वहाँ आयी हुई स्त्रियोंकी ओर देखने लगे ॥ ८२ ॥

पात्रहस्ताः सदीपास्ताः कृष्णदर्शनलालसाः।
सत्वरं माधवं द्रष्टुमाव्रजन्ति निजाद् गृहात् ॥ ८३ ॥

उन गोपियोंके मनमें श्रीकृष्ण-दर्शनकी लालसा भरी हुई थी। उनके हाथोंमें थालियाँ थीं। वे उनमें दीप जलाकर लायी थीं। सभी गोप-बालाएँ माधवको देखनेके लिये अपने घरसे बड़ी उतावलीके साथ चली आ रही थीं ॥ ८३ ॥

काचिद् गृहे प्रकुर्वाणा मथनं सा प्रधाविता।
गोमयेनापि लिप्ताङ्गी काचित् कृष्णं समागता ॥ ८४ ॥

कोई गोपी घरमें दही मथ रही थी, वह उसे यों ही छोड़कर दौड़ पड़ी। किसीके अङ्गोंमें गोबर पुते हुए थे, वह उसी दशामें श्रीकृष्णके समीप आ पहुँची ॥ ८४ ॥

एका कृष्णस्य केशे स्वां स्रजं च प्रददौ नृप।
सर्वकर्माणि संत्यज्य काचित् प्राप्ता हरिं प्रति ॥ ८५ ॥

राजन्! एक गोपीने अपनी पहनी हुई माला श्रीकृष्णके केशोंपर डाल दी। कोई अपने घरके सारे काम-काजको छोड़-कर श्रीकृष्णके समीप आ पहुँची ॥ ८५ ॥

काचिद् रजोवती गोपी चचाल कृष्णसंनिधिम्।
अपरा प्राह तां यान्तीं रजः प्रक्षाल्य गम्यताम् ॥८६॥
सरजाश्चाद्य वै सुभ्रु गच्छती किं न लज्जसे।

किसी गोपीके वदनमें धूलि लिपटी हुई थी, वह उसी अवस्थामें श्रीकृष्णके पास चल पड़ी। उसे जाती देखकर दूसरी गोपीने कहा—'अरी, सुन्दर भौंहोंवाली! पहले इस रजको धो ले, फिर गोविन्दके पास जा। क्या इस समय रजसे आवृत होकर जाते हुए तुझे लज्जा नहीं आ रही है?' ॥

गोप्युवाच

रजः प्रक्षालितं मूढे न तु तत् परिशाम्यति ॥ ८७ ॥
कर्मणा मलिनं गात्रं क्षालितुं नैव शक्यते।
जीवितं क्षपितं गेहे शेषं च कलुषं स्थितम् ॥ ८८ ॥
तस्माद् गच्छामि गोविन्दं रजसा चावृताधुना।
मलिनैर्गम्यते तत्र जलं यत्र हि पुष्कलम् ॥८९॥
शिलातले वा पीठे वा क्रियते मलनाशनम्।
पादपीठेऽद्य कृष्णस्य मलयुक्तं कलेवरम्।
विरजस्कं करोम्यद्य लज्जां संत्यज्य संसदि ॥ ९० ॥
इत्युक्त्वा प्रययौ चाथ श्रीकृष्णस्य समीपतः।

तब उस गोपीने उत्तर दिया—मूर्खे! मैंने रजको धोया है, परंतु वह मिट नहीं रही है। कर्मसे मलिन हुए शरीरको धोकर शुद्ध नहीं किया जा सकता। मैंने गृह-कार्योंमें ही आसक्त रहकर आजतक अपने जीवनको बरबाद कर दिया; जो शेष है वह भी कलुषित ही है; इसीलिये आज रज (धूल या रजोगुण) से आवृत होकर ही गोविन्दके पास जा रही हूँ; क्योंकि जहाँ पर्याप्त जल होता है, मलिन प्राणी वहीं जाते हैं। वहाँ किसी पत्थरकी शिलापर अथवा लकड़ी-के पाटेपर पटककर जिस तरह कपड़ेकी मैल साफ की जाती है, उसी तरह आज मैं इस समाजमें लज्जाका परित्याग करके अपने इस मलयुक्त शरीरको श्रीकृष्णके चरणपीठपर पछारकर रजसे रहित (स्वच्छ या शुद्ध) करूँगी। ऐसा कहकर वह श्रीकृष्णके समीप चली गयी ॥ ८७—९०½ ॥

उवाच केशवं चान्या प्रहसन्ती पुनः पुनः ॥ ९१ ॥
नवनीतं गृहाण त्वं कर्मणा यन्मयाऽऽहृतम्।
यशोदा त्वन्मुखे देव नवनीतं ददौ पुरा ॥ ९२ ॥
तया दृष्टं जगत् सर्वं तमहं त्वां विलोकये।
तया यथा पुरा दृष्टं तथाहमवलोकये ॥ ९३ ॥

त्वदन्यः कश्च गोविन्द जगदास्ये प्रदर्शयेत् ।

तबतक दूसरी गोपी आकर बारंबार हँसती हुई श्रीकृष्णसे बोली—'देव ! मैं स्वयं परिश्रम करके जो माखन निकालकर लायी हूँ, उसे आप ग्रहण करें । पहले यशोदाने भी तो आपके मुखमें मक्खन दिया था, उस समय उन्हें आपके मुखमें सारा जगत् दीख पड़ा था । आज उन्हीं आप (श्रीकृष्ण) को मैं देख रही हूँ । यशोदाजीने पहले जैसा जगत् देखा था, वैसा ही मैं भी देखूँगी । गोविन्द ! आपके अतिरिक्त दूसरा कौन है, जो अपने मुखमें सारे संसारको दिखा सके ?' ॥ ९१–९३½ ॥

तावच्चान्या समागत्य दृष्ट्वा कृष्णं च हर्षिता ।
नमस्कृत्य स्थिता राजन् सर्वं विस्मृत्य कर्मजम्॥ ९४ ॥
भयं गोविन्दमासाद्य तदद्भुतमिवाभवत् ।

राजन् ! तबतक वहाँ दूसरी गोपी आकर श्रीकृष्णका दर्शन करके अत्यन्त प्रसन्न हुई । वह अपने कर्मजनित भयको भूलकर गोविन्दके पास जा उन्हें प्रणाम करके सामने चुपचाप खड़ी हो गयी । यह एक अद्भुत-सी बात थी ॥

जैमिनिरुवाच

ततः प्राप्तो महाबुद्धिर्भगवान् देवकीसुतः ॥ ९५ ॥
कालिन्दीतीरसांनिध्ये यत्र रम्यं महद् वनम् ।
संस्थाप्य वीणकं रम्यं सैन्यं तत्र न्यवेशयत् ।
सुहृज्जनं समाहूय वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ९६ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर महाबुद्धिमान् भगवान् देवकीनन्दन श्रीकृष्ण यमुना-तटके समीप उस स्थान-पर पहुँचे, जहाँ एक विशाल रमणीय वन था । वहाँ उन्होंने अपने सुन्दर खेमेको गड़वाकर सेनाका पड़ाव डाल दिया और फिर सुहृदोंको बुलाकर इस प्रकार कहा—॥ ९५-९६ ॥

देवकीं मातरं प्राह यशोदां रुक्मिणीमपि ॥ ९७ ॥
कार्या भवद्भिः कुन्त्याश्च परिचर्या दिने दिने ।
भगिनी वसुदेवस्य जननी चार्जुनस्य च ॥ ९८ ॥
अन्या वृद्धतमाः प्राप्ताः सेवनीयाः प्रयत्नतः ।
अनसूयारुन्धती च ऋषिभार्याश्च शोभनाः ।

पहले उन्होंने माता देवकी, यशोदा और महारानी रुक्मिणीसे कहा—'आपलोगोंको प्रतिदिन कुन्तीदेवीकी सेवा करनी चाहिये; क्योंकि वे हमारे पिता वसुदेवजीकी बहिन और अर्जुनकी माता हैं । तथा अनसूया, अरुन्धती आदि कल्याणी ऋषिपत्नियाँ एवं और भी जो बड़ी-बूढ़ी नारियाँ वहाँ आयी हों, वे भी आपलोगोंद्वारा सेवा करने योग्य हैं ॥

प्रद्युम्नप्रमुखाः सर्वे शृण्वन्तु वचनं मम ॥ ९९ ॥
धर्मराजस्य च पुरे बहुलोकसमागमे ।
बहुवीरयुते रम्ये यज्ञोत्सवविनोदिते ।
गुरूणां च प्रकर्तव्यं भवद्भिः पूजनं तथा ॥१००॥

'अब प्रद्युम्न आदि सब लोग मेरी बात सुनें—धर्मराज युधिष्ठिरका रमणीय नगर इन दिनों अश्वमेध यज्ञके उत्सवसे आमोद-प्रमोदमय हो रहा है । वहाँ बहुत-से लोगोंका समागम होगा और बहुत-से शूरवीर भी पधारेंगे, अतः तुमलोगोंको वहाँ सभी गुरुजनोंका सब प्रकारसे आदर-सत्कार करना चाहिये ॥ ९९-१०० ॥

तावत् तेजांसि वीराणां यावत् पार्थो न दृश्यते ।
सर्वतीर्थानि गर्जन्ति तावत् पापप्रणाशने ॥१०१॥
यावन्न सिंहगे जीवे दृश्यते गौतमी नदी ।

'अन्य वीरोंके तेज तभीतक प्रकाशित होते हैं, जबतक अर्जुनका दर्शन नहीं होता । (उनके सामने आते ही सभी-के तेज शान्त हो जाते हैं, ठीक उसी तरह जैसे) पाप नाश करनेके लिये दूसरे समस्त तीर्थ तभीतक गरजते हैं, जबतक कि बृहस्पतिके सिंह राशिमें स्थित होनेपर गौतमी (गोदावरी) नदीका दर्शन नहीं हो जाता ॥ १०१½ ॥

प्रद्युम्नेन यथा राष्ट्रे स्थीयते राजलीलया ॥१०२॥
तथात्र शक्यते नैव स्थातुं धर्मपुरेऽधुना ।
न कदाचिद् भवान् प्राप्तः पुरे हि गजसाह्वये ॥१०३॥
यत्र भीमो विद्यमानो महाबुद्धिः सदा शुचिः ।
जननीं भवतां देवीं पार्षतीं भगिनीं मम ॥१०४॥
सम्भावयतु यज्ञेऽस्मिन् भामया सहिताः शुभाः ।
अयुतेनापि नारीणां सदा तिष्ठति सा वृता ॥१०५॥
दीपहस्ता यज्ञकाले भावयन्तु च पार्षतीम् ।
अहं तत्र गमिष्यामि प्रथमं धर्मनन्दनम् ॥१०६॥
सत्कर्तुं स्वजनं तं तु यूयं गच्छत पृष्ठतः ।

'प्रद्युम्न अपने राज्यमें जिस तरह राजसी ठाट-बाटसे रहते हैं, उस प्रकार इस समय वहाँ धर्मराज युधिष्ठिरके हस्तिनापुरमें रहना उचित नहीं है; क्योंकि जहाँ महाबुद्धिमान्

तथा सदा पवित्र आचरण करनेवाले भीमसेन रहते हैं, उस हस्तिनापुरमें तुम पहले कभी नहीं गये हो। तुम इस यज्ञमें पृषत-नन्दिनी द्रौपदीका सम्मान करना; क्योंकि वह देवी हमारी बहिन तथा तुमलोगोंकी माताके समान है। वह शुभ-लक्षणा द्रौपदी सदा दस हजार नारियोंसे घिरी रहती है। यज्ञके अवसरपर सत्यभामासहित सभी स्त्रियाँ हाथमें दीपक लेकर द्रौपदीका सम्मान करें। मैं अपने प्रेमी धर्मनन्दन युधिष्ठिरका सत्कार करनेके लिये पहले ही वहाँ जाऊँगा। तुम लोग मेरे पीछे आना' ॥ १०२–१०६½ ॥

एवं संदिश्य तान् सर्वान् भीमं संस्थाप्य वीणके ॥१०७॥
एकाकी हयमारुह्य प्रययौ हस्तिनापुरम्।
वासुदेवो महाबुद्धिः परिमेयपुरःसरः ॥१०८॥

महाबुद्धिमान् श्रीकृष्णने इस प्रकार उन सबको आदेश देकर भीमसेनको खेमेमें ही ठहरा दिया और स्वयं आगे चलनेवाले कुछ इने-गिने घुड़सवारोंको साथ लेकर घोड़ेपर सवार हो वे अकेले ही हस्तिनापुरको चल दिये ॥१०७-१०८॥

प्रविशन्तं हरिं वीक्ष्य नागरो हि महाजनः।
हर्षेण महता युक्तः सम्मुखोऽभूज्जनाधिप ॥१०९॥

जनेश्वर! नगरमें प्रवेश करते हुए श्रीकृष्णको देखकर नागरिकोंका महान् जनसमूह अत्यन्त हर्षसे उल्लसित होकर उनका स्वागत करनेके लिये सामने उपस्थित हुआ ॥१०९॥

ब्राह्मणा याज्ञिकाः सर्वे वचनं चेदमब्रुवन्।
अस्माभिः क्रियते कर्म भुवि स्वर्गेच्छया सदा ॥११०॥
अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैः स्वर्गास्ते हरिणा कृताः।
यज्ञभुग् यज्ञकर्ता च फलदाता च कर्मणाम् ॥१११॥
सोऽयमायाति यज्ञेशोऽनेकयज्ञफलप्रदः।
कथं धूमान्धया दृष्ट्या दृश्यते यज्ञनायकः ॥११२॥

उस समाजमें जो याज्ञिक ब्राह्मण थे, वे सब इस प्रकार कहने लगे—'हमलोग इस भूतलपर जिन स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्तिकी इच्छासे अग्निष्टोम आदि यज्ञोंद्वारा सदा कर्म करते रहते हैं, उन स्वर्गादि लोकोंके रचयिता तो श्रीकृष्ण ही हैं। ये ही यज्ञोंके भोक्ता, कर्ता और कर्मफलदाता हैं। अनेक प्रकारके यज्ञोंका फल प्रदान करनेवाले और यज्ञोंके स्वामी वे ही ये श्रीकृष्ण स्वयं यहाँ पधार रहे हैं। भला, जिनकी दृष्टि हवनके धुएँसे अंधी हो गयी है, उन हमलोगोंको इन यज्ञेश्वरका दर्शन कैसे हो सकता है ॥ ११०–११२ ॥

यथा भक्तेन पार्थेन दर्शितोऽयं जनार्दनः।
न तथा पावकेनापि बहुसंतर्पितेन च ॥११३॥

'यद्यपि हमलोगोंने इन अग्निदेवको बहुत तृप्त किया है, तथापि ये उन जनार्दनका वैसा दर्शन नहीं करा सके, जैसा कि भक्त पार्थने हमें इनका प्रत्यक्ष दर्शन कराया है ॥

कृष्णं न वेत्ति किं वह्निः सप्तजिह्वोऽपि विश्रुतः।
क्षीरं पिबति वै साक्षाद् द्विजिह्वः कुरुते विषम् ॥११४॥
सप्तजिह्वः कथं कृष्णं दर्शयेत् कृष्णवर्त्मना।

'क्या ये अग्निदेव श्रीकृष्णको नहीं जानते हैं? (जो इनका दर्शन नहीं करा सके।) ये तो सात जीभवाले भी सुने जाते हैं। भला, जब दो जीभवाला सर्प साक्षात् (अमृत तुल्य) दूधको पीकर उसे विष बना देता है, तब जो अपनी सात जीभोंसे धूमका पान करते रहते हैं, वे अग्निदेव धूम-मार्गसे श्रीकृष्णका दर्शन कैसे करा सकते हैं?' ॥ ११४½ ॥

तत्राब्रवीद् द्विजः कश्चिन्न दोषः पावकस्य सः ॥११५॥
अस्माकं चास्ति दोषोऽयं कर्मादीनामनर्पणात्।

तबतक वहाँ कोई दूसरा ब्राह्मण बोल उठा—'यह अग्निदेवका दोष नहीं है, यह तो हमारा ही दोष है, जो हमने अपने कर्मों तथा उनके फलोंको श्रीकृष्णके अर्पण नहीं कर दिया' ॥ ११५½ ॥

ततोऽन्यः प्राह तान् सर्वान् दृश्यतां देवकीसुतः ॥११६॥
यज्ञजं सुकृतं चास्मै कृष्णायाशु प्रदीयताम्।
तेन स्वर्गेण किं कार्यं यस्मात् पतनजं भयम् ॥११७॥
निर्भयं विचरिष्यामः साम्प्रतं हरिणा वयम्।

तदनन्तर एक दूसरा ब्राह्मण उन सबसे कहने लगा—'सज्जनो! इन देवकीनन्दनका दर्शन करो और यज्ञानुष्ठानसे प्राप्त हुआ अपना समस्त पुण्य इन श्रीकृष्णको समर्पित कर दो। हमें उस स्वर्गको लेकर क्या करना है, जहाँसे सदा गिरनेका भय बना रहता है। (पुण्य अर्पण कर देनेसे) इस समय हमलोग श्रीकृष्णके साथ निर्भय होकर विचरेंगे' ॥

जैमिनिरुवाच

एवं ब्रुवन्तस्तेऽन्योन्यं निरीक्ष्य यदुनन्दनम् ॥११८॥
ऊचुः कृष्णं तदा सर्वे यदा देवेन वन्दिताः।
चराचरस्य देव त्वं गमनागमनादिकम् ॥११९॥
छिन्धि विप्राशिषः प्राप्य स्वस्ति तेऽस्तु जगत्पते।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! उन यदुनन्दनको देखकर वे ब्राह्मण जब परस्पर ऐसी बातें कर रहे थे, इसी बीचमें भगवान् श्रीकृष्णने उनकी वन्दना की । तब वे सब उनसे बोले—'देव ! हम ब्राह्मणोंका आशीर्वाद पाकर आपका कल्याण हो । जगत्पते ! आप चराचर विश्वके प्राणियोंके आवागमनरूपी बन्धनको काट दीजिये' ॥ ११८-११९½ ॥

जैमिनिरुवाच

वृष्णिवीरं हि ददृशुस्तदा संन्यासिनो हि ते ॥१२०॥
पादानतं प्रब्रुवाणा नमो नारायणेति च ।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय जो वहाँ संन्यासी उपस्थित थे, उन लोगोंने भी वृष्णिवंशके उत्तम वीर श्रीकृष्णका दर्शन किया । तब श्रीकृष्णने 'ॐ नमो नारायणाय' ऐसा कहकर उनके चरणोंमें प्रणिपात किया ॥

संन्यासिन ऊचुः

नारायणस्त्वमात्मानमात्मनासि नमस्कृतः ॥१२१॥
नारायणेति हि गिरास्माभिर्वक्तुं न पार्यते ।
यतो वाचो निवर्तन्ते स भवान् पादयोर्नतः ॥१२२॥
वेदान्तवेद्यमभयं प्रत्यक्षं त्वामुपास्महे ।
द्वे रूपे वासुदेवस्य चलं चाचलमेव च ॥१२३॥
चलं संन्यासिनां रूपमचलं प्रतिमादिकम् ।
प्रणवाभ्यासनिरताः प्रणवोऽपि पदाम्बुजम् ॥१२४॥
त्वदीयं चिन्तयत्येव सदाद्यापि न वेत्ति तत् ।

तदनन्तर उन संन्यासियोंने कहा—भगवन् ! आप ही नारायण हैं और आपने अपनेको ही नमस्कार किया है । नारायणतत्त्व क्या है ? यह हम अपनी वाणीद्वारा नहीं बता सकते । जहाँसे वाणी उन्हें न पाकर लौट आती है, वे ही नारायण-स्वरूप आप हमारे चरणोंमें नतमस्तक हुए हैं । आप वेदान्त शास्त्र-द्वारा जानने योग्य अभयपद—परब्रह्मस्वरूप हैं, उन्हीं आपकी इस समय हमलोग प्रत्यक्ष उपासना कर रहे हैं । आप वासुदेवके दो रूप हैं—एक चल और दूसरा अचल । संन्यासियोंका रूप आपका चल स्वरूप है और प्रतिमा आदि अचल । हमलोग प्रणवके अभ्यासमें तत्पर रहनेवाले हैं । किंतु प्रणव भी आपके चरणकमलोंका सदैव ध्यान करता ही रहता है; फिर भी आजतक उसके तत्त्वको न जान सका ॥

श्रीकृष्ण उवाच

कर्मणः फलसंन्यासात् पुष्टं विष्णोः कलेवरम् ॥१२५॥
भवद्भिर्ध्यानसंयुक्तैर्विश्वरूपमयं कृतम् ।
हंसा यथा भवन्तश्च तथा कृष्णोऽस्मि भूतले ॥१२६॥
आवयोः सङ्गतिश्चास्तु रम्ये धर्मपुरे सदा ।

श्रीकृष्णने कहा—संन्यासियो ! सदा ध्यानमें तत्पर रहनेवाले आपलोगोंने कर्मफलके त्यागद्वारा भगवान् विष्णुके विश्वरूपमय शरीरको परिपुष्ट किया है । जैसे आपलोग परमहंस वृत्ति धारण करके पृथ्वीपर विचरते रहते हैं, उसी प्रकार मैं भी भक्तोंके हितार्थ श्रीकृष्णरूपमें अवतीर्ण हुआ हूँ । अतः धर्मराजके इस रमणीय नगरमें हमारी और आप लोगोंकी संगति सदा बनी रहे । ॥ १२५-१२६½ ॥

जैमिनिरुवाच

अनुज्ञातस्ततः कृष्णो राजमार्गे जगाम सः ॥१२७॥
प्रासादस्थाश्च पश्यन्ति योषितश्चारुलोचनाः ।
पण्याङ्गनाश्च गोविन्दं विलोक्येदमथाब्रुवन् ॥१२८॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण उन संन्यासियोंसे अनुमति ले राजमार्गपर आगे बढ़े । उस समय सुन्दर नेत्रोंवाली नगरकी स्त्रियाँ अटारियोंपर चढ़कर उनका दर्शन कर रही थीं । उसी समय वेश्याएँ गोविन्दको देखकर ऐसा कहने लगीं ॥ १२७-१२८ ॥

पण्याङ्गना ऊचुः

कथमायाति गोविन्दो गृह्णीतेति सकृच्छुभः ।
दाता हि कामुको धूर्तः कृष्णः कमललोचनः ॥१२९॥
पेशलः सबलः श्रीमाँल्लुब्धः स्त्रीषु निरन्तरम् ।

वेश्याएँ बोलीं—सखी ! न जाने ये शुभलक्षण गोविन्द इधर कैसे आ रहे हैं, इन्हें एक बार पकड़ तो लो । (इसमें भय करनेकी कोई बात नहीं है, क्योंकि) ये कमल-नयन श्रीकृष्ण बड़े दाता, कामी, धूर्त, मनोहर, बलवान्, श्रीसम्पन्न और स्त्रियोंपर सदा लुभाये रहनेवाले हैं ॥ १२९½ ॥

शम्भल्युवाच

एवं पुराणपुरुषं वृथा नारीजनो हृदि ॥१३०॥
धर्तुं प्रयत्नं कुरुते नायं धर्तुं भवेत् क्षमः ।
स मुक्तस्तत् कथं मुग्धे मुक्तो धर्तुं न शक्यते ॥१३१॥

यह सुनकर एक कुटनीने कहा—यह नारी-समाज अपने हृदयमें ऐसे पुराणपुरुषको पकड़नेके लिये व्यर्थ ही

प्रयत्न कर रहा है। ये पकड़े जाने योग्य नहीं हैं। मुग्धे! जो विषय-वासनाओंसे सर्वथा मुक्त हैं, ऐसे पुरुषका पकड़ा जाना कैसे सम्भव हो सकता है ॥ १३०-१३१ ॥

षोडशस्त्रीसहस्राणि येन भुक्तानि भूतले।
यूना पुराद्य वृद्धेन बहुपुत्रेण किं फलम् ॥१३२॥
तथापि कारणं त्वेकं केशवग्रहणे हि नः।
मुक्ताः सर्वा भविष्यामः सकामास्तेन सङ्गताः ॥१३३॥

जिन्होंने पहले युवावस्थामें इस पृथ्वीपर सोलह हजार स्त्रियोंका उपभोग किया है, जिनके बहुत-से पुत्र उत्पन्न हो चुके हैं तथा जो अब वृद्ध हो चले हैं, ऐसे पुरुषको पकड़नेसे कौन-सा प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? तथापि इन केशवको ग्रहण करनेमें हमलोगोंको एक ही लाभका कारण प्रतीत होता है कि यदि हमलोग इनके साथ सकामभावसे भी सम्पर्क स्थापित करें तो भी सब-की-सब मुक्त हो जायँगी ।१३२-१३३।

तस्मात् पुराणपुरुषात् परमार्थो हि गृह्यताम्।
पुमान् युवास्तु वृद्धो वा न सङ्गे सस्पृहा वयम् ॥१३४॥

इसलिये इन पुराणपुरुषसे (तो मुक्तिरूप) उत्तम अर्थ ही ग्रहण करना चाहिये। ये तरुण पुरुष हों अथवा वृद्ध, इससे हमें क्या लेना है; क्योंकि अब तो हमलोगोंके मनमें पुरुष-समागमकी लालसा ही नहीं रह गयी है ॥ १३४ ॥

युवतीभिर्न वृद्धाभिर्मोचनीयो जनार्दनः।
कृष्णाद् वृद्धो न वै कश्चिद् दृश्यतेऽत्र महाजनः ॥१३५॥

अतः चाहे तरुणी स्त्रियाँ हों या बूढ़ी, उन्हें श्रीकृष्णको कदापि नहीं छोड़ना चाहिये; क्योंकि यहाँ हमें श्रीकृष्णसे बड़ा-बूढ़ा दूसरा कोई महाजन (महापुरुष) नहीं दीख रहा है ॥ १३५ ॥

ब्रूते महाजनो मन्दः साम्प्रतं देवकीसुतम्।
जानाम्यहं यथा चास्य चेष्टितं वेत्ति नापरा ॥१३६॥

आजकल यह मूर्ख जनसमुदाय इन्हें देवकीका पुत्र बतलाता है; परंतु इनका वृत्तान्त जैसा मैं जानती हूँ, वैसा कोई दूसरी स्त्री नहीं जानती ॥ १३६ ॥

कुब्जा च कामिता येन तथा वानरकन्यका।
स्त्रीसमूहमिमं रम्यं स कथं परिहास्यति ॥१३७॥

भला, जिन्होंने कुब्जा तथा वानर-कन्या जाम्बवतीकी भी कामना की है, वे रमणियोंके इस रमणीय समूहको कैसे छोड़ सकेंगे? ॥ १३७ ॥

जैमिनिरुवाच

एवं ब्रुवाणा सा कृष्णं सर्वाभिः सहिताग्रतः।
नमस्कृत्य स्थिता हृष्टा देवेनापि प्रतोषिता ॥१३८॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! यों कहती हुई वह शम्भली (कुटनी) सभी नारियोंको साथ ले श्रीकृष्णको प्रणाम करके हर्षपूर्वक उनके आगे खड़ी हो गयी। तब भगवान् श्रीकृष्णने भी (मधुर वाणीद्वारा) उसे संतुष्ट किया ॥ १३८ ॥

ततः कृष्णस्य पुरतः स्थितो वन्दिगणो महान्।
तेषां वृद्धतमः प्राह संस्तुवञ्छ्रीपतिं मुहुः ॥१३९॥

तदनन्तर श्रीकृष्णके समक्ष वंदियोंका महान् दल उपस्थित हुआ। उनमें जो सबसे बूढ़ा था, वह उन लक्ष्मीपतिकी बारंबार स्तुति करता हुआ कहने लगा ॥ १३९ ॥

वन्दिराज उवाच

प्राप्तोऽयं देवकीपुत्रः कृष्णः कंसनिषूदनः।
अद्यार्थिनां च सर्वेषां भवदैन्यं गमिष्यति ॥१४०॥

वंदिराज बोला—ये श्रीकृष्ण, जो देवकीदेवीके पुत्र और कंसका संहार करनेवाले हैं, बड़े भाग्यसे यहाँ पधारे हैं। आज सभी याचकोंकी संसारमें फँसे रहनेकी दीनता दूर हो जायगी ॥ १४० ॥

इदं ममेति जल्पन्तो जना मोहरुजा वृताः।
कृष्णवैद्येन ते सर्वे स्वनामौषधदायिना ॥१४१॥

सत्यं वच्मि न संदेहो भवन्ति च निरामयाः।
व्याधयः कामजाः सर्वे संक्षयं यान्ति चिन्तनात् ॥१४२॥

'यह मेरा है' यों कहते हुए जो लोग मोहरूपी रोगसे ग्रस्त हो गये हैं, वे सभी इन वैद्यराज श्रीकृष्णकी कृपासे, जो नाम-रूपी औषध प्रदान करनेवाले हैं, निस्संदेह नीरोग हो जायँगे, यह मैं सत्य कह रहा हूँ; क्योंकि कामनाओंसे उत्पन्न होनेवाली जितनी व्याधियाँ हैं, वे सभी इनका ध्यान करनेसे नष्ट हो जाती हैं ॥ १४१-१४२ ॥

ब्रह्मायुरिति वै शब्दं कथं ब्रूमो हरिं प्रति।
नाभिपङ्कजमध्यात् तु समुत्पन्नः पितामहः ॥१४३॥

भला, जिनके नाभिकमलके मध्यभागसे ब्रह्माकी उत्पत्ति

हुई है, उन श्रीहरिके प्रति मैं 'ब्रह्मायुरस्तु—ये ब्रह्माकी-सी आयुवाले हों' इन शब्दोंका प्रयोग कैसे करूँ ? ॥ १४३ ॥

पिता पितामहः कोऽस्य वर्तते तन्न विद्महे ।
नामग्रहणमेवास्य कर्तव्यं किल सिद्धये ॥१४४॥

इनके पिता और पितामह कौन हैं। इसका तो हमें पता नहीं है, परंतु (इतना अवश्य जानते हैं कि) अपनी मनोरथ-सिद्धिके लिये निश्चय ही इनके नामका आश्रय लेना चाहिये ॥ १४४ ॥

महिमानं न जानामि नाम्नोऽस्य गदितुं भुवि ।
नामानि सुबहून्यस्य प्रतापजनितानि च ॥१४५॥

इनके नामोंकी महिमाका वर्णन करनेमें मैं सर्वथा असमर्थ हूँ; क्योंकि भूतलपर इनके बहुत-से ऐसे नाम प्रसिद्ध हैं, जो इनके प्रतापसे प्रकट हुए हैं ॥ १४५ ॥

नीतं निगममालोक्य शङ्खेनादिझषोऽभवत् ।
मानुषाणां कथं मध्ये वर्ण्यते मीनजन्म तत् ॥१४६॥

शंखासुरद्वारा वेदोंका अपहरण हुआ देखकर ये आदि-मत्स्यके रूपमें प्रकट हुए थे, उस मत्स्यावतारका वर्णन इन मनुष्योंके मध्यमें कैसे किया जा सकता है ? ॥ १४६ ॥

कूर्मः कोलोऽयमभवच्छ्रुतमेतस्य पौरुषम् ।
अर्धकेसरिवेषोऽयं विप्रोऽभूच्चैव वामनः ॥१४७॥

ये कच्छप और सूकरके रूपमें भी अवतीर्ण हुए थे। उन अवतारोंमें इन्होंने जो पुरुषार्थ किया था, वह हमने सुना है। इन्होंने ही आधा सिंह और आधा मनुष्य अर्थात् नृसिंह-का रूप धारण किया था और ये ही वामन ब्रह्मचारीके रूपमें भी प्रकट हुए थे ॥ १४७ ॥

एतानि किल जन्मानि श्रुत्वा चास्य महात्मनः ।
सर्वसम्पत्समायुक्तो भविष्यति न संशयः ॥१४८॥

महात्मा श्रीकृष्णके इन सभी अवतारोंका वर्णन सुनकर मनुष्य निश्चय ही सब प्रकारकी सम्पत्तियोंसे सम्पन्न हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥ १४८ ॥

मन्मुखाद् गतदोषस्तु किंचित्परमुखात् तथा ।
भविष्यति न संदेहः कृष्णः कोपं करिष्यति ॥१४९॥

बन्दिना मम जन्मानि कथितानि जनं प्रति ।
कुरूपाणि ध्रुवं मत्वा जिह्वां किं मे हरिष्यति ॥१५०॥

मेरे मुखसे तथा दूसरेके मुखसे इनके अवतारोंका थोड़ा-सा भी वर्णन सुननेवाला मनुष्य निस्संदेह पापरहित हो जायगा, परंतु श्रीकृष्ण यह समझकर मुझपर क्रोध करेंगे कि इस बंदीने जनताके समक्ष मेरे कुत्सित रूपवाले अवतारोंके रहस्यका उद्घाटन क्यों कर दिया ? क्या ऐसा मानकर ये अवश्य मेरी जीभ उखाड़ लेंगे ॥ १४९-१५० ॥

सर्वं हरति गोविन्दः शारीरं मानसं त्वघम् ।
नामानि कीर्तयिष्येऽहं राम रामेति वै पुनः ॥१५१॥

गोविन्द तो अपना नाम लेनेवालेके शारीरिक तथा मानसिक सभी पापोंका नाश कर देते हैं, इसलिये मैं 'राम, राम' कहकर निश्चय ही इनके नामोंका बारंबार कीर्तन करूँगा ॥ १५१ ॥

रामनाम्नापि सर्वज्ञः शङ्करः किल तुष्यति ।
तेन नाम्ना न किं तुष्येद् देवो गोपालमूर्तिमान् ॥१५२॥

क्योंकि जिस राम-नामके संकीर्तनसे सर्वज्ञ भगवान् शंकर संतुष्ट हो जाते हैं, उसीसे ये गोपालरूपधारी भगवान् श्रीकृष्ण क्यों नहीं प्रसन्न होंगे ? ॥ १५२ ॥

जैमिनिरुवाच

एवं चिन्तयमानं तं वारयामास केशवः ।
प्रददौ मुक्तमालां स्वां तस्मै कण्ठविलम्बिनीम् ॥१५३॥

जैमिनिजी कहते हैं— जनमेजय ! ऐसा सोच-विचार करते हुए उस बंदीको भगवान् केशवने आगे कहनेसे रोक दिया और गलेमें लटकते हुए अपने मुक्ताहारको उसे पुरस्कार-रूपमें प्रदान किया ॥ १५३ ॥

मुक्ताफलानि सर्वेषां दत्त्वा स प्रययौ नृप ।
धर्माधिकारिभिर्दृष्टः सर्वैस्तैः परिवारितः ॥१५४॥

राजन् ! इसी तरह सभी भाटोंको मोतियोंका ही पुरस्कार देकर ज्यों ही वे आगे बढ़े, त्यों ही धर्माधिकारियोंने उन्हें देख लिया। फिर तो वे सब उन्हें घेरकर खड़े हो गये ॥ १५४ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि श्रीकृष्णहस्तिनापुरप्रवेशो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें श्रीकृष्णका हस्तिनापुरप्रवेशविषयक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः

युधिष्ठिरके पूछनेपर महर्षि जैमिनिद्वारा स्मार्तोंके भाषणका वर्णन, नर्तकी और श्रीकृष्णका वार्तालाप, श्रीकृष्णका युधिष्ठिरके भवनमें प्रवेश और सत्कार, युधिष्ठिरका दलबलसहित यादवोंके सत्कारार्थ गङ्गातटपर जाना और वहाँ परस्पर मिलन, सत्यभामा-द्रौपदी-संवाद, उषाद्वारा द्रौपदी तथा कुन्तीका सत्कार, सत्यभामाका अश्व-को देखनेकी इच्छा प्रकट करना, श्रीकृष्णके कहनेसे युधिष्ठिरका अपने सैनिकोंको आदेश देना, नारियोंद्वारा घोड़ेका दर्शन, अनुशाल्वका आगमन और उसका यज्ञिय अश्वको पकड़कर सैनिकोंको आदेश देते हुए संग्राम-भूमिमें डटकर खड़ा होना

जनमेजय उवाच

ततः परं किमभवत् स्मार्तभाषितमादरम्।
किं जगाद स गोविन्दस्तन्मे ब्रूहि तपोधन ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—तपोधन ! तत्पश्चात् स्मार्तधर्मावलम्बी उन धर्माधिकारियोंने भगवान् श्रीकृष्णसे आदरपूर्वक क्या निवेदन किया और उन गोविन्दने उसके उत्तरमें उनसे क्या कहा, वह सब मुझे बताइये ॥ १ ॥

जैमिनिरुवाच

शृणु राजेन्द्र गोविन्दमब्रुवंस्ते च यद् वचः।
महता चैव हर्षेण धर्मराजपुरे तदा ॥ २ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—राजेन्द्र ! उस समय धर्मराजके नगरमें उन स्मार्तोंने अत्यन्त हर्षपूर्वक श्रीकृष्णसे जो बातें कही थीं, उन्हें सुनो ॥ २ ॥

स्मार्ता ऊचुः

सम्यगाचारकरणाद् वर्त्तनात् सम्यगेव नः।
सत्प्रायश्चित्तदानाद् वै त्वमस्माभिर्विलोक्यसे ॥ ३ ॥

स्मार्तोंने कहा—भगवन् ! सदाचारका सम्यक्रूपसे पालन करनेसे, उसे भलीभाँति व्यवहारमें लानेसे, पापोंका प्रायश्चित्त करनेसे एवं दान देनेसे हमलोगोंको आपका दर्शन प्राप्त हुआ है ॥ ३ ॥

नृपाज्ञया जनाः सर्वे धर्ममार्गे नियोजिताः।
धर्मसंरक्षणार्थं हि त्वया जन्मकृतं भुवि ॥ ४ ॥

प्रभो ! राजा युधिष्ठिरकी आज्ञासे इस समय सारा जन-समुदाय धर्ममार्गपर नियुक्त किया गया है; क्योंकि आपने भी तो धर्मकी रक्षाके लिये ही इस भूतलपर अवतार धारण किया है ॥ ४ ॥

कुर्वन्ति पातकं ये च ब्रह्महत्यादिकं हरे।
ब्रह्महा हेमहारी च सुरापो गुरुतल्पगः ॥ ५ ॥
तत्संसर्गी पञ्चमस्तु महापातककारकाः।
त्वन्नामग्रहणादेव पूताः कृष्ण भवन्ति ते ॥ ६ ॥

हरे ! जो ब्रह्महत्या आदि महान् पापोंको करनेवाले हैं तथा जो ब्राह्मणकी हत्या करनेवाला, स्वर्ण चुरानेवाला, मदिरा पीनेवाला, गुरुकी शय्यापर गमन करनेवाला और पाँचवाँ जो इनके संसर्गमें रहनेवाला है—ये सभी महान् पातक करनेवाले हैं, अतएव 'महापातकी' कहलाते हैं। श्रीकृष्ण ! ऐसे महापातकी भी आपके नाम-संकीर्तनसे ही पवित्र हो जाते हैं ॥ ५-६ ॥

एते पृच्छन्ति सर्वेऽस्मान् प्रायश्चित्तं हि कीदृशम्।
कृपया दीयतेऽस्माभिस्तेभ्यो नामाधिकं न हि ॥ ७ ॥

प्रभो ! जब ये सभी पापी हमलोगोंसे पूछते हैं कि हमारे पापोंका कौन-सा प्रायश्चित्त हो सकता है ? तब हमलोग कृपापूर्वक उनसे यही विधान बतलाते हैं कि हरि-नामसे बढ़कर दूसरा कोई प्रायश्चित्त नहीं है ॥ ७ ॥

पापकेन समं वीक्ष्य प्रायश्चित्तं प्रयोजयेत्।
एतानि पातकान्येव स्वल्पानि हरिनामतः ॥ ८ ॥
द्वादशाब्दमुखं तस्मात् तेषु तेषु समं भवेत्।
द्वादशाब्दमुखं कृत्वा गात्रं तेषां तु तिष्ठति ॥ ९ ॥

हरिनाम प्रगृह्णन्ति न तिष्ठति कलेवरम्।
न पापानि वसन्त्येव तस्मिन् देव जनार्दन ॥ १० ॥
एकस्तु संशयो घोरो न कथंचन गच्छति।
प्रायश्चित्तप्रदानेन सदास्मच्चित्तसंस्थितः ॥ ११ ॥

क्योंकि ये सभी पातक हरि-नामके सामने कुछ भी नहीं हैं; परंतु पापकी समताका विचार करके ही प्रायश्चित्तका प्रयोग करना चाहिये, इसीलिये उन-उन पापोंकी शान्तिके लिये हरि-नामके अतिरिक्त बारह वर्षोंमें पूर्ण होनेवाले दूसरे भी मुख्य-मुख्य प्रायश्चित्तोंका विधान है, जो उन पापोंकी समतामें आ सकते हैं; परंतु ऐसे प्रायश्चित्तोंके करनेपर भी उन पापियोंका शरीर रह जाता है—उन्हें पुनः जन्म लेना पड़ता है और जो हरि-नामका आश्रय ग्रहण कर लेते हैं, उनके शरीरमें तो पाप ठहरता ही नहीं; अतः उनका शरीर नहीं ठहरता—वे मुक्त हो जाते हैं। किंतु जनार्दन ! देव ! हमारे मनमें एक बहुत बड़ा संदेह समाया हुआ है, जो किसी प्रकार दूर नहीं हो रहा है। दूसरोंके लिये प्रायश्चित्तोंका विधान करते समय वह सदा हमारे चित्तमें बना रहता है ॥ ८–११ ॥

विष्णोर्नामानि ये मूढा न स्मरन्ति विमोहिताः।
तेषामिहात्महन्तॄणां प्रायश्चित्तं न विद्महे ॥ १२ ॥

(वह संशय यह है कि) जो मूर्ख विषय-विमुग्ध होकर भगवान् विष्णुके नामोंका स्मरण नहीं करते, उन आत्म-हत्यारोंके लिये यहाँ क्या प्रायश्चित्त हो सकता है, यह हम नहीं जानते ॥ १२ ॥

धर्मशास्त्राणि सर्वाणि वीक्षितानि पुनः पुनः।
प्रायश्चित्तानि दृष्टानि सर्वपातकहानि तु ॥ १३ ॥
न श्रुतं न च दृष्टं हि प्रायश्चित्तं जनार्दन।
त्वत्संस्मृतिविहीनानामधमानां कथंचन ॥ १४ ॥

हमने समस्त धर्मशास्त्रोंको बारंबार उलटकर देख लिया और उनमें सारे पातकोंका नाश करनेवाले प्रायश्चित्तोंको पाया भी; परंतु जनार्दन ! जो तुम्हारे स्मरणसे हीन अधम पुरुष हैं, उनके लिये कोई प्रायश्चित्त न तो हमने कहीं देखा है और न सुना ही ॥ १३-१४ ॥

जैमिनिरुवाच

एवंविधं वचः श्रुत्वा प्रसन्नः परमेश्वरः।
सहैव तैः प्रयातोऽग्रे दृष्टवान् नर्त्तकीगणान् ॥ १५ ॥
प्रवर्त्तमानान् नृत्येषु कृष्णागमनकाङ्क्षया।
षड्विधातालकेनाथ तृप्तस्तेन च केशवः ॥ १६ ॥

जैमिनिजी कहते हैं— जनमेजय ! उन स्मार्तोंके इस प्रकारके वचन सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण प्रसन्न हो गये और उन लोगोंके साथ ही आगे बढ़े। कुछ दूर जानेपर उन्हें नर्तकियोंकी मण्डलियाँ दिखायी पड़ीं, जो श्रीकृष्णके पधारने-की अभिलाषासे छः प्रकारके तालोंके साथ नृत्य कर रही थीं। उन्हें देखकर केशव तृप्त हो गये ॥ १५-१६ ॥

ततो माधवमालोक्य नर्त्तकी च करं विना।
वल्लीव नन्दने रम्ये सुमनोभिरलंकृता ॥ १७ ॥
नेत्राभ्यां षट्पदाभ्यां च भ्रममाणा पुनः पुनः।

तदनन्तर माधवको देखकर एक नर्तकी हाथोंसे भाव दिखाना बंद करके नेत्रोंसे ही भाव प्रकट करती हुई बारंबार घूम-घूमकर नाचने लगी, ठीक उसी तरह जैसे रमणीय नन्दन-वनमें पुष्पोंसे सुशोभित कोई लता नृत्य कर रही हो और उसपर दो भौंरे मड़रा रहे हों ॥ १७½ ॥

वंशकीचकनादेन मृदङ्गकलनिःस्वनैः।
तोषयन्ती हृषीकेशं मधुरं वाक्यमब्रवीत् ॥ १८ ॥

उस समय वह कीचक नामक बाँसकी बनी हुई बाँसुरीके सुरीले शब्दोंसे तथा मृदङ्गकी मधुर आवाजसे श्रीकृष्णको रिझाती हुई मधुर वचनोंमें बोली ॥ १८ ॥

नर्तक्युवाच

मां भ्रमन्तीं जना वीक्ष्य प्रहसन्ति तवाग्रतः।
न विदन्ति परं मूढा मद्भ्रमात् तुष्यते हरिः ॥ १९ ॥

नर्तकीने कहा—प्रभो ! आपके सामने मुझे नाचती हुई देखकर लोग मेरी हँसी उड़ा रहे हैं, परंतु इन मूर्खोंको पता नहीं है कि मेरे नाचनेसे श्रीहरि प्रसन्न हो रहे हैं ॥ १९ ॥

किं ध्यानं किं तपस्तीव्रं किं दानं किं च तद्व्रतम्।
यस्मिन् कृतेन गोविन्दो दृश्यते भुवि चक्षुषा ॥ २० ॥

जिसके करनेपर इस पृथ्वीपर दोनों नेत्रोंद्वारा भगवान् गोविन्दका दर्शन न हो सके, वह ध्यान, कठोर तप, दान तथा व्रत-उपवास किस कामका है ? ॥ २० ॥

ध्यानेन योगिनां नैव लीलया दृश्यते हरिः।
संस्थितं मद्भ्रमेणात्र सर्वे पश्यन्तु योगिनः ॥ २१ ॥

जो श्रीहरि योगियोंके ध्यान करते रहनेपर भी लीलापूर्वक उनके सामने प्रकट नहीं होते, वे ही मेरे नाचनेसे प्रसन्न होकर यहाँ प्रत्यक्ष खड़े हैं, इसे सारा योगिसमुदाय देख ले ॥ २१ ॥

नृत्यतां गायतां चैव नानावाद्यं प्रकुर्वताम् ।
यथा संतुष्यते देवो न ध्यानाद्यैरिति श्रुतम् ॥ २२ ॥

मैंने तो ऐसा सुन रखा है कि नाचने, गाने तथा अनेक प्रकारके बाजा बजानेवालोंसे भगवान् श्रीकृष्ण जैसा संतुष्ट होते हैं, वैसा ध्यान आदि साधनोंद्वारा नहीं होते ॥ २२ ॥

एकं सुदर्शनं चक्रं तव हस्ते जनार्दन ।
पश्य मत्पाणिपदयोर्धृतं चक्रचतुष्टयम् ॥ २३ ॥

जनार्दन ! आपके हाथमें केवल एक ही सुदर्शन चक्र रहता है, परंतु देखिये न, मैंने अपने हाथों तथा पैरोंमें (कड़ेके रूपमें) चार चक्र धारण कर रखे हैं ॥ २३ ॥

त्वया पादे धृता गङ्गा कपोले शिरसा मया ।
अचलस्त्वं हृषीकेश चञ्चलास्मि सदाबला ॥ २४ ॥

आपने गङ्गाजीको अपने पैरोंमें स्थान दिया है, परंतु मैं उन्हें (स्वेद-बिन्दुओंके रूपमें) अपने कपोलों तथा मस्तकपर धारण करती हूँ । हृषीकेश ! आप (अनन्त बलशाली होनेके कारण) अचल हैं और मैं अबला होनेके कारण चञ्चल ॥

त्वयैकं चाल्यते कृष्ण श्रूयते ब्रह्मगोलकम् ।
चाल्यन्ते पुरतस्तेऽद्य मयैते सप्त गोलकाः ॥ २५ ॥

श्रीकृष्ण ! सुना जाता है कि आप केवल इस एक ही ब्रह्माण्डगोलकका संचालन करते हैं, परंतु मैं आज आपके सामने ही इन सात गोलकोंका[1] संचालन कर रही हूँ ॥ २५ ॥

षड्विंशत्संख्यका भावास्तव दृष्टेरुदाहृताः ।
क्रियन्ते न मया तेऽत्र पश्याम्येकेन केशवम् ॥ २६ ॥

प्रभो ! आपकी दृष्टिके (अर्थात् आपके देखनेके लिये) छब्बीसों भाव[2] बतलाये गये हैं, परंतु मैं उन सबका यहाँ प्रदर्शन नहीं कर रही हूँ । केवल एक ही (उत्कण्ठा नामक) भावद्वारा मैं आप केशवको देख रही हूँ ॥ २६ ॥

नेत्राभ्यां कुसुमे कृष्ण गृहीते द्वे मया भुवः ।
पश्यामि त्वां तथैवात्र विस्मयः परमो हि मे ॥ २७ ॥

श्रीकृष्ण ! मैंने अपने नेत्रोंद्वारा पृथ्वीके दो पुष्पोंको ग्रहण कर लिया है अर्थात् मेरे नेत्र कमलके समान हैं । मैं उन्हीं नेत्रोंसे यहाँ आपको उसी कमलनयनके रूपमें देख रही हूँ, इससे मुझे परम आश्चर्य हो रहा है ॥ २७ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

पदानि मम गायन्ती नृत्यस्व त्वं वरानने ।
न गन्तव्यं त्वया क्वापि स्थातव्यं मद्गृहे सदा ॥२८॥

तब श्रीकृष्णने कहा—वरानने ! तू मेरे चरित्र-विषयक पदों (गीतों) का गान करती हुई नृत्य किया कर । तुझे अन्यत्र कहीं भी जानेकी आवश्यकता नहीं है । तू सदा मेरे गृहमें ही निवास कर ॥ २८ ॥

जैमिनिरुवाच

ततः प्रविष्टो भगवान् धर्मराजस्य मन्दिरे ।
ददर्श धृतराष्ट्रेण विदुरेण महात्मना ॥ २९ ॥
कृपेण सहितं वीरं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
नमस्कृत्याथ तान् सर्वानुपविष्टो वरासने ॥ ३० ॥
आलिङ्गय पाण्डवं वीरं माद्रीपुत्रौ तथापरान् ।
नमस्कृतश्च पार्थेन सर्वैस्तैर्जगतः पतिः ॥ ३१ ॥
धर्मराजेन चाघ्रातो मूर्ध्नि संतोषितो बहु ।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णने धर्मराज युधिष्ठिरके महलमें प्रवेश किया । वहाँ उन्होंने कुन्तीनन्दन वीरवर युधिष्ठिरको धृतराष्ट्र, महात्मा विदुर और कृपाचार्यके साथ बैठे हुए देखा । तत्पश्चात् वे उन सभी गुरुजनोंको प्रणाम करके तथा शूरवीर अर्जुन, माद्रीनन्दन नकुल-सहदेव एवं अन्य सभासदोंको भी हृदयसे लगाकर एक श्रेष्ठ आसनपर विराजमान हुए । तब अर्जुन तथा उन सभी लोगोंने जगदीश्वर श्रीकृष्णके चरणोंमें नमस्कार किया और युधिष्ठिरने उनका मस्तक सूँघकर उन्हें सब प्रकारसे संतुष्ट किया॥

कुन्तीं दृष्ट्वा च संवीक्ष्य द्रौपदीं सात्वतीमपि ।
युधिष्ठिरोऽपि संहृष्टः कृष्णं वचनमब्रवीत् ॥ ३२ ॥

---

१. हाथ, पैर, कटि, नितम्ब, ग्रीवा, स्तनद्वय और नेत्र—ये सात अङ्ग ही सात गोलक हैं ।

२. जहाँ प्रेमी प्रियतमको देखता है, वहाँ उसके तन-मनमें निम्नाङ्कित छब्बीस प्रकारके भाव उदित होते हैं । नर्तकी अपनी दृष्टिद्वारा उन सभी भावों या विकारोंको व्यक्त कर सकती है । वे भाव इस प्रकार हैं—निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, धृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, उत्सुकता, विरोध, अमर्ष, उग्रता, व्याधि, उन्माद, भास और वितर्क ।

उस समय कुन्ती, द्रौपदी तथा सात्वतवंशकी कुमारी सुभद्राको भी श्रीकृष्णके आगमनसे हर्षोत्फुल्ल हुई देखकर युधिष्ठिर भी बड़े प्रसन्न हुए और श्रीकृष्णसे बोले ॥ ३२ ॥

धर्मराज उवाच

कुशलं देवकीपुत्र वसुदेवमुखा जनाः ।
त्वं तु भीमेन चानीतो यज्ञेऽस्मिन् मामके शुभे ॥ ३३ ॥
देवकी च यशोदा च रोहिणी चैव केशव ।
मातरस्ते न सम्प्राप्ता नरा नार्यश्च मारिष ॥ ३४ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरने कहा—देवकीनन्दन ! वसुदेव आदि गुरुजन सकुशल तो हैं न ? केशव ! भीमसेन मेरे इस शुभ यज्ञमें सम्मिलित होनेके लिये आपको तो लिवा लाये, परंतु आर्य ! आपकी जो देवकी, यशोदा और रोहिणी आदि माताएँ, रुक्मिणी आदि पटरानियाँ तथा सुहृद्वर्गके जो अन्य स्त्री-पुरुष हैं, वे सब क्यों नहीं आये ? ॥ ३३-३४ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

वसुदेवश्च रामेण सहितः स्थापितः पुरे ।
अन्ये सर्वे च सम्प्राप्ता नरा नार्यश्च मारिष ॥ ३५ ॥
भीमेन सहिताः सर्वे सन्ति गङ्गातटे शुभे ।
अहमग्रे च सम्प्राप्तस्तव दर्शनलालसः ॥ ३६ ॥

तब श्रीकृष्णने कहा—आर्य युधिष्ठिर ! मैं बलरामजीके साथ वसुदेवजीको तो नगरमें ही छोड़ आया हूँ, शेष सभी नर-नारी यहाँ आये हुए हैं । वे सब भीमसेनके साथ गङ्गाजीके पवित्र तटपर ठहरे हुए हैं । केवल मैं ही पहले चला आया हूँ; क्योंकि मेरे मनमें आपके दर्शनकी तीव्र लालसा उत्पन्न हो गयी थी ॥ ३५-३६ ॥

धर्मराज उवाच

पश्य पार्थ यथा कृष्णो ब्रूते प्राप्ता हि यादवाः ।
नाथेनानेन हि वयं नूनं धन्यतराः क्षितौ ॥ ३७ ॥
निर्गच्छामोऽद्य वै तत्र यत्र ते सुहृदः स्थिताः ।

धर्मराजने कहा—अर्जुन ! निश्चय ही इन श्रीकृष्णको अपना स्वामी पाकर हमलोग इस भूतलपर परम धन्य हो गये हैं । देखो न, जैसा श्रीकृष्ण कह रहे हैं, उसके अनुसार प्रतीत होता है कि सभी यदुवंशी आ गये हैं । अतः अब हमलोगोंको वहीं चलना चाहिये, जहाँ हमारे वे सुहृद्जन ठहरे हुए हैं ॥

कुन्ती च सौबलेयी च द्रौपदीसहिताधुना ॥ ३८ ॥
देवकीं सम्मुखं यान्तु सत्कर्तुं स्वजनं च तम् ।
महाजनाश्च सर्वे वै निर्गच्छन्तु ममाज्ञया ॥ ३९ ॥

इस समय मेरी आज्ञासे द्रौपदीके साथ कुन्ती और सुबल-पुत्री गान्धारी देवकीका स्वागत करनेके लिये उनके सामने उपस्थित हों और सारा जनसमुदाय उस स्वजन-वर्गका समादर करनेके लिये नगरसे बाहर निकले ॥ ३८-३९ ॥

जैमिनिरुवाच

एवं संदिश्य धर्मात्मा सह कृष्णेन निर्ययौ ।
यौवनाश्वेन वीरेण सबलेन पुराद् बहिः ॥ ४० ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! अर्जुनको यों आदेश देकर धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर श्रीकृष्ण और सेनासहित वीर राजा यौवनाश्वके साथ हस्तिनापुरसे बाहर निकले ॥ ४० ॥

वादित्राणि तु सर्वाणि जघ्नुस्तस्मिन् समागमे ।
द्रौपदी केशवेनाथ स्वयं सा मण्डिता ययौ ॥४१॥

उस समारोहके अवसरपर सभी तरहके बाजे बजाये जाने लगे । द्रौपदी स्वयं श्रृंगार करके श्रीकृष्णके साथ प्रस्थित हुई॥

तुरङ्गं पुरतः कृत्वा समेतं भूरि चामरैः ।
गायन्ति गायकास्तत्र नृत्यन्ति कुशला नटाः ॥ ४२ ॥

उस समय बहुत-से चामरोंसे सुशोभित उस यज्ञिय अश्वको आगे करके गायक गान करने लगे तथा नृत्यकलामें निपुण नट नाचने लगे ॥ ४२ ॥

वन्दिनः प्रतिगर्जन्ति स्तुवन्तः सूतमागधाः ।
तस्मिन् बले प्रचलिते शङ्खदुन्दुभिनादिते ॥ ४३ ॥
चक्रुर्नानाविधाश्चेष्टाः सर्वे लोकाश्च हर्षिताः ।

शङ्खों और नगाड़ोंके शब्दसे निनादित उस सेनाके प्रस्थान करनेपर बंदी, सूत और मागध राजाकी स्तुति-प्रशंसा करते हुए गर्जना कर रहे थे । उस समय सभी लोग हर्षित होकर नाना प्रकारकी चेष्टाएँ करने लगे ॥ ४३½ ॥

प्रभावती द्रष्टुकामा देवकीं रुक्मिणीमपि ॥ ४४ ॥
मणिरत्नान्युपादाय बन्धुभिः सहिता ययौ ।
अपरं चायुतं स्त्रीणां नानालङ्कारभूषितम् ॥ ४५ ॥

(राजा यौवनाश्वकी पत्नी) प्रभावती भी देवकी और रुक्मिणीको देखनेकी अभिलाषासे मणि-रत्न आदि भेंट-सामग्री

लेकर अपने भाई-बन्धुओंके साथ चली। उस समय उसके साथ दस सहस्र नारियोंका समुदाय था, जो अनेक प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित था ॥ ४४-४५ ॥

एतैः परिवृतो राजा सकृष्णः प्राप्तवान् स्वयम्।
यतस्ते यादवाः सर्वे सेनां व्यूह्य व्यवस्थिताः ॥ ४६ ॥

इन सबसे घिरे हुए स्वयं राजा युधिष्ठिर श्रीकृष्णके साथ उस स्थानपर जा पहुँचे, जहाँ वे सभी यदुवंशी अपनी सेनाका व्यूह बनाकर ठहरे हुए थे ॥ ४६ ॥

देवकीप्रमुखानां हि शिबिकाः समलंकृताः।
सुवर्णमणिसंनद्धाश्चित्रकौशेयसंवृताः ॥ ४७ ॥

वहाँ देवकी आदि स्त्रियोंकी शिबिकाएँ खूब सजी हुई थीं, उनमें सुवर्ण और मणि जड़े हुए थे तथा उनपर विचित्र रेशमी परदे पड़े हुए थे ॥ ४७ ॥

एका तु शिबिका यत्र तत्र नारीशतं नृप।
चामरव्यजने धृत्वा हयारूढं प्रसर्पति ॥ ४८ ॥

राजन्! एक-एक पालकीके साथ सौ-सौ नारियाँ हाथोंमें चँवर और पंखा लिये हुए घोड़ोंपर चढ़कर चलती थीं ॥

ततो युधिष्ठिरः प्रीतो विलोक्य जननीं हरेः।
नमस्कृत्य स्थितश्चाग्रे भृत्यवज्जनमेजय ॥ ४९ ॥

जनमेजय! तदनन्तर राजा युधिष्ठिर श्रीकृष्णकी माता देवकीको देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्हें प्रणाम करके उनके आगे सेवककी भाँति खड़े हो गये ॥ ४९ ॥

भीमो युधिष्ठिरं वीक्ष्य गजाद् भूमौ स्थितं गुरुम्।
स्ववाहनात् समुत्तीर्य पपात नृपपादयोः ॥ ५० ॥

उस समय भीमसेन अपने बड़े भाई राजा युधिष्ठिरको गजराजसे उतरकर भूमिपर खड़ा देख अपनी सवारीसे उतरकर उनके चरणोंमें गिर पड़े ॥ ५० ॥

प्रद्युम्नप्रमुखैर्वीरैर्धर्मराजो नमस्कृतः।
अर्जुनाद्यैः पाण्डवैश्च देवकी सा नमस्कृता ॥ ५१ ॥

तत्पश्चात् प्रद्युम्न आदि प्रधान-प्रधान वीरोंने धर्मराजको प्रणाम किया और अर्जुन आदि पाण्डवोंने उन देवकी देवीको नमस्कार किया ॥ ५१ ॥

गृहीत्वा वरवासांसि यशोदा देवकी तथा।
सौबलेयीं पृथां तत्र नमस्कृत्य करे ददौ ॥ ५२ ॥

उस समय यशोदा तथा देवकीने गान्धारी और कुन्तीको नमस्कार करके भेंटरूपमें उत्तम-उत्तम वस्त्र लेकर उनके हाथोंमें समर्पित किया ॥ ५२ ॥

प्रभावत्यान्विता देवी पार्षती कृष्णमातरम्।
नमस्कृत्याखिलं तस्यै वस्तुजातं ददौ नृप ॥ ५३ ॥

राजन्! फिर प्रभावतीके साथ देवी द्रौपदीने श्रीकृष्णकी माताको प्रणाम करके अपनी सारी वस्तुएँ उन्हें भेंट कर दीं ॥

स्त्रियः कृष्णस्य याः सर्वा रुक्मिणीप्रमुखाः शुभाः।
तस्थुः कुन्तीं पुरस्कृत्य प्रणिपत्य ददुर्धनम् ॥५४॥

और श्रीकृष्णकी जो रुक्मिणी आदि सभी सुन्दरी पत्नियाँ थीं, वे सभी कुन्तीको आगे करके खड़ी हो गयीं और उनके चरणोंमें पड़कर धन देने लगीं ॥ ५४ ॥

रुक्मिणीप्रमुखास्तत्र द्रौपदीं द्रष्टुमागताः।
चन्दनं रत्नजातानि वासांसि विविधानि च ॥ ५५ ॥
प्रणम्य भामा प्रददौ तथा सर्वाश्च योषितः।
प्रददुश्चाब्रवीत् सत्या द्रौपदीं स्मितपूर्वकम् ॥ ५६ ॥

फिर रुक्मिणी आदि प्रमुख सुन्दरियाँ वहाँ द्रौपदीसे मिलनेके लिये आगे बढ़ीं। उस समय सत्यभामाने द्रौपदीको प्रणाम करके चन्दन तथा रत्नखचित तरह-तरहके वस्त्र भेंटमें दिये। इसी तरह अन्य सब स्त्रियोंने भी द्रौपदीको प्रणाम करके भेंट दी। तत्पश्चात् सत्यभामा द्रौपदीसे मुसकराती हुई बोली ॥ ५५-५६ ॥

सत्यभामोवाच

कथं त्वया कृताः पञ्च वश्या भूमौ निरन्तरम्।
एको न शक्यतेऽस्माभिर्वशीकर्तुं जगत्पतिः ॥ ५७ ॥
तमेव हि त्वया मन्ये गृहीतं द्रुपदात्मजे।
भगिनी भवती तस्य हृदये ते कथं हरिः ॥ ५८ ॥
न मुञ्चति क्षणमपि तं विना त्वं न जीवसि।
अन्तःस्थाने संवृतानां पञ्चानामपि संनिधौ ॥ ५९ ॥
कथं गृह्णासि गोविन्दं तमुपायं हि मे वद।
ईदृशं कर्म कुर्वाणा लज्जसे न महाजनात् ॥ ६० ॥
भयं न कुरुषेऽसक्तो मान्यसे धर्मकर्तृभिः।

सत्यभामाने कहा—द्रुपदकुमारी! तुमने पृथ्वीपर अपने पाँच पतियोंको किस प्रकार सदाके लिये वशमें कर लिया है? हम तो एकमात्र जगदीश्वर श्रीकृष्णको भी अपने वशमें

नहीं कर सकीं। मैं तो समझती हूँ कि उन श्रीकृष्णको भी तुमने ही अपने प्रेम-पाशसे बाँध रखा है; परंतु तुम तो उनकी बहिन लगती हो, फिर भी वे श्रीहरि तुम्हारे हृदयमें कैसे विराजमान रहते हैं ? वे क्षणभर भी तुमको नहीं छोड़ते हैं तथा तुम भी उनके बिना जीना नहीं चाहती हो। अन्तःपुरमें छिपे हुए अपने पाँचों पतियोंके निकट भी तुम श्रीकृष्णको कैसे पकड़े रखती हो ? वह उपाय मुझे भी बतला दो। ऐसा कर्म करती हुई तुम न तो बड़े लोगोंसे लज्जा करती हो और न हमसे ही डरती हो। इतनेपर भी धर्मज्ञलोग तुम्हारा सम्मान ही करते हैं॥ ५७—६०½ ॥

द्रौपद्युवाच

त्वदीयं मानसं सत्ये सपत्नीमधिगच्छति ॥ ६१ ॥
त्यक्त्वा कृष्णं त्रिलोकेशं ज्यायसः कर्मणः फलम् ।
त्वयापमानितः कृष्णः समागत्य समाश्रये ॥ ६२ ॥
दर्शयत्येव सकलमात्मनो हृदि सम्भवम् ।
लज्जा मदीया जगति कृष्णेनैकेन रक्षिता ॥ ६३ ॥
दुर्योधनसभामध्ये वस्त्रं दत्त्वाक्षयं मम ।
त्वया न शक्यते दातुं चैलं कार्पासकादिकम् ॥ ६४ ॥

तब द्रौपदी बोली—सत्यभामे ! तुम्हारा मन तो श्रेष्ठ कर्मोंके फलस्वरूप त्रिलोकीनाथ श्रीकृष्णको छोड़कर किसी-न-किसी सौतके पीछे लगा रहता है (जिससे तुम उनका तिरस्कार कर बैठती हो)। तुमसे अपमानित हो श्रीकृष्ण मेरे आश्रयमें आकर निश्चय ही अपने हृदयकी सारी वेदना मेरे सामने खोलकर रख देते हैं। संसारमें श्रीकृष्ण ही एक ऐसे पुरुष हैं, जिन्होंने दुर्योधनकी भरी सभामें मुझे अक्षय वस्त्र प्रदान करके मेरी लाज बचायी थी। तुम तो एक सूती वस्त्र भी नहीं दे सकतीं॥ ६१—६४॥

मम भ्रात्रा त्वां प्रतार्य दत्तानि वसनानि मे ।
बहूनां पश्यतां देवि धर्मज्ञः स तथाविधः ॥ ६५ ॥

देवि ! मेरे भाई श्रीकृष्णने तुमसे छल करके (मेरे पति आदि) बहुत-से पुरुषोंके सामने ही मुझे वस्त्र प्रदान किया था, ऐसे वे धर्मज्ञ हैं॥ ६५ ॥

नारदाय त्वया दत्तो माधवः पतिरात्मनः ।
पारिजातस्तु देवानां मण्डनं यत् पुरा हृतम् ॥ ६६ ॥

और तुमने तो अपने पति श्रीकृष्णका ही दान करके नारदजीको दे डाला था। पूर्वकालमें पारिजात वृक्षका, जो देवताओंके लोकका आभूषण था, तुमने उनके द्वारा अपहरण कराया॥ ६६ ॥

देवद्विजगुरूणां हि वित्तं नैवात्र पण्डिताः ।
प्रतिगृह्णन्ति सुभगे त्वं गृहीत्वा न लज्जसे ॥ ६७ ॥

सुभगे ! इस संसारमें विद्वान् लोग देवता, ब्राह्मण और गुरुओंके धनको कभी ग्रहण नहीं करते, परंतु तुम देवसम्पत्तिको हड़पकर भी लज्जित नहीं होतीं॥ ६७ ॥

नारदं चैव गर्हामि प्रतिगृह्य जनार्दनम् ।
प्रदत्तवान् कथं मन्दस्तव हस्ते जगत्पतिम् ॥ ६८ ॥

मैं तो नारदजीकी भी निन्दा ही करती हूँ। भला, उस मन्दबुद्धि मुनिने जगत्पति जनार्दनको प्रतिग्रहरूपमें पाकर भी पुनः तुम्हारे हाथमें कैसे सौंप दिया ?॥ ६८ ॥

कृष्णादप्यधिकं त्वत्तः किं लब्धं तेन धीमता ।
ब्राह्मणानां मतिर्यस्मात् पश्चादुत्पद्यतेऽनघे ॥ ६९ ॥

अनघे ! उन बुद्धिमान् नारदजीको श्रीकृष्णसे भी बढ़कर कौन-सी वस्तु तुमसे मिली होगी ? (जिससे उन्होंने श्रीकृष्णको तुम्हें वापस कर दिया।) इसीलिये कहा जाता है कि ब्राह्मणोंको पीछे (अवसर बीत जानेपर) बुद्धि उत्पन्न होती है॥६९॥

जैमिनिरुवाच

एवंविधं ब्रुवाणां तां द्रौपदीं बाणनन्दिनी ।
नमस्कृत्य पृथां प्राप्ता नमस्कर्तुं विशाम्पते ॥ ७० ॥

जैमिनिजी कहते हैं—प्रजेश्वर ! द्रौपदी इस प्रकार वार्तालाप कर ही रही थी कि बाणासुरकी पुत्री उषाने आकर उसे प्रणाम किया और फिर कुन्तीको नमस्कार करनेके लिये वह उनके पास जा पहुँची॥ ७० ॥

प्रणिपत्यार्पयामास वासांसि मणिकाञ्चनम् ।
उपविष्टा वीणके तु सखीभिः परिवारिता ॥ ७१ ॥

वहाँ उसने कुन्तीके पैरों पड़कर तरह-तरहके वस्त्र, मणि, सुवर्ण आदि उन्हें भेंट किये और पुनः खेमेमें अपनी सखियोंके साथ बैठ गयी॥ ७१ ॥

ततोऽब्रवीत् सत्यभामा तुरङ्गं वीक्षयामहे ।
देवकीसहिताः सर्वाः कौतुकं मम विद्यते ॥ ७२ ॥

तदनन्तर सत्यभामाने कहा—'प्रभो ! हमारी सास देवकी तथा हम सभी स्त्रियाँ उस यज्ञिय अश्वको देखना चाहती हैं, इसके लिये हमारे मनमें बड़ा कौतूहल हो रहा है॥ ७२ ॥

तच्छ्रुत्वा भाषितं तस्याः कृष्णो राजानमब्रवीत् ।

सत्यभामाका यह कथन सुनकर श्रीकृष्णने राजा युधिष्ठिरसे कहा ॥ ७२½ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

तुरङ्गं द्रष्टुकामापि देवकी वर्तते नृप ॥७३॥

श्रीकृष्ण बोले—राजन् ! माता देवकी यज्ञिय अश्वको देखना चाहती हैं ॥ ७३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सर्वे तिष्ठन्तु वै वीरा रथस्था गजमस्तके ।
सादिनश्च भवन्त्वत्र पत्तयः शस्त्रपाणयः ॥ ७४ ॥
यथा नारीगणश्चायं हयं पश्यतु हर्षितः ।
धौम्यः पूजां कारयतु हृष्यन्तु परमाः स्त्रियः ॥ ७५ ॥

तब युधिष्ठिरने (सैनिकोंसे) कहा—सभी रथी वीर रथोंपर स्थित हो जायँ, हाथीसवार गजराजोंके मस्तकपर सावधानीसे बैठ जायँ और धुड़सवार तथा पैदल सैनिक हाथोंमें शस्त्र धारण कर लें । जिससे नारियोंका यह समुदाय प्रसन्नतापूर्वक यज्ञसम्बन्धी अश्वका दर्शन कर ले, महर्षि धौम्य उस अश्वका पूजन करायें तथा ये श्रेष्ठ स्त्रियाँ यह सब देखकर हर्ष लाभ करें ॥ ७४-७५ ॥

जैमिनिरुवाच

सर्वाभिः पूजितश्चाश्वो वीराः सर्वे बले स्थिताः ।
आरूढा योषितस्तत्र गवाक्षं वीणकस्य तु ॥७६॥
पश्यन्ति तुरगं तत्र नृत्यमानं महीतले ।
तस्मिंश्च समये राजा प्राप्तवाननुशाल्वकः ॥ ७७ ॥
महता परिवारेण श्रीमता जनमेजय ।
शाल्वस्य संस्मरन् वैरं वीक्षमाणो जनार्दनम् ॥ ७८ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—राजन् ! जब सभी वीर सेनामें यथास्थान स्थित हो गये, तब उन सभी नारियोंने घोड़ेका पूजन किया । उस समय बहुत-सी स्त्रियाँ खेमेके झरोखोंपर चढ़कर पृथ्वीपर नाचते हुए उस घोड़ेको देख रही थीं । जनमेजय ! उसी समय राजा अनुशाल्व अपने बहुत बड़े धन-समृद्ध परिवारके साथ वहाँ आ पहुँचा । वह सदा शाल्ववधके वैरका स्मरण करता हुआ श्रीकृष्णकी खोजमें लगा रहता था ॥ ७६—७८ ॥

धर्मराजपुरे दृष्ट्वा हर्षितोऽभूत् स भारत ।
नृत्यन्तं हयमालोक्य जग्राह प्रहसन्निव ॥ ७९ ॥

भारत ! हस्तिनापुरमें श्रीकृष्णको आया हुआ देखकर वह हर्षसे भर गया और फिर उस घोड़ेको नाचते हुए देख उसने हँसते-हँसते उसे पकड़ लिया ॥ ७९ ॥

पृष्ठे संस्थापयित्वा तु गृध्रव्यूहमथाकरोत् ।
सुरथं सचिवं तत्र समाहूयेदमब्रवीत् ॥ ८० ॥

तत्पश्चात् उसे सैन्यदलके पीछे रखकर सेनाको गृध्रव्यूहके आकारमें खड़ी कर दिया और अपने मन्त्री सुरथको बुलाकर कहा ॥ ८० ॥

अनुशाल्व उवाच

भ्राता मे सौभमारूढः कृष्णेन निहतो जले ।
शाल्वो नाम महाबाहुः स देवोऽत्र विलोक्यते ॥ ८१ ॥

अनुशाल्व बोला—मन्त्रिवर ! जिन श्रीकृष्णने सौभ विमानपर बैठे हुए मेरे भाई शाल्वको जलमें मार गिराया था, वे ही महाबाहु देवता यहाँ दिखायी दे रहे हैं ॥ ८१ ॥

सपुत्रपौत्रो यज्ञार्थे सदारः पाण्डवं प्रति ।
निमन्त्रितो हि सम्प्राप्तो माद्य गच्छतु केशवः ॥ ८२ ॥

ये अश्वमेध यज्ञमें सम्मिलित होनेके लिये निमन्त्रित होकर अपने पुत्र, पौत्र और पत्नियोंके साथ युधिष्ठिरके यहाँ आये हुए हैं । आज ये केशव किसी तरह बचकर न जाने पायें ॥

गृध्रं विलोक्य गरुडः स्थिरः स्थास्यति संगरे ।
इमां मदीयां सेनां हि तथा पालय मारिष ॥ ८३ ॥
यथा गृह्णामि गोविन्दं पार्थं च रथिनां वरम् ।

संग्राममें मेरी सेनाके गृध्रव्यूहको देखकर श्रीकृष्णवाहन गरुड़ स्थिर हो जायगा, इसलिये आर्य ! तुम मेरी सेनाकी इस भाँति रक्षा करो, जिससे मैं श्रीकृष्ण तथा रथियोंमें श्रेष्ठ अर्जुनको कैद कर लूँ ॥ ८३½ ॥

भीमादयश्च ये वीराः प्रद्युम्नसहिता अमी ॥ ८४ ॥
पालयन्ति बलं सर्वं धर्मराजस्य पश्यतः ।

उधर जो ये प्रद्युम्नसहित भीमसेन आदि वीर हैं, ये युधिष्ठिरके सामने ही सारी सेनाका संरक्षण कर रहे हैं ॥८४½॥

तस्मान्मदीयैः संग्रामे सर्वैरपि न केशवः ॥ ८५ ॥
मोचनीयः प्रयत्नेन धारणीयः स बन्धुहा ।

इसलिये मेरे सैनिकोंको भी यही उचित है कि वे युद्धमें श्रीकृष्णको किसी तरह न छोड़ें, उन्हें प्रयत्नपूर्वक पकड़ लें; क्योंकि वे मेरे भाईका वध करनेवाले हैं ॥ ८५½ ॥

यस्य हस्ताद् रणे कृष्णो गमिष्यति विलोकितः ॥ ८६ ॥
तं दुष्टं पातयिष्येऽहं यः कृष्णधरणेऽक्षमः ।

युद्धभूमिके भीतर दृष्टिपथमें आकर भी श्रीकृष्ण जिसके हाथसे बचकर निकल जायँगे और जो उन्हें पकड़नेमें असमर्थ होगा, उस दुष्टको मैं स्वयं ही मार गिराऊँगा ॥ ८६½ ॥

भ्राता वास्तु सुतो वास्तु सुहृन्मित्रं च वा सखा ८७
वासुदेवविहीनो यो न मे भ्राता सुहृत् सखा ।

कोई मेरा भाई, पुत्र, इष्ट-मित्र अथवा सखा ही क्यों न हो, यदि श्रीकृष्णको बिना पकड़े ही आयेगा तो वह न मेरा भाई होगा न सुहृद् अथवा सखा ही होगा ॥ ८७½ ॥

किं गजैः किं रथैश्चैव पत्तिभिः किं हयैरपि ॥ ८८ ॥
ये च पश्यन्ति संग्रामे न गृह्णन्ति जनार्दनम् ।

जो रणभूमिमें श्रीकृष्णको देखते तो हैं परंतु उन्हें पकड़ नहीं लेते, उन रथों, हाथियों, घोड़ों तथा पैदल सैनिकोंसे क्या लाभ ? (अर्थात् ये सब निरर्थक ही हैं) ॥ ८८½ ॥

कृत्वा तु कुत्सितं कर्म राजवित्तापहारकम् ।
तत् सर्वं क्षमितं मेऽद्य यदि तैर्ध्रियते हरिः ॥ ८९ ॥

जो राजकीय सम्पत्तिका अपहरणरूप निन्दित कर्म कर चुके हैं, वे भी यदि श्रीकृष्णको कैद कर लेंगे तो मैं आज उनके उन सभी अपराधोंको क्षमा कर दूँगा ॥ ८९ ॥

सर्वे तिष्ठन्ति यदि मे भृत्या हि निखिलाः क्षमाः ।
नापराधो ध्रुवं तेषां ये कृष्णं सम्मुखा रणे ॥ ९० ॥
योधयन्त्यरिभिः सार्द्धं तेषां दास्याम्यहं वसु ।
नापराधो ध्रुवः कार्यो मदीयै राजशासनात् ॥ ९१ ॥
भृत्यैस्तैः कृष्णविमुखैर्यथा भवति मेऽप्रियम् ।

मेरे जितने सैनिक हैं, वे सब-के-सब युद्ध करनेमें समर्थ हैं, अतः यदि वे युद्धस्थलमें श्रीकृष्णके सम्मुख डटे रहेंगे तो निश्चय ही उनका कोई अपराध नहीं माना जायगा तथा जो शत्रुओंके साथ बलपूर्वक युद्ध करेंगे, उन्हें मैं बहुत-सा धन पुरस्काररूपमें प्रदान करूँगा; इसलिये इस राजाज्ञाके अनुसार निश्चय ही मेरे सैनिकोंको किसी प्रकारका अपराध नहीं करना चाहिये; क्योंकि जो सैनिक श्रीकृष्णके साथ युद्ध करनेसे विमुख हो जायँगे, उनसे बढ़कर मेरा अप्रिय कार्य करनेवाला दूसरा कोई नहीं होगा ॥ ९०-९१½ ॥

कुलीना धर्मकुशला वीरा युद्धपरायणाः ॥ ९२ ॥
दत्त्वाऽऽत्मनस्तु सर्वस्वं स्थाप्या युद्धे महीभुजा ।
ते जयन्ति रणे शत्रून् राज्ञामिह यशस्विनः ॥ ९३ ॥

राजाको चाहिये कि जो कुलीन, धर्मकुशल तथा युद्ध-परायण वीर हों, उन्हें अपना सर्वस्व समर्पण करके भी युद्ध-कार्यमें नियुक्त करे; क्योंकि वे लोकविख्यात वीर संग्रामभूमिमें राजाके शत्रुओंको परास्त करनेवाले होते हैं ॥ ९२-९३ ॥

नास्माकं केशवादन्यो विद्यते सुखनाशनः ।
तस्मादेकं हि बहवो धारयन्तु रमापतिम् ॥ ९४ ॥
न दोषश्चात्र भविता धर्म एष सनातनः ।

श्रीकृष्णसे बढ़कर मेरे सुखोंका विनाश करनेवाला दूसरा कोई नहीं है, इसलिये इन अकेले लक्ष्मीपतिको मेरे बहुत-से योद्धा मिलकर कैद कर लें। ऐसा करनेमें कोई दोष न होगा, क्योंकि यह (क्षत्रियोंका) सनातन धर्म है ॥ ९४½ ॥

दातायं याचिता नैव विमुखः सम्मुखः सदा ॥ ९५ ॥
शस्त्रपाणिरयं नित्यं सरथोऽपि विहङ्गमः ।
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽयं निरन्तरम् ॥ ९६ ॥
कथमेकेन संग्रामे संधर्तुं शक्यते हरिः ।

(अन्यथा इनका पकड़ा जाना असम्भव है; क्योंकि) ये श्रीकृष्ण दाता हैं याचक नहीं, (अतः इनके सहायक अधिक हैं)। ये युद्धसे कभी विमुख नहीं होते, सदा सम्मुख रहकर शत्रुका सामना करते हैं (अतः वीर हैं)। इनके हाथमें सदा शस्त्र (सुदर्शनचक्र) वर्तमान रहता है। इनके साथ रथ तो है ही, आकाशचारी पक्षी गरुड़ भी है। इन्हें कभी कोई शस्त्र काट नहीं सकता, अग्नि जला नहीं सकती और जल गीला नहीं कर सकता। ऐसे श्रीहरि संग्रामभूमिमें किसी एकके द्वारा कैसे पकड़े जा सकते हैं ? ॥ ९५-९६½ ॥

कृष्णस्य ग्रहणं वेत्ति ह्युत्तानचरणात्मजः ॥ ९७ ॥
स दूरे विद्यते बालः पाताले बलिरेव च ।
किंचिद् विभीषणो वेत्ति प्रह्लादः सम्यगेव हि ॥ ९८ ॥

इन श्रीकृष्णको पकड़नेका उपाय राजा उत्तानपादका पुत्र ध्रुव जानता है, परंतु वह बालक बहुत दूर है। राजा बलि भी जानते हैं; किंतु वे इस समय पातालमें हैं। विभीषण भी कुछ-कुछ जानते हैं और प्रह्लाद तो पूर्णरूपसे जानते हैं (परंतु वे भी दूर हैं) ॥ ९७–९८ ॥

ग्रहीतारं नारदं तु वदन्त्यन्ये मृषा वचः ।
सत्यभामार्पितं कृष्णं परिजाने करागतम् ॥ ९९ ॥

संधर्तुमसमर्थोऽसौ नारदो दत्तवान् यतः।
नान्यं तस्मादद्य पश्ये समर्थं हरिधारणे ॥१००॥
स्वपौरुषेण गोविन्दं धारयिष्ये ससैनिकम्।

कुछ दूसरे सज्जन नारदको भी श्रीकृष्णको पकड़नेवाला बतलाते हैं, परंतु उनका वह कथन मिथ्या है; क्योंकि मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि जिस समय सत्यभामाने दान करके श्रीकृष्णको इन्हें समर्पित कर दिया था और वे पूर्णरूपसे इनके हाथमें आ गये थे, उस समय ये नारदबाबा उन्हें भलीभाँति पकड़ रखनेमें असमर्थ हो गये और फिर उन्होंने इन्हें सत्यभामाको ही लौटा दिया था। इन सब कारणोंसे आज मुझे कोई दूसरा वीर श्रीकृष्णको बाँध लेनेमें समर्थ नहीं दीख रहा है, अतः अब मैं अपने ही पुरुषार्थसे सेनासहित श्रीकृष्णको कैद करूँगा ॥ ९९-१००½ ॥

जैमिनिरुवाच

एतावदुक्त्वा वचनं स राजा संस्थितो रणे ॥१०१॥
गृध्रव्यूहे महावीर्यः श्वेतच्छत्रो रराज ह।
बबृंहिरे गजा मत्ता हयाः पुष्टा जिहेषिरे ॥१०२॥
रथाश्चक्रैः प्रणेदुश्च पदाताश्च डिडिम्बिरे।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! इतनी बात कहकर वह राजा अनुशाल्व युद्धके मैदानमें डटकर खड़ा हो गया। वह महापराक्रमी वीर अपनी सेनाके गृध्रव्यूहमें श्वेत छत्र धारण किये सुशोभित हो रहा था। उस समय उसके मदमत्त गजराज चिग्घाड़ने लगे, हृष्ट-पुष्ट घोड़े हींसने लगे, रथोंके पहियोंसे घरघराहटकी आवाज होने लगी और पैदल सैनिक कोलाहल करने लगे ॥ १०१-१०२½ ॥

दृश्यन्ते तस्य ते वीरा नानालंकारमण्डिताः ॥१०३॥
दिव्याम्बरधराः सर्वे संवर्ते भास्करा इव।

उसके सभी सैनिक अनेक प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित तथा दिव्य वस्त्रोंसे सुसज्जित थे। उस समय वे सभी प्रलयकालके सूर्यकी भाँति उद्दीप्त हो रहे थे ॥ १०३½ ॥

क पार्थः क च गोविन्द इति जल्पन्ति चेर्ष्यया।
रक्षन्तस्तुरगं सर्वे पश्यन्तः कृष्णवर्त्म च ॥१०४॥

वे सब-के-सब 'अर्जुन कहाँ हैं ? श्रीकृष्ण कहाँ हैं ?' इस तरह ईर्ष्यापूर्वक बोल रहे थे और यज्ञिय अश्वकी रक्षा करते हुए श्रीकृष्णका मार्ग देख रहे थे ॥ १०४ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वण्यनुशाल्वागमनं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें अनुशाल्वका आगमनविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः

जनमेजयके प्रश्न, श्रीकृष्णका युधिष्ठिरसे वार्तालाप और वीरोंको बीड़ा उठानेका आदेश, प्रद्युम्नका बीड़ा उठाकर युद्धके लिये प्रस्थान, श्रीकृष्णका पुनः वीरोंसे बीड़ा उठानेके लिये कहना, वृषकेतुकी बीड़ा उठाकर प्रतिज्ञा और प्रद्युम्नके साथ युद्धके लिये प्रस्थान, प्रद्युम्नके प्रति अनुशाल्वके आक्षेपपूर्ण वचन, प्रद्युम्नकी मूर्च्छा, श्रीकृष्णका प्रद्युम्नपर पादप्रहार करके उनपर आक्षेप करना, भीमसेनका श्रीकृष्णको रोककर उनका उत्तर देना, प्रद्युम्नके साथ युद्धके लिये प्रस्थान एवं घोर युद्ध, वृषकेतुके साथ बातचीत और अनुशाल्वके प्रहारसे उसका मूर्च्छित होना, श्रीकृष्णका युद्धके लिये जाना, उन्हें देखकर उनके प्रति अनुशाल्वका कथन, अनुशाल्वके प्रहारसे घोड़ोंका रथ लेकर भाग जाना, श्रीकृष्णको न देखकर अनुशाल्वके खेदपूर्ण वचन, श्रीकृष्णका प्रकट होकर अनुशाल्वपर प्रहार करना, अनुशाल्वका उन बाणोंको काटकर श्रीकृष्णको मूर्च्छित कर देना, दारुकका रथ लेकर लौटना, सेनाका पलायन, श्रीकृष्णके प्रति सत्यभामाके कठोर वचन

जनमेजय उवाच

नीते हये किमभवत् कथं कृष्णेन मोचितः।
युद्धार्थं प्रेषिताः केऽत्र तन्मे ब्रूहि तपोधन ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—तपोधन ! जब राजा अनुशाल्वने यज्ञिय अश्वको पकड़ लिया, तब उसके बाद कौन-सी घटना घटी ? भगवान् श्रीकृष्णने किस प्रकार उस घोड़ेको छुड़ाया ? उस समय कौन-कौन-से वीर युद्धके लिये भेजे गये थे ? यह सब मुझे बताइये ॥ १ ॥

जैमिनिरुवाच

शृणु राजेन्द्र वक्ष्यामि तदा कृष्णेन यत् कृतम्।

पाण्डवानां हयं नीतं विलोक्य हृदि लज्जितः ॥ २ ॥
आरूढः स्वे रथे दिव्ये दारुकेण नियन्त्रिते ।
पाञ्चजन्यं पूरयित्वा धर्मराजमथाब्रवीत् ॥ ३ ॥

जैमिनिजीने कहा—राजेन्द्र ! उस समय श्रीकृष्णने जो कुछ किया था, वह बताता हूँ; सुनो । उस समय पाण्डवोंके यज्ञिय अश्वका अपहरण हुआ देखकर श्रीकृष्णके हृदयमें बड़ी लज्जा हुई । फिर तो वे दारुकद्वारा जोतकर लाये हुए अपने दिव्य रथपर सवार हो गये और पाञ्चजन्य नामक शङ्खको बजाकर धर्मराजसे बोले ॥ २-३ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

अनुशाल्वेन वीरेण तुरगस्तेऽधुना हृतः ।
पश्यतां यदुवीराणां पाण्डवानां तथाग्रतः ॥ ४ ॥
स्त्रियश्चैवात्र पश्यन्ति जाता मे महती त्रपा ।
भवान् रथस्थः संग्रामे पश्यत्वत्र कुतूहलम् ॥ ५ ॥

श्रीकृष्णने कहा—राजन् ! वीर अनुशाल्वने अभी-अभी शूरवीर यादवों तथा पाण्डवोंके देखते-देखते आपके यज्ञिय अश्वका अपहरण कर लिया है तथा यहाँ ये स्त्रियाँ भी अपने सामने ही यह घटना देख रही हैं, जिससे मुझे बड़ी लज्जा आ रही है; अतः अब आप यहीं रथपर बैठे हुए युद्धमें होनेवाले दृश्यको देखिये ॥ ४-५ ॥

सात्यकिः कृतवर्मा च प्रद्युम्नतनयस्तथा ।
यौवनाश्वो मेघवर्णो माद्रीपुत्रौ तथैव च ॥ ६ ॥
एते चान्ये च बहवस्तव रक्षन्तु मण्डलम् ।
अहं वृकोदरः पार्थः प्रद्युम्नः सुजयस्तथा ॥ ७ ॥
वृषकेतुरयं बालः साम्बो निशठ एव च ।
एते परे च तुरगं मोचयामो महाबलाः ॥ ८ ॥
कश्चित् करस्थितं वीरो गृह्णातु मम वीटकम् ।

सात्यकि, कृतवर्मा, प्रद्युम्न-पुत्र अनिरुद्ध, यौवनाश्व, मेघवर्ण, माद्रीनन्दन नकुल-सहदेव—ये तथा और भी बहुतसे शूरवीर आपके सैन्यदलकी रक्षा करें तथा मैं, भीमसेन, अर्जुन, प्रद्युम्न, सुजय, यह बालक वृषकेतु, साम्ब और निशठ—ये तथा दूसरे महाबली योद्धा मिलकर उस घोड़ेको छुड़ायेंगे । कोई भी वीर, जो उस अश्वको छुड़ानेके लिये आगे बढ़ना चाहता हो, मेरे हाथपर रखे हुए इस बीड़ेको उठा ले ॥ ६—८½ ॥

जैमिनिरुवाच

पुनरेवाब्रवीद् वीराः शृण्वन्तु बलिनो नराः ॥ ९ ॥
समानयति यश्चाश्वं स हि गृह्णातु वीटकम् ।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! श्रीकृष्णने पुनः कहा—सभी महाबली शूरवीर योद्धा मेरी बातको सुन लें—'जो उस अश्वको लानेमें समर्थ हो, वही इस बीड़ेको उठाये' ॥ ९½ ॥

ते सर्वे कृष्णवचनं श्रुत्वा वीरास्तु दारुणम् ॥ १० ॥
तस्थुर्विगतसंकल्पाश्चिन्तयन्तः पुनः पुनः ।
मुहूर्त्तमात्रं कृष्णस्य स्थितः पाणौ स वीटकः ॥ ११ ॥

श्रीकृष्णके इस कठोर वचनको सुनकर उन सभी वीरोंका उत्साह शिथिल पड़ गया और वे बारंबार सोचते हुए खड़े रह गये । इस प्रकार दो घड़ीतक वह बीड़ा श्रीकृष्णके हाथपर रखा ही रह गया ॥ १०-११ ॥

ततः कृष्णसुतः श्रीमान् प्रद्युम्नो हस्तसंस्थितम् ।
जग्राह वीटकं तं तु वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १२ ॥

तदनन्तर श्रीकृष्णके पुत्र श्रीमान् प्रद्युम्नने पिताके हाथपर रखे हुए उस बीड़ेको उठा लिया और इस प्रकार कहा ॥ १२ ॥

प्रद्युम्न उवाच

आनयिष्यामि तुरगं शाल्वसैन्यगतं त्वहम् ।
इत्युक्त्वा प्रययौ कार्ष्णिः संनद्धः स्वरथेन तम् ॥ १३ ॥
अनुशाल्वं तृणीकृत्य तस्मिन् वीरसमागमे ।

प्रद्युम्न बोले—पिताजी ! अनुशाल्वकी सेनामें गये हुए उस अश्वको मैं ले आऊँगा । ऐसा कहकर प्रद्युम्न कवच धारण करके अपने रथपर सवार हो गये और वीरोंके उस समारोहमें अनुशाल्वको तृण-समान समझकर उसपर आक्रमण करनेके लिये चल पड़े ॥ १३½ ॥

पारावतनिभैरश्वैर्मणिकाञ्चनभूषितैः ॥ १४ ॥
उह्यमानं रथं दिव्यं मीनकेतोः सुतस्य तम् ।
निरीक्ष्य भगवानेवं पुनरेवाब्रवीद् वचः ॥ १५ ॥

उस समय प्रद्युम्नके रथको मणि और सोनेके साजोंसे सुशोभित कबूतरके समान रंगवाले घोड़े खींच रहे थे ।

अपने मीनकेतु (कामदेव) स्वरूप पुत्रके उस दिव्य रथको प्रस्थित हुआ देखकर भगवान् श्रीकृष्ण पुनः बोले॥१४-१५॥

श्रीकृष्ण उवाच

द्वितीयश्चात्र गृह्णातु मत्करात् वीटकं नरः।
प्रद्युम्नसहितो यातु पौरुषं यस्य विद्यते ॥ १६ ॥

श्रीकृष्णने कहा—वीरो ! अब यहाँ दूसरा भी कोई पुरुष, जिसमें पुरुषार्थ हो, वह मेरे हाथसे बीड़ा उठाये और प्रद्युम्नकी सहायताके लिये जाय ॥ १६ ॥

जैमिनिरुवाच

तच्छ्रुत्वा वासुदेवस्य वचनं वीक्ष्य वीटकम् ।
वृषकेतुरुवाचेदं तच्छृणुष्व विशाम्पते ॥ १७ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—प्रजानाथ ! भगवान् श्रीकृष्णकी वह बात सुनकर और बीड़ेकी ओर दृष्टिपात करके वृषकेतुने जो बात कही, उसे सुनो ॥ १७ ॥

वृषकेतुरुवाच

अहमेनं सहायो वै प्रद्युम्नं यामि संयुगे।
अनुशाल्वं महावीरं गृहीत्वा कृष्णसंनिधौ ॥ १८ ॥
नानये यदि गोविन्द प्रतिज्ञां शृणु मे प्रभो।

वृषकेतुने कहा—प्रभो ! मैं युद्धमें इन प्रद्युम्नकी सहायताके लिये जाऊँगा । प्रभो ! गोविन्द ! महाबली अनुशाल्वको बाँधकर यदि मैं आप श्रीकृष्णके समीप न ला सकूँ तो मेरी प्रतिज्ञा सुनिये—॥ १८½ ॥

ब्राह्मणीगमनाच्छूद्रो लभते दारुणां गतिम् ॥ १९ ॥
प्राप्नुयां तामहं नूनं महानरकदायिनीम् ।

'ब्राह्मणीके साथ समागम करनेसे शूद्रको महान् नरकोंमें डालनेवाली जिस घोर गतिकी प्राप्ति होती है, निश्चय ही वही गति मुझे प्राप्त हो ॥ १९½ ॥

श्राद्धभुग् ब्राह्मणो मन्दो मैथुनं कुरुते यदि ॥ २० ॥
स यां गतिं याति देव प्राप्नुयां तामहं ध्रुवम् ।

'देव ! यदि कोई मन्दमति ब्राह्मण श्राद्धमें भोजन करके उसी दिन स्त्री-समागम करता है तो उसे जिस गतिकी प्राप्ति होती है, अवश्य ही मुझे वही गति मिले ॥ २०½ ॥

ऋतुकाले तथा भार्यां परित्यजति मन्दधीः ॥ २१ ॥
तस्यापि गतिमार्गं तं सोऽहं गच्छे न चानये ।

'तथा जो मन्दबुद्धि पुरुष ऋतुकालके अवसरपर अपनी भार्याके साथ समागम नहीं करता, उसे छोड़ देता है, ऐसे पुरुषको जिस दुर्गतिके मार्गपर चलना पड़ता है, मुझे भी उसी मार्गपर चलना पड़े, यदि घोड़ा न ले आऊँ ॥२१½॥

त्यक्त्वा विष्णुं वासुदेवं यो भजेदन्यदैवतम् ॥ २२ ॥
तस्यापि या गतिः स्वामिन् सा मे स्याद् दुःखदायिनी ।
दीयतां वीटकं मह्यं नानृतं मम भाषितम् ॥ २३ ॥

'स्वामिन् ! जो सर्वव्यापी भगवान् वासुदेव श्रीकृष्णको छोड़कर अन्य देवताकी भक्ति करता है, उसकी जो गति होती है, वही दुःखदायिनी गति मेरी भी हो ।' इसलिये प्रभो ! यह बीड़ा मुझे दे दीजिये; क्योंकि मेरा कथन असत्य नहीं हो सकता ॥ २२-२३ ॥

जैमिनिरुवाच

ताम्बूलं कर्णपुत्राय मुदितः प्रददौ तदा ।
प्रययौ तं नमस्कृत्य वृषकेतुरुदारधीः ॥ २४ ॥
सहैव कार्ष्णिना युद्धे दर्शयन् पौरुषं तदा ।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तब श्रीकृष्णने प्रसन्न होकर वह पानका बीड़ा कर्णपुत्र वृषकेतुको दे दिया । तदनन्तर उदारबुद्धि वृषकेतु श्रीकृष्णको प्रणाम करके युद्धमें अपना पुरुषार्थ प्रकट करता हुआ प्रद्युम्नके साथ ही आगे बढ़ा ॥ २४½ ॥

प्रविश्य सैन्यं तद् घोरमनुशाल्वेन पालितम् ॥ २५ ॥
शङ्खं च पूरयामास नाम विश्राव्य चात्मनः ।

अनुशाल्वद्वारा सुरक्षित उस भयंकर सेनामें प्रवेश करके उसने अपना नाम सुनाकर शङ्ख बजाया ॥ २५½ ॥

ततो रणे कृष्णसुतं वृषकेतुसमन्वितम् ॥ २६ ॥
तिष्ठ तिष्ठेति भाषन्तमिदं वचनमब्रवीत् ।
पातयन्तं निजं सैन्यं वीक्ष्य तस्मिन् महाहवे ॥ २७ ॥

उस समय रणक्षेत्रमें जब अनुशाल्वने देखा कि वृषकेतुके साथ कृष्णकुमार प्रद्युम्न युद्धस्थलमें 'खड़ा रह, खड़ा रह' ऐसा कहते हुए मेरी सेनाको काट-काटकर धराशायी कर रहे हैं, तब वह प्रद्युम्नसे निम्नाङ्कित वचन बोला ॥ २६-२७ ॥

अनुशाल्व उवाच

कथं भवान् संगरेऽसिस्त्यक्त्वा रम्यां पुरीं निजाम् ।
प्राप्तो मम समीपेऽद्य मत्वा शत्रुं हि मां पुनः ॥ २८ ॥

अनुशाल्वने कहा—प्रद्युम्न ! तुम अपनी रमणीय द्वारकापुरीको छोड़कर और मुझे शत्रु मानकर आज इस संग्राममें मेरे समीप कैसे आ गये ? ॥ २८ ॥

त्वमनङ्गः पुष्पबाणस्त्रिनेत्रनयनार्चिषा।
कृष्णहृदि प्रविष्टोऽसि दग्धः पूर्वं मया श्रुतम् ॥ २९ ॥

तुम तो अङ्गहीन कामदेव हो, पुष्प ही तुम्हारे बाण हैं, तुम शंकरजीके तृतीय नेत्रकी ज्वालासे भस्म होकर श्रीकृष्णके हृदयमें प्रविष्ट हुए हो, ऐसा मैंने पहलेसे ही सुन रखा है ॥ २९ ॥

तपस्विनो यत्र सन्ति यत्र चैव पतिव्रताः।
विवेकरहिता लोकाः पौरुषं तत्र तावकम् ॥ ३० ॥

इसलिये तुम्हारा पुरुषार्थ तो वहीं काम दे सकता है, जहाँ तपस्वी, पतिव्रता स्त्रियाँ और सदसद्-विवेकशून्य लोग होंगे ॥ ३० ॥

जैमिनिरुवाच

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य प्रद्युम्नः पञ्चभिः शरैः।
ताडयामास सहसा रणे शाल्वानुजं बली ॥ ३१ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! अनुशाल्वका वह कथन सुनकर बलवान् प्रद्युम्नने युद्धभूमिमें शाल्वके उस छोटे भाईपर सहसा पाँच बाणोंद्वारा प्रहार किया ॥ ३१ ॥

अनुशाल्वोऽपि तान् बाणान् मध्ये चिच्छेद वेगतः।
बाणेनैकेन हृदयं बिभेदास्य त्वरन्निव ॥ ३२ ॥

तब अनुशाल्वने भी वेगपूर्वक उन बाणोंको बीचमें ही काट डाला और शीघ्रतापूर्वक एक बाण मारकर प्रद्युम्नका हृदय विदीर्ण कर दिया ॥ ३२ ॥

स भिन्नहृदयः कार्ष्णिः कश्मलं चाविशन्महत्।
भ्राम्यमाणः शरेणाजौ पतितः कृष्णसंनिधौ ॥३३ ॥

हृदय विदीर्ण हो जानेसे प्रद्युम्नको बड़ी भारी मूर्च्छा आ गयी और वे उस बाणके वेगसे युद्धस्थलमें चक्कर काटते हुए श्रीकृष्णके समीप आ गिरे ॥ ३३ ॥

मूर्च्छितं वीक्ष्य कृष्णोऽपि प्रद्युम्नं लज्जितो हृदि।
समुत्तीर्य रथाद् भूमौ गृहीत्वा नन्दकं करे ॥ ३४ ॥
ताडयित्वा पदा पुत्रमिदं वचनमब्रवीत्।
क्रोधेन महता युक्तो भर्त्सयामास भारत ॥ ३५ ॥

भारत ! श्रीकृष्ण भी प्रद्युम्नको मूर्च्छित देख हृदयमें लज्जित हो गये और अपना नन्दक नामक खड्ग हाथमें लेकर तुरंत रथसे पृथ्वीपर कूद पड़े । फिर अत्यन्त कुपित होकर अपने पुत्र प्रद्युम्नपर पादप्रहार करके उनकी भर्त्सना करते हुए इस प्रकार बोले ॥ ३४-३५ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ रे मूढ नेयं द्वारवती पुरी।
यत्र त्वया क्रीड्यते हि स्थानमेतत् सुदारुणम् ॥ ३६ ॥

श्रीकृष्णने कहा—रे मूर्ख ! उठ, उठ । यह द्वारकापुरी नहीं है, जहाँ तू सदा क्रीडा करता रहता है । यह तो अत्यन्त भयंकर स्थान—युद्धस्थल है ॥ ३६ ॥

मयैतच्चिन्तितं नित्यं प्रद्युम्नस्य प्रभावतः।
न भयं न त्रपा कापि भविष्यति रणे मम ॥ ३७ ॥
लज्जा मयात्र सम्प्राप्ता प्राप्तं चापि महद्भयम्।
त्वया पुत्रेण दुष्टेन वीराणामत्र पश्यताम् ॥ ३८ ॥

मैं तो सदा यही सोचता था कि प्रद्युम्नके प्रभावसे कहीं भी युद्धमें मुझे लज्जित एवं भयभीत नहीं होना पड़ेगा, परंतु आज तुझ दुष्ट पुत्रके कारण यहाँ इन वीरोंके सामने मुझे लज्जित भी होना पड़ा और मैं बहुत बड़े भयमें भी पड़ गया ॥ ३७-३८ ॥

किमर्थं रक्षितश्चासि बालत्वे शम्बरेण हि।
त्वं दुरात्मन् पुरा नीतो गृहान्मम निशागमे ॥ ३९ ॥

दुरात्मन् ! बाल्यावस्थामें जब शम्बरासुरने रातके समय मेरे अन्तःपुरसे तेरा अपहरण कर लिया था, उस समय किसलिये उसने तेरी रक्षा की थी अर्थात् व्यर्थ ही रक्षा की ॥ ३९ ॥

वनं याहि पुरीं त्यक्त्वा मुनिर्भूत्वा फलान्यद।
जनमध्ये न वै वासस्तव योग्यो भविष्यति ॥ ४० ॥

कायर ! तू द्वारकापुरीको छोड़कर वनमें चला जा और वहाँ मुनि होकर फलाहार कर । मनुष्योंके बीचमें रहना तेरे लिये उचित न होगा ॥ ४० ॥

निजं शत्रुं हि मुनयस्त्वां निरीक्ष्य समागतम्।
कुशाग्रबुद्धयः सर्वे करिष्यन्ति च भस्मसात् ॥ ४१ ॥

वनमें रहनेवाले मुनियोंकी बुद्धि बड़ी दूरदर्शिनी होती है, वे सभी (कामदेवरूपमें) तुझ अपने शत्रुको समीप आया

हुआ देखकर (शापद्वारा) तुझे जलाकर राखका ढेर बना देंगे ॥ ४१ ॥

भवान् बाणपुरे यातु तत्रत्या ये महाजनाः ।
भग्नं सम्बन्धिनं मत्वा पालयिष्यन्ति नापरे ॥ ४२ ॥
शिवपूजापरा लोकास्त्वां शत्रुं शङ्करस्य हि ।
ज्ञात्वा ते स्वामिनो वैरं घातयिष्यन्ति मे मतिः ॥ ४३ ॥

अथवा तू बाणासुरकी नगरीमें चला जा, वहाँ निवास करनेवाले कुछ सज्जन तुझे (युद्धसे भागा या घायल हुआ) सम्बन्धी मानकर तेरी रक्षा कर लेंगे; परंतु वहाँके दूसरे लोग, जो भगवान् शंकरकी पूजामें तत्पर रहनेवाले हैं, तेरा पालन नहीं करेंगे। वे तुझे शिवजीका शत्रु जानकर स्वामीका वैर निकालनेके लिये तेरा वध कर डालेंगे—ऐसा मेरा विचार है ॥

गर्भे न गलितश्चासि रुक्मिण्या जात एव किम् ।
अत्र प्रतिज्ञा या मूढ न कृता जीवसे कथम् ॥४४॥

मूर्ख ! तू गर्भमें ही क्यों न गल गया ? रुक्मिणीके उदरसे पैदा ही क्यों हुआ ? तूने यहाँ सबके सामने जो प्रतिज्ञा की, उसे पूर्ण किये बिना जी कैसे रहा है ? ॥४४॥

करान्मम न गृह्णन्ति यत्र वीरा महाबलाः ।
पत्राणि तत्र प्रथमं कथं गृह्णासि तानि हि ॥ ४५ ॥

जहाँ बड़े-बड़े बलवान् वीर मेरे हाथसे ताम्बूलपत्रके उस बीड़ेको न उठा सके, वहाँ तूने पहले ही उस बीड़ेको कैसे उठा लिया ? ॥ ४५ ॥

जैमिनिरुवाच

एवं वदन्तं वसुदेवनन्दनं
जग्राह भीमो मतिमान् महाबलः ।
सुकोपितं कोपहराणि तानि वै
जगाद भीमो वचनानि मारिष ॥ ४६ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—आर्य ! अत्यन्त कुपित होकर यों कहते हुए वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको महाबली बुद्धिमान् भीमसेनने पकड़ लिया और उनके क्रोधको शान्त करनेवाले ये वचन कहे ॥ ४६ ॥

भीम उवाच

मैवं वद हृषीकेश प्रद्युम्नं मानिनं प्रति ।
नायं भग्नो भयाच्छत्रोर्बाणघातात् समागतः ॥ ४७ ॥

भीमसेन बोले—हृषीकेश ! आप मानी प्रद्युम्नके सम्बन्धमें ऐसी बातें मत कहें । ये शत्रुके भयसे भागकर नहीं आये हैं; बल्कि बाणके आघातसे यहाँ आ गिरे हैं ॥

पदा संताडितो बालः क्रोधेन महता त्वया ।
पौरुषं हृदये मत्वा मिथ्या दत्तं निजं पदम् ॥ ४८ ॥

आपने मन-ही-मन अपनेको महान् पुरुषार्थी मानकर बड़े क्रोधसे जो बालकपर पादप्रहार किया है, यह ठीक नहीं है। आपने अकारण ही प्रद्युम्नको लात मारी है ॥ ४८ ॥

जरासंधभयात् कृष्ण त्वया त्यक्तं निजं पुरम् ।
सागरस्यैव तीरे हि पुरी द्वारवती कृता ॥ ४९ ॥

क्योंकि श्रीकृष्ण ! आप भी तो जरासंधके भयसे अपनी मथुरापुरी छोड़कर भाग गये थे और सागरके तटपर जाकर द्वारकापुरी बसा ली है ॥ ४९ ॥

परदुःखं न जानासि सर्वेषां सुखदो भवान् ।
कस्मात् पलायसे कृष्ण कस्त्वदन्योऽधिकः पुमान् ५०
तच्छ्रुत्वा भीमसेनस्य वचनं केशवोऽब्रवीत् ।

आप तो सबको सुख प्रदान करनेवाले हैं, इसलिये पराये दुःखको जानते ही नहीं । श्रीकृष्ण ! आप किस कारण भाग गये थे, क्योंकि आपसे बढ़कर दूसरा वीर पुरुष कौन है ? भीमसेनकी यह बात सुनकर श्रीकृष्ण बोले ॥ ५०½ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

भीम गच्छ रणे योद्धुमनुशाल्वं महाबलम् ।
मयास्य क्षामितं पश्य कर्णपुत्रस्य पौरुषम् ॥ ५१ ॥

श्रीकृष्णने कहा—भीमसेन ! अच्छा, मैंने इसका अपराध क्षमा कर दिया । अब तुम महाबली अनुशाल्वसे युद्ध करनेके लिये रणभूमिमें जाओ और कर्णपुत्र वृषकेतुका पुरुषार्थ देखो ॥ ५१ ॥

जैमिनिरुवाच

ततो भीमो रणश्लाघी प्रद्युम्नसहितो ययौ ।
पातयामास तत् सैन्यं गदया क्रोधमूर्च्छितः ॥ ५२ ॥
पदातिरेव राजेन्द्र विष्णुवाक्यैः प्रणोदितः ।

जैमिनिजी कहते हैं—राजेन्द्र ! तदनन्तर युद्धकी अभिलाषा रखनेवाले वीर भीमसेन भगवान् श्रीकृष्णके वचनों-से प्रेरित होकर प्रद्युम्नके साथ पैदल ही उस सेनामें जा

पहुँचे और अत्यन्त कुपित होकर अपनी गदासे उस सेनाको मार-मारकर धराशायी करने लगे ॥ ५२½ ॥

गजा भिन्ना द्विधा युद्धे रथाश्च विदलीकृताः ॥ ५३ ॥
हया हताश्चूर्णिताङ्गा नरा रोषेण मर्दिताः ।
गजं जग्राह हस्तेन चिक्षेप गगने पुनः ॥ ५४ ॥
रथास्तु तुरगैः सार्धं वीराः सारथिभिः सह ।
गृहीत्वा भीमसेनेन जीवग्राहं विपोथिताः ॥ ५५ ॥
गजं रथं हयं भीमो गृहीत्वा लीलया करे ।
भूमौ चिक्षेप रुषितो निष्पिपेष पदा परान् ॥ ५६ ॥
विशीर्णगात्रा बहवो मुखाच्छोणितमावमन् ।
बाहवः पतिता रेजुः पञ्चास्या इव पन्नगाः ॥ ५७ ॥

उस युद्धमें भीमसेनने अपनी गदासे हाथियोंके शरीरोंके दो-दो टुकड़े कर दिये, रथोंको तोड़कर चूर्ण कर दिया, बहुत-से घोड़े मार डाले और पैदल सैनिकोंको रोषपूर्वक पटककर उनके सारे अङ्गोंको चूर-चूर कर दिया। वे हाथसे ही हाथीको पकड़ लेते और फिर उसे आकाशमें उछाल देते थे। घोड़ोंसहित रथों और सारथियोंसहित रथियोंको जीते-जी पकड़ लेते और उन्हें पृथ्वीपर पटककर मसल देते थे। खेल-ही-खेलमें रथ, हाथी और घोड़ोंको पकड़कर भीमसेन पृथ्वीपर पटक देते थे और कुछको तो क्रोधवश पैरोंसे ही पीस डालते थे। बहुतोंके शरीर छिन्न-भिन्न हो गये और वे मुखसे खून उगलने लगे। वहाँ कटकर गिरी हुई वीरोंकी भुजाएँ पाँच मुखवाले सर्पोंकी भाँति सुशोभित हो रही थीं ॥

भीमपादप्रहारेण भिद्यतां शिरसां रवः ।
भिन्नानामिव भाण्डानां धरणीचलनेन हि ॥ ५८ ॥
श्रूयते यादृशो राजंस्तस्मिन् वीरमहाक्षये ।
ध्वजाः कणकणायन्ते वातेनाभ्युत्थितेन हि ॥ ५९ ॥

राजन्! वीरोंके उस महान् संहारके समय भीमसेनके पादप्रहारसे फूटते हुए मस्तकोंका वैसा ही शब्द हो रहा था, जैसा भूकम्पके समय गिरकर टूटते हुए बर्तनोंका सुना जाता है। उस समय प्रचण्ड वायुके वेगपूर्वक उठनेसे झोंके खाते हुए ध्वजोंसे कड़-कड़ शब्द प्रकट होने लगा ॥ ५८-५९ ॥

गजानां रथिनां युद्धे सादिनां पत्तिनां तथा ।
मांसमेकत्र भीमोऽसौ पद्भ्यां संघट्टयन् ययौ ॥ ६० ॥

युद्धस्थलमें हाथियों, रथी वीरों, घुड़सवारों तथा पैदल सैनिकोंका मांस एकमेक हो गया था, जिसे भीमसेन पैरोंसे रौंदते हुए आगे बढ़ रहे थे ॥ ६० ॥

तावन्निरीक्षितस्तेन कर्णपुत्रेण पाण्डवः ।
अब्रवीद् भीमसेनं तं तोषयन्निव भारत ॥ ६१ ॥

तबतक कर्णपुत्र वृषकेतुकी दृष्टि उनपर पड़ी। भारत! तब वह भीमसेनको प्रसन्न करता हुआ-सा बोला ॥ ६१ ॥

वृषकेतुरुवाच

भीमसेन महाबुद्धे बालकेन फलं यदि ।
अनेन संगृहीतं हि संग्रामाख्यं परंतप ॥ ६२ ॥
त्वदन्यः कः पिता लौल्यात् स्वयं गृह्णाति बालकात् ।
अनेन संगृहीतेन न ते तृप्तिर्भविष्यति ॥ ६३ ॥

वृषकेतुने कहा—शत्रुओंको संताप देनेवाले महाबुद्धिमान् भीमसेनजी! यदि इस बालकने संग्रामरूपी इस एक फलका संग्रह किया है तो आपके अतिरिक्त ऐसा कौन पिता (चाचा) होगा, जो लोभवश स्वयं ही लड़केके हाथसे वह फल ले लेगा? फिर इस एक फलके ले लेनेसे आपकी तृप्ति भी तो नहीं होगी ॥ ६२-६३ ॥

ईदृशानां सहस्राणि यदि प्राप्तानि मारिष ।
तवाग्रेऽल्पानि मन्येऽहं किमेकं सम्मुखे स्थितम् ॥ ६४ ॥

आर्य! मैं तो ऐसा समझता हूँ—यदि इस तरहके सहस्रों फल आपके आगे आ जायँ तो भी वे आपके लिये थोड़े ही सिद्ध होंगे; फिर सामने उपस्थित इस एक फलकी क्या बिसात है? ॥ ६४ ॥

अपकीर्तिश्च ते तात भविष्यति धरातले ।
पुत्रहस्तात् फलं चैकं गृहीतं पाण्डवेन हि ॥ ६५ ॥
वदिष्यन्ति जनाश्चैतत् तस्मात् त्याज्यं त्वयाधुना ।

तात! इसे ले लेनेसे भूतलपर आपकी अपकीर्ति भी होगी। लोग ऐसा कहेंगे कि भीमसेनने बच्चेके हाथसे एक फल भी छीन लिया। इस कारण अब इसका परित्याग कर देना ही आपके लिये उचित होगा ॥ ६५½ ॥

अल्पामिषं भीमसेन न गृह्णाति च केसरी ॥ ६६ ॥
क्षुधातुरो गजं हन्ति नैव सर्पं मुखस्थितम् ।
महतां पौरुषं लोके हितं भवति देहिनाम् ॥ ६७ ॥

चाचा भीमसेन! सिंह थोड़ा मांस नहीं ग्रहण करता। वह भूखसे व्याकुल होनेपर हाथीका ही वध करता है; मुखपर बैठे होनेपर भी सर्पको नहीं मारता। बड़े लोगोंका पुरुषार्थ संसारमें बहुत-से प्राणियोंके लिये हितकारक होता है ॥ ६६-६७ ॥

जैमिनिरुवाच

ततो भीमोऽब्रवीद् वीरं वृषकेतुं महाबलम् ।
फलं निष्पीड्य बालस्य पित्रा हस्ते प्रदीयते ॥ ६८ ॥
स्वयमेव रणे वीर यदि गृह्णाति तत् फलम् ।
गृह्णातु याम्यहं वीरमनुशाल्वं नराधिपम् ।
एतावदुक्त्वा वचनमनुशाल्वं समाययौ ॥ ६९ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर भीमसेनने महाबली वीर वृषकेतुसे कहा—'बेटा ! पिता फलको तोड़कर बालकके हाथमें दे देता है; परंतु वीर ! यदि तू युद्धस्थलमें स्वयं ही उस फलको ग्रहण करनेमें समर्थ है तो जा ग्रहण कर ले । मैं शूरवीर राजा अनुशाल्वकी ओर जा रहा हूँ ।' इतनी बात कहकर भीमसेन अनुशाल्वकी ओर चल दिये ॥६८-६९॥

अनुशाल्वस्तमायान्तं बाणेनैकेन वक्षसि ।
ताडयामास वेगेन मूर्च्छितो निपपात सः ॥ ७० ॥

तब राजा अनुशाल्वने अपनी ओर आते हुए भीमसेनकी छातीमें वेगपूर्वक एक बाण मारकर गहरी चोट पहुँचायी । उसके आघातसे मूर्च्छित होकर भीमसेन पृथ्वीपर गिर पड़े ॥

मूर्च्छितं भीममालोक्य कृष्णः कोपसमन्वितः ।
स्वयं योद्धुं ययौ राजंस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ७१ ॥
दारुकेण रथो नीतः कृष्णस्य गरुडध्वजः ।

राजन् ! भीमसेनको मूर्च्छित हुआ देखकर श्रीकृष्ण कुपित हो गये और स्वयं ही युद्ध करनेके लिये चल पड़े । यह एक अद्भुत-सी घटना हुई । उस समय सारथि दारुकने श्रीकृष्णका गरुडध्वजवाला रथ लाकर उपस्थित कर दिया ॥

अनुशाल्वस्ततो वीक्ष्य गोविन्दं गरुडध्वजम् ॥ ७२ ॥
प्रत्युवाच महाबाहुस्तिष्ठ तिष्ठ जनार्दन ।
त्वया मम हतो बन्धुः सौभं मध्ये च पाटितम् ७३

तदनन्तर महाबाहु अनुशाल्वने गरुडध्वज गोविन्दको अपने सम्मुख उपस्थित देखकर कहा—'जनार्दन ! खड़े रहो, खड़े रहो । तुमने ही तो मेरे भाई शाल्वको मारा था और सौभ विमानको बीचसे फाड़ दिया था ॥ ७२-७३ ॥

एतस्मिन् समये पार्श्वे स्थितोऽहं नन्दनन्दन ।
पश्यतस्तव गोविन्द पुत्रकः पातितो मया ॥ ७४ ॥
द्वितीयः पाण्डवो भीमश्चित्रमेतत् प्रदर्शितम् ।

'नन्दनन्दन ! इस समय मैं तुम्हारे पास ही खड़ा हूँ । गोविन्द ! मैंने तुम्हारे देखते रहनेपर भी तुम्हारे पुत्र प्रद्युम्नको तथा दूसरे पाण्डुपुत्र भीमसेनको धराशायी कर दिया है । मैंने तुम्हें यह आश्चर्यकी बात कर दिखायी है ॥ ७४½ ॥

अहं न सम्मुखस्त्वां हि यस्मान्मे पातिता नराः ॥ ७५ ॥
पूर्वजाः कृष्ण जानामि त्वदीयौ पातिताविमौ ।
ब्रूते महाजनः सर्वः पतनं न कथंचन ॥ ७६ ॥
जायते सम्मुखानां हि कृष्णस्य पुरतः सकृत् ।
अहं युवा रणगतः पुराणपुरुषो भवान् ॥ ७७ ॥
कथं स्थास्यसि युद्धेऽस्मिन् समत्वं नैव दृश्यते ।

'(सौभ-युद्धके अवसरपर) मैं तुम्हारे सामने युद्धस्थलमें नहीं था, जिससे तुमने मेरे पूर्वजोंका संहार कर डाला था; परंतु इस समय मैंने तुम्हारे इन दोनों वीरोंको मार गिराया है । श्रीकृष्ण ! मैं भी जानता हूँ तथा सभी पुरुष भी कहते हैं कि एक बार भी श्रीकृष्णके सम्मुख जानेवालोंका किसी प्रकार भी पतन नहीं होता; परंतु मैं एक तरुण वीर तुम्हारे सामने युद्धस्थलमें खड़ा हूँ और तुम पुराणपुरुष (बूढ़े) हो, फिर किस प्रकार इस युद्धमें मेरा सामना करोगे । हमारा-तुम्हारा जोड़ तो नहीं दीख रहा है ॥ ७५–७७½ ॥

मद्बाणैः पञ्चभिर्भिन्नः क्व गमिष्यसि केशव ॥७८॥
पलायितस्य देवस्य स्थानं वेद्मि सतां मनः ।
तदेव तावकं दुर्गमन्यैर्जेतुं न शक्यते ॥ ७९ ॥
लोभयन्त्रादिभिर्घोरैः प्रपञ्चादिपदातिभिः ।

'केशव ! मेरे पाँच बाणोंद्वारा घायल हो जानेपर तुम भागकर कहाँ शरण लोगे ? मैं जानता हूँ, तुम भागे हुए देवताका आश्रयस्थान सत्पुरुषोंका मन है । वही तुम्हारा एक ऐसा दुर्ग है, जिसे दूसरे लोग लोभ आदि भयंकर यन्त्रों तथा प्रपञ्च आदि पैदल सैनिकोंकी सहायतासे भी नहीं जीत सकते ॥

स्वसङ्गत्या दर्शयन्ति लीनं त्वां हृदयेऽखिलम् ॥ ८० ॥
त एव नित्यं गोविन्द तव गुप्तप्रकाशकाः ।
न तेषां सङ्गतिं भूमौ कुर्वन्त्यत्र विमोहिताः ।
सन्मन्त्रवर्जिता नूनं राजानस्ते न संशयः ॥ ८१ ॥

'गोविन्द ! सदा तुम्हारे गुप्त रहस्यको प्रकट करनेवाले वे सत्पुरुष ही अपनी संगतिमें आनेवाले सत्सङ्गियोंको हृदयमें छिपे हुए तुम्हारा पूर्णरूपसे साक्षात्कार करा देते हैं, परंतु इस भूतलपर विषय-विमोहित जीव उनका सत्संग ही नहीं करते ।

निश्चय ही इसी कारण ये राजालोग उत्तम नीतिसे हीन हो गये हैं, इसमें तनिक भी संशय नहीं है' ॥ ८०-८१ ॥

जैमिनिरुवाच

एतावदुक्त्वा वचनं विव्याध तुरगाञ्छरैः ।
चतुर्भिस्ते हया राजंस्त्रस्ता भिन्नकलेवराः ॥ ८२ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—राजन् ! इतनी बात कहकर अनुशाल्वने श्रीकृष्णके घोड़ोंको चार बाण मारकर घायल कर दिया । शरीरमें घाव हो जानेके कारण वे घोड़े भयसे उद्विग्न हो उठे ॥ ८२ ॥

स दूरमगमद् युद्धात् तस्मिन् काले विशाम्पते ।
न दृष्टः केशवस्तेन पुनः प्राहानुशाल्वकः ॥ ८३ ॥

प्रजानाथ ! उस समय श्रीकृष्ण युद्धस्थलसे दूर हट गये। इस कारण उन्हें वहाँ न देखकर अनुशाल्व पुनः कहने लगा ॥ ८३ ॥

अनुशाल्व उवाच

कस्माद् विलोकितः कृष्णो गतश्चादृश्यतां रणे ।
दुष्कृतं स्वं न पश्यामि नेतरेषामिहाधुना ॥ ८४ ॥

अनुशाल्व बोला—इस समय यहाँ न तो मुझे अपना ही कोई दुष्कर्म दीख रहा है और न दूसरोंका ही, फिर क्या कारण है कि श्रीकृष्ण अभी-अभी युद्धस्थलमें दीख पड़े और पुनः अदृश्य हो गये ? ॥ ८४ ॥

किं वा मदीये राष्ट्रे हि शूद्रो वा ब्राह्मणीं गतः ।
उत पित्रापि कन्याया धनं स्वीकृत्य मण्डले ॥ ८५ ॥
मामके केन दुष्टेन दत्ता कन्या धनेन च ।
अथवा रजसा युक्ता दुहिता निजमन्दिरे ॥ ८६ ॥
विना विवाहं विधृता जनकेनाल्पमेधसा ।
किं वा कोशे मदीयेऽत्र पुत्रहीनस्य पातितम् ॥ ८७ ॥
धनं मृतस्य दुर्वृत्तैर्मद्भृत्यैः पापकारिभिः ।
अथवा ब्राह्मणानां स्वं स्वीकृतं कुत्सितैर्जनैः ॥ ८८ ॥

क्या मेरे राज्यमें किसी शूद्रने ब्राह्मणीके साथ समागम किया है ? अथवा मेरे राष्ट्रमण्डलमें किस दुष्ट पिताने कन्याके मूल्यरूपसे धन लेना स्वीकार करके उस धनको लेकर कन्या बेंच दी है ? किंवा किसी मन्दबुद्धि पिताने अपनी रजोधर्मवती कन्याको बिना विवाह किये ही अपने घरमें रख छोड़ा है । अथवा पापकर्म करनेवाले मेरे दुराचारी सेवकोंने किसी मरे हुए पुत्रहीनका धन लाकर मेरे खजानेमें डाल दिया है ? या निन्दित कर्म करनेवाले उन नीचोंने ब्राह्मणोंका धन ग्रहण कर लिया है ? ॥ ८५–८८ ॥

रजस्वलां प्रियां मूढा दिवा किं सङ्गतिं गताः ।
सुस्नाता कैश्च संत्यक्ता निशामध्ये तु कामिनी ॥ ८९ ॥
भ्रूणहत्या भवत्येव सकामानां धरातले ।
षष्ठेनांशेन वै तेषामहं पापेन केशवम् ॥ ९० ॥
दृष्टमत्र न पश्यामि कं पृच्छामि रणे हरिम् ।
मामकं सुकृतं किञ्चिद् विद्यते यदि तत्त्वतः ॥ ९१ ॥
तत् तस्मै सम्प्रयच्छामि यो मे दर्शयते हरिम् ।

क्या विषयविमोहित मेरे राज्यके मूढ़ पुरुषोंने अपनी रजस्वला पत्नीके साथ दिनमें समागम किया है ? या कुछ लोगोंने ऋतुकालिक स्नानसे शुद्ध हुई पतिकी कामनावाली अपनी पत्नीका रातमें परित्याग कर दिया है; क्योंकि इस तरह कामनावाली पत्नीका परित्याग भूतलपर भ्रूणहत्याके समान माना जाता है। (मालूम होता है, राजा होनेके कारण प्रजाओंके) उन पापोंके छठे अंशसे मैं भी लिप्त हो गया हूँ, इसी कारण रणभूमिमें श्रीकृष्णको देखकर भी अब नहीं देख रहा हूँ । मैं उन श्रीहरिका पता किससे पूछूँ ? वास्तवमें यदि मेरा कुछ भी पुण्य विद्यमान है तो वह सब मैं इस व्यक्तिको समर्पित कर दूँगा, जो मुझे श्रीहरिका दर्शन करा देगा ॥ ८९–९१½ ॥

किं पश्चात् तेन पुण्येन कार्यं येन क्षितौ हरिः ॥ ९२ ॥
न दृश्यते जगन्नाथः सर्वपापापनुत्तये ।

क्योंकि जिस पुण्यके प्रभावसे पृथ्वीपर सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेके लिये जगदीश्वर श्रीहरिका दर्शन न हो सका, पीछे उस पुण्यको लेकर क्या करना है ? ९२½ ॥

हंसतीर्थोदकं पीत्वा सर्वपापक्षयो भवेत् ॥ ९३ ॥
पूतो यथा नरो राजन् हरिं वीक्ष्य तथा भवेत् ।

जैसे हंसतीर्थका जल पीनेसे समस्त पापोंका विनाश हो जाता है, उसी तरह श्रीकृष्णका दर्शन करके मनुष्य पवित्र हो जाता है ॥९३½ ॥

जैमिनिरुवाच

एवं वदति वीरे तु पुनः प्राप्तः स्वयं हरिः ॥ ९४ ॥
अनुशाल्वं त्रिभिर्बाणैर्जघान समरे हसन् ।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! अनुशाल्व यों कह ही रहा था कि पुनः श्रीहरि स्वयं वहाँ आ पहुँचे और समरभूमिमें हँसते हुए उन्होंने अनुशाल्वपर तीन बाणोंसे वार किया ॥९४½॥

बाणेनैकेनानुशाल्वस्ताञ्छरान् माधवस्य तु ॥ ९५ ॥
मध्ये चिच्छेद तरसा वचनं चेदमब्रवीत् ।

तब अनुशाल्वने वेगपूर्वक एक बाण चलाकर श्रीकृष्णके उन बाणोंको बीचसे काट दिया और इस प्रकार कहा ॥ ९५½ ॥

अनुशाल्व उवाच

पश्य माधव मद्वीर्यं त्रिभिर्विरहितो भवान् ॥ ९६ ॥
मया कृतो हि संग्रामे ह्याशुगेनाशुपातिना ।
मदीयमाशुगं चैकं न भवान् पातितुं क्षमः ॥ ९७ ॥
सहस्व त्वं शरं चैकं स्थिरो भूत्वा महाहवे ।

अनुशाल्व बोला—माधव ! मेरा पराक्रम देखिये, मैंने युद्धस्थलमें शीघ्र चोट करनेवाला एक ही बाण मारकर आपको तीन बाणोंसे रहित कर दिया है, परंतु आप मेरे एक बाणको भी विफल करनेमें समर्थ नहीं हुए। अब आप इस महासमरमें दृढ़तापूर्वक स्थित होकर मेरे एक बाणको तो सह लीजिये ॥ ९६-९७½ ॥

ततो मुमोच नाराचं वासुदेवस्य वक्षसि ॥ ९८ ॥
तेन चास्य प्रहारेण संतुष्ट इव मूर्च्छितः ।

तदनन्तर अनुशाल्वने श्रीकृष्णके वक्षःस्थलको लक्ष्य करके एक नाराच चलाया। नाराचके उस आघातसे श्रीकृष्ण मूर्च्छित होकर गिर पड़े, मानो अनुशाल्वकी वीरतासे प्रसन्न होकर बैठ गये हों ॥ ९८½ ॥

दारुको वीक्ष्य गोविन्दं संतुष्टं तस्य तेजसा ॥ ९९ ॥
रथं रणादपोवाह यत्र राजा युधिष्ठिरः ।
हाहाकारो महानासीत् कृष्णं वीक्ष्य तथाविधम् ॥ १०० ॥

गोविन्दको अनुशाल्वके पराक्रमसे संतुष्ट (एवं मूर्च्छित) हुआ देखकर दारुक रथको युद्धस्थलसे दूर हटा ले गया और जहाँ राजा युधिष्ठिर थे, वहाँ जा पहुँचा । श्रीकृष्णको मूर्च्छित दशामें देखकर वहाँ महान् हाहाकार मच गया ॥ ९९-१०० ॥

पलायितं बलं सर्वं पाण्डवानां च पश्यताम् ।
हतान् पुत्रान् पितॄन् बन्धून् सुहृत्सम्बन्धिबान्धवान् ॥
उत्सृज्योत्सृज्य गच्छन्ति वदन्त्येके परस्परम् ।
पुत्र मां नय संग्रामात् पिताहं पतितस्तव ॥ १०२ ॥

उस समय पाण्डवोंके देखते रहनेपर भी सारी सेनामें भगदड़ मच गयी। लोग घायल होकर पड़े हुए पुत्रों, पिताओं, बन्धुओं, सुहृदों, सम्बन्धियों तथा जाति-भाइयोंको छोड़-छोड़कर भाग रहे थे। कुछ लोग परस्पर कह रहे थे—'बेटा ! मैं तेरा पिता यहाँ गिरा पड़ा हूँ, तू मुझे इस संग्राम-भूमिसे ले चल' ॥ १०१-१०२ ॥

पुत्रः प्रोवाच पितरं पलायित्वा जवात् स्थितः ।
तव श्राद्धं गयाशीर्षे करिष्यामीति निर्गतः ॥ १०३ ॥
तावदन्यो जनः प्राप्तो भयाद् दैत्यानुशाल्वकात् ।

तब वेगपूर्वक भागता हुआ पुत्र खड़ा होकर पितासे बोला—'मैं गयाजीमें आपके लिये श्राद्ध कर दूँगा', ऐसा कहकर वह चल दिया। तबतक दैत्य अनुशाल्वके भयसे भागते हुए दूसरे लोग भी वहाँ आ पहुँचे ॥ १०३½ ॥

ततः स दारुको धीमान् माधवं वीणकेऽनयत् ॥ १०४ ॥
तं प्राप्तं मूर्च्छितं दृष्ट्वा हाहाकृत्वा प्रधाविताः ।
कृष्णस्य नार्यः सकला रुक्मिणीप्रमुखाः किल ॥ १०५ ॥
सत्यभामा हरिं वीक्ष्य प्रबुद्धं वाक्यमब्रवीत् ।

तदनन्तर बुद्धिमान् सारथि दारुक श्रीकृष्णको खेमेमें ले गया। वहाँ श्रीकृष्णको मूर्च्छित होकर आया हुआ देख उनकी रुक्मिणी आदि सारी पत्नियाँ हाहाकार करके दौड़ पड़ीं। कुछ देर बाद श्रीकृष्णको सचेत हुआ देखकर सत्यभामा कहने लगीं ॥ १०४-१०५½ ॥

सत्यभामोवाच

समागतं रणात् पुत्रं प्रद्युम्नं रणकोविदम् ॥ १०६ ॥
उक्तवानसि रूक्षाणि बहुदुःखकराणि च ।
भवान् प्राप्तः कथं युद्धादनुशाल्वभयार्दितः ॥ १०७ ॥
पलायन्ते जनाः सर्वे मृत्योर्भीता जगत्पते ।

सत्यभामा बोली—जगदीश्वर ! मृत्युसे भयभीत होकर प्रायः सभी लोग भागा करते हैं; परंतु जिस समय युद्ध-कलामें प्रवीण पुत्र प्रद्युम्न मूर्च्छित होकर युद्धभूमिसे लौट आया था, उस समय आपने उसके प्रति बहुत-से मर्मभेदी

एवं कठोर वचनोंका प्रयोग किया था। फिर इस समय अनुशाल्वके भयसे पीड़ित होकर आप स्वयं युद्धके मैदानसे कैसे भाग आये ? ॥ १०६-१०७½ ॥

स्वयं गच्छामि किं नाथ चण्डी भूत्वा महाहवे ॥१०८॥
हन्तुं तमनुशाल्वं हि यस्माद् भीतः समागतः।

नाथ ! जिससे भयभीत होकर आप भाग आये हैं, उस अनुशाल्वका वध करनेके लिये क्या मैं स्वयं चण्डी बनकर इस महायुद्धमें जाऊँ ? ॥ १०८½ ॥

न त्वां छिन्दन्ति शस्त्राणि न त्वां दहति पावकः ॥१०९॥
कथं पलायितोऽसि त्वं कृष्ण देवकिनन्दन।

देवकीनन्दन श्रीकृष्ण ! आपको तो न शस्त्र काट सकते हैं और न अग्नि जला सकती है, फिर आप भयभीत होकर कैसे भाग आये हैं ? ॥ १०९½ ॥

त्वया पादप्रहारेण पुत्रो वै ताडितो भृशम्।
वसुदेवस्तु दूरे वै यस्त्वां ताडयते तथा ॥११०॥

उस समय तो आपने पुत्र प्रद्युम्नको लातोंसे बहुत मारा था, परंतु जो उसी तरह आपको भी मार सकते हैं, वे आपके पिता वसुदेवजी तो इस समय दूर हैं ॥ ११० ॥

यद् गतं गतमेवास्तु शेषं चिन्तय केशव।
यथाऽऽयाति हयो राज्ञश्चानुशाल्वात् सुधीमतः॥१११॥

केशव ! जो बीत गया सो तो गया ही, अब आगेके कर्तव्यपर विचार कीजिये, जिससे बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरका वह यज्ञिय अश्व अनुशाल्वके हाथसे मुक्त होकर आ जाय ॥ १११ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि सत्यभामावाक्यं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें सत्यभामाका वचननामक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

वृषकेतु और अनुशाल्वका युद्ध, वृषकेतुका अनुशाल्वको पकड़कर श्रीकृष्णके हाथों सौंपना, अनुशाल्वद्वारा वृषकेतुके प्रति कृतज्ञता-प्रकाश और श्रीकृष्णकी स्तुति, श्रीकृष्णका अनुशाल्वको युधिष्ठिरके पास ले जाना और युधिष्ठिरका उसे भाईकी तरह ग्रहण करना, युधिष्ठिरका यज्ञकी दीक्षा लेना, घोड़ेका पूजनपूर्वक छोड़ा जाना और अर्जुनका उसकी रक्षामें जाना, अर्जुन और कुन्तीकी बातचीत, वृषकेतु और उसकी पत्नीका संवाद, घोड़ेका माहिष्मतीपुरीमें जाना और पत्नीके कहनेसे प्रवीरद्वारा पकड़ा जाना

जैमिनिरुवाच

इति तस्या वचः श्रुत्वा निर्ययौ भगवान् पुनः।
अनुशाल्वं रणे योद्धुं तस्मिन् काले जनाधिप ॥ १ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनेश्वर ! सत्यभामाके ऐसे वचन सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण रणभूमिमें अनुशाल्वके साथ युद्ध करनेकेलिये पुनः उसी समय चल पड़े ॥ १ ॥

तं वीक्ष्य च रणे प्राप्तं वृषकेतुर्महाबलः।
अनुशाल्वं समाहूय तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ २ ॥
जघान सप्तभिर्बाणैर्दैत्यराजं हसन्निव।

तब महाबली वृषकेतु श्रीकृष्णको युद्धस्थलमें उपस्थित देख अनुशाल्वको पुकारकर बोला—'अरे खड़ा रह, खड़ा रह !' और हँसते-हँसते उसने सात बाणोंद्वारा उस दैत्यराजपर प्रहार किया ॥ २½ ॥

अनुशाल्वोऽपि संविद्धो दशभिः कर्णनन्दनम् ॥ ३ ॥
विव्याध हृदये घोरैः सायकैर्निशितैस्तथा।
चतुर्भिस्तुरगानस्य पातयामास भूतले ॥ ४ ॥
सारथेश्च शिरः कायात् क्षितौ क्षिप्रमपातयत्।

तत्पश्चात् उन बाणोंसे अत्यन्त घायल होकर अनुशाल्वने भी दस भयंकर एवं पैने बाणोंसे वृषकेतुके हृदयको बींध दिया और चार बाणोंद्वारा उसके चारों घोड़ोंको मारकर धराशायी कर दिया। फिर शीघ्र ही सारथिके सिरको भी उसके शरीरसे काटकर पृथ्वीपर गिरा दिया ॥ ३-४½ ॥

विरथं वृषकेतुं तं समीक्ष्य रविसारथिः ॥ ५ ॥
योजयित्वा रथं दिव्यं द्वितीयं समुपागतः ।

तदनन्तर जब सूर्य-सारथि अरुणने देखा कि वृषकेतु रथहीन हो गया है, तब वह दूसरा दिव्य रथ जोतकर उसके समीप जा पहुँचा ॥ ५½ ॥

तस्मिन् रथे समारुह्य पुनः कर्णसुतो बली ॥ ६ ॥
दैत्यराजं शरैस्तीक्ष्णैः समन्ताद् व्यकिरद् रणे ।

तब शूरवीर कर्णकुमार वृषकेतु उस रथपर सवार होकर पुनः रणभूमिमें चारों ओरसे दैत्यराज अनुशाल्वपर तीखे बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ ६½ ॥

सारथिं पातयित्वास्य हयानपि महाबलः ।
जघान समरे भूप लीलया प्रहसन्निव ॥ ७ ॥

राजन् ! उस महाबली वीरने समरभूमिमें अनुशाल्वके सारथिको रथसे नीचे गिराकर हँसते-हँसते लीलापूर्वक उसके घोड़ोंको भी मार डाला ॥ ७ ॥

दैत्यनाथश्च तरसा रथस्थं कर्णनन्दनम् ।
समुत्थाप्य भुजाग्रेण भूमौ चिक्षेप कोपतः ॥ ८ ॥

तब अनुशाल्व भी क्रोधमें भर गया और उसने रथमें बैठे हुए वृषकेतुको हाथसे उठाकर वेगपूर्वक पृथ्वीपर दे मारा ॥ ८ ॥

सोऽप्येनं सरथं क्रुद्धो भूमौ चिक्षेप कोपतः ।
गृहीत्वा पुनरेवैनं निर्ययौ कृष्णसंनिधौ ॥ ९ ॥
ददौ कृष्णकरे दैत्यं वचः प्राह सुशोभनम् ।

तदनन्तर क्रोधमें भरा हुआ वृषकेतु रथसहित अनुशाल्वको उठाकर भूतलपर पटक दिया और उसे जीते-जी पकड़कर श्रीकृष्णके समीप चल दिया। वहाँ उस दैत्यको श्रीकृष्णके हाथों सौंपकर सुन्दर वाणीमें कहने लगा ॥ ९½ ॥

वृषकेतुरुवाच

एनं पश्य हृषीकेश तुरगग्रहणे क्षमम् ॥ १० ॥
त्वत्प्रसादेन सम्प्राप्तं प्रतिज्ञा सफलास्तु मे ।

वृषकेतु बोला—हृषीकेश ! मेरे घोड़ेको पकड़ लेनेमें अपनेको समर्थ समझनेवाले इस दैत्यकी ओर दृष्टिपात कीजिये; मैं इसे आपकी कृपासे पकड़ लाया हूँ। अब मेरी प्रतिज्ञा सफल हो ॥ १०½ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

धन्योऽसि कर्णपुत्र त्वं भाषितं सफलं कृतम् ॥ ११ ॥
अनुशाल्वं कस्त्वदन्यो रणादिह समानयेत् ।

श्रीकृष्णने कहा—कर्णपुत्र ! तू धन्य है ! तूने अपना कथन सत्य कर दिखाया । तेरे अतिरिक्त दूसरा कौन वीर अनुशाल्वको पकड़कर रणभूमिसे यहाँ ला सकता है? ॥ ११½ ॥

एवं वदति गोविन्दे प्रबुद्धो दैत्यनायकः ॥ १२ ॥
यादवेन्द्रं ददर्शाग्रे घनश्यामं जगत्पतिम् ।

भगवान् गोविन्द यों कह ही रहे थे कि दैत्यराज अनुशाल्व मूर्च्छासे जाग उठा और उसने अपने सामने यादवोंके स्वामी जगदीश्वर घनश्यामको उपस्थित देखा ॥

उवाच वचनं वाग्मी कर्णपुत्रं महामतिम् ॥ १३ ॥
जितस्त्वयाहं वै वीर पातितः कृष्णपादयोः ।
न पिता जननी नैव न गुरुर्न च बान्धवाः ॥ १४ ॥
न देवास्त्वरितं देवमनन्तं दर्शयन्ति च ।
शत्रुणा स त्वया जित्वा दर्शितो मधुसूदनः ॥ १५ ॥

तब प्रवचनकुशल अनुशाल्व महाबुद्धिमान् वृषकेतुसे कहने लगा—'वीर ! तुमने मुझे जीतकर जो श्रीकृष्णके चरणोंमें डाल दिया है (यह मेरे लिये बड़े सौभाग्यकी बात हुई); क्योंकि जिन अनन्तदेवका दर्शन पिता, माता, गुरु, भाई-बन्धु और देवता भी शीघ्र नहीं करा सकते, उन्हीं मधुसूदनका साक्षात्कार शत्रु होते हुए भी तुमने मुझे जीतकर करा दिया है॥

येन मे बान्धवाः सर्वे गमिताः परमं पदम् ।
सङ्गतिं तेन सम्प्राप्य कृष्णेन मम विस्मयः ॥ १६ ॥
जायते कर्णपुत्राद्य संतोषश्च शुभावहः ।
ययोर्वैरं तयोर्मैत्री संजाता पौरुषेण ते ॥ १७ ॥

'कर्णपुत्र ! जिन्होंने मेरे सभी भाई-बन्धुओंको मारकर परमपदको भेज दिया है, उन्हीं श्रीकृष्णके साथ अपनी संगति देखकर मुझे परम विस्मय और मङ्गलकारी संतोष प्राप्त हो रहा है । जिन श्रीकृष्ण और मुझमें वैर बँधा हुआ था, उन्हीं दोनोंमें तुम्हारे पुरुषार्थसे मित्रता हो गयी ॥ १६-१७ ॥

प्रभूणां हि प्रभावेण सङ्गतासङ्गतं समम् ।
दृश्यते शङ्करे वीर विषं चैवामृतं सदा ॥ १८ ॥

'वीर ! सामर्थ्यशाली पुरुषोंके प्रभावसे संगत और असंगत—दोनों समान हो जाते हैं; जैसे भगवान् शंकरमें विष और अमृत सदा समान ही देखे जाते हैं ॥ १८ ॥

दातारो दर्शयन्त्येव जगन्नाथपदाम्बुजम् ।
त्वत्समो नास्ति दातान्यः काश्यपात्मजनन्दन ॥१९॥

'कर्णनन्दन ! दाता पुरुष ही जगदीश्वर श्रीकृष्णके चरण-कमलोंका अवश्य दर्शन कराते हैं; तुम्हारे समान दूसरा कोई दाता नहीं है (क्योंकि तुमने मुझे श्रीकृष्णके चरणोंका दर्शन कराया है)' ॥ १९ ॥

वृषकेतुरुवाच

भवान् कृष्णपदं प्राप्य ब्रूते हि मम विस्मयः ।
संजातः साम्प्रतं वीर मूकत्वं यत्र योगिनः ॥ २० ॥
गच्छन्ति शेषप्रमुखा विलोक्य मधुसूदनम् ।
तव भाषितमाकर्ण्य विस्मयोऽतीव जायते ॥ २१ ॥

तब वृषकेतुने कहा—वीर ! भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें पहुँचकर भी तुम बोल रहे हो, इससे इस समय मुझे बड़ा विस्मय हो रहा है । जहाँ पहुँचकर मधुसूदनका दर्शन करके शेष आदि योगियोंकी भी वाणी मूक हो जाती है, वहाँ तुम्हारा कथन सुनकर मुझे अत्यन्त आश्चर्य हो रहा है ॥

अनुशाल्व उवाच

वाक्प्रवृत्ता हरिं वीक्ष्य मदीया कर्णनन्दन ।
ध्रुवस्येवामुना दत्ता लोकास्तु हरिणा शुभाः ॥ २२ ॥

अनुशाल्वने कहा—कर्णनन्दन ! इन श्रीकृष्णको देखकर ही मेरी वाणी इनकी स्तुतिके लिये सचेष्ट हुई है; क्योंकि इन श्रीहरिने ही ध्रुवको उत्तम लोक प्रदान किये थे ॥

स्तौमि चात्र हृषीकेशं समक्षं तव मारिष ।
मत्प्रहारेण संत्यक्त्वा जगाम रणमण्डलम् ॥ २३ ॥
यः पाण्डवस्य पुरतो विश्वसृक् शास्त्रधृग्घरिः ।
किं पीड्यतेऽस्य शस्त्रेण विष्णोर्विश्वमयं वपुः ॥ २४ ॥

आर्य ! मैं यहाँ तुम्हारे सामने इन हृषीकेशकी स्तुति करता हूँ । जो श्रीहरि विश्वके रचयिता हैं तथा शास्त्रोंको अपने निःश्वास और हृदयमें धारण करते हैं, वे मेरे प्रहारसे युद्धभूमिको छोड़कर महाराज युधिष्ठिरके समीप चले आये (यह इनकी एक लीला ही तो है) । क्या इन विष्णु भगवान्के विश्वमय शरीरको शस्त्रद्वारा पीड़ित किया जा सकता है (कदापि नहीं)॥

चतुर्भुजाश्च जायन्ते स्मरणाद् यस्य मानवाः ।
वैनतेयं समारूढाः शङ्खचक्रगदाधराः ॥ २५ ॥
स स्वयं जायते मत्स्यः कूर्मः कोलो नृकेसरी ।

जिनका स्मरण करनेसे मनुष्य गरुड़पर सवार होकर शङ्ख-चक्र-गदाधारी चार भुजावाले (विष्णुस्वरूप) हो जाते हैं, वे ही भगवान् जीवोंपर कृपा करके स्वयं मत्स्य, कच्छप, शूकर और नृसिंहका रूप धारण करते हैं ॥ २५½ ॥

प्रसादाद् यस्य देवेन्द्रो विविधास्ताः सुराङ्गनाः ॥ २६ ॥
सम्प्राप्नोति स्वयं प्राप्तः कुब्जिकां गोपवेषधृक् ।

जिनकी कृपासे इन्द्र देवराजपदपर प्रतिष्ठित होकर नाना प्रकारकी देवाङ्गनाओंको उपलब्ध करते हैं, वे ही श्रीहरि स्वयं गोपालका वेष धारण करके कुब्जाके पास जाते हैं (यह इनकी कैसी विचित्र लीला है)॥ २६½ ॥

पुष्णाति कृष्णो विश्वं यो नानारत्नचयेन हि ॥ २७ ॥
स भोक्ता द्रौपदीदत्तं शाकपत्रं निशागमे ।
सक्तून् सुदाम्नः स्वल्पांस्तान् प्राश्य प्राप्तवान् मुदम् २८

जो श्रीकृष्ण नाना प्रकारके रत्न-समूहोंद्वारा सारे विश्वका भरण-पोषण करते हैं, उन्होंने स्वयं सायंकालमें (क्षुधातुर होकर) द्रौपदीद्वारा दिये गये शाकके पत्तेका भोग लगाया तथा सुदामाके थोड़े-से सत्तूको खाकर प्रसन्नता प्राप्त की ॥

नन्दनादीनि दिव्यानि वनानि प्राप्नुवन्ति ते ।
स्वयं हि कृष्ण तुलसीकानने रमते हरिः ॥ २९ ॥

श्रीकृष्ण ! तुम्हारे भक्त तो नन्दन आदि स्वर्गीय काननोंमें पहुँच जाते हैं, परंतु स्वयं तुम तुलसी-कानन (वृन्दावन) में ही रमण करते हो ॥ २९ ॥

जैमिनिरुवाच

एवं ब्रुवन्तं नृपतिं समालिङ्ग्य स्थितो हरिः ।
गृहीत्वा दक्षिणे हस्ते दर्शयामास धर्मजम् ॥ ३० ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! यों स्तुति करते हुए राजा अनुशाल्वका श्रीकृष्णने उठकर आलिङ्गन किया और उसका दाहिना हाथ पकड़कर वे उसे धर्मराजके पास ले गये ॥

ततो युधिष्ठिरं राजा नमस्कृत्य स्थितोऽग्रतः ।
उवाच धर्मराजस्तं सान्त्वपूर्वमिदं वचः ॥ ३१ ॥

तत्पश्चात् जब राजा अनुशाल्व युधिष्ठिरको प्रणाम करके उनके आगे खड़ा हो गया, तब धर्मराजने उससे सान्त्वना-पूर्वक कहा—॥ ३१ ॥

भीमादीनां पञ्चमस्त्वं बान्धवोऽसि ममाधुना ।
यज्ञं पालय मे नित्यं यथा कृष्णेन पाल्यते ॥ ३२ ॥

'राजन्! अब तुम भीमसेन आदिकी भाँति मेरे पाँचवें भाईके समान हो गये हो, इसलिये जैसे श्रीकृष्ण इस यज्ञकी सारी सँभाल करते हैं, उसी तरह तुम भी सदा इसकी रक्षा करो'॥ ३२॥

अनुशाल्वस्ततः सर्वान् भीमसेनमुखांस्ततः।
समालिङ्ग्याब्रवीद् वाक्यं धर्मराजं महामतिम्॥ ३३॥

तदनन्तर अनुशाल्वने भीमसेन आदि सभी वीरोंका गाढ़ आलिङ्गन किया और फिर महाबुद्धिमान् युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा॥ ३३॥

अनुशाल्व उवाच

अहं बाहू शिरश्चैव स्वकीयं रणमण्डले।
युधिष्ठिरार्थे कालेन यत्र तत्र प्रपातये॥ ३४॥
एतावदुक्त्वा वचनं विरराम स पार्थिवः।

अनुशाल्व बोला—महाराज! मैं अवसर आनेपर आपके लिये समरभूमिमें अपने सिर तथा भुजाओंको प्रत्येक स्थानमें अर्पण करनेके लिये उद्यत हूँ। इतनी बात कहकर राजा अनुशाल्व चुप हो गया॥ ३४½॥

ततो विजित्य सर्वास्तान् पार्थिवान् कर्णनन्दनः॥ ३५॥
आनयामास तुरगं यत्र राजा युधिष्ठिरः।

तत्पश्चात् कर्णनन्दन वृषकेतु अनुशाल्वपक्षीय सभी भूपालोंको परास्त करके उस यज्ञिय अश्वको वहाँ ले आया, जहाँ महाराज युधिष्ठिर विराजमान थे॥ ३५½॥

हृष्टो युधिष्ठिरः प्राह धन्यस्त्वं कर्णनन्दन॥ ३६॥
प्रतिज्ञा सफला वीर तव जाता ममाग्रतः।
अनुशाल्वोऽपि बन्धुत्वं गमितः पुण्यसंग्रहात्॥ ३७॥

उसे आया हुआ देखकर युधिष्ठिर हर्षमें भरकर बोले—'कर्णनन्दन! तू धन्य है। मेरे समक्ष की हुई तेरी प्रतिज्ञा आज सफल हो गयी। तूने बहुत बड़े पुण्य-संचयके फलस्वरूप अनुशाल्वको भी मेरा भाई बना दिया॥ ३६-३७॥

दिष्ट्या सर्वं सुखाकारं संजातं कार्यमद्य मे।
युवां कुशलिनौ प्राप्तौ प्रियौ मे कृष्णकर्णजौ॥ ३८॥

'बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम दोनों श्रीकृष्ण और वृषकेतु, जो मेरे परम प्यारे हो, सकुशल लौट आये; इससे आज मेरे समस्त कार्य भावी सुखकी सूचना देनेवाले हो गये'॥ ३८॥

एवं प्रशस्य तौ वीरौ मुदितो धर्मनन्दनः।
पुरस्कृत्य हयं वीरैः प्रविवेश गजाह्वयम्॥ ३९॥

इस प्रकार उन दोनों वीरोंकी प्रशंसा करके धर्मनन्दन युधिष्ठिरने आनन्दपूर्वक यज्ञिय अश्वको आगे करके उन वीरोंके साथ हस्तिनापुरमें प्रवेश किया॥ ३९॥

उपविष्टः सभामध्ये सह कृष्णेन स द्विजैः।
देवकी च यशोदा च कुन्ती चैवाथ रोहिणी॥ ४०॥
रुक्मिणी सत्यभामा च तथैवान्याश्च योषितः।
अरुन्धती चानसूया पूजयन्त्यस्तथा शुभाः॥ ४१॥

वहाँ वे ब्राह्मणों तथा श्रीकृष्णके साथ सभाभवनमें विराजमान हुए। तब देवकी, यशोदा, कुन्ती, रोहिणी, रुक्मिणी, सत्यभामा, अरुन्धती, अनसूया तथा वहाँ आयी हुई अन्य सौभाग्यवती स्त्रियाँ परस्पर एक-दूसरीका यथोचित पूजन एवं सत्कार करने लगीं॥ ४०-४१॥

परस्परं भावयन्ति राजानस्ते समागताः।
भोज्यैश्च विविधैः पेयैश्चन्दनागुरुधूपितैः॥ ४२॥
वासोभिर्मृदुभिश्चैव राङ्कवैर्भावसंयुताः।
वराश्वगजदानैश्च यज्ञारम्भे च मारिष॥ ४३॥

आर्य! यज्ञारम्भके अवसरपर वहाँ पधारे हुए सभी नरेश नाना प्रकारके भोजन करनेयोग्य एवं चन्दन और अगुरुसे सुवासित पीनेयोग्य पदार्थों, रंकु मृगके रोमसे बने हुए कोमल वस्त्रों तथा श्रेष्ठ घोड़ों और हाथियोंके दानद्वारा परस्पर सद्भावपूर्वक एक-दूसरेका सम्मान करने लगे॥

समागते हृषीकेशे दिनानां विंशतिर्गता।
चैत्री प्राप्ता पौर्णमासी दीक्षितोऽभूद् युधिष्ठिरः॥ ४४॥

इधर जब श्रीकृष्णको हस्तिनापुरमें आये हुए बीस दिन व्यतीत हो चुके, तब चैत्र मासकी पूर्णिमा तिथि आयी। उस दिन युधिष्ठिरने अश्वमेध यज्ञकी दीक्षा ग्रहण की॥ ४४॥

द्रौपदीसहितो रौद्रमसिपत्रव्रतं चरन्।
संस्थाप्य तुरगं तत्र पूजयित्वा यथाविधि॥ ४५॥

वहाँ यज्ञमण्डपमें उन्होंने यज्ञिय अश्वको खड़ा करके शास्त्रविधिके अनुसार उसकी पूजा की और द्रौपदीको साथमें रखकर अत्यन्त कठोर असिपत्र-व्रतको भी धारण किया॥ ४५॥

ब्राह्मणान् वेदसम्पन्नान् वित्तेन महता नृपः।
गीतवादित्रनादेन ब्रह्मघोषैः सुमङ्गलैः॥ ४६॥

हयं सपत्रं यज्ञार्थे कुङ्कुमेनाभिचर्चितम्।
चन्दनेनापि मालाभिर्वरधूपैश्च धूपितम्॥ ४७॥
मुमोच धर्मराजोऽसौ तुरङ्गं बद्धचामरम्।
पालनार्थं हयस्याथ प्रेषयामास फाल्गुनम्॥ ४८॥

उस समय उन नरेशने गीत, वाद्यध्वनि तथा माङ्गलिक वेदपाठके साथ वेदज्ञ ब्राह्मणोंको बहुत-सा धन देकर उन्हें तृप्त किया। तब उस यज्ञिय अश्वके मस्तकपर सोनेका पत्र बाँध दिया गया। कुङ्कुम, चन्दन और पुष्पमालाओंद्वारा उसकी पूजा की गयी और सुगन्धित धूपोंद्वारा उसे धूप अर्पित किया गया तथा उसके मस्तकपर चँवर बाँध दिया गया। तत्पश्चात् धर्मराजने (समस्त दिशाओंमें भ्रमणके लिये) उस अश्वको छोड़ दिया और उस अश्वकी रक्षाके लिये अर्जुनको जानेकी आज्ञा दी॥ ४६—४८॥

सुस्नातं शुभ्रवसनं दूर्वाचम्पकनिर्मिताम्।
मालां कण्ठे प्रोथयित्वा दधानं च किरीटकम्॥ ४९॥
गाण्डीवहस्तं सोत्साहं छत्रचामरशोभितम्।
पाण्डवं प्राह राजासौ पार्थ पालय वाजिनम्॥ ५०॥
वासुदेवप्रसादेन निर्विघ्नं तेऽस्तु पाण्डव।
शिवास्ते सन्तु पन्थानो जयं प्राप्नुहि भारत॥ ५१॥
कुशली पुनरागच्छ ससहायपरिच्छदः।
अनाथान् दीनवदनान् सद्वृत्तांश्च तथैव च॥ ५२॥
कृताञ्जलीन् सशरणांस्तवास्मीति च वादिनः।
पितृहीनान् बालकान् मा रणे पातय मारिष॥ ५३॥

तब अर्जुनने अच्छी तरह स्नान करके निर्मल श्वेत वस्त्र धारण किया, गलेमें दूर्वा और चम्पाके फूलोंसे गुँथी हुई माला पहन ली, मस्तकपर किरीट धारण किया और उत्साहपूर्वक गाण्डीव धनुष हाथमें ले लिया। उस समय वे छत्र-चँवरसे सुशोभित हो रहे थे। (इस प्रकार उन्हें यात्राके लिये उद्यत देखकर) धर्मराजने उनसे कहा—'पार्थ! तुम घोड़ेकी रक्षाके लिये जाओ। पाण्डुनन्दन! श्रीकृष्णकी कृपासे तुम्हारे सभी कार्य निर्विघ्न सिद्ध हों। भारत! तुम्हारे मार्ग मङ्गलमय हों और तुम सर्वत्र विजय लाभ करो तथा सहायकों और सामग्रियों-सहित पुनः सकुशल हस्तिनापुर लौटो। परंतु श्रेष्ठ वीर! जो अनाथ हों, जिनके मुखसे दीनता प्रकट हो रही हो, जो सदाचारी हों, हाथ जोड़कर शरणागत हो गये हों, 'मैं आपका ही हूँ' ऐसा कह रहे हों तथा जो पितृहीन बालक हों—ऐसे राजाओंका संग्राममें वध मत करना'॥ ४९—५३॥

ततो धनंजयः श्रुत्वा भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भाषितम्।
नमस्कृत्य च तं प्रायात् कुन्तीं प्रष्टुं च देवकीम्॥ ५४॥

तब अर्जुन अपने ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिरका कथन सुनकर उन्हें प्रणाम करके कुन्ती और देवकीसे आज्ञा लेनेके लिये उनके पास गये॥ ५४॥

प्रणम्य कुन्तीं तां देवीं देवकीं कृष्णमातरम्।
अरुन्धतीं चानसूयां तथा तां रुक्मिणीमपि॥ ५५॥
गान्धारीं धृतराष्ट्रं च प्रत्युवाच व्रजाम्यहम्।
भ्रात्राऽऽदिष्टो रक्षणार्थं हयस्येति प्रहर्षितः॥ ५६॥

वहाँ वे कुन्ती, श्रीकृष्णकी माता देवी देवकी, अरुन्धती, अनसूया, रुक्मिणी, गान्धारी और धृतराष्ट्रके चरणोंमें अभिवादन करके अत्यन्त हर्षके साथ बोले—'मैं भाई युधिष्ठिरके आदेशसे घोड़ेकी रखवालीके लिये जा रहा हूँ'॥ ५५-५६॥

ततोऽर्जुनं परिष्वज्य कुन्ती वचनमब्रवीत्।
धर्मराजनिमित्तं हि यदि यासि धनंजय॥ ५७॥
के सहायाश्च ते दत्ताः सैन्यं च विविधं कियत्।
दत्तं युधिष्ठिरेणाद्य तन्मे ब्रूहि परंतप॥ ५८॥

तब कुन्तीने अर्जुनको हृदयसे लगाकर पूछा—'धनंजय! यदि तू आज धर्मराजका कार्य सम्पादन करनेके लिये जा रहा है तो युधिष्ठिरने तुझे कौन-कौन-से सहायक प्रदान किये हैं तथा (रथी, घुड़सवार आदि) अनेक प्रकारकी कितनी सेना दी है? परंतप! यह सब मुझे बता'॥ ५७-५८॥

अर्जुन उवाच

कृष्णेन नोदितः कार्ष्णिः स्वपुत्रस्तद्बलं स्वकम्।
समर्पयित्वा प्रोक्तो यो रुक्मिणीनन्दनः स्वयम्॥ ५९॥
रक्षार्थं पुत्र गच्छ त्वं ममादेशाच्च साम्प्रतम्।
धनंजयस्य रक्षार्थं मम प्राणो हि पाण्डवः॥ ६०॥
रक्षितुं तुरगं चैव सम्यक् पालय मां यथा।
पित्रा स्वकीयं सर्वस्वं पुत्रहस्ते प्रदीयते॥ ६१॥
सद्वृत्तो रक्षते वीर असद्वृत्तो न पालयेत्।

अर्जुनने कहा—माँ! श्रीकृष्णने अपनी विशाल सेना समर्पित करके अपने पुत्र प्रद्युम्नको मेरी सहायतामें जानेके लिये आज्ञा दी है और स्वयं उन्होंने ही उन रुक्मिणीनन्दनसे कहा भी है—'बेटा! इस समय तू मेरी आज्ञासे अर्जुनकी सहायताके लिये जा और सब तरहसे उनकी रक्षा कर; क्योंकि

पाण्डुपुत्र अर्जुन मेरे प्राणोंके समान हैं । वे घोड़ेकी रक्षामें नियुक्त होकर जा रहे हैं, अतः तू जैसे सब तरहसे मेरी रक्षा करता है, वैसे ही उनकी भी रक्षा करना; क्योंकि पिता अपना सर्वस्व पुत्रके ही हाथमें तो सौंपता है । परंतु वीर ! सदाचारी पुत्र ही उसकी रक्षा कर पाता है, खोटे स्वभाववाला नहीं कर सकता' ॥ ५९—६१½ ॥

तथा कर्णसुतं प्राह देवकीनन्दनो हरिः ॥ ६२ ॥
सर्वस्वं पुत्रकं सैन्यं तुरङ्गं वृषभध्वज ।
महासैन्यगतं पाहि मयाऽऽदिष्टोऽसि भारत ॥ ६३ ॥

इसी प्रकार देवकीनन्दन श्रीकृष्णने कर्णकुमार वृषकेतुसे भी कहा है—'वृषभध्वज ! युद्धके लिये खड़ी हुई विशाल सेनाओंके मध्यमें तू मेरे सर्वस्वरूप अर्जुन, प्रद्युम्न, सेनादल तथा यज्ञिय अश्वकी सर्वथा रक्षा करना। भारत ! यही तेरे लिये मेरा आदेश है' ॥ ६२-६३ ॥

अनुशाल्वं सुबलिनं यौवनाश्वं सपुत्रकम् ।
मत्साहाय्यार्थमादिश्य ततोऽहं प्रेषितः पृथे ॥ ६४ ॥
त्वया चिन्ता न मे कार्या प्रसन्नः केशवः प्रभुः ।

माँ ! पुनः उन्होंने महाबली अनुशाल्व तथा पुत्र सुवेग-सहित राजा यौवनाश्वको भी मेरी सहायताके लिये जानेका आदेश देकर तब मुझे अश्वरक्षार्थ यात्रा करनेकी आज्ञा दी है। माँ ! आपको मेरी चिन्ता नहीं करनी चाहिये; क्योंकि सर्व-समर्थ भगवान् केशव मुझपर प्रसन्न हैं ॥ ६४½ ॥

कुन्त्युवाच

वृषकेतुस्त्वया पाल्यः सर्वयुद्धेषु भारत ।
क्रतुस्ते सर्वथा शोच्यः समागच्छेश्च तं विना ॥ ६५ ॥

तब कुन्तीने कहा—भारत ! सभी जगह युद्धके अवसरोंपर तू वृषकेतुकी रक्षा करना; क्योंकि यदि तू उसे साथ लिये बिना ही लौटकर आयेगा तो तेरा यह अश्वमेध यज्ञ सर्वथा शोचनीय ही रहेगा ॥ ६५ ॥

लब्ध्वा जयं समायाहि पालयित्वा तुरङ्गमम् ।
हरिणा मार्यते जन्तुर्हरिणा रक्ष्यते पुनः ॥ ६६ ॥
सर्वदा तं हरिं पार्थ स्मरञ्जयमवाप्स्यसि ।
इत्युक्त्वा पुत्रकं कुन्ती सा बाष्पं प्रमुमोच ह ॥ ६७ ॥

(जा, तेरे लिये मेरी यह शुभकामना है कि) तू घोड़ेकी रक्षा करते हुए विजयी होकर लौट । पार्थ ! ये श्रीकृष्ण ही जीवोंके संहारक हैं और पुनः ये ही उनके पालक भी हैं, अतः सर्वदा इनका स्मरण करते रहनेपर तुझे अवश्य विजय प्राप्त होगी । अपने पुत्र अर्जुनसे ऐसा कहकर कुन्तीदेवी अपने नेत्रोंसे स्नेहके आँसू बहाने लगीं ॥ ६६-६७ ॥

ततः पार्थो हरिं वीक्ष्य नमस्कृत्य पुनः पुनः ।
आरुरोह रथं दिव्यं प्रययौ सैन्यसंवृतः ॥ ६८ ॥

तदनन्तर अर्जुनने श्रीकृष्णका दर्शन करके बारंबार उन्हें नमस्कार किया और फिर वे अपने दिव्य रथपर सवार होकर सेनाके साथ प्रस्थित हुए ॥ ६८ ॥

नानावादित्रनादेन होमधूमेन धूपितः ।
रथारूढः कुमारीणां लाजैर्माल्यैः करच्युतैः ॥ ६९ ॥
संछन्नाङ्गो जयाशीर्भिः पौराणां चारुवीक्षितैः ।
मध्याह्नसमये कृष्णस्तं मुमोच तुरङ्गमम् ॥ ७० ॥
हयो गतो दक्षिणाशां प्रेरितः कृष्णवीक्षणैः ।

उस समय नाना प्रकारके वाद्योंका शब्द हो रहा था। रथपर बैठे हुए अर्जुन हवनके धुएँकी सुगन्धसे सुवासित हो रहे थे । उनके ऊपर कुमारी कन्याओंके हाथसे इतनी खीलें और पुष्पमालाएँ गिरी थीं कि उनका सारा शरीर ढक गया था । पुरवासी अपनी माङ्गलिक दृष्टिसे देखकर उन्हें विजयका आशीर्वाद दे रहे थे । तब अर्जुनने दोपहरके समय भ्रमण करनेके लिये उस यज्ञिय अश्वको खोल दिया । वह अश्व अर्जुनके संकेतानुसार प्रेरित होकर दक्षिण दिशाकी ओर चल पड़ा ॥ ६९-७०½ ॥

वृषकेतुर्जनान् वृद्धान् प्रणम्य स्वगृहं गतः ॥ ७१ ॥
एकः पत्नीं तदा प्रष्टुं वीक्ष्य वाक्यमुवाच ताम् ।

तब वृषकेतु वहाँ उपस्थित समस्त गुरुजनोंका अभिवादन करके अपनी पत्नीसे अनुमति लेनेके लिये अकेला ही अपने घर गया और उससे मिलकर कहने लगा ॥ ७१½ ॥

वृषकेतुरुवाच

एष गच्छामि सुभगे पाण्डवेनान्वितः पुरात् ॥ ७२ ॥
एताः कुन्तीमुखा नार्यः सेवनीयाः प्रयत्नतः ।
श्वश्रूणां चैव वृद्धानां सेवनात् परमं फलम् ॥ ७३ ॥

वृषकेतु बोला—सुभगे ! आज मैं अर्जुनके साथ नगर-से बाहर जा रहा हूँ । तुम इन कुन्ती आदि बड़ी-बूढ़ी महि-लाओंकी प्रयत्नपूर्वक सेवा करना; क्योंकि सासुओं तथा वृद्ध गुरुजनोंकी सेवा करनेसे परम फलकी प्राप्ति होती है ॥७२-७३॥

सतां सम्पूजनादेव लभन्ते परमं स्त्रियः ।
स्मर्त्तव्या वयमप्यत्र भवत्या किल भामिनि ।
यस्मात् स्त्रीणां परो धर्मो भर्तुः स्मरणमेव च ॥ ७४ ॥

भामिनि ! श्रेष्ठ जनोंकी सम्यक् पूजा-सेवा करनेसे स्त्रियाँ परमपदकी भागिनी होती हैं । साथ ही तुम यहाँ हमारा भी स्मरण करती रहना; क्योंकि पतिका स्मरण करना ही स्त्रियोंका परम धर्म है ॥ ७४ ॥

भद्रावत्युवाच

मदीयं मानसं त्यक्त्वा त्वां कदाचिन्न गच्छति ।
त्वदीयं मानसं त्यक्त्वा मां चेद् गच्छति गच्छतु ॥७५॥

तब भद्रावतीने कहा—प्रियतम ! यदि आपका मन मेरा परित्याग करके अन्यत्र जाना चाहता है तो भले ही चला जाय, परंतु मेरा मन आपको छोड़कर कभी भी परपुरुषकी ओर नहीं जाता ॥ ७५ ॥

त्वं यथा वदसे नाथ तत् करोमि न चान्यथा ।
स्त्रीणां भर्त्ता परो देव इति शास्त्रविनिर्णयः ॥ ७६ ॥

प्राणनाथ ! आप मुझे जैसी आज्ञा दे रहे हैं, मैं वैसा ही करूँगी, उसमें कुछ भी अन्तर नहीं पड़ने पायेगा; क्योंकि स्त्रियोंके लिये पति ही परम देवता हैं, ऐसा शास्त्रका सिद्धान्त है ॥ ७६ ॥

अर्जुनस्य हयो नाथ रक्षणीयः प्रयत्नतः ।
युद्धं हि सम्मुखं कार्यं विमुखं न कदाचन ॥ ७७ ॥

नाथ ! आप अर्जुनके अश्वकी प्रयत्नपूर्वक रक्षा कीजियेगा और संग्रामभूमिमें सम्मुख होकर ही युद्ध कीजियेगा, कभी युद्धसे मुख मत मोड़ियेगा ॥ ७७ ॥

सन्ति कृष्णस्य नार्यस्तु मण्डलेऽस्मिन् सुकोविदाः।
स्मिताननना भविष्यन्ति मां विलोक्य तव प्रियाम् ॥ ७८ ॥
श्रुत्वा भवन्तं विमुखं कुत्रापि सुमहद्रणात् ।
कया तच्छक्यते हास्यं श्रोतुं स्त्रीमुखसम्भवम् ॥७९॥

आजकल इस समाजमण्डलमें श्रीकृष्णकी विदुषी पत्नियाँ पधारी हुई हैं । वे आपको कहीं भी किसी महायुद्धसे विमुख हुआ सुनकर आपकी प्रियतमा पत्नी मेरी ओर देखकर मुसकराने लगेंगी । भला, स्त्रियोंके मुखसे निकले हुए उस उपहासको सुननेके लिये कौन स्त्री समर्थ हो सकती है ? ॥

एतासां प्राणनाथो हि विमुखोऽपि हि सम्मुखः ।
एतत् संचिन्त्य सकलं गम्यतां कार्यसिद्धये ॥८०॥

इन सबके प्राणनाथ श्रीकृष्ण तो (अभी-अभी अनुशाल्वके युद्धसे) विमुख होकर भी सम्मुख ही हैं, अतः स्वामिन् ! इन सब बातोंपर विचार करके आप अपना कार्य सिद्ध करनेके लिये प्रस्थान कीजिये ॥ ८० ॥

जैमिनिरुवाच

ततः प्रियां कर्णसुतः प्रत्युवाच स्मयन्निव ।
त्रैलोक्यमपि सम्प्राप्तं संग्रामे मम सम्मुखम् ॥ ८१ ॥
पाण्डवार्थे मया भीरु श्रोष्यसे विदलीकृतम् ।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तब वृषकेतुने अपनी प्यारी पत्नीको मुसकराते हुए यों उत्तर दिया—'भीरु ! यदि संग्रामभूमिमें मेरे सम्मुख त्रिलोकीके भी वीर उपस्थित हो जायँगे तो भी तुम सुनोगी कि मैंने अर्जुनके कार्यके निमित्त उनका खण्ड-खण्ड कर डाला है ॥ ८१½ ॥

यदि कर्णसुतश्चायं विमुखो जायते रणात् ॥ ८२ ॥
वासुदेवस्य माहात्म्यं विफलं सफलं तदा ।
काश्यां हि मरणान्मोक्षो गयायां पिण्डदानतः ॥ ८३ ॥
विपरीतमिदं भाव्यं माघे वेणीनिमज्जनात् ।

'प्रिये ! यदि यह कर्णका पुत्र युद्धसे विमुख हो जाय तो समझ लेना कि वासुदेवका सफल माहात्म्य निष्फल हो गया तथा काशीमें प्राण त्याग करनेसे, गयामें पिण्डदान देनेसे और माघमासमें त्रिवेणीमें स्नान करनेसे मोक्ष हो जाता है—ऐसा जो शास्त्रका निर्णय है, वह विपरीत फलवाला हो जायगा । (अर्थात् जैसे इन सब बातोंका व्यर्थ होना असम्भव है, उसी तरह मेरा युद्धविमुख होना भी असम्भव है) ॥ ८२-८३½ ॥

प्रियेऽहं यदि संग्रामे भविष्यामि पराङ्मुखः ॥ ८४ ॥
बिम्बाधरं ते वदनं न पश्यामि पुनस्त्वहम् ।

'प्रिये ! यदि मैं रणभूमिमें पहुँचकर युद्धसे विमुख हो जाऊँगा तो बिम्बाफलके सदृश लाल-लाल होठोंवाले तुम्हारे इस मुखको मैं फिर नहीं देखूँगा' ॥ ८४½ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं प्रययौ बहुभिर्वृतः ॥ ८५ ॥
ब्राह्मणांश्च गवां यूथं होमद्रव्यं च याज्ञिकम् ।
पुरस्कृत्य तदा राजन् वृषकेतुर्महाबलः ॥ ८६ ॥
कृष्णभीमादयः सर्वे प्रविष्टास्ते गजाह्वयम् ।

राजन् ! उस समय इतनी बात कहकर महाबली वृषकेतु ब्राह्मण, गो-समूह, हवन तथा यज्ञकी सामग्रीको (शकुनरूपमें) आगे करके बहुत बड़ी सेनाके साथ प्रस्थित हुआ और श्रीकृष्ण तथा भीमसेन आदि सभी लोग हस्तिनापुरको लौट गये ॥

अर्जुनस्य हयो राजन् पुरीं माहिष्मतीं ययौ ॥ ८७ ॥
नीलध्वजेन वीरेण रक्षितां दुर्गमण्डिताम् ।
नानाजनपदाकीर्णां नित्योत्सवविलासिनीम् ॥ ८८ ॥
नर्मदाजलपानेन लिङ्गाकारां हि भारत ।
मदनः किं शिवाद् भीतः प्रविष्टस्तां विभाति मे ॥८९॥
नराणामपि नारीणां वेषैर्दिव्यैर्मनोरमाम् ।

राजन् ! इधर अर्जुनका वह अश्व घूमता हुआ माहिष्मती-पुरीमें जा पहुँचा । वह नगरी वीरवर राजा नीलध्वजद्वारा सुरक्षित थी, बड़े-बड़े दुर्गोंके कारण उसकी बड़ी शोभा हो रही थी, वह अनेक जनपदोंसे व्याप्त थी तथा नित्य उत्सवों-द्वारा सुशोभित होती रहती थी, नर्मदा नदीका जलपान करने-के कारण (अर्थात् नर्मदा-तटपर स्थित होनेके कारण) वह शिवजीकी मूर्ति-सी प्रतीत होती थी । भारत ! मुझे तो ऐसा भान हो रहा था, मानो शिवजीसे भयभीत होकर साक्षात् कामदेव उस नगरीमें प्रविष्ट होकर उसकी शोभा बढ़ा रहा था । नर-नारियोंकी दिव्य वेष-भूषाके कारण भी वह अत्यन्त मनोरम लग रही थी ॥ ८७–८९½ ॥

नीलध्वजस्य पुत्रोऽपि रममाणस्तु कानने ॥ ९० ॥
स्त्रीसहस्रेण सहितः पुष्पितासु लतासु च ।
प्रवीरश्चम्पकस्याधः स्थितस्तत्र वरासने ॥ ९१ ॥

उस नगरीके एक सुन्दर उपवनमें नीलध्वजका पुत्र प्रवीर भी सहस्रों स्त्रियोंके साथ विहार कर रहा था । वह खिली हुई लताओंके मध्य एक चम्पाके वृक्षके नीचे श्रेष्ठ आसनपर विराज-मान था ॥ ९०-९१ ॥

सेव्यमानस्तु नारीभिर्गौरीभिर्जनमेजय ।
श्यामाभिर्वरवर्णाभिर्विशालनयनः प्रभुः ॥ ९२ ॥

जनमेजय ! उस विशाल नेत्रोंवाले सामर्थ्यशाली राजकुमार-की श्रेष्ठ रूप-रंगवाली स्त्रियाँ सेवा कर रही थीं । उन स्त्रियोंमें कुछ गौरी (रजोधर्मसे पूर्वकी अवस्थावाली) और कुछ श्यामा (षोडशवर्षीया) थीं ॥ ९२ ॥

उवाच वचनं वीरस्तदा मदनमञ्जरीम् ।
भूषितां रत्नमालाभिर्विचित्राभिर्विशेषतः ॥ ९३ ॥
गृह्णन्तु नार्यः सकला लताभ्यः सुमनांसि हि ।

उस समय उस वीरने अपनी पत्नी मदनमंजरीसे, जो विचित्र ढंगके बने हुए रत्नोंके हारोंसे विशेषरूपसे विभूषित थी, कहा—'प्रिये ! ये सभी स्त्रियाँ लताओंसे पुष्पसंचयन करें' ॥

ततस्तास्तद्वचः श्रुत्वा रणद्वलयभूषिताः ॥ ९४ ॥
सुस्मितास्तानि माल्यानि जगृहुः कृपयान्विताः ।
सहिताः प्राणनाथेन गायन्त्यः सुस्वरं मुदा ॥ ९५ ॥

तब प्रवीरकी बात सुनकर बजते हुए कंकणोंसे सुशोभित वे स्त्रियाँ अपनेको स्वामीकी कृपापात्र मानकर मुसकराती हुई पुष्प चुनने लगीं और अपने प्राणनाथके साथ आनन्दपूर्वक उत्तम स्वरसे गान करने लगीं ॥ ९४-९५ ॥

ततः प्रवीरमहिषी वनमध्ये तुरङ्गमम् ।
ददर्श स्वेच्छया प्राप्तं स्थितं मदनमञ्जरी ॥ ९६ ॥

तदनन्तर प्रवीरकी रानी मदनमंजरीने उपवनमें स्वेच्छा-नुसार आकर खड़े हुए उस अश्वको देखा ॥ ९६ ॥

भूषितं रत्नमालाभिर्बद्धपत्रं सुचर्चितम् ।
नारीणां कुङ्कुमकरैर्माल्यैश्च विविधैरपि ॥ ९७ ॥
अर्जुनस्य हयं वीक्ष्य प्रवीरं वाक्यमब्रवीत् ।

वह अश्व रत्नहारोंसे विभूषित था, उसके मस्तकपर स्वर्णपत्र बँधा हुआ था, स्त्रियोंके कुंकुमसंयुक्त हाथोंके छाप (थापों) द्वारा तथा तरह-तरहकी पुष्पमालाओंसे उसकी विशेष-रूपसे पूजा की गयी थी । अर्जुनके उस यज्ञिय अश्वको देखकर उसने प्रवीरसे कहा ॥ ९७½ ॥

मदनमञ्जर्युवाच

गोक्षीरवर्णं तुरगं नाथ पश्य समागतम् ॥ ९८ ॥
ताम्राधरं रक्तशफं पीतपुच्छं सुकन्धरम् ।
कृष्णकर्णं कृष्णनेत्रं मुक्तं कस्य करादमुम् ॥ ९९ ॥
भाले पत्रं सुलिखितं बद्धं वाचय मारिष ।
नाथ धारय मद्वाक्यात्तुरङ्गं कुरु मे प्रियम् ॥ १०० ॥

मदनमंजरी बोली—प्राणनाथ ! यहाँ आये हुए इस घोड़ेको देखिये । इसके शरीरका रंग गोदुग्धकी भाँति उज्ज्वल है, थूथुन ताँबेके-से रंगवाला है, खुर (टाप) लाल-लाल हैं, पूँछ पीली है, गर्दन बड़ी सुन्दर है, इसके कान और नेत्र काले-काले हैं । यह किसी वीरके हाथसे छोड़ा हुआ प्रतीत होता है; क्योंकि आर्य ! इसके मस्तकपर सुन्दर अक्षरोंसे खुदा

हुआ सुवर्ण-पत्र बँधा हुआ है। स्वामिन्! आप उसे पढ़ लीजिये और मेरे कहनेसे उस घोड़ेको पकड़कर मेरा प्रिय कार्य सम्पादन कीजिये ॥ ९८–१०० ॥

जैमिनिरुवाच

ततः प्रवीरस्तं वीक्ष्य प्रियावाक्येन नोदितः।
हयं जग्राह केशेषु माल्यवत्सु सुहर्षितः ॥१०१॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! तब प्रियतमा पत्नीके वाक्योंसे प्रेरित होकर प्रवीरने उस घोड़ेकी ओर दृष्टिपात किया और हर्षित होकर पुष्पोंसे गुँथे हुए उसके अयालको पकड़कर घोड़ेको रोक लिया ॥ १०१ ॥

वाचयामास तत् पत्रं धर्मराजेन यत् कृतम्।
युधिष्ठिरस्य तुरगं यज्ञार्थं किल मोचितम् ॥१०२॥
रक्ष्यमाणं तु पार्थेन गृह्णन्तु स्वबलान्नृपाः।
इति ज्ञात्वा प्रवीरोऽथ प्रेरयामास तं हयम् ॥१०३॥
स्त्रियः सर्वाः पुरीं धैर्यात् स्थितो युद्धे स्वयं तदा।
सैन्येन महता तत्र तृणीकृत्य धनंजयम् ॥१०४॥

फिर युधिष्ठिरने उसके मस्तकपर जो स्वर्णपत्र बाँध रखा था, उसे वह बाँचने लगा। उसमें लिखा था—'राजाओ! युधिष्ठिरके अश्वमेधयज्ञके निमित्त यह घोड़ा छोड़ा गया है और अर्जुन उसकी रक्षामें नियुक्त हैं, अतः यदि बल-पौरुष हो तो इसे पकड़ लो।' ऐसा जानकर प्रवीरने उस समय उस घोड़ेको तथा वहाँ आयी हुई सारी स्त्रियोंको तो अपनी पुरीमें भेज दिया और स्वयं अर्जुनको तृण-समान समझकर बहुत बड़ी सेनाके साथ वहाँ युद्धके लिये धैर्यपूर्वक डटकर खड़ा हो गया ॥ १०२–१०४ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि माहिष्मतीप्रवेशे तुरगग्रहणं नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें माहिष्मतीपुरीमें प्रवेश करनेपर घोड़ेका ग्रहणनामक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः

प्रवीरके साथ वृषकेतु और अनुशाल्वका युद्ध, नीलध्वजका अर्जुनके साथ युद्ध, उनके द्वारा अग्निका बाणरूपमें छोड़ा जाना, अग्निद्वारा अर्जुनकी सेनाका संहार, अर्जुनद्वारा अग्निका स्तवन, जनमेजयके पूछनेपर जैमिनिजीका अग्निके नीलध्वजके जामाता होनेका वृत्तान्त सुनाना, अर्जुनद्वारा नारायणास्त्रका संधान और अग्निका शान्त होकर अपने उद्दीप्त होनेका कारण बताना तथा नगरमें जाकर नीलध्वजको युद्ध बंद करनेके लिये कहना, पत्नीके कहनेसे नीलध्वजका पुनः अर्जुनके साथ युद्ध करना और मूर्च्छित होकर घर लौटना, वहाँ पत्नीको फटकारकर घोड़ा तथा भेंट-सामग्री लेकर अर्जुनसे मिलना और उनके साथ घोड़ेकी रक्षामें जाना, ज्वालाका अपने भाई उल्मुकको अर्जुनको मारनेके लिये उकसाना और उससे ठुकराये जानेपर गङ्गातीरपर जाना, वहाँ गङ्गामें डूबकर बाणरूपमें बभ्रुवाहनके तूणीरमें प्रवेश करना तथा गङ्गाजीद्वारा अर्जुनको शाप

जैमिनिरुवाच

ततः पार्थस्तु सम्प्राप्तो वीक्षमाणस्तुरङ्गमम्।
अनुशाल्वेन सहितो रुक्मिणीनन्दनेन च ॥ १ ॥
यौवनाश्वेन राजेन्द्र कर्णपुत्रेण धीमता।

जैमिनिजी कहते हैं—राजेन्द्र! तदनन्तर अर्जुन अनुशाल्व, प्रद्युम्न, यौवनाश्व तथा बुद्धिमान् वृषकेतुके साथ घोड़ेकी देख-भाल करते हुए वहाँ आ पहुँचे ॥ १½ ॥

सर्वेषामग्रतः प्राप्तो वृषकेतुर्महाबलः ॥ २ ॥
ददर्शाग्रे प्रवीरं हि स्वसैन्यव्यूहसंस्थितम्।
तिष्ठ तिष्ठेति भाषन्तं गृहीत्वा वरकार्मुकम् ॥ ३ ॥
नीलध्वजस्य पुत्रेण प्रवीरेण महाहयः।
पुरीं प्रवेशितः कोपान्मोचयत्वद्य पाण्डवः ॥ ४ ॥

उनमें सबसे पहले महाबली वृषकेतुने वहाँ पहुँचकर देखा कि प्रवीर अपना श्रेष्ठ धनुष हाथमें लिये हुए अपनी सेनाका व्यूह बनाकर सबसे आगे डटकर खड़ा है और 'खड़ा रह, खड़ा रह' कहकर ललकार रहा है। वह कहता है कि नीलध्वजके पुत्र मुझ प्रवीरने यज्ञिय अश्वको पकड़कर माहिष्मतीपुरीमें भेज दिया है। अब अर्जुन कोप करके उसे छुड़ा लें ॥ २—४ ॥

प्रवीरं तत्र प्रोवाच कर्णपुत्रः समागतः।
प्रथमं योधय त्वं मां पश्चात् पार्थं धनंजयम् ॥ ५ ॥

तब वहाँ आये हुए कर्णकुमार वृषकेतुने प्रवीरसे कहा— 'वीर! तुम पहले मेरे साथ युद्ध कर लो, फिर पीछे पृथापुत्र अर्जुनसे लड़ना' ॥ ५ ॥

प्रवीरः पञ्चभिर्बाणैर्विव्याध वृषभध्वजम्।
चतुर्भिश्चतुरो वाहान् बाणेनैकेन सारथिम् ॥ ६ ॥

यह सुनकर प्रवीरने पाँच बाणोंद्वारा वृषकेतुको, चार बाण मारकर उसके चारों घोड़ोंको और एक बाणसे सारथिको घायल कर दिया ॥ ६ ॥

सप्तभिः कर्णपुत्रस्तं निजघान हसन्निव।
शुकपिच्छनिभानस्य हयान् निन्ये यमक्षयम् ॥ ७ ॥
चतुर्भिः सायकैः कोपात् सिंहनादमथाकरोत्।

तब वृषकेतुने हँसते हुए-से सात बाणोंद्वारा प्रवीरपर प्रहार किया और कुपित होकर तोतेके पंखकी-सी आभावाले उसके घोड़ोंको चार बाण मारकर यमलोकका पथिक बना दिया। तत्पश्चात् वह सिंहकी भाँति दहाड़ने लगा ॥ ७½ ॥

प्रवीरः कर्णिना कर्णे कर्णपुत्रमताडयत् ॥ ८ ॥
तेन बाणेन मूर्च्छां हि वृषकेतू रणे ययौ।

तब प्रवीरने एक कर्णी नामक बाण चलाकर वृषकेतुके कानमें पीड़ा पहुँचायी। उस बाणकी चोट खाकर वृषकेतु रण-भूमिमें मूर्च्छित हो गया ॥ ८½ ॥

बाणेनैकेनानुशाल्वस्तेन विद्धः प्रतापिना ॥ ९ ॥
अनुशाल्वशरैर्घोरैः प्रवीरो नैव दृश्यते।
हाहाकारो महानासीत् तयोर्वीर समागमे ॥ १० ॥

पुनः उस प्रतापी प्रवीरने एक बाणसे अनुशाल्वको बींध दिया। तब अनुशाल्वने इतने भयंकर बाणोंकी वर्षा की कि उससे आच्छादित होकर प्रवीरका दीखना ही बंद हो गया। वीर! उन दोनोंके युद्धके अवसरपर महान् हाहाकार मच गया ॥ ९-१० ॥

नीलध्वजोऽथ सम्प्राप्तः पावकेन समन्वितः।
अक्षौहिणीभिस्तिसृभिर्वेष्टितः संगरं प्रति ॥ ११ ॥

तदनन्तर तीन अक्षौहिणी सेनाओंसे घिरे हुए राजा नीलध्वज अग्निदेवके साथ वहाँ युद्धस्थलमें आ पहुँचे ॥ ११ ॥

मोचयामास तं पुत्रमनुशाल्ववशं गतम्।
स सर्वान् परिविव्याध दशभिर्दशभिः शरैः ॥ १२ ॥

उन्होंने अनुशाल्वके वशमें पड़े हुए अपने पुत्र प्रवीरको उस भयसे मुक्त किया और सभी विपक्षी वीरोंको दस-दस बाणोंसे बींध दिया ॥ १२ ॥

जैमिनिरुवाच

नीलध्वजो जघानाशु तदद्भुतमिवाभवत्।
तेन विद्धं बलं वीक्ष्य सव्यसाची रुषान्वितः।
नीलध्वजं समासाद्य तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ १३ ॥
जघान पञ्चभिर्बाणै रणे माहिष्मतीपतिम्।
सोऽप्यर्जुनस्य तान् बाणांश्चिच्छेद तरसा हसन् ॥ १४ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! नीलध्वज शीघ्रतापूर्वक सेनाका संहार करने लगे। यह एक अद्भुत-सी बात हुई। उनके द्वारा अपनी सेनाका संहार होता देख सव्यसाची अर्जुन कुपित हो गये और माहिष्मती-नरेश नीलध्वजके समीप जाकर 'खड़े रहो, खड़े रहो' ऐसा कहते हुए उनपर पाँच बाणोंसे वार किया। तब नीलध्वजने हँसते हुए वेगपूर्वक अर्जुनके उन बाणोंको काट गिराया ॥ १३-१४ ॥

छिन्नाञ्छरान् स्वकान् दृष्ट्वा पार्थश्चक्रेऽतिपौरुषम्।
सरथं सध्वजं साश्वंससूतं सबलं रणे ॥ १५ ॥
अदृश्यं बाणसाहस्रैर्नीलकेतुं तदाकरोत्।
यमदूतं शुभैः स्तोत्रैर्विष्णोरिव भयंकरम् ॥ १६ ॥
करोति वैष्णवः कोपान्मूर्छितं मदगर्वितम्।

अपने बाणोंको कटा हुआ देखकर अर्जुनने अपना प्रबल पुरुषार्थ प्रकट किया। उस समय उन्होंने क्रोधमें भरकर रण-भूमिमें सहस्रों बाणोंकी वर्षा करके रथ, ध्वजा, अश्व, सारथि और सेनासहित मदगर्वित नीलध्वजको मूर्च्छित एवं अदृश्य कर दिया, ठीक उसी तरह जैसे कोई विष्णुभक्त भगवान् विष्णुके माङ्गलिक स्तोत्रोंके पाठद्वारा भयंकर यमदूतको मूर्च्छित एवं अदृश्य कर देता है ॥ १५-१६½ ॥

ततो मूर्च्छां विहायाशु पुनरेवोत्थितस्तदा ॥ १७ ॥
नामगर्जितमालोक्य जनं दूतगणो यथा ।
जामातरं पावकं हि संदधे कोपपूरितः ॥ १८ ॥

तदनन्तर जैसे (मरणासन्न मनुष्यके पास) भगवन्नामोंकी गर्जना होती देखकर यमदूत उस मनुष्यको त्यागकर पलायन कर जाते हैं, उसी तरह राजा नीलध्वज उस मूर्च्छाका परित्याग करके तुरंत ही उठ खड़े हुए और क्रोधमग्न होकर उन्होंने अपने जामाता अग्निदेवका बाणरूपमें धनुषपर संधान किया ॥ १७-१८ ॥

नीलध्वजकरान्मुक्तः पावकोऽप्यदहच्चमूम् ।
विशालैरर्चिभिर्दग्धाः पलायन्ते महाजनाः ॥ १९ ॥
तुरगा रथिनो राजन् पत्तयः शस्त्रवर्जिताः ।
करभाश्च वृषा दग्धा भारं त्यक्त्वा वनं गताः ॥ २० ॥
वामीगणाश्च शकटाः पूरिता धनसंचयैः ।
चामराणि च दह्यन्ते छत्राणि कवचानि च ॥ २१ ॥

राजन् ! नीलध्वजके हाथसे छूटे हुए अग्निदेव अर्जुनकी सेनाको भस्म करने लगे। उनकी विशाल लपटोंसे दग्ध होकर शूरवीर योद्धा भागने लगे, रथियों तथा पैदल सैनिकोंके हाथोंसे शस्त्र छूटकर गिर पड़े, घोड़े, ऊँट और बैल जलने लगे तथा वे अपने बोझेको फेंककर वनको चल दिये, घोड़ियाँ, धन-भंडारसे भरे हुए छकड़े, चँवर, छत्र और कवच भी जलने लगे ॥ १९–२१ ॥

मेदोधातुं समासाद्य पुनरेव प्रदीप्यते ।
कृष्णवर्त्मा क्षये प्राप्ते भूतानां च यथाभवत् ॥ २२ ॥
तथा पार्थबलं सर्वं समन्ताद् बुभुजे रणे ।

उस समय जीवोंकी चर्बीका संयोग पाकर अग्निदेव और अधिक उद्दीप्त होते जा रहे थे । जैसे प्राणियोंके संहारके समय संवर्तक नामक अग्नि प्रकट होती है, उसी तरह वे अग्निदेव युद्धस्थलमें चारों ओरसे अर्जुनकी सेनाको भस्म-कर रहे थे ॥ २२½ ॥

ततोऽर्जुनो रणश्लाघी वारुणास्त्रं समादधे ॥ २३ ॥
मुमुचे वह्निनाशाय न शान्तस्तेन पावकः ।
अर्जुनः प्रत्युवाचाथ पावकं परिदीपितम् ॥ २४ ॥

तदनन्तर युद्धकी अभिलाषा रखनेवाले वीर अर्जुनने वारुणास्त्रका संधान किया और उसे अग्निदेवका विनाश करनेके लिये छोड़ दिया, परंतु जब उस वारुणास्त्रसे भी अग्निदेव शान्त नहीं हुए, तब अर्जुनने उन धधकते हुए पावकसे कहा ॥ २३-२४ ॥

अर्जुन उवाच

त्वमेव सर्वदेवानां मुखं तुभ्यं नमोऽग्नये ।
त्वत्प्रीतये वाजिमेधं प्रकरोति युधिष्ठिरः ॥ २५ ॥

अर्जुन बोले—अग्निदेव ! आप ही समस्त देवताओंके मुख हैं, आपको नमस्कार है । महाराज युधिष्ठिर आपको प्रसन्न करनेके लिये ही अश्वमेध यज्ञ कर रहे हैं ॥ २५ ॥

त्वया दत्तं हि गाण्डीवं रथो दिव्यस्तथैव च ।
परमं सौहृदं दिव्यं सर्वदा क्रियते विभो ॥ २६ ॥
बलं हतं हयो नीतस्त्वमतीव प्रदीप्यसे ।
किं करोमि भवान् प्रीतिं परित्यज्य प्रवर्तते ॥ २७ ॥

विभो ! आपने ही मुझे गाण्डीव धनुष और दिव्य रथ प्रदान किया है तथा सर्वदा मेरे साथ उत्तम एवं दिव्य सौहार्दका व्यवहार करते आये हैं; परंतु आज जब कि मेरी सेनाका संहार हो गया और घोड़ेका भी अपहरण कर लिया गया, फिर भी आप अधिकाधिक उद्दीप्त होते जा रहे हैं। जब आप यों प्रेम-भावको तिलाञ्जलि देकर विपरीत व्यवहार करनेपर उतारू हो गये हैं, तब बताइये, मैं क्या करूँ ॥ २६-२७ ॥

जनमेजय उवाच

कथं जामातरं वह्निं लब्धवान् स महीपतिः ।
का च कन्या पावकाय दत्ता तेन महात्मना ॥ २८ ॥
एतत् सर्वं समाचक्ष्व मया पृष्टोऽसि जैमिने ।
कौतुकं वर्ततेऽस्माकं श्रुत्वा पार्थबलं हतम् ॥ २९ ॥

यह सुनकर जनमेजयने पूछा—जैमिने ! राजा नीलध्वजने अग्निदेवको अपने जामाताके रूपमें कैसे उपलब्ध किया ? उन महात्मा भूपालने अपनी कौन-सी कन्या उन्हें समर्पित की थी ? महर्षे ! मैंने आपसे जो कुछ पूछा है, वह सब मुझे बताइये; क्योंकि अर्जुनकी सेनाका अग्निद्वारा संहार हुआ सुनकर इन बातोंको जाननेके लिये मुझे बड़ी उत्कण्ठा हो रही है ॥ २८-२९ ॥

जैमिनिरुवाच

नीलध्वजस्य महिषी ज्वाला नाम्नी सुमध्यमा ।
स्वाहां कन्यां प्रसूता सा सुन्दरीं धर्मतत्पराम् ॥ ३० ॥

सर्वलक्षणसम्पन्नां कुमारीं लोकसुन्दरीम् ।
वर्धमानां पितृगृहे सुन्दरीं बन्धुपूजिताम् ॥ ३१ ॥
अतीवरूपसम्पन्नां त्रैलोक्यस्यापि मोहिनीम् ।
नीलध्वजस्तु तां वीक्ष्य कालेन कियता सुताम्॥ ३२ ॥
कस्मै प्रदेया कन्येयमिति चिन्तापरोऽभवत् ।
पप्रच्छ तां चारुनेत्रां भर्ता कस्तव रोचते ॥ ३३ ॥

जैमिनिजीने कहा—राजन् ! नीलध्वजकी एक रानी-का नाम ज्वाला था । उसने एक कन्याको जन्म दिया, जिसका नाम स्वाहा था । वह कन्या परम सुन्दरी तथा धर्म-परायणा थी, सारे शुभलक्षणोंसे सम्पन्न तथा संसारमें अद्वितीय सुन्दरी थी, बन्धु-बान्धवोंद्वारा सत्कृत होकर पिताके घरमें बढ़ रही थी, अत्यन्त रूपवती होनेके कारण त्रिलोकीको भी मोहमें डालनेवाली थी । कुछ समयके बाद अपनी उस परम सुन्दरी कुमारी कन्याको (विवाहके योग्य) देखकर नीलध्वज इस चिन्तामें पड़ गये कि यह कन्या किसके हाथमें समर्पित की जाय ? तब उन्होंने उस सुन्दर नेत्रवाली कन्यासे पूछा—'पुत्री ! तुझे किसको अपना पति बनाना अच्छा लगता है ? ॥ ३०–३३ ॥

राजानो राजपुत्राश्च सन्ति पुत्रि सहस्रशः ।
पट्टस्थान् पश्य वीरांस्तांस्ततो ब्रूहि स्ववल्लभम्॥३४॥

'बेटी ! जगत्‌में सहस्रों राजा तथा राजकुमार हैं । यहाँ चित्रपटोंमें विराजमान इन वीरोंकी ओर दृष्टिपात कर ले, फिर तुझे जो प्रिय लगे, उसे बता' ॥ ३४ ॥

स्वाहा तं प्रत्युवाचाथ पितरं लज्जिता सती ।

यह सुनकर स्वाहा लज्जित हो गयी और फिर पितासे बोली ॥ ३४½ ॥

स्वाहोवाच

न मानुषं कामयेऽहं लोलुपं मोहवेष्टितम् ॥ ३५ ॥
देववर्यं वरं तात मम योग्यं विचिन्तय ।

स्वाहाने कहा—तात ! मैं मनुष्यको अपना पति बनाना नहीं चाहती; क्योंकि वह लोलुप तथा मोहग्रस्त होता है, अतः देवताओंमेंसे किसी श्रेष्ठ देवताको मेरे योग्य वर बनानेका विचार कीजिये ॥ ३५½ ॥

नीलध्वज उवाच

देवराजं महाबाहुं वरं वरय शोभने ॥ ३६ ॥
आगमिष्यति लोकेऽस्मिन् मानुषीकामुकः स्वयम् ।
मत्ते गजे समारूढः शक्रः सोऽनन्तलोचनः ॥ ३७ ॥

नीलध्वजने कहा—शोभने ! तू देवताओंके राजा महाबाहु इन्द्रका पतिरूपमें वरण कर ले । वे बहुत-से नेत्रों-वाले इन्द्र मतवाले गजराज ऐरावतपर सवार होकर स्वयं ही इस लोकमें आयेंगे; क्योंकि वे मानुषी स्त्रियोंके कामुक हैं ॥ ३६-३७ ॥

पितुर्वाक्यं समाकर्ण्य स्वाहा वचनमब्रवीत् ।

पिताकी बात सुनकर स्वाहा इस प्रकार कहने लगी ॥ ३७½ ॥

स्वाहोवाच

इन्द्रं न कामये तात सर्वदोषस्य कारणम् ॥ ३८ ॥
परोदयं न सहते तपसा दानकारितम् ।
देवराजो गौतमस्य प्रियां कामयते यदि ॥ ३९ ॥
अनुजः केशवो येन कृतः का तं हि कामयेत् ।
लघीयांसं जगन्नाथं विष्णुं चक्रेऽतिमोहितः ॥ ४० ॥
पदं यस्मान्महत् प्राप्तं कृतघ्नः किल वासवः ।

स्वाहा बोली—तात ! मुझे इन्द्रकी कामना नहीं है; क्योंकि वे सारे दोषोंके कारण हैं । तपस्या तथा दानके फलस्वरूप प्राप्त हुई दूसरेकी उन्नतिको नहीं सह पाते । इन्हीं देवराजने गौतमकी प्रियतमा पत्नी अहल्याकी कामना की थी । इन्द्र तो निश्चय ही बड़े कृतघ्न हैं; क्योंकि जिनकी कृपासे इन्हें इतने बड़े देवेन्द्रपदकी प्राप्ति हुई, उन्हीं जगदीश्वर भगवान् विष्णुको इन्होंने अपनेसे छोटा बना दिया । जिन्होंने श्रीकृष्णको (उपेन्द्ररूपसे) अपना अनुज बनाया, ऐसे इन्द्रको कौन स्त्री अपना पति बनाना चाहेगी ? ॥३८–४०½॥

मानुषा ये मया त्यक्तास्तत्र मे कारणं शृणु ॥ ४१ ॥
स्त्रीणां शरीरं समलं प्रथमं तात जायते ।
एकं नरं पतिं प्राप्य द्वितीयं कुरुतेऽत्र या ।
सा याति नरकं घोरं शीलभङ्गान्मया श्रुतम् ॥ ४२ ॥

अब जिस कारणसे मैंने मनुष्योंको पति बनानेसे इनकार कर दिया है, उसको बताती हूँ, सुनिये । तात ! स्त्रियोंका शरीर तो पहलेसे ही मलिन होता है, उसपर भी जो स्त्री संसारमें एक पतिको पाकर पुनः दूसरे पुरुषको पति बना लेती है, वह शील-भंगरूप दोषके कारण घोर नरकमें पड़ती है—ऐसा मैंने सुन रखा है ॥ ४१-४२ ॥

मृते भर्त्तरि गात्रस्य स्पर्शं पश्चात् करोति यः ।
स पावको देवमुखं भर्ता मे तात रोचते ॥ ४३ ॥

तात ! पतिकी मृत्युके पश्चात् जो स्त्रियोंके शरीरका स्पर्श करते हैं तथा देवोंके मुखस्वरूप हैं, उन अग्निदेवको ही अपना पति बनाना मुझे पसंद आ रहा है ॥ ४३ ॥

नान्यं देवं नासुरं वा किन्नरं वा महोरगम् ।
वरयामि वरं लोके विना तं हव्यवाहनम् ॥ ४४ ॥

मैं संसारमें उन हव्यवाहनके अतिरिक्त अन्य किसी देवता, असुर, किन्नर अथवा नागको पतिरूपमें वरण नहीं करूँगी ॥ ४४ ॥

यद्यायाति स्वयं वह्निरर्थयिष्यति मामिह ।
तन्मां तात महाबुद्धे तस्मै त्वं दातुमर्हसि ॥ ४५ ॥

महाबुद्धिमान् पिताजी ! यदि अग्निदेव स्वयं यहाँ आकर मेरे लिये आपसे याचना करें तो आपको मुझे उनके हाथमें समर्पित कर देना चाहिये ॥ ४५ ॥

जैमिनिरुवाच

एवंविधं वचः श्रुत्वा स्वाहाप्रोक्तं सुभाषितम् ।
नीलध्वजस्तदा हृष्टो विस्मितोऽभून्महाबलः ॥ ४६ ॥

जैमिनिजी कहते हैं--जनमेजय ! उस समय स्वाहा-द्वारा कहे गये ऐसे सुन्दर वचनोंको सुनकर महाबली नीलध्वज हर्षित एवं आश्चर्यचकित हो गये ॥ ४६ ॥

प्रहसन्त्यः स्त्रियो राजन् परुषं वाक्यमब्रुवन् ।
किमिदं भाषसे बाले विपरीतं नृपं प्रति ॥ ४७ ॥

राजन् ! तब वहाँकी उपस्थित नारियाँ हँसती हुई स्वाहासे कठोर बातें कहने लगीं—'अरी बाले ! तू राजासे यह कैसी विपरीत बात कह रही है ? ॥ ४७ ॥

वह्निं वरं कथं ब्रूषे दाहकं सर्वभक्षकम् ।
तथा हि कृष्णवर्त्मानं मेषवाहनमातुरम् ॥ ४८ ॥
सप्तजिह्वं धूम्रमुखं हा कष्टं संस्थितं त्विदम् ।
स्त्रीणां चित्तं कुरूपे हि याति मन्दजने तथा ॥ ४९ ॥
उच्चान्नीचं गता गङ्गा पावनी या जगत्त्रये ।

'जो सबको जलानेवाले तथा सर्वभक्षी हैं, जो कृष्णवर्त्मा कहलाते हैं, मेष जिनका वाहन है, जो सदा आतुर रहते हैं, जिनके सात जिह्वाएँ हैं और धुआँ ही जिनका मुख है, ऐसे अग्निको तू कैसे पति बनानेके लिये कहती है ? हा ! यह तो बड़े कष्टकी बात उपस्थित हुई । परंतु ठीक है स्त्रियोंका मन कुरूप एवं मन्द पुरुषोंपर अधिक आसक्त होता है । देखो न, जो गङ्गाजी तीनों लोकोंमें परम पावनी विख्यात हैं, वे भी जब ऊँचे (स्वर्ग) से नीचे (मृत्युलोकमें) चली आयीं (तब औरोंकी क्या बात है)' ॥ ४८-४९½ ॥

स्वाहा तासां समाकर्ण्य वचनानि त्वरान्विता ॥ ५० ॥
स्नाता सा शुभ्रवसना स्थापयित्वा हुताशनम् ।
ब्राह्मणैः सहिता नित्यं ध्यायन्त्युपवने स्थिता ॥ ५१ ॥

उन स्त्रियोंका कथन सुनकर स्वाहाने तुरंत ही स्नान करके निर्मल वस्त्र धारण किया और ब्राह्मणोंके साथ उपवनमें जाकर अग्निदेवकी स्थापना करके निरन्तर उन्हींका ध्यान करती हुई बैठ गयी ॥ ५०-५१ ॥

अगुरुं चन्दनं विप्रा घृतं रम्यं च पायसम् ।
शर्करामिक्षुखण्डांश्च क्षौद्रं द्राक्षास्तथा तिलान् ।५२।
कर्पूरं वरताम्बूलं लवङ्गं जातिजं फलम् ।
रम्भाफलानि जुहुवुस्तथा वह्नौ प्रणोदिताः ॥ ५३ ॥

तदनन्तर स्वाहाकी प्रेरणासे ब्राह्मणलोग उस प्रज्वलित अग्निमें अगुरु, चन्दन, घृत, सुन्दर खीर, खाँड, इक्षुखण्ड (गड़ेरी), मधु, दाख, तिल, कपूर, उत्तम ताम्बूल, लौंग, जायफल और केलेके फलोंकी आहुतियाँ देने लगे ॥५२-५३॥

मुक्तामालां गृह्य बाला रणद्वलयनूपुरा ।
सखीपरिवृता स्वाहा शुश्रूषन्ती हुताशनम् ॥ ५४ ॥

उस समय जिसके हाथोंमें कंकण और पैरोंमें पायजेब बज रहे थे, ऐसी कुमारी स्वाहा सखियोंसे घिरी हुई हाथमें मोतियोंकी माला लेकर अग्निदेवकी उपासना करने लगी ॥ ५४ ॥

ततः कालेन महता नारदेन प्रबोधितः ।
पावको विप्ररूपेण प्राप्तो नीलध्वजं प्रति ॥ ५५ ॥

तदनन्तर बहुत समय व्यतीत हो जानेपर जब नारदजीने अग्निदेवको इस घटनाकी सूचना दी, तब वे ब्राह्मण-वेषमें राजा नीलध्वजके पास आये ॥ ५५ ॥

विप्रं पूजितमेवादौ दत्त्वार्घ्यं स्वासने स्थितम् ।
पप्रच्छ सादरं राजन् कुतः प्राप्तोऽसि वै मुने ॥ ५६ ॥
आदेशो दीयतां मह्यं किमाज्ञप्तः करोम्यहम् ।

राजन्! तब राजाने पहले अर्घ्य आदि प्रदान कर उन ब्राह्मण देवताकी पूजा की और फिर अपने आसनपर बैठाया। तत्पश्चात् आदरपूर्वक पूछा—'मुने! कहाँसे आपका आगमन हो रहा है ? मुझे आज्ञा दीजिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?' ॥ ५६½ ॥

विप्र उवाच

कन्यार्थिनं विद्धि राजन् विप्रं शाण्डिल्यगोत्रजम् ५७
त्वद्गृहे विद्यते बाला मह्यं तां देहि कन्यकाम्।

तब ब्राह्मणदेव बोले—राजन्! तुम्हें विदित होना चाहिये कि मैं शाण्डिल्य-गोत्रमें उत्पन्न एक ब्राह्मण हूँ और कन्याकी इच्छासे यहाँ आया हूँ। तुम्हारे घरमें कुमारी कन्या वर्तमान है, अतः तुम मुझे उस कन्याको (पत्नीरूपमें) प्रदान कर दो ॥ ५७½ ॥

राजोवाच

न मानुषं वरयते पावके सस्पृहा सुता ॥५८॥
अन्यां कन्यां प्रयच्छामि यदि ते रोचते द्विज।

राजाने कहा—ब्रह्मन्! मेरी वह कन्या किसी मनुष्यको वरण करना नहीं चाहती, उसकी अभिलाषा है कि अग्निदेव मेरे पति हों; अतः यदि आपको रुचे तो मैं कोई दूसरी कन्या आपके लिये प्रदान करूँ ॥ ५८½ ॥

विप्र उवाच

मां विद्धि पावकं राजन् विप्रवेषेण संस्थितम् ॥५९॥
स्वाहासत्येन गुरुणा संतुष्टं कामपूरितम्।

ब्राह्मणने कहा—राजन्! विप्रवेषमें उपस्थित हुए मुझे आप अग्नि ही समझिये। स्वाहाने अपने महान् सत्यव्रतके द्वारा मुझे संतुष्ट कर लिया है, अतः मेरा मन भी उसकी कामनासे परिपूर्ण हो रहा है ॥ ५९½ ॥

जैमिनिरुवाच

एतत् तस्य वचः श्रुत्वा सस्मेरवदनो जनः ॥ ६० ॥
प्रत्युवाचाथ नृपतिं तत्रस्थं विस्मितोऽपि सन्।
कन्यानिमित्तं विप्रोऽसौ जायते यदि पावकः ॥ ६१ ॥
विना पावकनाथेन स्वाहा देया न कस्यचित्।
सचिवः किं न जानाति विप्रं सम्यक् परीक्षितुम्॥ ६२ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! ब्राह्मणकी यह बात सुनकर लोगोंके मुखपर मुसकराहट आ गयी। वे आश्चर्यचकित होकर वहाँ बैठे हुए राजा नीलध्वजसे कहने लगे—'महाराज! यदि सचमुच अग्निदेव ही कन्याके लिये ब्राह्मणका वेष धारण करके आये हैं तो ये अपने असली रूपमें प्रकट हों; क्योंकि अग्निदेवके अतिरिक्त किसी दूसरेके हाथमें स्वाहाको सौंपना उचित नहीं है। क्या मन्त्रीजी इन ब्राह्मण देवताकी भलीभाँति परीक्षा करना नहीं जानते ?' ॥६०—६२॥

प्रधान उवाच

न जानीमो वयं सर्वे भवन्तं पावकं स्थितम्।
आत्मानं दर्शय विभो रम्यं पावकरूपिणम् ॥ ६३ ॥

तब प्रधान मन्त्रीने कहा—ब्रह्मन्! हमलोग यह नहीं समझ पा रहे हैं कि हमारे समक्ष खड़े हुए आप अग्निदेव ही हैं, अतः विभो! आप अपने रमणीय पावक रूपको यहाँ प्रकट कीजिये ॥ ६३ ॥

ततो विप्रमुखादग्निर्ज्वालामाली विनिर्गतः।
कूर्चं हि सचिवस्यापि ददाह कुपितस्तदा ॥ ६४ ॥

तदनन्तर ज्वालाओंकी माला धारण किये हुए अग्निदेव उस ब्राह्मणके मुखसे बाहर निकल पड़े और क्रुद्ध होकर उन्होंने उस समय उस प्रधानकी दाढ़ीको भी जला दिया ॥ ६४ ॥

प्रधाने दह्यमाने च सर्वे लोकाश्चकम्पिरे।
राजा तं शमयामास वह्निसूक्तेन तत्क्षणात् ॥ ६५ ॥

जब प्रधानजीकी दाढ़ी जलने लगी, तब सभी लोग भयसे काँप उठे। तब राजा नीलध्वजने तत्काल ही अग्निसूक्तका पाठ करके उन अग्निदेवको शान्त किया ॥ ६५ ॥

एतस्मिन्नन्तरे राजन् विनोदः सुमहानभूत्।
मातृष्वसाथ कन्याया राजानं वाक्यमब्रवीत् ॥ ६६ ॥
न दातव्या त्वया कन्या ब्राह्मणाय कथंचन।
इन्द्रजालिकवद् वह्निं दर्शयत्येव भूसुरः ॥ ६७ ॥

राजन्! इसी बीचमें एक और अत्यन्त विनोदकी बात घटित हुई। (वह यह है कि) उस कन्या (स्वाहा) की मौसीने राजा नीलध्वजसे यों कहा—'राजन्! आपको किसी प्रकार भी इन ब्राह्मणको कन्या नहीं देनी चाहिये; क्योंकि यह ब्राह्मण इन्द्रजाल करनेवाले (जादूगर) की भाँति ही अग्निको प्रकट करके दिखा रहा है ॥ ६६-६७ ॥

राजा तां प्रत्युवाचाथ श्यालिकां प्रहसन्निव।
स्वगृहं नय भद्रं ते मम जामातरं शुभे ॥ ६८ ॥

परीक्षय विशालाक्षि विप्रो वा पावकोऽपि वा ।

तब राजा हँसते हुए अपनी उस सालीसे बोले—'शुभे ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम मेरे इन जामाताको अपने घर ले जाओ और विशाललोचने ! वहाँ इस बातकी परीक्षा कर लो कि ये कोई साधारण ब्राह्मण हैं अथवा स्वयं अग्निदेव ही हैं' ॥ ६८½ ॥

ततो गृहं गता देवी ब्राह्मणेन समन्विता ॥ ६९ ॥
प्रत्युवाच परीक्षां मे देहि विप्र सनातनीम् ।

तब वह देवी (राजाकी साली) उन ब्राह्मणदेवको साथ लेकर अपने घर गयी और वहाँ उनसे बोली—'विप्र ! आप मुझे अपनी सनातनी परीक्षा दीजिये' ॥ ६९½ ॥

अग्निर्ददाह कुपितो मन्दिरं वरचित्रितम् ॥ ७० ॥
तस्याश्च गोपुरं रम्यं वासो रत्नविचित्रितम् ।
तिष्ठ तिष्ठेति वचनं जगाद च धनंजयः ॥ ७१ ॥

यह सुनकर अग्निदेव क्रुद्ध हो गये और उसके उत्तम शिल्प-कर्मसे सुशोभित महलको जलाने लगे । उन धनंजय नामक अग्निदेवने उसके रमणीय गोपुर (फाटक) और रत्नजटित वस्त्रको जलाकर उससे कहा—'अरी ! खड़ी रह, खड़ी रह' ॥ ७०-७१ ॥

प्रच्छादनं च तस्याश्च पट्टवस्त्रं सुशोभनम् ।
दह्यमानं परित्यज्य नग्ना सा प्राद्रवद् भृशम् ॥ ७२ ॥

जब उसका सुन्दर रेशमी दुपट्टा जलने लगा, तब वह उसे फेंककर नग्न-अवस्थामें ही बड़े वेगसे भाग चली ॥७२॥

कोलाहलश्च तत्रैव संजातो हि नरेश्वर ।
दुद्रुवुश्च जनाः सर्वे तत्र वह्निभयार्दिताः ॥ ७३ ॥

नरेश्वर ! उस समय वहाँ बड़ा कुहराम मच गया और सभी लोग अग्निके भयसे पीडित होकर भागने लगे ॥ ७३ ॥

सा प्राप्ता राजभवनं रुदन्ती सुस्वरं तदा ।
नृप वारय तं वह्निं ज्वालयन्तं गृहान्मम ॥ ७४ ॥

तत्पश्चात् वह उच्च स्वरसे विलाप करती हुई राजा नीलध्वजके महलमें पहुँचकर उनसे कहने लगी—'राजन् ! मेरे घरोंको जलाते हुए इन अग्निदेवका आप निवारण कीजिये' ॥ ७४ ॥

राजोवाच

परीक्षितस्त्वया भद्रे कालेनाल्पेन पावकः ।
क्षणं प्रतीक्ष विप्रस्य परीक्षा लभ्यते यथा ॥ ७५ ॥

राजा नीलध्वजने कहा—भद्रे ! अभी तो तूने बहुत थोड़े समयमें ही अग्निकी परीक्षा की है, क्षणभर और प्रतीक्षा कर ले, जिससे इन ब्राह्मणदेवकी पूरी परीक्षा हो जाय ॥७५॥

श्यालिकोवाच

त्वया साधु कृतं राजञ्जामाता तव तिष्ठतु ।
एतस्मिन्नन्तरे राजा समाहूय विभावसुम् ॥ ७६ ॥
समयं वह्निना चक्रे न गन्तव्यं हि मत्पुरात् ।
ततः कन्यां प्रदास्यामि यदि ते रोचते विभो ॥ ७७ ॥
आगमिष्यन्ति ये राष्ट्रे मदीये ते त्वया रणे ।
दाहनीयाः शत्रवस्तु मयाऽऽज्ञप्तेन पावक ॥ ७८ ॥

सालीने कहा—राजन् ! आपने बड़ा सुन्दर कार्य किया है । ये आपके जामाता होकर रहें (इसमें कोई आपत्ति नहीं है) । इसी अवसरपर राजाने अग्निको बुलाकर उनके सामने यह शर्त रखी—'पावक ! आपको मेरे नगरसे बाहर नहीं जाना होगा तथा जो शत्रु मेरे देशपर चढ़ आयेंगे, उन्हें मेरी आज्ञासे आपको रणभूमिमें भस्म कर देना पड़ेगा । विभो ! यदि आपको यह शर्त रुचती हो तभी मैं अपनी कन्या आपको प्रदान करूँगा' ॥ ७६–७८ ॥

ततः प्रधानो नृपतिं प्राह किं क्रियते त्वया ।
गृहे जामातरं वह्निं सर्वदा परिरक्षसि ॥ ७९ ॥
स्वाहां गृहीत्वा व्रजतु यथास्थानं नराधिप ।

तदनन्तर प्रधानजीने राजासे कहा—'महाराज ! यह आप क्या कर रहे हैं ? क्या अग्निको जामाता बनाकर सदा उन्हें अपने घरमें ही रखना चाहते हैं ? नरेश्वर ! ये अग्निदेव स्वाहाको साथ लेकर अपने अभिलषित स्थानको चले जायँ (यही उचित है)' ॥ ७९½ ॥

प्रधानवचनं श्रुत्वा राजा वचनमब्रवीत् ॥ ८० ॥
यावन्न गृहजामाता जायते मम पावकः ।
तावदेव महत् तेजो दृश्यतेऽस्य न संशयः ॥ ८१ ॥

मन्त्रीकी बात सुनकर राजाने यों उत्तर दिया—'प्रधान-जी ! जबतक ये अग्निदेव मेरे घरके जामाता नहीं बन जाते हैं, तभी-तक इनका यह महान् तेज दीख रहा है, इसमें संशय नहीं है ॥ ८०-८१ ॥

जामातरि गृहे जाते क्षीणतेजा भविष्यति ।

तथापि पुररक्षार्थं संश्रयामि धनंजयम् ॥ ८२ ॥
प्रदत्तास्मै मया कन्या स्वाहा सचिव साम्प्रतम् ।

'प्रधानजी ! जब ये मेरे घरके जामाता बन जायँगे, तब इनका तेज क्षीण हो जायगा । तो भी अपने नगरकी रक्षाके लिये मैं इन धनंजय नामक अग्निका आश्रय ग्रहण करूँगा । अब मैं अपनी कन्या स्वाहाका इन्हें दान कर चुका' ॥ ८२½ ॥

जैमिनिरुवाच

ततो ददौ निजां कन्यां सुलग्ने सोऽग्नये तदा ॥ ८३ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर उसी समय उत्तम लग्नमें राजाने अपनी कन्या अग्निदेवको समर्पित कर दी ॥ ८३ ॥

जाते पाणिग्रहे वह्निः स्थितो राजगृहे सुखम् ।
तं वह्निं संदधे राजा स्वजामातरमाहवे ॥ ८४ ॥

स्वाहाका पाणिग्रहण हो जानेपर अग्निदेव सुखपूर्वक राजमहलमें निवास करने लगे । उन्हीं जामाता अग्निदेवका राजाने युद्धस्थलमें धनुषपर संधान किया था ॥ ८४ ॥

कारणं कथितं सर्वं यत्पृष्टोऽहं जनाधिप ।
जनमेजय महाबुद्धे शृणु चाग्रे कथानकम् ॥ ८५ ॥

जनेश्वर ! तुमने जो मुझसे पूछा था, वह सब कारण मैंने बतला दिया । महाबुद्धिमान् जनमेजय ! अब आगेकी कथा सुनो ॥ ८५ ॥

अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा पुनर्वह्निः प्रदीपितः ।
चिन्तयामास पार्थोऽपि तदा नारायणास्त्रकम् ॥ ८६ ॥

जब अर्जुनके वचन सुनकर अग्निदेव पुनः प्रज्वलित हो उठे, तब अर्जुनने भी नारायणास्त्रका स्मरण किया ॥ ८६ ॥

ततो नारायणास्त्रं तत् संधितं वीक्ष्य पावकः ।
शान्तिं जगाम पार्थस्य पुरतः स्थितवानसौ ॥ ८७ ॥

तत्पश्चात् उस नारायणास्त्रका धनुषपर संधान हुआ देख अग्निदेव शान्त हो गये और अर्जुनके आगे आकर खड़े हो गये ॥ ८७ ॥

उवाच तत्र बीभत्सुं स्वकीयं कारणं च तत् ।
दण्डस्तु पातितः पार्थ तवोपरि मयाधुना ॥ ८८ ॥

उस समय वे अर्जुनसे अपने आक्रमणका कारण बताने लगे—'पार्थ ! इस समय मैंने तुम्हारी सेनापर जो दण्ड प्रहार किया है (उसका एक कारण है) ॥ ८८ ॥

अश्वमेधेन नृपतिं करोषि यदि पावनम् ।
समीपे पुण्डरीकाक्षे स्थिते तव धनंजय ॥ ८९ ॥
न यागो नैव देवा वा मन्त्रास्ते हरिणा विना ।
समर्थाः पावनं कर्तुं विश्वासस्ते न माधवे ॥ ९० ॥

'धनंजय ! यदि तुम कमलनयन श्रीकृष्णके समीप उपस्थित रहनेपर भी अश्वमेध यज्ञद्वारा राजा युधिष्ठिरको पवित्र करना चाहते हो तो उन श्रीहरिके बिना यज्ञ, देवता अथवा मन्त्र—कोई भी उन्हें पवित्र करनेमें समर्थ नहीं है । ऐसा प्रतीत होता है कि तुम्हारा श्रीकृष्णपर विश्वास नहीं है ॥

क्षीरार्णवं भवान् प्राप्य किमजां दोग्धुमिच्छति।
परित्यज्योदितं सूर्यं खद्योतं काङ्क्षते कथम् ॥ ९१ ॥

'तुम क्षीरसागरको पाकर भी दूधके लिये बकरी क्यों दुहना चाहते हो तथा उदित हुए सूर्यका परित्याग करके प्रकाशके लिये जुगनूकी आकाङ्क्षा कैसे कर रहे हो ? ॥ ९१ ॥

सखासि मम वीर त्वं न कृतघ्नोऽस्मि तेऽर्जुन ।
सैन्यं मया समासाद्य त्वदीयं पातितं रणे ॥ ९२ ॥
नारायणास्त्रं प्रथमं संधत्से यदि पाण्डव ।
न ते सैन्यं मया ग्रस्तं जायतेऽत्र कथंचन ॥ ९३ ॥
संसारतापहीनास्ते ये स्मरन्ति जनार्दनम् ।
तस्मात् तव बलं सर्वं पुनस्तिष्ठतु दंशितम् ॥ ९४ ॥

'वीर! तुम मेरे मित्र हो । अर्जुन ! मैं तुम्हारे प्रति कृतघ्न नहीं हूँ । संग्राममें जो मैंने तुम्हारी सेनासे टक्कर लेकर उसे भस्म कर डाला है । (इसमें तो तुम्हारी भूल ही कारण है; क्योंकि) पाण्डुनन्दन ! यदि तुमने नारायणास्त्रका संधान पहले ही कर लिया होता तो तुम्हारी सेना युद्धमें किसी प्रकार मेरेद्वारा ग्रस्त नहीं होती; क्योंकि जो जनार्दनका स्मरण करते हैं, वे संसारके तापसे मुक्त हो जाते हैं (फिर मेरे तापसे छूटना कौन बड़ी बात है ?); इसलिये तुम्हारी नष्ट हुई सारी सेना पुनः उठ खड़ी हो ॥ ९२–९४ ॥

प्रयुज्य मां गतो राजा स्वगृहं तन्निबोधये ।
यथाऽऽनयेत् स तुरगं सम्बद्धं मन्दुरोदरे ॥ ९५ ॥

'राजा नीलध्वज मुझे यहाँ नियुक्त करके अपने घर चला गया है, अतः मैं जाकर उसे इस प्रकार समझाऊँगा,

जिससे वह घुड़सालमें सुरक्षितरूपसे बँधे हुए घोड़ेको यहाँ ले आवे' ॥ ९५ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं क्षमयित्वा धनंजयम् ।
नीलध्वजसमीपेऽग्निर्गत्वा संस्थितवानयम् ॥ ९६ ॥

इतनी बात कहकर और अर्जुनको क्षमा प्रदान करके अग्निदेव नीलध्वजके समीप जाकर उनके सम्मुख खड़े हो गये ॥ ९६ ॥

समागतं वीक्ष्य हुताशनं तं
प्रोवाच राजा मदगर्वितोऽसौ ।
दग्धं बलं तस्य धनंजयस्य
त्वया विभो साधु कृतं रणेऽद्य ॥ ९७ ॥

अग्निदेवको आया हुआ देखकर मदके गर्वसे भरे हुए राजा नीलध्वजने उनसे कहा—'विभो ! आज आपने युद्ध-स्थलमें जो उस अर्जुनकी सेनाको जलाकर भस्म कर दिया है, यह आपने बड़ा उत्तम काम किया है ॥ ९७ ॥

न वेत्ति पार्थो मम बाहुवीर्यं
बलात् तुरङ्गं किमसौ विनेता ।
जामातरं चापि भवन्तमीड्यं
विजित्य वै यास्यति मन्दबुद्धिः ॥ ९८ ॥

'बलपूर्वक घोड़ेको ले जानेकी चेष्टा करनेवाला अर्जुन मेरे बाहुबलको नहीं जानता है । क्या वह मन्दबुद्धि स्तुति करने योग्य मेरे जामाता आपको परास्त करके वापस जा सकेगा ?' ॥ ९८ ॥

जैमिनिरुवाच

एवं नृपस्य वचनं निशम्योर्जितमाहवात् ।
प्रत्युवाच हसन् वह्निस्तं हर्षात् प्रत्यषेधयत् ॥ ९९ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! नीलध्वजका ऐसा ओजस्वी वचन सुनकर अग्निदेवने हर्षपूर्वक उन्हें युद्ध करनेसे रोक दिया और मुसकराकर कहने लगे—॥ ९९ ॥

केनास्य शक्यते सैन्यं दग्धुं च परिपातितुम् ।
सर्वपापहरो देवो यस्य चेतसि तिष्ठति ॥१००॥

'राजन् ! जिनके हृदयमें सर्वपापापहारी भगवान् श्रीकृष्ण सदा विराजमान रहते हैं, उन अर्जुनकी सेनाको जलाने तथा धराशायी करनेमें कौन समर्थ हो सकता है ? ॥ १०० ॥

उत्तिष्ठ नरशार्दूल परिशामय पाण्डवम् ।
दीयतामस्य तुरगो यथा भद्रं भवेत् तव ॥१०१॥

'अतः पुरुषसिंह ! उठो और पाण्डुनन्दन अर्जुनको सब तरहसे शान्त करो । उनका यज्ञिय अश्व वापस कर दो, जिससे तुम्हारा कल्याण हो ॥ १०१ ॥

कोऽहं धनंजयस्याग्रे हरिमित्रस्य धन्विनः ।
खाण्डवं पूरितं बाणैर्यस्य वज्रपतेर्वनम् ॥१०२॥
गृहजामातृभावेन विस्मृतं सौहृदं मया ।

'भला, जिन्होंने इन्द्रके खाण्डववनको बाणोंसे आच्छादित कर दिया था, जो श्रीकृष्णके अन्तरङ्ग सखा हैं, उन धनुर्धारी अर्जुनके आगे मेरी क्या बिसात है ? मैं तो तुम्हारे घरका जामाता होनेके कारण अपनी पुरानी मित्रताको भूल गया था' ॥ १०२½ ॥

जैमिनिरुवाच

ततो नीलध्वजो राजा मत्वा तद् वचनं हितम् ॥१०३॥
स्वां प्रियां प्राह तुरगो ह्यर्जुनस्यार्प्यते मया ।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर राजा नीलध्वजने अग्निदेवके उस वचनको अपने लिये हितकारी समझकर अपनी पत्नीसे कहा—'प्रिये ! अब मैं अर्जुनका अश्व उन्हें वापस दे रहा हूँ' ॥ १०३½ ॥

ज्वालोवाच

किमर्थं दीयते हंसः सति सैन्ये भयानके ॥१०४॥
पुत्राः पौत्राश्च सुहृदो विद्यन्ते तव बान्धवाः ।
भवाञ्छूरतरो नित्यं वित्तं कोशे न माति ते ॥१०५॥
क्षत्रियोऽसि विशेषेण नित्यं नृणां न जीवितम् ।
अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः ॥१०६॥
पराक्रमः प्रकर्तव्यो न देयोऽश्वः कथंचन ।

तब ज्वाला बोली—प्राणनाथ ! जब आपके पास भयंकर सेना-मौजूद है, आपके पुत्र, पौत्र, सुहृद् और भाई-बन्धु सभी विद्यमान हैं (मरे नहीं हैं), आप भी शूरवीरोंमें माननीय वीर हैं, आपके खजानेमें सदा इतना धन भरा रहता है कि उसमें समाता नहीं, आप क्षत्रियोंके उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए हैं, मनुष्योंका जीवन नित्य है नहीं, उसका अन्त आज हो अथवा सौ वर्ष बाद हो; परंतु प्राणियोंकी मृत्यु तो निश्चित है ही, तब आप किसलिये घोड़ेको वापस कर रहे हैं ? महाराज ! आप अपना पराक्रम प्रकट कीजिये और किसी प्रकार भी घोड़ेको लौटाइये नहीं ॥ १०४–१०६½ ॥

प्रियावचनमाकर्ण्य हृतबुद्धी रणे ययौ ॥१०७॥
पुनः ससैन्यको हृष्टः कर्णहन्तारमाहवे ।

पत्नीकी यह बात सुनकर राजा नीलध्वजकी बुद्धि मारी गयी और वह पुनः प्रसन्नतापूर्वक सेनाको साथ लेकर कर्ण-हन्ता अर्जुनसे युद्ध करनेके लिये रणभूमिमें गया ॥१०७½॥

ततोऽर्जुनो नृपं वीक्ष्य कोपादश्रूण्यमोचयत् ॥१०८॥
जघान तीक्ष्णैर्नाराचैस्तस्य सैन्यमनेकधा ।
बाणैः संछादयामास तदद्भुतमिवाभवत् ॥१०९॥

तब राजा नीलध्वजको पुनः अपने सम्मुख उपस्थित देख क्रोधके कारण अर्जुनके नेत्रोंमें आँसू छलक आये । फिर तो वे अनेक प्रकारके तीखे नाराचोंद्वारा राजाकी सेनाका संहार करने लगे। उस समय उन्होंने बाणवर्षा करके सारी सेनाको आच्छादित कर दिया । यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ १०८-१०९ ॥

पुत्रास्तस्य हता युद्धे भ्रातरश्च महाबलाः ।
नृपस्य च रथो भग्नः सारथिश्च निपातितः ॥११०॥
पार्थेन तरसा युद्धं स्मरता पूर्वकारितम् ।
नीलध्वजश्च पतितो मूर्छितः स्यन्दनोपरि ॥१११॥

प्रथम युद्धमें की गयी राजाकी करतूतका स्मरण करके अर्जुनने वेगपूर्वक युद्धस्थलमें राजाके महाबली पुत्रों तथा भाइयोंको मार गिराया, राजाके रथको तोड़ दिया और सारथि-को भी रथसे नीचे गिरा दिया । राजा नीलध्वज भी मूर्च्छित होकर रथपर गिर पड़े ॥ ११०-१११ ॥

सारथिस्तमपोवाह कश्मलेनावृतं रणात् ।
ततो रात्रिः समभवद् गृहं प्राप्तो नराधिपः ॥११२॥
ज्वालां प्राहाथ कुपितो भर्त्सयन्निव भारत ।

तब सारथि राजाको कष्टमें पड़ा हुआ देखकर उन्हें रण-भूमिसे दूर हटा ले गया । इतनेमें रात्रि हो गयी, तब राजा नीलध्वज अपने घर पहुँचे । भारत ! वहाँ वे क्रोधावेशमें ज्वालाकी भर्त्सना-सी करते हुए बोले ॥ ११२½ ॥

नीलध्वज उवाच

त्वया दुष्टा मतिर्दत्ता यथा मे सुहृदो हताः ॥११३॥
गच्छ वा तिष्ठ दुष्टे त्वं प्रयच्छामि तुरङ्गमम् ।

नीलध्वजने कहा—दुष्टे ! तूने ही मुझे ऐसी खोटी सलाह दी, जिससे मेरे सभी सुहृद् मारे गये । अब तू यहाँ रह अथवा कहीं अन्यत्र चली जा; परंतु मैं घोड़ेको अवश्य लौटा दूँगा ॥ ११३½ ॥

इत्युक्त्वा वचनं राजा गृहीत्वा यज्ञवाजिनम् ॥११४॥
प्रधानेनान्वितः शीघ्रं रत्नान्यादाय भूरिशः ।
काञ्चनं स्त्रीसहस्रं च वस्त्राणि विविधानि च ॥११५॥
प्रययौ यत्र पार्थोऽसौ नमस्कृत्य व्यवस्थितः ।
पार्थं च क्षमयामास वचनं चेदमब्रवीत् ॥११६॥
पार्थ पार्थ महाबाहो किं करोमि तव प्रियम् ।

ज्वालासे इतनी बात कहकर राजा नीलध्वज शीघ्र ही मन्त्रीके साथ उस यज्ञिय अश्वको तथा बहुत-से रत्न, सुवर्ण, सहस्रों नारियों और नाना प्रकारके वस्त्र आदिकी भेंट लेकर जहाँ अर्जुन विराजमान थे, वहाँ जा पहुँचे और उन्हें नमस्कार करके सामने खड़े हो गये । पुनः अर्जुनसे क्षमा-याचना करते हुए इस प्रकार बोले—'पार्थ ! महाबाहु पार्थ ! मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ?' ॥ ११४–११६½ ॥

अर्जुनस्तं प्रत्युवाच वीरस्त्वमसि भूपते ।
हयं पालय वर्षेऽस्मिन् मामकं सहितो मया ॥११७॥

तब अर्जुनने राजासे कहा—'भूपाल ! आप तो वीर पुरुष हैं, इसलिये मेरे साथ रहकर इस वर्षमें मेरे इस यज्ञिय अश्वकी रक्षा कीजिये' ॥ ११७ ॥

जैमिनिरुवाच

ततः पार्थस्य तुरगो निर्गतो दक्षिणामुखः ।
नीलध्वजेन सहितः पार्थः पश्चाज्जगाम सः ॥११८॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर अर्जुनका वह अश्व दक्षिण दिशाकी ओर मुख करके नगरसे बाहर निकला और नीलध्वजके साथ अर्जुन भी उसके पीछे-पीछे चले ॥

ज्वाला जगाम कुपिता चोल्मुकस्य पुरं हि सा ।
भ्रातुः पार्श्वे समागत्य तस्मिन् देशे पटच्चरे ।
रुदन्ती तं नमस्कृत्य रोषादिदमभाषत ॥११९॥

इधर ज्वालादेवी क्रुद्ध होकर अपने भाई उल्मुकके नगर-को चल पड़ी । वहाँ लुटेरोंके उस देशमें भाईके समीप पहुँचकर उसने उसे प्रणाम किया और रोती हुई रोषावेशमें इस प्रकार कहा ॥ ११९ ॥

ज्वालोवाच

अर्जुनेन गृहं दग्धं मदीयं स्वेन तेजसा ।

भर्त्ता जितो हताः पुत्रा देवरा भासुरं बलम् ॥१२०॥
विध्वस्तं च हयो नीतो राजा चाग्रेसरः कृतः ।
तं चेत् पातयसे वीर मन्निमित्तं धनंजयम् ॥१२१॥
तदा त्वं मे सुहृद्भ्राता नान्यथाश्रुप्रमार्जनम् ।

ज्वाला बोली—मेरे वीर भाई ! अर्जुनने अपने तेजसे मेरे घरको भस्म कर दिया है । उन्होंने मेरे स्वामीको परास्त कर दिया है, पुत्रों और देवरोंको मार डाला है, मेरी तेजस्विनी सेनाको विध्वंस कर दिया है और अपने घोड़ेको वापस लेकर राजाको आगे-आगे चलनेवाला सेवक बना लिया है । वीर ! यदि तुम मेरे कारण उन अर्जुनको मार गिराओगे तभी तुम मेरे हितैषी बन्धु कहलाओगे, नहीं तो और किसी प्रकार मेरा आँसू नहीं पोंछा जा सकता ॥ १२०-१२१½ ॥

जैमिनिरुवाच

उल्मुको दूतवाक्येन ज्ञात्वा ज्वालाविचेष्टितम् ॥१२२॥
प्रत्युवाचाथ भगिनीं शमयन्निव भारत ।
अत्र तिष्ठ पुरे भद्रे तावकं विद्धि मण्डलम् ॥१२३॥
कालेन कियता मातः करिष्ये सुप्रियं तव ।
कुपिता प्राह राजानं कथमद्य न गच्छसि ॥१२४॥

जैमिनिजी कहते हैं—भारत ! तब दूतके मुखसे ज्वालादेवीका सारा वृत्तान्त जानकर उल्मुक अपनी बहिनको शान्त करता हुआ बोला–'भद्रे ! तुम मेरे इस नगरमें रहो। इसे तुम अपना ही राज्य समझो । मातासदृश बहिन ! कुछ समयके बाद मैं तुम्हारा प्रिय कार्य करूँगा ।' तब ज्वाला क्रुद्ध होकर राजा उल्मुकसे बोली—'तुम आज ही क्यों नहीं जाते हो ?' ॥ १२२–१२४ ॥

उल्मुकः कुपितस्तत्र ज्वालां वचनमब्रवीत् ।
यथा स्वकीयं भवनं नाशितं मम तत् समम् ॥१२५॥
कर्तुमिच्छसि दुष्टे त्वं गच्छ शीघ्रं गृहादितः ।

उस समय उल्मुक कुपित होकर ज्वालासे निम्नाङ्कित वचन बोला—'दुष्टे ! तूने जैसे अपना घर चौपट कर दिया है, उसी तरह तू मेरा घर भी बरबाद करना चाहती है, अतः तू शीघ्र ही मेरे घरसे निकल जा' ॥ १२५½ ॥

निर्गता तद्वचः श्रुत्वा गङ्गातीरे समागता ॥१२६॥
नौकां समारुह्य तटे गच्छन्ती वाक्यमब्रवीत् ।

भाईकी बात सुनकर ज्वाला राजमहलसे निकलकर गङ्गा-तटपर जा पहुँची । वहाँ गङ्गाके किनारे एक नावपर चढ़कर आगे जाती हुई वह इस प्रकार बोली ॥ १२६½ ॥

ज्वालोवाच

मदीये वामचरणे लग्नं गङ्गाजलं त्विदम् ॥१२७॥
पातकं साम्प्रतं जातमम्बुस्पर्शान्न संशयः ।

ज्वालाने कहा—मेरे बायें पैरमें यह गङ्गाजल लग गया है, इस जलके स्पर्शसे निस्संदेह अब मैं पापकी भागिनी हो गयी ॥ १२७½ ॥

तच्छ्रुत्वा भाषितं तस्याः समीपस्थाः सुकोपिताः॥१२८॥
किमिदं भाषसे दुष्टे नौकामाश्रित्य दारुणम् ।
सर्वपापक्षयकरं तोयं वेत्सि न मोहिता ॥१२९॥
यस्यां मज्जनमात्रेण महापातकिनोऽपि ये ।
विहाय पापसंघातं विष्णुलोकं व्रजन्ति ते ॥१३०॥
गङ्गेति नाममात्रेण न नरो नारकी भवेत् ।

ज्वालाकी ऐसी बात सुनकर समीपमें बैठे हुए लोग अत्यन्त क्रोधमें भरकर कहने लगे—'दुष्टे ! तू नावमें बैठकर ऐसी कठोर बात क्यों कह रही है ? तू मोहमें पड़ी हुई है । तुझे पता नहीं कि गङ्गाजल समस्त पापोंका विनाश करनेवाला है । जो महान् पापी हैं, वे भी जिस गङ्गामें स्नानमात्र करनेसे अपने पापसमूहका परित्याग करके विष्णुलोकको चले जाते हैं । यहाँतक कि जो 'गङ्गा' इस नाममात्रका उच्चारण कर लेता है, उस मनुष्यको नरककी प्राप्ति नहीं होती (फिर तुझे ऐसे गङ्गाजलके स्पर्शसे पाप कैसे लग गया ?) ॥१२८–१३०½॥

ततो गङ्गाजलात् तस्मादाविरासीत् सुमङ्गला ॥१३१॥
उवाच वचनं तां हि किमिदं गदितं त्वया ।

तदनन्तर परम मङ्गलमयी गङ्गाजी उस जलसे प्रकट हो गयीं और ज्वालासे बोलीं—'तूने ऐसी बात क्यों कही है ?'॥१३१½॥

ज्वालोवाच

अपुत्रे शृणु मे वाक्यं त्वया पुत्रा जले हताः ॥१३२॥
सप्त पूर्वं शंतनुना प्रार्थितः कामजित् सुतः ।
स पार्थेन हतो बाणैः पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ॥१३३॥
तस्मात् पुत्रविहीनाया जलमत्र प्रदूषितम् ।

ज्वालाने कहा—ओ निपूती ! मेरी बात सुन । तूने पूर्वकालमें अपने सात पुत्रोंको जलमें डुबोकर मार डाला है । फिर राजा शंतनुने तुझसे प्रार्थना करके जिस आठवें काम-विजयी पुत्रको डुबोनेसे बचा लिया था, उसे भी अर्जुनने

शिखण्डीको आगे करके अपने बाणोंद्वारा मार डाला। इसी कारण तुझ पुत्रहीनाका जल इस समय अत्यन्त दूषित है॥ १३२-१३३½ ॥

गङ्गा ततोऽर्जुनं क्रुद्धा श्रुत्वा तद्वचनं महत्॥१३४॥
शशाप षष्ठे मासे तं पततां पार्थमस्तकम्।

तदनन्तर ज्वालाका ऐसा महान् अपमानजनक वचन सुनकर गङ्गाजी अर्जुनपर कुपित हो गयीं और उन्हें शाप देते हुए कहने लगीं—'आजसे छठे महीनेमें अर्जुनका मस्तक गिर जाय'॥ १३४½ ॥

सा दुष्टा पतिता वह्नौ बाणो भूत्वा भयानकः।
बभ्रुवाहनतूणे हि विवेशार्जुनमृत्यवे॥१३५॥

तब वह दुष्टा ज्वाला आगमें कूद पड़ी और अर्जुनकी मृत्युके लिये भयंकर बाण बनकर बभ्रुवाहनके तरकसमें प्रवेश कर गयी॥ १३५ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि फाल्गुनशापो नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें अर्जुनको गङ्गाजीका शापनामक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः

घोड़ेका विन्ध्यपर्वतपर जाना और वहाँ एक शिलासे चिपक जाना, अर्जुनका दूतोंको शिलाका वृत्तान्त पूछनेके लिये मुनियोंके पास भेजना, दूतके कथनानुसार अर्जुनका सौभरि मुनिके आश्रमपर जाना और शिलाका वृत्तान्त पूछना, सौभरिका उसका वृत्तान्त सुनाते हुए उद्दालक और चण्डीका वृत्तान्त वर्णन करना, अर्जुनके कर-स्पर्शसे चण्डीकी मुक्ति और घोड़ेका मुक्त होकर आगे बढ़ना

जैमिनिरुवाच

नीलध्वजस्य नगराद्ग्रतः प्रययौ हयः।
हरिर्हरिपदालम्बी हरिमुद्वीक्षयन् मुदा॥ १ ॥

जैमिनिजी कहते हैं--जनमेजय! तदनन्तर वह यज्ञिय अश्व नीलध्वजके नगरसे निकलकर आगेकी ओर बढ़ा और श्रीकृष्णके चरणोंका आश्रय ग्रहण करनेवाले अर्जुन भी उसे देखते हुए आनन्दपूर्वक उसके पीछे-पीछे चले॥ १ ॥

अनेकार्जुनसम्बाधं सहदेवं धराभृतम्।
विवेश विन्ध्यं राजेन्द्र स हयः पृष्ठतोऽर्जुनः॥ २ ॥
सैन्यं पश्चाद् ययौ वृक्षांश्चूर्णयन्नर्जुनस्य तु।
विषमोऽपि समो मार्गः सैन्यागमनतोऽभवत्॥ ३ ॥

राजेन्द्र! तदनन्तर परिभ्रमण करता हुआ वह अश्व उस विन्ध्यपर्वतपर जा पहुँचा, जो बहुत-से अर्जुन-वृक्षोंसे व्याप्त तथा देवोंका निवासस्थान था। उसके पीछे अर्जुन भी उसी प्रदेशमें प्रविष्ट हुए। अर्जुनके पीछे उनकी विशाल सेना वृक्षोंको तोड़ती हुई चल रही थी। उस सेनाके चलनेसे विषम मार्ग भी सम हो जाते थे॥ २-३ ॥

वनस्था देवतास्तत्र वनस्थं हरिसेवकम्।
ददृशुर्वनराज्यस्ता अर्जुनं च हयं शुभम्॥ ४ ॥

वहाँ पहुँचनेपर वनवासी देवता तथा वनकी पङ्क्तियाँ उस सुन्दर अश्वको और उसकी रक्षामें नियुक्त होकर वनमें आये हुए अर्जुनको देखने लगीं॥ ४ ॥

ततो हयः शिलां दृष्ट्वा महतीं योजनायतीम्।
स्वाङ्गं घर्षितुमारेभे तस्यां दृषदि विस्मितः॥ ५ ॥

तत्पश्चात् वह अश्व वहाँ एक बहुत बड़ी एक योजन (चार कोस) लंबी शिलाको देखकर आश्चर्यचकित हो गया और उसी शिलापर अपने अङ्गोंको रगड़ने लगा॥ ५ ॥

पुरा हरिः ाlामंघ्रिस्पर्शात् स्त्रीत्वमुपानयत्।
इति मत्वा हरिर्मन्दः पस्पर्श दृषदं तदा॥ ६ ॥

पूर्वकालमें श्रीहरि (श्रीरामचन्द्रजी) ने अपने चरणोंसे छूकर शिलाको स्त्री (अहल्या) बना दिया था, मानो यही विचारकर उस मूर्ख हरि (घोड़े) ने भी अपने पैरोंसे उस शिलाका स्पर्श किया॥ ६ ॥

वज्रलेपत्वमापन्नश्चलितुं न शशाक ह ।
नामसाधर्म्यतः केऽपि गच्छन्ति समतां हरेः ॥ ७ ॥
आराधनादृतेऽप्येवं भवन्ति जडदेहिनः ।

फिर तो वह स्वयं ही वज्रलेप-सा होकर चलने-फिरनेमें असमर्थ हो गया; क्योंकि जो लोग भगवान् विष्णुकी आराधनाके बिना ही केवल नामकी समता मात्रसे उनकी बराबरी करने लगते हैं, उनके शरीर इसी प्रकार जड हो जाते हैं ॥ ७½ ॥

जडीभूतं समालोक्य तं हरिं हरिसेवकाः ॥ ८ ॥
साट्टहासं जगर्जुस्ते जहसुः केऽपि सैनिकाः ।
संघर्षणसुखाल्लीनः किमश्व इतरेऽब्रुवन् ॥ ९ ॥

उस अश्वको यों जडवत् निश्चल देखकर कुछ अश्वरक्षक अट्टहासपूर्वक गर्जना करने लगे, कुछ सैनिक हँसने भी लगे और कुछ कहने लगे कि 'क्या यह घोड़ा खुजलानेका सुख उठानेके हेतु शिलामें लीन-सा हो गया है ?' ॥ ८-९ ॥

केऽपि गत्वार्जुनस्यापि कथयन्ति हयो मृतः ।
शिलासंघट्टमासाद्य हयमेधोऽभवत् स्वयम् ॥ १० ॥

कुछ सैनिक अर्जुनके भी पास जाकर कहने लगे—'शिलासे टकराकर घोड़ा मर गया । अतः (अश्वकी बलिरूप) अश्वमेध तो स्वयं ही सम्पन्न हो गया !' ॥ १० ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तेषामर्जुनः कृष्णतामगात् ।
प्रद्युम्नसहितस्तत्र हयं दृष्ट्वा तथाविधम् ॥ ११ ॥
विसिस्माय ततो वीरो मम्ले पङ्कजवन्निशि ।
उवाच भीमावरजो मोच्यतां मोच्यतामिति ॥ १२ ॥

उन सैनिकोंकी वह बात सुनकर अर्जुनका रंग काला पड़ गया । तत्पश्चात् वे प्रद्युम्नके साथ वहाँ जाकर घोड़ेकी वह दशा देख बड़े विस्मित हुए । उस समय वीर अर्जुनका मुख उसी प्रकार मलिन हो गया, जैसे रात्रिके समय कमल कुम्हला जाता है । फिर तो भीमसेनके छोटे भाई अर्जुन बोल उठे—'अरे ! घोड़ेको छुड़ाओ, शीघ्र छुड़ाओ' ॥ ११-१२ ॥

प्रदुद्रुवुः कशाः स्थूला गृहीत्वाताडयन् बलात् ।
मुष्टिभिर्जानुभिः क्रुद्धा नराश्चार्जुननोदिताः ॥१३॥

तब अर्जुनकी आज्ञा पाकर लोग क्रुद्ध होकर हाथोंमें मोटे-मोटे कोड़े लेकर दौड़े और घोड़ेको चाबुक, मुक्कों तथा घुटनोंसे बलपूर्वक मारने लगे ॥ १३ ॥

नाश्वः पृथग् बभूवाथ वैष्णवो विष्णुसेवनात् ।
तदा ते प्रेरिताश्चारा अर्जुनेन महात्मना ॥१४॥
प्रष्टुं केयं शिला किंस्विदिति ते त्वरिता मुनीन् ।
ददृशुश्चाश्रमं रम्यं हरित्पत्रद्रुमाकुलम् ॥१५॥

परंतु वह अश्व शिलासे अलग नहीं हुआ, जैसे विष्णुभक्त बड़े-बड़े कष्टोंके पड़नेपर भी विष्णुकी सेवासे नहीं हटता । तब महात्मा अर्जुनने 'यह शिला कौन है ? इसका क्या वृत्तान्त है ?' मुनियोंसे यह पूछनेके लिये दूतोंको आज्ञा दी । उनकी आज्ञा पाकर वे दूत तुरंत ही चल पड़े । कुछ दूरपर उन्हें एक रमणीय आश्रम दिखायी पड़ा, जो हरे-हरे पत्तोंसे आच्छादित वृक्षोंसे भरा था ॥ १४-१५ ॥

सालैस्तालैस्तमालैश्च कर्णिकारैः सुशोभनैः ।
रसालैर्बकुलैश्चैव नालिकेरैः सकेसरैः ॥ १६ ॥
सरसीभिर्विचित्राभिरनेकाभिरलंकृतम् ।
निर्बाधाः पशवो यत्र व्याघ्रा गोभिः समाकुलाः ॥ १७ ॥
मार्जारमुखदंष्ट्रासु कण्डूयन्त्याखवस्तनुम् ।
सर्पाः सर्पारिभिर्युक्ता न वैरं यत्र कुर्वते ॥ १८ ॥
मत्स्यानलं महामत्स्या न ते भक्षन्ति बालकान् ।
उलूकाः काकवृन्देन विक्रीडन्त्यभया दिने ॥१९॥
अन्ये च पशवः क्रूराः सौम्यसत्त्वैः समागताः ।
ऋषेस्तस्य प्रभावेण सौभरेर्विश्रुतौजसः ॥२०॥

उस आश्रममें साखू, ताड़, तमाल, पुष्पोंसे सुशोभित कनेर, आम, मौलसिरी, नागकेसर और नारियलके वृक्ष लहलहा रहे थे । वह अनेकों विचित्र बावड़ियोंसे सुशोभित था । विख्यात ओजस्वी महर्षि सौभरिके तपोबलके प्रभावसे वहाँ पशु स्वच्छन्द विचर रहे थे । यहाँतक कि व्याघ्र गौओंके साथ हिल-मिलकर रहते थे, चूहे वनबिलावोंके मुखकी दाढ़ोंसे अपना शरीर खुजलाते थे तथा सर्प अपने वैरी जीवों (मोरों, न्योलों आदि) के साथ खेलते थे । कोई किसीसे वैर नहीं करता था । मगरमच्छ छोटे-छोटे मछलियोंको नहीं खाते थे, उल्लू दिनमें काकसमूहोंके साथ निर्भय होकर क्रीडा कर रहे थे । अन्य प्रकारके क्रूर पशु भी सौम्य स्वभाववाले जीवोंके साथ मिलकर रहते थे ॥ १६—२० ॥

तमाश्रमं समालोक्य दृग्भिस्तं सौभरिं मुनिम् ।
अर्जुनाय समाचख्युश्चारास्ते हर्षनिर्भराः ॥२१॥

उस आश्रमको तथा वहाँ उपस्थित महर्षि सौभरिको

अपने नेत्रोंसे देखकर वे दूत परम हर्षित हुए और लौटकर उन्होंने अर्जुनसे सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥ २१ ॥

जैमिनिरुवाच

ततोऽर्जुनो महाबाहुर्यौवनाश्वो वृषध्वजः।
सात्यकिः कृष्णपुत्रश्च पञ्चैते तं मुनिं ययुः ॥ २२ ॥
अद्राक्षुस्ते सौभरिं तं तपस्विनमुपस्थितम्।
अध्यापयन्तं शिष्यान् स्वानृचं साम यजूंषि च॥२३॥
वेदान्तादीनि शास्त्राणि पाठयन्तमृषीन् बहून्।
अर्जुनस्तं नमस्कृत्य तान् मुनीनब्रवीद् वचः ॥ २४ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर महाबाहु अर्जुन, यौवनाश्व, वृषकेतु, सात्यकि और श्रीकृष्ण-कुमार प्रद्युम्न—ये पाँचों वीर उन मुनिके पास चले और थोड़ी ही दूरपर उन लोगोंने तपस्वी महर्षि सौभरिको बैठे हुए देखा। उस समय वे महर्षि अपने शिष्योंको ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेदका अध्ययन करा रहे थे तथा अन्य बहुत-से ऋषियोंको भी वेदान्त आदि शास्त्रोंकी शिक्षा दे रहे थे। तब अर्जुन महर्षि सौभरि तथा वहाँ उपस्थित सभी मुनियोंके चरणोंमें अभिवादन करके बोले ॥ २२—२४ ॥

अर्जुन उवाच

तपस्विन् धर्मराजस्य भ्राताहं हयमेधिकम्।
हरिं रक्षन् समायातः सोऽश्वो दृषदि तस्थिवान् ॥२५॥
अस्माभिर्निहताः शूरा बान्धवाः कुरवो रणे।
तत्पापनाशनार्थं हि मख आरब्ध एष नः ॥ २६ ॥
तस्मादपि वयं पापान्मुच्यामो दृषदो हयः।
तमुपायं वद विभो सौभरेऽस्याश्च कारणम् ॥ २७ ॥

अर्जुनने कहा—तपस्वी सौभरिजी! मैं धर्मराज युधिष्ठिरका भाई हूँ और उनके अश्वमेध यज्ञके अश्वकी रक्षा करता हुआ यहाँ आ गया हूँ। यहाँ वह अश्व एक शिलासे चिपक गया है। विभो! हमलोगोंने रणभूमिमें अपने शूरवीर बान्धव कौरवोंका संहार कर डाला है, उसी पापका विनाश करनेके लिये हमने यह अश्वमेध यज्ञ आरम्भ किया है; अतः आप ऐसा उपाय बतलाइये, जिसके करनेसे हमलोग उस पापसे छूट जायँ और यह अश्व शिलासे मुक्त हो जाय। साथ ही इस शिलाकी उत्पत्तिका कारण भी बताइये ॥ २५—२७ ॥

जैमिनिरुवाच

ततो मुनिः सौभरिरस्य वाक्यं
श्रुत्वा जहासाखिलशास्त्रकर्ता।
शृण्मोऽर्जुनं कृष्णमुखेन गीतां
वाचं समग्रां हृदि धारयन्तम् ॥ २८ ॥
निशम्य तां बन्धुजना मया ते
हता इति व्यर्थमवीवदस्त्वम्।
वृथाश्वमेधश्रम एष योऽयं
साक्षाद्धरिस्तिष्ठति तन्न वेत्सि ॥ २९ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर सम्पूर्ण शास्त्रोंके प्रवचनकर्ता महर्षि सौभरि अर्जुनकी बात सुनकर हँस पड़े और कहने लगे—'मैंने सुना था कि अर्जुन श्रीकृष्णके मुखसे गायी गयी समस्त वाणी (भगवद्गीता) को अपने हृदयमें धारण करते हैं, परंतु उस भगवद्गीताको सुनकर भी तुम जो बारंबार यह कहते हो कि 'मैंने अपने उन बन्धुजनोंका संहार कर डाला है', तुम्हारा यह कथन व्यर्थ है। तुम्हारा यह अश्वमेध यज्ञ करनेका परिश्रम भी व्यर्थ ही है; क्योंकि ये साक्षात् श्रीहरि तुम्हारे पास ही वर्तमान हैं, क्या तुम उन्हें नहीं जानते? ॥ २८-२९ ॥

वृथा भ्रमो वरीवर्ति कुरवो युधि पातिताः।
केन को हन्यते हन्ता कस्य हिंस्योऽपि कस्य कः॥३०॥
इति यो वक्ति वक्ता को यस्मादेतत् तमाश्रये।

'तुम्हारे हृदयमें यह व्यर्थ भ्रम बना हुआ है कि 'मैंने युद्धस्थलमें कौरवोंको मार गिराया है।' भला, कौन किसके द्वारा मारा जाता है, कौन किसको मारनेवाला है और कौन किसका वध्य है? ऐसा जो कहता है, वह वक्ता कौन है? मैं तो जिससे यह सब प्रवृत्त हुआ है, उसीकी शरण ग्रहण करता हूँ' ॥ ३०½ ॥

अर्जुन उवाच

तदश्रावि मया विप्र कुरुक्षेत्रे हरेर्वचः ॥ ३१ ॥
दूरं कृत्वा धर्मराजं तस्मान्न हृदि संस्थितम्।
भ्रमोऽयं मे यथा गच्छेत् तथा कुरु महामते।
तावद् देहे नृणां मोहो यावन्नो साधुसङ्गतिः ॥ ३२ ॥

अर्जुन बोले—ब्रह्मन्! मैंने कुरुक्षेत्रके मैदानमें भगवान् श्रीकृष्णके उन वचनोंको अवश्य सुना था, परंतु उस समय धर्मराज युधिष्ठिर दूर थे; इसलिये वे वचन मेरे हृदयमें ठहर न सके। अतः महामते! आप ऐसा प्रयत्न करें, जिससे मेरा यह भ्रम दूर हो जाय; क्योंकि मनुष्योंके शरीरमें मोह तभीतक ठहर सकता है, जबतक उन्हें सत्सङ्गकी प्राप्ति नहीं हो जाती ॥ ३१-३२ ॥

सौभरिरुवाच

संसारोऽयं हरेर्माया समुद्राः सरितस्तथा।
पर्वता वृक्षगुल्मादिलताः सर्वं चराचरम्॥ ३३॥
यद् दृश्यं तदनित्यं स्यात् स नित्यो मधुसूदनः।
तं ध्यायेज्जगतां नाथमश्वमेधशतैर्वृथा॥ ३४॥

महर्षि सौभरिने कहा—अर्जुन! यह संसार श्रीहरिकी माया है। ये समुद्र, नदियाँ, पर्वत, वृक्ष, गुल्म-लता आदि तथा समस्त चराचर दृश्यवर्ग—ये सभी अनित्य हैं। नित्य तो केवल मधुसूदन ही हैं। उन्हीं जगन्नाथका ध्यान करना चाहिये। (उनकी महिमाके समक्ष) सैकड़ों अश्वमेध यज्ञ व्यर्थ ही हैं॥ ३३-३४॥

पृष्ठतस्तं हरिं कृत्वा प्राकृतं हरिमग्रतः।
कृत्वा यदागतस्तस्माज्ज्ञानमूढः प्रतीयसे॥ ३५॥

परंतु तुम जो साक्षात् श्रीहरि (श्रीकृष्ण) को पीछे करके प्राकृत हरि (अश्व) को आगे रखकर आये हो, इससे तो यही प्रतीत होता है कि तुम ज्ञानके विषयमें मूढ हो॥ ३५॥

कल्पवृक्षं समुत्सृज्य ह्येरण्डं च किलेच्छसि।
चिन्तामणिं समासाद्य काचाख्यं परिवाञ्छसि॥ ३६॥

निश्चय ही तुम कल्पवृक्षका परित्याग करके एरंड वृक्ष (रेंड़) की कामना करते हो तथा चिन्तामणिको पाकर भी उसके बदले काँच लेनेकी अभिलाषा करते हो॥ ३६॥

संसारेऽस्मिन्नसारे हि देहवाञ्जायते नरः।
तस्मिन् देहे च किं सारं पूयासृक्कफ्लेष्मगन्धिनि॥ ३७॥

इस असार संसारमें मनुष्य जिस शरीरको लेकर उत्पन्न होता है, उस पीब, रक्त और कफकी गन्धसे युक्त शरीरमें क्या सार है?॥ ३७॥

पृथ्व्यप्तेजोवायुखानि गूढास्थित्वगसृग्दृशः।
प्राणादि दश कोशाश्च पञ्चभ्यः सम्भवन्ति हि।
ततो देहश्च भवति सव्यसाचिन् स्वरूपतः॥ ३८॥

सव्यसाची अर्जुन! पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये पाँच भूत, गुप्त अस्थि, त्वचा तथा रक्त आदि धातु, नेत्र आदि इन्द्रियाँ, प्राण आदि दस वायु और अन्नमय आदि कोश—ये सभी पाँच सूक्ष्म महाभूतोंसे उत्पन्न होते हैं। स्वरूपतः उन्हींसे इस शरीरकी उत्पत्ति होती है॥

आख्यायते देहमिदं तु पार्थ
सुरूपतां प्राप्तमसुस्थिरं स्यात्।
तस्मिन् सुरूपः पुरुषः पुराणः
प्रविश्य लीलां कुरुते जनार्दनः॥ ३९॥

पार्थ! इस शरीरको तो ऐसा कहा जाता है कि यह सुन्दर रूप पाकर भी अनित्य ही होता है। उसी शरीरमें सुन्दर रूपवाले पुराणपुरुष जनार्दन प्रवेश करके लीला कर रहे हैं॥ ३९॥

तेनापि प्रेरिता यूयमश्वमेधं प्रकुर्वते।
कुरुध्वं तस्य विष्णोर्हि माया कर्त्री न धर्मराट्॥ ४०॥

उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेरणासे तुमलोग अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान कर रहे हो तो करो; परंतु उन भगवान् विष्णुकी माया ही उस यज्ञका सम्पादन करनेवाली है, धर्मराज युधिष्ठिर नहीं॥ ४०॥

अर्जुन उवाच

युष्मत्प्रसादान्माया नो गमिष्यति न संशयः।
शिलायाः कारणं ब्रूहि विस्तरेणाथ सौभरे॥ ४१॥

अर्जुनने कहा—सौभरिजी! आपकी कृपासे मेरी माया दूर हो जायगी—इसमें संशय नहीं है। अब आप इस शिलाकी उत्पत्तिका कारण विस्तारपूर्वक बताइये॥ ४१॥

सौभरिरुवाच

शृणु पार्थ महाबाहो शिलेयं ब्राह्मणी पुरा।
आसीदुद्दालकमुनेर्भार्या चण्डीति विश्रुता॥ ४२॥

तब सौभरिने कहा—महाबाहु अर्जुन! सुनो, पूर्वकालमें यह शिला एक ब्राह्मणी थी, जो महर्षि उद्दालककी भार्या थी और उसका नाम चण्डी था॥ ४२॥

विवाहसमये विप्रैर्भर्तृवाक्यं सदा कुरु।
इत्थं सद्भिश्च चण्डी सा नियुक्ता पावकान्तिके॥ ४३॥
सा बालभावात् प्रोवाच भर्तृवाक्यं कदाचन।
न करिष्यामि भो विप्राः सत्यं सत्यं वदामि वः॥ ४४॥

विवाह-संस्कारके समय अग्निके समीप जब उत्तम ब्राह्मणोंने चण्डीसे कहा कि 'तू सदा पतिकी आज्ञाका पालन करना।' तब बाल-चापल्यवश उसने उत्तर दिया—'हे ब्राह्मणो! मैं आपसे यह सर्वथा सत्य कह रही हूँ कि मैं कभी पतिकी आज्ञाका पालन नहीं करूँगी'॥ ४३-४४॥

तस्या वचनमाकर्ण्य विप्राः प्रोचुर्महोत्सवे ।

तत्पश्चात् उस विवाह-महोत्सवके अवसरपर चण्डीकी बात सुनकर ब्राह्मणलोग कहने लगे ॥ ४४½ ॥

विप्रा ऊचुः

विस्मयोऽत्र न कर्तव्यः कन्या वक्तीदृशं वचः ॥ ४५ ॥

ब्राह्मण बोले—यह अभी कन्या (अल्पवयस्का) है, इसीलिये ऐसी बात कह रही है; इस विषयमें किसीको आश्चर्य नहीं करना चाहिये ॥ ४५ ॥

उद्दालकोऽपि तां चण्डीमानयत् स्वं निवेशनम्।
बालत्वान्न प्रयुक्ता सा गृहकर्मणि मानद ॥ ४६ ॥
अग्निहोत्रस्य शुश्रूषां कुरुते स स्वयं मुनिः ।

मानद ! तब उद्दालक मुनि उस चण्डीको विदा करा कर अपने घर ले आये । बाल्यावस्थाके कारण वे उसे गृह-कार्यमें नहीं लगाते थे । यहाँतक कि अग्निहोत्रकी परिचर्या भी वे मुनि स्वयं अपने हाथसे ही करते थे ॥ ४६½ ॥

दिनैः कतिपयैरेव प्रौढां तामवलोक्य सः ॥ ४७ ॥
प्रोवाच कुरु भद्रं ते शुश्रूषां कृष्णवर्त्मनः ।
पुत्रास्तव भविष्यन्ति वीर्यवन्तो बहुश्रुताः ॥ ४८ ॥

कुछ दिन बीतनेपर जब मुनिने देखा कि अब यह प्रौढा हो गयी है, तब उससे बोले—'प्रिये ! तुम्हारा कल्याण हो । अब तुम अग्निदेवकी परिचर्या किया करो, इससे तुम्हें पराक्रमी तथा शास्त्रज्ञ पुत्रोंकी प्राप्ति होगी' ॥ ४७-४८ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य कोपादरुणलोचना ।
न करिष्येऽग्निशुश्रूषां पुत्रैः किं मे प्रयोजनम् ॥४९॥

मुनिकी वह बात सुनकर चण्डीके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये और वह कहने लगी कि 'मैं अग्निकी सेवा नहीं करूँगी । मुझे पुत्रोंसे क्या प्रयोजन है ?' ॥ ४९ ॥

स एवं ब्राह्मणः क्षिप्रं कमण्डलुमयाचत ।
तं कमण्डलुमादाय कराभ्यां धरणीतले ॥ ५० ॥
आस्फोटयामास ततो ब्राह्मणो विस्मितोऽभवत्।
रात्रौ स शयने तिष्ठन्नेकाकी वाक्यमब्रवीत् ॥ ५१ ॥

इसी प्रकार ब्राह्मण उद्दालकने शीघ्र ही अपना कमण्डलु लानेके लिये उससे कहा । तब उसने उस कमण्डलुको लेकर दोनों हाथोंसे पृथ्वीपर पटककर फोड़ दिया । यह देखकर उद्दालक मुनि बड़े विस्मित हुए । पुनः रातमें अपनी शय्यापर अकेले लेटे हुए मुनिने उससे यों कहा—॥ ५०-५१ ॥

उद्दालक उवाच

त्वां न वक्ष्ये किंचिदहं मा शेथा दूरतो मम ।
गृहाद् विनिष्क्रम्य बलाद् बहिश्चण्डी स्थिताभवत् ॥५२॥

उद्दालक बोले—प्रिये ! मैं तुमसे कोई दूसरी बात नहीं कहूँगा, परंतु तुम मुझसे दूर मत सोओ । यह सुनते ही चण्डी बलपूर्वक घरसे निकलकर बाहर जा खड़ी हुई ॥ ५२ ॥

उद्दालको ब्राह्मणपुङ्गवोऽसौ
चण्ड्या तया विह्वलतां जगाम ।
किंचिन्न संध्यादिककर्म कर्तुं
शशाक पर्वस्वपि तर्पणादि ॥ ५३ ॥

इस प्रकार ब्राह्मणश्रेष्ठ उद्दालक उस चण्डीके व्यवहारसे व्याकुल हो गये । वे पर्वके अवसरोंपर भी संध्या-वन्दन तथा तर्पण आदि कोई कर्म नहीं कर पाते थे ॥ ५३ ॥

एकदा तद्गृहं प्राप्तः कौण्डिन्यो मुनिसत्तमः ।
तीर्थयात्राप्रसङ्गेन शिष्यैः परिवृतः शुभैः ॥ ५४ ॥

एक समय मुनिश्रेष्ठ कौण्डिन्य अपने सदाचारी शिष्योंके साथ तीर्थयात्राके प्रसङ्गसे घूमते हुए उद्दालक मुनिके घर पधारे ॥ ५४ ॥

उद्दालकोऽर्घ्यदानेन पूजयामास तं मुनिम् ।
पूजितः सुखमासीनः कौण्डिन्यो मुनिरब्रवीत् ॥ ५५ ॥

तब उद्दालकने अर्घ्य आदि प्रदान करके उन मुनिवरका आदर-सत्कार किया । सत्कार ग्रहण करके सुखपूर्वक बैठे हुए कौण्डिन्य मुनिने पूछा ॥ ५५ ॥

कौण्डिन्य उवाच

कस्मात् कृशोऽसि भो विप्र चिन्तया प्रवृतोऽसि किम् ।
पुत्राः कियन्तः कन्याश्च तव सन्ति तपोधन ॥ ५६ ॥

कौण्डिन्य बोले—ब्रह्मन् ! तुम किस कारण इतने दुबले हो गये हो ? तुम्हें कोई चिन्ता व्याप्त हो गयी है क्या ? तपोधन ! तुम्हारे कितने पुत्र तथा कन्याएँ हैं ? ॥ ५६ ॥

उद्दालक उवाच

न मे पुत्रा न मे कन्या जाया मे दुष्टभाषिणी।
यद् यद् वदामि तां दुष्टां तत्तन्नैव करोति सा।
तया मे न प्रकर्तव्यं वचनं कल्पकोटिभिः॥ ५७॥

उद्दालकने कहा—मुने! न मेरे कोई पुत्र है और न कन्या ही है। मेरी स्त्री बड़ी कटुवादिनी है। मैं उस दुष्टासे जो कुछ भी कहता हूँ, वह उसे नहीं ही करती है। वह करोड़ों कल्पोंमें भी मेरी आज्ञाका पालन करना उचित नहीं समझेगी॥ ५७॥

परं पित्र्यं श्राद्धमस्ति करणीयं ततो भृशम्।
कृशश्चिन्तापरो ब्रह्मञ्छाधि मां स्त्रीवशंगतम्॥ ५८॥

परंतु मुझे पितृसम्बन्धी श्राद्ध करना है, उसीकी चिन्तासे अभिभूत होकर दुबला हो गया हूँ। ब्रह्मन्! स्त्रीके वशमें पड़े हुए मुझको आप उचित शिक्षा दीजिये॥ ५८॥

तदालपितमाकर्ण्य प्रहसन्नब्रवीन्मुनिः।
कर्णे लगित्वा शनकैर्विपरीतं वचो वद॥ ५९॥

तब उद्दालककी दुःखपूर्ण बात सुनकर कौण्डिन्य मुनि उनके कानसे लगकर मुसकराते हुए धीरेसे बोले—'ब्रह्मन्! उससे उलटी बात कहो॥ ५९॥

माग्नेः शुश्रूषणं कार्षीर्मा दा मह्यं कमण्डलुम्।
इत्यादि वचनं ब्रूयास्त्वमुद्दालक तां स्त्रियम्॥ ६०॥

'उद्दालक! तुम अपनी उस भार्यासे ऐसी बात कहो कि तू अग्निकी परिचर्या मत कर। मेरा कमण्डलु भी लाकर मुझे मत दे।' इत्यादि॥ ६०॥

इतो द्वियोजनं तीर्थं गौतमेनाभिपालितम्।
तद् दृष्ट्वात्रागमिष्यामि श्राद्धमारभ्यतामिति।
तद्वचोऽमृतमापीय चण्डी वाक्यमथाब्रवीत्॥ ६१॥

'यहाँसे दो योजन (आठ कोस) पर महर्षि गौतमद्वारा सुरक्षित एक तीर्थ है, मैं उसका दर्शन करके पुनः लौटकर यहाँ आऊँगा। तुम अपना पितृ-श्राद्ध आरम्भ करो।' कौण्डिन्य ऋषिके इस वचनामृतका पान करके उद्दालक चण्डीसे निम्नाङ्कित वचन बोले॥ ६१॥

उद्दालक उवाच

प्रातरेष्यति कौण्डिन्यो गृहान्निष्कासयामि तम्।
तस्मै भोजनवस्त्रादि न दास्येऽहं कदाचन॥ ६२॥

उद्दालकने कहा—प्रिये! प्रातःकाल महर्षि कौण्डिन्य पुनः यहाँ आयेंगे। उस समय मैं उन्हें घरसे निकाल बाहर करूँगा। मैं कभी भी उन्हें भोजन-वस्त्र आदि नहीं दूँगा॥ ६२॥

चण्ड्युवाच

तं भोजये चार्चयेऽहं वस्त्रैः पुष्पैः सुशोभनैः।
यदा प्रोवाच सा चण्डी हर्षितोऽभून्मुनिस्तदा॥ ६३॥

तब चण्डी बोली—मैं उन्हें भोजन कराऊँगी और वस्त्रों तथा सुन्दर-सुन्दर पुष्पोंद्वारा उनका आदर-सत्कार भी करूँगी। जब उस चण्डीने ऐसी बात कही, तब तो उद्दालक मुनि हर्ष-मग्न हो गये॥ ६३॥

अनयैव परं बुद्ध्या श्राद्धं कर्त्तापरेऽहनि।
इति मत्वा समालोच्य रात्रौ जायां ततोऽब्रवीत्॥ ६४॥

तत्पश्चात् 'इसी बुद्धिके अनुसार दूसरे दिन उत्तम पितृ-श्राद्ध भी करूँगा।' ऐसा अपनी बुद्धिसे विचारकर वे रातके समय अपनी पत्नीसे बोले—॥ ६४॥

दूराद् दूरे त्वया चण्डि शयनं कार्यमद्य वै।
इत्युक्ता सा तदा चण्डी शय्यामेकामुवास सा॥ ६५॥

'चण्डि! आज तुमको मुझसे दूर-से-दूर स्थानपर शयन करना चाहिये।' मुनिके ऐसा कहनेपर उस समय उस चण्डीने एक ही अर्थात् मुनिकी ही शय्यापर शयन किया॥ ६५॥

पुनः प्रोवाच विप्रोऽसौ हर्षाविष्टमनास्तदा।
भविता श्वः पितुः श्राद्धं करिष्येऽहं न चण्डिके॥ ६६॥

उस समय ब्राह्मण उद्दालकका मन हर्षसे भर गया और वे पुनः बोले—'चण्डिके! कल पिताका श्राद्ध होनेवाला है, परंतु मैं उसे नहीं करूँगा'॥ ६६॥

चण्ड्युवाच

प्रभाते ते पितुः श्राद्धं करिष्येऽहं यथोचितम्।
श्वशुरस्य यथा तृप्तिर्भविष्यति सुखान्विता॥ ६७॥

चण्डीने कहा—प्रातःकाल मैं आपके पिताके श्राद्धका ऐसा यथोचित प्रबन्ध करूँगी, जिससे मेरे श्वशुर सुखसंयुक्त तृप्ति लाभ करेंगे॥ ६७॥

उद्दालक उवाच

न रात्रौ ब्राह्मणमहं गच्छाम्यामन्त्रितुं क्वचित्।
काणं खञ्जं श्यामदन्तं कुब्जं विप्रं निमन्त्रये॥ ६८॥

मूर्खं सूचकमप्रीतं वेदहीनमवैष्णवम् ।
व्यङ्गं द्यूतरतं नष्टं सरोगं वृषलीपतिम् ॥ ६९ ॥

उद्दालक बोले—प्रिये ! मैं रातके समय कहीं भी (किसी श्राद्धयोग्य) ब्राह्मणको निमन्त्रण देने नहीं जाऊँगा; बल्कि जो काना, लँगड़ा, काले दाँतोंवाला, कुबड़ा, मूर्ख, चुगलखोर, प्रसन्नतारहित, वेदहीन, विष्णुभक्तिसे रहित, अङ्गहीन, जुआरी, आचारभ्रष्ट, रोगी अथवा शूद्रासे उपभोग करनेवाला होगा, ऐसे किसी ब्राह्मणको निमन्त्रित कर लूँगा ॥

चण्ड्युवाच

अहं द्विजोत्तमान् विप्रान् वेदशास्त्रपरायणान् ।
कुलीनान् सम्मतान् पुत्रपौत्रभार्यासमन्वितान् ॥७०॥
आमन्त्रयित्वाद्य निशि प्रभाते तान् समानये ।
न त्वदीयं वचस्तथ्यं करिष्यामि कदाचन ॥ ७१ ॥

चण्डीने कहा—मैं आज रातमें ही माननीय, उत्तम कुलमें उत्पन्न, पुत्र-पौत्र तथा पत्नीसे संयुक्त, वेद-शास्त्रके अध्ययनमें तत्पर रहनेवाले श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको निमन्त्रित कर आऊँगी और प्रातःकाल उन्हें बुला लाऊँगी; परंतु आपकी बात कभी भी सत्य न होने दूँगी ॥ ७०-७१ ॥

उद्दालक उवाच

यदि श्राद्धं हठादेव क्रियते चण्डि मन्दिरे ।
मदीयं वाक्यमुल्लङ्घ्य तन्न मे सुखदायकम् ॥ ७२ ॥

उद्दालक बोले-चण्डी ! यदि मेरे ही घरमें मेरी बातोंका उल्लङ्घन करके हठपूर्वक श्राद्ध किया जायगा तो वह मेरे लिये सुखदायक नहीं होगा ॥ ७२ ॥

अश्राद्धीयानि धान्यानि तान्येवाहं समानये ।
श्रद्धया रहितं श्राद्धं करिष्ये चण्डि नान्यथा ॥ ७३ ॥

मैं जो धान्य श्राद्धके लिये निषिद्ध हैं, उन्हींको ले आऊँगा और श्रद्धारहित होकर ही वह श्राद्ध करूँगा । चण्डि ! मैं इसके विपरीत कुछ नहीं करूँगा ॥ ७३ ॥

चणकानाहरिष्यामि कोद्रवान् वर्तुलानपि ।
मसूरान् राजमाषांश्च कुलित्थानाढकीः पुनः ॥ ७४ ॥
यावनालांश्च निष्पावान् वरटान् मर्कटानपि ।
खर्जूरकांश्चित्रपत्राञ्छ्राद्धे शाकं च कुत्सितम् ॥ ७५ ॥
वृन्ताकं गृञ्जनं चैव चिल्लीं कोशातकीफलम् ।
कूष्माण्डकं कलिङ्गं च पिण्डीं पिण्डालुकं तथा ॥ ७६ ॥
अलाबुं वर्तुलां झिण्टीं तन्दुलीयं च पल्लवम् ।

मैं चना, कोदों, मटर, मसूर, राजमाष (नीले या काले रंगका बड़ा उड़द), कुलथी, अरहर, यावनाल (जुआर), निष्पाव (सफेद सेम या लोबिया), वरट[1], मर्कट (मडुआ या मक्का), खजूर, चित्रपत्र (गूमा) आदिको तथा श्राद्धकर्ममें वर्जित शाकोंको, जैसे बैंगन, गाजर, चिल्ली (लोध), तुरई, कूष्माण्ड (कुम्हड़ा), कलिङ्ग (तरबूज), पिण्डी (कद्दू), पिण्डालुक (कन्दविशेष), लौकी, वर्तुला (केराव), झिंटी (कटसरैया) और चौराईके पत्ते आदि ले आऊँगा ॥ ७४–७६½ ॥

चण्ड्युवाच

गोधूमांस्तण्डुलान् मुद्गान् माषांश्चैव मनोरमान् ॥७७॥
आनीयाहं करिष्यामि पायसं मण्डकानपि ।
मोदकान् फेणिकां रम्यां भक्तं कुमुदसंनिभम् ॥७८॥
गव्यं घृतं तथा क्षीरं सिता रम्भाफलानि च ।
सहकाररसं स्वादु प्रियां शिखरिणीं गृहे ॥ ७९ ॥
काले च कुतपे श्राद्धं श्रद्धायुक्तं सवस्त्रकम् ।
सदक्षिणं पूतशाकैर्धेनुदानेन संयुतम् ॥ ८० ॥
इति चण्डीवचः श्रुत्वा मुनिः प्रोवाच तां प्रियाम् ।

चण्डीने कहा—मैं गेहूँ, चावल, मूँग तथा मनको भानेवाले उड़द आदि उत्तम अन्नोंको लाकर उनसे खीर, मैदेकी पूरी या लुचुई, लड्डू, फेणिका (फेनी लपेटे हुए सूतके लच्छेके आकारकी एक मिठाई) और कुमुद-पुष्पके समान उज्ज्वल वर्णका भात तैयार करूँगी तथा गौका घी, दूध, शक्कर, केलेके फल, स्वादिष्ट आम्ररस तथा मनको प्रिय लगनेवाले शिखरन[2]का भी घरमें संग्रह कर लूँगी । फिर पितृसम्बन्धी कुतप काल (दिनके आठवें मुहूर्त) में श्रद्धापूर्वक वस्त्र, दक्षिणा, पवित्र शाक और गोदानसे संयुक्त श्राद्ध मेरे घरमें होगा । चण्डीकी ऐसी बात सुनकर उद्दालक मुनि अपनी पत्नीसे बोले ॥ ७७—८०½ ॥

---

१. बिर्रा या बर्रें नामक एक तेलहन अनाज, जिसका फूल केसरके रंगका होता है और उससे कुसुम रंग तैयार किया जाता है तथा उसका सफेद बीज खाने और तेल निकालनेके काममें आता है ।

२. दही और चीनीका बनाया हुआ एक प्रकारका मीठा पेय पदार्थ या शर्बत, जिसमें केसर, कपूर तथा मेवे आदि डाले जाते हैं ।

उद्दालक उवाच

प्रसभं क्रियते श्राद्धं पितॄणां तत्र मेऽहितम् ॥ ८१ ॥
अहं नीलीमयं वस्त्रं परिधास्ये सुशोभने ।
दुष्टतैलेन दीपांश्च कर्त्तास्म्यसुकृतेच्छया ॥ ८२ ॥

उद्दालकने कहा—प्रिये ! यदि तुम हठपूर्वक पितरोंका श्राद्ध करोगी तो इसमें मेरा अमङ्गल ही होगा; अतः सुशोभने ! मैं नील रंगसे रञ्जित वस्त्र धारण कर लूँगा और पापकी इच्छासे दूषित तैलका दीपक जलाऊँगा ॥ ८१-८२ ॥

चण्ड्युवाच

मनोरमं गृहं कुर्यां तिलतैलेन दीपकान् ।
मया कृताञ्छुचीन् वस्त्रैस्तादृशैः परिवर्जितम् ॥ ८३ ॥

चण्डी बोली—मैं लीप-पोतकर घरको सुन्दर सजा दूँगी, (आटे आदिसे) अपने ही बनाये हुए पवित्र दीपकोंको तिलके तेलसे जलाऊँगी और नील रंगका वस्त्र घरमें आने ही नहीं दूँगी ॥ ८३ ॥

जैमिनिरुवाच

ततो विप्रः प्रसन्नात्मा चेतसा न बहिः स्थितः ।
तया बुद्ध्या पितुः श्राद्धं सर्वं चक्रे नराधिप ॥ ८४ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—नरेश्वर ! तदनन्तर ब्राह्मण उद्दालक मन-ही-मन प्रसन्न हो गये । परंतु उन्होंने अपनी उस प्रसन्नताको बाहर नहीं प्रकट होने दिया और उसी बुद्धिके अनुसार पिताका सारा श्राद्धकार्य सम्पन्न कर लिया ॥ ८४ ॥

यावदुक्ता द्विजाः सर्वे यावद् दत्तं धनं तथा ।
वस्त्रादिकं स्वयं भुक्तः सा चण्डी च तथा नृप ॥ ८५ ॥
तावद्रात्र्यागमे मोहादिदं वचनमब्रवीत् ।

राजन् ! श्राद्धमें जितने और जैसे ब्राह्मण होने चाहिये, वे सब वहाँ पधारे और उन्हें यथोचित धन-वस्त्र आदिका दान भी दे दिया गया । फिर स्वयं उद्दालक तथा चण्डीने भी भोजन किया । तत्पश्चात् रात होनेपर ब्राह्मणने मोहवश (विपरीत कथनकी बात भूलकर) चण्डीसे इस प्रकार कहा ॥८५½॥

उद्दालक उवाच

गृहीत्वा चण्डि पुट्कं पिण्डानां जाह्नवीजले ॥ ८६ ॥
सुपूजितं पातयाशु श्रुत्वा सा गोमयावटे ।
पिण्डांश्चिक्षेप वेगेन स मुनिः कोपपूरितः ॥ ८७ ॥
तां शशाप शिला दुष्टे भविष्यसि ममाज्ञया ।
चिरकालं हयस्याङ्गं स्पृष्ट्वा मुक्ता भविष्यसि ॥ ८८ ॥
यज्ञार्थं भ्रममाणस्य सेयं पार्थ महाशिला ।
इमां मोचय भद्रं ते करस्पर्शान्महाबल ॥ ८९ ॥

उद्दालक बोले—चण्डि ! तुम भलीभाँति पूजित हुए पिण्डोंके दोनेको लेकर शीघ्र ही गङ्गाजीके जलमें डाल आओ। यह सुनकर उसने वेगपूर्वक पिण्डोंको गोबरके गड्ढेमें फेंक दिया । यह देखकर उद्दालक मुनि क्रोधसे भर गये और उसे शाप देते हुए बोले—'दुष्टे ! तू मेरी आज्ञासे शिला हो जायगी और बहुत कालतक इसी अवस्थामें पड़ी रहेगी, फिर जब (युधिष्ठिरके) अश्वमेध यज्ञके लिये भ्रमण करते हुए घोड़ेके अङ्गका तुझसे स्पर्श होगा, तब तू मुक्त होगी ।' पार्थ! यह वही महती शिला है । महाबली अर्जुन ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम अपने हाथोंसे स्पर्श करके इसे शापमुक्त कर दो ॥

कृतं पार्थेन तत् सर्वं मुक्तः स तुरगो ययौ ।
चण्डी शापभयान्मुक्ता ह्यङ्गस्पर्शात् तदा हरेः ॥ ९० ॥

अर्जुनने (सौभरि मुनिके कथनानुसार) वह सब कार्य किया । तब घोड़ेके अङ्ग-स्पर्शसे चण्डी शापभयसे मुक्त हो गयी और घोड़ा भी मुक्त होकर आगे बढ़ा ॥ ९० ॥

तदा बभूव सा चण्डी भर्तुर्वचनकारिणी ।
उद्दालकस्त्वृषिवरः पत्न्या सह मुमोद ह ॥ ९१ ॥

तबसे वह चण्डी पतिकी आज्ञाकारिणी हो गयी और मुनिवर उद्दालक भी अपनी उस पत्नीके साथ आनन्दपूर्वक रहने लगे ॥ ९१ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि शिलामोक्षो नाम
षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें शिलामोक्षनामक
सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुनके यज्ञिय अश्वका चम्पापुरीमें प्रवेश और राजा हंसध्वजद्वारा उसका पकड़ा जाना तथा राज-सैनिकोंका युद्धके लिये प्रस्थान, अट्टालिकाओंपर बैठी हुई स्त्रियोंकी परस्पर विनोदवार्ता, राजाकी घोषणा, खौलते हुए तैलपूर्ण कड़ाहका आयोजन, सुधन्वाका रणके लिये उद्यत हो माता और बहिनको प्रणाम करके उनकी आज्ञाके अनुसार युद्ध करनेका आश्वासन देना, प्रभावतीका अपने पति सुधन्वाकी आरती उतारना, दोनोंके संवाद, पत्नीके आग्रहसे विवश हुए सुधन्वाका उसे रति-दान देकर युद्धके लिये जाना, राजाका रोष, यवन-सैनिकोंद्वारा सुधन्वाको बुलवाकर फटकारना, शङ्ख मुनिसे उसके विषयमें पूछना, शङ्खका राज्य छोड़कर जाना, राजाका सुधन्वाको कड़ाहमें डालनेके लिये सचिवको आज्ञा देकर जाना, शङ्ख और लिखितको लेकर लौटना, सुधन्वाके द्वारा कड़ाहमें भगवान्का स्मरण, उसके जीवनकी रक्षा तथा तैलकी परीक्षाके समय शङ्ख और लिखितके ललाटमें नारियलके टुकड़ोंसे चोट पहुँचना

जैमिनिरुवाच

मुक्तः स तुरगः शीघ्रं प्रययौ चम्पकां पुरीम्।
हंसध्वजेन वीरेण पालितां प्रमदामिव ॥ १ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! उस शिलासे मुक्त होकर वह अश्व घूमता हुआ शीघ्र ही उस चम्पापुरीमें जा पहुँचा, जो शूरवीर राजा हंसध्वजके द्वारा स्त्रीकी भाँति सुरक्षित थी॥ १॥

पृष्ठतोऽस्य जगामाशु कुन्तीपुत्रो धनंजयः।
वीरैः परिवृतो घोरैः प्रद्युम्नप्रमुखैर्नरैः ॥ २ ॥
मुक्तामालावृतैर्दिव्यैर्वासोभिर्वेष्टितैः शुभैः।

उस अश्वके पीछे-पीछे कुन्तीनन्दन अर्जुन शीघ्रतापूर्वक चल रहे थे। उस समय उनके साथ प्रद्युम्न आदि भयंकर शूरवीर योद्धा भी थे, जो मोतियोंके हारोंसे अलंकृत तथा सुन्दर दिव्य वस्त्रोंसे विभूषित थे॥ २½॥

ततो हंसध्वजो राजा श्रुत्वा दूतमुखाद् भयम् ॥ ३ ॥
प्राप्तं स्वविषये वीरं पालयन्तं तुरङ्गमम्।
चिन्तयामास सचिवैः सार्धं बन्धुभिरात्मजैः ॥ ४ ॥

तदनन्तर जब राजा हंसध्वजने दूतके मुखसे अपने देशमें अश्वमेध-यज्ञके घोड़ेकी रक्षा करते हुए वीरवर अर्जुनके आगमन एवं तज्जनित भयकी बात सुनी, तब वे अपने मन्त्रियों, भाइयों और पुत्रोंके साथ विचार करने लगे॥ ३-४॥

हंसध्वज उवाच

किं पार्थतुरगं प्राप्तं गृह्णामि स्वबलाद् रणे।
व्यूह्य सैन्यं स्वविषयं पालयामि महाबलात् ॥ ५ ॥

हंसध्वजने कहा—क्या मैं यहाँ आये हुए अर्जुनके घोड़ेको अपने बलसे पकड़ लूँ? क्योंकि युद्धस्थलमें मैं सेनाकी व्यूहरचना करके महाबली अर्जुनसे अपने देशकी रक्षा कर लूँगा (ऐसा विश्वास है)॥ ५॥

महालाभश्च भविता दृश्यते हरिसेवकः।
यत्रार्जुनस्तत्र हरिः स्वयं तिष्ठत्यसंशयम् ॥ ६ ॥

ऐसा करनेसे यदि श्रीकृष्णके भक्त अर्जुन दीख पड़े तो महान् लाभ होगा; क्योंकि जहाँ अर्जुन हैं, वहाँ स्वयं श्रीकृष्ण भी विराजमान रहते हैं, इसमें संशय नहीं है॥ ६॥

न मया वीक्षितः कृष्णो वृद्धेनापि स्वचक्षुषा।
तस्मान्निर्यान्तु मे वीरा युद्धार्थं याम्यहं रणम् ॥ ७ ॥

मैं वृद्ध हो चला, पर अभीतक अपने नेत्रोंसे श्रीकृष्णका दर्शन नहीं कर पाया; इसलिये मेरे वीर योद्धा युद्धके लिये यात्रा करें और मैं रणभूमिमें चलता हूँ॥ ७॥

जैमिनिरुवाच

ततो हंसध्वजो राजाप्याजगाम मुदान्वितः।
सप्ततिं नायकानां स गृहीत्वा प्रमुखे स्थितः ॥ ८ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर राजा हंसध्वज भी हर्षपूर्वक सत्तर सेना-नायकोंको साथ लेकर रणभूमिमें आये और युद्धके मुहानेपर डटकर खड़े हो गये ॥८॥

नायके नायके सैन्यं यत्नेन परिरक्षितम् ।
तच्छृणुष्व महीपाल पुष्टं मानधनैः सदा ॥ ९ ॥

महीपाल ! अब प्रत्येक सेनापतिके अधीन सदा धनमानसे परिपुष्ट एवं यत्नपूर्वक सुरक्षित जितनी सेना थी, उसका वर्णन सुनिये ॥ ९ ॥

गजानां भूरिमत्तानां सहस्राण्येकसप्ततिः ।
रथानामपि नद्धानां सहस्राण्येकसप्ततिः ॥ १० ॥
हयानामपि रूढानां लक्षं चैवातिभासुरम् ।
पदातीनां सहस्राणि यूनां त्रिनवतिर्नव ॥ ११ ॥

उस सेनामें इकहत्तर हजार अत्यन्त मतवाले गजराज थे। घोड़ोंसे जुते हुए सुसज्जित रथोंकी संख्या भी इकहत्तर हजार ही थी। एक लाख घोड़े थे, जो अपने आभूषणोंके कारण चमक रहे थे और जिनपर वीर योद्धा सवार थे तथा एक लाख दो हजार नौजवान पैदल सैनिक थे ॥ १०-११ ॥

सर्वे ते वैष्णवा वीराः सदा दानपरायणाः ।
एकपत्नीव्रतयुताः सम्मतास्ते प्रियंवदाः ॥ १२ ॥

वे सभी योद्धा भगवद्भक्त, रणवीर, सदा दीनोंपर दया करके उन्हें दान देनेवाले, एकपत्नीव्रती, राजसम्मानित और प्रिय बोलनेवाले थे ॥ १२ ॥

समागतं जनं क्वापि सेवितुं तं जनाधिपम् ।
दूरदेशादपि प्राप्तं राजा तं परिपृच्छति ॥ १३ ॥

क्योंकि राजा हंसध्वजके पास जब कहीं दूर देशसे भी कोई नौकरीके लिये आता, तब राजा उस आगन्तुक व्यक्तिसे सबसे पहले यही कहते थे—॥ १३ ॥

एकपत्नीव्रतं तात यदि ते विद्यतेऽनघ ।
ततस्त्वां धारयिष्यामि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ १४ ॥
न शौर्यं न कुलीनत्वं न च क्वापि पराक्रमः ।
स्वदाररसिकं वीरं विष्णुभक्तिसमन्वितम् ॥ १५ ॥
वासयामि गृहे राष्ट्रे तथान्येऽपि हि सैनिकाः ।
अनङ्गवेगं स्वान्ते ये धारयन्ति महाबलाः ॥ १६ ॥

'अनघ ! यदि तुम एकपत्नीव्रतका पालन करनेवाले हो तो मैं तुम्हें रख सकता हूँ। यह मैं तुमसे सत्य कहता हूँ। तात ! न तो शूरता, न कुलीनता और न पराक्रम ही मुझे अभीष्ट है, मैं तो उसी वीरको अपने घर तथा राष्ट्रमें स्थान दे सकता हूँ, जो केवल अपनी एक ही पत्नीमें प्रेम करनेवाला और भगवान् विष्णुकी भक्तिसे सम्पन्न होगा। इसी प्रकार जो अन्य महाबली योद्धा भी कामदेवके प्रबल वेगको अपने भीतर धारण कर लेते हैं, वे ही मेरे यहाँ रह सकते हैं' ॥ १४–१६ ॥

जैमिनिरुवाच

प्रददाति धनं भूरि स्वभृत्येभ्यो यथोचितम् ।
सुमतिः सुगतिस्तुष्टः श्रद्धालुस्तस्य नायकाः ॥ १७ ॥
सचिवाः पान्ति तत्सैन्यं यथाभूतं नृपस्य तु ।
भ्रातरश्चापि बलिनो विदूरथमुखा हि ते ॥ १८ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा हंसध्वज अपने सेवकोंको यथोचित रूपसे बहुत-सा धन देते थे। राजाके सुमति, सुगति, तुष्ट और श्रद्धालु नामक सेनापति तथा मन्त्री उनके पूर्वोक्त सेनाकी रक्षा करते थे और जो उनके बलवान् भाई थे, वे भी उनके सैन्यदलका यथोचित रीतिसे पालन करते थे। पूर्वोक्त मन्त्रियोंमें विदूरथ प्रधान थे ॥ १७-१८ ॥

चन्द्रसेनश्चन्द्रकेतुश्चन्द्रदेवो महाबलः ।
न्यायवर्ती धनबलो धर्मवाहोऽतिसुन्दरः ॥ १९ ॥

राजाके भाइयोंके नाम इस प्रकार हैं—चन्द्रसेन, चन्द्रकेतु, महाबली चन्द्रदेव, न्यायवर्ती धनबल और अत्यन्त रूपवान् धर्मवाह ॥ १९ ॥

पुत्रास्तस्यापरे पञ्च सुबलः सुरथः समः ।
सुदर्शनः पञ्चमश्च सुधन्वापि महाबलः ।
एवंविधेन सैन्येन स्थितः पार्थबलं प्रति ॥ २० ॥

उनके पाँच पुत्र भी थे, जिनके नाम थे—सुबल, सुरथ, सम, सुदर्शन और पाँचवाँ महाबली सुधन्वा। ऐसे वीरोंसे भरी हुई सेनाको साथ लेकर राजा हंसध्वज अर्जुनकी सेनासे टक्कर लेनेके लिये खड़े थे ॥ २० ॥

हंसकेतुस्ततः सैन्यं व्यूहयामास सत्वरः ।
दुन्दुभिं ताडयामास गजारूढो जगाम सः ॥ २१ ॥

तदनन्तर राजा हंसध्वजने नगाड़ा बजवाकर अपनी सेनाको शीघ्र ही व्यूहके आकारमें इकट्ठी होनेकी आज्ञा दी और स्वयं गजराजपर सवार होकर चले ॥ २१ ॥

निरगच्छंस्ततो वीरास्तेनाज्ञप्ताः पुराद् बहिः ।

कश्चित् कवचमादाय पूजयामास मारिष ॥ २२ ॥
तानि शस्त्राणि चास्त्राणि हुत्वा चैव हुताशनम् ।
तथान्ये निर्गता वीराः सर्वे ते समसाहसाः ॥ २३ ॥

तब उनकी आज्ञा पाकर सभी वीर नगरसे बाहर निकलने लगे। आर्य ! कोई वीर अपने कवचको लेकर उसकी पूजा करने लगा तथा दूसरे योद्धा अग्निमें आहुति डालकर और अपने शस्त्रास्त्रोंको लेकर नगरसे बाहर निकले; वे सब-के-सब समान साहसवाले थे ॥ २२-२३ ॥

भोजयित्वा द्विजगणान् पायसेन घृतेन च ।
निर्ययुस्ते रथैरेव गजैर्मत्तैस्तथापरे ॥ २४ ॥

कुछ वीर ब्राह्मणोंको खीर और घीसे बने हुए पदार्थ भोजन कराकर चले। उनमेंसे कुछ रथपर सवार थे तथा दूसरे मदमत्त गजराजोंपर ॥ २४ ॥

हयैरन्ये प्रार्थयन्तस्तत्र युद्धं भयानकम् ।
चामरच्छत्रिणः सर्वे सिंहनादं प्रचक्रिरे ॥ २५ ॥

दूसरे योद्धा वहाँ घोर संग्राम करनेकी इच्छासे घोड़ोंपर चढ़कर प्रस्थित हुए। उस समय सभी छत्र-चँवरधारी वीर सिंहनाद करने लगे ॥ २५ ॥

तेषां प्रियाः स्थिताः सर्वाः प्रासादमधिकौतुकम् ।
प्रासादस्थाश्च पश्यन्त्यः प्रब्रुवन्त्यश्च शोभनम् ॥२६॥

उन वीरोंकी प्यारी पत्नियाँ कौतुक देखने योग्य अट्टालिकाओंपर चढ़ गयीं और वहाँ बैठकर वे सभी सेनाके प्रस्थानका दृश्य देखती हुई आपसमें सुन्दर बातें करने लगीं ॥

काचिज्जगाद वाक्यं तु प्रियां तां सुन्दरीं प्रति ।
सखि युद्धे प्रयात्येष भर्ता ते केशवार्जुनौ ॥२७॥
अधरे तव किं भद्रे कृष्णोऽयं दृश्यते व्रणः ।
तत् कथं लज्जसे नैव भवती व्रणदर्शनात् ॥ २८ ॥

उनमेंसे एक स्त्री दूसरी परम सुन्दरी प्यारी सहेलीसे कहने लगी—"सखि ! तुम्हारे ये पतिदेव श्रीकृष्ण और अर्जुनसे युद्ध करनेके लिये जा रहे हैं। परंतु भद्रे ! तुम्हारे अधरपर यह काला घाव-सा क्या दिखायी देता है ? इस घावके दीखनेसे तुझे लज्जा क्यों नहीं आती ?" ॥ २७-२८ ॥

तामुवाचापरा तत्र माधवेन तवाधरः ।
समुच्चरति दुष्टेऽसौ भर्त्रा युक्तं प्रशास्यते ॥ २९ ॥

तब वहाँ उससे दूसरी स्त्री बोली—'दुष्टे ! तेरा अधर श्रीकृष्णका नामोच्चारण नहीं करता, अतः तेरे पति इसे जो दन्तक्षतके रूपमें दण्ड देते हैं, वह उचित ही है' ॥ २९ ॥

एतज्जातं सुन्दरं मे विकीर्णास्ते कथं कचाः ।
पररन्ध्रेषु सर्वेषां दृष्टिर्गच्छत्यचेतसाम् ॥ ३० ॥
धीमतां सुकृते याति नात्र कार्या विचारणा ।

(तब उसने उत्तर दिया—) 'यह तो मेरे लिये बहुत सुन्दर हुआ; परंतु तुम्हारे केश क्यों बिखरे हुए हैं ? इसमें विचार करनेकी कोई बात नहीं है, क्योंकि सभी अज्ञानियोंकी दृष्टि (अपना दोष न देखकर) पराये छिद्रोंपर ही जाती है; परंतु जो बुद्धिमान् हैं, उनकी दृष्टि शुभकर्मोंपर ही पड़ती है ॥

वरं साधुसमीपे हि कृच्छ्रेण वसतां नृणाम् ॥ ३१ ॥
न राज्यं त्वसतां पार्श्वे धिग् राज्यं हि सतो विना ।

'अतएव सत्पुरुषोंके समीप कष्ट सहकर भी निवास करना मनुष्योंके लिये श्रेयस्कर है, परंतु असत्पुरुषोंके संनिकट यदि राज्यकी प्राप्ति होती हो तो भी वह ठीक नहीं है; क्योंकि सत्पुरुषोंकी संगति बिना उस राज्यको धिक्कार है' ॥ ३१½ ॥

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्यास्तदा सा गजगामिनी ॥३२॥
प्रत्युवाच हसन्तीव मूढे कृष्णं न पश्यसि ।
त्वया मयात्र ज्ञातव्यं किमप्यस्ति महारणे ॥ ३३ ॥

तब वह गजगामिनी अपनी सखीकी यह बात सुनकर हँसती हुई बोली—'मूढे ! तू अपने काले व्रणको नहीं देखती। इस महायुद्धमें मुझे और तुझे और भी कुछ जानने योग्य वस्तु है ? ॥ ३२-३३ ॥

ललाटं सव्रणं पश्य हंसगद्गदभाषिणि ।
सर्वत्र भावलाभार्थं नराः कुर्वन्ति सुक्षतम् ॥ ३४ ॥
स्त्रीशरीरमिदं मूढे तत्त्वं वेत्सि न चात्मनः ।
इमां पृच्छामि सुदतीं परं कौतूहलं हि मे ॥ ३५ ॥

'हंसके समान गद्गद स्वरमें बोलनेवाली सखी ! मेरे इस दन्तक्षतयुक्त ललाटको तो देख । पुरुष भाव (रति) की प्राप्तिके लिये (स्त्रियोंके शरीरको) सर्वत्र क्षत-विक्षत कर देते हैं। मूढ़े ! तू अपने इस तत्त्वको नहीं जानती है, अतः मैं इस सुन्दर दाँतोंवालीसे पूछती हूँ; क्योंकि मुझे बड़ा कौतूहल हो रहा है ॥ ३४-३५ ॥

चन्दनं वरमाल्यानि वासांसि रुचिराणि च ।
परिम्लानानि मन्दायाः किमेतत् कारणं वद ॥ ३६ ॥

'इस मन्दगामिनीके चन्दनके लेप, पुष्पहार, सुन्दर वस्त्र सभी मलिन हो गये हैं। बताओ, इसका क्या कारण है ?'॥

सुन्दर्युवाच

ललाटं सव्रणं मन्ये भद्रायाः सखि मण्डितम्।
कृष्णेनात्र पदं दत्तं वदन्ति किल योगिनः॥ ३७॥

सुन्दरी बोली—सखी! मैं तो भद्राके ललाटका क्षत-विक्षत हो जाना उसकी शोभा ही समझती हूँ; क्योंकि योगी-जन ऐसा कहते हैं कि अवश्य ही कृष्णने उसपर अपना पैर रख दिया है॥ ३७॥

न वक्तव्यं पुनश्चैवं पाण्डवस्य तुरङ्गमम्।
गृहीतुं यान्ति कुशला मरालध्वजसैनिकाः॥ ३८॥

अब तुझे पुनः ऐसी बातें नहीं कहनी चाहिये; क्योंकि इस समय राजा हंसध्वजके युद्धकुशल सैनिक अर्जुनके अश्वको पकड़नेके लिये जा रहे हैं॥ ३८॥

जैमिनिरुवाच

ततो दुन्दुभिनादेन निर्गताः क्षत्रिया रणे।
नीतः कटाहस्तैलेन पूरितो राजशासनात्॥ ३९॥
न निर्गच्छति यः कश्चित् कटाहे तैलपूरिते।
पात्यते ज्वलिते घोरे नप्तापुत्रसहोदराः॥ ४०॥
आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणां विप्राणां मानखण्डनम्।
पृथक्छय्या च नारीणामशस्त्रवध उच्यते॥ ४१॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर नगाड़ेकी आवाज सुनकर क्षत्रिय वीर युद्धस्थलमें जानेके लिये निकल पड़े। उस समय राजाकी आज्ञासे वहाँ एक तैलसे भरा हुआ कड़ाहा लाया गया (और यह घोषणा करा दी गयी कि) 'जो कोई युद्धार्थ नगरसे बाहर नहीं निकलेगा (तथा ठीक समयपर उपस्थित न होगा), वह चाहे राजाका नाती, पुत्र अथवा सहोदर भाई ही क्यों न हो, उसे इस उबलते हुए तैलके भयंकर कड़ाहेमें डलवा दिया जायगा; क्योंकि नरेशोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन, ब्राह्मणोंकी मानहानि और स्त्रियोंके लिये पतिसे पृथक् शय्या—यह उनके लिये बिना शस्त्रके ही वधके समान कहा गया है'॥ ३९–४१॥

आज्ञाभङ्गं नरेन्द्राणां न करोति नरः क्वचित्।
शङ्खं पुरोहितं चक्रे तेनायं तीव्रशासनः॥ ४२॥

इसीलिये कहीं भी मनुष्य राजाओंकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं करते हैं। इन राजा हंसध्वजने तो महर्षि शङ्खको अपना पुरोहित बना लिया है, इस कारण इनका शासन और भी कठोर है॥ ४२॥

राज्ञः पुरोहितश्चास्य नीतिशास्त्रविशारदः।
फलान्यपहृतान्यासन् भ्रातुस्तेन महात्मना॥ ४३॥
छिन्नं बाहुयुगं स्वं हि सतामाज्ञा विचिन्त्यताम्।

इन राजाके पुरोहित महर्षि शङ्ख नीतिशास्त्रके विशेषज्ञ हैं। एक बार उन महात्माने अपने भाईसे बिना पूछे उनके फल ले लिये थे, इस अपराधके दण्डस्वरूप उन्होंने स्वयं ही अपनी दोनों भुजाओंको कटवा दिया था; अतः सत्पुरुषोंकी आज्ञाका सदा ध्यान रखना चाहिये॥ ४३½॥

पुरोहितवशाद् राजा नीतिज्ञः सर्वदा धराम्॥ ४४॥
सम्यक् पालयमानोऽसौ रणे जेता परान् स्थितान्।

नीतिविशारद पुरोहितके कारण राजा भी बड़े नीतिज्ञ हैं। ये सर्वदा सम्यक् प्रकारसे पृथ्वीका पालन करते हैं और युद्धमें सम्मुख उपस्थित हुए शत्रुओंके भी विजेता हैं॥ ४४½॥

एवंविधं कटाहं तं विलोक्य नृपशासनात्॥ ४५॥
सुधन्वा प्रथमं पुत्रो निर्ययौ नृपतिं प्रति।
नमस्कृत्याथ जननीं गृहीत्वा परमं धनुः॥ ४६॥
अवदन्मातरं युद्धे पार्थं गच्छामि योधितुम्।
हरिं तमानयिष्यामि रक्षितं पाण्डवेन हि॥ ४७॥

तदनन्तर राजाकी आज्ञासे लाये गये उस खौलते हुए तैलके कड़ाहेको देखकर राजकुमार सुधन्वा अपना उत्तम धनुष लेकर सबसे पहले ही राजाके पास जानेको उद्यत हुआ। उस समय वह मातृ-चरणोंमें प्रणाम करके कहने लगा—'माँ! मैं विख्यात वीर अर्जुनसे युद्ध करनेके लिये रणक्षेत्रमें जा रहा हूँ और उन पाण्डुपुत्रद्वारा सुरक्षित उस 'हरि' (घोड़े) को जीतकर ले आऊँगा'॥ ४५–४७॥

मातोवाच

गच्छ पुत्र हरिं युद्धे विजित्य मम संनिधौ।
हरिं चतुष्पदं त्यक्त्वा तं समानय मुक्तिदम्॥ ४८॥

तब माताने कहा—बेटा! रणमें जाकर 'हरि' को जीतकर अवश्य मेरे पास ले आ; परंतु लाना मुक्तिदाता 'हरि' को, चार पैरवाले पशुको नहीं॥ ४८॥

बहुधा नारदः प्राह तस्य कृष्णस्य चेष्टितम्।

मद्भर्त्रा विजिता वीरा बहवोऽपि रणाङ्गणे ॥ ४९ ॥
न चैकः कंसहन्तायं विदृष्टः स्वेन चक्षुषा।
रात्रिंदिवा हरिं ब्रूते तं पश्यामि तथा कुरु ॥ ५० ॥

देवर्षि नारद उन श्रीकृष्णके चरित्रोंका अनेक बार वर्णन कर चुके हैं। मेरे पतिदेवने भी आजतक युद्धस्थलमें बहुत-से वीरोंपर विजय प्राप्त की है, परंतु अभीतक उन्हें अपने नेत्रोंसे कंसका वध करनेवाले श्रीकृष्णका दर्शन नहीं हो सका है। पुत्र! जिन श्रीहरिका गुण-गान लोग रात-दिन किया करते हैं, उनका दर्शन मुझे जिस प्रकार हो सके, वैसा प्रयत्न करना ॥

बहुधा कुरु तत् कर्म येन तुष्यति केशवः।
न त्वयं वशतामेति दूराद् दूरं पलायते ॥ ५१ ॥

तू आज प्रायः वही कर्म करना, जिससे श्रीकृष्ण प्रसन्न हो जायँ; क्योंकि वे शीघ्र वशीभूत नहीं होते, बल्कि चेष्टा करनेपर दूर-से-दूर भाग जाते हैं॥ ५१ ॥

चक्षुर्विषयमापन्नः पश्य भाग्यं महाबलः।
पार्थं धारय भद्रं ते वशगस्ते हरिर्भवेत् ॥ ५२ ॥

परंतु तू अपना सौभाग्य तो देख कि वे ही महाबली श्रीकृष्ण आज तेरे नेत्रोंके विषय होनेवाले हैं। वत्स! तेरा कल्याण हो। यदि तू किसी प्रकार अर्जुनको रणमें छका दे (अर्थात् उन्हें व्याकुल कर दे) तो श्रीकृष्ण तेरे वशीभूत हो जायँगे ॥ ५२ ॥

स्वभक्तं न त्यजत्येष मनाक् पुत्र मया श्रुतम्।
यथा वनगतं वत्सं त्यक्त्वा नाऽऽयाति सौरभी ॥५३॥
तथाऽऽपत्सु न कृष्णोऽपि स्वजनं परिमुञ्चति।
तदग्रे न भयं कार्यं कृष्णाद् भीतो न जीवति ॥ ५४ ॥

बेटा! मैंने सुना है कि श्रीकृष्ण अपने भक्तको थोड़ी देरके लिये भी नहीं छोड़ सकते। जैसे वनमें गये हुए बछड़ेको छोड़कर गौ घर नहीं लौटती, उसी तरह श्रीकृष्ण भी अपने भक्तको विपत्तिमें अकेला नहीं छोड़ते। उनके सामने जाकर तू भयभीत न होना; क्योंकि श्रीकृष्णसे डरनेवाला जीवित नहीं रह सकता ॥ ५३-५४ ॥

प्रहसिष्यन्ति मां सर्वे लोकाः सम्बन्धिनस्तथा।
तव भद्रे सुतः कृष्णं निरीक्ष्य विमुखोऽभवत् ॥५५॥

यदि तू डर गया तो सारी जनता तथा सम्बन्धीलोग मुझे हँसेंगे कि 'भद्रे! तेरा पुत्र श्रीकृष्णको देखकर रणसे विमुख हो गया' ॥ ५५ ॥

तथाविधं न कर्तव्यं पुत्र सूचकभाषितम्।
मयाद्य हर्षः क्रियते पतने तव पुत्रक ॥ ५६ ॥

पुत्र! तू निन्दकोंके कहने योग्य वैसा निन्द्य कर्म मत करना। बेटा! यदि तू आज रणमें धराशायी हो जायगा तो मुझे उसमें बड़ा हर्ष प्राप्त होगा ॥ ५६ ॥

यत् तु लोकविरुद्धं च पुत्रं प्रति भवेद् वचः।
न चेतसि मदीयेऽत्र जायते लोकभाषितम् ॥ ५७ ॥

परंतु यदि लोग मेरे पुत्रके प्रति विरुद्ध बातें कहें तो इस विषयमें उन लोगोंका वह कथन मेरे चित्तमें समाता नहीं है ॥ ५७ ॥

हरेः किं सम्मुखः पुत्र पतितः पतितो भवेत्।
तेनैव चोद्धृताः सर्वे आत्मना चैकविंशतिः ॥ ५८ ॥

बेटा! श्रीकृष्णके सम्मुख मरनेवाला मनुष्य क्या मरा हुआ कहलाता है? नहीं; वह तो अपने सहित अपनी सारी इक्कीस पीढ़ियोंका उद्धार करनेवाला होता है ॥ ५८ ॥

रोदनं पुत्र ताः सर्वाः कुर्वन्तु भुवि योषितः।
यासां पुत्राश्च पौत्राश्च न व्रजन्ति हरिं प्रति ॥ ५९ ॥

वत्स! भूतलपर वे ही सारी स्त्रियाँ रोदन करें, जिनके पुत्र-पौत्र भगवान् श्रीहरिकी ओर नहीं जाते ॥५९॥

सुधन्वोवाच

सर्वं ते भाषितं मातः करिष्ये हरिमानये।
पौरुषं हि मया कार्यं जयो दैवे प्रतिष्ठितः ॥ ६० ॥
तवोदरे न संजातस्तत्र चेत् केशवं प्रभुम्।
विलोक्य विमुखो भूयां गच्छेयं सद्गतिं न हि ॥ ६१ ॥

सुधन्वाने कहा—माँ! मैं तुम्हारे सारे कथनको पूर्ण करूँगा और रणमें जी-जानसे लड़कर हरि (घोड़े तथा श्रीकृष्ण) को ले आऊँगा। पुरुषार्थ करना मेरे अधीन है, विजयरूप फल दैवके हाथमें है; परंतु युद्धस्थलमें भगवान् श्रीकृष्णको देखकर यदि मैं विमुख हो जाऊँ तो न तुम्हारे पेटसे पैदा हुआ कहाऊँ और न मुझे सद्गतिकी ही प्राप्ति हो ॥ ६०-६१ ॥

जैमिनिरुवाच

एतावदुक्त्वा वचनं यावद् गच्छति वीर्यवान्।
तावन्नीराजितः सम्यक् तथा कुवलया नृप ॥६२॥

लाजैश्च सुमनोभिश्च गन्धैश्चोच्चैः पुनः पुनः।
कण्ठे मालां पातयित्वा भगिनी वाक्यमब्रवीत् ॥६३॥

जैमिनिजी कहते हैं--जनमेजय ! मातासे इतनी बात कहकर पराक्रमी सुधन्वा ज्यों ही चलनेको उद्यत हुआ त्यों ही बहिन कुवलाने आकर उसकी सुन्दर ढंगसे आरती उतारी और खील, पुष्प तथा उत्तम सुगन्धित पदार्थोंकी बारंबार उसपर वर्षा की, फिर गलेमें माला पहनाकर वह इस प्रकार कहने लगी ॥ ६२-६३ ॥

कुवलोवाच

योद्धुं धनंजयं यासि साधु योधय बान्धव।
दारुणो मम वासोऽयं श्वशुरस्य गृहे सदा ॥ ६४ ॥

कुवला बोली--प्यारे भाई ! तुम अर्जुनके साथ युद्ध करनेके लिये जा रहे हो तो जाओ, परंतु उनसे ठीक तौरसे लड़ना; क्योंकि मेरा ससुरालमें रहना सदा दारुण कष्ट देता है ॥ ६४ ॥

ज्येष्ठादयो हसन्तीमे देवराश्च प्रहासिनः।
मां तत्र निवसन्तीं तु यज्ञगुस्तत्परं शृणु ॥ ६५ ॥

जब मैं वहाँ रहती हूँ, तब मेरे ज्येष्ठ आदि तथा हास्य-कुशल देवर मेरी हँसी उड़ाते हैं। वे लोग जो कुछ कहते हैं, उसे सुनो ॥ ६५ ॥

कुवले जनकस्तेऽयं मूर्ख एवोपलक्ष्यते।
ब्रूते कृष्णं प्रजेष्यामि यथा काशीश्वरो जितः ॥ ६६ ॥

(वे कहते हैं—) 'कुवले ! तुम्हारा यह पिता मूर्ख ही दिखायी पड़ता है। यह कहता है कि जैसे मैंने काशिराजको जीत लिया है, उसी तरह श्रीकृष्णको पराजित कर दूँगा ॥ ६६ ॥

स्वदेहेन न शक्नोति बलेन सहितः पुरीम्।
रम्यां द्वारवतीं मन्दो गन्तुं जेतुं तमिच्छति ॥ ६७ ॥

'वह मूर्ख जब अपनी देह तथा सेनाके साथ उस रमणीय द्वारकापुरीतक जानेके लिये भी समर्थ नहीं है, तब उन्हें जीतनेकी इच्छा कैसे करता है' ॥ ६७ ॥

सुधन्वोवाच

कुवले पितृवाक्यं तद् देवराणां च भाषितम्।
सर्वं सत्यं करिष्यामि सत्येनायुधमालभे ॥ ६८ ॥
नमस्कृत्यात्र भवतीं रणे यामि हरिं प्रति।

सुधन्वाने कहा--कुवला बहिन ! मैं अपने शस्त्रोंकी सत्य शपथ करता हूँ कि पिताका वचन तथा तुम्हारे देवरोंका वह कथन–सभी सत्य कर दिखाऊँगा। मैं अभी-अभी तुम्हें प्रणाम करके श्रीहरिसे लड़नेके लिये रणभूमिमें जा रहा हूँ ॥ ६८½ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं बाह्यां कक्ष्यामगात् तदा ॥ ६९ ॥
ततो ददर्श तां देवीं चारुनेत्रपयोधराम्।
अग्रतश्चन्दनयुतां सहितां चन्द्रकेण तु ॥ ७० ॥

बहिनसे इतनी बात कहकर सुधन्वा उस समय बाहरी ड्योढ़ीपर गया। वहाँ उसने सुन्दर नेत्रों और स्तनोंवाली अपनी पत्नी प्रभावतीको देखा, जो हाथमें कपूरयुक्त चन्दन लिये हुए पहलेसे ही खड़ी थी ॥ ६९-७० ॥

साम्भोजैश्चम्पकैः पात्रं काञ्चनस्य सदीपकम्।
गृहीत्वा संस्थिता तन्वी छन्नं दूर्वाक्षतैरपि ॥ ७१ ॥
कर्पूरपुलकोद्भूतैर्दीपैः पञ्चशिखैर्नवैः।

वह कृशाङ्गी हाथमें एक सोनेकी थाली लिये खड़ी थी, जिसमें जलता हुआ दीपक था, जो कमल तथा चम्पाके पुष्पों तथा दूब और अक्षतोंसे भरी थी वह थाली कपूरकी डलियोंके जलानेसे प्रकट हुए पाँच शिखावाले नवीन दीपकोंसे उद्भासित हो रही थी ॥ ७१½ ॥

सा रणद्वलया बाला चारुनूपुरमेखला ॥ ७२ ॥
कौशेयं बिभ्रती शुभ्रं कञ्चुकीं पुष्परागिणीम्।
मुक्तामालां सुकण्ठे च मुखरागं तथारुणम् ॥ ७३ ॥

उस समय सुन्दर पावजेब तथा करधनीसे विभूषित उस सुन्दरीके हाथके कंगन खनखना रहे थे। वह सुन्दर रेशमी साड़ी और पुष्पके-से रंगवाली चोली धारण किये हुए थी। उसके सुन्दर गलेमें मोतियोंका हार सुशोभित हो रहा था तथा उसके मुख अर्थात् अधरका रंग (ताम्बूल-सेवन आदिके कारण) लाल था ॥ ७२-७३ ॥

अर्चयामास तं वीरं पतिं पतिपरायणा।
निरीक्षन्ती च भर्तारं तदा दृष्ट्यातिवक्रया ॥ ७४ ॥
तथाविधेन पात्रेण पुनर्नीराजयत्यसौ।
नीराजयित्वा स्वं कान्तं प्रत्युवाच मनस्विनी ॥ ७५ ॥

उस पतिव्रता नारीने उस समय अपने पति वीरवर सुधन्वाकी पूजा की और पुनः तिरछी चितवनसे स्वामीकी ओर निहारती हुई उस सजी-सजायी थालीद्वारा वह पतिकी

आरती उतारने लगी। आरती समाप्त होनेपर वह मनस्विनी अपने प्रियतमसे यों बोली ॥ ७४-७५ ॥

प्रभावत्युवाच

पश्यामि वदनं नाथ कृष्णदर्शनलालसम्।
तावकं मां परित्यज्य कुतो यास्यसि वै क्षणम् ॥ ७६ ॥

प्रभावतीने कहा—प्राणनाथ ! मैं आपके श्रीकृष्णके दर्शनार्थी मुखकमलका दर्शन कर रही हूँ, परंतु इस समय आप मेरा परित्याग करके कहाँ जा रहे हैं ? ॥ ७६ ॥

एकपत्नीव्रतं नष्टं तव पश्यामि साम्प्रतम्।
यया वृतोऽसि यां यासि सा न तुल्या भवेन्मम ॥७७॥

स्वामिन् ! मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि आज आपका एकपत्नीव्रत नष्ट हो जायगा। पर जिसने आपका वरण किया है और आप जिसपर अनुरक्त होकर जा रहे हैं, वह स्त्री मेरी समानता नहीं कर सकेगी ॥ ७७ ॥

सा सर्वगामिनी नाहं सद्भिः कस्मात् प्रवर्ण्यते।
पिता गच्छति यामेव पुत्रस्तामेव गच्छति ॥ ७८ ॥

वह स्त्री सभीके प्रति गमन करनेवाली है; यहाँतक कि जिस (मुक्ति) रमणीके पास पिता जाता है, पुत्र भी उसीके प्रति गमन करता है; फिर न जाने सत्पुरुष ऐसी कुलटाकी विशेष प्रशंसा क्यों करते हैं। परंतु मैं वैसी नहीं हूँ (मैंने आपके सिवा दूसरेकी ओर कभी भूलकर भी नहीं देखा है) ॥ ७८ ॥

ईदृशी हृदये मुक्तिस्तव जागर्ति सर्वदा।
तां प्रदास्यति गोविन्दो मत्वा गच्छसि सत्वरम् ॥७९ ॥

नाथ ! मालूम होता है वही 'मुक्ति' रमणी सदा आपके हृदयमें बस रही है और उसे श्रीकृष्ण आपको प्रदान कर देंगे—इस आशासे आप दौड़े जा रहे हैं ॥ ७९ ॥

पुंसां चित्तं क्षणं याति सुरनारीनिषेवणे।
विवेको नैव जनितः पुत्रस्तस्मात् किमाहवे ॥ ८० ॥

ठीक है, पुरुषोंका चित्त क्षणभरमें ही देवाङ्गनाओंका सेवन करनेके लिये लालायित हो जाता है, परंतु यदि आपने विवेक नामक पुत्र उत्पन्न नहीं किया तो युद्धमें जानेसे क्या लाभ ? ॥ ८० ॥

लौल्याद् गच्छसि कृष्णाग्रे हरिं वीक्ष्य न सा प्रिया।
भवित्री ते महाबाहो प्रियैकाहं पुनर्गृहे ॥ ८१ ॥

महाबाहो ! आप चपलतावश श्रीकृष्णके सामने जा तो रहे हैं, परंतु श्रीहरिको देखकर (उनकी अतुलित मुखच्छविके सामने) वह मुक्ति आपको कभी प्रिय नहीं लगेगी, फिर भी घरमें मैं अकेली ही आपकी प्रियतमा रहूँगी ॥ ८१ ॥

मम सङ्गात्त्वया लब्धो विवेकाख्यो हि पुत्रकः।
विवेकस्त्वां तु गच्छन्तं न वारयति देहजः ॥ ८२ ॥

प्रियतम ! मेरे ही संगसे आपको विवेक नामक पुत्रकी प्राप्ति हुई है, किंतु अपने ही शरीरसे उत्पन्न हुआ वह विवेक भी (पर-नारीके प्रति) जाते हुए आपको मना नहीं कर रहा है ॥ ८२ ॥

यथा नरोऽपरां याति तथा नारी न गच्छति।
गते त्वयि गमिष्यामि मोक्षं चेन्न त्वसौ परः ॥ ८३ ॥

इसके सिवा जैसे पुरुष पर-स्त्रीके पास जाता है, उसी तरह स्त्री पर-पुरुषके पास नहीं जाया करती; नहीं तो आपके (मुक्तिके पास) चले जानेपर यदि मैं मोक्षके पास चली जाऊँ तो (आप क्या कर सकते हैं) क्या वह पर-पुरुष नहीं है ? ॥ ८३ ॥

विवेकसुतसम्पन्नां मां गृहीत्वा भविष्यसि।
संसारेऽस्मिन् महाघोरे कृतकृत्यो न संशयः ॥ ८४ ॥

अतः नाथ ! विवेकरूपी पुत्रसे संयुक्त मुझे ग्रहण करके आप इस महान् घोर संसारमें कृतकृत्य हो जायँगे, इसमें संदेह नहीं है ॥ ८४ ॥

विवेको रक्षते नित्यं मम नाथ कलेवरम्।
अन्या नार्योऽपि गच्छन्ति विवेकरहिताः परम् ॥ ८५ ॥

प्राणनाथ ! विवेक नामक अदृश्य पुत्र सदा मेरे शरीरकी रक्षा करता रहता है। परंतु दूसरी जिन स्त्रियोंके पास विवेक नामक पुत्र नहीं है, वे ही पर-पुरुषके पास जाया करती हैं ॥ ८५ ॥

बालत्वे जनितः पुत्रो विवेकस्तेन कश्मलम्।
विन्दाम्यहं व्रजन्ती तत् कैवल्यं प्रति मारिष ॥ ८६ ॥

मुझे तो बचपनसे ही विवेक-पुत्र प्राप्त है, इसीसे आर्य ! मुझे उस मोक्षके पास जानेमें संकोच हो रहा है ॥ ८६ ॥

गते त्वयि गमिष्यामि मोक्षं वीर त्वया सह।
वक्रे वक्रं प्रकर्तव्यं धन्ये धन्यं समाचरेत् ॥ ८७ ॥

परंतु वीर! आपके (मुक्तिके पास) चले जानेपर आपके सामने ही मैं मोक्षके समीप चली जाऊँगी; क्योंकि (यह नियम है कि) शठके साथ शठता और सज्जनके साथ सज्जनताका व्यवहार करना चाहिये ॥ ८७ ॥

आद्यावेव गमिष्यामि चिन्तयन्ती तवाननम्।
मुक्तिस्त्वां तु हसन्तीव भयान्मम महामते ॥ ८८ ॥
स्वनारीं यः परित्यज्य प्रार्थयत्येष मामिति।
साध्वीं तथाविधां भूमौ विवेकेनावृतां नृपः ॥ ८९ ॥

इसलिये महामते! मैं आपके मुखका ध्यान करती हुई आपसे पहले ही मोक्षके समीप चली जाऊँगी; नहीं तो मुक्ति मेरे भयसे भीत होकर आपका उपहास-सा करती हुई कहेगी कि यह कैसा राजा है, जो भूतलपर अपनी वैसी विवेक सम्पन्ना सती-साध्वी पत्नीका परित्याग करके मुझे पानेकी कामना कर रहा है ॥ ८८-८९ ॥

नाथ श्रद्धां न पश्यामि तव भावप्रवर्तिनीम्।
कथिता सा यया मुक्तिरर्चनान्माधवस्य तु ॥ ९० ॥

नाथ! जिस श्रद्धासे संयुक्त होकर श्रीकृष्णकी पूजा करनेसे उस मुक्तिकी प्राप्ति कही गयी है, भावको जाग्रत् करनेवाली वैसी श्रद्धा भी तो मैं आपमें नहीं देख रही हूँ ॥ ९० ॥

पादौ तस्याः पातनीयौ छित्त्वा नूनं मया नृप।
स्वमन्दिरं यथा येयं न गच्छति परं जनम् ॥ ९१ ॥

राजकुमार! निश्चय ही मुझे उस मुक्तिके दोनों पैरोंको काटकर गिरा देना चाहिये, जिससे वह अपने घरको छोड़कर पर-पुरुषके समीप न जाय ॥ ९१ ॥

श्रेयो हि भाषितं तस्या विविधं चौषधं हितम्।
विना कृष्णाश्रयादन्यं कथयिष्यति कारणम् ॥ ९२ ॥

यद्यपि उसका कथन श्रेयस्कर तथा अनेक प्रकारकी ओषधिकी भाँति हितकारी है, तथापि वह श्रीकृष्णकी शरणके अतिरिक्त अपनी प्राप्तिका दूसरा क्या कारण बतायेगी?॥९२॥

मुखमस्यावृतं विद्धि पांसुभिर्हरिसम्भवैः।
एवं संचिन्त्य गच्छाशु यत्र गन्तुं समुद्यतः ॥ ९३ ॥

उसके मुखको तो घोड़ोंकी टापोंसे उठी हुई धूलसे आच्छादित समझना चाहिये, ऐसा विचारकर आप जहाँ जानेके लिये उद्यत हैं, वहाँ शीघ्र जाइये ॥ ९३ ॥

सुधन्वोवाच

प्राप्यते सा मया भद्रे त्वत्सङ्गान्नात्र संशयः।
मत्पौरुषमतिक्रम्य वचः प्रोक्तमिदं त्वया ॥ ९४ ॥
वचसानेन मे कामस्तिष्ठन्नपि विनिर्गतः।
योद्धुं प्रयामि तं कृष्णं मोक्षं प्राप्नुहि शोभने ॥ ९५ ॥

सुधन्वाने कहा—भद्रे! वह मुक्ति मुझे तुम्हारे ही संगसे प्राप्त हो सकती है, इसमें संदेह नहीं है; परंतु तुमने मेरे पुरुषार्थका उल्लङ्घन करके जो बात कही है, तुम्हारे उस कथनसे मेरे हृदयमें जो कामना थी, वह भी जाती रही। शोभने! जब मैं उन श्रीकृष्णसे युद्ध करनेके लिये जा रहा हूँ, तब तुम भी मोक्षके पास चली जाओ ॥९४-९५॥

चन्दनं वरवासांसि काञ्चनं रत्नसंचयम्।
शरीरं चापि मे चित्तं त्यक्त्वा गच्छतु भामिनि ॥ ९६ ॥

भामिनि! तुम भी मेरे चन्दन, उत्तम वस्त्र, स्वर्ण-रत्नोंके समूह और इस शरीर तथा चित्तको भी त्यागकर चली जाओ ॥ ९६ ॥

यद्यहं त्वां पुरा वेद्मि कैवल्यरसिकां गृहे।
विवेकोत्पादने यत्नं न कर्ता त्वादृशीं प्रति ॥ ९७ ॥

यदि मैं पहलेसे ही यह जानता कि तुम घरमें रहकर भी मोक्षके प्रति आसक्त हो तो तुम्हारी-जैसी स्त्रीसे विवेक नामक पुत्रको उत्पन्न करनेकी चेष्टा नहीं करता ॥ ९७ ॥

प्रभावत्युवाच

नाथ गच्छसि संग्रामे पार्थं योद्धुं महाबलम्।
विवेकाख्योऽपि तनयो हृदये मम तिष्ठति ॥ ९८ ॥
स चेन्मूर्तिं दर्शयति स्वां तथा कुरु मे प्रियम्।
जलदं नात्र पश्यामि सुस्नाताहं गते त्वयि ॥ ९९ ॥

प्रभावती बोली—प्राणनाथ! आप महाबली अर्जुनसे युद्ध करनेके लिये संग्रामभूमिमें जा रहे हैं, पर मेरे हृदयमें जो विवेक नामक पुत्र वर्तमान है, वह जिस प्रकार मूर्तिमान् होकर मेरे सामने प्रकट हो जाय, वैसा मेरा प्रियकार्य कीजिये। मैं आज ऋतु-स्नानसे शुद्ध हुई हूँ। आपके चले जानेपर मैं यहाँ जलाञ्जलि देनेवाला पुत्र भी तो नहीं देख रही हूँ (अतः मेरी इच्छा है कि आपके चले जानेपर जलाञ्जलि देनेवाला एक पुत्र रहे) ॥ ९८-९९ ॥

सुधन्वोवाच

निरीक्ष्य कृष्णं पार्थं च पुनरायामि तेऽन्तिकम् ।
विजित्य पञ्चभिर्बाणैः सर्वगौ तौ प्रभावति ॥ १००॥

सुधन्वाने कहा—प्रभावति ! मैं श्रीकृष्ण और अर्जुनका दर्शन करके उन दोनों सर्वव्यापी वीरोंको पाँच बाणोंद्वारा जीतकर भी तो पुनः तुम्हारे पास आ सकता हूँ ॥ १०० ॥

प्रभावत्युवाच

ये प्राप्ता माधवं द्रष्टुं दृष्टो यैर्मधुसूदनः ।
नायान्ति ते पुनरपि संसारेऽस्मिन् कदाचन ॥ १०१॥

प्रभावती बोली—नहीं नाथ ! जो लोग श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये गये और जिन्हें उन मधुसूदनका दर्शन प्राप्त हो गया, वे पुनः इस संसारमें कभी भी लौटकर नहीं आते १०१

तत् प्रियावचनं श्रुत्वा सुधन्वा वाक्यमब्रवीत् ।
यदि जानासि देवि त्वं कृष्णस्य किल दर्शनात् ॥ १०२॥
पुनरागमनं नास्ति जलदं याचसे वृथा ।

पत्नीकी यह बात सुनकर सुधन्वा कहने लगा—'देवि ! यदि तुम निश्चय ही ऐसा समझती हो कि श्रीकृष्णका दर्शन हो जानेपर पुनरागमन नहीं होता तो फिर व्यर्थ ही अञ्जलि देनेवाले पुत्रकी याचना करती हो ॥ १०२½ ॥

प्रभावत्युवाच

प्राप्नुवन्ति पदं विष्णोस्त एव सुतसंयुताः ॥ १०३॥
सुतानुत्पाद्य सम्प्राप्तौ पदं तौ शुकनारदौ ।
सुताननं न पश्यन्ति ज्ञेयास्ते ऋणिनो भुवि ॥ १०४॥

प्रभावती बोली—स्वामिन् ! जो पुत्रवान् हैं, उन्हें ही भगवान् विष्णुके पदकी प्राप्ति होती है; क्योंकि शुकदेव और नारद-जैसे महर्षि भी पुत्रोंको उत्पन्न करनेके पश्चात् ही उस परमपदके अधिकारी हुए हैं । जिन्हें पुत्रका मुख देखनेका सौभाग्य नहीं प्राप्त होता, उन्हें भूतलपर ऋणी समझना चाहिये ॥ १०३-१०४ ॥

पराशां सफलां कृत्वा ये व्रजन्ति हि साधवः ।
तेषां चिन्तितकार्याणि जायन्ते नात्र संशयः ॥ १०५॥

जो सत्पुरुष परायी आशाको सफल करके यात्रा करते हैं, उनके सभी अभीष्ट कार्य सिद्ध हो जाते हैं, इसमें तनिक भी **संदेह नहीं है** ॥ १०५ ॥

पराशां विफलां कृत्वा ये व्रजन्ति धरातले ।
तेषां चिन्तितकार्याणि न सिध्यन्ति कदाचन ॥ १०६॥

परंतु जो इस भूतलपर परायी आशाको भंग करके चले जाते हैं, उनके मनोऽभिलषित कार्य कभी भी सिद्ध नहीं होते ॥ १०६ ॥

सुधन्वोवाच

राजानं किं न जानासि भद्रे त्वं तीव्रशासनम् ।
एष घोरः स भयदो रोरवीति च दुन्दुभिः ॥ १०७॥
कटाहं तैलसम्पूर्णं सुतप्तं बलनिर्गमे ।
क्षेप्तव्यस्तत्र शीघ्रं यो नायाति रणमण्डले ॥ १०८॥

सुधन्वाने कहा—कल्याणी ! क्या तुम उग्र शासनकर्ता महाराजको नहीं जानती हो । सुनो न, यह घोर भय उत्पन्न करनेवाला नगाड़ा बारंबार शब्द कर रहा है । महाराजने सेनाके प्रस्थानके लिये खौलते हुए तैलसे भरा हुआ एक कड़ाहा रखवा दिया है और ऐसी घोषणा करा दी है कि जो शीघ्र ही रणक्षेत्रमें नहीं पहुँचेगा, उसे उसी कड़ाहेमें डाल दिया जायगा ॥ १०७-१०८ ॥

रात्रौ यद् दीयते देवि ऋतुदानं सुतप्रदम् ।
साधवो न प्रशंसन्ति दिवा स्त्रीसङ्गमं क्वचित् ॥ १०९॥
सर्वे विनिर्गता वीरा योद्धुं पित्राज्ञयार्जुनम् ।

देवि ! पुत्र प्रदान करनेवाला जो ऋतुदान है, वह भी तो रात्रिमें ही दिया जाता है; क्योंकि सत्पुरुष दिनमें स्त्री-समागमको कभी भी अच्छा नहीं बतलाते । इस समय पिताजीकी आज्ञासे सारे योद्धा अर्जुनसे लोहा लेनेके लिये चले गये हैं (केवल मैं ही शेष हूँ) ॥ १०९½ ॥

प्रभावत्युवाच

सरागां मामजित्वाग्रे यदि गन्तुं त्वमिच्छसि ॥ ११०॥
अनङ्गेनावृतामेकामङ्गैर्बहुभिरावृताम् ।
कथं सेनां भवाञ्जेतुं दिवा धीरो भविष्यति ॥ १११॥

प्रभावती बोली—प्राणनाथ ! यदि आप पहले अङ्गहीन (कामदेव) से व्याप्त हुई मुझ अनुरक्ता अकेली पत्नीपर विजय पाये बिना ही जाना चाहते हैं तो बहुत-से (रथ-सेना, गज-सेना, अश्व-सेना, पैदल-सेनारूप) अङ्गोंसे युक्त उस सेनाको दिनमें जीतनेके लिये आप कैसे समर्थ **हो सकेंगे** ॥ ११०-१११ ॥

कृष्णस्य पुरतो वीरैः कालान्तकयमोपमैः ।
गतिः का नाम ते नूनं त्वयि नाथेऽद्य मामकी ॥११२॥

वहाँ श्रीकृष्णके सामने कालान्तक और यमराज-तुल्य वीरोंके साथ मुठभेड़ होनेपर न जाने आपकी क्या गति होगी; परंतु इस समय आप-ऐसे स्वामीके सामने ही मेरी तो यह दशा हो रही है ॥ ११२ ॥

सुधन्वोवाच

मैवं वद विशालाक्षि दिवसाः सन्ति तेऽबले ।
बहवोऽपि रणे पार्थो नायं पुनरवेक्ष्यते ॥११३॥

सुधन्वाने कहा—विशाल नेत्रोंवाली प्रिये ! तुम ऐसे हठकी बात मत करो; क्योंकि अबले ! अभी तुम्हारे ऋतुकालके बहुत-से दिन शेष हैं, परंतु ये अर्जुन तो पुनः युद्धस्थलमें नहीं दीखेंगे ॥ ११३ ॥

प्रभावत्युवाच

षोडशोऽयं च दिवसो मम नाथ व्यवस्थितः ।
ऋतुभङ्गात् तु यत् पापं तत् त्वया ज्ञायते प्रभो ॥११४॥

प्रभावती बोली—नाथ ! मेरे ऋतुकालका आज सोलहवाँ दिन उपस्थित है । प्रभो ! ऋतुभङ्ग करनेसे जो पाप होता है, उसे भी आप जानते ही हैं ॥ ११४ ॥

पितुः श्राद्धे षोडशे वै दिवसे ऋतुपूरिते ।
एकादशीव्रतं तद्वत् त्रितयं सङ्गतं भवेत् ॥११५॥
किं कर्तव्यं महाबुद्धे संशयेऽस्मिन् सदा नृभिः ।
धर्मः सूक्ष्मोऽतिगहनः शक्यते केन वर्तितुम् ॥११६॥

महाबुद्धे ! यदि पिताकी श्राद्धतिथि, ऋतुस्नाता पत्नीका सोलहवाँ दिन और उसी तरह एकादशीव्रत—ये तीनों एक साथ आ पड़ें तो ऐसे महान् संशयके उपस्थित होनेपर मनुष्योंको क्या करना चाहिये ? अरे ! धर्मकी गति तो बड़ी सूक्ष्म एवं अत्यन्त गूढ़ है । ऐसे धर्मका पालन सदा कौन कर सकता है ? ॥ ११५-११६ ॥

सुधन्वोवाच

निर्णीतं विद्यते देवि ऋषिभिर्धर्मसंकटे ।
सांवत्सरं तु तातस्य कर्तव्यं भावसंयुतम् ॥११७॥
आघ्रायान्नं निशामध्ये कुर्वीत व्रतमुत्तमम् ।
प्रियायै ऋतुदानं हि प्रदेयं धीमता गृहे ॥११८॥

सुधन्वाने कहा—देवि ! ऐसे धर्मसंकटके अवसरपर ऋषियोंद्वारा निर्णीत ऐसे वचन मौजूद हैं कि उस समय बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह श्रद्धा-भक्तिपूर्वक पिताका वार्षिक श्राद्ध करे और आधी रातके समय अन्नको सूँघकर उत्तम एकादशीव्रतको भी पूर्ण करे, तत्पश्चात् घरमें अपनी पत्नीको ऋतुदान भी प्रदान करे ॥ ११७-११८ ॥

धर्मशास्त्रेषु निर्णीतं पुरा धर्मार्थकोविदैः ।
सांवत्सरं तु वै श्राद्धं कर्तव्यं पितृभक्तितः ॥११९॥
एकादशीव्रतं चापि कृष्णभक्तिसमन्वितैः ।
ऋतुदानं हि कर्तव्यमर्धरात्रात् परं नरैः ॥१२०॥
एष एव परो धर्मो गृहस्थानां वरानने ।

धर्मके तत्त्वज्ञ महर्षियोंने धर्मशास्त्रोंमें पहलेसे ही ऐसा निर्णय दे रखा है कि (ऐसे अवसरपर जब तीनों एक साथ उपस्थित हो जायँ, तब) पितृभक्तिपूर्वक वार्षिक श्राद्ध करना चाहिये और श्रीकृष्णके भक्तोंको [आधी रातके समय अन्न सूँघकर] एकादशीव्रतका भी पालन करना चाहिये । तत्पश्चात् आधी रातके बाद मनुष्योंको अपनी पत्नीके लिये ऋतुदान देना भी उचित है । सुमुखि ! गृहस्थोंका यही परम धर्म है ॥ ११९-१२०½ ॥

सुधन्वनो वचः श्रुत्वा वाक्यमाह प्रभावती ॥१२१॥
पिता तवाहवे भाति व्रतमद्य न विद्यते ।
ऋतुदानं ततो नाथ दत्त्वा याहि रणे हरिम् ॥१२२॥

तब सुधन्वाकी बात सुनकर प्रभावती कहने लगी—'नाथ ! आपके पिताजी युद्धस्थलमें शोभित हो रहे हैं [अतः श्राद्धका तो कोई प्रसंग ही नहीं है] और आज एकादशीका व्रत भी नहीं है, इसलिये मुझे ऋतुदान देकर ही रणभूमिमें अर्जुनसे लड़नेके लिये जाइये ॥ १२१-१२२॥

जैमिनिरुवाच

एतावदुक्त्वा वचनं प्राणनाथं महाबलम् ।
उभाभ्यामपि हस्ताभ्यां कोमलाभ्यां वरानना ॥१२३॥
तं कण्ठे धारयामास सालं वल्लीव कानने ।
न शशाक ततो गन्तुं प्रियाबाहुनियन्त्रितः ॥१२४॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! इतनी बात कहकर सुमुखी प्रभावती अपने महाबली स्वामी सुधन्वाको अपने दोनों सुकुमार हाथोंसे पकड़कर गलेसे लिपट गयी; ठीक उसी तरह जैसे वनमें लता साखूके वृक्षसे चिपक जाती है । तब पत्नीके भुजपाशमें बँधा हुआ सुधन्वा रणभूमिमें जानेसे असमर्थ हो गया ॥ १२३-१२४ ॥

विमुच्य कवचं भूमौ किरीटं च हसन्नपि।
तथा सह दिवा रेमे शयने रत्नमण्डिते ॥१२५॥

तदनन्तर उसने अपने कवच तथा किरीटको उतारकर पृथ्वीपर रख दिया और फिर मुसकराते हुए रत्नोंसे सुशोभित शय्यापर जाकर दिनमें ही उसके साथ रमण किया ॥ १२५ ॥

गर्भं दधौ विशालाक्षी सुस्नातोऽभूत् स भारत।
सुधन्वा रथमारुह्य यावद् गच्छति मन्दिरात् ॥१२६॥
तावद् रणे हंसकेतुर्बलाध्यक्षमुवाच ह।

भारत ! उस समागमसे विशालनयनी प्रभावतीने गर्भ धारण किया और सुधन्वा पुनः अच्छी तरह स्नान करके शुद्ध हुआ। फिर महलसे निकलकर रथपर सवार हो जब युद्धके लिये चला, उसी समय राजा हंसध्वजने रणभूमिमें अपने सेनापतिसे कहा ॥ १२६½ ॥

हंसध्वज उवाच

सर्वे वीरा इहायाताः श्रुत्वा नादं च दुन्दुभेः ॥१२७॥
सुधन्वानं न पश्यामि रणमध्ये समागतम्।
ममाज्ञां किं न जानाति कटाहो विस्मृतः कथम् ॥१२८॥

हंसध्वज बोले—सेनापते ! नगाड़ेकी आवाज सुनकर सभी वीर युद्धस्थलमें आ गये, परंतु मैं सुधन्वाको रणभूमिमें आया हुआ नहीं देख रहा हूँ। क्या वह मेरी आज्ञाको नहीं जानता ? वह कड़ाहेको भूल कैसे गया ? ॥ १२७-१२८ ॥

प्रयाणदुन्दुभिरयं लङ्घितः पुत्रकेण किम्।
हरयो मे हरिं प्राप्ता गजा मत्ता धनंजयम् ॥१२९॥
सुधन्वना पृष्ठतः किं क्रियते कर्म कुत्सितम्।
तस्माद् गच्छन्तु यवनाः सबला मुद्गरान्विताः ॥१३०॥
केशेष्वाकृष्य तं दुष्टं विकृष्यन्तु धरातले।
आनयन्तु कटाहस्य पार्श्वे कृष्णपराङ्मुखम् ॥१३१॥

उस नीच पुत्रने प्रयाण करनेके लिये घोषणा करनेवाले इस नगाड़ेका उल्लङ्घन कैसे कर दिया ? इस समय मेरे घोड़े उस यज्ञ-सम्बन्धी अश्वके पास तथा मदमत्त गजराज धनको जीतनेवाले अर्जुनके पास जा पहुँचे हैं; परंतु सुधन्वा पीछे रह-कर कौन-सा निन्दित कर्म कर रहा है ? इसलिये कुछ बलवान् यवन सैनिक हाथमें मुद्गर लेकर जायँ और श्रीकृष्णसे विमुख हुए उस दुष्टके केश पकड़कर पृथ्वीपर घसीटते हुए उसे इस कड़ाहेके पास ले आवें ॥ १२९–१३१ ॥

जैमिनिरुवाच

तेनाज्ञप्तास्ततो राजन् यवनाः शीघ्रकारिणः।
जग्मुस्तन्मन्दिरं रम्यं रत्नचित्रं सुधन्वनः।
ददृशुस्तं समायान्तं भुक्तभोगं नृपात्मजम् ॥१३२॥
प्रोचुस्तच्छासनं भर्तुर्वज्रपातोपमं तदा।

जैमिनिजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर राजाकी आज्ञा पाकर शीघ्रतापूर्वक आदेशका पालन करनेवाले यवन-सैनिक सुधन्वाके उस रमणीय महलमें जा पहुँचे, जिसमें अनेक प्रकारके रत्नोंकी चित्रकारी की गयी थी। उस समय उन्होंने भोग भोगनेके पश्चात् रणक्षेत्रके लिये प्रस्थित हुए राजकुमार सुधन्वाको देखा। तब वे उससे वज्रपातके समान राजाकी उस कठोर आज्ञाका वर्णन करने लगे ॥ १३२½ ॥

यवना ऊचुः

वयं प्राप्ता महाबाहो ग्रहणे तव मारिष ॥१३३॥
आज्ञाभङ्गः किमर्थं हि नृपतेस्तस्य कारितः।
स्थितोऽसि पृष्ठतो नूनं त्वया सर्वं हि वञ्चितम् ॥१३४॥

यवन सैनिकोंने कहा—महाबाहो ! हमलोग आपको पकड़नेके लिये आये हैं। आर्य ! आपने किसलिये महाराजकी आज्ञाका उल्लङ्घन कराया है ? आज्ञा -पालनमें पीछे रहकर निश्चय ही आपने सब कुछ खो दिया ॥ १३३-१३४ ॥

पित्रा तव वयं सर्वे प्रेषिताः स्म बलादितः।
नेतुं त्वां संगरे मन्दं विकृष्य च धरातले ॥१३५॥

इसीलिये आपके पिताजीने हम सब लोगोंको आप-जैसे मन्दबुद्धि पुत्रको बलपूर्वक पकड़कर पृथ्वीपर घसीटते हुए यहाँसे युद्धस्थलमें ले जानेके लिये भेजा है ॥ १३५ ॥

उत्तिष्ठ याहि नृपतिं पार्थसैन्यनिवारकम्।
पद्मव्यूहं समाश्रित्य युद्धशौण्डैः समावृतम् ॥१३६॥

अतः उठिये और महाराजके पास चलिये। इस समय वे नरेश अपनी सेनाको कमलव्यूहाकारमें खड़ी करके रणकुशल वीरोंसे घिरे हुए अर्जुनकी सेनाका निवारण करनेके लिये संनद्ध हैं ॥ १३६ ॥

जैमिनिरुवाच

कुपितं वचनात् तेषां ज्ञात्वा स्वजनकं विभुम्।
सहैव तैः प्रयातोऽग्रे रथमास्थाय तद् बलम् ॥१३७॥

समुद्रमिव पर्याप्तं समन्ताद् योजनत्रयम्।
ददर्श पितरं वीरो धनंजयजयोत्सुकम् ॥१३८॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! उन सैनिकोंके कहनेसे अपने सामर्थ्यशाली पिताको कुपित जानकर सुधन्वा रथपर सवार हो उनके साथ ही आगे-आगे उस सेनादलकी ओर चला, जो महासागरकी भाँति तीन योजन (बारह कोस) तक चारों ओरसे व्याप्त था। वहाँ पहुँचकर उस वीरने अपने पिताको देखा, जो अर्जुनको जीतनेके लिये उत्साहसे परिपूर्ण थे ॥ १३७-१३८ ॥

कुपितं पितरं वीक्ष्य नमस्कृत्य पुरः स्थितः।
सुधन्वानं ततो राजा प्रत्युवाच रुषान्वितः ॥१३९॥

सुधन्वा पिताको क्रुद्ध हुआ देखकर उनके चरणोंमें प्रणाम करके आगे खड़ा हो गया। तब राजा रोषमें भरकर सुधन्वासे बोले ॥ १३९ ॥

हंसध्वज उवाच

किमर्थं शासनं वीर मदीयं लङ्घितं त्वया।

हंसध्वजने कहा—वीर ! किस लिये तूने मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन किया है ? ॥ १३९½ ॥

सुधन्वोवाच

जलदं ते वधूर्गेहे मत्तो याचितुमुद्यता।
तस्मात् स्थिरायितं राजन् प्रयाणेऽस्मिन् मया विभो १४०

तब सुधन्वा कहने लगा—राजन् ! घरमें आपकी पुत्रवधू मुझसे जलाञ्जलि देनेवाले पुत्रकी याचना करनेके लिये उद्यत हो गयी थी, विभो ! इसी कारण मुझे इस रणक्षेत्रमें पहुँचनेमें विलम्ब हो गया ॥ १४० ॥

हंसध्वज उवाच

ध्रुवं मूर्खतरस्त्वं हि यदि कृष्णोऽत्र सम्मुखः।
न दृष्टः संगरे साक्षात् त्वया नः लाञ्छितं कुलम् ॥१४१॥

हंसध्वजने कहा—निश्चय ही तू बड़ा मूर्ख है। जो तूने इस संग्राममें सम्मुख आये हुए साक्षात् श्रीकृष्णके दर्शनकी उपेक्षा कर दी, इससे तो तूने हमारे कुलमें दाग लगा दिया ॥ १४१ ॥

स्वप्रियायै भवान् दत्त्वा जलदं निर्गतः पुरात्।
न तेन पूर्वजानां ते तृप्तिः पूर्णा प्रजायते ॥१४२॥

तू जो अपनी पत्नीको जलदाता पुत्र प्रदान करके नगरसे बाहर निकला है, उससे तेरे पूर्वजोंको पूर्ण तृप्ति नहीं प्राप्त हो सकती ॥ १४२ ॥

न त्वदीया मदीयात्र जलदेन हरिं विना।
न च तृप्तिमुपायान्ति दुरात्मंस्ते कथञ्चन।
वरुणस्यापि नो शक्तिः पिपासा पूरणे नृणाम् ॥१४३॥

दुरात्मन् ! भगवान् श्रीहरिकी कृपा बिना केवल जलदाता पुत्रसे इस संसारमें तुझे अथवा मुझे कभी सद्गति नहीं प्राप्त हो सकती और न वे पितर ही किसी प्रकार तृप्त हो सकते हैं; क्योंकि मनुष्योंकी तृष्णा पूर्ण करनेमें तो वरुण भी समर्थ नहीं है ॥ १४३ ॥

पुत्रिणो यदि गच्छन्ति स्वर्गं मोक्षं सुताधम।
तदा शुनां सूकराणां स्वर्गः स्यात् तु हरिं विना ॥१४४॥

पुत्राधम ! यदि भगवान् श्रीहरिकी कृपा बिना केवल पुत्रवान् होनेसे ही उनके लिये स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति सम्भव होती तो अबतक सभी कुत्तों तथा सूकरोंको स्वर्ग मिल गया होता ॥

हयं पालयितुं प्राप्तः सव्यसाची महाबलः।
क्षणमेकं जगन्नाथो न मुञ्चति रणेऽर्जुनम् ॥१४५॥
धिक् ते बलं धिग् विचारं धिग् धर्मं यस्त्वया कृतः।
श्रुत्वा कृष्णं पुरं प्राप्तं कथं कामे गतं मनः ॥१४६॥

(तू तो यह जानता ही है कि) बायें हाथसे भी बाण चलानेवाले महाबली अर्जुन घोड़ेकी रक्षा करते हुए यहाँ आ गये हैं और (यह भी निश्चित है कि) जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण युद्धके अवसरपर अर्जुनको एक क्षण भी अकेला नहीं छोड़ते। ऐसी दशामें श्रीकृष्णको अपने नगरमें आया हुआ सुनकर भी तेरा मन कामके वशीभूत कैसे हो गया ? तेरे बल तथा विचारको धिक्कार है ! और तूने जो यह पुत्रप्रदानरूप धर्म-कार्य किया है, तेरे इस धर्मको भी धिक्कार है ॥

एवंविधं कृष्णपराङ्मुखं त्वां
तप्ते कटाहे किल निक्षिपामि।
मलीमसं कामरतं कुपुत्र-
माकण्ठमग्नं तिलतैलपूर्णे ॥१४७॥

ऐसे मलिनमन, कामरत, कृष्ण-विमुख तुझ कुपुत्रको कण्ठपर्यन्त डूबने योग्य उबलते हुए तिलके तैलसे भरे हुए कड़ाहेमें अवश्य डाल दूँगा ॥ १४७ ॥

गच्छन्तु दूता मुनिसंनिधौ तु
पुरोहितं मे लिखितं च शङ्खम्।

तयोः पुरः सर्वमिदं निवेद्य
पृच्छन्तु तद्भाषितमेव कर्ता ॥१४८॥

अच्छा, अब दूत मेरे पुरोहित महर्षि शङ्ख और लिखितके पास जायँ और उनके समक्ष इस सारी घटनाका वर्णन करके इसकी व्यवस्था पूछें। मैं उनके कथनानुसार ही कार्य करूँगा ॥ १४८ ॥

तयोर्वचो नैव मया विलङ्घ्यं
स्वजीविताद् राज्यकरादवश्यम्।
कुर्वन्तु तप्तं पुनरेव तैलं
पश्यन्तु पार्थप्रमुखा ममाज्ञाम् ॥१४९॥

भले ही राज्य-संचालन करनेवाला मेरा यह जीवन समाप्त हो जाय, परंतु मैं अपने उन पुरोहितोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकता। अब कड़ाहेका तेल और खौला दिया जाय और अर्जुन आदि प्रमुख वीर मेरी आज्ञा (के उल्लङ्घनका फल) प्रत्यक्षरूपमें देख लें ॥ १४९ ॥

जैमिनिरुवाच

एवं तेन महीपेन प्रेरिताः शब्दकारिणः।
जग्मुः प्रष्टुं मुनीन्द्रौ तौ भ्रातरौ तत्पुरोहितौ ॥१५०॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! राजा हंसध्वजके यों आदेश देनेपर वे आज्ञाकारी दूत उन दोनों राजपुरोहित मुनि-बन्धुओंके पास पूछनेके लिये गये ॥ १५० ॥

दूता ऊचुः

नृपः पृच्छति वां किञ्चित् संशयं धर्मसंकटे।
सुधन्वना स्थितं पृष्ठे नृपाज्ञा च विलङ्घिता ॥१५१॥
जलदं दातुकामेन तद् ब्रूतं नः पुरोहितौ।
किं कर्तव्यं मया तस्य पापिष्ठस्य सुधन्वनः ॥१५२॥

(वहाँ पहुँचकर) दूतोंने कहा—पुरोहितो! राजा एक धर्मसंकटमें पड़ गये हैं, अतः आप दोनों महर्षियोंसे अपना कुछ संशय पूछना चाहते हैं। (वह संशय यह है कि) अपनी पत्नीको जलदाता पुत्र प्रदान करनेकी कामनासे सुधन्वा पीछे रह गया है और ठीक समयपर रणक्षेत्रमें न पहुँचकर उसने राजाज्ञाका उल्लङ्घन कर दिया है। अब उस पापी सुधन्वाके प्रति मेरा क्या कर्तव्य है—यह आप हमें बतानेकी कृपा करें॥

कटाहस्य समीपे तु बलादेव सुतं प्रभुः।
आनीय तं पातयिता भवद्भ्यां स नियोजितः ॥१५३॥
तैले तप्ते परित्यज्य पुत्रस्नेहं न संशयः।

सामर्थ्यशाली राजा हंसध्वज अपने पुत्रको बलपूर्वक कड़ाहके समीप ले आये हैं और आपलोगोंकी आज्ञा पाते ही वे पुत्र-स्नेहको तिलाञ्जलि देकर उसे उस उबलते हुए तेलमें डाल देंगे—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है ॥ १५३½ ॥

लिखित उवाच

गच्छन्तु दूता नृपतिं शंसन्तु मम भाषितम् ॥१५४॥
स्ववचो यो न मन्दात्मा सत्यं कुर्याद् धरातले।
भयाल्लोभाच्च नरके चिरं तिष्ठति दारुणे ॥१५५॥

तब महर्षि लिखितने कहा—दूतो! तुमलोग राजाके पास जाओ और उन्हें मेरा यह कथन सुनाओ—'जो मन्दात्मा इस भूतलपर भय अथवा लोभसे अपने वचनोंका पालन नहीं करता, वह बहुत कालतक घोर नरकमें पड़कर वहाँका दारुण दुःख भोगता है ॥ १५४-१५५ ॥

कौशिकाय ददौ राज्यं हरिश्चन्द्रो महामतिः।
क्रीतौ भार्यासुतौ तेन स्वसत्यं प्रतिपालितम् ॥१५६॥

'महाबुद्धिमान् राजा हरिश्चन्द्रने अपना सारा राज्य महर्षि विश्वामित्रको दान कर दिया था और (दक्षिणापूर्तिके लिये) पत्नी तथा पुत्रको बेचकर भी उन्होंने अपने सत्यकी रक्षा की थी ॥ १५६ ॥

हन्तुं प्रियां स्थितो राजा रम्ये भागीरथीतटे।
वाराणस्यां पुत्रगात्रान्मृताद् वस्त्रं जहार सः ॥१५७॥

'राजा हरिश्चन्द्र सत्य-रक्षार्थ ही काशीपुरीमें गङ्गाजीके रमणीय तटपर अपनी प्रियतमा रानीको मारनेके लिये उद्यत हो गये थे और उन्होंने अपने मरे हुए पुत्र रोहिताश्वके शरीरपरसे वस्त्र (कफन) तक उतार लिया था ॥ १५७ ॥

रामं प्रव्राजयामास वनं दशरथः पुरा।
स्वकं वचः कृतं सत्यं कैकेय्यै यदुदाहृतम् ॥१५८॥

'पूर्वकालमें महाराज दशरथने भी अपनी पत्नी कैकेयीको जो वरदान दे दिया था, उसकी पूर्तिके लिये अपने पुत्र रामको वनमें भेजकर भी अपने उस वचनको सत्य कर दिखाया था ॥१५८॥

अमुना यत् पुरा प्रोक्तं पुत्रं पौत्रं सहोदरम्।
आज्ञाभङ्गकरं तैले सुतप्ते पातयाम्यहम् ॥१५९॥
तदन्यथा भवेदेव यावत् पुत्रो न पात्यते।

'इस राजा हंसध्वजने पहले जो प्रतिज्ञा की है कि 'मेरी आज्ञाका अतिक्रमण करनेवाला चाहे पुत्र, पौत्र अथवा सहोदर भाई ही क्यों न होगा, मैं उसे खौलते हुए तेलमें डाल दूँगा।' उसकी वह प्रतिज्ञा जबतक वह अपने पुत्रको कड़ाहेमें नहीं डाल देगा, तबतक अपूर्ण ही रहेगी ॥ १५९½ ॥

विमुखः केशवं वीक्ष्य पार्थं च रथिनां वरम् ॥१६०॥
गृहे स्थितः स्वकामाद् यः स तेन परिपाल्यते ।
आवां गच्छावहे राष्ट्राद् भ्रातरौ नृपतेर्बहिः ॥१६१॥

जो रथियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन तथा श्रीकृष्णको देखकर युद्धसे विमुख हो गया और अपने इच्छानुसार घरमें बैठ रहा, ऐसे पुत्रकी यदि राजा रक्षा करना चाहता है तो लो, हम दोनों भाई इस राजाके राज्यसे बाहर चले जाते हैं ॥ १६०-१६१ ॥

तस्मिन् राष्ट्रे न वस्तव्यं यस्मिन् राजा न सत्यवाक् ।
तत्संसर्गाद् गुणा नृणां वसतां सम्भवन्ति हि ॥१६२॥

'जिस देशका राजा सत्यवादी न हो, उस राज्यमें नहीं रहना चाहिये; क्योंकि उस राजाके संसर्गसे राज्यनिवासी मनुष्योंमें भी वैसे ही गुणोंके उत्पन्न होनेकी सम्भावना रहती है॥

तत्समीपे निवसतां पातकं हि भवेन्नृणाम् ।
आसनाच्छयनाद् यानात् सम्पर्कात् सहभोजनात्१६३

'ऐसे राजाके समीप निवास करनेवाले मनुष्योंको एक साथ बैठने, सोने, चलने-फिरने आदि सम्पर्कसे तथा एक साथ भोजन करनेसे पाप लगता है' ॥ १६३ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं लिखितः शङ्खसंयुतः ।
परित्यज्य गतः सोऽथ दूतास्ते नृपतिं गताः ॥१६४॥

इतनी बात कहकर लिखित मुनि अपने भाई शङ्ख मुनिको साथ लेकर उस राज्यका परित्याग करके चल दिये और उधर वे दूत राजा हंसध्वजके पास चले ॥ १६४ ॥

ब्रुवन्ति सर्वं तत्प्रोक्तं राजानं प्रति मारिष ।
गतो नृप महाबुद्धिर्मुनिर्ग्रामाद् रुषान्वितः ।
तमिहानय राजेन्द्र मुनिं धर्मोपदेशकम् ॥१६५॥

आर्य ! वहाँ पहुँचकर वे मुनिद्वारा कही हुई सारी बातें राजासे निवेदन करके कहने लगे—'राजन् ! महाबुद्धिमान् लिखित मुनि क्रुद्ध होकर (अपने भाई शङ्ख मुनिके साथ) इस गाँवको छोड़कर जा रहे हैं। राजेन्द्र! आप ऐसे धर्मोपदेशक मुनिको समझाकर यहाँ लौटा लाइये' ॥ १६५ ॥

जैमिनिरुवाच

हंसकेतुः समादिश्य सचिवं पुत्रपातने ।
सुतप्ते तिलतैले च क्षिप दुष्टं ममाज्ञया ।
सुधन्वानं मयि गते त्वं धीरसचिवैर्वृतः ॥१६६॥
पार्थं पश्य रणे वीरं याम्यहं तं पुरोहितम् ।
नमस्कर्तुं महाबुद्धिं पुनरेष्यामि योधितुम् ॥१६७॥

जैमिनिजी कहते हैं—राजन् ! तब राजा हंसध्वज पुत्रको कड़ाहेमें डालनेके लिये मन्त्री (सुमति) को आदेश देते हुए कहने लगे—'सचिव ! मैं अपने पुरोहित महाबुद्धिमान् लिखित मुनिके चरणोंमें प्रणाम करने जा रहा हूँ। मेरे चले जानेपर तुम मेरे आज्ञानुसार अन्य धैर्यशाली मन्त्रियोंके साथ रहकर इस दुष्ट सुधन्वाको अत्यन्त खौलते हुए तिलके तेलमें डाल देना और उधर युद्धस्थलमें वीरवर अर्जुनपर भी दृष्टि रखना। मैं अभी पुनः युद्ध करनेके लिये लौटकर आता हूँ' ॥

एवमुक्त्वा वचो राजा नमस्कृत्य पुरोहितौ ।
आनयामास तौ तत्र कटाहो यत्र तादृशः ॥१६८॥

मन्त्रीसे ऐसा कहकर राजा हंसध्वज चल पड़े और अपने पुरोहित लिखित और शङ्ख मुनिके पास पहुँचकर उनके चरणों-में अभिवादन करके उन्हें समझा-बुझाकर उस स्थानपर ले आये, जहाँ वह उबलते हुए तेलसे भरा हुआ कड़ाहा रखा था॥

सुमतिः सचिवश्चक्रे सर्वं नृपतिभाषितम् ।
सुधन्वानं महावीरं प्रत्युवाच विशाम्पते ॥१६९॥

प्रजानाथ ! इधर जब मन्त्री सुमतिने राजाके कथना-नुसार सारा कार्य पूर्ण करनेका विचार किया, तब उसने महाबली सुधन्वासे कहा ॥ १६९ ॥

सुमतिरुवाच

सुधन्वन् किं करोम्यद्य त्वां समीक्ष्य महाबलम् ।
हृदये जायतेऽतीव करुणा मे महाभुज ॥ १७०॥
शासनं चापि नृपतेर्लङ्घितुं नैव शक्यते ।
शासनं चापि राज्ञो मे दारुणं त्वयि विद्यते ॥१७१॥

सुमति बोला—सुधन्वन् ! अब मैं क्या करूँ ? तुम महान् वीर हो, तुम्हें देखकर मेरे हृदयमें बड़ी करुणा उत्पन्न हो रही है; परंतु महाबाहो ! तुम्हारे विषयमें मुझे राजाकी कठोर आज्ञा मिल चुकी है और मेरेद्वारा उस राजाज्ञाका उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता ॥ १७०-१७१ ॥

सुधन्वोवाच

कर्तव्यं शासनं राज्ञस्त्वया परवशेन हि।
पितृवाक्येन रामेण स्वजनन्याः शिरो हृतम् ॥१७२॥
जामदग्न्येन पूर्वं तु तव का परिदेवना।

तब सुधन्वाने कहा—मन्त्रीजी ! आप पराधीन हैं, अतः आपको महाराजकी आज्ञाका अवश्य पालन करना चाहिये । (सुना जाता है) पूर्वकालमें जमदग्निनन्दन परशुरामने पिताकी आज्ञासे अपनी माताका सिर काट लिया था; फिर आप क्यों बिलख रहे हैं ? ॥ १७२½ ॥

प्रतीतोऽहं महाबुद्धे कृता पुण्यक्रिया शुभा ॥१७३॥
न भयं मरणान्मह्यं तप्ते तैलेऽद्य मां क्षिप।

महाबुद्धे ! मुझे विश्वास है कि मैंने शुभ पुण्यकर्म कर लिया है। मुझे अपनी मृत्युका कोई भय नहीं है; अतः अब आप मुझे उबलते हुए तेलमें डाल दीजिये ॥ १७३½ ॥

जैमिनिरुवाच

सुमतिस्तं तथाभूतं स्नातं दिव्याम्बरावृतम् ॥१७४॥
तुलसीदलजां मालां धारयन्तं महोरसि।
स्मरन्तं वसुदेवस्य तनयं चापि केशवम् ॥१७५॥
उत्थाप्य तैले चिक्षेप सुतप्ते भूपशासनात्।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तब जो स्नानसे शुद्ध होकर दिव्य वस्त्र धारण किये हुए था, जिसके विशाल वक्षः-स्थलपर तुलसीदलकी बनी हुई माला लटक रही थी और जो वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णका ध्यान कर रहा था, ऐसे सुधन्वाको उठाकर सुमतिने राजाज्ञानुसार उस उबलते हुए तेलके कड़ाहेमें डाल दिया ॥ १७४-१७५½ ॥

सुधन्वा प्राह गोविन्दं प्रथमं यादृशं वचः ॥१७६॥
तत् तेऽहं कथयिष्यामि शृणुष्वैकमना नृप।
ज्वालाकुलं वीक्ष्य तैलमावर्तशतसंकुलम् ॥१७७॥

राजन् ! उस समय अग्निकी ज्वालासे व्याकुल होनेके कारण जिसमें सैकड़ों भँवरें उठ रही थीं, ऐसे तेलको देखकर सुधन्वाने भगवान् श्रीकृष्णसे जो पहली प्रार्थना की थी, उसे मैं तुमसे कहता हूँ, तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥१७६-१७७॥

परोदयं समालोक्य दुर्जनस्येव मानसम्।
जायते तादृशं जातं कटाहं जनमेजय ॥१७८॥

जनमेजय ! परायी उन्नति देखकर जैसे दुर्जनोंके मनमें बड़ी भारी जलन होने लगती है, वैसी ही गति उस समय उस कड़ाहकी हो रही थी ॥ १७८ ॥

सुधन्वोवाच

त्राहि त्राहीति गोविन्द मया यद् भाषितं वचः।
श्रुत्वा त्वं नागतो यस्माद् विज्ञातं कारणं हरे ॥१७९॥

उस समय सुधन्वा कह रहा था—हरे ! 'गोविन्द ! रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये,' मैंने जो ऐसी प्रार्थना की थी, उसे सुनकर भी आप जिस कारणसे मेरे रक्षार्थ नहीं पधारे, वह कारण मुझे ज्ञात हो गया ॥ १७९ ॥

मामवज्ञाय सम्प्राप्तं सुधन्वा कामचारकः।
पश्चात् स्मरति पापिष्ठः संकटेऽद्य जगद्गुरुम् ॥१८०॥

(आपने विचारा होगा कि) पहले तो यह सुधन्वा यहाँ आनेपर भी मेरी अवहेलना करके कामका भक्त हो गया और अब संकट पड़नेपर मुझ जगद्गुरुका स्मरण करने चला है ॥ १८० ॥

स्मरन्ति कृच्छ्रपतितास्त्वामेव भयविह्वलाः।
जना न सुखसंयुक्ताः सत्यमेतद् वदाम्यहम् ॥१८१॥

इसीसे मैं सच कहता हूँ कि जो लोग केवल भयसे व्याकुल होकर कष्टमें पड़कर ही आपका स्मरण करते हैं, उन्हें सुखकी प्राप्ति नहीं होती ॥ १८१ ॥

धिङ् मे सौख्यं कृच्छ्ररूपं मन्ये हरिविवर्जितम्।
प्रह्लादो गजमुख्यश्च ध्रुवः पृषतनन्दिनी ॥१८२॥
अन्ये गोपादयो लोके स्मरन्त्यापत्सु केशवम्।
पूर्वं स्मृतोऽसि तैरेव त्रातास्ते कृच्छ्रतस्त्वया ॥१८३॥

मैं परिणाममें कष्ट देनेवाले अपने उस सुखको, जो श्री-हरिकी भक्तिसे हीन है, धिक्कारके ही योग्य मानता हूँ । प्रह्लाद, गजराज, ध्रुव, द्रौपदी तथा अन्य गोप आदि भी तो संसारमें आपत्तिके समय श्रीकृष्णका स्मरण करते आये हैं; परंतु उन लोगोंने पहले भी आपका स्मरण किया था, इसीसे विपत्तिके समय आपने उनकी रक्षा की ॥ १८२-१८३ ॥

अन्तकाले चिन्तनं ते जायते मुक्तिदं नृणाम्।
हृदये चिन्त्यमानेन नाम्ना तव जनार्दन ॥१८४॥
मम मुक्तिर्न संदेहः परं लोके विगर्हितः।
सुधन्वा मरणं दुष्टं प्राप्तो वीरः कटाहजम् ॥१८५॥

जनार्दन! अन्तकालमें आपका ध्यान मनुष्योंको मुक्ति प्रदान करनेवाला होता है, इसलिये हृदयमें आपके नामका चिन्तन करनेसे मेरी मुक्ति तो अवश्य हो जायगी, परंतु संसारमें लोग मेरी यों निन्दा करेंगे कि 'सुधन्वा वीर होकर भी कड़ाहेमें जलकर दूषित मृत्युको प्राप्त हुआ॥१८४-१८५॥

अद्य कृष्णार्जुनौ वीरौ तोषितौ नामुना बलात्।
गाण्डीवमुक्तैर्नाराचैर्गात्रं न शकलीकृतम्॥१८६॥

'यह आज युद्धस्थलमें अपने पराक्रमसे श्रीकृष्ण और अर्जुन—इन दोनों वीरोंको संतुष्ट न कर सका और न गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा इसका शरीर ही छिन्न-भिन्न हुआ॥१८६॥

सुधन्वनः समर्थस्य चोरस्येवाभवद् गतिः।
मनसा न धृतौ कृष्णौ सैन्यं न निहतं बहु॥१८७॥

'यह मनसे श्रीकृष्ण और अर्जुनका ध्यान भी नहीं कर पाया और न इसने बहुत-सी सेनाका संहार ही किया। समर्थ होते हुए भी सुधन्वाकी गति तो एक चोरके समान हो गयी'॥

ईदृशैर्बहुभिर्वाक्यैः प्रहसिष्यन्ति मां जनाः।
वह्निदाहादद्य हरे मां त्वं रक्षितुमर्हसि॥१८८॥

ऐसी बहुत-सी बातें कहकर लोग मेरी हँसी उड़ायेंगे। अतः हरे! आज इस अग्नि-दाहसे आप मेरी रक्षा करनेकी कृपा करें॥१८८॥

द्रौपदी वस्त्ररूपेण लज्जाब्धौ पतिता धृता।
त्वया कृष्णेन सदसि समक्षं द्रोणभीष्मयोः॥१८९॥

कौरव-सभामें लज्जारूपी समुद्रमें पड़ी हुई द्रौपदीका पितामह भीष्म और गुरु द्रोणाचार्यके सामने आपने ही वस्त्रावतार धारणकर उद्धार किया था॥१८९॥

जैमिनिरुवाच

एवं ब्रुवति वीरेऽस्मिन् स्मरणान्माधवस्य तु।
तैलं सुशीतलं जातं सज्जनस्येव मानसम्॥१९०॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! वीर सुधन्वाके ऐसा कहकर भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान करनेसे तैल ऐसा शीतल हो गया, जैसे सज्जनोंका चित्त होता है॥१९०॥

सर्वे जनास्तं प्रसमीक्ष्य तैले
यथा जले पङ्कजवत् प्रफुल्लम्।
सुधन्वनः कुण्डलिनं सुनेत्रं
विविस्मयुश्चाननमस्य दुःखात्॥१९१॥

अश्रूणि मुञ्चन्ति पतन्ति भूमौ
वक्षः कराभ्यामभिताडयन्ति।
क्रोशन्ति हाहेति किरीटकं च
क्षिपन्ति बाहून् परिधूनयन्ति॥१९२॥

वदन्ति राजा किमसौ न चास्मान्
सुधन्वनोऽर्थे क्षिपतेऽग्निमध्ये।
गच्छेम देवं यदुनन्दनं तं
धनंजयं कृष्णपदप्रपन्नम्॥१९३॥

तब जैसे जलमें कमल प्रफुल्लित रहता है, उसी तरह उस खौलते हुए तेलमें सुधन्वाके कुण्डलधारी तथा सुन्दर नेत्रोंसे सुशोभित मुखको विकसित देखकर सभी लोग आश्चर्य करने लगे। कुछ लोग सुधन्वाके दुःखसे दुखी होकर आँसू बहाने लगे, कोई मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े, दूसरे दोनों हाथोंसे छाती पीटने लगे, कुछ लोग 'हाय-हाय' करके विलाप करने लगे और मस्तकसे अपने मुकुटको उतारकर फेंकने लगे तथा कोई-कोई अपने हाथोंको हिलाकर मना करते हुए कहने लगे—'ये राजा सुधन्वाके बदले हम लोगोंको ही इस अग्निमें क्यों नहीं झोंक देते। हमलोग भगवान् श्रीकृष्णचरणाश्रित भक्त अर्जुनकी शरणमें जाते हैं'॥

जैमिनिरुवाच

हंसध्वजः शङ्खयुतो ददर्श
पुत्रं कटाहे प्रतरन्तमेनम्।
पुण्यानि नामानि हरेर्जपन्तं
गोविन्द दामोदर माधवेति॥१९४॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर शङ्ख (और लिखित) मुनिके साथ आये हुए राजा हंसध्वजने देखा कि मेरा पुत्र सुधन्वा (उबलते हुए तैलमें पड़कर भी जल नहीं रहा है बल्कि) भगवान्‌के 'गोविन्द, दामोदर, माधव' आदि पावन नामोंका जप करता हुआ उस कड़ाहेमें तैर रहा है॥१९४॥

शङ्खोऽब्रवीत् तं नृपतिं किमेतत्
तैलं न तप्तं ज्वलताग्निनापि।
किमौषधं मन्त्रवरं सुतस्ते
जानाति राजन्नथ कैतवं वा॥१९५॥

(यह देखकर सुधन्वापर संदेह प्रकट करते हुए) शङ्ख मुनिने राजासे पूछा—'राजन्! क्या बात है? धधकती हुई आगसे तेल गरम नहीं हुआ या तुम्हारा पुत्र कोई अग्नि-शामक औषध या उत्तम मन्त्र अथवा माया जानता है?॥

कुतो ज्वलत् तैलमिदं कुतो मुखं
प्रफुल्लपद्माभमिवास्य राजते ।
क्षिपन्तु दूता नवनारिकेलं
भवेत् ततस्तैलमिदं परीक्षितम् ॥१९६॥

'देखो न, कहाँ तो खौलता हुआ तैल और कहाँ इसका मुख, जो उसमें पड़कर भी प्रफुल्लित कमलकी भाँति कान्तियुक्त होकर तेजसे झलमला रहा है । अतः दूत इस कड़ाहेमें एक नया नारियलका फल डालें । इससे इस तेलकी परीक्षा हो जायगी ॥ १९६ ॥

निशम्य तद्वाक्यमतीव तीव्रं
दूतास्तदा तैलसमानभूताः ।
मुनेर्भयात् ते फलमाशु तैले
विचिक्षिपुः शङ्खदृशः पुरस्तात् ॥१९७॥

तब मुनिके अत्यन्त तीखे वचन सुनकर वे दूत भी तेलकी ही भाँति संतप्त हो उठे, परंतु मुनिके भयसे उन्होंने शीघ्र ही एक नारियलका फल लाकर शङ्खमुनिकी आँखोंके सामने ही उस तेलमें डाल दिया ॥ १९७ ॥

द्विधा भिन्नं ह्यभवत् तत्कटाहा-
च्छङ्खस्य चैकं शकलं ललाटे ।
लग्नं द्वितीयं लिखितस्य चापि
तथोच्छलन्त्यस्तिलतैलधाराः ॥१९८॥

(उबलते हुए तेलमें पड़ते ही) नारियल तड़ाकसे फूटा और उसके दो टुकड़े हो गये । वे दोनों टुकड़े कड़ाहेसे उछले, जिसमें एक टुकड़ा शङ्खके तथा दूसरा लिखितके ललाटमें जाकर जोरसे लगा और कड़ाहेसे तेलकी धाराएँ उछलने लगीं ॥ १९८ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि सुधन्वनः सत्त्वकथनं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें सुधन्वाके सत्त्वका वर्णन नामक सतरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

शङ्खमुनिका सुधन्वाको अक्षत देखकर नौकरोंसे कारण पूछना, स्वयं तेलके कड़ाहेमें कूदना, सुधन्वाको हृदयसे लगाकर उसकी प्रशंसा करना और युद्धक्षेत्रमें राजा हंसध्वजके पास ले जाना, हंसध्वजका घोड़ेको पकड़वा लेना और वीरोंके साथ युद्धके लिये डटकर खड़ा होना, अर्जुन, प्रद्युम्न और वृषकेतुका वार्तालाप, वृषकेतुका युद्धके लिये प्रस्थान, सुधन्वाके साथ बातचीत और युद्ध, वृषकेतुका मूर्च्छित होकर युद्धक्षेत्रसे हटना, सुधन्वाका प्रद्युम्नको मूर्च्छित करना, कृतवर्माको खदेड़ना और अनुशाल्वको पराजित करके घोर पराक्रम प्रकट करना

जनमेजय उवाच

कथं कटाहात् स महाबलोऽपि
जगाम पार्थं स च मुक्तगात्रः ।
तत् कौतुकं शंसतु जैमिने मे
निरीक्ष्य शङ्खः किमकारि तत्र ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—महर्षि जैमिनि ! महाबली सुधन्वा उस कड़ाहसे कैसे जीता-जागता बच निकला और फिर कैसे अर्जुनके पास युद्धके लिये गया तथा वहाँ वह दृश्य देखकर शङ्खमुनिने फिर क्या किया, यह सब आश्चर्यभरी बातें आप मुझे बताइये ॥ १ ॥

जैमिनिरुवाच

विलोक्य तं तैलमध्ये सुधन्वानं महामुनिः ।
भृत्यं पप्रच्छ वीरेण पात्यमानेन किं स्मृतम् ।
औषधस्य च मूलं वा बद्धं गात्रे तथामुना ॥ २ ॥

जैमिनिजी बोले—जनमेजय ! तब मुनिवर शङ्खने सुधन्वाको तेलके बीच अक्षत देखकर नौकरोंसे पूछा—'[उबलते हुए तैलमें सुधन्वाके न जलनेका क्या कारण है ?] जिस समय यह वीर कड़ाहमें डाला गया, उस समय इसने किसका स्मरण किया था अथवा इसने किसी औषधकी जड़ तो अपने शरीरमें नहीं बाँध ली थी ?' ॥ २ ॥

दूता ऊचुः

नान्यत् स्मृतं किञ्चिदेव विना कृष्णं महामतिम्।
यस्य स्मरणमात्रेण मुच्यन्ते योनिसंकटात्॥ ३॥
प्राणिनो भूतले ब्रह्मन् संस्मृतो माधवोऽमुना।

दूतोंने उत्तर दिया—ब्रह्मन्! महामति भगवान् श्रीकृष्णके स्मरणके अतिरिक्त हमने राजकुमारको कोई भी मन्त्र जपते [अथवा औषध बाँधते] नहीं देखा। हाँ, इन्होंने उन भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण अवश्य किया था, जिनके स्मरणमात्रसे संसारमें जीव जन्म-मरणके संकटसे छूट जाते हैं॥ ३½॥

पश्यौष्ठौ स्फुरमाणौ त्वं शङ्ख माधवभाषिणौ॥ ४॥
सुधन्वनोऽतिसत्त्वस्य प्रियादष्टौ समागमे।

महर्षि शङ्ख! अत्यन्त सत्त्वशाली सुधन्वाके उन फड़कते हुए होठोंको तो देखिये, जो समागम-कालमें प्रियतमा पत्नीके दन्तक्षतसे चिह्नित हैं और अब भी भगवान् श्रीकृष्णके नामोंका सतत स्मरण कर रहे हैं॥ ४½॥

शङ्ख उवाच

स्मृतो यद्यमुना विष्णुः पात्यमानेन साधुना॥ ५॥
धिगहं कठिनो बालं पश्यामि निकटस्थितः।
प्रायश्चित्तं स्वदेहस्य करिष्ये मरणान्तिकम्॥ ६॥

शङ्खमुनिने कहा—यदि कड़ाहेमें डाले जाते समय इस साधुस्वभावने भगवान् विष्णुका स्मरण किया था तो मुझे धिक्कार है, जो कठोर-हृदय हो समीप ही खड़ा होकर इस बालकको (कष्ट भोगते) देख रहा हूँ। अतः अब मैं इस तप्त तैलके कड़ाहेमें कूदकर अपने शरीरका मरणान्त प्रायश्चित्त करूँगा॥ ५-६॥

एतावदुक्त्वा वचनं तैलमध्ये पपात सः।
समालिङ्गय सुधन्वानमिदं वचनमब्रवीत्॥ ७॥

इतना कहकर शङ्खमुनि तैलके कड़ाहेमें कूद पड़े और सुधन्वाको छातीसे लगाकर यों कहने लगे—॥ ७॥

साधु क्षत्रियवीरस्त्वमसाधुरहमद्विजः।
येन तैले पातितोऽसि मयापेशलचेतसा॥ ८॥

'प्रिय राजकुमार! तुम श्रेष्ठ क्षत्रिय वीर हो और मैं अधम हूँ, ब्राह्मण कहलाने योग्य भी नहीं हूँ; क्योंकि मुझ निष्ठुर-हृदयने तुम्हें उबलते हुए तेलमें डलवा दिया॥ ८॥

भवन्ति ते तापयुता ये न विन्दन्ति माधवम्।
गतश्रीकाश्च मूढाश्च नित्यं दुःखसमन्विताः॥ ९॥

'संसारमें उन्हीं मूर्खोंको नित्य संताप, अभाव और दुःखोंकी प्राप्ति होती है, जो भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान नहीं करते॥

ये स्मरन्ति च गोविन्दं सर्वकामफलप्रदम्।
तापत्रयविनिर्मुक्ता जायन्ते दुःखवर्जिताः॥ १०॥

'जो भाग्यवान् पुरुष सर्वकामफलदाता भगवान् गोविन्दका स्मरण करते हैं, वे तो तीनों (दैहिक, दैविक, भौतिक) तापोंसे मुक्त होकर सर्वथा सुखी हो जाते हैं॥ १०॥

कथं त्वं वह्निना दग्धुं शक्यः परमवैष्णवः।
मुनयो यं न पश्यन्ति सुरासुरगुरुं हरिम्॥ ११॥
चेतसापि त्वया वाचा प्राणान्ते संस्मृतोऽधुना।
प्रह्लादो रक्षितो येन दग्धस्तस्माद्धुताशनात्॥ १२॥

'भला, अग्निमें इतनी शक्ति कहाँ है, जो तुम-सरीखे परम वैष्णवको जला सके; क्योंकि जिन सुरासुर-गुरु भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन मुनियोंको भी दुर्लभ है, जिन्होंने एक दिन अग्नि-शिखासे जलते हुए प्रह्लादकी रक्षा की थी, उन्हींका तुमने इस प्राणान्तके समय मन तथा वाणीसे भी स्मरण कर लिया॥ ११-१२॥

त्वच्छरीरस्य सम्पर्कात् पावनं मे वपुस्त्विदम्।
जातं पुरुषशार्दूल नोपायोऽन्योऽस्ति पावनः॥ १३॥

'पुरुषसिंह! तुम्हारे शरीरका स्पर्श प्राप्त होनेसे आज मेरा यह अधम शरीर भी पवित्र हो गया। पवित्र होनेका इससे श्रेष्ठ और कोई उपाय नहीं है॥ १३॥

राजानं राजपुत्रांश्च सैन्यं पावय सुव्रत।
उत्तिष्ठ वत्स तैलात् त्वं मां समुद्धर भूपज॥ १४॥

'वत्स! सुव्रत! उठो और तैलसे बाहर निकलकर अपने पिता राजा हंसध्वज, राजकुमारों (अपने चारों बड़े भाइयों) और सारी सेनाको पावन करो। राजकुमार! साथ ही मेरा भी उद्धार करो॥ १४॥

कृष्णोऽयं पाण्डवस्यार्थे सारथ्यं प्रकरोति च।
अर्जुनेनाद्य संग्रामं कुरु वीर यथोचितम्॥ १५॥
यशः स्थिरं स्वकं कृत्वा पश्चात् प्राप्नुहि मङ्गलम्।

'वीर! भगवान् श्रीकृष्ण जिस अपने भक्त अर्जुनका सारथ्य करते हैं, उस अर्जुनके साथ आज रणाङ्गणमें यथोचित युद्ध करो और अपने यशको स्थायी बनाकर तत्पश्चात् मङ्गलके भागी होओ'॥ १५½॥

जैमिनिरुवाच

गृहीत्वा तं तैलमध्याद् रणे प्राप्तो महामुनिः॥ १६॥
राजानं प्रत्युवाचेदं पुत्रं पश्य सनातनम्।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर महामुनि शङ्ख सुधन्वाको तेलसे बाहर निकालकर उसे साथ लिये हुए

रणक्षेत्रमें पहुँचे और राजा हंसध्वजसे यों कहने लगे—'राजन् ! अपने इस सनातन पुत्रको देखिये' ॥ १६½ ॥

शङ्ख उवाच

अनेन विधृतं मूलं सद्विद्याया मुखे स्वके ॥ १७ ॥
मन्त्रराजं नृसिंहाख्यं जपता रक्षितं वपुः ।
यशोमयं पावितोऽहं त्वां तु पावयितुं स्थितः ॥ १८ ॥

शङ्खमुनिने आगे फिर कहा—इसने अपने मुखमें सद्विद्याके मूलस्वरूप भगवन्नामको धारण कर लिया था और नृसिंहनामक मन्त्रराजका जप करके अपने यशोमय शरीरकी रक्षा कर ली है । इसने मुझे पावन बना दिया है और अब तुम्हें पवित्र करनेके लिये तुम्हारे सामने खड़ा है ॥ १७-१८ ॥

ततो हंसध्वजः पुत्रं समालिङ्ग्याब्रवीद् वचः ।

तदनन्तर राजा हंसध्वज पुत्रको हृदयसे लगाकर कहने लगे ॥ १८½ ॥

हंसध्वज उवाच

मया पित्रा भवांस्त्यक्तस्तैले पावकदीपिते ॥ १९ ॥
न दग्धोऽसि हुताशेन प्रभावात् केशवस्य तु ।

हंसध्वज बोले—बेटा ! मैंने पिता होकर भी तुझे अग्निसे तपाये हुए तेलमें डलवा दिया था, परंतु भगवान् श्रीकृष्णके प्रभावसे अग्नि तुझे जला न सकी ॥ १९½ ॥

माहात्म्यं वासुदेवस्य त्वां निपातयताधुना ॥ २० ॥
सम्यग् वत्स परिज्ञातं मयेदानीं न संशयः ।
उत्तिष्ठ देहि मे वत्स परिरम्भणमद्य वै ॥ २१ ॥

वत्स ! तुझे कड़ाहेमें डालनेकी आज्ञा देनेवाले मुझको निस्संदेह इस समय भगवान् श्रीकृष्णका माहात्म्य भलीभाँति ज्ञात हुआ है । बेटा ! अब तू उठ और शीघ्र ही मेरे हृदयसे लग जा ॥ २०-२१ ॥

उत्तिष्ठ पुत्र भद्रं ते रथमारुह्य संगरे ।
कृष्णं दर्शय पार्थस्य सारथिं च ममातिथिम् ॥ २२ ॥

पुत्र ! तेरा कल्याण हो । अब तू तैयार हो जा और रथपर सवार होकर युद्धभूमिमें अर्जुनके सारथि तथा मेरे प्रिय अतिथि श्रीकृष्णका मुझे दर्शन करा दे ॥ २२ ॥

सुधन्वना वन्दितौ तौ हृष्टेन नृपभूसुरौ ।
रथं रत्नविचित्रं तं हेमबद्धं सुकूबरम् ॥ २३ ॥
दीर्घध्वजं चारुचक्रं गवाक्षैर्बहुभिर्वृतम् ।
हेमवर्णैर्हयैर्युक्तं बद्धचामरमाशुगम् ॥ २४ ॥
सुवर्णमालापरिभूषितं बली
माल्यस्रजोभिर्बहुलाभिरर्चितम् ।
नियन्त्रितं सूतवरेण किंकिणी-
नादेन नृत्यन्तमिवारुरोह सः ॥ २५ ॥

पिताकी आज्ञा पाकर सुधन्वाने प्रसन्न होकर राजा तथा शङ्खमुनिके चरणोंमें अभिवादन किया । तत्पश्चात् वह महाबली वीर एक ऐसे रथपर सवार हुआ, जो स्वर्णपत्रसे मढ़ा हुआ था और रत्नोंसे जटित होनेके कारण विचित्र शोभा धारण करता था । उसका कूबर अत्यन्त सुन्दर था । उस रथपर ऊँची ध्वजा फहरा रही थी । उसके पहियोंकी बनावट बड़ी सुन्दर थी । उस रथमें बहुत-से झरोखे बने थे । उसमें सुनहले रंगके घोड़े जुते हुए थे और चँवर बँधा हुआ था । वह शीघ्र चलनेवाला, सोनेकी लड़ियोंसे विभूषित तथा बहुत-सी पुष्पमालाओंसे सुसज्जित था । एक श्रेष्ठ सारथि उसे काबूमें रखता था और वह घुँघुरुओंके बजनेसे नृत्य-सा करता हुआ जान पड़ता था ॥ २३—२५ ॥

जैमिनिरुवाच

एतस्मिन्नेव काले तु सैन्यं भूपस्य संस्थितम् ।
पार्थस्य प्रमुखं घोरं कालचक्रमिवापरम् ॥ २६ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! इसी समय राजा हंसध्वजकी सेना, जो दूसरे कालचक्रके समान भयंकर थी, जाकर अर्जुनके सम्मुख डटकर खड़ी हो गयी ॥ २६ ॥

वीराननेभ्यस्ताम्बूलं पतितं भूतले बहु ।
तेन भूः शुशुभे तत्र इन्द्रगोपैरिवावृता ॥ २७ ॥

वहाँ भूतलपर वीरोंके मुखोंसे बहुत-सी पानकी पीकें गिरी थीं, जिनसे वहाँकी भूमि ऐसी शोभा पा रही थी, मानो (वर्षाकालमें) वीरबहूटियोंसे आच्छादित हो रही हो ॥ २७ ॥

यथा निशागमे राजन् द्यौरियं भास्करत्विषा ।
वीरगात्राणि मुञ्चन्ति चन्दनं समृगोद्भवम् ॥ २८ ॥

राजन् ! जैसे सायंकालमें आकाश सूर्यकी प्रभासे अनुरञ्जित हो जाता है, उसी तरह वीरोंके शरीर कस्तूरीमिश्रित लाल चन्दन बहाने लगे ॥ २८ ॥

परस्परस्य संघर्षात् कण्ठेभ्यो मौक्तिकस्रजः ।
त्रुटिताश्च धरापृष्ठे दृश्यन्ते जनमेजय ॥ २९ ॥

जनमेजय ! योद्धाओंके आपसमें टकरानेसे मोतियोंके हार गलेसे टूटकर पृथ्वीपर गिरे दिखायी देने लगे ॥ २९ ॥

कवचानां किरीटानां विचित्राणां रणे प्रभाः ।
द्योतयन्ति जगत् तत्र नेत्राणि च मिमीलिरे ॥ ३० ॥

उस युद्धमें चित्र-विचित्र कवचों और मुकुटोंकी प्रभा जगत्को प्रकाशित करने लगी, जिसकी चमकसे वीरोंने अपने नेत्र बंद कर लिये ॥ ३० ॥

चन्दनं पतितं वायुरनयद् दिवि सर्वतः ।
पुष्पाणि भूतलान्नाकं गच्छन्त्यूर्ध्वं नृशीर्षतः ॥ ३१ ॥
विजेतुं सुरवृक्षाणां माल्यानि सुरभीण्यपि ।

वायु वीरोंके अङ्गोंसे गिरे हुए चन्दनको सब ओरसे उड़ाकर आकाशमें पहुँचाने लगी तथा योद्धाओंके सिरसे गिरे हुए पुष्प मानो देववृक्षोंके पुष्पों और उनकी सुगन्धोंको जीतनेके लिये भूतलसे उड़कर ऊपर स्वर्गलोकमें जा रहे थे ॥ ३१½ ॥

नराणां मुखवासेन सुगन्धेन पराजितः ॥ ३२ ॥
भ्रममाणोऽभवद् राजंस्तत्रायं मलयानिलः ।

राजन् ! वहाँ मलय पर्वतकी सुगन्धको लेकर आयी हुई वायु वीरोंके सुवासित मुखकी सुगन्धसे पराजित होकर इधर-उधर चक्कर काटने लगी ॥ ३२½ ॥

गजपुष्करतोयेन समापि विषमा मही ॥ ३३ ॥
कृता हयखुरक्षुण्णै रजोभिः पूरिता पुनः ।

हाथियोंकी सूँडसे गिरे हुए जलसे समतल भूमि भी विषम हो गयी थी; किंतु घोड़ोंकी टापोंसे उड़ी हुई धूलोंने पुनः उसे भर (कर बराबर बना) दिया ॥ ३३½ ॥

रथनादेन घोरेण मेघसागरगर्जितम् ॥ ३४ ॥
जातं मूकमहं मन्ये वाचालमपि विश्रुतम् ।
पदातिपदविन्यासाद् भूरतीव प्रकम्पिता ॥ ३५ ॥

जो गम्भीर शब्द करनेमें प्रसिद्ध हैं, ऐसे मेघ और सागर-की गर्जना भी वहाँ रथोंकी भयंकर घरघराहटके सामने मूक हुई-सी प्रतीत होती थी और पैदल सैनिकोंके पैरोंकी धमकसे वहाँकी भूमि बारंबार काँपती हुई जान पड़ती थी ॥ ३४-३५ ॥

हंसध्वजोऽब्रवीद् वीरान् गृह्णन्तु तुरगं शुभम् ।
ते तस्य वचनाच्छीघ्रं गृहीत्वा हयमागताः ॥ ३६ ॥

राजन् ! उस समय राजा हंसध्वजने अपने वीर सैनिकों-को आदेश दिया कि इस यज्ञिय अश्वको पकड़ लो । राजाकी आज्ञा पाकर वे वीर तुरंत ही घोड़ेको पकड़कर वहाँ ले आये ॥

पूजितं चर्चितं धूपवासेन बहुधूपितम् ।
पद्मव्यूहे नृपस्तं हि स्थाप्य पुत्रैः सहोदरैः ॥ ३७ ॥
संयुतो भरतश्रेष्ठ अर्जुनं योद्धुमुद्यतः ।

भरतश्रेष्ठ ! तब राजा हंसध्वज उस पूजित, नाना प्रकारके धूपकी सुगन्धसे सुवासित तथा सजे हुए घोड़ेको पद्मव्यूहके भीतर स्थापित करके पुत्रों तथा सहोदर भाइयोंके साथ अर्जुनसे लोहा लेनेके लिये डट गये ॥ ३७½ ॥

सुधन्वा सुरथश्चैव सुमतिः सचिवस्तथा ॥ ३८ ॥
वीरकेतुस्तीव्ररथः शतधन्वा महारथः ।
सुमतेरनुजास्त्वेते तथान्ये बहवो नृपाः ॥ ३९ ॥
प्रययुः पुरतः पार्थं योद्धुकामा यथासुखम् ।

उस समय सुधन्वा, सुरथ, मन्त्री सुमति और सुमतिके छोटे भाई वीरकेतु, तीव्ररथ और महारथी शतधन्वा—ये सब तथा और भी बहुत-से नरेश अर्जुनके साथ युद्ध करनेकी कामना-से सुखपूर्वक आगे बढ़े ॥ ३८-३९½ ॥

ततो दुन्दुभिनिःसाणाः पटहा मर्दलास्तथा ॥ ४० ॥
तन्त्रकी वेणुश्रृङ्गाणि मृदङ्गाश्च ववादिरे ।
डिण्डिमाः श्रृङ्गभेदाश्च पणवाश्च तथानकाः ॥ ४१ ॥
ढक्का ढोलास्तथा भेर्यो गोमुखाः काहलास्तथा ।
झर्झरा जलजास्ताला वंशा मुरलिका वराः ॥ ४२ ॥
ताडिता वाद्यकुशलैस्तस्मिन् वीरसमागमे ।

वीरोंके उस समागमके अवसरपर वाद्यकुशल पुरुषोंद्वारा नगाड़े, निशान, पटह, मर्दल, वीणा, वेणु, नरसिंघे, मृदङ्ग, डिंडिम, श्रृङ्गभेद, पणव, आनक, डमरू, ढोल, भेरी, गोमुख, काहल, झाँझ, शङ्ख, ताल, वंशी तथा मुरली आदि उत्तम रणवाद्य बजाये जाने लगे ॥ ४०–४२½ ॥

तेन नादेन गिरयः सागराश्चापि चुक्रुशुः ॥ ४३ ॥
कातराणां तु चेतांसि द्विधा भूतानि भारत ।

भारत ! उन वाद्योंका इतना भयंकर शब्द हुआ कि उससे पर्वत और समुद्र भी गूँजने लगे तथा कायरोंके हृदय फटने लगे ॥ ४३½ ॥

जैमिनिरुवाच

पार्थस्तदाब्रवीत् तत्र कृष्णपुत्रमिदं वचः ॥ ४४ ॥
युधिष्ठिराश्वः प्रद्युम्न नीतो हंसध्वजेन हि ।
तं तु मोचयितुं वीराः के गमिष्यन्ति तद् वद ॥ ४५ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तब वहाँ अर्जुन कृष्ण-कुमार प्रद्युम्नसे इस प्रकार बोले—'प्रद्युम्न ! महाराज युधिष्ठिर-के यज्ञिय अश्वको राजा हंसध्वजने पकड़ लिया है । अब यह बतलाओ कि उसे छुड़ानेके लिये कौन-कौन वीर जायँगे ? ॥

भवान् सपुत्रो बलवान् यौवनाश्वो महामतिः ।
अनुशाल्वश्च वीरोऽयं कृतवर्मा च सात्यकिः ॥ ४६ ॥
वृषकेतुर्महातेजा अनिरुद्धश्च वीर्यवान् ।
नीलध्वजोऽग्निजामाता यस्य राष्ट्रे निरीक्षितः ॥ ४७ ॥
एते चान्ये च सन्त्यत्र तथाहमपि संस्थितः ।
परराष्ट्रे वयं प्राप्ताः सबलस्य विशेषतः ॥ ४८ ॥
त्वं तु नाथोऽसि सर्वेषामहमग्रे व्रजेऽधुना ।

'इस समय यहाँ तुम, पुत्र सुवेगसहित महाबुद्धिमान् एवं बली राजा यौवनाश्व, ये वीरवर अनुशाल्व, कृतवर्मा, सात्यकि, महातेजस्वी वृषकेतु, पराक्रमी अनिरुद्ध और जिनके राज्यमें अग्नि जामाताके रूपमें देखे गये हैं, वे राजा नीलध्वज—ये तथा और भी बहुत-से वीर उपस्थित हैं; साथ ही मैं भी सामने ही खड़ा हूँ । हमलोग दूसरे राजाके, जो विशेषतः प्रबल हैं, राज्यमें आ पहुँचे हैं । (ऐसी दशामें मेरे विचारसे तुम्हारा

रणभूमिमें जाना उचित नहीं है; क्योंकि) तुम तो हम सबके स्वामी हो; अतः अब मैं ही आगे बढ़ता हूँ' ॥४६–४८½ ॥

प्रद्युम्न उवाच

मैवं वद महाभाग विस्मृतं कृष्णभाषितम् ॥ ४९ ॥
सर्वस्वं मत्करे दत्तं पाण्डवाख्यं महात्मना ।
पित्रा कृष्णेन तदहं सबलः किं विनाशये ॥ ५० ॥
समक्षं धर्मराजस्य भीमस्य च महात्मनः ।
अद्य मे भुजयोः पश्य बलं पार्थ रणाङ्गणे ॥ ५१ ॥

तब प्रद्युम्नने कहा—महाभाग ! आप ऐसा मत कहें । क्या आपको मेरे पिताजीका कथन भूल गया ? मेरे उन महात्मा पिता श्रीकृष्णने महामनस्वी धर्मराज युधिष्ठिर तथा भीमसेनके सामने अपना जो अर्जुनरूपी सर्वस्व धन मेरे हाथों सौंपा था, उसे मैं बल रहते कैसे नष्ट होने दूँगा ? पार्थ ! आज रणाङ्गणमें मेरी इन भुजाओंका बल देखिये ॥ ४९–५१ ॥

हंसध्वजं सुधन्वानं सुरथं सुमतिं तथा ।
तोषये निशितैर्बाणैर्बलं च विनिपातये ॥ ५२ ॥
एनं नृपवरं विद्धि स्वदाररसिकं रणे ।

मैं अपने तीखे बाणोंद्वारा हंसध्वज, सुधन्वा, सुरथ तथा सुमतिको संतुष्ट कर दूँगा और इनकी सेनाको भी मार गिराऊँगा । केवल अपनी ही पत्नीसे प्रेम करनेवाले इन नृपश्रेष्ठको अब आप युद्धस्थलमें हारा हुआ ही समझिये ॥ ५२½ ॥

जैमिनिरुवाच

प्रद्युम्नस्य वचः श्रुत्वा वृषकेतुरुदारधीः ॥ ५३ ॥
नमस्कृत्याब्रवीद् वाग्मी न युक्तं युवयोर्वचः ।
कियत् सैन्यं युवां चात्र प्रलयोत्पत्तिकारकौ ॥ ५४ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! प्रद्युम्नकी बात सुनकर वचन-रचनामें चतुर तथा उदारबुद्धि वृषकेतु अर्जुन और प्रद्युम्नको प्रणाम करके कहने लगा—'आप दोनों महापुरुषों-का कथन युक्त नहीं है; क्योंकि आपलोग तो संग्रामभूमिमें प्रलयका दृश्य उत्पन्न कर देनेवाले वीर हैं, फिर आपके योग्य यहाँ सेना ही कितनी है ? ॥ ५३-५४ ॥

मुखवातेन यो गच्छेत् तूलतुल्यबलः पुरः ।
तदर्थं प्रेषयेत् कोऽत्र प्रज्वलद् वडवानलम् ॥ ५५ ॥

'जिसका बल रूईके समान है, जो सामने आनेपर मुखकी फूँकसे नष्ट हो जानेवाला है, उसे जलानेके लिये कौन वीर धधकते हुए बडवानलको भेजेगा ? ॥ ५५ ॥

नेत्रपक्ष्मप्रहारेण हन्यते मशको यदि ।
तं हन्तुं कश्च मन्दात्मा तार्क्ष्यं दिशति नागहम् ॥५६॥

'यदि मच्छर नेत्रोंके पलकोंके प्रहारसे ही मर जाता है तो उसे मारनेके लिये कौन मूर्ख सर्पहन्ता गरुडको आज्ञा देगा ?॥

स्वल्पशीकरवर्षेण यद् रजः परिशाम्यति ।
तन्नाशाय कथं वर्षन् वरुणो याति कोपतः ॥ ५७ ॥

'जो धूल थोड़ी-सी बूँदा-बूँदी वर्षासे ही शान्त हो जाने-वाली है, उसका विनाश करनेके लिये वर्षा करनेके उद्देश्यसे क्रोधपूर्वक वरुण क्यों जायँगे ? ॥ ५७ ॥

तथाविधमिदं भाति युष्माकमिति मे मतिः ।
भवद्भ्यामहमादिष्टो नानये किं तुरङ्गमम् ॥ ५८ ॥

'मेरे विचारसे तो आपलोगोंका यह युद्धोद्योग भी उसी प्रकारका प्रतीत हो रहा है । क्या आप दोनोंकी आज्ञा पाकर मैं उस घोड़ेको वापस नहीं ला सकता ? ॥ ५८ ॥

यमदूतगणैर्बद्धं हरते हरिकिङ्करः ।
यथा संसारिणं जीवमनन्तपदसेवकम् ॥ ५९ ॥
तथाऽऽनयेऽद्य तुरगमाज्ञया भवतोऽप्यहम् ।
एष गच्छामि संग्रामे पार्थ पश्य तवाहितान् ॥ ६० ॥

'जैसे यमदूतोंद्वारा बाँधे गये संसारी जीवको, यदि वह भगवान् विष्णुके चरणोंका सेवक है तो, विष्णुदूत छीन लेते हैं, उसी तरह आपकी आज्ञा पाकर मैं भी अभी घोड़ेको वापस ला सकता हूँ । पार्थ ! लीजिये, मैं अभी रणक्षेत्रमें आपके शत्रुओंपर आक्रमण करने जा रहा हूँ' ॥ ५९-६० ॥

जैमिनिरुवाच

निर्ययौ कर्णपुत्रोऽग्रे पाण्डवेन निवारितः ।
शङ्खं दध्मौ महातेजा हंसध्वजबलं प्रति ।
रथेनातिविचित्रेण सुपताकेन गर्जता ॥ ६१ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर अर्जुनके रोकनेपर भी वृषकेतु हंसध्वजकी सेनापर आक्रमण करनेके लिये सबसे पहले चला । उस समय उस महातेजस्वी वीरने सुन्दर ध्वजसे सुशोभित तथा भयंकर गर्जना करनेवाले एक सुन्दर रथद्वारा आगे बढ़कर अपना शङ्ख बजाया ॥ ६१ ॥

सारथिं प्राह धर्मात्मा तुरङ्गांस्तित्तिरिप्रभान् ।
मम नोदय सूतेति पद्मव्यूहे सुदारुणे ।
सारथिस्तत्क्षणादेव कशामुद्यम्य वेगवान् ॥ ६२ ॥
प्रेरयामास तुरगाञ्जवनान् रणकोविदः ।
वृषकेतुं विलोक्याथ सुधन्वा वाक्यमब्रवीत् ॥ ६३ ॥

फिर उस धर्मात्माने अपने सारथिको आज्ञा दी—'सूत ! तित्तिरिके समान रंगवाले मेरे घोड़ोंको हाँककर इस अत्यन्त भयंकर पद्मव्यूहमें ले चलो ।' यह सुनकर शीघ्र ही आज्ञाका पालन करनेवाले उस युद्धकुशल सारथिने उसी क्षण चाबुक हाथमें लेकर उन शीघ्रगामी घोड़ोंको आगे बढ़ाया । तब वृषकेतुको पद्मव्यूहमें प्रवेश करते देखकर सुधन्वाने कहा ॥ ६२–६३ ॥

सुधन्वोवाच

पद्मव्यूहमदृष्ट्वैव कः समायाति लीलया।
वृषोऽस्य दृश्यते रम्यो ध्वजस्थो न धनंजयः ॥ ६४ ॥

सुधन्वा बोला—यह कौन वीर है, जो पद्मव्यूहको कुछ भी न समझकर लीलापूर्वक आगे बढ़ा आ रहा है। इसके ध्वजपर सुन्दर वृषका चिह्न दीख रहा है, अतः यह अर्जुन तो नहीं है ॥ ६४ ॥

एक एवापरः कश्चिद् वीरः सत्त्वसमन्वितः।
धनञ्जयकणैः कीर्णैर्दह्यन्ते किं न भूभृतः ॥ ६५ ॥

यह कोई दूसरा बल-पराक्रमसम्पन्न वीर है, जो अकेले ही आ रहा है; परंतु क्या अग्निकी चिनगारियोंसे बड़े-बड़े पर्वत नहीं जल जाते (अवश्य जल जाते हैं, उसी तरह इस एकाकी वीरके द्वारा मेरी विशाल सेनाके भी नष्ट होनेकी सम्भावना है) ॥ ६५ ॥

तस्मादेको बहून् प्राप्तो ह्यनादृत्याधुना हि नः।
अहमेनं व्रजाम्यद्य वीरं रणविशारदम् ॥ ६६ ॥॥

अपने बलाभिमानके कारण ही यह इस समय हमलोगोंका अनादर करके अकेले ही बहुतोंका सामना करने आ रहा है; अतः अब मैं इस युद्धकुशल वीरके सम्मुख चलता हूँ ॥६६॥

सूत मां नय भद्रं ते वीरस्य रथसम्मुखम्।
तेन सूतेन नीतोऽसौ सुधन्वा रथिनां वरः ॥ ६७ ॥

(ऐसा कहकर सुधन्वाने अपने सारथिसे कहा—) 'सूत ! तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम मुझे इस वीरके रथके सामने ले चलो।' तब वह सारथि रथियोंमें श्रेष्ठ सुधन्वाको वहाँ ले गया ॥ ६७ ॥

उभौ तौ संस्थितौ युद्धे तत्र तीव्रपराक्रमौ।
सुधन्वा वृषकेतुं हि पप्रच्छ मुदितो हसन् ॥ ६८ ॥

वहाँ युद्धस्थलमें परम पराक्रमी वे दोनों वीर हर्षपूर्वक (आमने-सामने) डटकर खड़े हो गये। तब सुधन्वाने वृषकेतुसे मुसकराते हुए पूछा ॥ ६८ ॥

सुधन्वोवाच

कस्त्वं कस्यात्मजश्चासि किन्नाम तव सुव्रत।

सुधन्वाने कहा—सुव्रत ! तुम कौन हो ? किसके पुत्र हो ? तथा तुम्हारा क्या नाम है ? ॥ ६८½ ॥

वृषकेतुरुवाच

यं भेत्तुमुद्यतोऽसि त्वं स चास्माकं पितामहः ॥ ६९॥
पुत्राणामवरस्तस्य यः कर्णश्च सुतोऽपरः।
दातॄणामग्रणीर्वीरो नित्यं धीरः स मे पिता ॥ ७० ॥
काश्यपस्य कुले जातं विद्धि मां वृषकेतुकम्।

तब वृषकेतुने उत्तर दिया—वीर ! तुम जिस पाण्डव-वंशका भेदन करनेके लिये उद्यत हुए हो, उस वंशके प्रवर्तक महाराज पाण्डु हमारे पितामह हैं। उन्हींके पुत्रोंमेंसे ये हमारे अग्रणी अर्जुन तीसरे पुत्र हैं। महाराज पाण्डुके ही दूसरे (क्षेत्रज) पुत्र जो कर्णके नामसे विख्यात हुए हैं और जो सदा दाताओंमें अग्रगण्य, धीर और वीर थे, वे ही मेरे पिता हैं। (वे कश्यपनन्दन सूर्यके वीर्यसे उत्पन्न हुए थे, अतः) मुझे सूर्यवंशमें उत्पन्न हुआ समझो। मेरा नाम वृषकेतु है ॥

सुधन्वोवाच

हंसध्वजस्य पुत्रोऽहं सुधन्वा नाम मे शुभम् ॥ ७१ ॥
मधुच्छन्दा ऋषिः पूर्वमस्माकं वंशकारकः।
तिष्ठ युद्धे मम पुरः पौरुषं त्वं प्रदर्शय ॥ ७२ ॥

सुधन्वाने कहा—वीर ! मैं महाराज हंसध्वजका पुत्र हूँ और मेरा शुभ नाम सुधन्वा है। पूर्वकालमें जो मधुच्छन्दा नामक ऋषि थे, वे ही हमारे वंशप्रवर्तक हैं। अब तुम युद्धमें मेरे सम्मुख डटकर खड़े हो जाओ और अपना पुरुषार्थ दिखलाओ ॥ ७१-७२ ॥

तेजस्वी पूर्वजः सूर्यो यथा ध्वान्तमपोहति।
तथा भवाञ्छत्रुबलं युद्धे वारयिता भव।
स्वकुलं वर्णयन्त्येव मन्दाः पौरुषवर्जिताः ॥ ७३ ॥

तुम्हारे पूर्वज तेजस्वी सूर्य-जैसे अन्धकारका नाश कर देते हैं, उसी तरह तुम भी युद्धक्षेत्रमें शत्रुसेनाका निवारण करो (तब तो तुम्हारी तथा तुम्हारे कुलकी प्रतिष्ठा है, अन्यथा) अपने कुलकी झूठी प्रशंसा तो पुरुषार्थहीन मूर्ख ही किया करते हैं ॥ ७३ ॥

वृषकेतुरुवाच

अधुना दर्शयिष्यामि स्वबलं सायकेन हि।
एते मदीया नाराचास्तीक्ष्णधाराः सुतेजसः ॥ ७४ ॥
सहसा तव सैन्ये च गमिष्यन्ति महाहवे।
वचसा यन्मया प्रोक्तं नानृतं तत् प्रजायते ॥ ७५ ॥

तब वृषकेतु बोला—वीर ! इस समय मैं अपना बल बाणोंद्वारा दिखाऊँगा। मेरे ये अत्यन्त चमकीले तथा तीखी धारवाले बाण महायुद्धमें सहसा तुम्हारी सेनापर गिरेंगे। मैं वाणीसे जो कह रहा हूँ, वह मिथ्या नहीं हो सकता ७४-७५

जैमिनिरुवाच

शराणां महती वृष्टिस्तेन मुक्ता बलं प्रति।
सुधन्वानं छादयित्वा सिंहनादमथाकरोत् ॥ ७६ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर वृषकेतुने शत्रु-सेनापर बाणोंकी झड़ी लगा दी और सुधन्वाको बाणोंसे आच्छादित करके वह सिंहनाद करने लगा ॥ ७६ ॥

भित्त्वा शरीराणि शरा गजाश्वरथपत्तिनाम्।
चक्रुर्जीवितहीनानि वृषकेतोर्महात्मनः ॥ ७७ ॥

उस समय महान् आत्मबलसे सम्पन्न वृषकेतुके बाणोंने हाथी, घोड़े, रथी तथा पैदल सैनिकोंके शरीरोंको छिन्न-भिन्न करके उन्हें प्राणशून्य कर दिया ॥ ७७ ॥

सर्वतस्तेन विद्धोऽसौ सुधन्वा रथयूथपः ।
बलं न दृश्यते सर्वं बाणैश्छन्नं नराधिप ॥ ७८ ॥

नरेश्वर ! उसने रथियोंके समुदायके नेता सुधन्वाको सब ओरसे बींध दिया और उसकी बाणवर्षासे आच्छादित होकर सारी सेना भी अदृश्य हो गयी ॥ ७८ ॥

सुधन्वनो हयान् विद्ध्वा सारथिं च महाध्वजम् ।
चिच्छेद तरसा युद्धे प्रहसन् पञ्चभिः शरैः ॥ ७९ ॥

फिर युद्धस्थलमें हँसते हुए वृषकेतुने सुधन्वाके घोड़ों तथा सारथिको घायल करके वेगपूर्वक पाँच बाण मारकर उसके विशाल ध्वजको भी काट गिराया ॥ ७९ ॥

पुनरेवावृणोत् सैन्यं सर्वेषामेव पश्यताम् ।
गार्ध्रपत्रैः सुनिशितैः शतधा पातितं भुवि ॥ ८० ॥

पुनः उस वीरने सबके देखते-देखते गीधके पाँख लगे हुए अत्यन्त तीखे बाणोंसे उस सेनाको आच्छादित कर दिया और सैकड़ों टुकड़ोंमें छिन्न-भिन्न करके पृथ्वीपर गिरा दिया ॥८०॥

छत्राणि चामराण्येव ध्वजांश्च विविधानपि ।
तनुत्राणि च संक्रुद्धो युधि चिच्छेद कर्णजः ॥ ८१ ॥

उस युद्धमें कुपित होकर वृषकेतुने बहुत-से छत्र, चँवर, ध्वज तथा नाना प्रकारके कवचोंको भी काट डाला ॥ ८१ ॥

हस्तिहस्तोपमान् बाहून् सायुधान् भूषणैर्वृतान् ।
शिरांसि च महाबाहुः संदष्टौष्ठपुटानि च ॥ ८२ ॥

उस महाबाहुने (शत्रुपक्षी योद्धाओंकी) आभूषणोंसे विभूषित, आयुधोंसे युक्त तथा हाथीकी सूँड़के समान मोटी भुजाओंको और दाँतों-तले दबे हुए ओष्ठवाले उनके मस्तकों-को भी काटकर पृथ्वीपर गिरा दिया ॥ ८२ ॥

तत् प्रभिन्नं बलं वीक्ष्य रथमन्यं समाश्रितः ।
सुधन्वा पौरुषं तस्य बहुधा ह्यमन्यत ॥ ८३ ॥
जघान तुरगानस्य सारथिं च महाध्वजम् ।
तूलराशिनिभं कृत्वा पञ्चभिस्तमताडयत् ॥ ८४ ॥
वृषकेतोर्धनुश्छिन्नं सतूणं पञ्चभिः शरैः ।

तब अपनी सेनाको यों नष्ट हुई देखकर सुधन्वाने अपने हृदयमें वृषकेतुके पुरुषार्थकी बड़ी सराहना की और फिर दूसरे रथपर चढ़कर वृषकेतुके घोड़ों तथा सारथिको मार गिराया । फिर उसके विशाल ध्वजको भी काटकर सबको रूई-के ढेर-सा धराशायी कर दिया । फिर पाँच बाण मारकर वृष-केतुके तरकससहित धनुषके टुकड़े-टुकड़े कर डाले और पुनः पाँच बाणोंद्वारा उसे भी चोट पहुँचायी ॥ ८३-८४½ ॥

भ्रममाणं च तद्गात्रं गतं यत्र महद्बलम् ॥ ८५ ॥
कर्णपुत्रस्य संग्रामात् तदद्भुतमिवाभवत् ।

उस प्रहारसे व्याकुल होकर वृषकेतुका शरीर चक्कर काटता हुआ युद्धसे हटकर उस स्थानपर जा गिरा, जहाँ (शत्रुपक्षकी ही) विशाल सेना खड़ी थी । यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ ८५½ ॥

मूर्च्छां विहाय धर्मात्मा यावत् पश्यति मानिनम् ॥ ८६ ॥
तावद् ददर्श तं घोरं सैन्यमध्यस्थितं पुरः ।
आत्मानं सैन्यमध्यस्थं बहुभिः परिवारितम् ॥ ८७ ॥
विलोक्य रथहीनं च क्रोधाज्जग्राह तद्धनुः ।
दृढज्यं प्रमुमोचाथ बाणान् हेमविभूषितान् ॥ ८८ ॥

जब धर्मात्मा वृषकेतुकी मूर्च्छा निवृत्त हुई, तब वह उस मानी वीर सुधन्वाको खोजने लगा । इतनेमें ही उसने अपने सामने सेनाके मध्यभागमें स्थित उस भयंकर वीरको देखा और अपनेको रथहीन-अवस्थामें शत्रु-सेनाके बीच बहुत-से वीरों-द्वारा घिरा हुआ पाया । अपनी यह दशा देखकर वह क्रोधसे भर गया और उसने अपना वह धनुष हाथमें लिया, जिसकी प्रत्यञ्चा बड़ी मजबूत थी । तत्पश्चात् वह सुवर्णभूषित बाणोंको छोड़ने लगा ॥ ८६–८८ ॥

सर्वाङ्गं सायकैश्छिन्नमच्छिन्नमिव धारयन् ।
हंसध्वजस्य तत् सैन्यं चक्रे जीवितवर्जितम् ॥ ८९ ॥

यद्यपि उसका सारा शरीर बाणोंसे छिद गया था फिर भी वह उसे उसी प्रकार धारण किये हुए था, मानो उसे कोई क्षति नहीं पहुँची हो । वह वीर हंसध्वजकी उस सेनाको प्राण-शून्य करने लगा ॥ ८९ ॥

ततः परस्य सैन्येन वेष्टितः कर्णनन्दनः ।
शक्तिभिस्तोमरैर्भल्लैर्भिन्दिपालैश्च संगरे ॥ ९० ॥
मुद्गरैरसिभिर्घोरैः समन्ताच्च विहन्यते ।
नाराचैः करपत्रैश्च भुशुण्डीभिरयोमुखैः ॥ ९१ ॥
गदाभिः परिघैश्चैव पट्टिशैश्च त्रिशूलकैः ।
शस्त्रास्त्रैरर्द्यमानं स्वं वपुः कर्णात्मजो बली ॥ ९२ ॥
निरीक्ष्य वासुदेवस्य नामानि सहसा जपन् ।

तब शत्रुसैनिकोंसे घिरे हुए कर्णनन्दन वृषकेतुपर सब ओरसे शक्ति, तोमर, भल्ल, भिन्दिपाल, मुद्गर, भयंकर तल-वार, नाराच, करपत्र, भुशुण्डी, अयोमुख, गदा, परिघ, पट्टिश और त्रिशूलोंकी मार पड़ने लगी । उस समय महाबली कर्ण-पुत्र वृषकेतु अपने शरीरको इस तरह शस्त्रास्त्रोंद्वारा पीडित हुआ देख सहसा भगवान् श्रीकृष्णके नामोंका जप करने लगा ॥ ९०–९२½ ॥

ततोऽन्यं च रथं सूतो योजयित्वा महाध्वजम् ॥ ९३ ॥
कर्णात्मजस्य सांनिध्यं जगाम रणमण्डले ।

इतनेमें ही दूसरा सारथि एक दूसरे रथको, जिसपर विशाल

ध्वजा फहरा रही थी, जोतकर युद्धके मैदानमें वृषकेतुके समीप जा पहुँचा ॥ ९३½ ॥

तं समारुह्य वेगेन वृषकेतुः पुनः पुनः ॥ ९४ ॥
विव्याध सायकैस्तीक्ष्णैः सुधन्वानं हसन्निव।
सैन्यं च पीडयामास समन्ताद् बाणवृष्टिभिः ॥ ९५ ॥

तब वृषकेतुने शीघ्र ही उस रथपर सवार होकर बारंबार पैने बाण मारकर सुधन्वाको हँसते हुए-से घायल कर दिया और चारों ओरसे बाणवर्षा करके उसकी सेनाको भी पीड़ित कर दिया ॥ ९४-९५ ॥

सुधन्वा कर्णपुत्रं तं हृदि विव्याध पञ्चभिः ।
पुनः स मूर्च्छामगमद् वृषकेतुर्महाबलः ॥ ९६ ॥

तत्पश्चात् सुधन्वाने कर्णकुमार वृषकेतुके हृदयको पाँच बाणोंसे बींध दिया । उन बाणोंके आघातसे महाबली वृषकेतु पुनः मूर्च्छित हो गया ॥ ९६ ॥

मूर्च्छितं सारथिः शीघ्रं वृषकेतुं महाबलम् ।
रणमध्यादपोवाह तावत् कार्ष्णिः समागतः ॥ ९७ ॥

तब महाबली वृषकेतुको मूर्च्छित देखकर सारथि शीघ्र ही उसे रणक्षेत्रसे दूर हटा ले गया । तबतक वहाँ प्रद्युम्न आ पहुँचे ॥ ९७ ॥

प्रद्युम्नस्तिष्ठ तिष्ठेति सुधन्वानं समाक्षिपत् ।
पञ्चभिस्तं शरैर्घोरैः पीडयामास संगरे ॥ ९८ ॥
सूतं सुधन्वनो रोषादनयद् यमसादनम् ।
हयानां शकलान्येकविंशतिं क्रोधमूर्च्छितः ॥ ९९ ॥
चकार रथयुक्तानां चतुर्णां निशितैः शरैः ।
युगे कृतेऽष्टधा बाणैस्त्रिभिरेकेन कार्मुकम् ॥१००॥
प्रद्युम्नेन त्रिशकलं कृतं चित्रं सुधन्वनः ।

उन्होंने 'खड़ा रह, खड़ा रह' यह कहकर सुधन्वाको फटकारते हुए युद्धस्थलमें पाँच भयंकर बाणोंद्वारा उसे गहरी चोट पहुँचायी और क्रुद्ध होकर उसके सारथिको यमलोक पहुँचा दिया । फिर क्रोधसे तिलमिलाकर तीखे बाणोंका प्रहार करके सुधन्वाके रथमें जुते हुए चारों घोड़ोंके इक्कीस टुकड़े कर डाले । तीन बाणोंसे रथके जुएके आठ खण्ड कर दिये और एक बाण मारकर सुधन्वाके विचित्र धनुषको तीन टुकड़ोंमें बाँट दिया ॥ ९८–१००½ ॥

सुधन्वापि रणे ज्ञात्वा प्रद्युम्नस्यातिकौशलम् ॥१०१॥
चकार लीलया युद्धे पौरुषं स्वं प्रदर्शयन् ।
संधानमद्भुतं रोषाच्छराभ्यामष्टधा हयान् ॥१०२॥
युगं त्रिवेणुकं रम्यं कृतं षोढा सुधन्वना ।
प्रद्युम्नस्य धनुश्छिन्नं बाणेनैकेन पञ्चधा ॥१०३॥
तेनापि सारथेः कायाच्छिन्नं शीर्षं तदद्भुतम् ।
त्रिभिः कृष्णसुतं विद्ध्वा सिंहनादं चकार ह ॥१०४॥

तब सुधन्वाने भी प्रद्युम्नके इस उत्कृष्ट रणकौशलको जानकर युद्धमें अपना पुरुषार्थ प्रकट करते हुए लीलापूर्वक बाणोंका अद्भुत रीतिसे संधान किया । उसने क्रुद्ध होकर दो बाणोंसे प्रद्युम्नके घोड़ोंके आठ टुकड़े कर दिये तथा रथके जुए और सुन्दर त्रिवेणुको सोलह स्थानोंसे छिन्न-भिन्न कर दिया । फिर एक ही बाणसे प्रद्युम्नके धनुषके पाँच टुकड़े करके उसी बाणसे सारथिके मस्तकको भी धड़से काट गिराया । यह एक आश्चर्यजनक घटना हुई । तत्पश्चात् वह तीन बाणोंसे प्रद्युम्नको बींधकर सिंहनाद करने लगा ॥ १०१–१०४ ॥

उभौ तौ बलिनौ वीरौ महारणविशारदौ ।
गगने भूतले युद्धं चक्रतुः खेचराविव ॥१०५॥
मूर्च्छितौ पतितौ बाणैः पीडितौ रुधिरोक्षितौ ।

वे दोनों महाबली वीर युद्धकलामें परम प्रवीण थे, अतः आकाशचारी पक्षीकी भाँति भूतलपर तथा आकाशमें भी उछलकर युद्ध करने लगे और एक-दूसरेके बाणोंसे पीडित एवं खूनसे लथपथ हो गये । तत्पश्चात् दोनों ही मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ १०५½ ॥

सुधन्वा ह्युत्थितः क्रुद्धो रथमन्यं समाश्रितः ॥१०६॥
ताडयामास पार्थस्य वीरान् बाणैः सहस्रशः ।
कृतवर्माणमासाद्य जघान नवभिः शरैः ॥१०७॥

उन दोनोंमें पहले सुधन्वा ही मूर्च्छा टूटनेपर उठा और क्रोधपूर्वक दूसरे रथपर चढ़कर हजारों बाणोंकी वर्षा करके अर्जुनके योद्धाओंको पीडित करने लगा । उसने कृतवर्माके पास जाकर उसपर नौ बाणोंसे प्रहार किया ॥ १०६-१०७ ॥

कृतवर्मा तेन मुक्तांस्त्रिधा चिच्छेद सायकान् ।
पञ्चभिः पीडयामास सुधन्वानं महोरसि ॥१०८॥

तब कृतवर्माने उसके चलाये हुए बाणोंके तीन-तीन टुकड़े कर दिये और सुधन्वाकी चौड़ी छातीपर पाँच बाण मारकर उसे गहरी चोट पहुँचायी ॥ १०८ ॥

सुधन्वा च ततो राजन् नवभिः सायकैः क्षणात् ।
हार्दिक्यं विरथं चक्रे हयान् हत्वा च सारथिम् ।१०९।
स शरैरर्दितो वीरो रणं त्यक्त्वा पलायितः ।

राजन् ! तदनन्तर सुधन्वाने उसी क्षण नौ बाणोंद्वारा कृतवर्माके घोड़ों तथा सारथिका संहार करके उसे रथहीन कर दिया । तब सुधन्वाके बाणोंसे पीड़ित हो वीर कृतवर्मा युद्ध छोड़कर भाग खड़ा हुआ ॥ १०९½ ॥

अनुशाल्वस्ततो वीरं सुधन्वानं महारणे ॥११०॥
समाहूयाब्रवीद् वीरो गृहीत्वा सशरं धनुः ।

तदनन्तर शूरवीर अनुशाल्व उस महायुद्धमें बाणसहित अपने धनुषको हाथमें लेकर महाबली सुधन्वाको पुकारकर कहने लगा ॥ ११०½ ॥

अनुशाल्व उवाच

सुधन्वन् बहवो वीरास्त्वया युद्धेऽद्य तोषिताः॥१११॥
स्वबलेन समक्षं मे परमं कौतुकं हि तत्।
सहस्व मच्छरं चैकं सर्वेषामेव पश्यताम्॥११२॥
ततो मुमोच नाराचं वडवानलसंनिभम्।

अनुशाल्व बोला—सुधन्वन्! आज तुमने मेरे सामने अपने बल-पराक्रमद्वारा बहुत-से वीरोंको युद्धमें संतुष्ट कर दिया है। तुम्हारा यह कार्य परम कौतुकपूर्ण है; परंतु अब तुम सबके सामने ही मेरे एक बाणको सह लो। ऐसा कहकर उसने बड़वानलके समान एक भयंकर बाण चलाया॥ १११-११२½ ॥

अनुशाल्वकरान्मुक्तं वीक्ष्य बाणं सुदारुणम्॥११३॥
छेत्तुं व्यवस्थितो बाणैस्तं शरं न शशाक सः।
प्रविष्टो हृदये बाणस्तदा तस्य सुधन्वनः॥११४॥

अनुशाल्वके हाथसे छूटकर अपनी ओर आते हुए उस अत्यन्त भयंकर बाणको देखकर सुधन्वा अपने बाणोंद्वारा उस बाणको काट डालनेके लिये प्रयत्न करने लगा, परंतु काट न सका। तब वह बाण सुधन्वाके हृदयमें घुस गया॥ ११३-११४॥

अनुशाल्वस्ततः सेनां दारयामास सायकैः।
सुधन्वानं महाबाहुं नवभिः सायकैर्दृढैः॥११५॥
विरथं त्वरितं कृत्वा पातयित्वा धरातले।
जगर्ज च तदा वीरस्ततो दैत्याधिपो बली॥११६॥

तत्पश्चात् अनुशाल्वने बाणवर्षा करके शत्रुसेनाको विदीर्ण कर दिया। फिर दैत्योंके स्वामी महाबली वीर अनुशाल्वने तुरंत ही नौ सुदृढ़ बाणोंके प्रहारद्वारा महाबाहु सुधन्वाको रथहीन करके उसे धराशायी कर दिया। उस समय उसने बड़ी विकट गर्जना की॥ ११५-११६॥

अथ मूर्च्छां विहायाशु सुधन्वा रथिनां वरः।
विव्याधैकेन बाणेन रणे शाल्वानुजं बली॥११७॥

तदनन्तर रथियोंमें श्रेष्ठ महाबली सुधन्वा शीघ्र ही मूर्च्छाका परित्याग करके उठ बैठा और उसने युद्धस्थलमें एक बाणसे अनुशाल्वको बींध दिया॥ ११७॥

तेन बाणेन भिन्नोऽसौ निपपात धरातले।
सेनां पार्थस्य विविधां नाराचैः शतधाभिनत्॥११८॥

उस बाणसे घायल होकर अनुशाल्व पृथ्वीपर गिर पड़ा। फिर सुधन्वाने अर्जुनकी अनेक प्रकारकी सेनाको बाणोंद्वारा सौ-सौ टुकड़ोंमें विदीर्ण कर दिया॥ ११८॥

गजानीकं स बहुधा भित्त्वा चक्रे वसुन्धराम्।
रुधिरौघवतीं राजन् विषमां मांसकर्दमाम्॥११९॥

राजन्! उसने बहुत-सी गज-सेनाका संहार करके पृथ्वीपर रक्तकी धारा बहा दी, जिसमें मांसकी कीच मच जानेके कारण वहाँकी समतलभूमि भी विषम हो गयी॥ ११९॥

गजाननेषु भिन्नेषु हयशीर्षाणि संगरे।
सक्तानि स्म दृश्यन्ते शतशोऽथ सहस्रशः॥१२०॥

युद्धभूमिमें छिन्न-भिन्न होकर गिरे हुए हाथियोंके मुखोंपर सैकड़ों-हजारोंकी संख्यामें घोड़ोंके मस्तक चिपके हुए दीख रहे थे॥ १२०॥

द्विधा भिन्ना हया बाणैः सादिभिः सहिता रणे।
पुरोभागेन गच्छन्ति पतिता अपि धन्विनः॥१२१॥

बाणोंके प्रहारसे दो टुकड़ोंमें विभक्त हुए सवारोंसहित घोड़े अपने अगले भागसे युद्धभूमिमें कुछ दूरतक दौड़ जाते थे। फिर वे तथा उनपर चढ़े हुए धनुर्धर वीर भी धराशायी हो जाते थे॥ १२१॥

नराश्वगजदासेरखराणां रुधिरं तदा।
शरैश्चित्रैर्विभिन्नानां प्रावहत् सरितं प्रति॥१२२॥

चित्र-विचित्र बाणोंद्वारा विदीर्ण हुए मनुष्यों, घोड़ों, हाथियों, ऊँटों और गधोंका रक्त बाहुदा नदीकी ओर बह चला॥ १२२॥

ते छिन्नबाहवो वीरा रुधिरौघेण वाहिताः।
बाहुदां प्राप्य सकरा गगने चाभवन् क्षणात्।
इतस्ततो बलं भग्नं विमुखं पाण्डवस्य तत्॥१२३॥

जिनकी भुजाएँ कट गयी हैं, वे वीर उस रक्त-प्रवाहके साथ बहते हुए बाहुदा नदीमें पहुँचकर उसी क्षण हाथोंसे संयुक्त होकर आकाशमें पहुँच जाते थे (अर्थात् दिव्य शरीर धारण करके स्वर्गगामी हो जाते थे)। उस समय अर्जुनकी वह सेना युद्धसे विमुख हो इधर-उधर भाग चली॥ १२३॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि सुधन्वनो युद्धवर्णनं नामाष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें सुधन्वाके युद्धका वर्णन नामक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १८॥

एकोनविंशोऽध्यायः

सुधन्वा और सात्यकिके युद्धमें सात्यकिका मूर्च्छित होना, सुधन्वा और अर्जुनका युद्ध, अर्जुनका सारथिके मारे जानेपर श्रीकृष्णका स्मरण करना, श्रीकृष्णका वहाँ पधारना, तीन बाणोंद्वारा सुधन्वाका वध करनेके लिये अर्जुनकी प्रतिज्ञा, सुधन्वाद्वारा तीनों बाणोंका काटा जाना और तीसरे बाणके आधे भागसे सुधन्वाकी मृत्यु

जैमिनिरुवाच

जगर्ज च सुधन्वा तं सप्तत्या सात्यकिं प्रभुम्।
नाराचानां निर्बिभेद तस्मिन् युद्धे जनाधिप ॥ १ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनेश्वर ! उस युद्धमें सुधन्वा सामर्थ्यशाली सात्यकिको सत्तर बाणोंसे घायल करके सिंहनाद करने लगा ॥ १ ॥

सात्यकिः पञ्चसप्तत्या भल्लानां स्यन्दनं हयान्।
सूतं ध्वजं तथा छत्रं त्रिवेणुं तल्पमेव च ॥ २ ॥
नीडं चक्रे पार्श्वधारं चिच्छेदाशु सुधन्वनः।
सुधन्वा सात्यकिं क्रुद्धश्चकार विरथं हसन् ॥ ३ ॥

तब सात्यकिने भी शीघ्र ही भल्ल नामक पचहत्तर बाण मारकर सुधन्वाके रथ, घोड़े, सारथि, ध्वज, छत्र, त्रिवेणु, तल्प, बैठक, दोनों पहिये तथा पार्श्वधारको काट डाला। फिर सुधन्वाने भी कुपित होकर सात्यकिको हँसते हुए रथहीन कर दिया ॥ २-३ ॥

उभौ स्यन्दनमारुह्य पुनरेव व्यवस्थितौ।
अम्बरं बाणसाहस्रैश्छादयामासतू रणे ॥ ४ ॥

तत्पश्चात् वे दोनों वीर पुनः दूसरे रथपर सवार होकर युद्धस्थलमें डट गये और सहस्रों बाणोंकी वर्षा करके आकाशको आच्छादित करने लगे ॥ ४ ॥

उभौ शरविशीर्णाङ्गौ रुधिरौघप्रवर्षिणौ।
किंशुकाविव राजेते वसन्ते पुष्पितौ नृप ॥ ५ ॥

राजन् ! उन दोनों वीरोंके शरीर बाणोंसे छिन्न-भिन्न हो गये और रक्तकी धारा बहाने लगे। उस समय वे वसंत-ऋतुमें खिले हुए दो पलाश-वृक्षोंकी भाँति सुशोभित हो रहे थे ॥ ५ ॥

शक्तिं मुमोच कुपितः सात्यकिं परिपीडयन्।
युयुधानः शक्तिघातात् कश्मलं प्रत्यपद्यत ॥ ६ ॥

फिर सुधन्वाने क्रुद्ध होकर सात्यकिको भलीभाँति पीडित करते हुए उनपर एक शक्ति छोड़ी। उस शक्तिके आघातसे सात्यकिको मूर्च्छा आ गयी ॥ ६ ॥

शैनेयं मूर्च्छितं वीक्ष्य हाहाकारो महानभूत्।
भयावृतं बलं सर्वमपोवाह तथाऽऽकुलम् ॥ ७ ॥

उन शिनि-नप्ता सात्यकिको मूर्च्छित देख वहाँ महान् हाहाकार मच गया। सारी सेना भयभीत हो गयी और घबराकर भागने लगी ॥ ७ ॥

ततः पार्थो महाबाहुः सुधन्वानं समागतम्।
तिष्ठ तिष्ठेति बहुधा कुतो यासीत्यवोचत ॥ ८ ॥

तदनन्तर महाबाहु अर्जुन सम्मुख आये हुए सुधन्वासे 'खड़ा रह, खड़ा रह, कहाँ जा रहा है ?' यों बारंबार कहने लगे ॥ ८ ॥

अर्जुन उवाच

जिता मदीया बहवस्त्वया युद्धे महाबल।
बलं तवाधिकं वीर शक्रस्येव महात्मनः ॥ ९ ॥
मया युद्धानि हि पुरा कृतानि सुबहून्यपि।
द्रोणभीष्मकृपैः सार्धं कर्णेन च महात्मना ॥ १० ॥
कालखञ्जैश्च बहुभिः शङ्करेणासुरैः सह।
तथा न विस्मयो जातो यथा त्वां वीक्ष्य जायते ॥ ११ ॥

अर्जुन बोले—महाबली वीर ! तुमने संग्राममें मेरे बहुत-से वीरोंको पराजित कर दिया है, इससे प्रतीत होता है कि महात्मा इन्द्रकी भाँति तुममें बहुत अधिक बल है; क्योंकि पहले मुझे गुरु द्रोणाचार्य, पितामह भीष्म, कुलगुरु कृपाचार्य और महामनस्वी कर्णके साथ तथा कालखंज आदि बहुत-से असुरों एवं स्वयं भगवान् शंकरके साथ भी बहुत बार युद्ध करनेका अवसर प्राप्त हुआ है; परंतु ऐसा विस्मय मुझे उस समय नहीं हुआ था, जैसा इस समय तुम्हारे युद्धको देखकर हो रहा है ॥ ९–११ ॥

सुधन्वोवाच

युद्धानि यानि संग्रामे त्वया पार्थ कृतानि हि।
तत्र ते सारथिः कृष्णो हितकर्ता यतः स्थितः ॥ १२ ॥
कृष्णहीनोऽसि संग्रामे तेन ते विस्मयोऽभवत्।
त्वया त्यक्तो यदि हरिः कथं त्वं हरिणाधुना ॥ १३ ॥
संत्यक्तोऽसि महायुद्धे युद्ध एव ममैव तु।
युद्धं मया समं पार्थ कर्तुं शक्तोऽसि किं न वा ॥ १४ ॥

सुधन्वाने कहा—पार्थ ! आपने पहले संग्रामभूमिमें जो लड़ाइयाँ लड़ी हैं और उनमें जो विजय प्राप्त की है, उसका कारण यह है कि उन युद्धोंमें आपके परम हितकारी भगवान् श्रीकृष्ण रथपर बैठे हुए सारथिका काम करते थे; परंतु आजके

युद्धमें आप श्रीकृष्णविहीन हैं, इसीसे आपको आश्चर्य हो रहा है। महाबुद्धे ! इस समय आपने श्रीकृष्णको त्याग कैसे दिया है ? कहीं श्रीकृष्णने तो मेरे साथ युद्ध करनेमें आपको नहीं छोड़ दिया ? कुन्तीनन्दन ! बतलाइये, आप मेरे साथ युद्ध करनेमें समर्थ हैं या नहीं ? ॥ १२–१४ ॥

तुरङ्गं तव यूपेऽद्य संनिबद्धय यथोचितम्।
हंसध्वजो नृपश्रेष्ठो वाजिमेधं करिष्यति ॥ १५ ॥

आज नृपश्रेष्ठ हंसध्वज आपके घोड़ेको यज्ञस्तम्भसे बाँधकर यथोचित रीतिसे अश्वमेधयज्ञका अनुष्ठान करेंगे ॥ १५ ॥

अद्य पश्यन्तु ते देवाः संग्रामं किल मामकम्।
संगरे त्वां विजेष्यामि सकृष्णमपि चार्जुन ॥ १६ ॥

अब देवतालोग आपके साथ होनेवाले मेरे संग्रामको देखें। अर्जुन ! श्रीकृष्णके साथ रहनेपर भी मैं आपको युद्धमें परास्त कर दूँगा ॥ १६ ॥

जैमिनिरुवाच

ततः पार्थो बाणशतं संदधे कोपपूरितः।
सुधन्वा ताञ्छरान् दिव्यांश्चिच्छेद प्रहसन्निव ॥ १७ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर अर्जुनने कुपित हो एक साथ सौ बाणोंका संधान किया और उन्हें सुधन्वापर छोड़ दिया। सुधन्वाने हँसते हुए-से बात-की-बातमें उन सारे दिव्य बाणोंको काट डाला ॥ १७ ॥

दशभिस्ताडयामास शरैः कुन्तीसुतं हसन्।
शतेन च सहस्रेणायुतेन प्रयुतेन च ॥ १८ ॥
बाणानां छादयामास रणे क्रुद्धं धनंजयम्।

फिर मुसकराते हुए दस बाणोंद्वारा कुन्तीनन्दन अर्जुनपर चोट की। तत्पश्चात् युद्धस्थलमें कुपित हुए अर्जुनको सौ, हजार, दस हजार एवं एक लाख बाणोंकी वर्षा करके ढक दिया ॥ १८½ ॥

अर्जुनोऽपि शरांस्तस्य चिच्छेद तिलशस्तदा ॥ १९ ॥
आग्नेयास्त्रं मुमोचाथ सृक्किणी परिलेलिहन्।
सुधन्वनेऽतिकुपितो बाणवृष्टिं ससर्ज ह ॥ २० ॥

तब अर्जुनने भी उसके बाणोंको तिल-तिल करके काट डाला और सुधन्वापर अत्यन्त क्रुद्ध होकर जीभसे मुँहके दोनों कोनोंको चाटते हुए आग्नेयास्त्रका प्रयोग करके बाणोंकी झड़ी लगा दी ॥ १९-२० ॥

खे न गच्छन्ति खचराः पार्थसायकभेदिताः।
बाणान्धकारे पतितं जगत्त्रयमभूत् तदा ॥ २१ ॥
सैन्यं सुधन्वनो दग्धं पावकास्त्रेण भूतले।

उस समय अर्जुनके बाणोंसे घायल होनेके कारण पक्षियोंका आकाशमें उड़ना बंद हो गया। सारी त्रिलोकी बाण-वर्षासे उत्पन्न हुए अन्धकारसे व्याप्त हो गयी। उस आग्नेयास्त्रसे पृथ्वीपर सुधन्वाकी सेना भस्म होने लगी ॥ २१½ ॥

ज्वालाकुलं वीक्ष्य वह्निं दाहयन्तं निजं बलम् ॥ २२ ॥
सुधन्वा वारुणास्त्रं च जग्राहाग्निनिवारणम्।
संजाता महती वृष्टिस्तेन मुक्तात् स्वकार्मुकात् ॥ २३ ॥

तब सुधन्वाने बड़ी-बड़ी लपटोंसे व्याप्त अग्निको अपनी सेनाको जलाते हुए देखकर उस अग्निके निवारणके लिये वारुणास्त्रको अपने हाथमें लिया और उसे अपने धनुषपर संधान करके छोड़ दिया। फिर तो उस वारुणास्त्रसे बड़ी भारी वर्षा होने लगी ॥ २२-२३ ॥

जलदैर्भूतलं व्याप्तं गगने विद्युतः स्थिताः।
निमग्नं पाण्डवबलं शिलावृष्टिभिराहतम् ॥ २४ ॥
बभ्राम संयुगे चाथ शीतेनाथ विमोहितम्।
चातकानां मयूराणामानन्दः सुमहानभूत् ॥ २५ ॥

पृथ्वीपर बादल झुक आये। आकाशमें बिजलियाँ कौंधने लगीं। ओलोंकी वर्षासे आहत हुई अर्जुनकी सेना जलमग्न एवं शीतसे विमोहित होकर युद्धक्षेत्रमें चक्कर काटने लगी। उस समय चातकों और मयूरोंको महान् आनन्द प्राप्त हुआ ॥

वादित्राणि च नष्टानि चर्मनद्धानि भूतले।
सुवर्णचम्पकाभेषु लग्नानि सुमृदून्यपि ॥ २६ ॥
वीराङ्गेषु न दृश्यन्ते वस्त्राणि विविधानि च।
चामराणि च वर्माणि गजकुम्भस्थलानि च ॥ २७ ॥
शोभाहीनानि जातानि जलपातेन संगरे।
बाणाः पक्षविहीनास्ते न भिन्दन्ति रणे परान् ॥ २८ ॥
अतिवृष्ट्या न पश्यन्ति स्वं परं पुरुषा हि ते।

उस युद्धस्थलमें चमड़ेसे मँढ़े हुए नगाड़े आदि बाजे नष्ट (बेकार) हो गये। वीरोंके सुवर्ण और चम्पाकी आभाके समान सुन्दर शरीरोंमें सटे हुए अनेक प्रकारके अत्यन्त कोमल वस्त्र (भीग जानेके कारण) दिखायी नहीं देते थे तथा चामर, कवच और (पत्रभंगीसे सुशोभित) गजराजोंके कुम्भस्थल जलके गिरनेसे शोभाहीन हो गये। बाणोंके पाँख गलकर गिर गये, जिससे वे युद्धके अवसरपर शत्रुओंका भेदन नहीं कर पाते थे। अतिवृष्टिके कारण वे सभी सैनिक अपना-पराया नहीं समझ पाते थे ॥ २६–२८½ ॥

ततोऽर्जुनो महावीरो वायव्यास्त्रं समाददे ॥ २९ ॥
वायुना जलदा भिन्ना ध्वजाश्च परिपातिताः ।
भ्रामिता वारणा घोडा नरा दासेरकाः खराः ॥ ३० ॥

तब महावीर अर्जुनने वायव्यास्त्रका प्रयोग किया । उससे उठी हुई प्रचण्ड वायुके झोंकोंसे बादल तितर-बितर हो गये; रथोंके ध्वज टूट-टूटकर पृथ्वीपर गिर पड़े और हाथी, घोड़े, ऊँट, गधे तथा मनुष्य सभी चक्कर काटने लगे ॥

एतस्मिन्नन्तरे वीरः सुधन्वा पार्थकार्मुकम् ।
अर्धचन्द्रेण चिच्छेद ज्यां हि सूतं त्रिभिः शरैः॥ ३१ ॥

इसी बीच वीरवर सुधन्वाने एक अर्धचन्द्राकार बाणसे अर्जुनके धनुष तथा तीन बाणोंद्वारा प्रत्यञ्चा और सारथिको भी काट गिराया ॥ ३१ ॥

शरहीनं पाण्डवं च चक्रे वीरोऽतिकोपितः ।
उवाच पार्थं भगवान् सारथिस्ते न विद्यते ॥ ३२ ॥
शरैः क्षतोऽसि पार्थ त्वं पौरुषं क्व गतं च ते ।
सर्वज्ञं सारथिं त्यक्त्वा प्राकृतः सारथिः कृतः ॥ ३३ ॥
स्मर स्वसूतं कृष्णाख्यं ममाग्रे पतितो ह्यसि ।

फिर अत्यन्त क्रुद्ध होकर उस वीरने अर्जुनको बाण-विहीन कर दिया और उनसे कहा—'पार्थ ! इस समय आपके सारथि भगवान् श्रीकृष्ण विद्यमान नहीं हैं । आप मेरे बाणोंसे घायल हो गये हैं । आज आपका पुरुषार्थ कहाँ चला गया ? वीरवर ! आपने अपने सर्वज्ञ सारथिको छोड़कर बदलेमें साधारण सारथिकी नियुक्ति कर ली है । आप मेरे सामने युद्धमें गिर पड़े हैं, अतः शीघ्र अपने श्रीकृष्ण नामक सारथिका स्मरण कीजिये' ॥ ३२-३३½ ॥

जैमिनिरुवाच

अर्जुनोऽपि तु जग्राह तुरगान् स्वान् महाहवे ॥ ३४॥
वामहस्तेन धनुषा समं च युयुधे पुनः ।
यावत् स्मरति गोविन्दं तावद् दृष्टो रथे हरिः ॥ ३५ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! अर्जुनने भी बायें हाथसे धनुषसहित अपने घोड़ोंकी बागडोर पकड़कर उस महासमरमें पुनः युद्ध करना आरम्भ किया और मन-ही-मन ज्यों ही भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण किया त्यों ही उन श्रीहरिको अपने रथपर बैठे हुए देखा ॥ ३४-३५ ॥

मुञ्च चाश्वानर्जुनेति व्याजहार वचो हरिः ।
अथार्जुनो नमस्कृत्य वासुदेवं समागतम् ॥ ३६ ॥
अश्वानां प्रग्रहांस्त्यक्त्वा सावधानेन चेतसा ।
मुमोच सायकान् घोरान् समन्ताच्च सुधन्वने॥ ३७ ॥
वीक्ष्य कृष्णं रथे चास्य सुधन्वा वाक्यमब्रवीत् ।

उस समय जब भगवान् श्रीहरिने 'अर्जुन ! घोड़ोंकी बागडोर छोड़ दो' ऐसी बात कही, तब अर्जुनने उन समागत श्रीकृष्णको प्रणाम किया और फिर वे घोड़ोंकी बागडोर छोड़कर सावधान-चित्तसे सुधन्वाके ऊपर चारों ओर-से भयंकर बाणोंकी वर्षा करने लगे । तब अर्जुनके रथपर श्रीकृष्णको विराजमान देखकर सुधन्वा कहने लगा ॥

सुधन्वोवाच

दृष्टस्त्वमसि गोविन्द पाण्डवार्थे समागतः ॥ ३८ ॥
सर्वगत्वं मया ज्ञातं त्वदीयं किल केशव ।

सुधन्वा बोला—गोविन्द ! अर्जुनके लिये पधारे हुए आपके दर्शन मैंने कर लिये । केशव ! मुझे आपकी सर्व-व्यापकताका अनुभव हो गया ॥ ३८½ ॥

पार्थ सूतं हरिं प्राप्य प्रतिज्ञां कुरु मज्जये ॥ ३९ ॥
अहं तु तोषयिष्यामि पौरुषेण रणे जगत् ।

(भगवान् श्रीकृष्णसे इतना कहकर सुधन्वाने अर्जुनसे कहा—) पार्थ ! अपने सारथि श्रीकृष्णको पाकर अब तो आप मुझपर विजय पानेके लिये कोई प्रतिज्ञा करें । मैं आज युद्धक्षेत्रमें अपने पुरुषार्थसे सारे जगत्को संतुष्ट कर दूँगा ॥

अर्जुन उवाच

त्रिभिः शरैः शिरो रम्यं पातयिष्येऽद्य तावकम्॥ ४० ॥
न पातये यदि पुरः पतन्तु मम पूर्वजाः ।
निरये पुण्यहीनास्ते सत्यं सत्यं न मेऽनृतम् ॥ ४१ ॥
आत्मानं पालय विभो स्वां प्रतिज्ञां वदाधुना।

तब अर्जुनने कहा—विभो ! आज मैं तुम्हारे सुन्दर मस्तकको तीन बाणोंद्वारा काटकर नीचे गिरा दूँगा । यदि श्रीकृष्णके सामने तुम्हारे सिरको न गिरा सकूँ तो मेरे पूर्वज पुण्यहीन होकर नरकमें गिर पड़ें । मेरा यह कथन सर्वथा सत्य है, इसमें तनिक भी मिथ्या नहीं है । अब तुम अपनी रक्षा करो, साथ ही अपनी प्रतिज्ञा भी कह सुनाओ ॥

सुधन्वोवाच

त्वच्छरांश्छेद्मि पुरतस्त्रींस्तत्र हरिसंनिधौ ॥ ४२ ॥
त्रिधाहं न करोम्यद्य गतिं घोरामवाप्नुयाम् ।

सुधन्वा बोला—पार्थ ! मैं श्रीकृष्णके समीप उनके सम्मुख ही आपके तीनों बाणोंको काट डालूँगा । यदि मैं आज उनके तीन टुकड़े न कर दूँ तो मुझे घोर गतिकी प्राप्ति हो ॥

एतावदुक्त्वा वचनं शतेन मधुसूदनम् ॥ ४३ ॥
बाणानां हृदये हर्षाद् बिभेद समरे बली।
रथश्चोत्पाटितो बाणैः सह कृष्णेन मारिष ॥ ४४ ॥
साश्वः सपार्थस्तरसा बभ्राम घटचक्रवत्।

इतनी बात कहकर महाबली सुधन्वाने हर्षपूर्वक रणक्षेत्रमें विराजमान भगवान् श्रीकृष्णके हृदयपर सौ बाण मारकर उसे विदीर्ण कर दिया और रथको भी बाणोंसे उखाड़ डाला। आर्य! उसके अस्त्रकौशलसे श्रीकृष्ण, अर्जुन तथा घोड़ों-सहित वह रथ कुम्हारके चाककी भाँति वेगपूर्वक घूमने लगा॥

धनंजयं च दशभिः समन्ताद् व्यकिरच्छरैः ॥ ४५ ॥
रथः पार्थस्य नीतोऽसौ नल्वमात्रं महीतले।
तत्क्षणात् पश्चिमं भागं हंसध्वजसुतेन हि ॥ ४६ ॥

तदनन्तर हंसध्वज-कुमार सुधन्वाने अर्जुनको दस बाणों-द्वारा चारों ओरसे ढक दिया और उसी क्षण एक दूसरा बाण मारकर अर्जुनके उस रथको पृथ्वीपर चार सौ हाथ पीछे हटा दिया॥ ४५-४६॥

श्रीकृष्ण उवाच

पश्य पाण्डव वीरस्य पौरुषं त्वं सुधन्वनः।
वृथा वधे प्रतिज्ञातं त्रिभिर्बाणैश्च तेऽर्जुन ॥ ४७ ॥

यह देखकर भगवान् श्रीकृष्णने कहा—पाण्डुनन्दन! तुम इस वीर सुधन्वाके बल-पौरुषकी ओर दृष्टिपात करो। अर्जुन! तीन बाणोंद्वारा इसका वध करनेकी प्रतिज्ञा तुमने व्यर्थ ही की॥ ४७॥

असम्मन्त्र्य मया सार्द्धं कृतं यत् साहसं पुनः।
जयद्रथवधे यानि कृच्छ्राणि तव चाभवन् ॥ ४८ ॥
विस्मृतानि कथं पार्थ न जानासि हिताहितम्।

मुझसे बिना ही परामर्श किये ऐसी कठिन प्रतिज्ञा करके तुमने पुनः दुःसाहसका काम किया है। जयद्रथ-वधके अवसर-पर तुम्हें जो-जो कठिनाइयाँ उठानी पड़ी थीं, उन्हें तुम भूल कैसे गये? पार्थ! तुम्हें अपने हित-अहितका कुछ भी ज्ञान नहीं है॥ ४८½॥

रथः पद्भ्यां मया रोषाद् विधृतोऽपि हि नीयते॥ ४९॥
सुधन्वनः शरेणाद्य नल्वमात्रं परां दिशम्।

भला, जिस रथको मैंने क्रोधपूर्वक अपने दोनों पैरोंसे दबा रखा था, उसे भी सुधन्वाके बाणने आज चार सौ हाथ पीछे ढकेल दिया (उसके साथ तुम कैसे जीत सकते हो)॥

एकपत्नीव्रतयुतः सुधन्वातीव दृश्यते ॥ ५० ॥
न त्वया न मया तत् तु व्रतं कर्तुं प्रशक्यते।
महत् कष्टं व्यवसितं युद्धेऽस्मिन् प्रतिभाति मे॥ ५१ ॥

सुधन्वाका एकपत्नीव्रत अत्यन्त सुदृढ़ दीख रहा है। वैसे व्रतका पालन करनेमें तुम और मैं दोनों ही समर्थ नहीं हैं; अतः मुझे तो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि इस युद्धमें निश्चय ही महान् कष्टकी प्राप्ति होगी॥ ५०-५१॥

अर्जुन उवाच

गोविन्द पातयाम्येनं त्रिभिर्बाणैर्न संशयः।
अभविष्यन्महत् कृच्छ्रं न भवेद् यत् त्वदागमः॥ ५२॥

अर्जुनने कहा—गोविन्द! मैं निश्चय ही तीन बाणोंसे सुधन्वाको रणभूमिमें गिरा दूँगा। अब मेरे लिये महाकष्टकी कोई सम्भावना नहीं है; क्योंकि आपका शुभागमन हो गया है॥

जैमिनिरुवाच

शिलीमुखैस्ततः पार्थो व्यावृणोत् स दिशो दश।
सुधन्वा रोषताम्राक्षो विधुन्वन् सशरं धनुः॥ ५३ ॥
उवाच केशवं भूयो यथा गोवर्धनो गिरिः।
गवार्थे विधृतः कृष्ण तथा पालय पाण्डवम् ॥ ५४ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर अर्जुनने बाणोंसे दसों दिशाओंको आच्छादित कर दिया। यह देखकर सुधन्वाके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये। वह अपने बाणसहित धनुषको कँपाता हुआ पुनः भगवान् श्रीकृष्णसे कहने लगा—'श्रीकृष्ण! जिस प्रकार गायोंकी रक्षाके लिये आपने गोवर्धन पर्वतको अपने हाथपर उठा लिया था, उसी तरह आज अर्जुन-की रक्षा कीजिये'॥ ५३-५४॥

ततः पार्थो महाबाहुः संदधे कार्मुके शरम्।
कालानलनिभं रोषान्मुमोचास्मै प्रतापवान् ॥ ५५ ॥
तस्मिञ्छरे च गोविन्दः स्वं पुण्यं समयोजयत्।

तत्पश्चात् महाबाहु प्रतापी अर्जुनने अपने धनुषपर एक कालानलके समान भयंकर बाणका संधान किया और क्रोध-पूर्वक उसे सुधन्वापर छोड़ दिया। उस बाणमें भगवान् गोविन्दने अपना पुण्य जोड़ दिया था॥ ५५½॥

गोवर्धनश्च विधृतो रक्षिता धेनवः पुरा ॥ ५६ ॥
तेन पुण्येन बाणोऽस्य संनद्धस्तत्क्षणात् कृतः।

पहले गोवर्धन पर्वतको उठाकर जो गौओंकी रक्षा की थी, उससे प्राप्त हुए पुण्यसे उन्होंने उसी क्षण अर्जुनके बाण-को संयुक्त कर दिया॥ ५६½॥

दिवि देवाश्च सम्प्राप्तास्तयोर्युद्धदिदृक्षवः ॥ ५७ ॥
कौतुकार्थं च सम्प्राप्तास्तदा ह्यप्सरसां गणाः ।
विमानमधिरूढास्ते दिव्यालंकारभूषिताः ॥ ५८ ॥

उस समय आकाशमें देवतालोग अर्जुन और सुधन्वाका युद्ध देखनेके लिये आ पहुँचे तथा दल-की-दल अप्सराएँ भी वह कौतुक देखनेके लिये वहाँ आ गयीं। वे सब दिव्य अलंकारोंसे विभूषित और विमानोंपर बैठी हुई थीं ॥ ५७-५८ ॥

सुधन्वा संगरे देवं कृष्णं च हितकारकम् ।
ज्ञात्वा प्रोवाच बलवानेतं छेत्स्यामि सायकम्॥ ५९ ॥

संग्राममें भगवान् श्रीकृष्णको अर्जुनका हितकारक जानकर महाबली सुधन्वाने कहा—'मैं इस बाणको काट डालूँगा ॥

बहुपुण्येन संयुक्तं पातये न शरं यदि ।
सुकृतं मे वृथा यातु भुक्तं राक्षसदस्युभिः ॥ ६० ॥

'यदि बहुत-से पुण्योंसे संयुक्त इस बाणको काटकर गिरा न दूँ तो मेरा सारा पुण्य व्यर्थ हो जाय और उसका उपभोग राक्षस तथा चोर-डाकू करें ॥ ६० ॥

विज्ञापितोऽसि गोविन्द पश्य पुण्यं मया कृतम्।
अर्धचन्द्रं मुमोचाथ पार्थसायकमागतम् ॥ ६१ ॥
तेन चिच्छेद तरसा स च्छिन्नः सायकोऽपतत्।

'गोविन्द ! मैंने आपको भलीभाँति जान लिया है। अब आप मेरेद्वारा उपार्जित पुण्य देखिये।' यों कहकर सुधन्वाने अपनी ओर आते हुए अर्जुनके बाणको लक्ष्य करके एक अर्धचन्द्राकार बाण चलाया और उस बाणसे वेगपूर्वक अर्जुनके बाणको काट डाला। वह बाण खण्ड-खण्ड होकर भूतलपर गिर पड़ा ॥ ६१½ ॥

विस्मिता देवताः सर्वास्त्रैलोक्यमपि विस्मितम्॥ ६२ ॥
शीघ्रसंधानसंयुक्तं सुधन्वानं निरीक्ष्य तम् ।

इस प्रकार उस सुधन्वाके बाण चलानेकी फुर्तीको देखकर समस्त देवता तथा सारी त्रिलोकी आश्चर्यचकित हो गयी॥

द्वितीयं सायकं पार्थो यावद् योजयते पुनः ॥ ६३ ॥
तावत् कृष्णेन स शरः श्रेयसा बहुलेन च ।
संनद्धः क्षितिदानेन पाण्डवं प्रतिरक्षता ॥ ६४ ॥

पुनः जब अर्जुन दूसरा बाण संधान करनेके लिये उद्यत हुए, तब अर्जुनकी सर्वथा रक्षा करनेवाले श्रीकृष्णने उस बाणको पृथ्वीदान तथा अन्य बहुत-से पुण्योंसे संयुक्त कर दिया ॥

सुधन्वोवाच

अर्जुनार्थं स्वकं पुण्यं यदि गोविन्द योजितम् ।
सायकेऽस्मिन् समक्षं ते पातयेऽर्जुनसायकम् ॥ ६५ ॥

सुधन्वाने कहा—गोविन्द ! यद्यपि आपने अर्जुनकी रक्षाके लिये इस बाणमें अपना पुण्य लगा दिया है तो भी मैं आपके सामने अर्जुनके इस बाणको काटकर गिरा दूँगा ॥

प्रतिज्ञां शृणु वीराद्य धनंजय महाबल ।
द्विधा शरं कारये न वसिष्ठोऽरुन्धतीयुतः ॥ ६६ ॥
मया हतोऽद्य भवतु रक्ष बाणं स्वपौरुषात् ।

महाबली वीर अर्जुन ! अब मेरी प्रतिज्ञा सुनिये। यदि मैं आपके बाणके दो टुकड़े न कर दूँ तो आज मुझे अरुन्धतीसहित महर्षि वसिष्ठकी हत्याका पाप लगे। अब आप अपना पुरुषार्थ प्रकट करके बाणको बचाइये ॥ ६६½ ॥

धन्योऽसि पार्थ वीरस्त्वं यन्निमित्तं स्वकं हरिः ॥ ६७ ॥
पुण्यं ददातीह रणे नूनं श्रेयस्तवाधिकम् ।

पार्थ ! आप महान् वीर एवं धन्यवादके योग्य हैं, जो आपके लिये इस युद्धमें भगवान् श्रीहरि स्वयं अपना पुण्य प्रदान कर रहे हैं। अवश्य ही आपका श्रेय अधिक है ॥ ६७½ ॥

ततो मुमोच बाणं स सूर्यमण्डलसंनिभम् ॥ ६८ ॥
पाण्डवः क्रोधनयनो यथा स्वं कृपणो धनम् ।

तदनन्तर जैसे कृपण अपने धनका बड़ी कठिनतासे व्यय करता है, उसी तरह क्रोधसे पूर्ण नेत्रवाले अर्जुनने अपने सूर्यमण्डलके समान प्रज्वलित बाणको सुधन्वापर छोड़ दिया ॥

ब्रुवन्ति गगने देवा मानवा धरणीं गताः ॥ ६९ ॥
किं भविष्यति को जेता उभयोर्वीरयोरिह ।
बाणात् समुत्थितो वह्निर्गगने सायको गतः ॥ ७० ॥
अर्जुनस्य करान्मुक्तः प्रलयं किं करिष्यति ।

तब आकाशमें स्थित देवता और भूतलपर खड़े हुए मनुष्य कहने लगे—'क्या होनेवाला है ? इस युद्धमें इन दोनों वीरोंमें कौन विजयी होगा ? बाणसे अग्निकी ज्वाला प्रकट होने लगी और वह बाण आकाशमें चला गया। क्या अर्जुनके हाथसे छूटा हुआ बाण प्रलय ही मचा देगा' ॥ ६९-७०½ ॥

ततो महाबलो वीरः सुधन्वा चातिपौरुषात् ॥ ७१ ॥
द्वितीयं पार्थबाणं तं मध्ये चिच्छेद सत्वरः ।
शङ्खं दध्मौ स्वकं सैन्यं हर्षयन् पितरं बलात् ॥ ७२ ॥

तत्पश्चात् महाबली वीर सुधन्वाने अपने प्रबल पुरुषार्थसे शीघ्र ही अर्जुनके उस दूसरे बाणको भी बीचसे काट डाला

और अपनी सेना तथा पिताको हर्षित करते हुए बलपूर्वक अपना शङ्ख बजाया ॥ ७१-७२ ॥

चकम्पे वसुधा देवी बाणे छिन्ने विशाम्पते ।
ततः कृष्णोऽर्जुनं प्राह मा शरं योजयार्जुन ॥ ७३ ॥
पाञ्चजन्यं पूरयिष्ये देवदत्तं धमस्व च ।
त्वं मया सहितो वीरमेनं पश्यातिपौरुषम् ॥ ७४ ॥
जीवितं तद् भवेद् धन्यं नृणां कीर्तिसमन्वितम् ।
प्रतिज्ञां स्वमुखात् सत्यां कर्तॄणां स्वर्गकाङ्क्षिणाम् ॥७५॥

प्रजानाथ ! इस दूसरे बाणके भी कट जानेपर पृथ्वी देवी काँप उठीं । तब श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—'अर्जुन ! तुम अभी बाणका संधान मत करो । अब मैं अपना पाञ्चजन्य शङ्ख बजाऊँगा और तुम अपना देवदत्त नामक शङ्ख बजाओ । फिर मेरे साथ इस वीर सुधन्वाको देखो; यह कैसा प्रबल पुरुषार्थी है । अपने मुखसे की हुई प्रतिज्ञाको पूर्ण करनेवाले स्वर्गाभिलाषी मनुष्योंका जो सुन्दर कीर्तियुक्त जीवन है, वही प्रशंसनीय होता है ॥ ७३–७५ ॥

मयायं पात्यमानस्तु दत्त्वा पुण्यं पुरातनम् ।
त्वया वीरेण च तथा पतनं नास्य जायते ॥ ७६ ॥

'मैंने अपना पुरातन पुण्य प्रदान करके इसे रणभूमिमें गिरानेका प्रयत्न किया है, तो भी तुम-जैसे वीरके द्वारा भी इसका पतन नहीं हो रहा है' ॥ ७६ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं वादयामास वै हरिः ।
पाञ्चजन्यं देवदत्तमर्जुनोऽपि महाबलः ॥ ७७ ॥

इतनी बात कहकर भगवान् श्रीकृष्णने पाञ्चजन्यको तथा महाबली अर्जुनने भी देवदत्त नामक शङ्खको बजाया ॥ ७७ ॥

स पाञ्चजन्योऽच्युतवक्त्रवायुना
जगत् सपातालवियद्दिगीश्वरम् ।
भृशं स पूर्णोदरनिःसृतध्वनिः
सुकम्पयामास युगात्यये यथा ॥ ७८ ॥

उस समय भगवान् श्रीकृष्णके मुखकी वायुसे उदरके भलीभाँति परिपूर्ण हो जानेसे निकलती हुई ध्वनिवाले उस पाञ्चजन्यने अपने शब्दसे युगान्तकालके समान आकाश, पाताल तथा दिक्पालोंसहित सम्पूर्ण जगत्को कम्पित कर दिया ॥

पूरयित्वा पुनः प्राह कृष्णः कमललोचनः ।
गृहाण सायकं हस्ते शीघ्रं पार्थ ममाज्ञया ॥ ७९ ॥

इस प्रकार शङ्खका शब्द करके कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने पुनः अर्जुनसे कहा—'पार्थ ! अब मेरी आज्ञासे तुम शीघ्र ही बाण अपने हाथमें ले लो' ॥ ७९ ॥

जैमिनिरुवाच

गृहीतः सायको हस्ते पाण्डवेन महात्मना ।
वासुदेवस्तु तं बाणं सुदृढं देवसंयुतम् ॥ ८० ॥
ब्रह्माणं पश्चिमे भागे योजयित्वा शरस्य हि ।
मध्ये कालं फले तस्थौ स्वयमेव जनार्दनः ॥ ८१ ॥
पुण्यं रामावतारे यत् कृतं तत् सायकेऽर्पितम् ।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तब महामनस्वी अर्जुनने तीसरे बाणको हाथमें उठा लिया । उस समय वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण उस बाणको देवबलसे संयुक्त करके सुदृढ़ करने लगे । उन्होंने रामावतारके समय जो कुछ पुण्योपार्जन किया था, वह सब-का-सब बाणके अर्पण कर दिया । फिर उस बाणके पिछले भागमें ब्रह्माजी तथा बीचमें कालको जोड़कर नोकमें स्वयं जनार्दन ही स्थित हो गये ॥ ८०-८१½ ॥

ततो हाहाकृतं सर्वं यदा पार्थेन संधितः ।
स शरस्तादृशो राजन् सुधन्वा वाक्यमब्रवीत् ॥ ८२ ॥

राजन् ! तदनन्तर जब अर्जुनने उस देवबलसम्पन्न बाणका संधान किया, तब सर्वत्र हाहाकार मच गया । यह देखकर सुधन्वा कहने लगा ॥ ८२ ॥

सुधन्वोवाच

जानामि गोविन्द कृतं त्वदीयं
रणेऽर्जुनार्थे सहसा वधे मे ।
शरस्थितं विश्वतनुं भवन्तं
पार्थ प्रतिज्ञां कुरु संस्मराद्य ॥ ८३ ॥

सुधन्वा बोला—गोविन्द ! मैं आपकी करतूतको जान गया हूँ तथा युद्धस्थलमें मेरे वधके लिये अर्जुनकी सहायताके उद्देश्यसे विश्वस्वरूप आप जो सहसा इस बाणपर स्थित हो गये हैं, इसका भी मुझे पता लग गया है । अच्छा पार्थ ! अब आप श्रीकृष्णका स्मरण करके कुछ प्रतिज्ञा कीजिये ॥ ८३ ॥

अर्जुन उवाच

अनेन बाणेन न पातयामि
शिरस्त्वदीयं सकिरीटमद्य ।
विभेदनाद् विष्णुगिरीशयोर्यत्
पापं समग्रं मम चास्तु वीर ॥ ८४ ॥

तब अर्जुनने कहा—वीर ! यदि आज मैं इस बाणके

द्वारा तुम्हारे मुकुटसहित मस्तकको न गिरा दूँ तो विष्णु और शिवमें भेदभाव रखनेसे जो पाप होता है, वह सारा पाप मुझे लगे ॥ ८४ ॥

सुधन्वोवाच

रात्रौ शिवस्यापि गतश्च काशीं
पूजां हरत्यङ्घ्रितलेन पापः ।
स्नातश्च तीर्थे मणिकर्णिकायां
यः कोऽपि सोऽहं न भिदे शरं चेत् ॥८५॥

सुधन्वा बोला—पार्थ ! यदि मैं आपके इस बाणको काट न दूँ तो जो कोई भी काशी जाकर वहाँ मणिकर्णिका तीर्थमें स्नान करके रात्रिके समय शिवजीकी पूजाको पैरोंसे ठुकराता है, उस पापीको जो पाप लगता है, वही मुझे भी लगे ॥ ८५ ॥

जैमिनिरुवाच

ततोऽर्जुनः संदधे सायकं तं
सुदीपितं वह्निशिखा वमन्तम् ।
निस्सारयन्तं गगनेऽप्सरोगणान्
देवान् भयान्मानवतां नयन्तम् ॥ ८६ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर अर्जुनने उस अत्यन्त प्रकाशमान बाणका संधान किया, जो अग्निकी लपटें उगल रहा था, जिससे भयभीत होकर आकाशमें स्थित अप्सराओंके दल भाग खड़े हुए और भयके कारण देवता भी मानव-भावको प्राप्त हो गये ॥ ८६ ॥

वादित्राणि च सर्वाणि विनष्टानि शरस्वनात् ।
भ्रान्तं महीतलं बाणात् सुधन्वा न व्यमोहत ॥ ८७ ॥

उस बाणके भयंकर शब्दसे (विदीर्ण हो) सभी बाजे नष्ट हो गये । सारा भूमण्डल भ्रान्त हो गया; परंतु सुधन्वा मोहित नहीं हुआ ॥ ८७ ॥

उवाच पार्थं कुपितस्त्वन्निमित्तं महाहवे ।
सर्वे सुराः प्ररक्षन्तु बाणं मत्तो हरादयः ॥ ८८ ॥
एष च्छेद्मि न संदेहो हा हतोऽस्मि धनंजय ।
लज्जां हंसध्वजो राजा प्राप्नोति जननी च सा ॥ ८९ ॥
भार्या च मे विशालाक्षी कुत्स्यते सा प्रभावती ।

वह क्रुद्ध होकर अर्जुनसे कहने लगा—'पार्थ ! यदि इस महायुद्धमें आपके निमित्त शिव आदि समस्त देवता मुझसे इस बाणकी रक्षा करें तो भी मैं इसे अभी काट गिराऊँगा, इसमें संशय नहीं है । धनंजय ! हाय ! यदि मैं (इसे काट दिये बिना ही) मर जाऊँ तो राजा हंसध्वजको लज्जित होना पड़ेगा और मेरी माता भी बहुत दुखी होगी तथा विशाल-नयनी मेरी वह भार्या प्रभावती भी मेरी निन्दा करेगी ॥

नृसिंहं त्वामहं वेद्मि पार्थस्य रथसारथिम् ॥ ९० ॥
न परित्यज्य गन्तव्यमस्मिन् काले जनार्दन ।
तिष्ठ गोविन्द युध्यस्व त्वं पार्थ कुरु पौरुषम् ॥ ९१ ॥

'जनार्दन ! अर्जुनके रथपर सारथिरूपमें विराजमान आपको मैं नृसिंह ही समझ रहा हूँ । इस समय आपको युद्धस्थलका परित्याग करके हटना नहीं चाहिये । गोविन्द ! ठहरिये और युद्ध कीजिये । पार्थ ! आप भी अपना पुरुषार्थ प्रकट कीजिये' ॥ ९०-९१ ॥

एतावदुक्त्वा कृष्णं तु जप्त्वा चिच्छेद सायकम् ।
पपात सायकस्यार्धं मध्ये छिन्नं सुधन्वना ॥ ९२ ॥

इतना कहकर सुधन्वाने भगवान् श्रीकृष्णका नामोच्चारण करके अर्जुनके उस बाणको काट दिया । सुधन्वाद्वारा बीचसे कटे हुए उस बाणका आधा भाग पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ९२ ॥

हाहाकारो महानासीच्छिन्ने बाणे तथाविधे ।
स्वबाहुं ताडयामास सुधन्वा रणमध्यगः ॥ ९३ ॥

ऐसे प्रभावशाली बाणके कट जानेपर वहाँ महान् हाहाकार मच गया और सुधन्वा युद्धस्थलके मध्यमें खड़ा होकर अपनी भुजाओंपर ताल ठोंकने लगा ॥ ९३ ॥

चन्द्रमण्डलमेवाथ चकम्पे बाणनाशनात् ।
सजलः पूर्वजश्चन्द्रो निर्जलत्वं किरीटिनः ॥ ९४ ॥
प्राप्तवाञ्छरभङ्गेन तदद्भुतमिवाभवत् ।

उस बाणके नष्ट हो जानेसे चन्द्रमण्डल भी कम्पित हो उठा । चन्द्रवंशी अर्जुनके पूर्वज चन्द्रमा सजल होते हुए भी शरभंगके कारण निर्जल हो गये । यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ ९४½ ॥

अर्धं बाणस्य शीर्षं तद् रम्यं ज्वलितकुण्डलम् ।
सुधन्वनोऽपि चिच्छेद निधानं पौरुषस्य हि ॥ ९५ ॥

फिर उस बाणके आधे भागने उछलकर सुधन्वाके उस सुन्दर मस्तकको भी काट गिराया, जो दमकते हुए कुण्डलोंसे सुशोभित तथा पुरुषार्थका भंडार था ॥ ९५ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वण्येकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

विंशोऽध्यायः

सुधन्वाके मुखसे निकली हुई ज्योतिका भगवान् श्रीकृष्णमें प्रवेश, श्रीकृष्णद्वारा सुधन्वाके सिरका राजा हंसध्वजके रथपर फेंका जाना, पुत्रके सिरको उठाकर हंसध्वजका विलाप करना, सुरथ और हंसध्वजकी बातचीत, हंसध्वजका सुधन्वाके सिरको श्रीकृष्णके पास वापस फेंकना, श्रीकृष्णका उसे आकाशमें उछाल देना और उसका अन्तर्धान होकर शिवजीकी मुण्डमालामें स्थान पाना, सुरथका युद्धके लिये प्रस्थान और अद्भुत पराक्रम करते हुए श्रीकृष्ण और अर्जुनके पास पहुँचकर अर्जुनके साथ युद्ध करना और अर्जुनद्वारा मारा जाना

जैमिनिरुवाच

तच्छिन्नं त्वरितं प्राप्तं शिरः कृष्णपदाम्बुजम्।
जपत् केशव रामेति नृसिंहेति मुदा युतम्॥ १॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! सुधन्वाका वह कटा हुआ सिर आनन्दके साथ 'केशव, राम, नृसिंह' आदि भगवन्नामोंका उच्चारण करता हुआ तुरंत ही श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें गिर पड़ा॥ १॥

अतिवेगेन बभ्राम कबन्धः समराजिरे।
करप्राप्तान् हयान् नागान् रथांश्चिक्षेप वेगवान्॥ २॥
पार्थसैन्यं हतं भूरि कबन्धेन सुधन्वनः।

उधर उसका मस्तकरहित धड़ उस समराङ्गणमें बड़े वेगसे चक्कर काटने लगा और हाथमें आये हुए घोड़ों, हाथियों और रथोंको पकड़कर वेगपूर्वक पटकने लगा। इस प्रकार सुधन्वाके उस कबन्धने अर्जुनकी बहुत-सी सेनाका संहार कर डाला॥ २½॥

गृहीतं तच्छिरो रम्यं केशवेन पदे स्थितम्॥ ३॥
उभाभ्यामपि हस्ताभ्यां सुमुखं पश्यता तदा।

तत्पश्चात् भगवान् केशवने अपने चरणोंमें पड़े हुए सुधन्वाके सुन्दर मुखवाले सिरको देखते हुए उसे अपने दोनों हाथोंसे उठा लिया॥ ३½॥

मुखाद् विनिर्गतं तेजः प्रविष्टं केशवानने॥ ४॥
सुधन्वनोऽतिसत्त्वस्य कृष्णो जानाति नेतरः।

इतनेमें ही अत्यन्त शक्तिशाली सुधन्वाके मुखसे एक ज्योति निकली और तुरंत ही श्रीकृष्णके मुखमें समा गयी। इस घटनाको श्रीकृष्णके अतिरिक्त अन्य कोई न जान सका॥ ४½॥

ततः स केशवस्तूर्णं चिक्षेप स्वकराद रथे॥ ५॥
हंसध्वजस्य तच्छीर्षं रम्यं ज्वलितकुण्डलम्।

तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णने सुधन्वाके उस प्रकाशयुक्त कुण्डलोंवाले सुन्दर मस्तकको शीघ्र ही अपने हाथसे राजा हंसध्वजके रथपर फेंक दिया॥ ५½॥

हंसध्वजोऽपि जग्राह पतितं पुत्रकं रणे॥ ६॥
गृहीत्वा सुमुखं वीक्ष्य वचनं चेदमब्रवीत्।

तब राजा हंसध्वजने भी अपने रथपर गिरे हुए पुत्रके सिरको उठा लिया और उसे हाथमें लेकर वे उसके सुन्दर मुखको निहारते हुए यों कहने लगे॥ ६½॥

हंसध्वज उवाच

सुधन्वन् किं कृतं पुत्र कथं तात न भाषसे॥ ७॥
पिताहं ते न मां वेत्सि रुष्टोऽसि किमु सुव्रत।
कटाहे तप्ततैले त्वं मया क्षिप्तोऽसि पुत्रक॥ ८॥
पुत्रस्नेहं परित्यज्य दण्डेन परिपीडितः।
प्रतिज्ञा सफला युद्धे कृता कृष्णौ च तोषितौ॥ ९॥
प्रभावतीमनसिजः शमितो धीमता त्वया।

हंसध्वज बोले—बेटा सुधन्वा! तूने यह क्या कर डाला? तात! तू बोलता क्यों नहीं है? सुव्रत! मैं तेरा पिता हूँ, क्या तू मुझे पहचानता नहीं है? अथवा बेटा! मैंने पुत्रस्नेहको तिलाञ्जलि दे जो तुझे दण्ड देकर कष्ट पहुँचाया और उबलते हुए तैलके कड़ाहेमें डलवा दिया, इससे तू रूठ तो नहीं गया है? पुत्र! तूने अपनी प्रतिज्ञा तो पूर्ण कर ली, जो युद्धमें श्रीकृष्ण और अर्जुनको संतुष्ट कर दिया। बेटा! तू बड़ा बुद्धिमान् है, जो तूने प्रभावतीकी काम-वासनाको पहले ही शान्त कर दिया था॥ ७—९½॥

जैमिनिरुवाच

वदनं पुत्रकस्याथ चुचुम्बे प्रहसन्निव ॥ १० ॥
स्वभाले तस्य तद् भालं योजयित्वा स्थितो रथे ।
पुनरेवाह राजासौ पुत्रशोकेन पीडितः ॥ ११ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर राजा हंसध्वज रथमें बैठे हुए सुधन्वाके उस मस्तकको अपने ललाट-से लगाकर मुसकराते हुए-से पुत्रके मुखको चूमने लगे और पुत्रशोकसे दुखी होकर पुनः बोले—॥ १०-११ ॥

उत्तिष्ठ पुत्र पार्थस्य गृहाण तुरगं बलात् ।
प्रद्युम्नप्रमुखैर्वीरैः समं युद्धं रणे कुरु ॥ १२ ॥

'बेटा ! उठ और बलपूर्वक अर्जुनके घोड़ेको पकड़ ले तथा रणक्षेत्रमें प्रद्युम्न आदि प्रमुख वीरोंके साथ युद्ध कर ॥

जनन्या भाषितं सत्यं कृतं कुवलयोदितम् ।
शृण्वन्तु भ्रातरः सर्वे त्वदीयाः सुरथादयः ॥ १३ ॥
मयार्थितः सुधन्वासौ न ब्रूते नैव गच्छति ।
तस्य तद् भाषितं श्रुत्वा सुरथो वाक्यमब्रवीत् ॥ १४ ॥

'तूने अपनी माताका कथन तथा बहिन कुवलाका वचन सत्य कर दिखाया । अब तेरे सुरथ आदि सभी भाई मेरी बात सुन लें कि यह सुधन्वा मेरे कहनेपर न तो कुछ उत्तर देता है और न रणक्षेत्रमें ही जाता है ।' तब राजाके ऐसे विलापको सुनकर सुरथने कहा ॥ १३-१४ ॥

सुरथ उवाच

किमर्थं रोदनं तात क्रियतेऽद्य त्वया रणे ।
करे गृहीत्वा पुत्रस्य शीर्षं युद्धे हतस्य च ॥ १५ ॥

सुरथ बोला—पिताजी ! युद्धमें मारे गये पुत्रके मस्तकको हाथमें लेकर आज आप इस रणक्षेत्रमें किसलिये विलाप कर रहे हैं ? ॥ १५ ॥

हंसध्वज उवाच

रोदने कारणं चैकं संजातं पुत्रकस्य मे ।
छिन्नं शिरोऽस्य पतितं माधवस्य पदाम्बुजे ॥ १६ ॥
तत् पदं तु परित्यक्तं कृष्णस्य शिरसामुना ।
महता सुकृतेनापि प्राप्यते हरिसंनिधिः ॥ १७ ॥
दुष्कृतेनातिघोरेण वियोगस्तस्य जायते ।
किं चास्य दुष्कृतं घोरं मम वा परितिष्ठति ॥ १८ ॥
कृष्णाङ्घ्रिपङ्कजगतं चञ्चरीकनिभं शिरः ।
क्षणमात्रं न स्थितं तद् रोदनं मम जायते ॥ १९ ॥

हंसध्वजने कहा—बेटा ! मेरे इस विलापमें एक विशेष कारण है । (वह यह कि) मेरे इस पुत्रका सिर कटकर श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें गिरा तो सही, परंतु इस मस्तकने उनके उस चरणोंका परित्याग क्यों कर दिया; क्योंकि बहुत बड़ा पुण्य-संचय होनेपर भगवान् श्रीहरिकी संनिधि प्राप्त होती है एवं अत्यन्त घोर पापके उदय होनेपर उनसे वियोग होता है । अतः इस समय इस सुधन्वाका अथवा मेरा कौन-सा ऐसा भयंकर पाप उपस्थित हुआ, जिससे श्रीकृष्णके पद-पंकजमें भ्रमरकी भाँति पहुँचा हुआ यह मस्तक क्षणमात्र भी वहाँ स्थित न रह सका । इसीसे मुझे रुलाई आ रही है ॥ १६–१९ ॥

त्यक्तं कृष्णेन सुरथ ममोपरि सुधन्वनः ।
आगतं पश्य ते भ्रातुः शिरो ज्वलितकुण्डलम् ॥ २० ॥
एतत् त्यजामि कृष्णस्य रथे पुत्र शिरो महत् ।

सुरथ ! श्रीकृष्णने सुधन्वाके मस्तकको मेरे ऊपर फेंक दिया है । तू अपने भाईके प्रकाशयुक्त कुण्डलोंवाले उस सिरको यहाँ आया हुआ देख ले । बेटा ! अब मैं भी इस महान् सिरको श्रीकृष्णके रथपर फेंक दूँगा ॥ २०½ ॥

जैमिनिरुवाच

हंसध्वजेन तच्छीर्षं त्यक्तं कृष्णरथे पुनः ॥ २१ ॥
कृष्णो गृहीत्वा चिक्षेप गगनेऽन्तर्हितं च तत् ।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तब हंसध्वजने उस सिरको पुनः श्रीकृष्णके रथपर फेंक दिया । श्रीकृष्णने उसे उठाकर आकाशमें उछाल दिया और वह वहीं अन्तर्धान हो गया ॥ २१½ ॥

हरो गृहीत्वा तच्छीर्षं रम्यं ज्वलितकुण्डलम् ॥ २२ ॥
संदधे मुण्डमालायां भक्ताभयदशङ्करः ।

तब भक्तोंको अभय प्रदान करनेवाले एवं कल्याणकारी भगवान् शिवने प्रकाशयुक्त कुण्डलोंसे सुशोभित उस रमणीय सिरको लेकर अपनी मुण्डमालामें पिरो लिया ॥ २२½ ॥

सुरथोऽपि स्वजनकं प्राह दुःखात् प्रवारयन् ॥ २३ ॥
पश्याद्य तात मे युद्धं कृष्णयोश्च मया सह ।
क्रियमाणं समक्षं ते सर्वे पश्यन्तु सैनिकाः ॥ २४ ॥

इधर सुरथने भी अपने पिताको दुःख करनेसे मना करते

हुए कहा—'तात ! अब आप मेरा युद्ध देखें और मेरे साथ जो श्रीकृष्ण तथा अर्जुनका युद्ध होनेवाला है, उसपर भी दृष्टिपात करें। आपके सामने ही किये जाते हुए मेरे युद्धको ये सभी सैनिक भी देखें॥ २३-२४॥

कृष्णेन स्वमुखे क्षिप्तो मम भ्राता महाबलः।
तमद्य केशवं भेत्स्ये पार्थं च रथिनां वरम्॥ २५॥
यद्ययं पुरतस्तिष्ठेद् देवकीनन्दनो हरिः।

'जिन श्रीकृष्णने मेरे महाबली भाई सुधन्वाको अपने मुखमें डाल लिया है, वे ही ये देवकीनन्दन श्रीहरि यदि युद्धस्थलमें सामने डटे रहे तो आज मैं इन केशवको तथा रथियोंमें श्रेष्ठ अर्जुनको भी विदीर्ण कर डालूँगा'॥ २५½॥

एतावदुक्त्वा वचनं रथमारुह्य सत्वरः॥ २६॥
सैन्येन महता युक्तः पार्थं योद्धुमुपाययौ।

इतनी बात कहकर सुरथ तुरंत ही रथपर सवार हुआ और बहुत बड़ी सेनाके साथ अर्जुनसे लोहा लेनेके लिये उनके समीप जा पहुँचा॥ २६½॥

स्वशङ्खं पूरयित्वाग्रे सिंहनादमथाकरोत्॥ २७॥
रसातलं भिन्नमिव संजातं जनमेजय।

जनमेजय ! वहाँ पहुँचकर उसने पहले अपना शङ्ख बजाया और फिर ऐसा भयंकर सिंहनाद किया मानो रसातल फट गया हो॥ २७½॥

गृहीत्वा स धनुर्हस्ते सुरथः पार्थमब्रवीत्॥ २८॥
तिष्ठ पार्थाद्य संग्रामे मया सह महाबल।
सम्यक् कृष्णार्जुनं पाहि सुरथोऽस्मि तवाहितः॥२९॥

तत्पश्चात् सुरथने धनुष हाथमें लेकर अर्जुनसे कहा—'महाबली पार्थ ! अब मेरे साथ युद्ध करनेके लिये खड़े हो जाओ।' (अर्जुनसे यों कहकर सुरथने श्रीकृष्णसे कहा—) 'श्रीकृष्ण ! मैं आपका शत्रु सुरथ हूँ। अब आप अर्जुनकी सम्यक् प्रकारसे रक्षा कीजिये॥ २८-२९॥

सुधन्वा मे हतो भ्राता स्वपुण्येन त्वया हरे।
बालचेष्टा कृता देव स्वहानिर्न निरीक्षिता॥ ३०॥

'हरे ! आपने अपना पुण्य प्रदान करके जो मेरे भाई सुधन्वाका वध करा दिया है, यह तो आपकी बालचेष्टा ही है। आपने अपनी हानिपर कुछ भी ध्यान नहीं दिया॥ ३०॥

यथा कश्चिच्छिशुः कृष्ण मौक्तिकानि प्रयच्छति।
गृह्णाति बदराण्येव तथा पुण्यं त्वयार्पितम्॥३१॥

'श्रीकृष्ण ! जैसे कोई शिशु (भले-बुरेका ज्ञान न होनेके कारण) मोतियोंको देकर उसके बदलेमें बेर ले लेता है, उसी तरह आपने भी अपना पुण्य अर्पित किया है॥ ३१॥

सुधन्वनो जीवितं तु गृहीत्वा बदरोपमम्।
मुक्ताफलं त्वया दत्तं कः केन परिवञ्चितः॥ ३२॥

'आपने सुधन्वाके बेर-सदृश जीवनको लेकर उसके बदलेमें मुक्ताफलस्वरूप अपना पुण्य प्रदान किया है; अतः बताइये, यहाँ कौन किसके द्वारा ठगा गया ?॥ ३२॥

गोपालोऽसि न संदेहो न मां जानासि केशव।
कुतो गतः सुधन्वा मे नाहं पश्यामि बान्धवम्॥३३॥
अद्य पाण्डवमासाद्य परो हर्षः प्रजायते।

'वास्तवमें आप पूरे गोपाल (अहीर) ही हैं, इसमें कोई संदेह नहीं रह गया। केशव ! आप मुझे नहीं जानते हैं ? हाय ! मेरा सुधन्वा कहाँ चला गया ? मैं अब अपने उस भाईको नहीं देख रहा हूँ, परंतु आज अर्जुनको पाकर मुझे परम हर्ष हो रहा है'॥ ३३½॥

जैमिनिरुवाच

तं तथाविधमालोक्य पार्थं कृष्णोऽब्रवीद् वचः॥३४॥
न चास्य पुरतः स्थेयं त्वया पार्थ महाहवे।
भ्रातृदुःखेन संतप्तः सुकृती च महाबलः॥ ३५॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर सुरथको इस तरह रोषमें भरा हुआ देख भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—'पार्थ ! इस महायुद्धमें तुम्हें सुरथके सम्मुख नहीं खड़ा होना चाहिये; क्योंकि यह महान् शूरवीर और धर्मात्मा है तथा इस समय भाईके दुःखसे विशेष दुखी है॥ ३४-३५॥

अन्ये गच्छन्तु वै वीराः सुरथं योधितुं रणे।
भवान् गन्ताद्य चेद् वीरं महानर्थो भविष्यति॥ ३६॥

'इसलिये आज इस सुरथसे युद्ध करनेके लिये दूसरे वीर रणक्षेत्रमें जायँ। यदि तुम इस वीरके सामने आ गये तो महान् अनर्थ हो जायगा'॥ ३६॥

अर्जुन उवाच

अशुभानां सहस्राणि त्वया भग्नानि मे हरे।
अनेन सुरथेनाद्यानर्थः कीदृग् भविष्यति॥ ३७॥

अर्जुनने कहा—हरे ! जब आप मेरे सहस्रों अमङ्गलों-

का निवारण कर चुके हैं, तब आज इस सुरथके द्वारा मुझे कैसे अनर्थकी प्राप्ति होगी ? ॥ ३७ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

द्वितीयां सृष्टिमारब्धं वीक्ष्य चैनं रणे स्थितम् ।
पितामहस्य महती चिन्ता जायेत सर्वदा ॥ ३८ ॥

श्रीकृष्ण बोले—अर्जुन ! इसे रणक्षेत्रमें उपस्थित हुआ देखकर ब्रह्माको सर्वदा दूसरी सृष्टि रचनेके लिये बड़ी भारी चिन्ता हो जाती है ॥ ३८ ॥

सुरथस्य बलं भूरि स्वल्पं तव धनंजय ।
त्वया मम मतं कार्यं कृतमस्ति पुरा सदा ॥ ३९ ॥

धनंजय ! सुरथमें बहुत अधिक बल है और तुममें बहुत थोड़ा; अतः तुम पहले सदा जैसे मेरी बात मानते आये हो, उसी तरह इस समय भी तुम्हें मेरे मतके अनुसार ही कार्य करना चाहिये ॥ ३९ ॥

प्रद्युम्नप्रमुखा वीराः पातयन्तु महाहवे ।
उपायो विद्यते नास्य पातने पाण्डवर्षभ ॥ ४० ॥

पाण्डवश्रेष्ठ ! इस महायुद्धमें प्रद्युम्न आदि प्रमुख वीर ही उसे मार गिरावें । अन्यथा उसे मारनेका दूसरा कोई उपाय नहीं है ॥ ४० ॥

त्वदर्थं सुकृतं दत्तं सुधन्वा कृच्छ्रतो हतः ।
किंचिद् यस्य भवेत् पार्थ दुष्कृतं सुकृतं बहु ॥ ४१ ॥
विजये तस्य जायन्ते सिद्धयोऽत्र न संशयः ।
केवलं सुकृतं चास्य शरीरे परितिष्ठति ॥ ४२ ॥

मैंने तुम्हारे लिये अपना पुण्य प्रदान किया, जिसके बलसे तुमने बड़ी कठिनाईसे सुधन्वाको मारा है । पार्थ ! जिसमें पाप थोड़ा होता है और पुण्यकी मात्रा अधिक होती है, उसीपर विजय प्राप्त करनेमें सिद्धि मिलती है; परंतु इस सुरथके शरीरमें केवल पुण्य-ही-पुण्य विद्यमान है (अतः तुम इसे जीत नहीं सकते) ॥ ४१-४२ ॥

यस्मिन् क्षणे न पुंसोऽत्र सुकृतं विद्यतेऽनघ ।
व्याघ्रतस्करराजन्यसर्पाग्नीनां भयं भवेत् ॥ ४३ ॥
तस्मिन् क्षणे न संदेहः कुतः सुकृतकारिणाम् ।

निष्पाप ! जिस समय इस लोकमें मनुष्योंका पुण्य क्षीण हो जाता है, उसी समय उसे व्याघ्र, चोर, राजा, सर्प और अग्नि आदिसे भयकी प्राप्ति होती है । इसमें संशय नहीं है; परंतु पुण्यकर्ताओंको इनका भय कहाँ ? ॥ ४३½ ॥

जैमिनिरुवाच

समाहूयाब्रवीत् पुत्रं माधवो रुक्मिणीसुतम् ॥ ४४ ॥
सर्वथा बहुभिर्वीरैः पातनीयो महाबलैः ।
सुरथो रणमध्ये तु गृहीत्वा यामि पाण्डवम् ॥ ४५ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णने अपने पुत्र रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नको बुलाकर कहा—'बेटा ! तुम बहुत-से महाबली वीरोंके साथ जाकर रणक्षेत्रमें सर्वथा सुरथको धराशायी करो और मैं अर्जुनको साथ लेकर युद्धस्थलसे हट जाता हूँ' ॥ ४४-४५ ॥

कृष्णस्य वचनात् सर्वे प्रद्युम्नाद्या विनिर्ययुः ।
अर्जुनस्य रथं कृष्णः प्रेरयामास संगरात् ॥ ४६ ॥
योजनानां त्रयं भूमिर्यत्र तिष्ठति सत्वरः ।
पश्चाद् युद्धं समभवत् सुरथेनापरैः सह ॥ ४७ ॥

तब श्रीकृष्णकी आज्ञासे प्रद्युम्न आदि सभी वीर युद्धके लिये आगे बढ़े तथा श्रीकृष्णने अर्जुनके रथको युद्धके मैदानसे बाहरकी ओर बढ़ाया और तुरंत ही तीन योजन (बारह कोस)की दूरीपर ले जाकर खड़ा कर दिया । तत्पश्चात् सुरथका अन्य वीरोंके साथ युद्ध आरम्भ हुआ ॥ ४६-४७॥

सुरथस्तत्र कोपेन भ्रातृहन्तारमाहवे ।
योद्धुमायात् ततस्तौ तु न दृष्टौ कृष्णपाण्डवौ ॥४८॥

तब वहाँ क्रोधसे भरा हुआ सुरथ अपने भाईका वध करनेवाले अर्जुनके साथ युद्ध करनेके लिये आया, परंतु उसे श्रीकृष्ण और अर्जुन नहीं दीख पड़े ॥ ४८ ॥

सुरथस्तु ततो वाक्यं रणे प्राह प्रतापवान् ।
शत्रुं सुधन्वनो नात्र पश्यामीति रणाङ्गणे ॥ ४९ ॥

उस समय प्रतापी सुरथने उस युद्धस्थलमें निम्नाङ्कित वचन कहने लगा—'मैं यहाँ रणाङ्गणमें सुधन्वाके शत्रुको नहीं देख रहा हूँ ॥ ४९ ॥

शिशुभिः सह योद्धव्यं मया शोच्यैः कथं त्विह ।
अपराधिनावुभावेतौ कृष्णपार्थौ न संशयः ॥५०॥
एतान् कृत्वा तु पुरतः पलाय्यान्यत्र संस्थितौ ।
एतान् निवार्य पश्चात् तौ हन्मि युद्धे महाबलौ ।
पाताले चान्तरिक्षे वा क यास्येते ममाग्रतः ॥५१॥

'वास्तविक अपराधी तो वे दोनों श्रीकृष्ण और अर्जुन ही हैं। वे इन बच्चोंको आगे बढ़ाकर स्वयं भागकर कहीं अन्यत्र छिपे खड़े हैं। ऐसी दशामें मैं इन शोचनीय शिशुओंके साथ कैसे युद्ध करूँ (यह मेरे लिये उचित नहीं होगा) ? अच्छा, इन बालकोंका निवारण करके पीछे उन दोनों महाबली वीरोंको मार गिराऊँगा। वे मेरे सामनेसे भागकर आकाश अथवा पातालमें कहाँ जा सकेंगे ? ॥५०-५१॥

एतत् सर्वं विनिश्चित्य सुरथः प्राह सैनिकान्।
सैन्यमध्ये न पश्यामि क यातौ कृष्णपाण्डवौ ॥५२॥

यह सब निश्चय करके सुरथने सैनिकोंसे पूछा—'मैं इस सेनामें श्रीकृष्ण और अर्जुनको नहीं देख रहा हूँ, वे दोनों कहाँ चले गये ?' ॥ ५२ ॥

सैनिका ऊचुः

किं वृथा जल्पसे वीर प्राकृतः कातरो यथा।
ये स्थिताः पुरतो युद्धे तैस्त्वं युध्यस्व संगरे ॥ ५३ ॥
पश्चाद् द्रक्ष्यसि तं कृष्णं पार्थं च तव वैरिणम्।
एतावदुक्त्वा तै सर्वैः सुरथः परिवारितः ॥५४॥

तब सैनिकोंने उत्तर दिया—वीर ! तुम गँवार और कायर पुरुषकी भाँति यह क्या व्यर्थ बकवाद कर रहे हो ? इस समराङ्गणमें तुम्हारे सामने जो युद्धस्थलमें खड़े हैं, पहले उनके साथ युद्ध करो, फिर पीछे उन श्रीकृष्ण तथा अपने वैरी अर्जुनको भी देख लेना। ऐसा कहकर उन सभी वीरोंने सुरथको चारों ओरसे घेर लिया ॥ ५३-५४ ॥

सुरथस्तान् महावीरान् नाराचैः समपोथयत्।
केचिन्निपतिता वीराः केचिन्मध्ये विदारिताः ॥५५॥
गदया छिन्नशिरसो हतवाहाः स्म शेरते।
हाहाभूतं बलं सर्वं कृतं वीरेण तत्क्षणात् ॥ ५६ ॥

तब सुरथ उन महान् शूरवीरोंपर नाराचोंका प्रहार करके उन्हें रौंदने लगा। उनमेंसे कुछ वीर पृथ्वीपर ढेर हो गये, कुछके शरीर बीचसे ही विदीर्ण कर दिये गये, कुछके मस्तक गदाके प्रहारसे छिन्न-भिन्न हो गये और कितने ही वीर वाहनके मारे जानेसे धराशायी हो गये। इस प्रकार उस वीरने उसी क्षण सारी सेनामें हाहाकार मचा दिया ॥ ५५-५६ ॥

योजनानां त्रयं सैन्यमध्ये व्यूहस्य यत् स्थितम्।
भिन्नं तत् तेन राजेन्द्र प्राप्तस्तत्र यतो हरिः ॥५७॥

राजेन्द्र ! व्यूहके मध्यमें तीन योजनतक जो सेना खड़ी थी, उसका भेदन करके सुरथ उस स्थानपर पहुँच गया, जहाँ भगवान् श्रीहरि विराजमान थे ॥ ५७ ॥

ददर्श केशवं वीरं पार्थं च रथिनां वरम्।
वासुदेवं तु बाणौघैः समन्ताद् व्यकिरत् तदा ॥ ५८ ॥

वहाँ उसने वीरवर श्रीकृष्ण तथा रथी वीरोंमें श्रेष्ठ अर्जुनको देखा। तब वह वासुदेवपर चारों ओरसे बाणसमूहोंकी वृष्टि करने लगा ॥ ५८ ॥

पार्थोऽपि विद्धो राजेन्द्र सायकैः कङ्कपत्रिभिः।
धनंजयस्तं समरे तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ ५९ ॥

राजेन्द्र ! उसने गीधकी पाँखवाले बाणोंद्वारा अर्जुनको भी घायल कर दिया। तब अर्जुन उससे संग्रामभूमिमें 'खड़ा रह, खड़ा रह' यों कहने लगे ॥ ५९ ॥

ततो बाणसहस्रेण ससूतं सहयं नृप।
ताडयामास वेगेन सुरथं शत्रुतापनम् ॥ ६० ॥

राजन् ! तत्पश्चात् अर्जुनने वेगपूर्वक एक हजार बाण मारकर सारथि और घोड़ोंसहित उस शत्रुसंतापी सुरथको गहरी चोट पहुँचायी ॥ ६० ॥

धनुश्चिच्छेद सगुणं ध्वजं च सपताकिनम्।
रथश्च तिलशस्तस्य सुरथस्याहवे कृतः ॥ ६१ ॥
हयान् निहत्य च बलात् तं विव्याध शतेन च।

पुनः उन्होंने उस युद्धमें सुरथके प्रत्यञ्चासहित धनुष और ध्वजा-पताकाको काटकर रथके भी तिलके समान टुकड़े कर दिये तथा उसके घोड़ोंको मारकर उसे भी बलपूर्वक सौ बाणोंसे बींध दिया ॥ ६१½ ॥

सुरथः पाण्डवं वीरं चकार शरपूरितम् ॥ ६२ ॥
नानाशस्त्रैस्तथास्त्रैश्च तयोर्युद्धमभून्नृप।

नरेश्वर ! तब सुरथने भी वीरवर अर्जुनको बाणोंसे आच्छादित कर दिया। फिर तो उन दोनों वीरोंमें नाना प्रकारके शस्त्रास्त्रोंद्वारा युद्ध होने लगा ॥ ६२½ ॥

ततः स केशवो राजन् पाण्डवं प्राह संगरे ॥ ६३ ॥
पश्य वीरस्य धैर्यं त्वं युद्धं च कुरुते यथा।
सुधन्वनो वियोगेन मन्ये सैन्यं वधिष्यति ॥ ६४ ॥

राजन् ! तदनन्तर भगवान् केशवने युद्धस्थलमें अर्जुनसे कहा—'पार्थ ! तुम इस वीरकी धीरता तो देखो। यह सुधन्वाके वियोगजनित दुःखके कारण जिस उत्साहसे युद्ध कर

रहा है, उसे देखकर तो मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि यह सारी सेनाका सर्वनाश कर डालेगा ॥ ६३-६४ ॥

एनं त्यक्त्वा गतश्चाहं न मां त्यजति चार्जुन ।
अयमेवाग्रतो योद्धा दृश्यतेऽत्र त्वया मया ॥ ६५ ॥
पश्य बाणैर्जगद् व्याप्तं नास्य वीर्यं प्रलीयते ।
कृष्णस्य वचनात् पार्थः कुपितो वाक्यमब्रवीत् ॥ ६६ ॥

'अर्जुन ! मैं इसका परित्याग करके चला आया था, परंतु यह मेरा पीछा नहीं छोड़ रहा है । देखो न, वही वीर सुरथ हमारे और तुम्हारे सम्मुख खड़ा हुआ दीख रहा है। यद्यपि इसके बाणोंसे सारा संसार व्याप्त हो गया है, तथापि इसके पराक्रममें कुछ कमी नहीं आयी है ।' श्रीकृष्णके ऐसा कहनेसे अर्जुन कुपित हो गये और यों कहने लगे ॥ ६५-६६ ॥

अर्जुन उवाच

एनं देव हनिष्यामि महावीरं तवाग्रतः ।
नासाध्यं विद्यते किंचित् प्रसादात् तव केशव॥ ६७ ॥

अर्जुन बोले—देव ! मैं आपके सामने ही इस महान् शूरवीरका वध कर डालूँगा; क्योंकि केशव ! आपकी कृपासे मेरे लिये कोई भी कार्य असाध्य नहीं है ॥ ६७ ॥

जैमिनिरुवाच

ततो जघान सुरथं सायकानां शतेन च ।
सुरथस्य रथो वेगाद् गगने तत्क्षणं गतः ॥ ६८ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तब अर्जुनने सौ बाणों-द्वारा सुरथपर प्रहार किया, जिससे उसका रथ उसी क्षण वेग-पूर्वक चक्कर काटता हुआ आकाशमें उड़ गया ॥ ६८ ॥

पार्थं विव्याध कृष्णं शरैश्चित्रैः शिलाशितैः ।
उवाच प्रहसन् वीरः पाण्डवं श्वेतवाहनम् ॥ ६९ ॥

तत्पश्चात् सुरथने शिलापर रगड़कर तेज किये हुए विचित्र बाणोंकी मारसे अर्जुन और श्रीकृष्णको घायल कर दिया । फिर हँसते हुए उस वीरने श्वेत घोड़ोंवाले अर्जुनसे कहा—॥

रथं ते भेद्मि बाणौघैस्तं पार्थ परिपालय ।
शरप्रहाराभिहतो रथो बभ्राम भूतले ॥ ७० ॥
अर्जुनस्य सकृष्णस्य सरुद्रस्य महारणे ।

'पार्थ ! मैं अपने बाणसमूहोंसे तुम्हारे रथका भेदन कर रहा हूँ, (यदि तुम बचा सको तो) उसकी रक्षा करो ।' फिर तो सुरथके बाणोंके आघातसे अर्जुनका रथ श्रीकृष्ण और शिवजीद्वारा अधिष्ठित होनेपर भी उस महासमरमें पृथ्वीपर चक्कर काटने लगा ॥ ७०½ ॥

ततः पद्भ्यां रथं पीड्य वासुदेवः क्रुधान्वितः ॥ ७१ ॥
धरां प्रवेशयित्वाग्रे तथापि परिनीयते ।
न रथः स्थित एवात्र कृष्णो विस्मयमाययौ ॥ ७२ ॥

तब कुपित हुए भगवान् श्रीकृष्णने अपने दोनों पैरोंसे उस रथको दबाकर उसे पृथ्वीमें धँसा दिया और उसे रोकनेकी चेष्टा की; परंतु फिर भी वह आगे बढ़ ही गया । जब रथ किसी तरह खड़ा नहीं हुआ, तब यह देखकर श्रीकृष्णको परम विस्मय हुआ ॥ ७१-७२ ॥

शिलाशितैर्गार्ध्रपत्रैर्भिन्नौ कृष्णार्जुनावुभौ ।
पाञ्चजन्यं पूरयित्वा देवदत्तं धनंजयः ॥ ७३ ॥
कृष्णश्च तरसा रोषात् पाण्डवं वाक्यमब्रवीत् ।

उस समय पत्थरपर घिसकर तेज किये हुए तथा गीधकी पाँखोंसे युक्त बाणोंके प्रहारसे अर्जुन और श्रीकृष्ण दोनों घायल हो गये थे । तब श्रीकृष्णने पाञ्चजन्य और अर्जुनने देवदत्त नामक अपना-अपना शङ्ख बजाया; फिर तुरंत ही श्रीकृष्णने क्रोधपूर्वक अर्जुनसे कहा ॥ ७३½ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

मया धृतोऽपिहि रथः सुरथस्याशुगेन तु ।
नीयतेऽत्र बलादेव विरथं सुरथं कुरु ॥ ७४ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—पार्थ ! यद्यपि मैंने इस रथ-को दाब रखा है तो भी सुरथका बाण इसे पीछे ढकेल देता है; अतः अब तुम बल लगाकर सुरथको रथहीन कर दो ॥ ७४ ॥

ततोऽर्जुनो रणे क्रुद्धस्तस्य दिव्यं महारथम् ।
सहयं सध्वजं बाणैः ससूतं शतधाच्छिनत् ॥ ७५ ॥

तब युद्धस्थलमें क्रुद्ध होकर अर्जुनने बाणोंके प्रहारसे सुरथके उस दिव्य महान् रथको घोड़े, ध्वज और सारथिसहित काटकर उसके सौ टुकड़े कर दिये ॥ ७५ ॥

विरथः सुरथो राजन् पाण्डवेन रणे कृतः ।
तावत् पवनपुत्रेण स्वलाङ्गूलेन वेष्टितः ॥ ७६ ॥
रथः पार्थस्य भूमध्ये सुबद्धस्तत्क्षणात् कृतः ।
संधारितश्च कृष्णेन न जगाम स्थितः पुनः ॥ ७७ ॥

राजन् ! उधर तो अर्जुनने रणभूमिमें सुरथको रथहीन कर दिया और इधर पवननन्दन हनुमान्‌जीने उसी क्षण

अर्जुनके रथको अपनी पूँछसे लपेटकर उसे दृढ़तापूर्वक भूमिमें गाड़ दिया और ऊपरसे भगवान् श्रीकृष्णने उसे दबा रखा था, जिससे वह रथ पुनः हिल-डुल न सका, एक स्थानपर स्थित हो गया ॥ ७६-७७ ॥

सुरथ उवाच

वेद्मि केशवभारेण नद्धं पार्थ रथं तव।
उभाभ्यां नीयते योऽधस्तमहं चोद्धरे पुनः ॥ ७८ ॥

तब सुरथने कहा—पार्थ ! मैं जानता हूँ कि तुम्हारा रथ भगवान् केशवके भारसे बोझिल होकर बँध गया है और ऊपरसे तुम दोनों उसे नीचेकी ओर दबा रहे हो तो भी मैं पुनः उखाड़ता हूँ ॥ ७८ ॥

गृहीत्वा स्यन्दनस्येषां स्वबलेन नृपात्मजः।
भग्नं रथं समुत्थाप्य पुनः प्रोवाच हर्षितः ॥ ७९ ॥

ऐसा कहकर राजकुमार सुरथने अर्जुनके रथके ईषादण्ड (हरसे) को पकड़कर अपने बलसे उस भग्न रथको उठा लिया और पुनः हर्षित होकर कहा—॥ ७९ ॥

वद पार्थ कुतो युद्धाद् विक्षिपामि रथं तव।
सागरे वाथ मेरौ वा तस्मिन् वा हस्तिनापुरे ॥ ८० ॥

'पार्थ ! अब बताओ, तुम्हारे इस रथको मैं युद्धस्थलसे कहाँ फेंक दूँ ? इसे सागरमें डाल दूँ या मेरु पर्वतपर फेंक दूँ अथवा उस हस्तिनापुरमें ही लौटा दूँ ?' ॥ ८० ॥

रथस्थेनापि पार्थेन ताडितः पञ्चभिः शरैः।
सुरथो मूर्च्छितो राजन् मुक्तः स च रथः करात् ८१

राजन् ! इतनेमें ही उस रथपर बैठे हुए ही अर्जुनने उसे पाँच बाण मारकर गहरी चोट पहुँचायी, जिससे व्यथित होकर सुरथ मूर्च्छित हो गया और उसके हाथसे वह रथ छूट गया ॥ ८१ ॥

मूर्च्छां विहाय सुरथो रथमन्यं समाश्रितः।
तावुभौ क्रूरनयनौ पुनरेवाप्ययुध्यताम् ॥ ८२ ॥
अर्धचन्द्रैश्च नाराचैर्वत्सदन्तैः शिलीमुखैः।
वाराहकर्णनालीकैः क्षुरप्रैः कण्टकामुखैः ॥ ८३ ॥

तत्पश्चात् मूर्च्छा दूर होनेपर सुरथ दूसरे रथपर आरूढ़ हो गया और फिर वे दोनों वीर (अर्जुन और सुरथ) एक-दूसरेको क्रूरतापूर्ण नेत्रोंसे देखते हुए अर्धचन्द्र, नाराच, वत्सदन्त, शिलीमुख, वाराहकर्ण, नालीक, क्षुरप्र और कण्टकामुख आदि विभिन्न बाणोंका प्रहार करते हुए परस्पर युद्ध करने लगे ॥ ८२-८३ ॥

सुरथ उवाच

प्रतिज्ञां कुरु वीराद्य पार्थ सत्यां तु कांचन।
प्रतिज्ञा ते नानृतात्र संजातेति पुरा श्रुतम् ॥ ८४ ॥

इसी बीचमें सुरथने कहा—पार्थ ! मैंने पहलेसे सुन रखा है कि इस लोकमें तुम्हारी की हुई प्रतिज्ञा मिथ्या नहीं होती है, अतः वीर ! अब तुम कोई सत्य प्रतिज्ञा करो ॥

अर्जुन उवाच

त्वामहं पातयिष्यामि समक्षं जनकस्य ते।
प्रतिज्ञातं मया वीर त्वं ब्रूहि स्वां यथोचिताम् ॥ ८५ ॥

अर्जुनने कहा—वीर ! मैं तुम्हें तुम्हारे पिताके सामने ही धराशायी कर दूँगा—यही मेरी प्रतिज्ञा है। अब तुम अपनी यथोचित प्रतिज्ञा बतलाओ ॥ ८५ ॥

सुरथ उवाच

त्वामहं पातयिष्यामि रथाद् भूमाविहार्जुन।
न कुर्यां चेद् वचः सत्यं सुकृतं मे प्रणश्यतु ॥ ८६ ॥

सुरथ बोला—अर्जुन ! मैं युद्धस्थलमें तुम्हें रथसे भूतलपर गिरा दूँगा। यदि मैं अपने इस वचनको सत्य न कर दूँ तो मेरा पुण्य नष्ट हो जाय ॥ ८६ ॥

जैमिनिरुवाच

एतस्मिन्नन्तरे वीरः पार्थं च शरवृष्टिभिः।
छादयामास राजेन्द्र पाण्डवोऽपि तथाकरोत् ॥ ८७ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—राजेन्द्र ! इसी बीच वीरवर सुरथने बाणोंकी वर्षा करके अर्जुनको आच्छादित कर दिया। तब अर्जुनने भी वैसा ही करके बदला चुकाया ॥ ८७ ॥

शतमष्टोत्तरं पार्थो रथानां सुरथस्य च।
व्यधमच्छतधा रोषाद् बलं च निहतं बहु ॥ ८८ ॥

फिर अर्जुनने सुरथके एक सौ आठ रथोंको विध्वंस करके उनके सैकड़ों टुकड़े कर दिये और क्रोधावेशमें उसकी अधिकतर सेनाका संहार कर डाला ॥ ८८ ॥

अर्धचन्द्रेण सुरथश्चिच्छेदास्य महात्मनः।
कार्मुकं ज्यां स नाराचैः पाण्डवं प्रत्यविध्यत ॥ ८९ ॥

तब सुरथने एक अर्धचन्द्रनामक बाण चलाकर महा-

मनस्वी अर्जुनके प्रत्यञ्चासहित धनुषको काट दिया और बहुत-से नाराचोंकी मारसे अर्जुनको भी घायल कर दिया ॥ ८९ ॥

पुनः कृत्वार्जुनः स्वं हि कार्मुकं गुणसंयुतम् ।
विरथं राजपुत्रं तं शस्त्रास्त्रैश्च समन्वितम् ॥ ९० ॥

तत्पश्चात् अर्जुनने अपना दूसरा धनुष लेकर उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी और शस्त्रास्त्रोंसे सम्पन्न राजकुमार सुरथको रथहीन कर दिया ॥ ९० ॥

अर्धचन्द्रेण विव्याध बाहुमूले धनंजयः ।
छिन्नोऽस्य दक्षिणो हस्तो नानालंकारमण्डितः ॥ ९१ ॥
निपपात धरादेशे विस्फुरन् समयार्जुनम् ।

फिर अर्जुनने उसके बाहुमूलपर एक अर्धचन्द्रनामक बाणसे आघात किया, जिससे सुरथका नाना प्रकारके आभूषणों-से सुशोभित दाहिना हाथ कट गया और वह छटपटाता हुआ अर्जुनके समीप ही पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ९१½ ॥

सुरथो वामहस्तेन गृहीत्वा महतीं गदाम् ॥ ९२ ॥
पार्थस्य तुरगान् क्रुद्धो जघान च जनार्दनम् ।

तब सुरथने बायें हाथसे एक विशाल गदा उठाकर क्रुद्ध हो अर्जुनके घोड़ों तथा श्रीकृष्णपर प्रहार किया ॥ ९२½ ॥

सहस्रं स गजानां च पातयामास भूतले ॥ ९३ ॥
द्वे सहस्रे रथानां च हयानामयुतं रणे ।
इतस्ततो धावमानः सुरथो रथिनां वरः ॥ ९४ ॥

रथी वीरोंमें श्रेष्ठ सुरथ युद्धस्थलमें इधर-उधर दौड़ता हुआ एक हजार हाथी, दो सहस्र रथी योद्धा और दस हजार घोड़ोंको मारकर धराशायी कर दिया ॥ ९३-९४ ॥

तिष्ठ पार्थ हरे तिष्ठ तिष्ठन्तु बलिनो नृपाः ।
ब्रुवञ्जघान तरसा पत्तीनामयुतं बली ॥ ९५ ॥

फिर 'पार्थ ! खड़े रहो। हरे ! ठहरो । महाबली राजाओ! खड़े रहो ।' ऐसा कहते हुए उस महाबलीने वेगपूर्वक दस हजार पैदलोंका संहार कर डाला ॥ ९५ ॥

ततोऽर्जुनेन वामोऽस्य सगदः पातितः करः ।
कराभ्यां वर्जितो वीरः सुरथः पार्थमब्रवीत् ॥ ९६ ॥

तब अर्जुनने उसके गदासहित बायें हाथको भी काट गिराया । दोनों हाथोंसे रहित होनेपर भी वीरवर सुरथने अर्जुन-से कहा—॥ ९६ ॥

आत्मानं रक्ष पार्थाद्य रथं पालय माधव ।
धनंजयं निजं मित्रं प्राप्तोऽस्मि तव चाहितः ॥ ९७ ॥

'पार्थ ! मैं तुम्हारा शत्रु हूँ और तुम्हारे सामने आ पहुँचा हूँ, अतः अब तुम अपनी रक्षा करो तथा माधव ! आप भी अपने मित्र अर्जुन एवं इनके रथको बचाइये' ॥ ९७ ॥

जैमिनिरुवाच

धावमानो महावीरश्छिन्नहस्तोऽर्जुनं प्रति ।
तमायान्तं तदा पार्थश्चतुर्भिः सायकैर्नृप ।
संधानमकरोच्चापे शृणु पार्थेन यत् कृतम् ॥ ९८ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! इतना कहकर कटे हुए हाथोंवाला महावीर सुरथ अर्जुनपर टूट पड़ा । तब उसे अपने ऊपर झपटते देखकर अर्जुनने अपने धनुषपर चार बाणोंका संधान किया । राजन् ! फिर अर्जुनने जो कुछ किया, उसे सुनिये ॥ ९८ ॥

एकेन हृदयं भित्त्वा द्वाभ्यां पादौ च चिच्छिदे ।
छिन्नपादोऽपि सुरथो यावद् याति रथं प्रति ॥ ९९ ॥
सर्वदेवमयेनाथ बाणेनास्य महच्छिरः ।
सकुण्डलं दीर्घनेत्रं तावच्चिच्छेद पाण्डवः ॥ १०० ॥

अर्जुनने एक बाणसे सुरथका हृदय विदीर्ण करके दो बाणोंसे उसके दोनों पैरोंको काट दिया । पैरोंके कट जानेपर भी जब सुरथ उनके रथकी ओर बढ़ने लगा, तब अर्जुनने एक सर्वदेवमय बाणसे उसके बड़े-बड़े नेत्रोंवाले तथा कुण्डलों-से सुशोभित विशाल सिरको भी काट गिराया ॥ ९९-१०० ॥

छिन्नपादं कबन्धं तद् धावमानमितस्ततः ।
पातयामास बहुलं सैन्यं पार्थस्य कूटवत् ॥ १०१ ॥

पैरों और मस्तकके कट जानेपर टूटे हुए पर्वत-शिखरकी भाँति इधर-उधर लुढ़कते हुए सुरथके धड़ने अर्जुनकी बहुत-सी सेनाको धराशायी कर दिया ॥ १०१ ॥

शिरो लग्नं पार्थभाले मूर्च्छितस्तेन पाण्डवः ।
भूमौ पपात तच्छीर्षं कृष्णस्य पदमन्वगात् ॥ १०२ ॥

उधर सुरथका सिर उछलकर अर्जुनके ललाटमें जा लगा, जिसके आघातसे वे मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े और वह सिर भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें जा गिरा ॥ १०२ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि सुरथवधो नाम विंशतितमोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें सुरथ-वधविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णका अर्जुनको पृथ्वीपरसे उठाकर रथपर बैठाना, अर्जुनद्वारा सुरथके सिरकी वन्दना, श्रीकृष्णका गरुडको बुलाकर सुरथके सिरको प्रयागमें डालनेके लिये भेजना, मार्गमें गरुडको जाते हुए देखकर शिवजीका भृंगीको मस्तक लानेके लिये भेजना, भृंगीका गरुडके पास जाना और उनके पंखकी वायुसे उड़कर शिवजीके पास गिरना, पुनः शिवजीकी आज्ञासे नन्दीश्वरका गरुडके पास जाना और अपने श्वाससे गरुडको चक्करमें डाल देना, गरुडका उड़ते हुए प्रयागमें जाकर सिर गिरा देना और नन्दीश्वरका उसे लाकर शिवजीको समर्पित करना, शिवजीद्वारा उसे अपनी मुण्डमालामें पिरोना, श्रीकृष्णका हंसध्वज और अर्जुनमें मेल कराकर हस्तिनापुर लौट जाना, घोड़ेका आगे जाकर घोड़ी और व्याघ्री होना, जनमेजयके पूछनेपर महर्षि जैमिनिका इसका कारण बताना, घोड़ेका घूमते हुए स्त्रीराज्यमें पहुँचना और वहाँ पकड़ा जाना

जैमिनिरुवाच

कृष्णो गृहीत्वा तच्छीर्षं हस्ताभ्यामब्रवीत् ततः ।
समुत्थाप्यार्जुनं भूम्याः समारोप्य स्वके रथे ॥ १ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको पृथ्वीपरसे उठाकर अपने रथपर बैठाया और सुरथके सिरको दोनों हाथोंमें लेकर कहा—॥ १ ॥

विद्धि पार्थ महाबाहुं सुरथं तथ्यवादिनम् ।
प्रतिज्ञा पालिता येन कृता सत्या ममान्तिके ॥ २ ॥

'पार्थ ! तुम इस महाबाहु सुरथको सत्यवादी समझो; क्योंकि इसने जो प्रतिज्ञा की थी, उसे मेरे सामने सत्य कर दिखायी' ॥ २ ॥

अर्जुन उवाच

पातितोऽस्म्यमुना देव त्वत्प्रसादात् पुनःस्थितः ।
तत्र कौतुकमेवात्र धन्योऽयं नेतरो जनः ॥ ३ ॥

अर्जुनने कहा—भगवन् ! इसने तो मुझे रणभूमिमें गिरा ही दिया था, परंतु आपकी कृपासे मैं पुनः उठ खड़ा हुआ हूँ । फिर भी इस विषयमें मुझे कुछ आश्चर्य नहीं हो रहा है । यह वीर धन्य है । इसके समान दूसरा कोई धन्यवादका पात्र नहीं है ॥ ३ ॥

तद् देहि मम हस्तेऽद्य वन्दाम्येतच्छिरो महत् ।
यथा शूरत्वमायामि स्पर्शात्तु शिरसो हरे ॥ ४ ॥
गृहीत्वा तत् स्वयं पार्थो ववन्दे श्मश्रुलं रणे ।

अतः हरे ! अब इस विशाल सिरको मेरे हाथमें दे दीजिये, मैं इसकी वन्दना करूँगा; जिससे इस मस्तकके स्पर्शसे मैं भी शूरताको प्राप्त होऊँ । यों कहकर अर्जुनने स्वयं ही उस मूँछसे सुशोभित सिरको लेकर युद्धस्थलमें उसकी वन्दना की ॥ ४½ ॥

कृष्णः सस्मार गरुडं स्मृतमात्रः समागतः ॥ ५ ॥
वैनतेयो नमस्कृत्य स्वनाथं चाग्रतः स्थितः ।

उसी समय श्रीकृष्णने गरुडका ध्यान किया । उनके स्मरण करते ही गरुड वहाँ आ पहुँचे और अपने स्वामीके चरणोंमें प्रणाम करके उनके आगे खड़े हो गये ॥ ५½ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

गृहीत्वैतद् विशालाक्षं शिरस्त्वं सुरथस्य च ॥ ६ ॥
प्रयागे पातयाशु त्वं नियोगान्मम काश्यपे ।

तब श्रीकृष्णने कहा—कश्यपनन्दन गरुड ! तुम मेरी आज्ञासे सुरथके इस विशाल नेत्रोंवाले सिरको ले जाकर शीघ्र ही प्रयागमें (त्रिवेणीके भीतर) डाल दो ॥ ६½ ॥

गरुड उवाच

जलमात्रं तत्र गङ्गा यमुना च सरस्वती ॥ ७ ॥
पातिते नूनमेतस्य किं कार्यं च भविष्यति ।
माधवोऽत्र भवान् भाति किमर्थं नीयते मया ॥ ८ ॥

गरुड बोले—भगवन् ! वहाँ (प्रयागमें) तो गङ्गा, यमुना और सरस्वतीका केवल जलमात्र है, अतः इस सिरके

डाल देनेसे इसका कौन-सा विशेष कार्य सम्पन्न हो जायगा; क्योंकि साक्षात् माधव आप तो यहीं विराजमान हैं, फिर मैं इसे किसलिये वहाँ ले जाऊँ ? ॥ ७-८ ॥

गङ्गाजले मनुष्यस्य यावदस्थि प्रतिष्ठते ।
तावत् स देही स्वर्गस्थः कुरुतेऽमृतभोजनम् ॥ ९ ॥
तवानने महत् तेजः प्रविष्टं सुरथस्य हि ।
तथापि तत्र यास्यामि सतामाज्ञा गरीयसी ॥ १० ॥
तव दासोऽस्मि गोविन्द दीयतां मत्करे शिरः ।

(यह ठीक है कि) मनुष्यकी हड्डी जबतक गङ्गाजलमें वर्तमान रहती है, तबतक वह प्राणी स्वर्गमें निवास करता है और वहाँ उसे अमृतस्वरूप भोजनकी प्राप्ति होती है, परंतु भगवन् ! सुरथका महान् तेज तो आपके मुखमें प्रवेश कर गया है (अतः इसे त्रिवेणी-जलमें डालनेकी क्या आवश्यकता है)। तथापि मैं वहाँ (इसे लेकर) जाऊँगा, क्योंकि सत्पुरुषोंकी आज्ञा सर्वश्रेष्ठ एवं शिरोधार्य होती है । गोविन्द ! मैं तो आपका दास ही हूँ; अतः लाइये, मेरे हाथमें मस्तक दीजिये ॥ ९-१०½ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

पावनं तत् प्रयागं मे भविष्यत्यमुना खग ॥ ११ ॥
कोशे मदीये वीरस्य शिरोरत्नं प्रपातय ।

श्रीकृष्णने कहा—आकाशचारी गरुड ! इस सिरके स्पर्शसे मेरा वह प्रयाग भी पावन हो जायगा । प्रयाग मेरा कोश है, अतः इस वीरके रत्नरूपी सिरको उस कोशमें डाल दो ॥ ११½ ॥

जैमिनिरुवाच

वैनतेयो गृहीत्वाथ सुरथस्य महच्छिरः ।
जगाम गगने यावत् तावत् तद् ददृशे हरः ॥ १२ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर जब गरुड सुरथके महान् सिरको लेकर [illegible]ाशमार्गसे जाने लगे, तब मार्गमें शिवजीने उसे देखा ॥ १२ ॥

पार्वतीसहितो नाके वृषारूढो गणैर्वृतः ।
कैलासनाथो भगवान् वरदः शूलधारकः ॥ १३ ॥

वहाँ स्वर्ग (के मार्ग) में वरदायक कैलासनाथ भगवान् शंकर पार्वतीजीके साथ नन्दीश्वरपर सवार थे । उनके हाथमें त्रिशूल शोभा पा रहा था और वे अपने पार्षदोंसे घिरे हुए थे ॥ १३ ॥

चराचरगुरुः शम्भुः सृष्टिकृल्लोकपालकः ।
पितामहादिदेवानामाराध्यः सुरथस्य कम् ॥ १४ ॥
नीयमानं काश्यपिना प्रयागं प्रति मारिष ।
उवाच भृङ्गिं लोकेशो याहि त्वं गरुडं प्रति ॥ १५ ॥

वे भगवान् शम्भु चराचर जगत्‌के गुरु, सृष्टिकर्ता, लोकपालक और ब्रह्मा आदि देवताओंके भी आराध्यदेव हैं । आर्य ! जब उन जगदीश्वरने सुरथके मस्तकको गरुडद्वारा प्रयागमें डालनेके लिये ले जाते हुए देखा, तब उन्होंने भृंगीसे कहा—'तुम गरुडके पास जाओ' ॥ १४-१५ ॥

पार्वती प्रत्युवाचाथ किमेतन्नीयतेऽमुना ।
गरुडेन विरूपाक्ष परं कौतूहलं हि मे ॥ १६ ॥

तब पार्वतीजीने पूछा—'विरूपाक्ष ! गरुड यह क्या लिये जा रहे हैं । इसे देखकर मुझे बड़ा कौतूहल हो रहा है (अतः इसे बतानेकी कृपा कीजिये)' ॥ १६ ॥

श्रीशिव उवाच

अर्जुनेन हतो वीरः शिरोऽस्य गरुडः शुभे ।
आदिष्टः किल कृष्णेन प्रयागे याति पातितुम् ॥ १७ ॥

भगवान् शिवने कहा—शुभे ! अर्जुनने वीरवर सुरथको मार डाला है और श्रीकृष्णकी आज्ञासे गरुड उसीके सिरको प्रयागमें डालनेके लिये जा रहे हैं ॥ १७ ॥

मयार्थं प्रेरितो भद्रे समानेतुं ममान्तिकम् ।
भृङ्गिस्तन्मुण्डमालार्थे शिरो ज्वलितकुण्डलम् ॥ १८ ॥

भद्रे ! उस प्रकाशयुक्त कुण्डलोंवाले सिरको अपनी मुण्डमालामें पिरोनेके निमित्त उसे अपने पास ले आनेके लिये मैंने इस भृंगीको आज्ञा दी है ॥ १८ ॥

भ्रातुरस्याहृतं पूर्वं शिरः कमललोचने ।
सुरथस्य द्वितीयं मे भविष्यति सुभूषणम् ॥ १९ ॥

कमललोचने ! मैंने इसके भाई सुधन्वाका सिर पहले ही ले रखा है, अब इस सुरथका सिर मिल जानेपर मेरे लिये दूसरा सुन्दर आभूषण होगा ॥ १९ ॥

धर्मिष्ठानां वदान्यानां कृतज्ञानां सदा मया ।
शूराणां जितकामानां शिरसां मण्डनं महत् ॥ २० ॥
ध्रियते किल वामोरु नेतरेषां कदाचन ।

वामोरु ! जो धर्मपरायण, उदार, कृतज्ञ, शूरवीर और कामपर विजय पानेवाले हैं, ऐसे सत्पुरुषोंके सिरको ही मैं सदा

सुन्दर आभूषणरूपमें धारण करता हूँ, इनके सिवा अन्य साधारण जनोंका सिर मैं कदापि ग्रहण नहीं करता ॥ २०½ ॥

जैमिनिरुवाच

महादेवस्य वचनं श्रुत्वा भृङ्गिः खगाधिपम् ॥ २१ ॥
प्राप्य वेगेन महता चेदं वचनमब्रवीत् ।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! महादेवजीकी बात सुनकर भृंगी बड़े वेगसे पक्षिराज गरुडके पास पहुँचे और यों कहने लगे ॥ २१½ ॥

भृङ्गिरुवाच

वैनतेय महाभाग देहि त्वं मत्करे शिरः ।
त्वत्तो बलाद् ग्रहीष्यामि न मां वेत्सि खगाधिप ॥ २२ ॥

भृंगी बोला—महाभाग गरुड ! तुम इस सिरको मेरे हाथमें समर्पित कर दो । पक्षिराज ! (यदि नहीं दोगे तो) मैं बलपूर्वक इसे छीन लूँगा । क्या तुम मुझे नहीं जानते हो ? ॥

नाहं सर्पो वैनतेय भयं कुर्वे न तावकम् ।
मुञ्च मुञ्च न जानासि मम तेजः सुदारुणम् ॥ २३ ॥

विनतानन्दन ! मैं सर्प नहीं हूँ; अतः तुम्हारा कुछ भी भय नहीं मानता । तुम इस मस्तकको शीघ्र छोड़ दो, छोड़ दो । क्या तुम मेरे अत्यन्त भयंकर तेजको नहीं जानते ? ॥ २३ ॥

ततस्तं गरुडो भृङ्गिं पक्षाभ्यामवधूय हि ।
जगाम तीर्थराजं हि भृङ्गिस्त्रिनयनं गतः ॥ २४ ॥
पक्षवातेन घोरेण तरसा शुष्कपर्णवत् ।
पार्वती तं समीक्ष्याथ प्रहसन्ती वचोऽब्रवीत् ॥ २५ ॥

तब गरुड उस भृंगीको अपने दोनों पंखोंकी वायुसे उड़ाकर तीर्थराज प्रयागको चल दिये और भृंगी उनके पंखकी भयंकर वायुसे सूखे पत्तेकी भाँति उड़ता हुआ शीघ्र ही शंकरजीके पास जा गिरा । तब पार्वतीजी उसकी ऐसी दशा देखकर हँसती हुई बोलीं ॥ २४-२५ ॥

पार्वत्युवाच

शिवदूत न जानासि गरुडं हरिवाहनम् ।
यस्य त्वं पक्षवातेन प्राप्तोऽसि हरसंनिधौ ॥ २६ ॥

पार्वतीजीने कहा—शिवदूत ! जिनके पंखकी वायुसे प्रेरित होकर तुम शिवजीके निकट आ गिरे हो, उन विष्णु-वाहन गरुडको क्या तुम नहीं जानते थे ? ॥ २६ ॥

शुष्कगात्रं कथं दूतं बलहीनं हि शङ्कर ।
भवांस्तन्नोदयेद् वीरं गरुडं पन्नगाशनम् ॥ २७ ॥

(भृंगीसे ऐसा कहकर पार्वतीजी पुनः शिवजीसे कहने लगीं—) 'कल्याणकारी देव ! आपने इस सूखे हुए शरीरवाले निर्बल दूतको सर्पभोजी महाबली गरुडके पास कैसे भेज दिया ? ॥ २७ ॥

वृषो वृद्धो यस्य पत्रं प्रिया सागरगामिनी ।
गजचर्म परं वस्त्रं शस्त्रं खट्वाङ्गमेव च ॥ २८ ॥
प्रियावचनमाकर्ण्य प्रसन्नः शङ्करोऽब्रवीत् ।

'परंतु जिनका वाहन बूढ़ा बैल है, प्रिया गङ्गा सागरके पास गमन करनेवाली है, गजचर्म ही उत्तम वस्त्र है और खट्वाङ्ग ही श्रेष्ठ आयुध है (वे योग्यायोग्यका विचार क्या करेंगे ?) अपनी प्रियतमा पत्नीके ऐसे वचन सुनकर शंकरजी प्रसन्न होकर बोले ॥ २८½ ॥

श्रीशङ्कर उवाच

वृष गच्छ मयाऽऽज्ञप्तो वैनतेयात् समानय ॥ २९ ॥
यथा दूतबलं वेत्ति पार्वती वरवर्णिनी ।

भगवान् शंकरने कहा—वृषभ नन्दी ! तुम मेरी आज्ञासे गरुडके पास जाओ और उनसे उस सिरको ले आओ, जिससे इन श्रेष्ठ वर्णवाली पार्वतीको मेरे दूतके बलका ज्ञान हो जाय ॥ २९½ ॥

नन्दी हरसमादिष्टो जगाम गरुडं प्रति ॥ ३० ॥
ग्रहीतुं तच्छिरो रम्यं कोपेन महता युतः ।

तब भगवान् शंकरकी आज्ञा पाकर नन्दीश्वरने अत्यन्त कुपित हो उस रमणीय सिरको छीन लेनेके लिये गरुडपर आक्रमण किया ॥ ३०½ ॥

वृषनासाप्रवातेन गरुडस्य कलेवरम् ॥ ३१ ॥
बभ्राम भूतलं सर्वं तस्मिन् काले विशाम्पते ।

प्रजानाथ ! उस समय नन्दीश्वरकी श्वास-वायुसे प्रेरित होकर गरुडका शरीर सारे भूतलपर चक्कर काटने लगा ॥

न शशाक स्ववातेन नीयमानं खगाधिपम् ॥ ३२ ॥
तदा धारयितुं रोषात् तूलं गज इवाङ्गणे ।

उस समय रोषमें भरे रहनेपर भी नन्दीश्वर अपनी श्वाससे उड़ाये जाते हुए पक्षिराज गरुडको पकड़नेके लिये उसी प्रकार समर्थ न हो सके, जैसे आँगनमें उड़ती हुई रूईको हाथी नहीं पकड़ सकता ॥ ३२½ ॥

वनानि सरितश्चैव गिरीन् याति च सागरान् ॥ ३३ ॥
सत्यलोकं च कैलासं वैकुण्ठमपि पावनम् ।
ततो देववशादेव प्रयागमगमत् खगः ॥ ३४ ॥

गरुड वायुके थपेड़े खाते-खाते अनेकों वन, नदी, पर्वत और समुद्रोंपर घूमते फिरे, पुनः सत्यलोक, कैलास और परम पावन वैकुण्ठलोकतक भी गये। तत्पश्चात् भाग्यवश वे प्रयागमें जा पहुँचे ॥ ३३-३४ ॥

मुमोच तीर्थे तत्राशु कृष्णवाक्यमनुस्मरन् ।
पातितं जलमध्ये तु गृहीतं नन्दिना तदा ॥ ३५ ॥

वहाँ भगवान् श्रीकृष्णके वचनोंका स्मरण करके उन्होंने शीघ्र ही उस सिरको प्रयागतीर्थमें छोड़ दिया। तब जलके बीचमें गिराये हुए उस सिरको नन्दीश्वरने उठा लिया ॥ ३५ ॥

गरुडोऽपि महाविष्णुं पुनः प्राप्तो हसन्निव ।
नन्दी ददौ शम्भुकरे शिरो ज्वलितकुण्डलम् ॥ ३६ ॥
शम्भुना मुण्डमालायां मध्ये रत्नं शिरः कृतम् ।

तदनन्तर गरुड हँसते हुए-से पुनः भगवान् महाविष्णुके पास लौट गये और नन्दीने उद्दीप्त कुण्डलोंसे सुशोभित उस सिरको ले जाकर भगवान् शिवके हाथमें सौंप दिया। तब शंकरजीने उस सिरको अपनी मुण्डमालाका एक रत्न बना लिया ॥ ३६½ ॥

हंसध्वजोऽपि तं पुत्रं पतितं वीक्ष्य सत्वरः ॥ ३७ ॥
रथमारुह्य सबलः प्रायाद् योद्धुं धनंजयम् ।
कम्पिता पृथिवी देवी शेषोऽपि चलितोऽभवत् ॥ ३८ ॥

इधर राजा हंसध्वज भी अपने पुत्र सुरथको रणक्षेत्रमें गिरा हुआ देखकर तुरंत ही रथपर सवार हो सेनासहित अर्जुनका मुकाबला करनेके लिये आगे बढ़े। उस समय पृथ्वीदेवी काँपने लगीं और भगवान् शेष भी अपने स्थानसे विचलित हो उठे ॥ ३७-३८ ॥

तं वीक्ष्य कुपितं वीरं सबलं तरसा हरिः ।
रथात् समुत्तीर्य तदा प्रसार्य स्वकरौ स्थितः ॥ ३९ ॥
उवाच केशवो वीरं हंसध्वजमकल्मषम् ।

तब सेनासहित क्रोधमें भरे हुए उस वीरको आते देखकर भगवान् श्रीकृष्ण तुरंत रथसे उतर पड़े और अपने दोनों हाथोंको फैलाकर खड़े हो गये। फिर केशवने निष्पाप एवं वीरवर राजा हंसध्वजसे कहा ॥ ३९½ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

आलिङ्गनं देहि विभो प्रीतिश्च महती त्वयि ।
रणात् कोपं परित्यज्य पुत्रशोकं च मारिष ॥ ४० ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—विभो ! आइये, मेरा आलिङ्गन कीजिये; क्योंकि मेरा आपपर बहुत बड़ा स्नेह है। आर्य ! अब आप युद्धजन्य कोप तथा पुत्रशोकका परित्याग कर दीजिये ॥ ४० ॥

हंसध्वजो वीक्ष्य हरिं रथात् भूमिमगात् तदा ।
समालिङ्ग्य हरिं तस्थौ प्रहसन् वाक्यमब्रवीत् ॥ ४१ ॥

तब राजा हंसध्वज भगवान् श्रीकृष्णको देखकर रथसे पृथ्वीपर उतर पड़े और उनका आलिङ्गन करके सामने खड़े हो गये। फिर हँसते हुए कहने लगे ॥ ४१ ॥

हंसध्वज उवाच

प्राप्तोऽस्म्यनाथो नाथं त्वां पुत्रशोकश्च कीदृशः ।
भवाद् भयं न मे देव नान्यतो वा न कालतः ॥ ४२ ॥

हंसध्वज बोले—भगवन् ! जब मुझ अनाथको आप-जैसे स्वामी मिल गये हैं, तब अब कैसा पुत्र-शोक ? देव ! अब तो मुझे भव (संसार) से या अन्य किसीसे अथवा कालसे भी भय नहीं रहा ॥ ४२ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

मुञ्चाश्वं पाण्डवं रक्ष गमिष्यामि युधिष्ठिरम् ।
यथाहं पाण्डवस्यार्थे संत्यजामि कलेवरम् ॥ ४३ ॥
तथा भवानपि रणे पालयत्वेनमर्जुनम् ।
पार्थं पश्य सखायं मे रथोपरि सुसंस्थितम् ॥ ४४ ॥

तब भगवान् श्रीकृष्णने कहा—राजन् ! अब आप उस यज्ञिय अश्वको छोड़ दीजिये और अर्जुनकी रक्षा कीजिये। मैं तो अब युधिष्ठिरके पास चला जाऊँगा; परंतु जैसे मैं इन पाण्डुनन्दनकी रक्षाके निमित्त अपने शरीरका परित्याग करनेको उद्यत रहता हूँ, उसी तरह आप भी रणक्षेत्रमें इन अर्जुनकी रक्षा कीजिये। देखिये, मेरे सखा अर्जुन वहाँ रथपर सुखपूर्वक बैठे हैं ॥ ४३-४४ ॥

ततोऽर्जुनं समानीय केशवः क्लेशनाशनः ।
उभयोः संगमं कृत्वा मोचयित्वा तुरङ्गमम् ॥ ४५ ॥
पञ्चरात्रं स्थितस्तस्मिन् नगरे केशवो गतः ।
युधिष्ठिरस्य नगरं प्राप्य सर्वं न्यवेदयत् ॥ ४६ ॥

तत्पश्चात् कष्टहारी भगवान् केशवने अर्जुनको लाकर उन दोनोंमें मेल करा दिया और उस यज्ञिय अश्वको मुक्त कराकर पाँच राततक उस नगरमें ठहरनेके पश्चात् वे हस्तिनापुरको चले गये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने महाराज युधिष्ठिरसे सारा वृत्तान्त निवेदन किया॥ ४५-४६॥

तुरगो बन्धनान्मुक्तः परिबभ्राम मेदिनीम्।
तमनुप्रययौ पार्थो मरालध्वजसंयुतः॥ ४७॥

इधर बन्धनसे मुक्त होकर वह अश्व पृथ्वीपर परिभ्रमण करने लगा और हंसध्वजसहित अर्जुन उसके पीछे-पीछे चले॥

प्रद्युम्नप्रमुखैर्वीरैः पाल्यमान उदङ्मुखः।
मुक्तमात्रः स तुरगः प्राप्तो देशान् भयानकान्॥ ४८॥

प्रद्युम्न आदि प्रमुख वीरोंद्वारा सुरक्षित वह अश्व बन्धन-मुक्त होते ही उत्तर दिशाकी ओर जाते हुए बड़े भयानक देशोंमें जा पहुँचा॥ ४८॥

रथिभिः पञ्चभिः सार्धं पार्थस्तं नैव मुञ्चति।
हंसध्वजो विशालाक्षो रुक्मिणीतनयस्तथा॥ ४९॥
अनुशाल्वो महाबाहुर्वृषकेतुर्महाबलः।
सुवेगः पञ्चमश्चैव सर्वे रक्षन्ति पाण्डवम्॥ ५०॥

अर्जुन भी पाँच रथी वीरोंको साथ लिये हुए उस घोड़ेका पीछा नहीं छोड़ते थे। उस समय हंसध्वज, विशालनयन रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न, महाबाहु अनुशाल्व, महाबली वृषकेतु और पाँचवें सुवेग—ये सभी वीर अर्जुनकी रक्षा करते रहते थे॥ ४९-५०॥

तुरगो जलपानार्थं प्रविष्टो नलिनीयुतम्।
महत्सरोऽभवत्तत्र तुरगी निर्गता बहिः॥ ५१॥

उस देशमें एक महान् सरोवर था, जिसमें कमल खिल रहे थे। उस सरोवरमें जलपान करनेके लिये वह घोड़ा घुसा, परंतु वह घोड़ी होकर बाहर निकला॥ ५१॥

तां वीक्ष्य विस्मिताः सर्वे किमिदं दैवकारितम्।
तुरगस्तुरगी जाता वनं चैतत् सुदारुणम्॥ ५२॥

उस घोड़ीको देखकर सभी लोग आश्चर्यचकित होकर कहने लगे—'अहो! यह कैसा प्रारब्धका खेल है कि घोड़ा घोड़ीके रूपमें परिवर्तित हो गया? यह वन तो बड़ा भयंकर प्रतीत हो रहा है'॥ ५२॥

पृष्ठतोऽनुययुः सर्वे ततः प्राप्तापरं सरः।
प्रविष्टा जलमध्ये सा ततो व्याघ्री बभूव ह॥ ५३॥

तदनन्तर सब लोग उस घोड़ीके पीछे चले। वह एक दूसरे सरोवरपर जा पहुँची और फिर उसके जलमें प्रवेश करते ही वह व्याघ्री हो गयी॥ ५३॥

अब्रुवन् पार्थमुख्यास्ते किमिदं हि भविष्यति।
निर्ययौ सोऽपि मृगयुस्तस्मात्तोयाज्जनाधिप॥ ५४॥

जनेश्वर! जब उस सरोवरके जलसे वह घोड़ी शेरनी होकर निकली, तब वे अर्जुन आदि प्रमुख वीर कहने लगे कि यह क्या होनेवाला है?॥ ५४॥

जनमेजय उवाच

आश्चर्यं भवता चोक्तं वने तस्मिन् महामुने।
किं कारणं जले तस्मिन् प्रविष्टे तुरगे तदा॥ ५५॥
तत्क्षणाद् वडवा जाता कारणं तत्र किं द्विज।
किं तत् सरोवरं किं तद् वडवा केन हेतुना॥ ५६॥
जाता पुनर्व्याघ्रतां च सर्वं संशयितं विभो।
स कथं तुरगो जातः पुनरेव वदस्व तत्॥ ५७॥

जनमेजयने पूछा—महामुने! आपने उस वनमें जो आश्चर्ययुक्त बात कही है, उसका क्या कारण है? ब्रह्मन्! किस कारणसे उस जलमें प्रवेश करते ही वह घोड़ा घोड़ी हो गया? विभो! वह सरोवर कैसा था? और वह वन क्या था तथा किस हेतुसे घोड़ा घोड़ी हो गया और फिर वह व्याघ्रकी योनिमें परिवर्तित हो गया? पुनः वह घोड़ा कैसे हुआ? ये सभी बातें संशय उत्पन्न करनेवाली हैं; अतः इसका रहस्य बतलानेकी कृपा कीजिये॥ ५५—५७॥

जैमिनिरुवाच

शृणु राजन् पुरा वृत्तं वने चास्मिन् सरोवरे।
उमावनं सरो रम्यं तया तप्तं महत् तपः॥ ५८॥

जैमिनिजीने कहा—राजन्! इन वन और सरोवरके सम्बन्धमें एक प्राचीन इतिहास है, (उसे बताता हूँ) सुनिये। यह रमणीय सरोवरसे युक्त वन पार्वतीका तपोवन है। यहाँ उन्होंने बड़ी उग्र तपस्या की थी॥ ५८॥

रुद्रः प्रसन्नः सततं मम भूयादितीच्छया।
तपश्चरामि भो स्वामिन् विघ्ननाशं सदा कुरु॥ ५९॥
इति संकल्प्य सा देवी चिरं तेपे महत् तपः।
तत्र कश्चिद् दुराचारो दैत्यो विघ्नार्थमागमत्॥ ६०॥

एक बार पार्वतीदेवी 'भगवान् रुद्र सदा मुझपर प्रसन्न रहें—ऐसी कामनासे मैं तप करना चाहती हूँ। भो स्वामिन्! आप मेरे विघ्नोंका निवारण करते रहें' ऐसा संकल्प करके चिरकालके लिये कठोर तपमें संलग्न हुईं। तब वहाँ कोई दुराचारी दैत्य तपमें विघ्न डालनेके लिये आया ॥५९-६०॥

स प्राह देवीं तत्रस्थां किमर्थं तप्यसे तपः।
वपुस्ते सुन्दरं भद्रे किमलभ्यं तवाधुना ॥ ६१ ॥
सर्वं दास्याम्यहं तुभ्यं मम भार्या भवानघे।

वह वहाँ बैठी हुई पार्वतीदेवीसे कहने लगा—'भद्रे! तुम किसलिये तपस्या कर रही हो? तुम्हारा शरीर तो बड़ा सुन्दर है, अतः अब तुम्हारे लिये क्या दुष्प्राप्य है? पापरहिते! तुम मेरी भार्या बन जाओ, मैं तुम्हें सब कुछ प्रदान कर दूँगा' ॥ ६१½ ॥

निशम्य नीचवाक्यानि सा देवी कुपिता च तम्॥ ६२ ॥
शशाप रोषताम्राक्षी भस्मी भव सुदुर्मते।

उस दैत्यके ऐसे क्षुद्र वचन सुनकर देवी पार्वती क्रुद्ध हो गयीं। उनके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये और वे उसे शाप देती हुई बोलीं—'दुर्बुद्धे! जा, तू भस्म हो जा' ॥ ६२½ ॥

ततस्तं भस्मसात् कृत्वा प्राह सा वनदेवताः ॥ ६३ ॥
अद्यप्रभृति मद्वाक्याद् वने चास्मिन् सरोवरे।
आगमिष्यति यः कश्चिन्मामवज्ञाय मूढधीः।
स्त्रीलिङ्गचिह्नितो नूनं भविष्यति न संशयः ॥ ६४ ॥

तत्पश्चात् उस दैत्यको भस्म करके उन्होंने वनदेवताओंसे कहा—'आजसे जो कोई भी मन्दबुद्धि मेरी अवज्ञा करके इस वनके भीतर सरोवरमें प्रवेश करेगा, वह मेरी आज्ञासे निश्चय ही स्त्रीलिंगसूचक चिह्नोंसे संयुक्त हो जायगा—इसमें संदेह नहीं है' ॥ ६३-६४ ॥

तदा प्रभृति भो राजन् प्रविशेद् यः पुमान् कुधीः।
स्त्रीचिह्नं दृश्यते सद्यो देव्याः शापेन पाण्डव ॥ ६५ ॥

पाण्डुवंशी राजन्! तबसे जो भी दुर्बुद्धि पुरुष इस वनके सरोवरमें प्रवेश करता है, उसके शरीरमें देवीके शापसे तुरंत स्त्रीसूचक चिह्न दीखने लग जाते हैं ॥ ६५ ॥

अतोऽयं तुरगः सद्यो जलस्पर्शेन तत्क्षणात्।
वडवात्वं समापन्नस्तत् सर्वं शापकारणम् ॥ ६६ ॥

तुरंत घोड़ीके लक्षणोंसे संयुक्त हो गया। वह सब देवीके शापका ही प्रभाव था ॥ ६६ ॥

यस्त्वया ह्यपरः प्रश्नो हरिर्व्याघ्रो यथाभवत्।
तमाकर्णय राजेन्द्र पृच्छतः कथयामि ते ॥ ६७ ॥

राजेन्द्र! तुमने जो दूसरा प्रश्न किया था कि वह घोड़ी व्याघ्री कैसे हो गयी? उसका रहस्य तुम्हारे पूछनेपर मैं कहता हूँ, सुनो ॥ ६७ ॥

पुरा कृतयुगे विप्रो ह्यकृतव्रणसंज्ञकः।
पर्यटन् सकलां पृथ्वीं तीर्थयात्रार्थमादरात् ॥ ६८ ॥

पहलेकी बात है, सत्ययुगमें एक अकृतव्रण नामक ब्राह्मण थे। वे तीर्थयात्राके निमित्त श्रद्धापूर्वक सारी पृथ्वीपर पर्यटन कर रहे थे ॥ ६८ ॥

तत्र तत्र तपस्तप्त्वा कदाचित् कालपर्ययात्।
इमं देशमनुप्राप्तो दृष्ट्वा चैतन्महत् सरः ॥ ६९ ॥
स्नातुं प्रविष्टः शुद्धात्मा जपन् मन्त्रांश्च वारुणान्।
पीत्वा स्नात्वा च विधिवन्निर्गतः स जलाद्बहिः ॥ ७० ॥
जलग्राहस्तस्य पादे कश्चिल्लग्नः सुदारुणः।
दन्तैस्तुदन्तं तमृषिं कर्षयन्तं महाजले ॥ ७१ ॥

उन-उन तीर्थोंमें तपस्या करके कालक्रमसे वे कभी इस देशमें आ पहुँचे तथा इस विशाल सरोवरको देखकर वे शुद्धात्मा विप्र वरुणसम्बन्धी मन्त्रोंका जप करते हुए उसमें स्नान करनेके लिये प्रविष्ट हुए और विधिपूर्वक स्नान एवं जलपान करके जब वे जलसे बाहर निकलने लगे, तब किसी अत्यन्त भयंकर जलग्राहने उनके पैरको पकड़ लिया और दाँतोंसे काटता हुआ वह उन विप्रर्षिको अगाध जलकी ओर खींचने लगा ॥ ६९-७१ ॥

दृष्ट्वा तं दारुणं ग्राहं कर्षयन्तं पुनः पुनः।
कोऽयं दुष्टतरः प्राप्तो जलेऽस्मिन् कर्षते बलात् ॥ ७२ ॥
दैत्यो वा दानवश्चायं मत्स्यो दुष्टतरोऽथवा।
दुष्टे जले प्रवेशोऽद्य कथमासीन्मतिर्मम ॥ ७३ ॥

उस भयंकर ग्राहको बारंबार अपनी ओर खींचते देखकर मुनि विचार करने लगे—'यह किस घोर पापीसे पाला पड़ गया, जो मुझे बलपूर्वक इस जलमें घसीट ले जाना चाहता है? यह कोई दैत्य या दानव है अथवा कोई अत्यन्त दुष्ट मत्स्य है? साथ ही इस दूषित जलमें प्रवेश करनेके लिये

इति संचिन्त्य मनसा कोपाविष्टोऽभवन्मुनिः ।
शशाप तज्जलं दुष्टं जलस्थां तत्र देवताम् ॥ ७४ ॥

ऐसा मनमें विचारकर मुनि अकृतव्रण क्रोधमें भर गये और उस दूषित जल तथा वहाँ अधिष्ठित जलदेवताको शाप देते हुए बोले—॥ ७४ ॥

अस्मिञ्जले सुदुष्टे हि यस्तु स्पर्शं करिष्यति ।
स तु व्याघ्रो भवेत् सद्यो नानृतं मम भाषितम् ॥ ७५ ॥

'जो इस अत्यन्त दूषित जलका स्पर्श करेगा, वह तुरंत ही व्याघ्र हो जायगा । मेरा यह कथन मिथ्या नहीं होगा' ॥

इत्युक्त्वा प्रययौ विप्रो मोचयित्वा ग्रहं बलात् ।
तदा प्रभृति पानीयमेतद् दुष्टमभून्नृप ॥ ७६ ॥

ऐसा कहकर वे ब्राह्मणदेव बलपूर्वक अपनेको उस ग्राह-से मुक्त करके अन्यत्र चले गये । राजन् ! तभीसे यह जल दूषित हो गया ॥ ७६ ॥

इति पृष्टं त्वया यत् तु तत् सर्वं कथितं मया ।
भूयः कथं स तुरगो जातस्तत् तु निबोध मे ॥ ७७ ॥

इस प्रकार तुमने जो पूछा था, वह सब मैंने तुमसे कह सुनाया । पुनः वह व्याघ्रसे घोड़ा कैसे हो गया—इसका भी रहस्य तुम मुझसे सुनो ॥ ७७ ॥

अर्जुनस्तुरगं दृष्ट्वा व्याघ्ररूपं भयानकम् ।
मनसा चिन्तयामास विष्णुं सर्वभयापहम् ॥ ७८ ॥

अर्जुनने जब उस यज्ञिय अश्वको भयानक व्याघ्रके रूपमें परिवर्तित हुआ देखा, तब वे अपने मनमें समस्त भयोंका विनाश करनेवाले भगवान् विष्णु (श्रीकृष्ण) का ध्यान करने लगे—॥ ७८ ॥

यस्य प्रभावान्मुक्ताः स्मो दुर्योधनभयात् पुरा ।
स देवः पातु मां त्वत्र विषमेऽस्मिन् सुदारुणे ॥ ७९ ॥

'जिनके प्रभावसे हम पहले दुर्योधनके भयसे मुक्त हुए थे, वे ही भगवान् इस अत्यन्त घोर संकटके समय यहाँ मेरी रक्षा करें ॥ ७९ ॥

सैनिकान् मोहयन् रात्रौ दिवा च यदुनन्दनः ।
यज्ञं युधिष्ठिरस्याद्य सिद्धिं नयतु सोऽच्युतः ॥ ८० ॥

'जो यदुनन्दन रात-दिन सैनिकोंको मोहमें डालते रहते हैं, वे अच्युत आज महाराज युधिष्ठिरके यज्ञको सिद्धि प्रदान करें' ॥ ८० ॥

इति ध्यात्वा हरिं पार्थस्तस्थिवानकुतोभयः ।
तस्मिन् क्षणे व्याघ्ररूपं त्यक्त्वा चाश्वोऽभवत् पुनः॥८१॥

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान करके जब अर्जुन निर्भय होकर खड़े हो गये, तब उसी क्षण वह यज्ञिय अश्व व्याघ्ररूपका परित्याग करके पुनः घोड़ा हो गया ॥ ८१ ॥

पूर्वरूपं हयं दृष्ट्वा हर्षात् ते ननृतुर्भृशम् ।
नानाविधानि वाद्यानि वादयन्तो मुदा ययुः ॥ ८२ ॥

तब घोड़ेको अपने पूर्वरूपमें परिवर्तित हुआ देखकर सभी सैनिक अत्यन्त हर्षित होकर नाचने लगे और नाना प्रकारके बाजे बजाते हुए वे आनन्दपूर्वक आगे बढ़े ॥ ८२ ॥

ततो दैववशाज्जातः पुनः स तुरगो ययौ ।
नानाविधांस्ततो देशान् स्त्रीमयान् सुरसानपि ॥ ८३ ॥

तदनन्तर भाग्यवश व्याघ्रसे घोड़ा बना हुआ वह अश्व नाना प्रकारके देशोंमें परिभ्रमण करता हुआ उन उत्तम रसमय देशोंमें जा पहुँचा, जहाँ केवल स्त्रियाँ ही निवास करती थीं ॥

स्त्रियश्च सन्ति गहनाः सुरूपा नवयौवनाः ।
राज्यं नारी च कुरुते न पुमांस्तत्र जीवति ॥ ८४ ॥

वहाँ सुन्दर रूप एवं गम्भीर स्वभाववाली नवयौवना स्त्रियाँ रहती थीं और उस राज्यका संचालन भी एक स्त्री ही करती थी । वहाँ पहुँचकर पुरुष जीवित नहीं रह पाता था ॥

यस्तासां संगतिं कुर्याद् रूपलावण्यमोहितः ।
मुखवासेन रम्येण नयनाञ्चलताडितः ॥ ८५ ॥
गीतेनाथ च नृत्येन हास्येन मृदुभाषितैः ।
मासमात्रं स्त्रियं प्राप्य पश्चात् प्राप्नोति वैशसम्॥ ८६ ॥

जो पुरुष उनके रूप-लावण्यपर मुग्ध, नयन-कटाक्षोंसे घायल और मनोहर मुखवास, गीत, नृत्य, हास्य एवं मधुर वचनोंसे आकृष्ट होकर उनकी संगति करता था, वह केवल एक मासतक उनका उपभोग करके पीछे मृत्युका ग्रास बन जाता था ॥ ८५-८६ ॥

रतं समतरं कृत्वा विषमं दंशनं पुनः।
नखप्रहारैर्विविधैर्हा हतास्मीति भाषणैः ॥ ८७ ॥
ताडनैर्मुष्टिघातैश्च ग्रहणैर्मुखचुम्बनैः।
जिह्वाघातेन समदं कूजितैः पक्षिसंनिभैः ॥ ८८ ॥
वन्दनैर्वीक्षणैर्वक्रैस्तव दासीति भाषणैः।
आगतोऽसि गतश्चासि त्वया कान्या स्मृताधुना॥८९॥
जननी तव का प्राप्ता भगिनी गच्छ मद्गृहात्।
भावलाभेन सहितः संजातो वद सुव्रत ॥ ९० ॥
एवंविधैर्वचोभिस्ताः कुर्वन्ति गतजीवितम्।
तेनैव स्वेन लिङ्गेन प्रविशन्ति हुताशनम् ॥ ९१ ॥

वे अत्यन्त सम रति और विषम दंशन करके नाना प्रकारके नख-प्रहार, 'हा ! मैं मारी गयी'—ऐसे भाषण, ताडन, मुष्टिप्रहार, ग्रहण, मुखचुम्बन, जिह्वाका आघात, मदमत्त पक्षियोंकी-सी बोली, वन्दन, तिरछी चितवन, 'मैं तुम्हारी दासी हूँ' ऐसे कथन, तुम आ गये, कहाँ चले गये थे ? तुमने इस समय किस स्त्रीका स्मरण किया था ? क्या तुम्हारी माता या बहिन आ गयी थी ? मेरे घरसे चले जाओ! सुव्रत ! बताओ तो, तुम्हारा मन संतुष्ट हो गया—इस प्रकारके वचनोंद्वारा वे पुरुषोंको जीवनी-शक्तिसे रहित कर देती थीं और स्वयं अपने उसी स्त्रीरूपसे अग्निमें प्रवेश कर जाती थीं ॥८७–९१ ॥

काचिज्जीवति सा गर्भं धत्ते कन्यां प्रसूयते।
प्रविष्टस्तुरगः पार्थो वीरैः पञ्चभिरावृतः ॥ ९२ ॥

परंतु यदि कोई स्त्री जीवित रहती तो वह गर्भ धारण करती और कन्याको ही जन्म देती थी। ऐसे देशमें वह यज्ञिय अश्व तथा पाँचों वीरोंसे घिरे हुए अर्जुन जा पहुँचे ॥ ९२ ॥

उवाच तान् महावीरान् वयं स्त्रीमण्डले स्थिताः।
अत्रैता विषकन्याश्च तिष्ठन्ति बलसंयुताः ॥ ९३ ॥
नयिष्यन्ति हयं घोराः कष्टमत्र भविष्यति।

उस समय अर्जुनने अपने उन महाबली योद्धाओंसे कहा—'वीरो ! हमलोग स्त्री-राज्यमें आ गये हैं। यहाँ विषकन्याएँ निवास करती हैं, ये बड़ी बलवती हैं। यदि कहीं ये भयंकर कन्याएँ घोड़ेको पकड़ ले जायँगी तो यहाँ बड़ा कष्ट उठाना पड़ेगा' ॥ ९३½ ॥

एवं ब्रुवति पार्थे च स्त्रीणां वृन्दं समागतम् ॥ ९४ ॥
हयारूढं चम्पकाभं मुक्तामालाविभूषितम्।
नानालंकारसंयुक्तं हावभावसमन्वितम् ॥ ९५ ॥
बद्धचामरमाकण्ठे सतूणं सधनुर्धरम्।
अर्जुनाश्वं गृहीत्वाथ नारी काचन निर्गता ॥ ९६ ॥

अर्जुन ऐसा कह ही रहे थे कि स्त्रियोंका दल वहाँ आ पहुँचा। उस दलकी सभी नारियाँ घोड़ोंपर सवार थीं। उनके शरीरकी आभा चम्पाके पुष्पके समान थी। वे मुक्ताहारसे विभूषित, नाना प्रकारके अलंकारोंसे सुसज्जित और तरह-तरहके हाव-भावसे सम्पन्न थीं। उनके कण्ठतक चामर बँधे हुए थे तथा वे सभी तरकससहित धनुष धारण किये हुए थीं। उनमेंसे कोई एक स्त्री अर्जुनके घोड़ेको लेकर चलती बनी ॥ ९४–९६ ॥

स्वामिनीं प्रति गत्वा सा दर्शयामास वाजिनम्।
युधिष्ठिरस्य भ्राताऽत्र तुरङ्गं प्रतिरक्षति।
तवादेशान्मया नीतस्तुरगः किं करोम्यतः ॥ ९७ ॥

वह अपनी स्वामिनीके पास जाकर घोड़ेको दिखलाती हुई कहने लगी—'रानी ! युधिष्ठिरके भाई अर्जुन यहाँ हमारे देशमें इस अश्वकी रक्षा कर रहे हैं, परंतु आपके आदेशानुसार मैं इस घोड़ेको पकड़ लायी हूँ। अब आगे मुझे क्या करना है ?' ॥ ९७ ॥

राज्ञ्युवाच

वाजिशालां नयैनं त्वं यामि पार्थं च योधितुम्।
सा चकार ततः सर्वं राज्ञी पाण्डवमन्वगात् ॥ ९८ ॥

रानीने कहा—तुम इसे मेरी घुड़सालमें ले जाओ और मैं अर्जुनका सामना करनेके लिये चलती हूँ। तब उसने रानीकी सभी आज्ञाओंका पालन किया और स्वयं रानी अर्जुनके पास चली ॥ ९८ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि स्त्रीराज्ये गमनं नामैकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें अश्वका स्त्रीराज्यमें गमननामक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशोऽध्यायः

प्रमीलाकी अर्जुनसे प्रणय-याचना, अर्जुनके अस्वीकार करनेपर युद्धारम्भ, युद्धमें प्रमीलाद्वारा अर्जुनके सम्मोहनास्त्रका छेदन, अर्जुनके पुनः युद्धोद्योग करनेपर आकाशवाणीद्वारा उनका निवारण, अर्जुनद्वारा प्रमीलाका वरण और प्रमीलाका हस्तिनापुरगमन, घोड़ेका अनेक भयानक देशोंमें घूमते हुए राक्षस भीषणके नगरमें जाना, भीषण और उसके पुरोहित मेदोहाकी बातचीत, भीषणका युद्धके लिये प्रस्थान, राक्षसीका अपने स्तनोंद्वारा सेनाका संहार करना, अर्जुनके पराक्रमसे प्राण-संकट आनेपर भीषणद्वारा राक्षसी मायाका प्रयोग, अर्जुनद्वारा भीषणका वध, अर्जुनका घोड़ेके साथ मणिपुर नगरमें जाना

जैमिनिरुवाच

चन्द्राननानां वीराणां लक्षेण परिवारिता।
तुरगानधिरूढानां स्थिता पार्थरथं प्रति ॥ १ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर एक लाख चन्द्रमुखी घुड़सवार शूरवीर नारियोंसे घिरी हुई वह रानी अर्जुनके रथके सम्मुख आकर खड़ी हो गयी ॥ १ ॥

पीनोन्नतकुचानां सा श्यामानां चारुलोचना।
गजकुम्भस्थितानां हि लक्षेणापि वृता बभौ ॥ २ ॥

साथ ही हाथियोंपर आरूढ़ हुई पीन एवं उन्नत उरोजोंवाली एक लाख षोडशवर्षीया स्त्रियोंसे भी घिरकर वह सुन्दर नेत्रोंवाली रानी बड़ी शोभा पाने लगी ॥ २ ॥

रथमारुह्य नारीणां लक्षं च पुरतः स्थितम्।
लक्षत्रयं पाण्डवं तं परिवार्य स्थितं रणे ॥ ३ ॥
प्रमीला नाम सा राज्ञी प्रत्युवाच धनंजयम्।

इनके अतिरिक्त एक लाख नारियाँ रथपर चढ़कर रानीके आगे खड़ी थीं। इस प्रकार नारियोंकी तीन लाख सेना रणक्षेत्रमें अर्जुनको घेरकर खड़ी हो गयी। उस समय प्रमीला नामवाली रानीने अर्जुनसे कहा ॥ ३½ ॥

प्रमीलोवाच

मया धृतस्ते तुरगस्तं मोचयितुमिच्छसि ॥ ४ ॥
कुरु युद्धं मया सार्धं व्यपनेष्यामि त्वद्बलम्।
सहस्व मत्प्रहारं त्वं धैर्येण महतार्जुन ॥ ५ ॥

प्रमीला बोली—अर्जुन! मैंने तुम्हारे घोड़ेको पकड़ लिया है। यदि तुम उसे छुड़ाना चाहते हो तो मेरे साथ युद्ध करो। मैं तुम्हारी सेनाको मार भगाऊँगी। पहले तुम महान् धैर्यके साथ मेरे प्रहारको सहन करो॥ ४-५ ॥

प्रथमं ताडितः पार्थो नेत्रभावैः प्रमाथिभिः।
ततो बाणेन निर्भिन्नो हृदये गिरिदारिणा ॥ ६ ॥
सचूचुकनिभाग्रेण तया सस्मितया नृप।
ततोऽन्तरे पञ्च वीरा विद्धाः सर्वाभिरेव ते ॥ ७ ॥

राजन्! तब मुसकराती हुई प्रमीलाने पहले मनको मथ डालनेवाले नेत्रोंके भावों (कटाक्षपात आदि अनुभावों) द्वारा अर्जुनको चोट पहुँचायी। तत्पश्चात् स्तनके अग्रभागकी भाँति नुकीले एवं पर्वतको भी विदीर्ण कर देनेवाले बाणसे उनके हृदयको भी घायल कर दिया। इसी बीचमें सभी स्त्रियोंने मिलकर उन पाँचों वीरोंको बींध डाला ॥ ६-७ ॥

कर्तव्यं विस्मृतं तेषां विना कर्णसुतं तदा।
राज्ञी प्राहार्जुनं वीरं न मां जानासि चार्जुन ॥ ८ ॥
त्वां विजित्य करिष्यामि स्वदासं विद्धि पाण्डव।
किं करिष्यसि यागेन मया सह मधुं पिब ॥ ९ ॥
दर्शयिष्यामि ते सौख्यं यन्न दृष्टं त्वया पुरा।

उस समय कर्णकुमार वृषकेतुके अतिरिक्त सभी किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। तब रानीने वीरवर अर्जुनसे कहा—'अर्जुन! तुम मुझे नहीं जानते हो। पाण्डव! तुम ऐसा समझो कि मैं तुम्हें जीतकर अपना दास बनाऊँगी। तुम इस यज्ञसे क्या लाभ उठाओगे? आओ, मेरे साथ मधु-पान करो। मैं तुम्हें ऐसे आनन्दका दर्शन कराऊँगी, जिसे तुमने पहले कभी नहीं देखा होगा' ॥ ८-९½ ॥

अर्जुन उवाच

तव संगेन मरणं जायतेऽत्र मया श्रुतम् ॥ १० ॥
यागार्थं पाल्यते केन तुरगः पाण्डवं विना।

तब अर्जुनने उत्तर दिया—प्रमीले! मैंने ऐसा सुना है कि तुम्हारे साथ यहाँ समागम करनेसे पुरुषकी मृत्यु हो

जाती है—ऐसी दशामें अर्जुनके बिना इस यज्ञिय अश्वकी रक्षा कौन करेगा ? ॥ १०½ ॥

प्रमीलोवाच

अर्जुनोभयथा नूनं तव मृत्युरयं स्थितः ॥ ११ ॥
मच्छरैर्नयनैर्वापि ताड्यमानो न जीवसि ।

प्रमीला बोली—अर्जुन ! तुम मेरे बाणों अथवा नयनोंसे भी घायल होकर जीवित नहीं रह सकते, अतः तुम्हारी यह मृत्यु तो दोनो तरहसे निश्चय ही आ पहुँची है ॥ ११½ ॥

मत्संगमात् सुखावाप्तिर्निधनं हि मया सह ॥ १२ ॥
नाराचैः पीड्यमानोऽपि मृतो व्यर्थं गमिष्यसि ।

ऐसी परिस्थितिमें मेरे साथ समागम करनेसे तुम्हें सुखकी प्राप्ति होगी और तुम्हारी मृत्यु भी मेरे साथ ही होगी, अन्यथा मेरे बाणोंसे घायल होकर भी तुम व्यर्थ ही मारे जाओगे ॥ १२½ ॥

न वक्ष्यामि वृथा वाचं तव पार्थ रता न चेत् ॥ १३ ॥
शरैस्त्वां पातयिष्यामि विजेष्यामि रतेन वा ।
विना त्वां जीवितं त्यक्ष्ये तत् सर्वमवधारय ॥ १४ ॥

पार्थ ! मैं झूठी बात नहीं कहती । यदि मैं तुम्हारी प्रियतमा न बन सकी तो या तो तुम्हें बाणोंसे मार गिराऊँगी अथवा समागमद्वारा तुम्हें जीतूँगी, अन्यथा तुम्हारे बिना अपने जीवनका ही परित्याग कर दूँगी; इन सब बातोंको अच्छी तरह समझ लो ॥ १३-१४ ॥

आवयोर्मरणं प्राप्तं दर्शनादेव मारिष ।
तस्मान्मदीयं रुचिरं यौवनं भुङ्क्ष्व पाण्डव ॥ १५ ॥

आर्य ! तुम्हारे दर्शनसे ही हम दोनोकी मृत्यु आ पहुँची है, अतः पाण्डुनन्दन ! तुम मेरी इस सुन्दर जवानीका उपभोग करो ॥ १५ ॥

अर्जुनस्तां तदा वीक्ष्य ब्रुवन्तीं कामपीडिताम् ।
लक्ष्मणं चिन्तयित्वाथ तथा शूर्पणखां हृदि ॥ १६ ॥
निजघान शरैः षड्भिस्तया ते पञ्चधा कृताः ।
धनंजयं शरैर्घोरैः सप्तभिः समताडयत् ॥ १७ ॥
पुनः शरसहस्रैः सादृश्यं चक्रेऽर्जुनं रणे ।

उस समय कामसे पीडित होकर ऐसी बातें कहती हुई प्रमीलाको देखकर अर्जुनके हृदयमें लक्ष्मण और शूर्पणखाकी कथाका स्मरण हो आया; फिर तो उन्होंने उसपर छः बाणोंसे प्रहार किया । तब प्रमीलाने उन बाणोंके पाँच-टुकड़े कर दिये और सात भयंकर बाण मारकर अर्जुनको गहरी चोट पहुँचायी। तत्पश्चात् सहस्रों बाणोंकी वर्षा करके उसने रणक्षेत्रमें अर्जुनको अदृश्य कर दिया ॥ १६-१७½ ॥

मोहनास्त्रं पाण्डवोऽपि संदधे कार्मुके स्वके ॥ १८ ॥
प्रमीला मोहनास्त्रं तत् सगुणं सायकैस्त्रिभिः ।
छित्त्वा प्राहार्जुनं मूढ मोहनास्त्रं न भाति ते ॥ १९ ॥

तब अर्जुनने भी अपने धनुषपर मोहनास्त्रका संधान किया, परंतु प्रमीलाने तीन बाणोंसे प्रत्यञ्चासहित उस मोहनास्त्रको भी काटकर अर्जुनसे कहा—'मूढ़ ! तुम्हारा मोहनास्त्र तो अपना प्रकाश नहीं दिखा रहा है' ॥ १८-१९ ॥

अर्जुनः सगुणं कृत्वा स्वधनुः कोपपूरितः ।
यावत् पातयते तां हि वाणी खे चाभवत् तदा ॥ २० ॥

यह सुनकर अर्जुन क्रोधमें भर गये और पुनः अपने धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर ज्यों ही उसे मार गिरानेको उद्यत हुए त्यों ही वहाँ आकाशवाणी हुई—॥ २० ॥

मा पार्थ साहसं कार्षीः संग्रामे स्त्रीवधं प्रति ।
नैव शक्या त्वया जेतुं वर्षाणामयुतेन च ॥ २१ ॥
इमां वरय भद्रं ते यदि जीवितुमिच्छसि ।
इमां प्रब्रूहि नगरं त्वां विनेष्यामि भामिनि ॥ २२ ॥

'पार्थ ! तुम संग्राममें स्त्रीवध करनेका दुःसाहस मत करो । तुम दस हजार वर्षोंतक युद्ध करनेपर भी इसे किसी प्रकार जीत नहीं सकते । यदि तुम जीवित रहना चाहते हो तो इसका वरण कर लो । इसीमें तुम्हारा कल्याण है । पुनः इससे कहो कि 'भामिनि ! मैं तुम्हें अपने नगरमें ले चलूँगा' ॥ २१-२२ ॥

पार्थस्तद्भाषितं श्रुत्वा सर्वं चक्रे यथोदितम् ।
प्रमीलां वरयामास युद्धभूमौ विशाम्पते ॥ २३ ॥
उवाच तां विशालाक्षीं संगमं हस्तिनापुरे ।
तव दास्यामि भद्रेऽहं व्रतस्थो हयरक्षणे ॥ २४ ॥

प्रजानाथ ! तब उस आकाशवाणीको सुनकर अर्जुनने उसके कथनानुसार सारा कार्य सम्पन्न किया । उन्होंने युद्धभूमिमें प्रमीलाका वरण कर लिया और उस विशालाक्षीसे कहा—भद्रे ! इस समय घोड़ेकी रक्षामें नियुक्त होनेके कारण मैं व्रती

हूँ, अतः हस्तिनापुरमें चलकर तुम्हारे साथ समागम करूँगा ॥ २३-२४ ॥

कृष्णस्य दर्शनाद् दोषा गमिष्यन्ति हि तावकाः ।
एतासामपि सर्वासां भर्त्तारो मत्पुरे शुभे ॥२५॥
भविष्यन्ति न संदेहो हयं मुञ्च व्रजाम्यहम् ।
सहिता वा त्वमायाहि व्रज वा हस्तिनापुरे ॥ २६ ॥

'वहाँ श्रीकृष्णका दर्शन करनेसे तुम्हारे सारे दोष नष्ट हो जायँगे । शुभे ! मेरे उस नगरमें इन सभी नारियोंको भी पति मिल जायँगे, इसमें संदेह नहीं है । अब तुम मेरे घोड़ेको छोड़ दो, जिससे मैं आगे जाऊँ । तुम्हारी इच्छा हो तो इन सभी नारियोंसहित मेरे साथ चलो अथवा हस्तिनापुरको चली जाओ' ॥ २५-२६ ॥

ततो मुक्त्वा तुरङ्गं तं सा जगाम युधिष्ठिरम् ।
हयो ययौ वृक्षदेशान् फलितान् मानुषैर्गजैः ॥ २७ ॥
स्त्रीभिर्गोभिश्च पशुभिरजाविकखरैरपि ।
प्रभाते चैव जायन्ते मध्याह्ने यौवनान्विताः ॥ २८ ॥
सायंकाले म्रियन्ते हि वृक्षेषु विविधा जनाः ।
ययौ तत्रापि पार्थोऽसौ विस्मयोत्फुल्ललोचनः ॥ २९ ॥

तब प्रमीला उस घोड़ेको छोड़कर युधिष्ठिरके पास चली गयी । इधर वह अश्व घूमता हुआ उन वृक्षप्रधान देशोंमें जा पहुँचा, जहाँके वृक्ष फलरूपमें मनुष्य, हाथी, स्त्री, गौ, पशु, भेंड़, बकरी और गधे उत्पन्न करते थे । ऐसे अनेक प्रकारके प्राणी उन वृक्षोंपर प्रातःकाल पैदा होते थे, मध्याह्नमें उनकी तरुण-अवस्था हो जाती थी और सायंकाल होनेपर वे मर जाते थे। ऐसे देशमें घोड़ेका अनुसरण करते हुए अर्जुन भी गये और वहाँका दृश्य देखकर उनके नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे ॥ २७–२९ ॥

ततो देशान् स विविधांस्तुरङ्गेण समन्वितः ।
कर्णप्रावरणानेकवक्त्रानेकाक्षपादकान् ॥ ३० ॥
हयाननांस्त्रिनेत्रांस्तान् दीर्घनासांस्त्रिपादकान् ।
सश्रृङ्गानेकश्रृङ्गांश्च खरवक्त्रानुपाययौ ॥ ३१ ॥

तदनन्तर घोड़ेके साथ-साथ अर्जुन ऐसे अनेक प्रकारके देशोंमें गये, जहाँके निवासी बड़े-बड़े कानोंसे अपने सारे शरीरको ढके रहते थे । इसी तरह वे एक मुख, एक आँख और एक पैर, घोड़ेके-से मुख, तीन नेत्र, लंबी नाक, तीन पैर, बहुत-से सींग और एक सींगवाले तथा गधेके-से मुखबाले प्राणियोंके देशोंमें भी गये ॥ ३०-३१ ॥

भीषणस्य पुरं प्राप्तो राक्षसस्य तुरङ्गमः ।
राक्षसास्तत्र बहवो वसन्ति पुरुषादकाः ॥ ३२ ॥
पापाचराः कोपयुक्ता दीर्घकालप्रजीविनः ।
कोटित्रितयमेतेषां राक्षसानां पुरे स्थितम् ॥ ३३ ॥

तत्पश्चात् वह अश्व भीषण नामक राक्षसके नगरमें जा पहुँचा । वहाँ बहुत-से नरभक्षी, पापाचारी, क्रोधी और दीर्घकालतक जीवित रहनेवाले राक्षस निवास करते थे । ऐसे तीन करोड़ राक्षस उस नगरमें रहते थे ॥ ३२-३३ ॥

भीषणस्य पुरोधास्तु मेदोहा स तुरङ्गमम् ।
ददर्श भ्रममाणं हि कानने ब्रह्मराक्षसः ॥ ३४ ॥

राक्षसराज भीषणका एक ब्रह्मराक्षस पुरोहित था, जिसका नाम था मेदोहा । उसने वनमें घूमते हुए उस घोड़ेको देख लिया ॥ ३४ ॥

ज्ञात्वा पार्थहयं प्राप्तं भीषणस्यान्तिकं ययौ ।
नरान्त्रसूत्रसम्भूतं कण्ठे यज्ञोपवीतकम् ॥ ३५ ॥
बिभ्रन्नरकपालानां जपमालां भयानकाम् ।
गजवक्त्रस्य शुष्कस्य सजलं हि कमण्डलुम् ॥ ३६ ॥
नेत्रगोलकजां कण्ठे प्रोतां घोरां स्रजं तथा ।
गजदासेरकौ युक्तौ कर्णयोस्तस्य भूषणे ॥ ३७ ॥
गजपृष्ठभवस्यास्थ्नो दण्डं च सपलं करे ।

तब वह उसे अर्जुनका अश्व समझकर भीषणके संनिकट गया । उस समय उसके गलेमें मनुष्यकी आँतके सूतका बना हुआ यज्ञोपवीत पड़ा हुआ था । वह मनुष्योंकी खोपड़ियोंकी बनी हुई भयंकर जपमाला धारण किये था । उसके हाथमें सूखे हुए हाथीके मुखका बना हुआ जलपूर्ण कमण्डलु था । गलेमें नेत्रगोलकोंको गूँथकर बनायी हुई भयावनी माला पड़ी हुई थी । उसके कानोंमें हाथी और ऊँट कुण्डलकी भाँति लटक रहे थे । वह हाथमें हाथीकी पीठकी हड्डीका डंडा लिये हुए था, जिसमें मांस लिपटा हुआ था ॥ ३५–३७½ ॥

उवाच भीषणं गत्वा पार्थः प्राप्तस्तवाहितः ॥ ३८ ॥
तुरङ्गं पालयानोऽत्र विद्धि तं राक्षसाधिप ।
पिता हि ते बको नाम निहतोऽस्याग्रजेन सः ॥ ३९ ॥

ऐसे वेषमें वह भीषणके पास जाकर कहने लगा— 'राक्षसराज ! तुम्हें यह विदित होना चाहिये कि यज्ञिय अश्वकी रक्षा करते हुए अर्जुन तुम्हारे नगरमें आ पहुँचे हैं । वे तुम्हारे

शत्रु हैं; क्योंकि इनके बड़े भाई (भीमसेन) ने तुम्हारे पिता बकासुरको मार डाला था ॥ ३८-३९ ॥

एनं भीमानुजं शीघ्रं गृहीत्वा यज्ञमाचर ।
सर्वलक्षणसंयुक्तं नरमेधं ममाज्ञया ॥ ४० ॥

'अब तुम मेरी आज्ञासे शीघ्र ही भीमसेनके छोटे भाई इन अर्जुनको पकड़कर सर्वलक्षणसम्पन्न नरमेध-यज्ञका अनुष्ठान करो ॥ ४० ॥

आचार्योऽहं भविष्यामि सन्त्यन्ये ब्रह्मराक्षसाः ।
कुलीना व्रतयुक्ताश्च चातुर्मास्यव्रते स्थिताः ॥४१॥
ये कुर्वन्ति सुरापानं रुधिरेणापि तोषिताः ।
मासोपवासिनीनां तु मांसेन श्रावणे व्रतम् ॥ ४२ ॥
तथा भाद्रपदं प्राप्य यतीनामूर्ध्वरेतसाम् ।
आहारेणैव जीवन्ति ह्याश्विने च जटावताम् ॥ ४३ ॥
कार्तिके च कुमाराणां पलेन व्रतधारकाः ।
तस्माद् धारय पार्थं हि ससैन्यं हि तुरङ्गमम् ॥ ४४ ॥

'मैं तुम्हारे यज्ञका आचार्य बन जाऊँगा । दूसरे भी बहुत-से ब्रह्मराक्षस हैं, जो उत्तम कुलमें उत्पन्न, व्रतपरायण और चातुर्मास्य-व्रतके पालनमें तत्पर हैं । वे रक्तपानसे संतुष्ट होकर सुरापान करते हैं और श्रावणमासमें मासपर्यन्त उपवास करनेवाली स्त्रियोंके मांसका आहार करके अपने व्रतका पालन करते हैं । भाद्रपद आनेपर ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचर्यसे सम्पन्न) संन्यासियोंका मांस भक्षण करके जीवित रहते हैं और आश्विन मासमें जटाधारियों (वानप्रस्थों) तथा कार्तिकमें कुमारों (पाँच वर्षकी अवस्थाके बालकों) का मांस खाकर व्रत धारण करते हैं । इसलिये तुम सेनासहित अर्जुन और उनके घोड़ेको पकड़ लो ॥

व्रतस्थाश्चिरकालं हि तिष्ठन्ति ब्रह्मराक्षसाः ।
गजान् धनंजयस्याद्य भक्षयन्तु तथा हयान् ॥ ४५ ॥

'ये ब्रह्मराक्षस चिरकालसे व्रतका पालन कर रहे हैं, आज अर्जुनके हाथियों तथा घोड़ोंको भक्षण करके तृप्त हों ॥४५॥

नराणां रुधिरेणैव कोष्णेन गलनालतः ।
मांसेन च मुदा युक्ता भवन्त्वेतेऽद्य तापसाः ॥ ४६ ॥

'ये तपस्वी ब्रह्मराक्षस मनुष्योंके कुछ गरम-गरम रुधिरको अपने गलेकी नालीसे नीचे उतारकर तथा मांस खाकर आनन्दमग्न हों ॥ ४६ ॥

रावणेन कृतो यज्ञो नरमेधो महात्मना ।
तस्मिन् यज्ञे सुतृप्तास्तु सर्वे ते ब्रह्मराक्षसाः ॥ ४७ ॥
साम्प्रतं त्वत्कृते यज्ञे वयं तृप्ता भवामहे ।

'प्राचीन कालमें महात्मा रावणने नरमेध-यज्ञ किया था । उस यज्ञमें ये सभी ब्रह्मराक्षस पूर्ण तृप्त हुए थे । इस समय तुम्हारे द्वारा अनुष्ठित इस यज्ञमें हमलोग तृप्तिलाभ करेंगे' ॥

भीषण उवाच

सर्वं तात करिष्यामि यथोक्तं भवता मम ॥ ४८ ॥
पितृशत्रुं पुरं प्राप्तं कथमद्य न धारये ।
भवादृशैर्वृतश्चाद्य सुविद्यैर्ब्रह्मराक्षसैः ॥ ४९ ॥

तब भीषणने कहा—तात ! आपने मुझसे जैसा बतलाया है, मैं तदनुसार सारा कार्य पूर्ण करूँगा । इस समय जब आप-जैसे परम बुद्धिमान् ब्रह्मराक्षस मेरी सहायताके लिये उद्यत हैं, तब नगरमें आये हुए अपने पिताके शत्रुको आज मैं क्यों नहीं पकड़ूँगा ? ॥ ४८-४९ ॥

एकं पृच्छामि तात त्वां यज्ञे किं तव भोजनम् ।
मया देयं तव विभो पार्थसैन्याद् यथोचितम् ॥५०॥
स्वरुचिं शंसतु भवानिह यज्ञं समाचरे ।

परंतु तात ! मैं आपसे एक बात पूछता हूँ कि यज्ञके अवसरपर मुझे आपके भोजनके लिये क्या प्रबन्ध करना पड़ेगा ? विभो ! अर्जुनकी सेनामेंसे अपनी रुचिके अनुकूल आपको जो भोजन उचित जान पड़े, उसे बताइये । तब मैं यहाँ यज्ञका समारम्भ करूँ ॥ ५०½ ॥

मेदोहोवाच

नराणामतिपुष्टानां मेदैः प्रीतिश्च लोचनैः ॥ ५१ ॥
गजानां च नराणां च हयानां नयनैर्मम ।
मेदःक्लिन्नैः परा तृप्तिस्त्वत्प्रसादाद् भविष्यति ।५२।

मेदोहाने उत्तर दिया—राक्षसराज ! अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट शरीरवाले मनुष्योंकी चरबी तथा आँखोंसे मुझे बड़ी प्रसन्नता प्राप्त होती है; अतः तुम्हारी कृपासे (इस यज्ञमें) हाथियों, मनुष्यों और घोड़ोंके चरबीसे भरे हुए नेत्रोंद्वारा मुझे परम तृप्ति प्राप्त होगी ॥ ५१-५२ ॥

सहस्रमात्रं राजेन्द्र पदातीनां च भोजनम् ।
तव यज्ञे करिष्यामि बह्वाशीर्नापरैः समः ॥ ५३ ॥

राजेन्द्र ! तुम्हारे यज्ञमें मैं केवल एक हजार पैदल

सैनिकोंको ही अपना आहार बनाऊँगा; क्योंकि मैं अन्य ब्रह्म-राक्षसोंकी भाँति अधिक भोजन करनेवाला नहीं हूँ ॥ ५३ ॥

तस्य भाषितमाकर्ण्य राक्षसो मुदितोऽभवत् ।
चकार मण्डपं रम्यं सपुरोहितऋत्विजैः ॥ ५४ ॥
यज्ञार्थं तरसा योद्धुं प्रायात् पार्थचमूं प्रति ।
राक्षसानां च घोराणां वृतः कोटित्रयेण सः ॥ ५५ ॥

पुरोहितका कथन सुनकर राक्षस भीषण प्रसन्न हो गया। उसने पुरोहित और ऋत्विजोंके साथ यज्ञके लिये एक रमणीय मण्डप तैयार कराया और फिर तीन करोड़ भयंकर राक्षसोंसे घिरे हुए उसने युद्धके लिये वेगपूर्वक अर्जुनकी सेनापर आक्रमण किया ॥

राक्षस्यः पर्वतारूढा ददृशुः पार्थमागतम् ।
हनूमन्तं विलोक्यैका राक्षसी वाक्यमब्रवीत् ॥ ५६ ॥

उस समय राक्षसियाँ पर्वतपर चढ़कर वहाँ पधारे हुए अर्जुनको देखने लगीं। तब एक राक्षसी (ध्वजपर स्थित) हनुमान्‌जीको देखकर यों बोली ॥ ५६ ॥

राक्षस्युवाच

पलायध्वं पलायध्वं भवतीनां न जीवितम् ।
वानरं चात्र पश्यामि निहता येन राक्षसाः ॥ ५७ ॥

राक्षसीने कहा—अरी बहिनो! भागो, भागो! अन्यथा तुम्हारा जीवन नहीं बच सकता; क्योंकि मैं यहाँ उस बंदरको देख रही हूँ, जिसने राक्षसोंका संहार कर डाला था ॥

रावणस्य पुरे दृष्टो मयायं यत्र जानकी ।
स्थिताशोकवने देवी तदा प्रभृति मे भयम् ॥ ५८ ॥

रावणकी लंकापुरीमें अशोकवाटिकाके भीतर जहाँ जानकी देवी विराजमान थीं, वहीं मैंने इसे देखा था, तभीसे मुझे इससे भय लगता है ॥ ५८ ॥

राक्षसीवाक्यमाकर्ण्य प्राह लम्बोदरा परा ।
कृशहस्तपदा दीर्घग्रीवा नल्वसमुच्छ्रया ॥ ५९ ॥

तब जिसका पेट लंबा था, हाथ-पैर दुबले-पतले थे, ग्रीवा लंबी थी और शरीर चार सौ हाथ ऊँचा था—ऐसी एक दूसरी राक्षसी पहलीकी बात सुनकर बोल उठी—॥५९॥

रावणं मा वद नरान्मृत्युं प्राप्तं ममाग्रतः ।
वानरं भक्षयिष्यामि सभयं पुरतस्तव ॥ ६० ॥

'अरी मूर्खे! तू मेरे सामने रावणकी चर्चा न कर; क्योंकि वह मनुष्यके हाथों मारा गया था। इस भयभीत बंदरको तो मैं तेरे सामने ही खा जाऊँगी' ॥ ६० ॥

तां तु चैवापरा प्राह किं त्वया गदितं कृशे ।
पश्य मे त्वं स्तनौ दीर्घौ स्थूलौ भूमौ विलम्बिनौ॥६१॥
योजनं प्राप्य मत्पृष्ठे कृष्यन्तौ द्रुमनाशनौ ।

फिर उससे एक दूसरी राक्षसी बोली—'कृशे! तूने यह क्या कहा? अरे! तू मेरे इन पृथ्वीपर लटकते हुए स्थूल एवं दीर्घ स्तनोंकी ओर नहीं देखती। चलते समय जब मैं इन्हें उलटकर अपनी पीठपर डाल लेती हूँ, तब ये एक योजनतकके वृक्षोंको अपने साथ घसीटकर उनका सर्वनाश कर देते हैं ॥

कुचेन पाण्डवं हन्मि हनूमन्तं च वानरम् ॥ ६२ ॥
सैन्यं च भारतं वेगान्मा भीतो राक्षसीगणः ।
जायतां वानरान्मन्दो न मां जानाति भीषणः ॥ ६३ ॥

'मैं अपने इस एक ही स्तनसे अर्जुन, वानर हनुमान् तथा भारतीय सेनाका वेगपूर्वक संहार कर डालूँगी। अतः राक्षसीदल इस वानरसे भयभीत न हो। यह मूर्ख भीषण मेरे प्रभावको नहीं जानता है' ॥ ६२-६३ ॥

तावत् तृतीया कुपिता पुष्टां तां योजनस्तनीम् ।
जगाद किं भयं त्वत्तो गमिष्यति कुचेन किम् ॥ ६४ ॥

तबतक एक तीसरी राक्षसी क्रुद्ध होकर उस हृष्ट-पुष्ट एवं योजनभर लंबे स्तनोंवालीसे कहने लगी—'क्या कहा? क्या तेरे स्तनोंसे ही सारा भय टल जायगा? ॥ ६४ ॥

स्तनौ ते योजनं प्राप्तौ बिल्वमात्रौ ममाग्रतः ।
योजनं कुचयोः प्राप्तं चूचुकं मम पश्यत ॥ ६५ ॥
सर्वासां व्यपनेष्यामि भयं हत्वा कपीश्वरम् ।

'अरी! तेरे स्तन एक योजन विस्तृत हैं तो भी मेरे स्तनोंके सामने बेल-जैसे ही जान पड़ते हैं। देखती नहीं, मेरे कुचोंका चूचुक (अग्रभाग) ही एक योजनतक फैला हुआ है। मैं इसीसे कपिराज हनुमान्‌को मारकर सबका भय दूर कर दूँगी' ॥ ६५½ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं पार्थसैन्यं निरीक्ष्य सा ॥ ६६ ॥
उत्प्लुत्य गगने तीव्रा हाहाकृत्वा प्रधाविता ।

इतनी बात कहकर उसने अर्जुनकी सेनाकी ओर देखा और फिर उछलकर वह आकाशमें जा पहुँची। वहाँ वह

भयंकर राक्षसी 'हा हा हा हा' करके इधर-उधर दौड़ लगाने लगी ॥ ६६½ ॥

कुचाभ्यां भ्रममाणाभ्यां स्थूलाभ्यां संगरे नृप ॥ ६७॥
पातयन्ती बलं भूरि चूर्णयन्ती महागजान् ।
यत्र यत्र कुचौ लग्नौ तत्र तत् पातितं बलम् ॥ ६८ ॥

राजन् ! उसने अपने हिलते हुए मोटे-मोटे स्तनोंसे समरभूमिमें बहुत-सी सेनाको धराशायी कर दिया । बड़े-बड़े गजराजोंका कचूमर निकाल दिया । जहाँ-जहाँ उन स्तनोंकी चोट लगी, वहाँ-वहाँकी सेना धरतीपर लोट गयी ॥६७-६८ ॥

परमाणुनिभं सैन्यं कृतं केवलया तया ।
उत्क्षिपन्ती गजानश्वान् नरानपि सुदारुणान् ॥ ६९ ॥

अकेली उस राक्षसीने अत्यन्त भयंकर हाथियों, घोड़ों और मनुष्योंको भी उछाल-उछालकर अधिकतर सेनाको धूलमें मिला दिया ॥ ६९ ॥

अन्याश्च बह्व्यो राक्षस्यस्तथा चक्रुः क्षयं रणे ।
राक्षसास्तेऽपि तान् वीरान् पातयामासुराहवे॥ ७० ॥
भीषणः पार्थमासाद्य चेदं वचनमब्रवीत् ।

इसी प्रकार अन्य बहुत-सी राक्षसियोंने भी रणक्षेत्रमें बहुत-सी सेनाका संहार कर डाला और राक्षसोंने भी युद्धस्थलमें उन वीरोंको मार गिराया । इसी बीचमें राक्षस भीषण अर्जुनके पास जाकर यों कहने लगा ॥ ७०½ ॥

भीषण उवाच

तिष्ठ पार्थ कुतो यासि दिष्ट्या दृष्टोऽसि संगरे॥ ७१ ॥
भीमेन मे हतस्तातस्तदाहं न समीपगः ।
त्वामद्य संगरे जित्वा नरमेधं समाचरे ॥ ७२ ॥
ततो भीमं वधिष्यामि पास्यामि रुधिरं बलात् ।

भीषण बोला—पार्थ ! खड़े रहो । कहाँ जा रहे हो ? बड़े भाग्यसे आज तुम युद्धभूमिमें मेरे सामने आ गये । जिस समय भीमसेनने मेरे पिताका वध किया था, उस समय मैं वहाँ उपस्थित नहीं था। आज तुम्हें समरभूमिमें जीतकर नरमेध-यज्ञका अनुष्ठान करूँगा । तत्पश्चात् भीमसेनका वध करके बलपूर्वक उनका रक्तपान करूँगा ॥ ७१-७२½ ॥

ततो मुमोच बाणौघान् मुद्गरान् पर्वतान् द्रुमान् ॥७३॥
पाण्डवं पीडयामास राक्षसैः सहितो बली ।

तदनन्तर राक्षसोंसहित वह महाबली भीषण बाण-समूह, मुद्गर, पर्वत और वृक्षोंका प्रहार करके अर्जुनको पीड़ित करने लगा ॥ ७३½ ॥

अर्जुनस्तं तथाभूतं सगणं राक्षसं शरैः ॥ ७४ ॥
बिभेद शतसाहस्रैः समन्ताल्लोमवाहिभिः ।

तब अर्जुनने यों प्रहार करते हुए सेनासहित उस राक्षसको चारों ओरसे पंख लगे हुए सैकड़ों-हजारों बाणोंकी वर्षा करके विदीर्ण कर डाला ॥ ७४½ ॥

हनूमान् राक्षसीनां हि चकार कदनं महत् ॥ ७५ ॥
लाङ्गलवेष्टिताः सर्वास्ताडिता धरणीतले ।
गतप्राणा भिन्नगात्राः कीर्णकेश्यो हताश्च ताः ॥ ७६ ॥
भयात् पलायिताः काश्चिद् याताः पर्वतसानुषु।

उधर हनुमान्जीने भी राक्षसियोंका महान् संहार करना आरम्भ किया । उन्होंने उन सबको अपनी पूँछमें लपेटकर पृथ्वीपर पटक दिया, जिससे कुछके प्राण निकल गये, कुछके शरीर छिन्न-भिन्न हो गये और कुछ अपने बाल बिखेरे हुए मृत्युको प्राप्त हो गयीं तथा कुछ भयके मारे भागकर पर्वत-शिखरोंपर जा छिपीं ॥ ७५-७६½ ॥

रक्षोघ्नैः पाण्डवो मन्त्रैः सम्मन्त्र्य निशिताञ्छरान्॥ ७७॥
मुमोच राक्षसबले भीतास्ते दुद्रुवुर्वने ।

फिर अर्जुन अपने पैने बाणोंको रक्षोघ्न-मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित करके राक्षसी सेनापर छोड़ने लगे, जिससे वे भयभीत होकर वनमें भाग गये ॥ ७७½ ॥

भीषणः ससृजे मायां राक्षसीं क्रोधपूरितः ॥ ७८ ॥
सद्योऽभवन् पर्वताश्च सिंहाश्च शतशो गजाः ।
शार्दूलाः शरभा व्याघ्रास्तरक्षा विद्युतस्तथा ॥ ७९ ॥

तब राक्षसराज भीषणने क्रोधमें भरकर राक्षसी मायाका विस्तार किया । फिर तो तत्काल वहाँ पर्वत, सिंह, सैकड़ों हाथी, शार्दूल, गैंडे, व्याघ्र, चीते और बिजलियाँ उत्पन्न हो गयीं ॥

भीषणेन रणे राजन् पाण्डवं प्रति मायया ।
आश्रमे ऋषिरेवासील्लीनशान्तमृगद्विजे ॥ ८० ॥
गङ्गातीरे स्वशिष्येभ्यो निगदन् ब्रह्म निःस्पृहः।

राजन् ! भीषणने युद्धस्थलमें अर्जुनके सामने एक मायामय आश्रम प्रकट किया । वह आश्रम गङ्गाजीके तटपर स्थित था । वहाँके पशु-पक्षी सभी शान्त थे । उसमें एक निःस्पृह

ऋषि आसीन थे, जो अपने शिष्योंको ब्रह्मका उपदेश कर रहे थे ॥ ८०½ ॥

अर्जुनं प्राह तरसा राक्षसैस्त्रासिता वयम् ॥ ८१ ॥
न लभामः सुखेनैव तपः कर्तुं धनंजय ।
स्वागतं तेऽस्तु तिष्ठ त्वं वस आघूर्णिको भव ॥ ८२ ॥

उन्होंने तुरंत ही अर्जुनसे कहा—'धनंजय ! राक्षसोंने हमें उद्वेजित कर दिया है, जिससे हम सुखपूर्वक तपस्या नहीं कर पा रहे हैं । तुम्हारा स्वागत है, आओ और कुछ दिन यहाँ निवास करो । इसके बाद भ्रमण करने जाना ॥८१-८२॥

ऋषीणामाश्रमे भुक्त्वा लभन्ते क्षत्रिया बलम् ।
कियन्तमथ कालं त्वं स्थित्वा पार्थ मया सह ॥ ८३ ॥
अभ्यस्य विद्यां रुचिरां मया दत्तां धनंजय ।
तया ह्येते मरिष्यन्ति राक्षसा नात्र संशयः ॥ ८४ ॥

'पार्थ ! ऋषियोंके आश्रममें भोजन करनेसे क्षत्रियोंको बलकी प्राप्ति होती है, इसलिये तुम कुछ कालतक मेरे पास ठहरकर मेरेद्वारा दी हुई सुन्दर विद्याका अभ्यास करो । धनंजय ! उस विद्यासे ये सभी राक्षस मर जायँगे, इसमें संदेह नहीं है' ॥ ८३-८४ ॥

ज्ञात्वा मायां पाण्डवोऽथ निहत्यासुरभीषणम् ।
गृहीत्वा काञ्चनं तस्य रत्नानि विविधानि च ॥ ८५ ॥
हयांस्तित्तिरिकल्माषांश्छत्रं दिव्यं च कुण्डले ।

तब अर्जुनने उसे राक्षसी माया जानकर उस भीषण नामवाले असुरका वध करके उसके सुवर्ण, नाना प्रकारके रत्नों, तीतरके समान चितकबरे घोड़ों, छत्र और दिव्य कुण्डलोंको ले लिया ॥ ८५½ ॥

ततो जगाम पुत्रस्य सहयः श्वेतवाहनः ॥ ८६ ॥
रम्यं मणिपुरं नाम बभ्रुवाहनपालितम् ।
नराः सत्यव्रता यत्र नार्यश्च पतिसेविकाः ॥ ८७ ॥
वेदार्थशास्त्रनिपुणो भाति यत्र महाजनः ।
चिन्तनं वासुदेवस्य नान्यां चिन्तां प्रकुर्वते ॥ ८८ ॥
बन्धनं केशपुष्पाणां पशूनां सदया इव ।
प्रकुर्वन्ति च संघातं नारीणां कामिनीयुताः ॥ ८९ ॥
स्वप्नेऽपि नानृतं यत्र प्रवदन्ति जनाः क्वचित् ।
मुक्ताश्च कामिनीनां हि हृदयेऽपि च मस्तके ॥ ९० ॥
नासाग्रे भान्ति राजेन्द्र सतोया व्रतलोलकाः ।
शूराश्च यत्र शतशो बभ्रुवाहनपूजिताः ॥ ९१ ॥
महाकालमपि प्राप्तं तोषयन्ति बलेन तम् ।
विमुखा न रणे वीरा नार्थिनां पुरतः क्वचित् ॥ ९२ ॥
जायन्ते देहदानेन वदान्याः प्रार्थिताः सदा ।
प्राकृतस्य जनस्यापि मुखाद् वाणी सुसंस्कृता ॥ ९३ ॥
निर्याति सर्वदा यत्र प्राप्तस्तत्र तुरङ्गमः ।

तदनन्तर श्वेत वाहनोंवाले अर्जुन उस यज्ञिय अश्वके साथ अपने पुत्र बभ्रुवाहनद्वारा सुरक्षित उस रमणीय मणिपुर नामक नगरमें गये, जहाँके निवासी पुरुष सत्यव्रती और नारियाँ पतिसेविका थीं । जहाँका जनसमुदाय वेद-शास्त्रके ज्ञानसे सुशोभित था । वहाँके लोग भगवान् श्रीकृष्णके चिन्तनके अतिरिक्त और किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं करते थे । वे केवल (शृङ्गारके लिये) केशोंमें फूलोंको बाँधते थे और पशुओंको भी दयालुकी भाँति कोमल बन्धनमें ही रखते थे । (इनके सिवा और किसीको वहाँ बन्धनका कष्ट नहीं दिया जाता था ।) कामिनियोंसे संयुक्त रहनेवाले वहाँके पुरुष केवल स्त्रियोंके ही साथ संघात (संयोग या ऐक्य) स्थापित करते थे, शत्रुओंके साथ नहीं । वहाँके लोग कभी स्वप्नमें भी झूठ नहीं बोलते थे । राजेन्द्र ! उस नगरकी स्त्रियोंके हृदय और मस्तकपर तथा नासिकाके अग्रभागमें आबदार चञ्चल मोती झलमलाते रहते थे । वहाँ बभ्रुवाहनद्वारा सम्मानित सैकड़ों ऐसे-ऐसे वीर निवास करते थे, जो महाकालके भी सामने आ जानेपर उसे अपने बलसे संतुष्ट कर सकते थे । वे वीर रणमें (शत्रुओंके) तथा याचकोंके सामनेसे कभी मुख नहीं मोड़ते थे । उदार तो वे इतने थे कि प्रार्थना करनेपर सदा अपने शरीरका भी दान करनेको उद्यत रहते थे । उस नगरमें साधारण मनुष्यके भी मुखसे सर्वदा सुसंस्कृत वाणी ही निकलती थी । ऐसे नगरमें वह घोड़ा जा पहुँचा ॥

तुष्टपुष्टजनाकीर्णं नित्योत्सवविभूषितम् ॥ ९४ ॥
रम्यं सुवर्णप्राकारं नगरं चार्जुनेश्च तत् ।
रक्षितं च महावीरैः सबलैर्वीर्यशालिभिः ॥ ९५ ॥
सहस्रं शकटानां हि पूरितं काञ्चनेन च ।
हंसध्वजादिभिर्दत्तः प्रत्यब्दं नृपतेः करः ॥ ९६ ॥
सुवर्णरूप्यरत्नैश्च बभ्रुवाहनकारितम् ।
सुचित्रं गृहवीथीभिः प्रासादैर्गोपुरैर्मठैः ॥ ९७ ॥
द्वितीयमिव वैकुण्ठं स्थापितं विष्णुना क्षितौ ।

निरीक्ष्य तत् तथारूपं नगरं चार्जुनोऽब्रवीत् ।
वयं कुतोऽत्र सम्प्राप्ता मरालध्वज शंस मे ॥ ९८ ॥

अर्जुनपुत्र बभ्रुवाहनका वह रमणीय नगर हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे व्याप्त और प्रतिदिन उत्सवसे सुशोभित होता रहता था । उसकी चहारदीवारी सोनेकी बनी हुई थी । वीर्यशाली एवं अत्यन्त बलसम्पन्न शूरवीरोंद्वारा वह सुरक्षित था । उस नगरमें हंसध्वज आदि विजित नरेश राजा बभ्रुवाहनको प्रतिवर्ष सुवर्णसे भरे-पूरे एक हजार छकड़े कररूपमें प्रदान करते थे । बभ्रुवाहनने सोने, चाँदी और रत्नोंसे महल, गली, प्रासाद, गोपुर और मठ आदिका निर्माण कराकर उस नगर-को ऐसा सजाया था मानो विष्णु भगवान्ने भूतलपर दूसरा वैकुण्ठ ही स्थापित कर दिया हो । ऐसे मनोहर नगरको देखकर अर्जुनने हंसध्वजसे पूछा—'राजन् ! अब आप मुझे यह बताइये कि इस समय हमलोग किस देशमें आ पहुँचे हैं ?' ॥ ९४–९८ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि मणिपुरागमनं नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें मणिपुरमें अश्वका आगमन नामक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२ ॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

राजा हंसध्वजका अर्जुनको बभ्रुवाहनका परिचय बताना, अर्जुनके मुकुटपर गीधका बैठना, बभ्रुवाहनका घोड़ेको पकड़वाकर उसके स्वर्णपत्रको बाँचना और विषादमग्न होकर मन्त्री सुमतिसे उसका उपाय पूछना, मन्त्रीकी सलाहसे भेंट-सामग्रीसहित जाकर अर्जुनके चरणोंमें पड़कर उन्हें अपना राज्य समर्पित करना, अर्जुनके फटकारनेपर युद्धके लिये उद्यत होना, अनुशाल्व और बभ्रुवाहनका युद्ध और अनुशाल्वकी पराजय, प्रद्युम्न और बभ्रुवाहनके युद्धमें प्रद्युम्नका भयंकर पराक्रम

जैमिनिरुवाच

हंसध्वजः पार्थवचः समाकर्ण्याब्रवीत् स्वयम् ।
बभ्रुवाहननामात्र नृपतिर्वर्ततेऽर्जुन ॥ १ ॥
यस्मै सुवर्णसम्पूर्णं शकटानां सहस्रकम् ।
प्रत्यब्दं दीयते पार्थ मयान्यैः पार्थिवैः सदा ॥ २ ॥
रम्यं मणिपुरं तस्य संगताः स्मो हयान्विताः ।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! अर्जुनकी बात सुनकर हंसध्वज स्वयं कहने लगे—'अर्जुन ! यहाँ बभ्रुवाहन नामक राजा राज्य करते हैं । पार्थ ! जिनके लिये प्रतिवर्ष मेरे तथा अन्य राजाओंद्वारा सुवर्णसे परिपूर्ण एक सहस्र छकड़े सदा कररूपमें प्रदान किये जाते हैं । यह उन्हींका मणिपुर नामक रमणीय नगर है, जहाँ घोड़ेके साथ हमलोग आ पहुँचे हैं ॥ १-२½ ॥

तेजस्वी सबलः प्राज्ञो वेदार्थमनुवर्तकः ॥ ३ ॥
वृद्धानुशासने मग्नः परस्त्रीविमुखः सदा ।
दातॄणां प्रथमश्चैको यथा नारायणो हरिः ॥ ४ ॥

'राजा बभ्रुवाहन तेजस्वी, बलवान्, विद्वान्, वेदार्थका अनुवर्तन करनेवाले, वृद्धोंके आज्ञा-पालनमें तत्पर और परायी स्त्रियोंसे सदा विमुख रहनेवाले हैं । भगवान् नारायणकी भाँति एकमात्र वे ही दाताओंमें सर्वप्रथम हैं ॥ ३-४ ॥

सुमतिश्चास्य विख्यातो महासत्त्वपराक्रमः ।
सेनानाथोऽस्य धीरोऽत्र सकोपं शङ्करं सहेत् ॥ ५ ॥

'जगत्-विख्यात सुमति इनका सेनापति है, जो महान् बल-पराक्रमसे सम्पन्न है । वह धैर्यशाली सेनानायक युद्धमें कुपित हुए शङ्करजीके वेगको भी सहन कर सकता है ॥ ५ ॥

परस्य सुकृतं कर्म परमाणुनिभं रणे ।
राज्ञे निवेदयत्येव न स्मरत्यपकारकम् ॥ ६ ॥

'यह युद्धमें दूसरेके परमाणुतुल्य सत्कर्मको भी राजासे निवेदन कर देता है, परंतु किसीके अपकारकी इसे याद ही नहीं रहती है ॥ ६ ॥

हयं ग्रहीष्यन्ति यदि सैनिकाश्चास्य भूपतेः ।
क्लेशेन महता मोक्तुं शक्नुमो वाजिनं पुनः ॥ ७ ॥

'अर्जुन ! यदि इस राजाके सैनिक घोड़ेको पकड़ लेंगे तो फिर बड़े कष्टसे हम उस अश्वको छुड़ा सकेंगे' ॥ ७ ॥

एवं ब्रुवति वीरे हि गृध्रः परमदारुणः ।
धनंजयकिरीटाग्रे स्थितो मृत्युप्रदर्शकः ॥ ८ ॥
तेन ते विस्मिताः सर्वे त्रासं जग्मुश्चकम्पिरे ।

वीरवर राजा हंसध्वज ऐसा कह ही रहे थे कि मृत्युकी

सूचना देनेवाला एक परम भयंकर गृध्र अर्जुनके मुकुटके अग्र-भागपर आ बैठा । इससे वे सभी वीर विस्मययुक्त एवं भयभीत हो काँपने लगे ॥ ८½ ॥

जैमिनिरुवाच

परं तुरङ्गं नगरे श्रुत्वा धावन्तमागतम् ॥ ९ ॥
पाल्यमानं महावीरैः सबलेन किरीटिना ।
ग्राहयामास राजासौ लीलया बभ्रुवाहनः ॥ १० ॥
वीराणां युधि शूराणां सहस्रेण तुरङ्गमम् ।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! इधर जब राजा बभ्रु-वाहनने सुना कि एक यज्ञिय अश्व मेरे नगरमें आकर स्वच्छन्द विचर रहा है और बहुत-से शूरवीर तथा महाबली अर्जुन उसकी रक्षा कर रहे हैं, तब उसने युद्धमें शूरता दिखानेवाले हजारों वीरोंको भेजकर लीलापूर्वक उस घोड़ेको पकड़वा लिया॥

रात्रौ सदसि चानीय ददर्श हरिमुत्तमम् ॥ ११ ॥
पूजितं चर्चितं रम्यं मुक्ताफलविभूषितम् ।
सिंहासने चोपविष्टो रत्नकाञ्चननिर्मिते ॥ १२ ॥

फिर रात्रिके समय जब राजा बभ्रुवाहन अपने सुवर्ण और रत्नोंसे निर्मित सिंहासनपर विराजमान हुआ, तब उस पूजित, सुसजित तथा मोतियोंसे सुशोभित सुन्दर एवं उत्तम अश्वको सभामें मँगवाकर देखने लगा ॥ ११-१२ ॥

सभा तस्य विचित्रैव रत्नचित्रा हिरण्मयी ।
अयुतस्तम्भसंयुक्ता नानाभावप्रदर्शिका ॥ १३ ॥

उसकी सभा भी विचित्र ही थी । उस सुवर्णमयी सभामें रत्न जड़े हुए थे, जिससे उसकी विचित्र शोभा होती थी । वह सभा नाना प्रकारके भावोंका प्रदर्शन करनेवाली थी । उसमें दस हजार खंभे लगे थे ॥ १३ ॥

हंसाश्चैव मयूराश्च शुकाः पारावतास्तथा ।
सारिकाः कोकिलाः केका रत्नकाञ्चननिर्मिताः ॥ १४ ॥
सजीवा इव लक्ष्यन्ते राज्ञः सदसि शोभनाः ।
द्रुमै रत्नमयैर्दिव्यैर्गजैर्मत्तैः समावृता ॥ १५ ॥
ईहामृगैः कृत्रिमैश्च मीनैर्नक्रैः सुशोभिता ।
रत्नप्रदीपाः शतशो यत्र काञ्चनदीपकाः ॥ १६ ॥
गन्धतैलावसिक्ताश्च कर्पूरपुलकैस्तथा ।
प्रदीपिता सभा भाति दीपैर्नानाविधैर्नृप ॥ १७ ॥

राजन् ! राजा बभ्रुवाहनकी सभामें रत्न और सुवर्णके बने हुए हंस, मयूर, शुक, कबूतर, मैना, कोयल, मोर ऐसे सुन्दर दीख रहे थे, मानो वे सजीव हों । वह सभा रत्नमय दिव्य वृक्षों तथा कृत्रिम मदमत्त गजराजोंसे घिरी हुई थी । कृत्रिम भेड़ियों, मछलियों तथा नाकोंसे उसकी विशेष शोभा हो रही थी । उसमें रत्न एवं सुवर्णनिर्मित सैकड़ों दीपक जल रहे थे, जिनमें सुगन्धित तैल भरा हुआ था । ऐसे नाना प्रकारके दीपकों तथा कर्पूरकी डलियोंसे प्रकाशित वह सभा बड़ी सुन्दर लग रही थी ॥ १४—१७ ॥

नृपभूषणकान्त्या च शस्त्राणामपि भारत ।
कर्पूराणामपि कणैः पतितैर्भूमिकम्बलाः ॥ १८ ॥
अरुणाः सितवर्णास्ते दृश्यन्ते जनमेजय ।

भरतवंशी जनमेजय ! उस सभाकी फर्शपर जो लाल रंग-के गलीचे बिछे हुए थे, वे राजाके आभूषणों और शस्त्रोंकी चमकसे तथा भूमिपर गिरे हुए कपूरके छोटे-छोटे टुकड़ोंसे श्वेतवर्णके दीख रहे थे ॥ १८½ ॥

धूपवासेन पुष्पाणां गन्धेनागुरुणा सह ॥ १९ ॥
कस्तूरीनिकरैस्तोयैर्गन्धराजैः सुकेसरैः ।
मूर्च्छयन्ती सभा लोकानुपविष्टान् नृपान्तिके ॥ २० ॥

अगुरुसहित धूप और पुष्पोंकी सुगन्धसे तथा कस्तूरी और गन्धराज केसरमिश्रित जलके छिड़कनेसे वह सभा राजाके समीप बैठे हुए लोगोंको मोहित-सी कर रही थी ॥ १९-२० ॥

चित्राङ्गदासुतो वीक्ष्य तुरङ्गं पत्रवाचनात् ।
युधिष्ठिरस्य तं ज्ञात्वा हयं पार्थेन पालितम् ॥ २१ ॥
सुबुद्धिं परिपप्रच्छ मन्त्रिणं मन्त्रिसत्तमम् ।
जननी मे पार्थपत्नी नृत्यन्ती पितृसद्मनि ॥ २२ ॥
तालहीना यदा जाता शप्ता पित्रा महात्मना ।
नक्रीभूता चिरं तिष्ठ जले विगततालिके ॥ २३ ॥
यदार्जुनस्य चरणौ प्राप्स्यसे दैवयोगतः ।
स त्वां मोचयिता भर्ता भविष्यति न संशयः ॥ २४ ॥

ऐसी सभामें बैठा हुआ चित्राङ्गदानन्दन बभ्रुवाहनने घोड़ेको देखकर तथा उसके मस्तकपर बँधे हुए स्वर्णपत्रको पढ़कर जब यह जान लिया कि यह युधिष्ठिरके अश्वमेध यज्ञका अश्व है और अर्जुन इसकी रक्षामें नियुक्त हैं, तब वह मन्त्रियोंमें श्रेष्ठ मुख्य मन्त्री सुमतिसे पूछने लगा—'मन्त्रिन् ! मेरी माता तो इन्हीं अर्जुनकी पत्नी हैं । एक बार वे पिताके महलमें नृत्य कर रही थीं, उस समय जब ताल भङ्ग हो गया, तब

उनके महामना पिताने उन्हें शाप देते हुए कहा—'अरी ताल भङ्ग करनेवाली ! तू चिरकालतक जलमें नाकी होकर निवास कर । दैवयोगसे जब तुझे अर्जुनके चरण प्राप्त होंगे, तब वे ही तुझे इस शापसे मुक्त करेंगे और निस्संदेह वे ही तेरे पति होंगे' ॥ २१—२४ ॥

तथा जातं पुरा पार्थात् संजातोऽहं पुरे शुभे ।
जननी मे परित्यज्य गता सा तं युधिष्ठिरम् ॥ २५ ॥

'उनके कथनानुसार पहले यह घटना घट चुकी है । मैं इस शुभ नगरमें उन्हीं अर्जुनसे उत्पन्न हुआ हूँ । उस समय मेरी माता मुझे यहाँ छोड़कर स्वयं युधिष्ठिरके पास चली गयी थीं ॥ २५ ॥

मया राज्यं महत् प्राप्तं पुत्रोऽहं पाण्डवस्य हि ।
किं करोमि सुबुद्धेऽत्र मया कार्यं विनाशितम् ।
स्वपितुस्तुरगश्चायं समानीतोऽविचारतः ॥ २६ ॥

'सुमते ! यद्यपि मुझे इस विशाल राज्यकी प्राप्ति हुई है, तथापि मैं पुत्र तो अर्जुनका ही हूँ । इस समय मैंने अज्ञानवश अपने पिताके इस घोड़ेको पकड़कर सारा कार्य ही चौपट कर डाला है । अब मैं क्या करूँ ?' ॥ २६ ॥

सुबुद्धिरुवाच

एवमेतन्न संदेहः प्रथमं न विचारितम् ।
त्वयैव पालनीयोऽयं वर्षमात्रं तुरङ्गमः ॥ २७ ॥
स्वपितुः शासनं कार्यं हन्तव्या हयहारिणः ।
पुत्राणां परमो धर्मः क्रियते पितृपूजनम् ॥ २८ ॥

सुमतिने कहा—राजन् ! निस्संदेह ऐसी ही बात है, परंतु पहले ही इसका विचार नहीं किया गया । आपको ही वर्षपर्यन्त इस घोड़ेकी रक्षा करनी चाहिये और अपने पिताकी आज्ञा मानकर घोड़ेके अपहरण करनेवालोंका वध करना चाहिये; क्योंकि पुत्रोंका यही परम धर्म है कि वे अपने पिताका आदर-सत्कार करें ॥ २७-२८ ॥

अधुना विविधं वित्तं राज्यं च नृपसत्तम ।
समर्पयार्जुनायाथ प्रसादय निजं गुरुम् ॥ २९ ॥

नृपश्रेष्ठ ! इस समय आप अनेक प्रकारका धन तथा यह राज्य अर्जुनको समर्पित करके अपने पिताको प्रसन्न कर लीजिये ॥ २९ ॥

ब्राह्मणैः संयुताः सर्वे नरनारीसमावृताः ।
कुमारीणां गणाः पुष्टा गजारूढा व्रजन्तु तम् ॥ ३० ॥
नृत्यन्त्यो यान्तु नर्तक्यः प्रगायन्तश्च गायकाः ।
वयं सर्वे सैनिकास्ते नागरास्ते महाजनाः ॥ ३१ ॥
सम्भावयित्वा जनकं तावकं हरिसेवकम् ।
प्रयच्छामो हयं शीघ्रमेवं मन्त्रः सुखोदयः ॥ ३२ ॥

उनके स्वागतके लिये ब्राह्मणों और स्त्री-पुरुषोंके साथ हृष्ट-पुष्ट कुमारी कन्याओंके सारे दल हाथियोंपर चढ़कर यात्रा करें तथा नर्तकियाँ नाचती हुई और गायक गाते हुए चलें । हम सब आपके सैनिक तथा प्रतिष्ठित नागरिक श्रीकृष्णके भक्त आपके पिताका स्वागत-सत्कार करके शीघ्र ही उन्हें घोड़ा वापस कर दें । यही विचार मुझे सुखदायक प्रतीत हो रहा है ॥ ३०—३२ ॥

जैमिनिरुवाच

श्रुत्वा सुबुद्धेर्वचनं राजासौ बभ्रुवाहनः ।
प्रययौ सबलः शीघ्रं गृहीत्वाथ तुरङ्गमम् ॥ ३३ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! मन्त्री सुमतिका कथन सुनकर राजा बभ्रुवाहन अपनी सेनाके साथ उस घोड़ेको लेकर शीघ्र ही चल पड़ा ॥ ३३ ॥

ब्राह्मणैः सहितो वीरैर्नागरैश्च महाजनैः ।
चन्दनानि च कस्तूरीकर्पूरनिकरान् बहून् ॥ ३४ ॥
वाहितैः शकटैः सार्कं तथान्यै रत्नपूरितैः ।
गजैर्मत्तैश्चन्द्रगौरै रथैः कनकचित्रितैः ॥ ३५ ॥
श्यामकर्णैश्च तुरगैर्वेष्टितः पाण्डवं मुदा ।
वादित्राणां च नादेन जयशब्दैः सुमङ्गलैः ॥ ३६ ॥
गजारूढकुमारीणां करमुक्तैः समौक्तिकैः ।
अग्रतो धूपधूमैश्च लाजैर्दूर्वादलैर्वृतः ॥ ३७ ॥
यत्र व्यूह्य निजं सैन्यं स्थितो वानरकेतनः ।
प्रद्युम्नं पुरतः कृत्वा यौवनाश्वं सपुत्रकम् ॥ ३८ ॥
अनुशाल्वं महावीरं नीलकेतुं सुधार्मिकम् ।
हंसध्वजं महाराजं शैनेयं च महाबलम् ॥ ३९ ॥
हार्दिक्यं यादवाध्यक्षं तथान्यान् यादवान् विभुः ।
गजादुत्तीर्य वीरोऽसौ बलवान् बभ्रुवाहनः ॥ ४० ॥
नमन्नमन्नाजगाम पश्यतां सर्वभूभुजाम् ।
पदातिश्चार्जुनसुतः प्रहृष्टः प्रत्ययात् स्वयम् ॥ ४१ ॥

उस समय उसके साथ ब्राह्मण, शूरवीर योद्धा और प्रतिष्ठित नागरिक भी थे । भेंटके लिये अधिक मात्रामें चन्दन,

कस्तूरी और कपूरसे लदे हुए छकड़े चल रहे थे, कुछ छकड़ोंमें रत्न भरा हुआ था। चन्द्रमाके समान गौरवर्णके मदमत्त गजराज और श्यामकर्ण घोड़ोंसे जुते हुए सुवर्णजटित रथ भी थे। बाजोंके शब्दके साथ माङ्गलिक जय-जयकारकी ध्वनि गूँज रही थी। आगे-आगे हाथियोंपर बैठी हुई कुमारी कन्याओंके हाथसे मोतियोंकी वर्षा हो रही थी। धूपके धूएँ उड़ रहे थे। खील और दूर्वादल बिखेरे जा रहे थे। इस प्रकार बभ्रुवाहन आनन्दपूर्वक अर्जुनके पास पहुँचा तथा जहाँ वानरध्वज अर्जुन प्रद्युम्न, पुत्रसहित यौवनाश्व, महान् वीर अनुशाल्व, परम धार्मिक नीलध्वज, महाराज हंसध्वज, महाबली सात्यकि, यादव-सेनापति कृतवर्मा तथा अन्य यादवोंको आगे करके अपनी सेनाका व्यूह बनाकर स्थित थे, वहाँ जाकर सामर्थ्यशाली एवं बलवान् वीर बभ्रुवाहन अपने हाथीसे उतर पड़ा और फिर वह अर्जुनपुत्र समस्त राजाओंके समक्ष स्वयं झुक-झुककर चलता हुआ पैदल ही प्रसन्नतापूर्वक अर्जुनके पास गया ॥३४—४१॥

संस्थाप्य वस्तुजातं तद् यदानीतं तदग्रतः ।
मुक्त्वा केशान् क्षालनार्थं पादयोः पाण्डवस्य हि ॥४२॥
विरजस्कौ कृतौ पादौ स्वकेशैः परितोषितः ।
ववर्षुः कन्यकाः सर्वाः पुष्पमुक्ताफलानि च ॥ ४३ ॥

वहाँ उसने अपने साथ लायी हुई सारी-की-सारी भेंट-सामग्री उनके सामने रख दी और अर्जुनके पैरोंकी धूल झाड़नेके लिये अपने केश खोलकर उन बालोंसे उनके दोनों पैरोंको धूलरहित करके उन्हें संतुष्ट किया। उस समय वे सभी कन्याएँ फूलों और मोतियोंकी वर्षा करने लगीं ॥ ४२-४३ ॥

सबलः स पपातोर्व्यां दण्डवद् बभ्रुवाहनः ।
अर्जुनस्यान्तिके राजन् साश्रुकण्ठो महामतिः ॥ ४४ ॥
पार्थस्याङ्घ्रिं समासाद्य पुनरेवोत्थितोऽब्रवीत् ।

राजन्! फिर महाबुद्धिमान् बभ्रुवाहन गद्गदकण्ठ हो सेनासहित अर्जुनके संनिकट जाकर दण्डकी भाँति पृथ्वीपर लेट गया। पुनः अर्जुनके चरणोंका स्पर्श करके उठ खड़ा हुआ और कहने लगा ॥ ४४½ ॥

बभ्रुवाहन उवाच

तवाहं पुत्रकस्तात उलूप्या परिवर्धितः ॥ ४५ ॥
चित्राङ्गदाप्रसूतं मां त्वत्तस्तीर्थकरात् पुरा ।
बभ्रुवाहननामाहं न जाने तुरगं तव ॥ ४६ ॥

बभ्रुवाहन बोला—तात! मैं आपका ही पुत्र हूँ। माता उलूपीने मेरा पालन-पोषण किया है। पहले जब आप तीर्थयात्राके लिये निकले थे, उस समय आपके द्वारा चित्राङ्गदाके गर्भसे मेरा जन्म हुआ था। मेरा नाम बभ्रुवाहन है। मैं नहीं जानता था कि यह अश्व आपका है (अतः भूलसे इसे पकड़ लिया है) ॥ ४५-४६ ॥

गृहाण राज्यं निखिलं शाधि मां त्वं धनंजय ।
पुनरेवार्जुनपुरो निपपात विशाम्पते ॥ ४७ ॥
क्षमस्वेति वदन् वाग्मी सभृत्यो बलसंयुतः ।

धनंजय! आप मेरे सम्पूर्ण राज्यको स्वीकार करके मेरे ऊपर शासन कीजिये। प्रजानाथ! फिर 'मुझे क्षमा कीजिये' ऐसा कहता हुआ वाक्यपटु बभ्रुवाहन सेना और भृत्यवर्गसहित पुनः अर्जुनके चरणोंमें गिर पड़ा ॥ ४७½ ॥

तं तथा भाषमाणं ते निरीक्ष्यार्जुनसैनिकाः ॥ ४८ ॥
प्रद्युम्नप्रमुखाः प्रोचुः पार्थं प्रति महीपते ।
पुत्रं कथं न गृह्णासि ब्रुवन्तं परमं हितम् ॥ ४९ ॥
मानी च पतितो भूमौ तमुत्थापय पाण्डव ।
पश्य श्रियं च महतीं स्वपुत्रस्यातितेजसः ॥ ५० ॥

महीपाल! बभ्रुवाहनको यों कहते हुए देखकर अर्जुनके वे प्रद्युम्न आदि प्रमुख सैनिक पृथानन्दन अर्जुनसे बोले—'पाण्डुनन्दन! ऐसे परम हितकारी वचन कहनेवाले अपने पुत्रको आप क्यों नहीं स्वीकार करते हैं? यह मानी वीर पृथ्वीपर पड़ा हुआ है, इसे उठाइये और परम तेजस्वी अपने पुत्रकी इस उत्कृष्ट राजलक्ष्मीको देखिये' ॥ ४८—५० ॥

जैमिनिरुवाच

तेषां भाषितमाकर्ण्य पार्थः क्रोधसमन्वितः ।
पदा तं ताडयित्वाथ बभ्रुवाहनमौरसम् ॥ ५१ ॥
मस्तके भर्त्सयन् कोपात् कालकल्पं सुदारुणम् ।
भाविना च विनाशेन निगीर्णो वाक्यमब्रवीत् ॥५२॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! सैनिकोंका कथन सुनकर अर्जुनको क्रोध आ गया; क्योंकि उन्हें भावी विनाशने ग्रस लिया था। अतः वे कालके समान अत्यन्त भयंकर अपने औरस पुत्र बभ्रुवाहनके मस्तकको पैरोंसे ठुकराकर क्रोधपूर्वक उसे फटकारते हुए कहने लगे ॥ ५१-५२ ॥

अर्जुन उवाच

न त्वं ममौरसः पुत्रो भयग्रस्तकलेवरः ।
चित्राङ्गदाप्रसूतं त्वां वैश्यान्मन्ये न पाण्डवात् ॥५३॥

अर्जुन बोले—कायर ! तेरे शरीरपर तो भयने अधिकार जमा लिया है, अतः तू मेरा औरस पुत्र नहीं है । मैं तो ऐसा समझता हूँ कि तू किसी वैश्यद्वारा चित्राङ्गदाके गर्भसे उत्पन्न हुआ है, अर्जुनके वीर्यसे नहीं ॥ ५३ ॥

प्रथमं विधृतः कस्मात् तुरगो मे स्वपौरुषात् ।
भयेन वैश्यवत्त्वं तु तुरगं दातुमिच्छसि ॥ ५४ ॥
न मया जनितश्चान्यस्त्वादृशः क्लीबपौरुषः ।
सुतः स जनितो यस्तु महाबुद्धिपराक्रमः ॥ ५५ ॥
कृष्णप्रियो धर्मपरो मम चापि प्रियो गतः ।
सुभद्रानन्दनः पुत्रो ममैकः क्षत्रियान्तकृत् ॥ ५६ ॥
येन द्रोणमुखा वीराः संग्रामे विमुखाः कृताः ।
चक्रव्यूहं विनिर्भिद्य रक्षितो धर्मनन्दनः ॥ ५७ ॥

पहले तूने अपने किस बल-पौरुषके भरोसे मेरे घोड़ेको पकड़ लिया था, जो अब भयभीत होकर वैश्यकी भाँति उसे लौटा देना चाहता है ? मैंने तुझ-सरीखे हिंजड़ेके समान पुरुषार्थवाले किसी अन्य पुत्रको नहीं उत्पन्न किया है । मैंने वह पुत्र पैदा किया था, जो महान् बुद्धि एवं बल-पराक्रम-सम्पन्न, श्रीकृष्णका स्नेह-भाजन और धर्मपरायण था । मेरा वह प्यारा पुत्र तो इस लोकसे चला गया । क्षत्रियोंका संहार करनेवाला सुभद्रानन्दन अभिमन्यु ही मेरा एकमात्र पुत्र था, जिसने गुरु द्रोणाचार्य आदि प्रमुख वीरोंको संग्राममें विमुख कर दिया था और चक्रव्यूहका भेदन करके धर्मनन्दन युधिष्ठिरकी रक्षा की थी ॥ ५४–५७ ॥

क्व जम्बूकः क्व पञ्चास्यः क्व खञ्जः क्व च शीघ्रगः ।
त्वं जम्बूकः कुतः सिंहः सुभद्रानन्दनो मम ॥ ५८ ॥

कहाँ गीदड़ और कहाँ सिंह, कहाँ लँगड़ा और कहाँ शीघ्र गमन करनेवाला ? (जैसे इनकी समानता नहीं हो सकती वैसे ही) कहाँ तो गीदड़-जैसा तू और कहाँ सिंह-सा वीर सुभद्रानन्दन मेरा पुत्र अभिमन्यु ! ॥ ५८ ॥

मूढ सैन्यं न पतितं तावकं मच्छरैः क्षितौ ।
न बाणा हृदि ते लग्नाः कथं भीतोऽसि दुर्मते ॥ ५९ ॥

मूढ़ ! अभी तो मेरे बाणोंकी चोटसे तेरी सेना भी धराशायी नहीं हुई और न तो मेरे बाण तेरे हृदयमें ही लगे; फिर दुर्बुद्धे ! तू पहलेसे ही भयभीत कैसे हो गया ? ॥

गन्धर्वराजदुहिता जननी तव नर्तकी ।
त्वं नटो भव गच्छाद्य राज्यं त्यक्त्वा गृहे धनुः॥ ६० ॥

(परंतु यह तेरे मातृकुलके अनुरूप ही है; क्योंकि) तेरी माता गन्धर्वराजकी कन्या है, अतः जैसे वह नटनी है, उसी तरह अब तू भी जा और इस धनुषको घरमें रखकर तथा राज्यका परित्याग करके नट हो जा ॥ ६० ॥

त्यजैतद् विपुलं रम्यं रथं च कुलपांसन ।
क्षात्रधर्मेण ते हीनं जीवितं न सुखप्रदम् ॥ ६१ ॥

कुलाङ्गार ! तू इस रमणीय एवं विशाल रथको छोड़ दे; क्योंकि क्षात्रधर्मसे रहित होनेके कारण तेरा जीवन सुखप्रद नहीं रह गया ॥ ६१ ॥

मातृवंशं गृहाण त्वं बद्ध्वा कण्ठे तु मर्दलम् ।
बालेयं पृष्ठतो बद्ध्वा रङ्गे नृत्यं प्रवर्त्तय ॥ ६२ ॥

मूर्ख ! अब तू अपने मातृवंशका ही अनुसरण कर और गलेमें ढोल तथा पीठपर लंबे-लंबे बालोंकी चोटी बाँधकर रंगमञ्चपर नाच दिखा ॥ ६२ ॥

जैमिनिरुवाच

ततः स बुबुधे सर्वं यत् पित्रा भाषितं तदा ।
प्रत्युवाच हसन् वाग्मी सकोपस्तत्र पाण्डवम् ॥ ६३ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर पिताने उस समय जो कुछ कहा, उसका सारा रहस्य बभ्रुवाहनकी समझमें आ गया, तब उस वाग्मीने कुपित होकर मुसकराते हुए अर्जुनसे कहना आरम्भ किया ॥ ६३ ॥

बभ्रुवाहन उवाच

सर्वं ते क्षामितं पार्थ न त्वेकं क्षामये पुनः ।
वैश्याज्जातं मन्यसे मां जननी मे प्रदूषिता ॥ ६४ ॥
त्वयाल्पबुद्धिना लोके समक्षं मेऽद्य संगरे ।
क्षत्रियत्वं दर्शयामि तवाग्रे तु धनंजय ॥ ६५ ॥

बभ्रुवाहनने कहा—पार्थ ! मैंने आपकी सारी कटूक्तियाँ सह लीं; परंतु आप जो मुझे वैश्यसे उत्पन्न हुआ मानते हैं, आपकी यह एक बात मैं नहीं सहन कर सकता । इससे तो ऐसा प्रतीत होता है कि आपकी बुद्धि बड़ी ओछी है; क्योंकि आपने मेरे सामने मेरी माताको संसारमें दूषित बना दिया; इसलिये धनंजय ! आज मैं संग्रामभूमिमें आपके सामने अपना क्षत्रियत्व प्रकट करूँगा ॥ ६४-६५ ॥

गच्छन्तु कन्यकाः सर्वाः पुरमध्ये महाजनाः ।
सैनिकाश्चात्र तिष्ठन्तु हयोऽयं च निबध्यताम् ॥ ६६॥

(अर्जुनसे ऐसा कहकर वह अपने पक्षवालोंसे कहने लगा—) अब सारी कन्याएँ तथा प्रतिष्ठित नागरिकजन नगरको लौट जायँ । केवल सैनिक ही यहाँ ठहरें और यह घोड़ा बाँध लिया जाय ॥ ६६ ॥

कथं मोचयिता पार्थो भविष्यति तुरङ्गमम् ।
मया धृतः पौरुषेण व्यूह्य सेनां हि भासुराम्॥ ६७ ॥

जब मैंने अपनी प्रकाशमान सेनाका व्यूह बनाकर बलपूर्वक इस घोड़ेको पकड़ लिया है, तब अर्जुन इसे कैसे छुड़ानेमें समर्थ होंगे ? ॥ ६७ ॥

सुबुद्धिप्रमुखा वीरा यत्ताः सन्तु रणे मम ।
सर्वे ते तादृशं चक्रुर्गृहीत्वा तुरगं स्थिताः ॥ ६८ ॥

मेरे सुमति आदि प्रधान वीर रणक्षेत्रमें सावधान हो जायँ । तब उन सभीने राजाके आज्ञानुसार सारा कार्य किया और वे घोड़ेको पकड़कर खड़े हो गये ॥ ६८ ॥

महत् सैन्यं स्थितं घोरं सशब्दं कालरूपधृक् ।
चामरापीडसंयुक्तं रुद्राक्षवलयं पृथु ॥ ६९ ॥
नानारत्नसुवर्णेन भूषितं चारुकुण्डलम् ।
नानावादित्रशङ्खानां नादेनैव विनादितम् ॥ ७० ॥

उस समय वहाँ एक बड़ी भयंकर सेना गर्जना करती हुई खड़ी हो गयी । उसका रूप कालके सदृश भयावना था । उसके सैनिकोंके सिरपर चवँर और मुकुट सुशोभित हो रहे थे, हाथोंमें बड़े-बड़े रुद्राक्षोंके कंकण बँधे थे, कानोंमें नाना प्रकारके रत्नों और स्वर्णसे विभूषित सुन्दर कुण्डल झलमला रहे थे । वह सेना अनेक प्रकारके बाजों और शङ्खोंके घोषसे निनादित हो रही थी ॥ ६९-७० ॥

गजानामर्बुदं नद्धं घण्टाकम्बलधारिणाम् ।
रथानामपि राजेन्द्र स्थापितं कोटिसप्तकम् ॥ ७१ ॥
हयानामपि रूढानामर्बुदद्वितयं तथा ।
पदातीनां सुपुष्टानां त्रितयं चार्बुदस्य हि ॥ ७२ ॥

राजेन्द्र ! उस सेनामें घंटा और झूल धारण करनेवाले एक अर्बुद सजे हुए हाथी, सात करोड़ रथ, सवारोंसहित दो अर्बुद घोड़े और तीन अर्बुद महाबली पैदल सैनिक खड़े किये गये थे ॥ ७१-७२ ॥

महावीराः सदा पुष्टाः संग्रामकुशला नृप ।
अन्योऽन्यस्य हिते युक्ताः सत्यव्रतपरायणाः ॥ ७३ ॥
चित्राङ्गदात्मजेनैते योजितास्तत्क्षणान्नृप ।

राजन् ! वे सैनिक महान् शूरवीर, सदा हृष्ट-पुष्ट, युद्धकलामें निपुण, परस्पर एक-दूसरेके हितमें तत्पर और सत्यव्रतका पालन करनेवाले थे । चित्राङ्गदाकुमारने उसी क्षण उन्हें यथास्थान नियुक्त कर दिया ॥ ७३½ ॥

तैस्तदा वेष्टितं सैन्यं पाण्डवस्य महात्मनः ॥ ७४ ॥
नानाशस्त्रप्रहरणैर्मोहलोभैर्यथा जगत् ।
घोरैः किलकिलाशब्दैः सिंहनादैश्च तर्जनैः ॥ ७५ ॥
तिष्ठ तिष्ठेति भाषद्भिः पातयद्भिः परान् रणे ।

तब जैसे लोभ-मोह संसारको घेर लेते हैं, उसी तरह उन वीरोंने नाना प्रकारके शस्त्रास्त्रोंको धारण करके महामनस्वी अर्जुनकी सेनाको घेर लिया । वे किलकारियाँ मारने, सिंहनाद करने और शत्रुओंको डाँट बताने लगे तथा 'खड़े रहो, खड़े रहो' यों कहते हुए युद्धस्थलमें शत्रुओंको धराशायी करने लगे ॥ ७४-७५½ ॥

ततो रथं समारुह्य दिव्यं कनकचित्रितम् ॥ ७६ ॥
त्रिभूमिकं सुशस्त्राढ्यं मुक्तामालाविभूषितम् ।
प्रलम्बचामरधरं मयूराश्वं पताकिनम् ॥ ७७ ॥
किङ्किणीशतसम्पूर्णं शक्रस्यन्दनहासकम् ।
उवाच कार्ष्णिः पितरं तिष्ठेति परुषं रणे ॥ ७८ ॥

तदनन्तर बभ्रुवाहन एक दिव्य रथपर चढ़कर वहाँ आया । उस रथमें सोनेकी चित्रकारी की गयी थी । उसमें बैठनेके लिये तीन स्थान बने थे । वह उत्तमोत्तम आयुधोंसे भरा हुआ और मोतियोंके हारोंसे विभूषित था । उसमें लंबे-लंबे चँवर बँधे हुए थे, मोरके-से रंगवाले घोड़े जुते थे और पताकाएँ फहरा रही थीं । वह सैकड़ों क्षुद्र घंटिकाओंसे परिपूर्ण था । इस प्रकार अपनी शोभासे वह इन्द्रके रथका भी उपहास कर रहा था । ऐसे रथमें बैठकर वह अर्जुनकुमार अपने पितासे 'युद्धस्थलमें खड़े होइये' यों कठोर शब्द कहने लगा ॥ ७६–७८ ॥

बभ्रुवाहन उवाच

गृहाणार्जुन कोदण्डं पौरुषं पश्य मामकम् ।
पितृभावेन चानीतो मयायं तुरगस्तव ॥ ७९ ॥
पुनः समर्पितस्तुभ्यं सर्वं राज्यं निवेदितम् ।
शरणं चागतोऽहं त्वां तन्मान्यं नाभवत् तव ॥ ८० ॥

बभ्रुवाहन बोला—अर्जुनजी ! अब आप अपना धनुष उठाइये और मेरे पुरुषार्थको देखिये । मैंने तो पितृ-

भावका विचार करके आपके इस घोड़ेको लाकर पुनः आपको समर्पित किया था। साथ ही अपना सम्पूर्ण राज्य निवेदन करके आपके शरणापन्न हुआ था; परंतु आपको मेरी ये बातें स्वीकार न हुईं ॥ ७९-८० ॥

संग्राम एव चेन्मान्यस्तव पार्थ न संधिता।
संनद्धं विद्धि मां रौद्रं कस्त्वां त्राताद्य विद्यते ॥ ८१ ॥

पार्थ ! यदि आपको संग्राम ही अभीष्ट है, संधि नहीं तो मुझ भयंकर वीरको अब कवच धारण करके युद्धके लिये तैयार ही समझिये। देखें, आज आपका कौन रक्षक होता है ? ॥ ८१ ॥

जैमिनिरुवाच

एवं वदन्तं समरे बभ्रुवाहनमातुरम्।
समाह्वयन्तं पार्थं हि युद्धार्थं दैत्यनायकः ॥ ८२ ॥
अनुशाल्वो रथारूढस्तमियाय सुरोषितः।
शरैः सुपुङ्खैर्नवभिस्तं विव्याध हसन्निव ॥ ८३ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! जब बभ्रुवाहन आतुर होकर समरभूमिमें यों कहते हुए युद्धके लिये अर्जुनको ललकारने लगा, तब दैत्यराज अनुशाल्व अत्यन्त क्रोधमें भर गया और अपने रथपर चढ़कर उसने बभ्रुवाहनपर धावा बोल दिया, फिर मुसकराते हुए-से सुन्दर पंख लगे हुए नौ बाणोंसे उसे बींध डाला ॥ ८२-८३ ॥

कार्ष्णिः शतेन बाणानामनुशाल्वं समाकिरत्।
दैत्याधिपस्तान् नाराचान् मध्ये चिच्छेद सत्वरः॥८४॥

तब बभ्रुवाहनने अनुशाल्वको सैकड़ों बाणोंसे आच्छादित कर दिया, परंतु दैत्यराजने वेगपूर्वक उन बाणोंको बीचसे काट गिराया ॥ ८४ ॥

छिन्नाञ्छरान् वीक्ष्य रोषान्मुमोचान्याञ्छिलाशितान्।
कोटिशः शुकपत्रान् स रणे दैत्याधिपं प्रति ॥ ८५ ॥

अपने बाणोंको कटा हुआ देखकर बभ्रुवाहनने क्रोधपूर्वक युद्धभूमिमें उस दैत्यराजके ऊपर करोड़ों ऐसे दूसरे बाण चलाये, जो तोतेके परोंसे सुशोभित तथा पत्थरपर रगड़कर तेज किये गये थे ॥ ८५ ॥

उभौ शरविभिन्नाङ्गौ रुधिरेण परिप्लुतौ।
व्यराजेतां महाराज पुष्पितौ किंशुकाविव ॥ ८६ ॥

महाराज ! बाणोंसे अङ्गोंके छिन्न-भिन्न हो जानेके कारण वे दोनों खूनसे लथपथ हो गये थे, जिससे वे खिले हुए दो पलाशवृक्षोंकी भाँति सुशोभित हो रहे थे ॥ ८६ ॥

पूरयामासतुर्बाणैर्गगनं गतदैवतम्।
जलदाविव तोयौघैः परस्परवधैषिणौ ॥ ८७ ॥

फिर जैसे बादल जलकी धाराओंसे आकाशको भर देते हैं, उसी तरह उन दोनोंने परस्पर एक-दूसरेके वधकी इच्छासे बाणवर्षा करके आकाशको ऐसा परिपूर्ण कर दिया कि देवगण भी वहाँसे भाग खड़े हुए ॥ ८७ ॥

अनुशाल्वस्य तुरगान् बाणैर्निन्ये यमक्षयम्।
चतुर्भिः पञ्चमेनापि सारथिं च हसन्निव ॥ ८८ ॥

तत्पश्चात् बभ्रुवाहनने मुसकराते हुए-से चार बाणोंद्वारा अनुशाल्वके घोड़ोंको और पाँचवें बाणसे सारथिको भी मारकर यमराजके घर पहुँचा दिया ॥ ८८ ॥

रथं चिच्छेद षष्ठेन तिलशः प्रहसन्निव।
सप्तमेन ध्वजश्छिन्नो धनुश्चैवाष्टमेन तु ॥ ८९ ॥
सुवर्णपुङ्खैर्दशभिर्दैत्यराजं समाकिरत्।

पुनः हँसते हुए-से छठे बाणद्वारा उसने रथको काटकर तिलके समान टुकड़े-टुकड़े कर दिये, सातवेंसे ध्वज और आठवेंसे धनुषको भी काट दिया, फिर सोनेकी पूँछवाले दस बाणोंसे दैत्यराजको भी ढक दिया ॥ ८९½ ॥

अन्यं रथं समारुह्य गृहीत्वान्यन्महद्धनुः ॥ ९० ॥
अनुशाल्वोऽपि विरथं चकारार्जुनपुत्रकम्।
शरीरं बाणसाहस्रैर्भिन्नं तस्य सुतेजसः ॥ ९१ ॥

तब अनुशाल्वने भी दूसरा महान् धनुष हाथमें लेकर दूसरे रथपर सवार हो सहस्रों बाणोंकी वर्षा करके अर्जुनकुमारको रथहीन कर दिया और उस परम तेजस्वी वीरके शरीरको विदीर्ण कर डाला ॥ ९०-९१ ॥

स पुनः कार्ष्णिना राजन् विरथस्तत्क्षणात् कृतः।
दैत्याधिपो गदां घोरां प्राहिणोद् बभ्रुवाहने ॥ ९२ ॥

राजन् ! बभ्रुवाहनने तत्काल ही अनुशाल्वको पुनः रथहीन कर दिया, तब दैत्यराजने बभ्रुवाहनके ऊपर अपनी भयंकर गदाका प्रहार किया ॥ ९२ ॥

गदाप्रहाराभिहतो मणिपूरपुराधिपः।
अनुशाल्वं शरैर्घोरैर्नवभिः समताडयत् ॥ ९३ ॥

उस गदाके आघातसे घायल होकर मणिपुरनरेश बभ्रु-

वाहनने नौ भयंकर बाणोंसे अनुशाल्वको गहरी चोट पहुँचायी ॥ ९३ ॥

तैः शरैरर्दितो राजा मूर्च्छितो निपपात सः।
तं विसंज्ञं समीक्ष्याथ प्रद्युम्नो योद्धुमाययौ ॥ ९४ ॥

उन बाणोंसे पीडित हो राजा अनुशाल्व मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। तब उसे संज्ञाशून्य देखकर प्रद्युम्न युद्ध करनेके लिये आ धमके ॥ ९४ ॥

तिष्ठ तिष्ठेति च वदन् बभ्रुवाहनमार्दयत्।
प्रहरंस्तरसा बाणैस्तर्जयन् परुषोक्तिभिः ॥ ९५ ॥
सुवर्णपुङ्खैर्दशभिः पुनर्विव्याध पाण्डविम्।

वे 'खड़ा रह, खड़ा रह' यों पुकारते हुए बभ्रुवाहनको पीडा देने लगे। उन्होंने वेगपूर्वक बाणोंका प्रहार तथा कटूक्तियोंद्वारा फटकार कर उसे बड़ी पीडा दी। फिर सुवर्णमय पंखवाले दस बाणोंसे अर्जुनकुमारको घायल कर दिया ९५½

बभ्रुवाहस्ततः क्रुद्धो बाणानामयुतेन तम् ॥ ९६ ॥
प्रद्युम्नमपि संग्रामेऽनङ्गं चक्रे यथोचितम्।
पूर्वजन्मन्यनङ्गोऽभूदस्मिन्नपि तथाभवत् ॥ ९७ ॥

तदनन्तर बभ्रुवाहनने क्रुद्ध होकर संग्रामभूमिमें दस हजार बाणोंसे उन प्रद्युम्नको भी यथार्थरूपमें अनङ्ग बना दिया। पूर्वजन्ममें जैसे वे अङ्गरहित (कामदेव) थे, वैसे ही इस जन्ममें भी हो गये ॥ ९६-९७ ॥

चित्ते यथामुना विद्धः कार्याकार्येषु मूढधीः।
न गोत्रजां नात्र सुतां नारीं प्राप्य विमुञ्चति ॥ ९८ ॥
संगरे पीडितस्तद्वत् कार्ष्णिः स नृपसत्तम।
प्रद्युम्नः शरसम्पर्कात् कर्तव्यं नान्वविन्दत ॥ ९९ ॥

नृपश्रेष्ठ! जैसे इस कामदेवके बाणसे हृदयके विद्ध हो जानेपर मनुष्यको कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान नहीं रह जाता। वह (कामवश) किसी भी नारीको पाकर, चाहे वह अपने गोत्रकी कन्या अथवा अपनी पुत्री ही क्यों न हो, उसे छोड़ना नहीं चाहता; उसी प्रकार समरभूमिमें बाणोंके सम्पर्कसे पीड़ित हुए कृष्णकुमार प्रद्युम्नको अपने कर्तव्यका ज्ञान नहीं रह गया ॥ ९८-९९ ॥

बभ्रुवाहोऽर्जुनस्यापि सेनां तां चतुरङ्गिणीम्।
ममन्थ बाणैर्बहुभिः सर्वकायविदारिभिः ॥१००॥

इधर बभ्रुवाहन अर्जुनकी उस चतुरंगिणी सेनाको भी बहुत-से बाणोंद्वारा मथने लगा। वे बाण सम्पूर्ण शरीरको विदीर्ण कर देनेवाले थे ॥ १०० ॥

तं वीक्ष्य कृष्णतनयः पुनर्विव्याध सायकैः।
बभ्रुवाहं च सबलं सर्वे ते मोहिता रणे ॥१०१॥

उसे इस प्रकार सेनाका संहार करते देख प्रद्युम्न सेनासहित बभ्रुवाहनको पुनः बाणोंसे बींधने लगे, जिससे वे सभी वीर रणक्षेत्रमें मोहित हो गये ॥ १०१ ॥

मातङ्गा मदसंयुक्ताः कामबाणप्रपीडिताः।
पतिता विस्मयः कोऽत्र भ्रममाणा रणाङ्गणे ॥१०२॥
विकीर्णकम्बलास्तत्र भिन्नकुम्भा विचेतसः।

इसमें आश्चर्यकी क्या बात है; क्योंकि प्रद्युम्नके बाणोंसे पीडित हुए मदमत्त गजराज रणाङ्गणमें चक्कर काटते हुए गिर रहे थे, वहाँ उनके झूल बिखर गये थे, कुम्भस्थल फट गये और वे संज्ञाशून्य हो गये थे ॥ १०२½ ॥

यक्षाङ्गनाश्च कुर्वन्ति सहारं यौवनं निजम् ॥१०३॥
गजकुम्भोत्थितैः सान्द्रैः रम्यं मुक्ताफलैर्मृधे।
नरशीर्षं मेदोहीनं कृत्वा रुधिरपूरितम् ॥१०४॥
अन्योन्यं तेन शिरसा ताडयन्ति हसन्ति च।
गजशीर्षं सरुधिरं प्रक्षिपन्ति परस्परम् ॥१०५॥

उस समय यक्षाङ्गनाएँ युद्धस्थलमें गजराजोंके कुम्भस्थलोंसे सुन्दर एवं गीले गजमुक्ताओंको निकालकर उनके हारसे अपने रमणीय यौवनको सजाने लगीं। वे चरबीरहित मनुष्योंकी खोपड़ियोंको रक्तसे भरकर उसी मस्तकसे एक-दूसरीको मारकर हँसने लगीं और रुधिरसे परिपूर्ण हाथीकी खोपड़ीको परस्पर फेंकने लगीं ॥ १०३–१०५ ॥

गजदन्तैश्चतुःषष्टियोगिन्यश्चारुविभ्रमम्।
नृत्यन्त्यो गायनं चक्रुस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥१०६॥

चौंसठ योगिनियाँ हाथीके दाँतोंको हाथमें लेकर नाचती हुई सुन्दर भावभंगीके साथ गान करने लगीं। यह एक अद्भुत-सा दृश्य था ॥ १०६ ॥

शुष्काङ्गा यत्र वेतालाः कुर्वन्ति स्वां तनुं रणे।
पुष्टां मांसैश्च मेदोभिः प्रलिम्पन्ति तथा बहिः ॥१०७॥

उस युद्धमें शुष्क शरीरवाले वेताल मांस और मेदाका आहार करके अपने शरीरको पुष्ट करने लगे और ऊपरसे भी शरीरपर उसका अनुलेप करने लगे ॥ १०७ ॥

गजमस्तकमादाय भैरवा हयमस्तकम्।
नरस्यापि खरस्यापि करभस्य महच्छिरः ॥१०८॥
नृत्यन् गोलकवद् युद्धे प्रक्षिपन्त्यूर्ध्वमूर्ध्वतः।
कङ्काला भैरवा यक्षाः पिशाचा रुधिरं पपुः ॥१०९॥
गजान्त्ररज्जुभिर्नृत्यं चक्रिरे ध्वनिनो मृधे।

भैरवगण हाथी, घोड़े, मनुष्य, गधे और ऊँटके विशाल मस्तकोंको लेकर युद्धभूमिमें नाचते हुए उन्हें गेंदकी तरह ऊपर-ही-ऊपर उछालने लगे। कंकाल, भैरव, यक्ष और पिशाच रक्त-पान करने लगे तथा हाथियोंकी आँतोंकी रस्सीसे ध्वनि उत्पन्न करते हुए रणभूमिमें नाचने लगे ॥ १०८—१०९½ ॥

वेतालाश्च पिशाचाश्च समृदङ्गा मुदान्विताः ॥११०॥
नरशीर्षमथाबद्ध्य चरणे क्षुद्रघण्टिकाम्।
नृत्यन्ति खलु गायन्ति तस्मिन् वीरसमागमे ॥१११॥

वेताल और पिशाच उस वीर-समागमके अवसरपर मनुष्योंकी खोपड़ियोंका मृदंग बनाकर और पैरोंमें घुँघुरू बाँधकर आनन्दपूर्वक नाचने और गाने लगे ॥ ११०-१११ ॥

कृतपानाः स्म दृश्यन्ते कोटिशः शब्दवादकाः।
शुण्डां गजस्य त्रुटितां गृहीत्वा मुखवायुना ॥११२॥
पिशाचाः पूरयन्ति स्म काहलान् नृपसत्तम।
गजकर्णौ गृहीत्वैको झर्झरौ वादयन् ययौ ॥११३॥

करोड़ों बाजा बजानेवाले पिशाच रक्तपान करते हुए दिखायी देने लगे। नृपश्रेष्ठ! बहुत-से पिशाच हाथीकी टूटी हुई सूँडको लेकर उसे अपने मुखकी वायुसे फूँककर काहल नामक वाद्यविशेषकी तरह बजाने लगे। कोई हाथीके दोनों कानोंको लेकर उसे झाँझकी भाँति बजाते हुए घूमने लगा ॥ ११२-११३ ॥

आददे करभग्रीवां भुक्तमांसां हि जम्बुकैः।
नरान्त्रतन्त्रीं वीणां च तामवादयति स्म सः ॥११४॥

किसीने, गीदड़ोंने जिसका मांस खा लिया है, ऐसी ऊँटकी गरदनकी हड्डी उठा ली और उसमें मनुष्यकी आँतोंकी ताँत बाँधकर वह उसे वीणाकी तरह बजाने लगा ॥ ११४ ॥

ग्रीवापादविहीनानि गजाङ्गानि च वाजिनाम्।
भग्नानि मेदोनद्धानि वादयन्ति मृदङ्गवत् ॥११५॥
ब्रह्मग्रहास्तत्र राजन् प्रद्युम्ने किल युध्यति।

राजन्! वहाँ प्रद्युम्नके युद्ध करते समय ब्रह्मग्रह ग्रीवा और पादोंसे रहित कटे हुए हाथी और घोड़ोंके शरीरोंको लेकर उन्हें मेदासे बाँधकर मृदंगकी भाँति बजाने लगे ११५½

शिरांसि तत्र वीराणां छिन्नान्यादाय कौतुकात् ॥११६॥
स्वक्रीडाकन्दुकांश्चक्रुर्भैरवाः स्वगणैस्तदा।

उस समय अपने गणोंसहित भैरव युद्धस्थलमें कटकर गिरे हुए वीरोंके सिरोंको कौतुकवश उठाकर उन्हें अपनी क्रीडाका गेंद बना डाले ॥ ११६½ ॥

यत्र यत्र हतं सैन्यं कृष्णपुत्रेण मारिष ॥११७॥
शोणितौघा नदी तत्र केशशैवालशाद्वला।
निमग्नास्तत्र मातङ्गा न दृश्यन्ते कुतो नराः ॥११८॥
यथा वैतरणी घोरा द्वितीयैषा प्रवर्तिता ॥११९॥

आर्य! प्रद्युम्नने जहाँ-जहाँ सेनाका संहार किया, वहाँ-वहाँसे एक रक्तकी सरिता बह चली; जिसमें केश सेवार और घास-की तरह दीख रहे थे। वह इतनी गहरी थी कि उसमें डूबे हुए बड़े-बड़े गजराज नहीं दीख रहे थे, फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या है। जैसे यमपुरीमें भयंकर वैतरणी नदी है, उसी तरह प्रद्युम्नने यह दूसरी वैतरणी प्रवाहित कर दी ११७—११९

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि प्रद्युम्नयुद्धवर्णनं नाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें प्रद्युम्नके युद्धका वर्णननामक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

प्रद्युम्न और बभ्रुवाहनके युद्धमें रणभूमिकी भीषणताका वर्णन, बभ्रुवाहनका अर्जुनकी सेनाको पराजित करके हाथी, घोड़ा, रथ, सैनिक तथा अन्य सामग्रियोंको अपने नगरमें ले जाना

जैमिनिरुवाच

नदीतीरे श्वापदाश्च कर्षन्तः कुणपानिह।
आन्त्राणि पतितान्याशु भक्षयन्तो ववाशिरे ॥ १ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय हिंसक जन्तु उस नदीके तटपर आकर लाशोंको वेगपूर्वक खींचने लगे और उनमेंसे निकली हुई आँतोंको खाते हुए जोर-जोरसे गुर्राने लगे ॥ १ ॥

मांसकर्दमजं दुर्गं नृकपालोपलं तटे।
कृत्वा च भैरवास्तत्र चक्रिरे कलहं मुदा ॥ २ ॥
प्राकारस्थाः साट्टहासं शिरोभिर्गजवाजिनाम्।

भैरवगण वहाँ नदीके तटपर मांसके गारों और मनुष्योंकी खोपड़ीरूपी प्रस्तर-खण्डोंसे दुर्गका निर्माण करके उसके परकोटेपर बैठकर आनन्दपूर्वक अट्टहास करते हुए हाथियों और घोड़ोंके सिरोंद्वारा परस्पर कलह करने लगे ॥ २½ ॥

गजमेदोद्भवां रौद्रामान्त्रसूत्रपतङ्गिकाम् ॥ ३ ॥
कालखण्डकलाङ्गूलां कङ्काला गगनेऽक्षिपन्।
एतच्चान्यत् तदा चक्रुः प्रद्युम्नस्य रणे नृप ॥ ४ ॥

राजन्! प्रद्युम्नके युद्धमें कंकालोंके समुदाय हाथीकी चरबीसे बनी हुई जिगररूपी पूँछवाली भयंकर पतंगको आँतके सूतसे बाँधकर आकाशमें उड़ाने लगे। वे उस समय इसके अतिरिक्त और भी तरह-तरहके खेल करने लगे ॥ ३-४ ॥

पुनः प्रद्युम्नवीरोऽसौ पीडयन् वाहिनीं बलात्।
चकार कदनं घोरं पदातीनां नृपोत्तम ॥ ५ ॥
यथा प्रलयकाले च भूतानां शशिशेखरः।

राजशिरोमणे! महाबली प्रद्युम्न उसकी सेनाको बलपूर्वक पीडित करते हुए पुनः पैदल सैनिकोंका उसी प्रकार घोर संहार करने लगे, जैसे प्रलयके समय भगवान् शंकर प्राणियोंका संहार करते हैं ॥ ५½ ॥

निहतास्तेन मातङ्गा मदमत्ताः सहस्रशः ॥ ६ ॥
रथाश्च रथिभिः साकं चूर्णिता रणमूर्धनि।
हयाश्च सहयारोहाः प्रद्युम्नेन बलीयसा ॥ ७ ॥
पातिता भूतले राजन् बाणैः शतसहस्रशः।
पौरुषं दर्शयामास बभ्रुवाहनसैनिकान् ॥ ८ ॥

राजन्! उन बलवान् प्रद्युम्नने युद्धके मुहानेपर सैकड़ों तथा हजारों बाणोंसे सहस्रों मदमत्त गजराजोंको मार डाला, रथी वीरोंसहित रथोंको चूर-चूर कर दिया और सवारोंसहित घोड़ोंको पृथ्वीपर मार गिराया। इस प्रकार उन्होंने बभ्रुवाहनके सैनिकोंको अपना पराक्रम प्रत्यक्ष दिखला दिया ॥ ६–८ ॥

तथा तं वीक्ष्य कुपितं बभ्रुवाहो महाबलः।
शरैः संछाद्य तुरगान् सारथिं च झषध्वजम्॥ ९ ॥
मूर्च्छितं तरसा भूमौ पातयामास कोपितः।

प्रद्युम्नको ऐसा कुपित देखकर महाबली बभ्रुवाहनने क्रुद्ध होकर तुरंत ही बाणवर्षा करके घोड़े और सारथिसहित प्रद्युम्नको आच्छादित कर दिया और उन्हें मूर्च्छित करके पृथ्वीपर गिरा दिया ॥ ९½ ॥

रथानां विंशतिस्तस्य प्रद्युम्नस्य महात्मनः ॥ १० ॥
नाशे नाशे स्वीकृतानां छिन्ना पार्थात्मजेन हि।

फिर उस अर्जुनकुमारने महामनस्वी प्रद्युम्नके ऐसे बीस रथोंको, जो क्रमशः नष्ट होनेपर एकके बाद दूसरे ग्रहण किये गये थे, काट डाला ॥ १०½ ॥

तथैव कृष्णपुत्रेण प्रद्युम्नेन महारणे ॥ ११ ॥
चूर्णीकृता हि बहवो रथास्तस्य बलीयसः।
अपातयद् रणे कार्ष्णिं मूर्च्छितं तस्य सारथिम्॥ १२ ॥

उसी तरह कृष्णपुत्र प्रद्युम्नने भी उस महायुद्धमें महाबली बभ्रुवाहनके बहुत-से रथोंको चूर्ण कर डाला। तब बभ्रुवाहनने सारथिसहित प्रद्युम्नको मूर्च्छित करके भूतलपर गिरा दिया ॥ ११-१२ ॥

उत्थाय भूमौ कुपितः कृष्णपुत्रोऽथ रोषतः।
तथा प्रद्युम्नमपि च निष्पिपेषार्जुनात्मजः ॥ १३ ॥

फिर जब कुपित हुए प्रद्युम्नने पृथ्वीपरसे उठकर रोषपूर्वक बभ्रुवाहनपर प्रहार किया, तब अर्जुनकुमारने भी प्रद्युम्नको पीस डाला ॥ १३ ॥

प्रहारैः कश्मलं तैस्तु रुक्मिणीनन्दनो ययौ।
उत्थितः पुनरेवासौ गदां जग्राह दारुणाम् ॥ १४ ॥
मुमोचास्मै कृष्णपुत्रश्चिच्छेदैनां त्रिभिः शरैः।
बभ्रुवाहश्च तरसा पञ्चभिस्तमपीडयत् ॥ १५ ॥

उन प्रहारोंसे रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न मूर्च्छित हो गये। पुनः उन कृष्णकुमारने तुरंत ही उठकर अपनी भयंकर गदा हाथमें ली और उसे बभ्रुवाहनपर चला दिया। तब बभ्रुवाहनने वेगपूर्वक तीन बाणोंसे उस गदाको काटकर पुनः पाँच बाणोंसे प्रद्युम्नको भी पीड़ित कर दिया ॥ १४-१५ ॥

रुक्मिणीतनयेनापि बहुधा ताडितः शरैः।
उभौ शस्त्रास्त्रकुशलौ शूरौ परमधन्विनौ ॥ १६ ॥
उभौ गगनगौ राजन्नुभौ भूतलचारिणौ।
तौ चक्रतुस्तदा बाणपूर्णं गगनमण्डलम् ॥ १७ ॥
भूतलं चापि राजेन्द्र युद्धे वै लोमहर्षणे।
परस्परस्य संघातान्मयूखान् भासुरानपि।
चक्रतुस्तौ तदा बाणैर्यथा मोहो हरेः स्थितः ॥ १८ ॥

प्रद्युम्नने भी बभ्रुवाहनको बारंबार बाणोंसे चोट पहुँचायी। राजन्! वे दोनों शस्त्रास्त्र-संचालनमें कुशल, शूरवीर और उत्कृष्ट धनुर्धर थे। दोनों ही एक साथ उछलकर आकाशमें चले जाते और फिर भूतलपर आकर युद्ध करने लगते थे। उस समय उन्होंने अपने बाणोंसे आकाशमण्डल और भूतलको परिपूर्ण कर दिया। राजेन्द्र! उस रोमाञ्चकारी युद्धमें उन दोनोंके बाणोंके टकरानेसे ऐसी उद्दीप्त किरणें फूट निकलती थीं, जिन्हें देखकर सूर्यको भी मोह हो जाता था ॥१६—१८॥

भिन्नाः सायकवर्षेण भूभृतः कटकैः सह।
पर्वता इव राजन्ते धातुरागप्रवाहिनः ॥ १९ ॥
छिन्नशीर्षा मानहीना गतश्रीका गतासवः।

उस बाणवर्षासे सेनासहित घायल हुए नरेशगण गेरूकी धारा बहानेवाले पर्वतकी भाँति शोभित हो रहे थे। उनके मस्तक कट गये थे, मान धूलमें मिल गया था, वदनकी शोभा मलिन हो गयी थी और प्राणपखेरू उड़ गये थे ॥ १९½ ॥

शिरांसि पतितान्येव गृहीत्वा महदायुधम् ॥ २० ॥
कबन्धाः शतसाहस्रास्तस्मिन् युद्धे समुत्थिताः।
तरुणीकरजैर्भिन्ना वीरास्ते रतिसंगरे ॥ २१ ॥
यथा व्यथां न जानन्ति तथा युद्धे शरव्यथाम्।

उस युद्धमें सैकड़ों-हजारों कबन्ध कटकर गिरे हुए सिरोंको ही उत्तम आयुधके रूपमें ग्रहण करके उठ खड़े हुए। उन वीरोंको युद्धमें बाण-व्यथाका उसी तरह अनुभव नहीं होता था, जैसे पहले रति-संग्राममें तरुणीके नखोंसे विदीर्ण होनेपर उन्हें वेदनाका भान नहीं होता था ॥ २०-२१½ ॥

केचित् खड्गकरा वीराः पतिता धरणीतले ॥ २२ ॥
करपत्रधराः केचिद् गदाहस्तास्तथा परे।
त्रिशूलधारिणश्चान्ये समरे शक्तिसंयुताः ॥ २३ ॥
भुशुण्डीपाशपरिघकुद्दालवरधारिणः ।
भिन्दिपालायुधाश्चैव मुसलैश्चापि योधिनः ॥ २४ ॥
सपट्टिशा यष्टिधरास्तथैवाङ्कुशयोधिनः।
कुन्तायुधधराः केचित् कुठारपरशूधराः ॥ २५ ॥
सशस्त्रा ये च सम्प्राप्ता हताः पार्थसुतेन ते।

वहाँ कितने ही वीर खड्ग हाथमें लिये हुए ही धराशायी हो गये। कुछ लोग आरा धारण किये हुए थे। दूसरे लोग हाथमें गदा लिये हुए थे। कुछ लोग त्रिशूलधारी थे। कोई शक्ति लिये हुए थे तो किन्हींके हाथोंमें भुशुण्डी, पाश, परिघ और तेज धारवाली अच्छी कुदालें थीं। किन्हींके आयुध भिन्दिपाल थे तो कोई मूसलोंसे ही युद्ध करनेवाले थे। कोई पट्टिश और यष्टि धारण करनेवाले थे तो कोई अंकुशसे ही प्रहार करनेवाले थे। कुछ लोगोंने भाला, कुठार और फरसे ले रखे थे। ऐसे बहुत-से वीर मरकर पृथ्वीपर पड़े थे। इस प्रकार जो ही शस्त्र धारण करके सामने आये, अर्जुनकुमारने उन्हें मार गिराया ॥ २२—२५½ ॥

वरान् गजान्छरैर्घोरैः सारोहान् साङ्कुशान् रणे ॥२६॥
सघण्टान् विदलीकृत्य ननादार्जुननन्दनः।

फिर अर्जुननन्दन बभ्रुवाहन रणक्षेत्रमें अपने भयंकर बाणोंसे घंटा, अंकुश और सवारोंसहित श्रेष्ठ गजराजोंको विदीर्ण करके सिंहनाद करने लगा ॥ २६½ ॥

तस्य बाणो रथं भित्त्वा हयं भित्त्वा तथा गजम् ॥ २७ ॥
पदातिनं सकवचं याति दूरे न तिष्ठति।
यत्र यत्र तृणं भूरि तत्र वह्निः प्रसर्पति ॥ २८ ॥
वने प्रज्वलिते यद्वत्तद्वद् बाणः स गच्छति।
एवमेकेन तत् सैन्यं व्याप्तं पार्थस्य धीमता ॥ २९ ॥

उसका बाण रथ, घोड़ा, हाथी और कवचसहित पैदल सैनिकोंका भेदन करके बीचमें बिना रुके ही दूरतकका लक्ष्य-वेध करता था। जैसे प्रज्वलित वनमें जहाँ-जहाँ घास-फूस अधिक होती है, वहाँ अग्निका प्रसार विशेषरूपसे होता है, उसी प्रकार वह बाण जहाँ अधिक सेना होती थी, वहाँ अपना विशेष प्रभाव दिखाता था। इस तरह बुद्धिमान् बभ्रुवाहन अकेले ही अर्जुनकी सारी सेनामें व्याप्त हो गया ॥ २७—२९ ॥

अनुशाल्वः पुनर्वीरं नदन् योद्धुमुपाययौ।
प्रद्युम्नो नीलकेतुश्च यौवनाश्वः सपुत्रकः ॥ ३० ॥
हंसध्वजः पुत्रयुतो मेघवर्णो बलाधिकः।
एते सर्वे तमेकं हि नाभवन् योधितुं क्षमाः ॥ ३१ ॥

तब अनुशाल्व गरजता हुआ उस वीरसे लोहा लेनेके लिये पुनः उसके समीप आया। उस समय अनुशाल्वके साथ प्रद्युम्न, नीलध्वज, पुत्रके साथ यौवनाश्व, पुत्रसहित हंसध्वज और बलवान् मेघवर्ण आदि वीर भी थे, परंतु ये सभी वीर मिलकर भी अकेले बभ्रुवाहनका सामना करनेमें समर्थ न हो सके ॥ ३०-३१ ॥

पञ्चभिः पञ्चभिर्बाणैस्तान् सर्वान् गतचेतनान्।
विरथान् गजहीनांश्च गताश्वाञ्छत्रवर्जितान् ॥ ३२ ॥

महाबलान् कीर्णकेशान् भूषणैः परिमोचितान् ।
चकार समरे कार्ष्णिः शुष्कास्यान् गतचामरान् ॥३३॥

बभ्रुवाहनने समरभूमिमें उन सभी वीरोंको पाँच-पाँच बाण मारकर मूर्च्छित कर दिया। उनके रथ तोड़ दिये, हाथियोंको मार डाला, घोड़ोंको नष्ट कर दिया और छत्र-चँवर भी काट दिये। उस समय उन महाबली वीरोंके केश बिखर गये, आभूषण टूटकर गिर गये और मुख सूख गये थे ॥३२-३३॥

रुधिरं स्वं पिबन्तश्च सोमपानमिवाध्वरे ।
भ्रमन्तश्च श्वसन्तश्च धावन्तश्च रणाङ्गणे ॥ ३४ ॥
पलायन्तश्च भिन्नास्ते शरैः कनकचित्रितैः ।
कश्चित् प्रविष्टो नागस्य गतान्त्रस्य कलेवरम् ॥ ३५ ॥
सुखं स मन्यते यावत् तावत् प्राप्तौ महावृकौ ।
गजदेहात् समाकृष्य चक्रतुर्नेत्रवर्जितम् ॥ ३६ ॥
विभिद्य हृदयं तस्य वृकौ मांसं जजक्षतुः ।

कुछ योद्धा यज्ञमें सोमपानकी तरह अपने ही खूनको पीने लगे। कुछ लंबी साँस खींचने लगे। कुछ रणाङ्गणमें दौड़ लगाने और भागने लगे। उन्हीं अवस्थाओंमें स्वर्णजटित बाणोंद्वारा वे भी घायल कर दिये गये। कोई आँत निकल जानेके कारण हाथीके खोखले शरीरमें जा घुसा और ज्यों ही वहाँ सुखकी साँस लेने लगा, त्यों ही दो विशालकाय भेड़िये आ पहुँचे। उन्होंने उसे हाथीके शरीरमेंसे खींचकर नेत्रहीन कर दिया और उसके हृदयको फाड़कर वे उसका मांस खाने लगे ॥ ३४–३६½ ॥

तथा परः शत्रुहतः शिवाभिः परिनीयते ॥ ३७ ॥
सरागं हृदयं तस्य घनकुङ्कुमचर्चितम् ।
शिवानखैः परिच्छिन्नं ददर्श भुवि चाप्सराः ॥ ३८ ॥
तमारोप्य विमाने स्वे पतिं चक्रे सुराङ्गना ।
प्रत्युवाच हसन्ती च शिवा नाथ कलेवरम् ॥ ३९ ॥
पश्य भूमौ दारयन्ति तावकं रणमण्डले ।
मयाधुना पीड्यते ते स्तनाभ्यां करुणा न मे ॥ ४० ॥

इसी तरह शत्रुद्वारा मारा गया दूसरा योद्धा सियारिनोंद्वारा घसीटकर ले जाया जाने लगा। उस समय भूतलपर उन गीदड़ियोंद्वारा विदीर्ण किये हुए घनीभूत कुङ्कुमसे चर्चित उसके रागयुक्त हृदयको एक अप्सराने देखा। तब उस देवाङ्गनाने उस वीरको अपने विमानपर बैठाकर उसे अपना पति बना लिया और फिर हँसती हुई कहने लगी—'नाथ! देखिये, भूतलपर युद्धके मैदानमें ये गीदड़ियाँ आपके शरीरको विदीर्ण कर रही हैं और यहाँ इस समय मैं आपको अपने दोनों स्तनोंसे दबाकर पीड़ा दे रही हूँ। ऐसा करते समय मुझे आपपर दया नहीं आती है ॥ ३७—४० ॥

तथैवान्यो विशालाक्ष्या रात्रौ दष्टाधरो दिवा ।
स्वेनैव च रणे कोपात् पुनर्नाके सुरस्त्रिया ॥ ४१ ॥
व्यथां त्रिवारं सम्प्राप्य हृष्टस्तत् कौतुकं महत् ।

यही दशा एक दूसरे योद्धाकी थी। उसकी विशाललोचना पत्नीने रातमें उसके अधरोंका (चुम्बन एवं) दंशन किया था। फिर दिनमें वह युद्धस्थलमें आया और रोषवश स्वयं ही अपना ओठ चबाने लगा। तत्पश्चात् रणभूमिमें मरकर जब वह स्वर्गलोकमें पहुँचा, तब वहाँ देवाङ्गनाने उसके अधरोंका दंशन किया। इस तरह तीन बार व्यथाको प्राप्त होकर भी वह परम प्रसन्न था। यह बड़े आश्चर्यकी बात थी ॥ ४१½ ॥

गजदेहे प्रलम्बन्तं बाणभिन्नकलेवरम् ॥ ४२ ॥
एकं रणे द्वितीयं तु पश्यत्यन्योऽपि संस्थितः ।
दोलयाऽऽन्दोलितं नाके दिव्यस्त्रीभिरलंकृतम् ॥ ४३ ॥

वहाँ पड़े हुए एक दूसरे वीरने भी देखा कि रणभूमिमें मेरा एक शरीर बाणोंसे विदीर्ण होकर हाथीकी देहपर लटकता हुआ झूल रहा है तो दूसरा शरीर स्वर्गलोकमें दिव्यालंकारोंसे विभूषित होकर दिव्याङ्गनाओंद्वारा हिंडोलेमें डालकर झुलाया जा रहा है ॥ ४२ ४३ ॥

सुपेशलस्वर्गरामाबाहुपाशेन यन्त्रितः ।
कश्चिद् रणगतान् पाशान् दारुणान् स्मरति स्म हि ॥४४॥

कोई दूसरा योद्धा स्वर्गकी सुकुमारी देवाङ्गनाके भुजपाशमें बँधा हुआ युद्धके भयंकर पाशोंका स्मरण कर रहा था ॥४४॥

इतरस्तत्र संग्रामे पतिते स्वे कलेवरे ।
ददर्श वृष्टिं महतीं पतन्तीं गजपुष्करात् ॥ ४५ ॥
विमानेऽपि प्रियावक्त्रमदगण्डूषजां घनाम् ।
एवं तेन तदा युद्धं कृतमर्जुनसूनुना ॥ ४६ ॥

दूसरा वीर वहाँ संग्रामभूमिमें पड़े हुए अपने एक शरीरपर हाथीकी सूँडसे गिरती हुई महान् जलवृष्टिको देख रहा था तो स्वर्गीय विमानमें दूसरे शरीरपर प्रियाके मुखसे निर्गत मदगण्डूषोंसे उत्पन्न हुई घनी वर्षाका अवलोकन कर रहा था।

उस समय उस अर्जुनकुमारने ऐसा ही भयंकर युद्ध किया था ॥ ४५-४६ ॥

सैन्यं प्रहृतमप्रीतं भग्नं च परिपालितम् ।
चतुर्विधं सैन्यमसौ जग्राह स्वमिवाहवे ॥ ४७ ॥

उसने अर्जुनद्वारा सुरक्षित उस चतुरंगिणी सेनाको युद्ध-भूमिमें नष्ट-भ्रष्ट करके कष्टमें डाल दिया और फिर अपनी सेनाकी तरह उसपर अधिकार कर लिया ॥ ४७ ॥

बाणैर्विमोहितान् वीरान् स्वपुरे हर्षितोऽनयत् ।
नीयन्ते गजशालासु गजाः पार्थस्य वाजिनः ॥ ४८ ॥
मन्दुरासु च पार्थस्य पुत्रेण च बलीयसा ।
रथास्तु वस्तुजातं तत् पुरमध्ये गतं नृप ।
प्रद्युम्नप्रमुखा वीरा मोहिताः शरवृष्टिभिः ॥ ४९ ॥

वह बाणोंसे विमोहित हुए वीरोंको हर्षपूर्वक अपने नगरमें ले गया । राजन् ! उस बलवान् अर्जुनकुमारने अर्जुनके गज-राजोंको अपनी गजशालामें और घोड़ोंको घुड़सालमें भेजवा दिया तथा रथ और दूसरी बहुत-सी सामग्रियाँ (उसकी आज्ञा-से) नगरमें पहुँचा दी गयीं; क्योंकि उस समय प्रद्युम्न आदि प्रमुख वीर बाणवृष्टिसे मूर्च्छित पड़े थे ॥ ४८-४९ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि बभ्रुवाहनयुद्धवर्णनं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें बभ्रुवाहनके युद्धका वर्णननामक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

कुशलवोपाख्यान—लंकाविजयके पश्चात् भगवान् रामका अयोध्यामें प्रवेश, उनका स्वागत और सबसे मिलन तथा रामराज्यका वर्णन

जैमिनिरुवाच

संग्रामस्त्वभवद् राजन् बभ्रुवाहनपार्थयोः ।
यथा कुशस्य रामस्य वाजिमेधहये धृते ॥ १ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—राजा जनमेजय ! जैसे पहले अश्वमेधके घोड़ेके पकड़ लिये जानेपर भगवान् रामचन्द्र और उनके पुत्र कुशमें संग्राम हुआ था, उसी तरह इस समय बभ्रुवाहन और अर्जुनका युद्ध हुआ ॥ १ ॥

जनमेजय उवाच

कथं रामः कुशं पुत्रं शमयच्छरवृष्टिभिः ।
कथं च तेन पुत्रेण जितो रामो रणाजिरे ॥ २ ॥

जनमेजयने पूछा—मुने ! भगवान् रामने किस प्रकार बाणवर्षा करके अपने पुत्र कुशको शान्त किया था और फिर रणाङ्गणमें वे किस तरह अपने उस पुत्रसे पराजित हुए थे ? ॥ २ ॥

रामो न वेत्ति स्वं सूनुमेतन्मे विस्तराद् वद ।
यस्माद् रामकथा विप्र सर्वपातकनाशिनी ॥ ३ ॥

ब्रह्मन् ! क्या श्रीरामचन्द्रजी अपने उस पुत्रको नहीं जानते थे ? आप इसे विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये; क्योंकि भगवान् रामकी कथा समस्त पापोंका विनाश करनेवाली है ॥ ३ ॥

जैमिनिरुवाच

शृणु राजन् महाबाहो रामस्य चरितं महत् ।
विस्तरेण यथा पूर्वं वदतो मे निशामय ॥ ४ ॥

जैमिनिजीने कहा—राजन् ! महाबाहु भगवान् श्री-रामके महत्त्वपूर्ण चरित्रको सुनो । पूर्वकालमें यह घटना जिस प्रकार घटित हुई थी, उसे उसी रूपमें मैं विस्तारपूर्वक वर्णन करता हूँ, उसे मेरे मुखसे श्रवण करो ॥ ४ ॥

रामस्तं रावणं हत्वा कुम्भकर्णं महाबलम् ।
तथान्यान् राक्षसान् घोरान् मेघनादमुखान् रणे ॥५॥
सीतामग्निमुखाच्छुद्धामादाय स्वपुरं ययौ ।
बिभीषणेन वीरेण लक्ष्मणेन महात्मना ॥ ६ ॥
तथा हनूमत्प्रमुखैर्वानरैः परिवारितः ।

श्रीरामचन्द्रजी युद्धमें रावण, महाबली कुम्भकर्ण तथा मेघनाद आदि अन्य भयंकर राक्षसोंका वध करके और अग्नि-द्वारा शुद्ध की हुई सीताजीको साथ लेकर अपने नगरको चले । उस समय उनके साथ वीरवर बिभीषण, महात्मा लक्ष्मण तथा हनुमान् आदि प्रमुख वानर भी थे ॥ ५-६½ ॥

अयोध्यां प्रविवेशाथ वसिष्ठप्रमुखा द्विजाः ॥ ७ ॥
पठन्तो मङ्गलं सूक्तं रामसम्मुखमाययुः ।

जब वे अयोध्यामें प्रवेश करने लगे, उस समय महर्षि वसिष्ठ आदि प्रमुख द्विजगण मङ्गलसूक्तका पाठ करते हुए स्वागतके लिये भगवान् श्रीरामके सम्मुख आये ॥ ७½ ॥

वसिष्ठप्रमुखान् दृष्ट्वा ततो दाशरथी रथात् ॥ ८ ॥
अवातरत् क्षणाद् रामो नमश्चक्रे च तान् मुनीन् ।
पश्चाच्च लक्ष्मणः सीता नमस्कारं प्रचक्रतुः ॥ ९ ॥

तब उन वसिष्ठ आदि प्रधान ब्राह्मणोंको देखते ही दशरथ-नन्दन श्रीराम तुरंत अपने रथ (पुष्पकविमान) से उतर पड़े । फिर उन्होंने उन मुनियोंके चरणोंमें प्रणाम किया । तत्पश्चात् लक्ष्मण और सीताने भी उन ब्राह्मणोंको मस्तक झुकाया ॥ ८-९ ॥

ततः स तैर्नियुक्तोऽसौ रामो राजीवलोचनः ।
कैकेयीं च सुमित्रां च भरतं लक्ष्मणं तथा ॥ १० ॥
शत्रुघ्नं च पुरस्कृत्य ववन्दे रघुवंशजः ।
कौसल्यां जननीं पश्चान्नमस्कर्तुमगाच्च सः ॥ ११ ॥

तदनन्तर उन ब्राह्मणोंकी आज्ञासे कमलनयन रघुवंशी भगवान् रामने भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्नको आगे करके माता कैकेयी और सुमित्राके चरणोंमें अभिवादन किया । इसके बाद वे अपनी माता कौसल्याको प्रणाम करनेके लिये गये १०-११

मलिनां पङ्कदिग्धाङ्गीं रामदर्शनलालसाम् ।
भर्तृदुःखपरिक्लिनां हर्षितां रामदर्शनात् ॥ १२ ॥

उस समय कौसल्याजी पतिके मरणजन्य दुःखसे अत्यन्त संतप्त थीं । उनके शरीरपर मैल जम गयी थी, जिससे उनका स्वरूप मलिन हो गया था । उनके हृदयमें रामदर्शनकी लालसा भरी हुई थी और वे श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनसे हर्षित हो रही थीं ॥ १२ ॥

दृष्ट्वा पद्मपलाशाक्षं रामं हर्षसमन्विता ।
परिरभ्य चिरं तस्थौ धनं प्राप्याधनो यथा ॥ १३ ॥

वे कमल-पत्रके-से नेत्रवाले रामको देखकर हर्षसे परिपूर्ण हो गयीं और उन्हें छातीसे लगाकर बहुत देरतक खड़ी रह गयीं, मानो किसी निर्धन पुरुषको धनकी प्राप्ति हो गयी हो ॥ १३ ॥

स्नापयन्ती दृगम्भोभिः स्नेहेन बहुना सुतम् ।
विशेषेण जटावन्तं चिरं स्नानमवर्तयत् ॥ १४ ॥

वे अपने पुत्रको अत्यन्त प्रेमपूर्वक आँसुओंसे नहलाने लगीं । विशेषकर श्रीरामचन्द्रजीको जटाधारी देखकर वे चिर-कालतक उन्हें स्नान कराती रहीं (उनके ऊपर अश्रुवर्षा करती रहीं) ॥ १४ ॥

ततो रामं कराग्रेण पस्पर्श जननी तथा ।
राक्षसास्त्रक्षतं दृष्ट्वा प्रोवाच वचनं शुभम् ॥ १५ ॥

तदनन्तर जब माता कौसल्या श्रीरामचन्द्रजीके शरीरपर हाथ फेरने लगीं, उस समय उसे राक्षसोंके अस्त्रोंसे क्षत-विक्षत देखकर यह शुभ वचन बोलीं—॥ १५ ॥

वसिष्ठप्रमुखा रामं वदन्ति किमिदं वचः ।
अच्छेद्योऽयमभेद्योऽयमक्लेद्योऽयं सुतस्तव ॥ १६ ॥
तदिदानीं वृथा मन्ये बाणैर्भिन्नोऽसि राघव ।
अथवा शिवभक्तं त्वामाहुः केचिन्मुनीश्वराः ॥ १७ ॥
तस्माद् दत्तं त्वया स्थानं बाणानामिति मे मतिः ।

'तब वसिष्ठ आदि महर्षि क्यों कहते हैं कि इन तुम्हारे पुत्र श्रीरामको शस्त्र काट नहीं सकते, विदीर्ण नहीं कर सकते और जल उन्हें गीला नहीं कर सकता । रघुनन्दन ! तुम तो बाणोंसे घायल हो चुके हो । यह देखकर मुझे इस समय उन मुनियोंका कथन व्यर्थ प्रतीत हो रहा है । अथवा कोई-कोई मुनीश्वर तुम्हें शिवभक्त भी बतलाते हैं, इस कारण तुमने (शिवभक्त रावणके) उन बाणोंको अपने शरीरमें स्थान दे रखा है । ऐसी मेरी मान्यता है' ॥ १६-१७½ ॥

स्पृष्ट्वा तदङ्गं कौसल्या स्वपाणिभ्यां दयावती ॥ १८ ॥
आनन्दं परमं प्राप्ता ज्ञानं लब्ध्वेव ब्राह्मणः ।
तत्करस्पर्शतो रामो मुक्तो दुःखैः सुदारुणैः ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् जैसे ज्ञानको पाकर ब्राह्मण प्रसन्न होता है, उसी तरह दयालु स्वभाववाली कौसल्या अपने दोनों हाथोंसे श्रीरामजीके शरीरका स्पर्श करके परमानन्दमें निमग्न हो गयीं और श्रीराम भी माताके हाथोंका स्पर्श होनेसे अपने अत्यन्त घोर कष्टोंको भूल गये ॥ १८-१९ ॥

ततो रामो महाबाहुर्जननीं शिरसा च ताम् ।
नमस्कृत्य ततो बन्धून् पप्रच्छ कुशलं च तान् ॥२०॥

उस समय महाबाहु श्रीरामने माता कौसल्याको सिर झुका-कर प्रणाम किया और फिर वे उन बन्धुओंसे उनकी कुशल पूछने लगे ॥ २० ॥

हर्षितो भ्रातृभिः सर्वैरयोध्यायामुवास सः।
पालयन् पृथिवीं सर्वां सशैलवनकाननाम् ॥ २१ ॥

तत्पश्चात् श्रीराम पर्वत, वन और काननोंसहित इस सारी पृथ्वीपर शासन करते हुए सभी भाइयोंके साथ हर्षपूर्वक अयोध्यामें निवास करने लगे ॥ २१ ॥

प्रजाः स्वस्था ह्यवर्तन्त विप्रा वेदपरायणाः।
आतृप्तेश्च पयः पीत्वा वत्सा यत्रोपरेमिरे ॥ २२ ॥

उस रामराज्यमें प्रजाएँ स्वस्थ थीं, ब्राह्मण वेदाध्ययनमें तत्पर रहते थे और बछड़े तृप्तिपर्यन्त दूध पीकर ही स्तनोंसे अलग होते थे ॥ २२ ॥

गोपाला दुदुहुस्तत्र घटोध्नीर्गाः शुभास्तदा।
फलन्ति सततं वृक्षा लताः पुष्प्यन्ति सर्वदा ॥ २३ ॥

उस समय ग्वाले घड़ेके-से थनवाली सुन्दर गौओंको दुहते थे, वृक्षोंमें सदा फल लगते थे और लताएँ सर्वदा फूलती रहती थीं ॥ २३ ॥

औषध्यः फलवत्यस्ता दुष्कालादेर्विनाशकाः।
सरयूतीरमासाद्य यज्ञान् कुर्वन्ति याजकाः ॥ २४ ॥

ओषधियाँ फलवती होती थीं, वे दुष्काल आदि उपद्रवोंका विनाश करनेवाली थीं। याजकलोग सरयू-तटपर आकर यज्ञ किया करते थे ॥ २४ ॥

यूपस्तम्भाः समन्ताच्च पशुभिरुपशोभिताः।
दृश्यन्ते स्थाणुतां प्राप्ता अध्वरान्ते समुच्छ्रिताः ॥२५॥

उन यज्ञोंमें चारों ओर यूपस्तम्भ पशुओंसे सुशोभित रहते थे और यज्ञके समाप्त होनेपर वे ऊँचे-ऊँचे ठूँठके रूपमें दीख पड़ते थे ॥ २५ ॥

जैमिनिरुवाच

एवं स रामः सुखितः पृथिव्यां
त्रिभिश्च तैर्भ्रातृभिरग्निकल्पैः।
रराज राजीवपलाशनेत्रो
गुणैस्त्रिभिः सत्त्वरजस्तमोभिः ॥ २६ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार कमलदल-सदृश नेत्रवाले श्रीराम सत्त्व, रज, तम—तीनों गुणोंके समान तथा अग्नितुल्य पराक्रमी अपने तीनों भाइयोंके साथ सुखपूर्वक पृथ्वीपर सुशोभित हुए थे ॥ २६ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि कुशलवोपाख्याने अयोध्याप्रवेशो नाम पञ्चविंशतितमोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें कुशलवोपाख्यानके अन्तर्गत श्रीराम आदिका अयोध्यामें प्रवेश नामक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५ ॥

षड्विंशोऽध्यायः

कुशलवोपाख्यान-श्रीरामका स्वप्न, सीताका पुंसवन-संस्कार, गुप्तचरका अर्धरात्रिके समय श्रीरामके पास आकर सीताके विषयमें रजककी बात सुनाना, श्रीरामका चिन्तित होना और सीता-परित्यागके लिये भाइयोंको बुलवाना

जैमिनिरुवाच

दशवर्षसहस्राणि राज्यं चक्रे स राघवः।
प्रजां न लेभे सीतायां पालयन् पूर्वजस्थितिम् ॥ १ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! रघुनाथजीको पूर्वजोंकी मर्यादाका पालन करते हुए राज्य करते दस हजार वर्ष बीत गये, परंतु तबतक उन्हें सीताजीके गर्भसे किसी संतानकी प्राप्ति नहीं हुई ॥ १ ॥

ततः कालेन महता गर्भमाधत्त मारिष।
नक्षत्रे वैष्णवे तुर्ये पादे तद्देवताभिधे ॥ २ ॥
चरे लग्ने प्रवृत्ते च मातुर्देशान्तरप्रदे।
ततः स चतुरो मासान् रेमे पत्न्या सहेश्वरः ॥ ३ ॥

आर्य ! तदनन्तर बहुत काल व्यतीत होनेके पश्चात् जब वैष्णव नक्षत्र श्रवणका विष्णुदेवताका चौथा चरण बीत रहा था और माताको देशान्तर भेज देनेवाले चरलग्नकी प्रवृत्ति हुई थी, ऐसे समयमें सीताजीने गर्भ धारण किया। तत्पश्चात् ऐश्वर्यशाली श्रीराम चार मास तक अपनी पत्नीके साथ आनन्द-पूर्वक रहे ॥ २-३ ॥

प्राप्ते तु पञ्चमे मासे रामः स्वप्ने ददर्श सः।
सीतां भागीरथीतीरे विलपन्तीमनाथवत् ॥

लक्ष्मणेन परित्यक्तामित्यहो विस्मयान्वितः।
प्रातः कृताह्निको रामो वसिष्ठमिदमब्रवीत् ॥ ५ ॥

जब पाँचवाँ महीना आया, तब एक दिन श्रीरामने स्वप्नमें देखा कि लक्ष्मणने सीताको गङ्गातटपर छोड़ दिया है और वह अनाथकी भाँति विलाप कर रही है। ऐसा स्वप्न देखकर श्रीराम बड़े विस्मयमें पड़ गये और प्रातःकाल उठकर नित्य-कर्मसे निवृत्त होनेके बाद वसिष्ठजीसे बोले ॥ ४-५ ॥

राम उवाच

स्वप्ने पश्यामि रुदतीं सीतां भागीरथीतटे।
तद्गर्भविघ्नशान्त्यर्थं तस्याः पुंसवनक्रिया ॥ ६ ॥
शीघ्रमादिश्यतां ब्रह्मन् पुन्नक्षत्रे दिने शुभे।
तस्य तद् वचनं श्रुत्वा वसिष्ठो मुनिपुङ्गवः ॥ ७ ॥

श्रीरामने कहा—ब्रह्मन्! मैंने स्वप्नमें सीताको गङ्गा-तटपर विलाप करते देखा है, अतः उसके गर्भके विघ्नकी शान्तिके निमित्त किसी शुभ दिन और पुरुषसंज्ञक नक्षत्रके योगमें पुंसवन कर्म करनेके लिये शीघ्र ही आज्ञा दीजिये। श्रीरामके ऐसे वचनको सुनकर मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठ बोले ॥६-७॥

वसिष्ठ उवाच

कर्तव्या शुक्लपक्षे तु कृष्णपक्षो व्यपोहतु।
पुष्यार्कयोगे पञ्चम्यां कार्यं पुंसवनं विभो ॥ ८ ॥
मुहूर्त्तस्य दिनं यावदागमिष्यति राघव।
तावद् राम महाबाहो क्रियतां विप्रतर्पणम् ॥ ९ ॥

वसिष्ठजीने कहा—विभो! पुंसवन-संस्कार शुक्लपक्षमें करना चाहिये, अतः राघव! यह कृष्णपक्ष बीत जाय, फिर जब पञ्चमी तिथिमें पुष्यनक्षत्र और रविवारका योग होगा, तब पुंसवन करना उचित होगा। महाबाहु राम! जब-तक इस मुहूर्तका दिन आता है, तबतक आप ब्राह्मणोंको दान-मान आदिसे संतुष्ट कीजिये ॥ ८-९ ॥

मुनेस्तद् वचनं श्रुत्वा रामो लक्ष्मणमब्रवीत्।
सीतापुंसवनं भ्रातः पञ्चम्यां च भविष्यति ॥ १० ॥
तावत् त्वं गच्छ भद्रं ते जनकं च समानय।
विश्वामित्रं मुनिश्रेष्ठं मुनिभिः परिवारितम् ॥ ११ ॥

महर्षि वसिष्ठके उस वचनको सुनकर श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा—'भाई! सीताका पुंसवन-संस्कार पञ्चमी तिथिमें होगा। तबतक तुम महाराज जनक और मुनियोंसहित मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रजीको यहाँ बुला लाओ। जाओ, तुम्हारा मङ्गल हो' ॥ १०-११ ॥

लक्ष्मणोऽपि नमस्कृत्य रामस्योत्तरतो ययौ।
ततो रामो महाबाहुः शिल्पिभिर्मण्डपं शुभम् ॥१२॥
अकारयत् त्रिगव्यूतिमितमायामतः समम्।
तस्मिन् वसिष्ठो रुचिरस्थण्डिलं समकल्पयत् ॥ १३ ॥
उदुम्बरफलानां च स्रजं तत्र चकार सः।
शललं त्रिषु शुभ्रं च तथा वै सूत्रवेष्टनम् ॥ १४ ॥
पीठमौदुम्बरं तत्र चतुरस्रं च वल्लकीम्।
समकल्पयदेतानि क्रियाङ्गानि मुनीश्वरः ॥ १५ ॥

श्रीरामकी यह आज्ञा प्राप्त होनेके पश्चात् लक्ष्मणजी उनके चरणोंमें प्रणाम करके प्रस्थित हुए। तदनन्तर महाबाहु श्रीरामने कारीगरोंद्वारा छः कोस लंबा-चौड़ा एक सुन्दर मण्डप तैयार कराया। उस मण्डपमें महर्षि वसिष्ठने एक सुन्दर वेदी बनवायी। वहाँ उन्होंने गूलरके फलोंकी माला तैयार करायी। जिसमें तीन जगह श्वेत रंग थे, ऐसा साहीका काँटा मँगाया और सूत्रवेष्टन (रक्षासूत्र) का भी संग्रह किया। इसके सिवा गूलर-काष्ठकी बनी हुई एक चौकोर चौकी और एक वल्लकी (वीणा) भी यथास्थान स्थापित की गयी। इस प्रकार मुनीश्वर वसिष्ठजीने पुंसवन-क्रियाके इन सभी उप-करणोंको एकत्रित कराया ॥ १२–१५ ॥

तावत् स लक्ष्मणस्तूर्णं विश्वामित्रं महामुनिम्।
जनकं च समाहूय रामं नत्वेदमब्रवीत् ॥ १६ ॥

तबतक लक्ष्मण शीघ्र ही मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रजी तथा महाराज जनकको बुलाकर ले आये और श्रीरामके चरणोंमें अभिवादन करके इस प्रकार बोले ॥ १६ ॥

लक्ष्मण उवाच

आगतो जनको राम विश्वामित्रो महातपाः।
अर्घ्यादिक्रियया भ्रातः पूजयैतौ समागतौ ॥ १७ ॥

लक्ष्मणने कहा—श्रीरामजी! महातपस्वी विश्वामित्रजी तथा महाराज जनक आ गये हैं। भैया! अब इन दोनों समागत अतिथियोंका अर्घ्य आदि उपचारोंद्वारा सत्कार कीजिये ॥ १७ ॥

रामस्तद्वचनं श्रुत्वा विश्वामित्रनरेश्वरौ।
नमस्कारार्घ्यदानेन पूजयामास तौ तदा ॥ १८ ॥

लक्ष्मणकी यह बात सुनकर श्रीरामने मुनि विश्वामित्र तथा राजा जनकको प्रणाम किया और अर्घ्य प्रदान करके उनकी पूजा की ॥ १८ ॥

ततः प्राप्ते मुहूर्ते च वसिष्ठो व्याहरद् वचः ।
राम त्वं सीतया सार्धं कुरु स्नानादिकाः क्रियाः ॥१९॥
मण्डपं च समायाहि मातृभ्रातृसमावृतः ।

तदनन्तर जब पुंसवनका मुहूर्त उपस्थित हुआ, तब वसिष्ठजीने श्रीरामसे इस प्रकार कहा—'राम ! अब आप सीतासहित स्नान आदि क्रियाएँ कीजिये और माताओं तथा भाइयोंके साथ मण्डपमें चलिये' ॥ १९½ ॥

अथ दाशरथी रामः सुस्नातः सीतया सह ॥ २० ॥
आगतो मण्डपं रम्यं ब्राह्मणैः समलंकृतम् ।
वेदविद्भिः सदाचारैः स्मृतिज्ञैः कर्मकोविदैः ॥ २१ ॥

तब दशरथनन्दन राम सीतासहित भलीभाँति स्नान करके शुद्ध हुए और फिर उस रमणीय मण्डपमें पधारे, जो वेदज्ञ, सदाचारी, स्मृतियोंके ज्ञाता और कर्मकाण्डमें कुशल ब्राह्मणोंसे सुशोभित था ॥ २०-२१ ॥

ततो वसिष्ठो रामं तां चतुष्के संन्यवेशयत् ।
चरुपूर्वमथो होमं तिलाज्याहुतिभिः क्रमात् ॥ २२ ॥
चक्रे ब्रह्मात्मजः सर्वं सलिलेनाभिषेचनम् ।
सीताया मूर्धजेष्वेव सूत्रवेष्टं समाक्षिपत् ॥ २३ ॥
विष्णुबीजकृतां मालां यज्ञाङ्गफलसम्भवाम् ।
वसिष्ठेन समाक्षिप्तां बिभ्रती जानकी तदा ॥ २४ ॥
ब्रह्मगोलकसंघातं बिभ्रतीव विराजते ।
वीणां प्रवीणो भरतो वादयञ्जानकीं प्रति ।
स शिक्षापयिषुर्गीतं गर्भस्येव बभौ विभुः ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् वसिष्ठजीने श्रीराम और सीताको उस चौकोर चौकीपर बैठाया और स्वयं उन ब्रह्मकुमारने क्रमशः चरु-सहित तिल और घीकी आहुतियोंसे हवन किया । फिर जलसे सीताजीके केशोंका अभिषेक करके उनपर वह (त्रिश्वेतशल्लकी कण्टक तथा) सूत्रवेष्टन (रक्षासूत्र) डाल दिया, फिर विष्णुबीज (कमलगट्टों) की माला और गूलरके फलोंसे बनी हुई मालाको भी उन्हीं केशोंपर ही रख दिया । वसिष्ठजी-द्वारा डाली गयी उस मालाको धारण करके उस समय जानकीजीकी ऐसी शोभा हो रही थी मानो उन्होंने ब्रह्माण्डोंके समुदायको ही धारण कर लिया हो । इधर वीणा बजानेमें निपुण एवं सामर्थ्यशाली भरतजी सीताजीके समीप वीणा बजाते हुए ऐसे शोभित हो रहे थे, मानो वे गर्भस्थ बालकको गीत-की शिक्षा देना चाहते थे ॥ २२—२५ ॥

एवं कृतस्वस्त्ययनो रघूद्वहो
मुनीश्वरान् पायसशर्कराज्यैः ।
संतर्प्य वस्त्राणि सुवर्णभूषणं
ददौ रथानश्वगणान् द्विजेभ्यः ॥ २६ ॥

इस प्रकार सारी माङ्गलिक क्रियाओंके सम्पन्न हो जाने-पर रघुवंशी श्रीरामने उन मुनीश्वरोंको खीर, शक्कर और घीसे बने हुए अन्य पदार्थोंका भोजन कराकर संतुष्ट किया और फिर उन ब्राह्मणोंको दक्षिणारूपमें बहुत-से वस्त्र, सोनेके बने हुए आभूषण, रथ और घोड़े प्रदान किये ॥ २६ ॥

जैमिनिरुवाच

जनकेनापि रामाय दत्तं राज्यमकण्टकम् ।
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य वनवासं ततो ययौ ॥ २७ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर महाराज जनकने भी श्रीरामको निष्कण्टक राज्य प्रदान किया और स्वयं विश्वामित्रजीको आगे करके वनवासके लिये चल दिये ॥

अयोध्यायां दाशरथिः शयानः किल सीतया ।
एकदा रात्रिसमये हृष्टः सीतां वचोऽब्रवीत् ॥ २८ ॥

अयोध्यापुरीमें एक दिन रातके समय जब दशरथनन्दन राम सीताजीके साथ शयन कर रहे थे, उस समय वे हर्षित होकर सीताजीसे बोले ॥ २८ ॥

राम उवाच

दोहदः कीदृशो भद्रे कस्मिन् वस्तुनि तद् वद ।
सीता तद् वचनं श्रुत्वा भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ २९ ॥

श्रीरामने कहा—भद्रे ! इस समय तुम्हारे मनमें कैसी अभिलाषा है ? तुम्हें किस वस्तुकी इच्छा है ? उसे बताओ । यह बात सुनकर सीताजी अपने पति श्रीरामसे यों कहने लगीं ॥ २९ ॥

सीतोवाच

तव प्रसादान्मे कामः परिपूर्णः सदानघ ।
परं भागीरथीतीरे गन्तुमिच्छामि राघव ॥ ३० ॥
ऋषिपत्न्यश्च यत्रासन्नृषयोऽजिनवाससः ।

सीताजी बोलीं—निष्पाप प्राणनाथ ! यों तो आपकी कृपासे मेरी सारी कामनाएँ सदा परिपूर्ण होती रहती हैं, परंतु राघव ! इस समय जहाँ ऋषि-पत्नियाँ और मृगचर्मको ही वस्त्ररूपमें धारण करनेवाले ऋषिगण निवास करते हैं, उस गङ्गा-तटपर जानेके लिये मेरी बड़ी इच्छा हो रही है ॥३०½॥

जहास रामः किमिदं न तृप्ता वनवासतः ॥ ३१ ॥
सीते त्वं दण्डकारण्ये वर्षाणि नव पञ्च च ।
अद्य वा दोहदस्तेऽयं प्रथमो निष्फलः कथम् ॥ ३२ ॥
प्रातर्भागीरथीतीरे गमनं तेऽस्तु जानकि ।
इति तस्यै प्रतिश्रुत्य सुष्वाप ससुखं प्रभुः ॥ ३३ ॥

यह सुनकर श्रीराम ठठाकरहँस पड़े और बोले—'सीते ! यह क्या बात है ? क्या चौदह वर्षतक दण्डकारण्यमें निवास करनेपर भी वनवाससे तुम्हारी तृप्ति नहीं हुई ? परंतु आज गर्भकालमें जो तुम्हारी यह पहली अभिलाषा है, वह निष्फल कैसे हो सकती है ? अतः जनकनन्दिनि ! प्रातःकाल गङ्गा-तटके लिये तुम्हारी यात्रा होगी ।' सीताजीसे ऐसी प्रतिज्ञा करके सामर्थ्यशाली श्रीराम आनन्दपूर्वक नींद लेने लगे ॥३१—३३॥

निशीथे तु व्यतिक्रान्ते चाराः पुरचरा निशि ।
रामं रहः समागम्य वाक्यमूचुः पृथक् पृथक् ॥ ३४ ॥
तव कीर्तिः प्रतापश्च सर्वतो वर्ण्यते जनैः ।

आधी रात बीतनेपर रातके समय नगरमें पहरा देनेवाले गुप्तचर एकान्तमें श्रीरामके पास आकर अलग-अलग अपनी बातें सुनाने लगे—'राजन् ! सर्वत्र जनता आपकी कीर्ति और प्रताप-का गान कर रही है' ॥ ३४½ ॥

रामः पृच्छत्यतिदृढं लोकानां कीदृशी स्थितिः ॥ ३५ ॥
मम वा मम भार्याया भ्रातॄणां दुष्कृतं किल ।
सुकृतं वा त्वया चार भ्रमता निशि यच्छ्रुतम् ॥ ३६ ॥
तत् सत्यं वद चार त्वं मा भीतिं कुरु दण्डतः।
चारोऽपि रघुनाथं तं प्रत्युवाच हसन्निव ॥ ३७ ॥

तब श्रीरामने गुप्तचरोंसे अत्यन्त जोर देकर पूछा—'गुप्तचर ! आजकल मेरे नगरवासियोंकी स्थिति कैसी है ? रातमें परिभ्रमण करते समय तूने मेरे अथवा मेरी भार्या और भाइयोंके सम्बन्धमें जो कुछ भी दुराचार अथवा सदाचार-की चर्चा सुनी हो, उसे ठीक-ठीक बता । मेरी ओरसे दण्डका भय मत कर ।' तब वह गुप्तचर हँसते हुए-से रघुनाथजीसे कहने लगा ॥ ३५—३७ ॥

चार उवाच

राम त्वद्दर्शनादेव दुष्कृतं भस्मसाद् भवेत् ।
तवापि दुष्कृतं मन्ये विपरीतं रघूद्वह ॥ ३८ ॥

गुप्तचर बोला—रघुकुलभूषण राम ! पाप तो आपके दर्शनसे ही जलकर भस्म हो जाते हैं, फिर आपके लिये भी पापकी चर्चा तो मेरी समझसे विपरीत ही है ॥ ३८ ॥

वयं स्थानानि पापानि भ्रमामो रघुनन्दन ।
त्वां दृष्ट्वा सर्वपापेभ्यो मुच्येम भरताग्रज ॥ ३९ ॥

रघुनन्दन ! मैं बहुत-से पापपूर्ण स्थानोंमें घूमता रहता हूँ; परंतु भरतजीके बड़े भैया ! आपका दर्शन करके मैं उन सम्पूर्ण पापोंसे छुटकारा पा जाता हूँ ॥ ३९ ॥

तथापि लोको दुर्वारः किञ्चिद् दुष्टं वदत्यसौ ।
निशार्धे भ्रमता राजन् दृष्टं चित्रतरं मया ॥ ४० ॥

तथापि सारे संसारको रोक रखना बड़ा कठिन है । इसमें लोग कुछ-न-कुछ दोषारोपण कर ही देते हैं । राजन् ! अर्ध-रात्रिके समय भ्रमण करते हुए मैंने एक बड़ी विचित्र बात देखी है ॥ ४० ॥

कस्यचिद् रजकस्यास्यां पुर्यां भार्या त्यगाद् गृहम्।
पितुर्वेश्म समासाद्य तस्थौ दिनचतुष्टयम् ॥ ४१ ॥

(वह यह है कि) इस नगरीमें किसी धोबीकी भार्या घर-का त्याग करके चली गयी और वह अपने पिताके घर पहुँच-कर वहाँ चार दिनतक ठहर गयी ॥ ४१ ॥

रजक्या जनकश्चिन्तामगमत् किं मया कृतम् ।
स्मृत्यागमविरुद्धं हि कन्या यत् पितृवेश्मनि ॥ ४२ ॥
तस्माद् दुहितरं चैतां नयिष्ये भर्तृसंनिधिम् ।
यथाम्बरस्थं कलुषं शोधयेऽहं स्वकैः करैः ॥ ४३ ॥
तथा स्थितायां कन्यायां गृहे यत् तन्न शोध्यते ।

तब उस धोबिनके पिताने मनमें विचार किया कि मैंने यह क्या कर डाला (जो कन्याको घरमें रख लिया) ? क्योंकि कन्याका पिताके घर (अधिक दिनतक) रहना स्मृति और शास्त्रके विरुद्ध है; इसलिये इस कन्याको मैं इसके पतिके पास पहुँचा दूँगा; क्योंकि जिस तरह कपड़ेमें लगी हुई मैलको मैं अपने हाथोंसे धोकर स्वच्छ कर देता हूँ, उस प्रकार इस कन्याके मेरे घरमें रह जानेसे मुझे जो कालिमा लगेगी, उसका मैं शोधन नहीं कर सकूँगा ॥ ४२-४३½ ॥

इत्युक्त्वा भ्रातृभिः सर्वै रजकः परिवेष्टितः ॥ ४४ ॥
जामातरं समासाद्य कन्यां तस्मै न्यवेदयत् ।

ऐसा कहकर वह धोबी अपने सभी जाति-भाइयोंके साथ अपने जामाताके पास जाकर अपनी कन्या उसे सौंपने लगा ॥

ततः क्रुद्धोऽब्रवीद् वाक्यं सृक्किणी परिलेलिहन्॥ ४५ ॥
जामाता हस्तमुद्यम्य रामोऽहमिति वो मतिः ।
राक्षसानां गृहे सीतां वसन्तीमाजहार यः ॥ ४६ ॥

तब वह जामाता धोबी क्रोधके कारण अपने गलफड़ोंको चाटता हुआ हाथ उठाकर यों कहने लगा—'क्या आपलोग समझते हैं कि मैं भी श्रीरामके ही समान हूँ, जिन्होंने राक्षसोंके घरमें रही सीताको पुनः लाकर रख लिया ?' ॥ ४५-४६ ॥

एतावदेव रघुनन्दन सोऽब्रवीत् तद्
वाक्यं पुनः पुनरिदं रजकोऽत्र कोपात् ।
राज्ञा समर्थपदवीमधितिष्ठता तद्
रामेण चेत् कृतमहं न तथा करोमि॥४७॥

रघुनन्दन ! वह रजक बारंबार क्रोधपूर्वक इतनी ही बात दुहराता रहा । फिर वह बोला—'समर्थ पदवीको प्राप्त हुए राजा श्रीरामने यदि ऐसा कर्म कर लिया (तो कर लें); किंतु मैं ऐसा नहीं करूँगा' ॥ ४७ ॥

इत्थं वचांसि स्म वदत्यवश्यं
नान्यो जनो वक्तुमलं बभूव ।
ततो मया वाक्यमिदं विविक्तं
सत्यं ब्रवीत्येष कुतो हि रामः ॥ ४८ ॥

महाराज ! वह धोबी तो अवश्य ऐसी बात कह रहा था, परंतु अन्य कोई मनुष्य अबतक ऐसी बात कहनेमें समर्थ नहीं हुआ है । उस समय धोबीकी बातपर विचार करके मैं इस निश्चयपर पहुँचा कि यह सत्य ही तो कह रहा है (कि मैं श्रीरामके समान नहीं हूँ); क्योंकि कहाँ श्रीराम और कहाँ यह नीच रजक । इन दोनोंकी क्या समानता है ? ॥ ४८ ॥

गङ्गातटद्वीपनिखातयूपः
स्वधर्मनिष्ठः पितृवाक्यकर्ता ।
जेता दशास्यस्य जगच्छरण्यः
स राघवः केन समोऽस्ति लोके ॥ ४९ ॥

जिन्होंने गङ्गातटवर्ती द्वीपोंमें बहुत-से यज्ञस्तम्भ स्थापित किये हैं, जो अपने धर्ममें तत्पर और पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाले हैं, जिन्होंने दशमुख रावणपर विजय पायी है और जो जगत्के आश्रयदाता हैं, वे रघुनाथजी संसारमें किसके समान हो सकते हैं—कौन उनकी समानता कर सकता है ? ॥

आचारेषु निषण्णोऽयं न गुणेषु च सस्पृहः ।
मूढो न वेत्ति तं रामं गुणिनं रजको ह्ययम् ॥ ५० ॥
मनसा चिन्तयित्वैवं राम त्वामहमागमम् ।

यह मूर्ख धोबी केवल लोकाचारोंमें ही फँसा हुआ है, गुणोंकी ओर इसका ध्यान नहीं है, इसीसे यह सर्वगुणसम्पन्न उन रामको नहीं समझ रहा है । महाराज राम ! अपने मनमें यों विचारकर मैं आपके पास आया हूँ ॥ ५०½ ॥

दूतं तं तु विसृज्याशु चिन्तयामास राघवः ॥ ५१ ॥
शुद्धापि जानकी वह्नौ लोकेऽस्मिन् परिगर्ह्यते ।
तस्मात् त्यजेयं नो वेति चिरं दध्यौ स जानकीम्॥ ५२ ॥

तदनन्तर रघुनाथजी शीघ्र ही उस दूतको विदा करके स्वयं इस प्रकार चिन्ता करने लगे—यद्यपि अग्नि-परीक्षाद्वारा जानकी शुद्ध प्रमाणित हो चुकी है, तथापि इस संसारमें उसकी निन्दा हो रही है; इसलिये अब मैं उसका परित्याग कर दूँ अथवा नहीं, इस प्रकार वे बहुत देरतक जानकीके विषयमें विचार करते रहे ॥ ५१-५२ ॥

कथं तां मृगशावाक्षीं सीतां पद्मनिभाननाम् ।
त्यजामि श्रोत्रियो मुख्यामाचारस्येव पद्धतिम्॥ ५३ ॥

वे सोचने लगे कि 'जैसे श्रोत्रिय ब्राह्मण आचारकी मुख्य पद्धतिको नहीं छोड़ सकता, उसी तरह मैं इस मृगशावक-सदृश नयनोंवाली एवं पद्ममुखी सीताका परित्याग कैसे कर दूँ ! ॥

अथ चेमां परित्यक्ष्ये कलौ विप्रा यथा श्रुतिम्।
इति चिन्तयतस्तस्य प्रातःकालोऽभवत् तदा ॥ ५४ ॥

'अथवा जैसे कलियुगमें विप्रगण प्रायः वेद-वाणीको त्याग देते हैं, उसी प्रकार मैं भी इसका परित्याग कर दूँगा ।' वे इसी उधेड़-बुनमें पड़े थे कि प्रातःकाल हो गया ॥ ५४ ॥

जैमिनिरुवाच

ततोऽसौ जानकीत्यागे मनः कृत्वा रघूद्वहः।
आह्वयामास भरतं शत्रुघ्नं लक्ष्मणं तथा ॥ ५५ ॥

जैमिनिजी कहते हैं— जनमेजय ! तदनन्तर रघुनाथजीने अपने मनमें जानकीके परित्यागका ही निश्चय करके भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्नको बुलवानेका विचार किया ॥ ५५ ॥

एतस्मिन्नन्तरे प्राप्तो भरतो लक्ष्मणस्तथा ।
शत्रुघ्नश्च महाबाहुः सेवितुं रघुनन्दनम् ॥ ५६ ॥

इसी बीचमें उन रघुनन्दनकी सेवा-शुश्रूषा करनेके लिये भरत, लक्ष्मण और महाबाहु शत्रुघ्न आकर स्वयं ही उपस्थित हुए ॥ ५६ ॥

ददृशुस्ते ततो रामं विषण्णं दीनचेतसम्।
प्रोचुस्तेऽन्योन्यमासीनं रामं शीघ्रं न चागताः॥ ५७ ॥
तस्मात् किं कुपितो भ्राता दृष्ट्वास्मान् दानवर्जितान्।
किमस्माभिर्द्विजश्रेष्ठाः प्रातर्नो पूजिता इति ॥ ५८ ॥
न प्रातर्जागृताः किं वा किं वा शीघ्रं नमस्कृताः।
इत्येतत् संवदन्तस्ते भ्रातरो वह्नितेजसः ॥ ५९ ॥
आयाता रघुनाथं तं नमस्कृत्येदमब्रुवन्।
त्वन्मनस्कान् सदा राम त्वत्समर्पितकर्मणः॥ ६० ॥
त्वद्दर्शनसमुत्कण्ठान् किमस्मान् नाभिनन्दसे।
रामस्तेषां वचः श्रुत्वा स शनैर्वाक्यमब्रवीत् ॥ ६१ ॥

वहाँ पहुचकर उन्होंने देखा कि श्रीरामका मन दुखी है और वे विषादमग्न हुए बैठे हैं, तब वे आपसमें कहने लगे—'हमलोग शीघ्र ही सेवामें उपस्थित नहीं हुए इसलिये या हमलोगोंको दान-रहित देखकर, अथवा हमलोगोंने प्रातःकाल उत्तम ब्राह्मणोंकी पूजा नहीं की है, इस कारणसे, किंवा प्रातःकाल हम नींदसे नहीं जागे या शीघ्र आकर इन्हें नमस्कार न कर सके, इस कारणसे क्या हमारे ज्येष्ठ भ्राता श्रीराम रुष्ट हो गये हैं ?' इस प्रकार संकल्प-विकल्प करते हुए अग्निके समान तेजस्वी वे तीनों भाई रघुनाथजीके समीप आये और उन्हें प्रणाम करके यों कहने लगे—'भैया राम ! हमलोग सदा आपके मनके अनुकूल ही चलते हैं, हमारे सम्पूर्ण कर्म आपको ही समर्पित हैं और हमारे मनमें सदा आपके दर्शनकी उत्कण्ठा बनी रहती है, फिर आज आप हमारा अभिनन्दन क्यों नहीं कर रहे हैं ?' तब भाइयोंकी बात सुनकर श्रीराम धीरे-धीरे बोले ॥ ५७–६१ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि कुशलवोपाख्याने रामवाक्यं नाम षड्विंशतितमोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें कुशलवोपाख्यानके प्रसङ्गमें श्रीरामवाक्यनामक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः

कुशलवोपाख्यान—सीता-परित्यागके विषयमें श्रीरामके साथ तीनों भाइयोंकी बातचीत, श्रीरामका लक्ष्मणको सीता-परित्यागके लिये आदेश, लक्ष्मणजीका रथ लेकर सीताजीके महलमें जाना, सीताजीका सासुओंकी आज्ञा लेकर सामग्रीसहित रथपर बैठना और गङ्गातटके लिये प्रस्थान

जैमिनिरुवाच

रामस्तु कथयामास चारेणोक्तं यथा निशि।
सीता च गर्ह्यते लोकैर्यथा पाखण्डिभिः श्रुतिः॥ १ ॥
लोकापवादभीतेन त्यज्यते जानकी मया।
संसारभयभीतेन योगिना ममता यथा ॥ २ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर श्रीराम, रात्रिमें दूतने जो-जो बातें कही थीं, उनका वर्णन करते हुए कहने लगे—'भाइयो ! जैसे पाखण्डीलोग श्रुतियोंपर दोषारोपण करते हैं, उसी तरह लोग सीताकी निन्दा कर रहे हैं; इसलिये संसारके भयसे भीत होकर ममताका परित्याग करनेवाले योगीकी भाँति मैं लोकापवादसे डरकर जानकीको त्याग देना चाहता हूँ' ॥ १-२ ॥

तद् रामवाक्यमाकर्ण्य वज्रपातोपमं तदा।
भ्रातरस्ते त्रयोऽभूवन् रोमाञ्चितवपुर्धराः ॥ ३ ॥

वज्रपातके सदृश श्रीरामके उस वचनको सुनकर उन तीनों भाइयोंके शरीरके रोंगटे खड़े हो गये ॥ ३ ॥

अब्रवीद् भरतस्तेषां रघुनाथमिदं वचः।
कृपालुत्वं रामचन्द्र त्वय्येव परिगीयते ॥ ४ ॥

तत्पश्चात् उन भाइयोंमेंसे भरतजी आगे होकर रघुनाथजी-से इस प्रकार कहने लगे—'भैया राम ! आपकी कृपालुताकी तो बड़ी प्रशंसा हो रही है (फिर आप ऐसी कठोरता क्यों धारण कर रहे हैं) ॥ ४ ॥

अन्त्यजेभ्यो बलात् कश्चित् कपिलां गां समानयेत्।
पश्चात् संसर्गदुष्टत्वात् त्यजेत् तां विपिने तु कः॥ ५ ॥
जानकीं त्वं तथाऽऽदाय राक्षसात्त्यक्तुमिच्छसि।
सीता तुभ्यं ददौ शुद्धिमात्मनोऽग्निमुखे पराम्।
तत्त्वया विस्मृतं राम किं वा पित्रा पुरोदितम् ॥ ६ ॥

'भला, ऐसा कौन मनुष्य होगा, जो किसी कपिला गौको बलपूर्वक म्लेच्छके हाथसे छीनकर [पुनः संसर्गजनित दोषके कारण उसे दूषित बताकर जंगलमें त्याग देगा ? उसी तरह आप जानकीको राक्षसके हाथसे छुड़ाकर पुनः त्याग देनेकी इच्छा कर रहे हैं। सीताजी अग्निमुखमें प्रवेश करके अपनी उत्तम शुद्धिका प्रमाण आपको दे चुकी हैं। श्रीराम ! पहले (सीताकी अग्नि-परीक्षाके समय) पिताजीने जो कुछ कहा था, क्या आप उसे भूल गये ? ॥ ५-६ ॥

वह्नौ प्रदीप्ते ज्वालाभिर्लिहन्तीभिरिवाम्बरम्।
सीतायां च प्रविष्टायां तदा दशरथोऽब्रवीत् ॥ ७ ॥
विमानस्थोऽम्बरे राम त्वां प्रतीदृग् वचः शुभम्।
इमां शुद्धां विद्धि पुत्र जानकीं भर्तृतत्पराम् ॥ ८ ॥
अस्याश्चरित्रेण कुलं नः सर्वं विमलीकृतम्।
ये मृताः पुत्रशोकेन न तेषां गतिरुत्तमा ॥ ९ ॥
जानकी नः स्नुषा येन तेन वासस्त्रिविष्टपे।
एतद् दशरथेनोक्तं वचनं विस्मृतो भवान् ॥ १० ॥

'भैया राम ! जिस समय अपनी ज्वालाओंसे आकाशको चूमती हुई-सी आग प्रज्वलित हो रही थी और सीताजी उसमें प्रवेश कर गयी थीं, उस समय आकाशमें विमानपर बैठे हुए पिता दशरथजीने आपके प्रति ऐसे शुभ वचन कहे थे— 'बेटा ! इस पतिपरायणा जानकीको तुम सर्वथा शुद्ध समझो। इसके चरित्रसे हमारा सारा कुल निर्मल (पवित्र) हो गया है। जो लोग पुत्रशोकके कारण मृत्युको प्राप्त हुए हैं, उन्हें परलोकमें उत्तम गति नहीं प्राप्त होती है, परंतु जानकी हमारी पुत्रवधू है, इसलिये हमें स्वर्गमें स्थान मिला है।' इस प्रकार पिता दशरथजीके कहे हुए वचनोंको क्या आप भूल गये ? ॥

ब्रह्मादिभिर्देवगणैर्यत् प्रोक्तं तच्च संस्मर।
वह्नौ विशुद्धा वैदेही फुल्ला सत्कलिका यथा ॥ ११ ॥
गुम्फिता वानरैर्दृष्टा मालेव रघुसत्तम।
तथापि ते मनो राम कठिनं परिलक्ष्यते ॥ १२ ॥

'उस समय ब्रह्मा आदि देवगणोंने जो कुछ कहा था, उसका भी तो स्मरण कीजिये। रघुश्रेष्ठ ! अग्निपरीक्षाद्वारा शुद्ध हुई जानकी खिली हुई सुन्दर कली-सी और गूँथी हुई मनोहर माला-सी सुशोभित हुई थीं। उस समय उन्हें वानरोंने भी देखा था; राम ! इतनेपर भी उनके प्रति आपका मन कठोर दिखायी देता है' ॥ ११-१२ ॥

जैमिनिरुवाच

भरतेनेदृशैर्वाक्यैः प्रोक्तो रामोऽब्रवीद् वचः।
सत्यमुक्तं त्वया भ्रातः शुद्धा जनकनन्दिनी ॥ १३ ॥
लोकापवादो दुर्वारो राज्ञां कीर्तिविनाशनः।
कीर्तिहीनं जन्म येषां जीवन्तोऽपि मृता हि ते ॥ १४ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! जब भरतजीने ऐसी बातें कहीं, तब श्रीराम कहने लगे—'प्यारे भाई ! तुमने बिल्कुल ठीक कहा है। जानकी सर्वथा शुद्ध है; परंतु इस लोकापवादका रोका जाना तो बड़ा कठिन है। यह राजाओंकी कीर्तिका विनाश करनेवाला है। जिनका जीवन कीर्तिहीन हो जाता है, वे जीते हुए ही मृतकके समान हैं ॥ १३-१४ ॥

पुरूरवा हरिश्चन्द्रो नहुषो वैन्य एव च।
वरिष्ठा नृपमुख्यास्ते गीयन्ते यशसा भुवि ॥ १५ ॥

'पुरूरवा, हरिश्चन्द्र, नहुष और वेननन्दन पृथु आदि जो श्रेष्ठ नरेश हो गये हैं, उनके उत्तम यशका इस भूतलपर गान किया जाता है ॥ १५ ॥

मान्धाता सगरश्चैव ह्यम्बरीषो भगीरथः।
ऋतुपर्णो नलश्चैव ये चान्ये पुण्यकीर्तयः ॥ १६ ॥
ख्यातिं प्राप्ता हि राजानः सत्कीर्त्यैव रघूद्वह।
न कीर्तिसदृशं किञ्चिन्नराणामिह विद्यते ॥ १७ ॥
पापत्राणं पुण्यदं च स्वर्गादिप्रापिकारकम्।

'मान्धाता, सगर, अम्बरीष, भगीरथ, ऋतुपर्ण तथा नल—ये तथा अन्य भी जो पुण्यकीर्ति नरेश हो चुके हैं, वे सभी उत्कृष्ट कीर्तिके कारण ही प्रसिद्धिको प्राप्त हुए हैं। रघूद्वह ! लोकमें मनुष्योंके लिये सत्कीर्तिके समान पापसे रक्षा करनेवाली, पुण्यप्रदायिनी और स्वर्ग आदि उत्तम लोकोंकी प्राप्ति करानेवाली दूसरी कोई वस्तु नहीं है ॥ १६-१७½ ॥

अपकीर्तिस्तु यस्यैव गीयते मानवैर्भुवि ॥ १८ ॥
तस्य जन्म वृथा मन्ये जीवितं च निरर्थकम्।

'इस भूतलपर मनुष्य जिसकी अपकीर्तिका ही वर्णन करते हैं, मेरे विचारसे तो उसका जन्म लेना ही व्यर्थ हो गया और उसका जीवन भी निरर्थक ही है ॥ १८½ ॥

मुहूर्तमपि जीवेत नरः शुद्धेन कर्मणा ॥ १९ ॥
युगान्तमपि नैवेह नरः कीर्तिं विना क्वचित्।

'इस संसारमें शुद्ध कर्म करता हुआ मनुष्य यदि दो

घड़ीतक ही जीवित रहे तो उसका वह जीवन श्रेष्ठ है; परंतु कीर्तिहीन होकर युगान्तपर्यन्त जीवित रहना भी उत्तम नहीं है॥

किं न जीवन्ति हि चिरं काकोलूकादिपक्षिणः ॥ २० ॥
तथा तज्जीवितं मन्ये नृणां कीर्तिविवर्जितम् ।

'क्या कौए और उल्लू आदि पक्षी चिरकालतक जीवित नहीं रहते ? कीर्तिहीन मनुष्योंका जीवन भी मैं उन्हींकी तरह मानता हूँ ॥ २०½ ॥

यैः पुत्रैर्बन्धुभिर्दारैः पुंसामपयशो भवेत् ॥ २१ ॥
त्याज्याः पुत्रा बान्धवाश्च दाराः प्राणप्रिया अपि ।

'जिन स्त्री, पुत्र और भाई-बन्धुओंसे मनुष्यको अपयशका भागी होना पड़े, वे प्राणोंके समान प्यारे हों तो भी उनका परित्याग कर देना चाहिये ॥ २१½ ॥

श्रूयते हि पुरा राज्ञा शिबिना सत्यवादिना ॥ २२ ॥
कीर्त्यर्थं हि स्वदेहस्य दत्तं मांसं हि जिष्णवे ।
तथैव कवचं कर्णो वासवाय ददौ पुरा ॥ २३ ॥
जीवनं वैनतेयाय ददौ जीमूतवाहनः ।
ददौ दधीचिरस्थीनि कीर्त्यर्थं कीर्तिकृदृषिः ॥ २४ ॥
तस्मादिमां परित्यक्ष्ये जीर्णां त्वचमिवोरगः ।

'सुना जाता है कि पूर्वकालमें सत्यवादी राजा शिबिने कीर्तिके लिये अपने शरीरका मांस काटकर बाजरूपधारी इन्द्रको समर्पित कर दिया था । उसी तरह (यशकी प्राप्तिके लिये ही) कर्णने भी अपना जन्मजात कवच इन्द्रको दान कर दिया था और जीमूतवाहनने अपना जीवन ही गरुडको अर्पित कर दिया था । उत्तम कीर्तिका सम्पादन करनेवाले महर्षि दधीचिने कीर्तिकी कामनासे अपनी हड्डियाँतक दान कर दी थीं । इसलिये मैं भी केंचुलको त्याग देनेवाले सर्पकी भाँति सीताका परित्याग कर दूँगा ॥ २२–२४½ ॥

जीविते मम चेदिच्छा तव कैकेयिनन्दन ॥ २५ ॥
पुनस्त्वया न वक्तव्यं तर्हीदं वचनं मयि ।

'कैकेयीनन्दन ! यदि तुम मुझे जीवित रखना चाहते हो तो मेरे विषयमें तुम्हें पुनः ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये' ॥

तावत् स लक्ष्मणः क्रुद्धो धुन्वन् हस्तावथाब्रवीत्॥२६॥
निष्पिष्य पाणिना पाणिं निःश्वसन्नुरगो यथा ।
विसृजंश्च स्वनेत्राभ्यां कवोष्णं वारि दुःखजम् ॥ २७ ॥

यह सुनकर लक्ष्मणजी क्रोधवश हाथसे हाथको मलते हुए सर्पकी भाँति दीर्घ निःश्वास छोड़ने लगे तथा नेत्रोंसे दुःखजन्य गरम-गरम आँसू बहाते और अपने हाथोंको हिलाते हुए बोल उठे ॥ २६-२७ ॥

लक्ष्मण उवाच

आः किं लोकापवादेन त्याज्या सीता रघूद्वह ।
भार्याकलहतः कश्चिन्मातरं त्यक्तुमर्हति ॥ २८ ॥
तथा त्वं सर्वलोकस्य जननीं हातुमिच्छसि ।
पापिनस्तान् हनिष्यामि ये सीतां दूषयन्ति हि ॥ २९ ॥

लक्ष्मणजीने कहा—हा रघुनन्दन ! लोकापवादके कारण क्या सीताका परित्याग करना उचित है ? क्या कोई पत्नीके कलह करनेसे अपनी माताको त्याग देना उचित समझेगा ? उसी तरह आप भी सम्पूर्ण लोकोंकी जननी सीताका परित्याग करना चाहते हैं । जो सीताजीपर दोषारोपण कर रहे हैं, मैं उन समस्त पापियोंका वध कर डालूँगा ॥ २८-२९ ॥

म्लेच्छपूज्यैरर्धमुण्डैर्यवनैर्दूष्यते श्रुतिः ।
सा किं त्याज्या द्विजवरैरिति राम विचारय ॥ ३० ॥
शत्रुघ्नः कुपितस्तावद् राघवं प्रत्यवोचत ।

भैया राम ! इसपर आप ही विचार कीजिये कि म्लेच्छोंद्वारा पूजित अर्धमुण्डित यवन यदि श्रुतिको दूषित बताते हैं तो क्या द्विजश्रेष्ठोंको उस श्रुतिका परित्याग कर देना चाहिये ? तदनन्तर शत्रुघ्नजी भी क्रुद्ध होकर रघुनाथजीसे कहने लगे ॥

शत्रुघ्न उवाच

राम त्वं यद् वचो ब्रूषे त्यक्ष्ये प्राणानहं यथा ।
त्वया ये त्याजिताः प्राणास्तेऽमरत्वं प्रपेदिरे ॥ ३१ ॥
यदि त्वं हास्यसि प्राणानमरस्त्वं भविष्यसि ।
तथा ये त्वां समाश्रित्य वर्तेयुः पापयोनयः ॥ ३२ ॥
निर्दुःखा नीरुजास्ते स्युः किं पुनर्जनकात्मजा ।
अथवा त्वां मृतं सीता जीवयेत् पतिलालसा ॥ ३३ ॥
त्वं च तां मृगशावाक्षीं मृतां जीवयसे कथम् ।
शत्रुघ्नस्य वचः श्रुत्वावोचद् रामः शनैः शनैः ॥ ३४ ॥

शत्रुघ्न बोले—भैया राम ! आप जो यह कह रहे हैं कि मैं अपने प्राण त्याग दूँगा, सो यदि वास्तवमें आप प्राणत्याग कर देंगे तो अमर हो जायँगे; क्योंकि अबतक जितने लोग आपके हाथों मृत्युको प्राप्त हुए हैं, उन्हें अमरत्वकी प्राप्ति हो गयी है । जो पापयोनिवाले जीव आपकी शरण ग्रहण करके जीवन-यापन करते हैं, जब वे भी दुःखरहित और नीरोग हो जाते हैं, तब जानकीके विषयमें क्या कहना है !

अथवा यदि आप मर ही जायँ तो पतिकी लालसावाली सीताजी आपको पुनः जीवित कर सकती हैं, परंतु मृगके छौनेके-से नेत्रोंवाली सीताके मरनेपर आप उन्हें कैसे जिला सकेंगे ? शत्रुघ्नजीकी यह बात सुनकर श्रीराम धीरे-धीरे बोले ॥

राम उवाच

आत्मानमप्यहं जह्यां युष्मांश्च पुरुषर्षभ ।
अपवादभयाद् भीतः किं पुनर्जनकात्मजाम् ॥ ३५ ॥

श्रीरामने कहा—पुरुषश्रेष्ठ ! मैं लोकापवादके डरसे भयभीत होकर अपनेको तथा तुम सभी भाइयोंको भी त्याग सकता हूँ, फिर जानकीकी तो बात ही क्या है ? ॥ ३५ ॥

जैमिनिरुवाच

रामे ब्रुवति राजेन्द्र सीतां त्यक्तुं कृतोद्यमे ।
ततो भरतशत्रुघ्नौ गृहं स्वं स्वमगच्छताम् ॥ ३६ ॥
लक्ष्मणो न ययौ रामं त्यक्त्वा दुःखाटवीगतम् ।
लक्ष्मणं केवलं दृष्ट्वा रामो वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ३७ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—राजेन्द्र ! तदनन्तर सीताका परित्याग करनेके लिये उद्यत हुए श्रीरामके ऐसा कहनेपर भरत और शत्रुघ्न अपने-अपने महलको चले गये; परंतु लक्ष्मण दुःखरूपी काननमें भटकते हुए रामको एकाकी छोड़कर न जा सके । उस समय लक्ष्मणको अकेले देखकर श्रीराम यों कहने लगे—॥ ३६-३७ ॥

सौमित्रे छिन्धि खड्गेन शिरो मे न विचारय ।
सीतां भागीरथीतीरे त्यक्तुं वा गच्छ मा चिरम् ॥३८॥

'सुमित्रानन्दन ! या तो तुम बिना कोई अन्यथा विचार किये तलवारसे मेरा सिर काट डालो अथवा सीताको गङ्गातटपर छोड़ आनेके लिये जाओ। बस, अब देर मत करो ॥३८॥

सीतापरित्यागभवो दोषो मम तवास्तु न ।
नौमि ते चरणौ भ्रातः सीतां मुञ्च सरित्तटे ॥ ३९ ॥

'सीताके परित्यागसे उत्पन्न हुए दोषका भागी मैं होऊँगा। तुम्हें इसका पाप नहीं लगेगा । प्यारे भाई ! मैं तुम्हारे चरणोंमें नमस्कार करता हूँ, तुम सीताको गङ्गातटपर छोड़ आओ' ॥

रामेणोक्तो लक्ष्मणस्तु लज्जयावनतः श्वसन् ।
संशयाक्रान्तचित्तः संश्चिन्तयामास चेतसि ॥ ४० ॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर लक्ष्मणजी लज्जासे झुक गये । वे लंबी साँस लेने लगे। उनका चित्त संशयाच्छन्न हो गया; अतः वे मनमें विचारने लगे—॥ ४० ॥

श्रूयते धर्मशास्त्रेषु गुरोराज्ञा गरीयसी ।
पुरा परशुरामेण स्वपितुर्वचनात्तथा ॥ ४१ ॥
परश्वधेन वै छिन्नमाशु स्वजननीशिरः ।

'धर्मशास्त्रोंमें ऐसा सुना जाता है कि गुरुजनोंकी आज्ञा गुरुतर होती है । इसीलिये पूर्वकालमें परशुरामजीने अपने पिताकी आज्ञा मानकर फरसेसे शीघ्र ही अपनी माताका सिर काट लिया' ॥ ४१½ ॥

मनसा निश्चयं कृत्वा कर्तुं रामवचो नृप ॥ ४२ ॥
यन्तारमब्रवीद् वीरो रथमानय साश्वकम् ।

राजन् ! इस प्रकार श्रीरामकी आज्ञाका पालन करनेके लिये अपने मनमें दृढ़ निश्चय करके वीरवर लक्ष्मणने अपने सारथिसे कहा—'सूत ! घोड़े जोतकर रथ ले आओ' ।४२½।

तेनानीतं रथवरं समारुह्य जगाम सः ॥ ४३ ॥
सीताभवनमुद्दिश्य ततोऽश्वा न्यपतन् भुवि ।
अथ यन्त्रा कशाघातैस्ताडितास्ते ययुः शनैः ॥ ४४ ॥

तब सारथिने वह उत्तम रथ लाकर उपस्थित किया और लक्ष्मणजी उसपर सवार होकर सीताजीके महलकी ओर चल दिये । मार्गमें घोड़े पृथ्वीपर गिर पड़े । फिर सारथिके चाबुककी मारसे पीडित होकर वे उठे और धीरे-धीरे चलने लगे ॥ ४३-४४ ॥

सम्प्राप्य सीताभवनं लक्ष्मणोऽवातरद् रथात् ।
प्रविश्य भवनं सीतां नमश्चक्रेऽप्यवाङ्मुखः ॥ ४५ ॥

सीताजीके महलके निकट पहुँचकर लक्ष्मणजी रथसे उतर पड़े और भवनके भीतर प्रवेश करके अवनतमुख होकर उन्होंने सीताजीको प्रणाम किया ॥ ४५ ॥

सीतैवंविधमालोक्य लक्ष्मणं वाक्यमब्रवीत् ।

इस प्रकार लक्ष्मणको आया हुआ देखकर सीताजी कहने लगीं ॥ ४५½ ॥

सीतोवाच

मनोरथप्रदो भर्त्ता मम राजीवलोचनः ॥ ४६ ॥
मया हसन्त्या यद् रात्रौ याचितं तद् ददौ रघुः ।
दत्तेऽपि निष्फलं देव यावत्त्वं नैव दृश्यते ॥ ४७ ॥

सीताजी बोलीं—मेरे कमलनयन स्वामी सदा मेरा मनोरथ पूर्ण करते रहते हैं । रातके समय मैंने हँसी-हँसीमें उनसे जो याचना की थी, रघुनाथजीने उसे पूर्ण करनेकी स्वीकृति दे दी थी; परंतु देवर ! जबतक तुम मुझे नहीं दीख

पड़े थे, तबतक मैं उनके स्वीकृति देनेपर भी उसे निष्फल ही समझती थी ॥ ४६-४७ ॥

अधुना तद् रघोर्वाक्यं सत्यं कर्तुं त्वमागतः ।
गृहीष्यामि विचित्राणि वासांस्यगुरुचन्दनम् ॥ ४८ ॥
मुनिभ्यो मुनिपत्नीभ्यो दातुं श्रेयोऽभिवृद्धये ।

इस समय जब तुम रघुनाथजीके उस कथनको सत्य करनेके लिये आ गये हो, तब मैं अपने कल्याणकी अभिवृद्धिके लिये वहाँ रहनेवाले मुनियों एवं मुनिपत्नियोंको देनेके लिये सुन्दर-सुन्दर वस्त्र, अगुरु और चन्दन आदि ले चलूँगी॥४८½॥

तत् तस्या वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणो हृदि विव्यथे ॥ ४९ ॥
मुञ्चन्नश्रूणि शनकैरेवं कुर्विति सोऽब्रवीत् ।
भ्रातुर्वचनपाशेन बद्धः परवशस्तदा ॥ ५० ॥

सीताजीके उस वचनको सुनकर लक्ष्मणजीके हृदयमें बड़ी पीड़ा हुई, परंतु उस समय वे भाईके वचनरूपी पाशसे बँधे होनेके कारण परवश थे, अतः आँसू बहाते हुए धीरे-से बोले—'ऐसा ही कीजिये' ॥ ४९-५० ॥

जैमिनिरुवाच

ततः सीता दुकूलानि निदधौ स्यन्दनोपरि ।
अजिनानि विचित्राणि खाद्यानि विविधानि च ॥ ५१ ॥
पादुके रामचन्द्रस्य सौवर्णे मणिचित्रिते ।
एवं संस्थाप्य वस्तूनि श्वश्रूं प्रष्टुमथो ययौ ॥ ५२ ॥

जैमिनिजी कहते हैं——जनमेजय ! तदनन्तर सीताजीने उस रथपर श्रीरामचन्द्रजीकी मणिजटित सोनेकी खड़ाऊँ रखकर तत्पश्चात् रेशमी वस्त्र, सुन्दर मृगचर्म और अनेक प्रकारके भोज्य पदार्थ रखे । इस तरह सारी उपयोगी वस्तुएँ रखकर वे साससे आज्ञा लेनेके लिये गयीं ॥ ५१-५२ ॥

कौसल्यां रामजननीं सीता नत्वेदमब्रवीत् ।
दोहदो मम संजातो रन्तुं भागीरथीतटे ॥ ५३ ॥
तं च पूरयितुं प्राप्तो लक्ष्मणो मम देवरः ।
अनुज्ञा युष्मदीया चेत्ततो गच्छामि तद् वनम् ॥५४॥
सीतावचनमाकर्ण्य कौसल्या प्राह जानकीम् ।

वहाँ पहुँचकर सीताजी राम-माता कौसल्याजीके चरणोंमें प्रणाम करके बोलीं—'अम्ब ! इस गर्भकालमें गङ्गाजीके तटपर जाकर आनन्दपूर्वक विचरण करनेके लिये मेरे मनमें इच्छा जाग्रत् हुई है और उसे पूर्ण करनेके लिये मेरे देवर लक्ष्मण तैयार होकर आ गये हैं । अब यदि आपकी आज्ञा मिले तो मैं उस वनमें जाना चाहती हूँ ।' सीताजीकी बात सुनकर कौसल्याजीने उनसे कहा ॥ ५३-५४½ ॥

कौसल्योवाच

सीते कथं वनं यासि वृक्षकण्टकसंयुतम् ।
वराहव्याघ्रसिंहादिसत्त्वैर्व्याप्तं भयंकरम् ॥ ५५ ॥
शीतोष्णवातवर्षादिदुःखदं त्वमनिन्दिते ।
चिरात् प्राप्तं राज्यसुखं परित्यज्य शुचिस्मिते ॥ ५६ ॥
कठोरहृदयैः सेव्यं वनं गन्तुमिहेच्छसि ।
त्वं तु रामं परित्यज्य वनं गन्तुं न चार्हसि ॥ ५७ ॥
मुखं प्रभाते मलिनं तवोष्ठौ शुष्यतः श्रमात् ।

कौसल्याजी बोलीं—पवित्र मुसकानवाली सीते ! तू चिरकालतक कष्ट भोगनेके पश्चात् प्राप्त हुए राज्यसुखका परित्याग करके क्यों वनमें जाना चाहती है ? वह वन तो वृक्ष और काँटोंसे भरा हुआ है, सूअर, व्याघ्र, सिंह आदि हिंसक जन्तुओंसे व्याप्त होनेके कारण बड़ा भयावना है । अनिन्दिते ! उसमें सर्दी-गरमी, आँधी-वर्षा आदिका कठिन दुःख सहना पड़ता है । तू जिस वनमें जानेके लिये तैयार है, उसका सेवन तो कठोर हृदयवाले मनुष्य ही कर सकते हैं । अतः श्रीरामको छोड़कर तेरा वनमें जाना उचित नहीं है । वहाँ प्रातःकाल तेरा मुख मलिन हो जायगा और होंठ परिश्रमके कारण सूख जायँगे ॥ ५५–५७½ ॥

सीतोवाच

मद्भर्ता वनवासी च सदा कण्टकमर्दनः ॥ ५८ ॥
निर्मलो जीवयेद् यस्तु वानरान् कोटिशो रणे ।
तं स्मरन्तीं तादृशीं मां दुःखदं न वनं भवेत् ॥ ५९ ॥

सीताजीने कहा—सासजी ! मेरे पतिदेव वनमें निवास कर चुके हैं, वे वहाँ सदा काँटोंका मर्दन किया करते थे (अतः मुझे उन कण्टकोंसे कष्ट न होगा) । जिन निर्मल रघुनाथजीने रणक्षेत्रमें करोड़ों मरे हुए वानरोंको जीवित कर दिया था, मुझे उनका स्मरण करती हुई जानकर वन मेरे लिये कष्टदायक नहीं होगा ॥ ५८-५९ ॥

रामनामजपन्त्याश्च ममोष्ठौ शुष्यतः कथम् ।
मनोवाक्कर्मभिः सेवा युष्मदीया कृता मया ॥ ६० ॥
ततो मम वने नार्तिर्भविष्यति च नौमि वः ।
इति प्रदक्षिणीकृत्य श्वश्रूं सीताभिनन्दिता ॥ ६१ ॥

कैकेयीं च सुमित्रां च नत्वा पृष्ट्वा जगाम सा।
यत्रासौ लक्ष्मणः शूरो रथमादाय तस्थिवान्॥ ६२॥
आरुरोह रथं सीता हर्षनिर्भरमानसा।

जब मैं राम-नामका जप करती रहूँगी, तब मेरे होंठ सूख कैसे जायँगे ? अम्ब ! मैंने मन, वचन तथा क्रियाद्वारा आपकी सेवा की है, उसके फलस्वरूप मुझे वनमें किसी प्रकारकी पीडा नहीं होगी। मैं आपके पैरों पड़ती हूँ (मुझे जानेकी आज्ञा दीजिये)। ऐसा कहकर अनिन्दिता सीताने अपनी सास कौसल्याजीकी प्रदक्षिणा की और फिर कैकेयी तथा सुमित्राके चरणोंमें नमस्कार किया। तत्पश्चात् उनकी अनुमति लेकर सीताजी जहाँ शूरवीर लक्ष्मणजी रथ लेकर खड़े थे, वहाँ जा पहुँचीं और हर्षपूर्ण मनसे उस रथपर जा बैठीं॥ ६०–६२½॥

सगद्गदितकण्ठोऽसौ सौमित्रिः प्राह सारथिम्॥ ६३॥
चोदयाश्वान् कशाघातैर्यथा शीघ्रं प्रयान्ति हि।

तब रुँधे हुए कण्ठसे लक्ष्मणजीने सारथिसे कहा—'सूत! चाबुक मारकर घोड़ोंको हाँको, जिससे ये शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़ें'॥ ६३½॥

जैमिनिरुवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वोवाच सूतोऽथ लक्ष्मणम्॥ ६४॥
अहमश्वमनो वेद्मि यथावत् पुरुषर्षभ।
चलाचलप्रोथतया वक्तुकामा इमे हयाः॥ ६५॥
शीघ्रं हि यदि गच्छेम ततो नश्चरणैर्मही।
दूयेत सीतादुःखेन दुःखिताऽऽदौ विशेषतः॥ ६६॥
संग्रामे नो गतिः श्लाघ्या नेदृशे कुत्सिते पथि।
इत्येवं हृदि मन्यन्ते वाजिनो भरतानुज।
तथापि प्रेरयाम्यद्य पश्य मे हस्तलाघवम्॥ ६७॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! लक्ष्मणजीकी वह बात सुनकर सारथि उनसे कहने लगा—'पुरुषश्रेष्ठ! मुझे इन घोड़ोंकी मनोदशाका पूर्ण ज्ञान है। ये घोड़े अपने नथुनोंको हिलाकर यह कहना चाहते हैं कि एक तो यह पृथ्वी पहले ही सीताके दुःखसे विशेष दुखी है, दूसरे इस समय यदि हमलोग वेग-पूर्वक चलेंगे तो हमारे टापोंके आघातसे यह और भी पीडित होगी। हमारी चालकी प्रशंसा तो संग्रामभूमिमें ही होती है, ऐसे निन्दित मार्गपर चलनेमें नहीं। भरतजीके छोटे भैया! घोड़े अपने हृदयमें ऐसा ही समझ रहे हैं तो भी मैं अभी इन्हें आगे बढ़ाता हूँ। आप मेरे हाथोंकी फुर्ती देखिये'॥ ६४–६७॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं स सारथिः
पाण्योस्तलेनाभिजघान कंधराम्।
रश्मीन् समादाय कशामुदीरयन्
प्राचोदयत् तीव्रयान् हयांस्तदा॥ ६८॥

ऐसी बात कहकर सारथिने अपने हाथोंकी हथेलियोंसे घोड़ोंकी गरदनको थपथपाया और बागडोर हाथमें लेकर चाबुकको लपलपाते हुए उन शीघ्रगामी घोड़ोंको वेगपूर्वक आगे बढ़ाया॥ ६८॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि कुशलवोपाख्याने लक्ष्मणप्रस्थानं नाम सप्तविंशतितमोऽध्यायः॥ २७॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें कुशलवोपाख्यानके प्रसंगमें लक्ष्मणका प्रस्थाननामक सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २७॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

कुशलवोपाख्यान—लक्ष्मणका सीताजीको गङ्गाके उस पार वनमें छोड़कर लौटना, सीताकी मूर्च्छा और पुनः उठकर विलाप करना, वाल्मीकिजीका आगमन और उनका सीताजीको देखना

जैमिनिरुवाच

गच्छन्तीं तां समालोक्य सीतां पद्मनिभाननाम्।
अयोध्यातीवदुःखेन व्यथिता वातचञ्चलैः॥ १॥
ध्वजानां पल्लवैरेनां वारयन्तीव दृश्यते।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! कमल-सरीखे कोमल एवं सुन्दर मुखवाली सीताजीको जाती देखकर अयोध्यानगरी अत्यन्त दुःखसे व्याकुल हो उठी, इसलिये उस समय वह वायुके झोंकेसे फहराती हुई ध्वजाओंकी पताकाओंद्वारा उन्हें जानेसे मना करती हुई-सी दीख रही थी॥ १½॥

ततस्तेन रथेनासौ गच्छन्ती जानकी पथि ॥ २ ॥
ददर्श दुर्निमित्तानि घोराणि सुबहून्यपि ।

तदनन्तर उस रथपर सवार होकर जाती हुई जानकीजीने मार्गमें बहुत-से भयंकर अपशकुन भी देखे ॥ २½ ॥

शिवा सम्मुखमागत्य व्यरावीद् भैरवं यथा ॥ ३ ॥
हरिणा मार्गमुल्लङ्घ्य प्रधावन्ति स्म सर्वशः ।
स्फुरति स्म सतीनेत्रं दक्षिणं पुरुषर्षभ ॥ ४ ॥

पुरुषश्रेष्ठ जनमेजय ! उस समय एक गीदड़ी सीताजीके सम्मुख आकर भयंकर स्वरसे रोने लगी । मृगोंके समूह रास्ता काटकर सब ओर भागने लगे और सती सीताका दाहिना नेत्र फड़कने लगा ॥ ३-४ ॥

जैमिनिरुवाच

ततस्तु विपरीतानि दुश्चिह्नानि विलोक्य सा ।
विस्मिता जानकी वीरं लक्ष्मणं प्रत्यवोचत ॥ ५ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर इन विपरीत अपशकुनोंको देखकर जानकीजी आश्चर्यचकित हो गयीं और फिर वीरवर लक्ष्मणसे बोलीं—॥ ५ ॥

पश्य लक्ष्मण चिह्नानि शिवा गोमायवो मृगाः ।
मार्गमावृत्य तिष्ठन्ति रुदन्ति भयसूचकाः ॥ ६ ॥
परं स्वस्त्यस्तु रामाय कौसल्याहर्षकारिणे ।
तस्य बाह्वोर्बलं भूयादायुष्यं परिवर्धताम् ॥ ७ ॥

'लक्ष्मण ! इन अपशकुनोंकी ओर तो देखो, ये भयकी सूचना देनेवाले गीदड़, गीदड़ियाँ तथा मृग मार्ग रोककर खड़े हो जाते हैं और रोने लगते हैं । अतः कौसल्याको आनन्द देनेवाले श्रीरामका परम मङ्गल हो, उनकी भुजाओंके बलकी वृद्धि हो और उनकी आयु बढ़े ॥ ६-७ ॥

येन रामेण घोराणि रक्षोवृन्दानि भूतले ।
पातितानि शरैस्तीक्ष्णैः शुभं तस्यास्तु सर्वदा ॥ ८ ॥

'जिन श्रीरामजीने अपने तीखे बाणोंसे भयंकर राक्षसोंके दलोंको धराशायी कर दिया था, उनका सर्वदा कल्याण हो ॥

खरश्च दूषणो येन त्रिशिरा यमसादनम् ।
प्रापिता वै जनस्थाने स राज्यं कुरुतां ध्रुवम् ॥ ९ ॥

'जिन्होंने जनस्थानमें खर-दूषण और त्रिशिराको मारकर यमलोक भेज दिया, वे अटल होकर राज्य-शासन करें ॥९॥

अगाधो गाधतां नीतो वानरैर्येन सागरः ।
विभीषणो भयात् त्रातः सोऽस्त्वयोध्यापतिः सुखी १०

'जिन्होंने वानरोंकी सहायतासे अगाध समुद्रको पार करने योग्य बना दिया और रावणके भयसे विभीषणकी रक्षा की, वे अयोध्यानरेश श्रीराम सुखी हों ॥ १० ॥

महाबलौ रावणकुम्भकर्णौ
लङ्कापती तौ प्रथितौ पृथिव्याम् ।
पापस्य साक्षादिव मूर्तिभाजौ
भिन्नौ रणे येन शरैः सुतीक्ष्णैः ॥ ११ ॥
मन्दोदरीनेत्रजलैश्च लङ्का-
मभ्युक्ष्य वीरं हरिसूनुमग्रे ।
यः प्रेरयामास मदर्थमेव
स राघवो विश्वसुखप्रदोऽस्तु ॥ १२ ॥

'जिन्होंने समरभूमिमें महाबली रावण और कुम्भकर्णको, जो भूतलपर लंकापतिके नामसे विख्यात थे तथा जो मूर्तिमान् साक्षात् कालके (पाप) समान थे, अपने अत्यन्त पैने बाणोंसे विदीर्ण कर डाला तथा जिन्होंने मन्दोदरीके आँसुओंसे लंकाको सींचकर मेरे लिये वीरवर हनुमान्‌को सबसे पहले भेजा था, वे रघुनाथजी सारे विश्वको सुख प्रदान करनेवाले हों' ॥ ११-१२ ॥

एवं वदन्ती जनकात्मजासौ
प्रायात् त्रिमार्गां जनपापहन्त्रीम् ।
कल्लोलजालं गगने वितन्वतीं
पयोऽतिगौरं दधतीं पवित्रम् ॥ १३ ॥
जम्ब्वाम्रचम्पककुलिन्दपटाश्मसार-
खर्जूरपूगकदलीपनसाढ्यतीराम् ।
द्राक्षाफलस्तबकशोभितमण्डपालीं
सौवर्णकेतकवनावलिमुद्वहन्तीम् ॥ १४ ॥

यों कहती हुई जनकनन्दिनी सीताजी जनताके पापोंका विनाश करनेवाली त्रिपथगामिनी गङ्गाजीके तटपर आ पहुँचीं । उस समय गङ्गाजी अपने तरङ्ग-समूहोंको उछालकर आकाशमें फैला रही थीं, उनमें अत्यन्त उज्ज्वल जल बह रहा था, उनके तटपर जामुन, आम, चम्पा, चमेली, पट, अश्मसार, खजूर, सुपारी, केला और कटहलके वृक्षोंकी बहुतायत थी, अंगूरके गुच्छोंसे सुशोभित मण्डपोंकी कतार लगी हुई थी तथा सुनहरे केवड़ेका तो मानो जंगल ही लगा हुआ था ॥ १३-१४ ॥

तां देवलोकतटिनीं प्रसमीक्ष्य सीता
दृष्टा बभूव सफलं मम जन्म चैतत्।
रामस्य कीर्तिमिव शुभ्रतमां प्रवाहैः
पापानि सर्वजगतः खलु नाशयन्तीम्॥१५॥

जो श्रीरामकी निर्मल कीर्तिके समान थीं तथा अपनी जल-धारासे सम्पूर्ण जगत्के पापोंका विनाश कर रही थीं, उन देव-नदी गङ्गाको देखकर सीताजी अत्यन्त प्रसन्न हुईं और उन्होंने अपना जन्म सफल माना॥ १५ ॥

जैमिनिरुवाच

लक्ष्मणस्तु रथात् तस्मादवतीर्य यथा भुवम्।
नावं नाविकसंयुक्तामारुरोह तया सह ॥ १६ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! वहाँ लक्ष्मणजी उस रथसे पृथ्वीपर उतर पड़े और सीताजीको साथ लेकर एक नौका-पर जा चढ़े, जिसपर खेनेवाले मल्लाह भी बैठे थे ॥ १६ ॥

गङ्गायास्तटमासाद्य परं भयविवर्धनम्।
अवातरत् ततः सीता नावो लक्ष्मण एव च ॥ १७ ॥

तदनन्तर भयकी वृद्धि करनेवाले गङ्गाजीके दूसरे तटपर पहुँचकर सीता और लक्ष्मण उस नौकासे उतर पड़े ॥ १७ ॥

सौमित्रिर्जानकी चापि सस्नतुर्जाह्नवीजले।
परिधाय ततो वस्त्रे जग्मतुर्वनगह्वरम् ॥ १८ ॥
यस्मिन् धवाश्च खदिरा धात्र्यो बदरिकास्तथा।
बकुलाः पिप्पलाः शुष्काः कोटरैश्चोपलक्षिताः ॥ १९ ॥
कुशानां कण्टकास्तीक्ष्णास्तथा गोक्षुरकादयः।
निम्बाश्च बहवः सन्ति क्रूराः पक्षिगणास्तथा ॥ २० ॥
जीर्णबोधिद्रुमस्थाश्च काकाः क्रेङ्कारकारिणः।
तेषां कोटरमध्यस्थाः सर्पाः फूत्कारकारिणः ॥ २१ ॥
चित्तकारण्यमहिषाः सूकराः स्थूलदंष्ट्रिणः।
कृष्णाङ्गा ऊर्ध्वपुच्छाश्च वृश्चिका बहवस्तथा ॥ २२ ॥

वहाँ लक्ष्मण और सीता—दोनोंने गङ्गाजीके जलमें स्नान किया और शुद्ध वस्त्र पहिनकर ऐसे घने जंगलमें प्रविष्ट हुए, जिसमें धव, खैर, आँवले, बेर, मौलसिरी, कोटरोंसे ही उपलक्षित होनेवाले सूखे पीपल, कुशोंके तीखे काँटे, गोखुर और बहुत-से नीमके वृक्ष थे। जहाँ क्रूर पक्षियोंका दल निवास करता था। पुराने पीपलके वृक्षपर बैठकर कौए काँव-काँव कर रहे थे और उनके कोटरोंमें रहनेवाले सर्प फुफकार मार रहे थे। जहाँ चीते, जंगली भैंसे, स्थूल दाढ़ोंवाले सूअर तथा पूँछ (डंक) ऊपर उठाये हुए बहुत-से काले-काले बिच्छू थे॥ १८–२२॥

व्याघ्रा मृगगणं धर्तुं निश्चला योगिनो यथा।
बिडाला मूषकबिलं समाश्रित्य खनन्ति वै ॥ २३ ॥

व्याघ्र मृगोंको पकड़नेके लिये योगियोंकी भाँति निश्चल होकर ध्यान लगाये बैठे थे। बिलाव चूहोंके बिलोंपर बैठकर उसे खोद रहे थे ॥ २३ ॥

तथाविधं वनं दृष्ट्वा सीता रोमाञ्चिता बभौ।
यथा रामस्य कीर्तिस्त्री कण्टकैः परिवेष्टिता ॥ २४ ॥
सौमित्रिमब्रवीद् भीता दुर्निमित्तानि पश्यती।

ऐसे भयावने वनको देखकर सीताजीके रोंगटे खड़े हो गये, जिससे उस समय उनकी ऐसी शोभा हुई मानो श्रीराम-की कीर्तिरूपी स्त्री काँटोंसे घिरकर शोभित हो रही हो। उन अपशकुनोंको देखकर भयभीत हुई सीताजी लक्ष्मणसे बोलीं॥

सीतोवाच

सौमित्रे न च पश्यामि मुनीनामाश्रमानहम्।
पवित्रवेषास्ताः साध्वीर्न पश्यामि तपस्विनीः ॥ २५ ॥

सीताजीने कहा—सुमित्रानन्दन ! मैं न तो यहाँ ऋषियोंके आश्रम देख रही हूँ और न मुझे पवित्र वेष धारण करनेवाली सती-साध्वी मुनिपत्नियाँ ही दीख रही हैं ॥ २५ ॥

मौञ्जीकृष्णाजिनभृतो द्वादशाब्दाञ्छिखाभृतः।
ऋषिपुत्रान् न पश्यामि मुनीन् वल्कलवाससः ॥२६॥

मूँजकी मेखला और कृष्णमृगचर्म धारण करनेवाले शिखाधारी द्वादशवर्षीय ऋषि-कुमार तथा वल्कलको ही वस्त्ररूपमें पहिननेवाले मुनि भी दृष्टिगोचर नहीं हो रहे हैं ॥

नाग्निहोत्रोत्थितो धूमो दृश्यते भरतानुज।
सर्वतो दृश्यते चायं दावः काष्ठतृणं दहन् ॥ २७ ॥

भरतानुज ! अग्निहोत्रसे उठा हुआ धुआँ भी नहीं दीख रहा है; अपितु सब ओरसे काष्ठ और घास-फूसको भस्मसात् करता हुआ यह दावानल प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है ॥२७॥

न वेदध्वनिरत्रास्ति श्रूयते पक्षिणां रुतम्।
कथं वेदध्वनिः श्राव्यस्त्यजन्त्या रघुनन्दनम् ॥ २८ ॥

यहाँ वेदध्वनि भी नहीं हो रही है, बल्कि पक्षियोंकी बोली सुनायी पड़ती है। (परंतु मेरे लिये यह उचित ही है; क्योंकि) जब मैंने रघुनन्दनका परित्याग कर दिया है, तब मुझे वेदध्वनि कैसे सुननेको मिलेगी ?॥ २८ ॥

मयासौ रघुनाथश्च त्यक्तो बुद्ध्या ततो न हि ।
दृश्यन्ते मुनिपत्न्यस्ता मुनिपुत्रा मुनीश्वराः ॥ २९ ॥
पवित्रैरेव दृश्यन्ते पवित्राश्रमवासिनः ।

मैं तो किसीसे सलाह न लेकर केवल अपनी ही बुद्धिसे श्रीरामको छोड़कर चली आयी हूँ, इसी कारण मुझे उन मुनि-पत्नियों, ऋषिकुमारों तथा मुनीश्वरोंका दर्शन नहीं हो रहा है; क्योंकि शुद्धाचारी जन ही पवित्र आश्रमवासियोंको देख सकते हैं॥

मया रामपराङ्मुख्या पवित्राणि कुरूपया ॥ ३० ॥
कथं तान्यग्निहोत्राणि दृश्यन्ते वनवासिनाम् ।

मैं तो श्रीरामसे विमुख रहनेवाली और कुरूपा हूँ, तब मुझे वनवासियोंके वे पवित्र अग्निहोत्र कैसे दीख पड़ेंगे ॥

जैमिनिरुवाच

वचांसि तानि सौमित्रिः शृण्वन्नश्रूण्यमुञ्चत ॥३१॥
अधः पश्यन्नुवाचासौ लक्ष्मणो विह्वलो बहु ।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! सीताजीके उन वचनोंको सुनकर लक्ष्मण बहुत व्याकुल हो गये । उनके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह चली । तब वे नीची दृष्टि किये हुए ही बोले ॥ ३१½ ॥

लक्ष्मण उवाच

सीते स आश्रमो दूरे गम्यतां वै शनैः शनैः ॥३२॥
रामेण त्वं परित्यक्ता सत्यं लोकापवादतः ।
तवापि दोहदो जातो द्रष्टुं भागीरथीं नदीम् ॥ ३३ ॥
मामसौ प्रेरयामास त्वां हातुं गहने वने ।
किं करोम्यवशो मातर्भ्रातुस्तस्य वचोहरः ॥ ३४ ॥

लक्ष्मणजीने कहा—सीते ! वह आश्रम अभी दूर है । धीरे-धीरे वहाँ चलना । परंतु सत्य बात तो यह है कि लोकापवादके कारण श्रीरामने तुम्हारा परित्याग कर दिया है । उधर तुम्हारे मनमें भी इस गर्भकालमें गङ्गा नदीका दर्शन करनेकी इच्छा उत्पन्न हो गयी । इसलिये उन्होंने तुम्हें घोर वनमें छोड़ आनेके लिये मुझे भेजा है । मातः ! मैं क्या करूँ ? मैं तो अपने उन ज्येष्ठ भ्राताकी आज्ञाका पालन करनेवाला हूँ, अतः परवश हूँ ॥ ३२—३४ ॥

इति तस्य वचः श्रुत्वा पपात धरणीतले ।
मूर्च्छिता जानकी तस्मिन्नम्बराद् रोहिणी यथा ॥३५॥

लक्ष्मणकी ऐसी बात सुनकर जानकीजी आकाशमण्डलसे गिरती हुई रोहिणीकी भाँति मूर्च्छित होकर वहाँ भूतलपर गिर पड़ीं ॥ ३५ ॥

छिन्नमूला यथा वल्ली गृष्टिः शूलाभिपीडिता ।
कुमारी सर्पदष्टेव तद्वत् सा भूतलेऽपतत् ॥ ३६ ॥

जैसे जड़से कटी हुई लता, प्रसवशूलसे पीडित प्रथम बार ब्यानेवाली गौ और सर्पसे डँसी हुई कुमारी कन्या तत्काल पृथ्वीपर गिर पड़ती है, उसी तरह सीताजी भूतलपर पड़ी थीं ॥ ३६ ॥

ततस्तां लक्ष्मणस्त्रस्तो वस्त्रान्तेनाभ्यवीजयत् ।
हस्तेनैकेन च च्छायां कुर्वंश्च मुखपङ्कजे ॥ ३७ ॥

सीताजीको मूर्च्छित देखकर लक्ष्मणजी उद्विग्न हो गये । उस समय वे एक हाथसे उनके मुखकमलपर छाया करते हुए दूसरे हाथद्वारा वस्त्रके छोरसे उनपर हवा करने लगे ॥

उवाच यदि रामस्य साक्षात् सेवा कृता मया ।
तर्हीयं जानकी शीघ्रं समुत्तिष्ठतु तादृशी ॥ ३८ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने कहा—'यदि मैंने श्रीरामकी साक्षात् (सच्ची) सेवा की हो तो ये जानकीजी पहलेकी तरह (स्वस्थ-रूपमें) शीघ्र ही उठ बैठें' ॥ ३८ ॥

इत्येवं वदतस्तस्य चेतनां लभते स्म सा ।
नेत्रे समुन्मिलन्ती वै लक्ष्मणं ददृशे पुरः ॥ ३९ ॥

लक्ष्मणजीके ऐसा कहते ही सीताजीमें चेतना लौट आयी । उन्होंने आँखें खोलकर देखा तो लक्ष्मणको आगे खड़ा पाया ॥ ३९ ॥

अवोचत शनैरेव मां त्यक्त्वा गहने वने ।
कथं यास्यसि सौमित्रे जनस्थाने यथा पुरा ॥ ४० ॥

तब वे धीरेसे कहने लगीं—'सौमित्रे ! जैसे पहले तुमने मुझे जनस्थानमें अकेली छोड़ दिया था, उसी तरह इस गहन वनमें मुझे त्यागकर तुम कैसे जा सकोगे ? ॥ ४० ॥

देवराणां देवरस्त्वं मम पूज्यतमो मतः ।
त्वयाहं दण्डके त्राता विराधाङ्कगता पुरा ॥ ४१ ॥

'मैं तुम्हें अपने देवरोंमें सबसे श्रेष्ठ समझती हूँ । पहले वनवासके समय दण्डकारण्यमें जब राक्षस विराधने मुझे अपनी गोदमें उठा लिया था, उस समय तुमने मेरी रक्षा की थी ॥४१॥

फलमूलाम्बुभिः शुद्धैः परिचर्या कृता त्वया ।
पर्णशाला विचित्रास्ता मदर्थमुपकल्पिताः ॥ ४२ ॥

'उस समय तुमने शुद्ध फल, मूल और जल लाकर सब तरहसे मेरी सेवा की थी और तुम्हीं मेरे लिये जगह-जगह पर्णकुटी भी तैयार करते थे॥ ४२ ॥

इदानीं त्वदृते तास्ताः कः करिष्यति लक्ष्मण ।
अग्रतः पाति रामो मां पृष्ठतस्तु भवान् वने ॥ ४३ ॥

'लक्ष्मण ! इस समय तुम्हारे बिना कौन उन-उन सेवाओं-को करेगा ? उस समय वनमें आगेसे श्रीराम और पीछेसे तुम मेरी रक्षा करते थे ॥ ४३ ॥

हा दुःखं तु मया प्राप्तं रामो मां विजहौ यतः ।
अपराधादृते वीरो राजा राजीवलोचनः ॥ ४४ ॥

'हाय ! अब तो मैं बड़े कष्टमें पड़ गयी; क्योंकि कोई अपराध न होनेपर भी कमलनयन वीरवर महाराज रामने मेरा परित्याग कर दिया है ॥ ४४ ॥

मनसा कर्मणा वाचा नापराध्यामि तं पतिम् ।
सदा तच्चरणौ चित्ते चिन्तयामि मनोरमौ ॥ ४५ ॥

'फिर भी मैं मन, वचन और कर्मसे अपने उन पतिदेवका कोई अपराध नहीं करूँगी और सदा अपने मनमें उनके मनोहर चरणोंका ध्यान करती रहूँगी ॥ ४५ ॥

मुखं पद्मविशालाक्षं निर्मलं चन्द्रबिम्बवत् ।
चारुदंष्ट्रं श्मश्रुलं च कुण्डलाभ्यां सुशोभितम् ॥४६॥
मुक्तामाणिक्ययुक्तेन किरीटेनोपलक्षितम् ।
द्रक्ष्यामि रामस्य कथं पतिता गहने वने ॥ ४७ ॥

'परंतु इस घोर वनमें पड़ी हुई मैं श्रीरामके उस मुखका दर्शन कैसे कर पाऊँगी, जो कमल-सदृश विशाल नेत्रोंवाला, चन्द्रमण्डल-सदृश निर्मल, सुन्दर दाँतों और मूँछसे युक्त, कुण्डलोंसे सुशोभित और मुक्तामाणिक्यजटित मुकुटसे उप-लक्षित होनेवाला है ? ॥ ४६-४७ ॥

काकपक्षधरः पूर्वं रामः कौशिकसंयुतः ।
आगतो मिथिलां पूर्णस्त्वया सह महामते ॥ ४८ ॥
त्रैयम्बकं द्विधा चक्रे परिणेतुं च मां धनुः ।
मदर्थे वानरैः सार्द्धं सख्यं यो व्यदधाद् रघुः ॥ ४९ ॥
मद्वियोगे सति पुरा वृक्षानालिङ्गति स्म यः ।
स रामो व्यजहात् सीतां दैवमेव हि कारणम् ॥ ५० ॥

'महामते ! जो काकपक्ष (काकुल) धारण करनेवाले सर्वथा परिपूर्ण श्रीराम विश्वामित्रसहित तुम्हें साथ लेकर पहले मिथिलापुरीमें पधारे और वहाँ मेरे साथ विवाह करनेके लिये जिन्होंने शंकरजीके पिनाकको तोड़कर दो टुकड़े कर दिये, जिन रघुनाथजीने मेरे लिये वानरोंके साथ मित्रता जोड़ी तथा मेरे वियोगके समय जिन्होंने प्रेमविह्वल होकर वृक्षोंका आलिङ्गन किया था, उन्हीं श्रीरामने यदि मुझ सीताका परित्याग कर दिया तो इसमें दैवकी ही प्रेरणा है ॥ ४८–५० ॥

न दोषस्तस्य रामस्य ममायमिति चिन्तये ।
अथवा प्राक्तनानां हि विपाको मम कर्मणाम् ॥ ५१ ॥

'इसमें उन श्रीरामका कोई दोष नहीं है, सारा अपराध तो मेरा ही है; अथवा मैं तो ऐसा समझती हूँ कि यह मेरे पूर्वजन्मके कर्मोंका दुष्परिणाम है ॥ ५१ ॥

लक्ष्मण त्वं महाबाहो निर्दोषश्चैव राघवः ।
अयोध्यां गच्छ शीघ्रं त्वं यतो हि परवानसि ॥ ५२ ॥

'लक्ष्मण ! इसमें तुम तथा श्रीरघुनाथजी—दोनों ही निर्दोष हैं । महाबाहो ! अब तुम शीघ्र ही अयोध्याको लौट जाओ; क्योंकि तुम तो पराधीन हो ॥ ५२ ॥

यो गर्भे रक्षिता देवो यो वै लङ्काधिवासिनीम् ।
मां स वै रक्षिता चाद्य न दुःखं कर्तुमर्हसि ॥ ५३ ॥

'जिन भगवान्ने गर्भमें मेरी रक्षा की थी तथा जो लंकामें रहते समय मेरे रक्षक थे, वे ही इस समय भी मेरी रक्षा कर लेंगे । अब तुम्हारा दुःख करना उचित नहीं है ॥५३॥

लक्ष्मण त्वं महाबाहो श्वश्र्वं विज्ञापनं कुरु ।
युष्माकं चरणौ नित्यं चिन्तयामि वनेचरा ॥ ५४ ॥

'महाबाहु लक्ष्मण ! तुम जाकर मेरी ओरसे मेरी साससे निवेदन करना कि वनमें विचरती हुई भी मैं नित्य आपके चरणोंका ध्यान करती रहूँगी ॥ ५४ ॥

ससत्त्वाहं वने त्यक्ता रामेणापि विजानता ।
इत्येवं विलपन्ती सा जानकी गहने वने ॥ ५५ ॥
पुनरेव शुभाचारा लक्ष्मणं वाक्यमब्रवीत् ।

'इस समय मैं गर्भवती हूँ । इस बातको श्रीराम भी जानते हैं; फिर भी उन्होंने मुझे वनमें त्याग दिया है ।' शुभ आचरण-वाली जानकीजी उस गहन वनमें यों विलाप करती हुई पुनः लक्ष्मणजीसे कहने लगीं ॥ ५५½ ॥

सीतोवाच

व्यापारेऽस्मिन् कथं रामस्त्वां कृपालुमयोजयत् ॥५६॥

प्रेरणीयः स सुग्रीवः कठिनो भ्रातृघातकः।
विभीषणो वा बलवान् रावणद्रोहकारकः॥५७॥
यो यत्र विषये दक्षः स तत्र विनियोज्यते।
वृथा त्वां प्रेरयामास त्यागे मम रघूद्वहः।

सीताजी बोलीं—लक्ष्मण! श्रीरामने तुम-जैसे दयालु-स्वभावको इस निर्दय कार्यमें कैसे लगा दिया? उन्हें तो ऐसे अवसरपर भाईका वध करानेवाले कठोरहृदय सुग्रीवको अथवा अपने भाई रावणसे द्रोह करनेवाले बलवान् विभीषण-को भेजना चाहिये था; क्योंकि जो जिस विषयमें कुशल होता है, उसे उसी कार्यमें नियुक्त किया जाता है; अतः रघुनाथजीने मेरे परित्यागरूपी कार्यमें तुम्हें व्यर्थ ही लगाया॥५६-५७½॥

गच्छ लक्ष्मण भद्रं ते स्वां पुरीं रामपालिताम्॥५८॥
मार्गे क्षेमं भवतु ते भ्राता ते कुप्यते रघुः।

लक्ष्मण! तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम श्रीरामद्वारा सुरक्षित अपनी अयोध्यापुरीको लौट जाओ; अन्यथा देर होने-पर तुम्हारे भाई रघुनाथजी रुष्ट हो जायँगे। जाओ, तुम्हारा मार्ग मङ्गलमय हो॥५८½॥

इति तस्या वचः श्रुत्वा सौमित्रिर्दुःखितो भृशम्॥५९॥
प्रदक्षिणीकृत्य तदा नमश्चक्रेऽप्यवाङ्मुखः।
गच्छन्नुवाच सौमित्रिस्त्वां मातर्वनदेवताः॥६०॥
रक्षन्तु विपिने चास्मिन्नेष गच्छामि तद्वशः।
निर्ययौ लक्ष्मणो वीरः पश्यंस्तां जनकात्मजाम्॥६१॥
पादौ न चलतस्तस्य कृच्छ्रेण महता ययौ।

सीताजीका कथन सुनकर उस समय लक्ष्मणको महान् कष्ट हुआ। उन्होंने नीचे मुख किये हुए ही उनकी परिक्रमा करके उन्हें प्रणाम किया और फिर चलनेके लिये उद्यत हो-कर बोले—'मातः! इस वनमें वनदेवता आपकी रक्षा करें। रघुनाथका वशवर्ती मैं अब चलता हूँ।' यों कहकर शूरवीर लक्ष्मण जानकीजीकी ओर निहारते हुए चल पड़े; परंतु उनके पैर आगेको उठते ही न थे। वे बड़ी कठिनाईसे आगे बढ़े॥५९–६१½॥

पश्यती जानकी मूर्तिं लक्ष्मणस्यापि निश्चला॥६२॥
न ददर्श तदा तं तु निपपात धरातले।
मूर्च्छिता जानकी तत्र मुहूर्तं स्मावतिष्ठति॥६३॥

इधर जानकीजी भी ठगी-सी होकर लक्ष्मणकी मूर्तिकी ओर देखती रहीं। जब वे आँखोंसे ओझल हो गये, तब सीताजी मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ीं और दो घड़ीतक वहाँ उसी अवस्थामें पड़ी रहीं॥६२-६३॥

अथैत्य वीरः सौमित्रिस्तीर्त्वा भागीरथीं ययौ।
एकाकिनी वने बाला विललाप मृगी यथा॥६४॥

तत्पश्चात् वीरवर लक्ष्मण गङ्गातटपर आये और गङ्गाजीको पारकर अयोध्याको चल दिये। (मूर्च्छा-भंग होनेपर) सुन्दरी सीता वनमें अपनेको अकेली पाकर मृगीकी भाँति विलाप करने लगीं—॥६४॥

हा पापं किं मया चीर्णं यत् त्यक्ता गहने वने।
जनकस्य कुले जाता दत्तास्मि राघवे पुरा॥६५॥
दिशोऽवलोकयामास शून्याश्च विदिशस्तथा।
आगमिष्यति चैवायं लक्ष्मणोऽपि हसेच्च किम्॥६६॥
पुनर्मूर्च्छामवाप्यासौ जानकी भयविह्वला।

'हाय! मैंने पूर्वजन्ममें कौन-सा ऐसा पाप किया था, जिसके फलस्वरूप मैं इस घोर वनमें त्याग दी गयी? मैं महाराज जनकके कुलमें उत्पन्न हुई हूँ और रघुवंशी श्रीरामके साथ मेरा विवाह हुआ है।' ऐसा कहकर जब उन्होंने दिशाओं और विदिशाओंकी ओर दृष्टिपात किया, तब वे सभी सूनी दिखायी पड़ीं। (तब वे मनमें विचारने लगीं कि) क्या वे लक्ष्मण पुनः लौट आयेंगे? क्या उन्होंने मेरे साथ परिहास किया है? तदनन्तर भयसे व्याकुल होकर जानकीजी पुनः मूर्च्छित हो गयीं॥६५-६६½॥

तद्दुःखदुःखिता हंसा रुदन्ति क्रूरनिस्वनम्॥६७॥
मृणालानि परित्यज्य तदद्भुतमिवाभवत्।

तब सीताजीके दुःखसे दुःखित होकर हंस कमल-नालका परित्याग करके क्रूर स्वरसे चीत्कार करने लगे। यह एक अद्भुत-सी घटना हुई॥६७½॥

तृणाङ्कुरं विहायाशु सीतां पश्यन्ति तादृशीम्॥६८॥
एणशावा हरिण्यश्च कृष्णसारा विशेषतः।

मृगशावक, हरिणियाँ तथा विशेषकर कृष्णसार मृग शीघ्र ही तृण चरना छोड़कर मूर्च्छित पड़ी हुई सीताजीकी ओर देखने लगे॥६८½॥

मयूरा नृत्यमुत्सृज्य तस्मिन् काले प्रधाविताः॥६९॥
शकुन्ता विजहुर्भक्षं छायां पक्षैः स्म कुर्वते।
जलस्थाः पक्षिणश्चाभिसिषिचुर्जनकात्मजाम्॥७०॥

उस समय मयूर नाचना छोड़कर सीताजीकी ओर दौड़ पड़े । पक्षियोंने चारा चुगना बंद कर दिया और वे अपने डैने फैलाकर जानकीजीपर छाया करने लगे तथा जलमें रहनेवाले पक्षी अपने पंखोंके जलसे उन्हें सींचने लगे ॥६९-७०॥

चमर्यः पुच्छचमरैर्वीजयन्ति स्म जानकीम् ।
अथ भागीरथीतीरे स्नातः पुष्पाण्युपाहरन् ॥ ७१ ॥
अर्चयामास पवनः सीतां सौगन्ध्यसंयुतः ।
तदा स्थिता विशालाक्षी राम रामेति भाषिणी ॥७२॥

चमरी गायें अपने पूँछरूपी चवँरोंसे उनपर हवा करने लगीं । पवनदेव गङ्गाजीमें स्नान करके तटपर पड़े हुए पुष्पोंको अपने साथ उड़ाकर उनकी सुगन्धसे सुवासित हो सीताजीका पूजन-सत्कार करने लगे । तब विशाल नेत्रोंवाली सीताजी 'राम-राम' कहती हुई उठ बैठीं ॥ ७१-७२ ॥

विचेष्टन्ती मुक्तकेशा भूमौ पांसुभिरावृता ।
यदि प्राणानिमान् हास्ये भ्रूणहत्या भविष्यति ॥ ७३ ॥
किं करोमि क्व गच्छामि को मे त्राता भविष्यति ।
इतस्ततो धावमाना स्खलन्ती च पदे पदे ।
कुशानां कण्टकास्तीक्ष्णाः पादयोराचरन् व्यथाम् ७४

उस समय पृथ्वीपर छटपटानेके कारण उनके केश खुल गये थे और वे धूलमें सन गयी थीं । (फिर वे विचारने लगीं—) 'यदि मैं इन प्राणोंको छोड़ दूँ तो मुझे भ्रूणहत्याका पाप लगेगा । क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? कौन मेरा रक्षक होगा ?' यों सोचती हुई वे इधर-उधर दौड़ रही थीं और पग-पगपर लड़खड़ाकर गिर पड़ती थीं । कुशोंके तीखे काँटे उनके दोनों पैरोंमें चुभकर पीड़ा दे रहे थे ॥ ७३-७४ ॥

सुस्रुवे रुधिरं पद्भ्यां वैदेह्या भरतर्षभ ।
एवं दुःखातुरा बाला वर्तते स्म तदा वने ॥ ७ ॥

भरतर्षभ ! उस समय जानकीजीके दोनों चरणोंसे खून टपक रहा था । इस प्रकार दुःखसे आतुर हुई सुन्दरी सीता उस समय वनमें भटक रही थीं ॥ ७५ ॥

तावत् स धीमान् बहुभिः समावृतो
वाल्मीकिरुग्रैश्च तपोभिरीडितः ।
यूपानथ च्छेदयितुं मखार्थं
समागतस्तां ददृशे विषण्णाम् ॥ ७६ ॥

तबतक उग्र तपस्या करनेवाले तपस्वियोंद्वारा सम्मानित परम बुद्धिसम्पन्न महर्षि वाल्मीकि अपने बहुत-से शिष्योंके साथ यज्ञके निमित्त यूप-काष्ठ काटनेके लिये उधर ही आ निकले । तब उनकी दृष्टि उस दुखिया सीतापर पड़ी ॥ ७६ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि कुशलवोपाख्याने वाल्मीकिसमागमो नामाष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

इस प्रकार जैमिनीय अश्वमेधपर्वमें कुशलवोपाख्यानके प्रसंगमें वाल्मीकिका आगमननामक अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२८॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

कुशलवोपाख्यान सीताका महर्षि वाल्मीकिके साथ आश्रमपर जाना, वहाँ दो पुत्रोंको जन्म देना, वाल्मीकि मुनिका उन पुत्रोंका संस्कार करके उन्हें साङ्ग वेद तथा रामचरित्रकी शिक्षा प्रदान करना, मुनियोंद्वारा उन्हें अस्त्रदान, श्रीरामका अश्वमेध यज्ञके लिये घोड़ा छोड़ना, आश्रममें जानेपर लवद्वारा उसका पकड़ा जाना

जैमिनिरुवाच

वाल्मीकिस्तां ततो दृष्ट्वा विषण्णां दीनचेतसम् ।
तपःसिद्धिमिव क्लिन्नां स्वकीयामनवेक्षणात् ॥ १ ॥
उवाच का त्वं कल्याणि पुत्री कस्य परिग्रहः ।
कस्मादस्मिन् वने शून्ये तिष्ठसे विस्तराद् वद ॥ २ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर महर्षि वाल्मीकिने उपेक्षाके कारण क्षीण हुई अपनी तपःसिद्धिकी भाँति सीताजीको दीन-दुखी तथा विषादग्रस्त देखकर उनसे पूछा—'कल्याणि ! तुम कौन हो ? किसकी कन्या एवं किसकी पत्नी हो ? और इस निर्जन वनमें किसलिये आयी हो ? यह सब विस्तारपूर्वक मुझे बताओ' ॥ १-२ ॥

ततः सीता नमस्कृत्य प्रोवाचातीव दुःखिता ।
सुता वै जनकस्याहं स्नुषा दशरथस्य च ॥ ३ ॥

तब अत्यन्त दुःखकी मारी हुई सीताजी उन्हें प्रणाम करके कहने लगीं—'मुने ! मैं राजा जनककी पुत्री और महाराज दशरथकी पुत्रवधू हूँ ॥ ३ ॥

रामस्य भार्या भूदेव सदा पतिपरायणा ।
त्यक्तास्मि तेन रामेण न जाने केन हेतुना ॥ ४ ॥
वाल्मीकिस्तां समाश्वास्य प्रोवाच वचनं शुभम् ।

'सदा पति-सेवामें तत्पर रहनेवाली श्रीरामकी पत्नी हूँ । भूदेव! न जाने किस कारणसे उन श्रीरामने मेरा परित्याग कर दिया है ।' यह सुनकर महर्षि वाल्मीकि सीताजीको भली-भाँति आश्वासन देकर शुभ वचन बोले ॥ ४½ ॥

वाल्मीकिरुवाच

सीते लभस्व पुत्रौ द्वौ मा शोकं कुरु सुव्रते ।
वाल्मीकिरिति नामाहं मुनिर्जनकपूजितः ॥ ५ ॥
प्राप्ताऽऽश्रमं मे रुचिरं पत्रपुष्पफलावृतम् ।
पर्णशालां विधास्यामि त्वदर्थं वरवर्णिनि ॥ ६ ॥
यत्र प्रसूतिर्भविता रुचिरा तव जानकि ।

महर्षि वाल्मीकिने कहा—सुव्रते ! मैं वही वाल्मीकि नामक ऋषि हूँ, जिनका तुम्हारे पिता जनक आदर-सत्कार करते थे । अब तुम मेरे पत्र, पुष्प और फलसे सम्पन्न रमणीय आश्रममें आ गयी हो, अतः शोक करना छोड़ दो । सीते ! यहाँ तुम्हें दो पुत्रोंकी प्राप्ति होगी । सुन्दर वर्णवाली जानकि ! मैं तुम्हारे लिये पर्णकुटीकी व्यवस्था कर दूँगा, जिसमें तुम्हारी सुन्दर संतान उत्पन्न होगी ॥ ५-६½ ॥

मुनेस्तद् वचनं श्रुत्वा हर्षिता जनकात्मजा ॥ ७ ॥
निदाघार्ता मयूरीव श्रुत्वा वै घननिस्वनम् ।
बाढमित्येवमुक्त्वा सा प्रययौ पृष्ठतो मुनेः ॥ ८ ॥

तब जैसे ग्रीष्म ऋतुके तापसे संतप्त हुई मयूरी बादलोंकी गर्जना सुनकर प्रसन्न होती है, उसी तरह मुनिका वह वचन सुनकर जानकी आनन्दमग्न हो गयीं और 'बहुत अच्छा' यों कहकर मुनिके पीछे-पीछे चलने लगीं ॥ ७-८ ॥

तया सह महाभागो वाल्मीकिः प्राप चाश्रमम् ।
यस्मिन् व्याघ्राश्च सिंहाश्च गोभिः क्रीडन्ति हर्षिताः ९

तत्पश्चात् महाभाग वाल्मीकिजी सीताको साथ लिये हुए अपने उस आश्रममें जा पहुँचे, जहाँ व्याघ्र और सिंह हर्षपूर्वक गौओंके साथ क्रीडा करते थे ॥ ९ ॥

बिडालास्येषु लीयन्ते मूषकाः स्वबिले यथा ।
नकुला उरगाश्चैव मयूरा यत्र रेमिरे ॥ १० ॥

चूहे बिलावोंके मुखोंमें उसी प्रकार जा छिपते थे, मानो अपने बिलमें जा रहे हों । जहाँ नेवले, सर्प और मयूर एक साथ खेलते थे ॥ १० ॥

रमन्ते स्म मृगैः सार्धं चित्रकास्त्यक्तमत्सराः ।
सरसीषु विचित्रासु बको मत्स्यान्न हन्ति हि ॥ ११ ॥

चीते मत्सरताका त्याग करके मृगोंके साथ विचरते थे । मनोहर बावड़ियोंमें बगुले मछलियोंका वध नहीं करते थे ॥ ११ ॥

सा चैनमाश्रमं दृष्ट्वा वाल्मीकेस्तांस्तपोधनान् ।
ऋषिभार्याः शुभाचारा ऋषिपुत्रांश्च शोभनान्॥ १२ ॥
हर्षेण महताविष्टा ननमश्चक्रे पुनः पुनः ।
ताभिस्तैश्च प्रयुक्ताशीर्जानकी शुभलक्षणा ॥ १३ ॥

सीताजी महर्षि वाल्मीकिके उस आश्रमको, वहाँके निवासी तपस्वियोंको, शुभ आचरणवाली ऋषिपत्नियोंको तथा शोभायमान ऋषिकुमारोंको देखकर परम प्रसन्न हुईं और उन्होंने उन सबको बारंबार नमस्कार किया । तब उन ऋषियों, ऋषिकुमारों तथा ऋषिपत्नियोंने शुभलक्षणा जानकीको शुभाशीर्वाद दिया ॥ १२-१३ ॥

कल्पितां मुनिपुत्रैश्च पर्णशालामुपाविशत् ।
दत्तानि मुनिपत्नीभिः फलानि बुभुजे पयः ॥ १४ ॥
पीत्वा सुनिर्मलं तस्यां शालायां सा स्म तिष्ठति ।
नौति स्म चरणौ नित्यं वाल्मीकेः शृणुते कथाः ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् सीताजी मुनिकुमारोंद्वारा निर्मित एक पर्णकुटीमें बैठ गयीं । वहाँ उन्होंने मुनिपत्नियोंद्वारा दिये गये फलोंका भोजन किया और अत्यन्त निर्मल जल-पान करके वे उसी कुटियामें रहने लगीं । वे प्रतिदिन महर्षि वाल्मीकिके चरणोंमें प्रणाम करतीं और तरह-तरहकी कथाएँ सुना करती थीं ॥ १४-१५ ॥

एवं तस्मिन् वसन्त्याश्च सीताया ह्यगमन्नव ।
मासा गर्भस्य वाल्मीकेराश्रमे फलितद्रुमे ॥ १६ ॥

इस प्रकार वाल्मीकि मुनिके उस फलोंसे लदे हुए वृक्षोंवाले आश्रममें निवास करती हुई सीताजीके गर्भके नौ मास व्यतीत हो गये ॥ १६ ॥

अतीते नवमे मासे जानकी सुषुवे यमौ ।
निशीथे सुमुहूर्ते च मुनिपत्न्यो विचक्षणाः ॥ १७ ॥
तत्रत्यमुपचारं तु कल्पयामासुरागताः ।
गायन्ति गीतं हर्षेण सीतेयं सुषुवे यमौ ॥ १८ ॥

तब नवाँ मास बीतनेपर जानकीने आधी रातके समय सुन्दर मुहूर्तमें दो जुड़वें पुत्रोंको जन्म दिया । उस समय प्रसूतकर्ममें कुशल मुनिपत्नियोंने आकर वहाँके सभी उपचार सम्पन्न किये। वे आनन्दमें भरकर गान कर रही थीं कि 'सखि री ! सीताने इस काल । जनम दिये दो जुड़वें लाल' ॥ १७-१८ ॥

अनयोः प्रभया वेश्म दीप्तमासीत् समन्ततः ।
दिशस्तु विमला जाता ववौ वातोऽतिसौरभः ॥१९॥
प्रदक्षिणार्चिस्तत्रासौ व्यशोभत हुताशनः ।
अतः शिष्याः प्रधावन्ति वाल्मीकिं प्रति शंसितुम् ॥२०॥

उन दोनों शिशुओंकी अङ्गकान्तिसे वह कुटिया चारों ओरसे प्रकाशित हो उठी । दिशाएँ निर्मल हो गयीं । अत्यन्त सुगन्धित वायु चलने लगी । वहाँ अग्निदेव भी अपनी ज्वाला-ओंको दक्षिणावर्त फैलाते हुए सुशोभित होने लगे । तब शिष्यगण महर्षि वाल्मीकिको इसकी सूचना देनेके लिये दौड़े ॥ १९-२० ॥

असूत पुत्रौ भो ब्रह्मन् जानकी विस्मयो महान् ।
ततो मुनिः कुशान् रम्याँल्लवान् मुष्टिमितान् दधत् २१
आगतो यत्र तौ बालौ दृष्ट्वा हर्षसमन्वितः ।
तावभ्यषिञ्चद् दर्भैश्च लवैः सार्धं मुनिस्तदा ॥ २२ ॥

वहाँ पहुँचकर उन्होंने कहा—'भो ब्रह्मन् ! महान् आश्चर्यकी बात हुई कि जानकीने दो पुत्रोंको जन्म दिया है।' तब वाल्मीकि मुनि एक मुट्ठी सुन्दर कुश तथा (कुशोंका ही एक भेद) लव हाथमें लिये हुए उस स्थानपर आये, जहाँ वे दोनों बच्चे थे । उन्हें देखकर वे आनन्दमग्न हो गये । तत्पश्चात् मुनिने उन कुशों और लवोंके जलसे उन दोनों शिशुओंका अभिषेक किया ॥ २१-२२ ॥

तन्नामानौ मुनिश्चक्रे कुशो लव इति स्वयम् ।
दिने दिने वर्धमानौ चन्द्रसूर्याविवोदितौ ॥ २३ ॥

फिर स्वयं मुनिने ही उन दोनोंका 'कुश और लव' ऐसा नामकरण किया । वे दोनों शिशु उदित हुए सूर्य और चन्द्रमाकी भाँति प्रतिदिन बढ़ने लगे ॥ २३ ॥

जातकर्मादिकं सर्वं चक्रे स ऋषिसत्तमः ।
द्वादशाब्दे ततो मौञ्जीबन्धनं व्यदधात् तयोः ॥ २४ ॥

उन मुनिश्रेष्ठने उन दोनोंके जातकर्म आदि सभी संस्कार सम्पन्न किये । तत्पश्चात् बारहवाँ वर्ष आनेपर उन्होंने उनका मौञ्जीबन्धन (यज्ञोपवीत) संस्कार भी पूर्ण किया ॥ २४ ॥

प्रार्थयित्वा कामधेनुं वसिष्ठान्मुनिपुङ्गवः ।
वाल्मीकिर्भोजयामास ब्राह्मणान् वनवासिनः ॥ २५ ॥

उस अवसरपर मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकि वसिष्ठजीसे उनकी कामधेनु गौको माँग लाये और उसके सहारेसे वे वनवासी ब्राह्मणोंको भोजन कराने लगे ॥ २५ ॥

कामधेनोः सकाशाद्धि भक्तः प्रादुरभूच्छुभः ।
सूपं विचित्रं मुद्गानां शाकाश्च विविधा अपि ॥ २६ ॥

कामधेनुकी कृपासे वहाँ उज्ज्वल वर्णके भात, विचित्र ढंगसे बनी हुई मूँगकी दाल और अनेक प्रकारके शाक प्रकट हो गये ॥ २६ ॥

चन्द्रबिम्बसमा जाताः पूपाः शतसहस्रशः ।
पूरिका घृतपक्काश्च शतच्छिद्रा उदुम्बराः ॥ २७ ॥

घीमें पके हुए चन्द्रमण्डलके समान सैकड़ों-हजारों पूए, पूरियाँ और सैकड़ों छिद्रोंवाले मिष्टान्न तथा गूलरके आकारकी मिठाइयाँ भी प्रकट हुईं ॥ २७ ॥

फलान्यमृतकल्पानि प्रादुर्भूतानि धेनुतः ।
करञ्जिका मोदकाश्च तथा वै सूत्रकोद्भवाः ॥ २८ ॥
निस्तुषाणां तिलानां च नारिकेलसमुद्भवाः ।
चारबीजोद्भवा वृक्षनिर्यासकृतबन्धनाः ॥ २९ ॥

उस कामधेनुसे अमृत-तुल्य फल, करंजिका और अनेक प्रकारके मोदक भी प्रकट हुए । उन लड्डुओंमें कुछ तो सूत्रकसे बने हुए थे, कुछ भूसीरहित तिलके, कुछ नारियल-के, कुछ चारबीजके और कुछ वृक्षोंकी गोंदसे बँधे हुए थे२८-२९

फेणिकाश्चन्द्रबिम्बाभाः सहस्रपुटसंयुताः ।
पर्पटा माषसम्भूतास्तथा तण्डुलचूर्णजाः ॥ ३० ॥

उन भोज्य पदार्थोंमें सहस्रों पुटोंसे संयुक्त एवं चन्द्रबिम्ब-के समान उज्ज्वल फेणिकाएँ भी थीं । उड़द तथा चावलके चूर्णसे बने हुए पापड़ भी थे ॥ ३० ॥

एवंविधानि चान्नानि पक्वान्नानि ददाति गौः ।
तेन चान्नेन वाल्मीकिस्तर्पयामास तान् जनान् ॥ ३१ ॥

वह गौ ऐसे-ऐसे अन्न और पकवान प्रदान कर रही थी। उस अन्नसे महर्षि वाल्मीकिने उन सभी वनवासी मनुष्योंको तृप्त किया॥ ३१॥

ततः कृतोपनयनावागतौ द्वौ कुमारकौ।
अध्यैषातां शिशू वेदं साङ्गं वाल्मीकिनोदितम्॥ ३२॥

तदनन्तर जब उन दोनों कुमारोंका उपनयन-संस्कार सम्पन्न हो गया, तब वे बच्चे महर्षि वाल्मीकिके पास आये और उनके मुखसे अङ्गोंसहित वेदोंका अध्ययन करने लगे॥ ३२॥

तस्माद् रामचरित्रं तज्जगतुर्मधुरस्वनौ।
लवस्तालधरश्चासीद् वीणाहस्तः कुशो जगौ॥ ३३॥

फिर उन्हीं महर्षिसे रामचरित्रकी शिक्षा पाकर वे दोनों मधुर स्वरसे उसका गान करने लगे। उनमें लव ताल लगानेवाला था और कुश हाथमें वीणा लेकर गाता था॥ ३३॥

आलापैर्गगनं सर्वं व्याप्नुतां शृण्वतां मनः।
ततस्ते मुनयो हृष्टाः साधु साध्विति चाब्रुवन्॥ ३४॥

वे अपने मधुर आलापोंसे सम्पूर्ण आकाश तथा सुननेवालोंके मनको भी व्याप्त कर लेते थे। तब वे सभी मुनि प्रसन्न होकर उन्हें साधुवाद देने लगे॥ ३४॥

धनुषी प्रददौ धीमान् वाल्मीकिः सगुणे दृढे।
इषुधी चाक्षयौ रैभ्यस्ताभ्यां तस्य मुनेः सखा॥३५॥

तदनन्तर बुद्धिमान् वाल्मीकिजीने उन दोनों कुमारोंको प्रत्यञ्चासहित दो सुदृढ़ धनुष तथा उन मुनिके सखा महर्षि रैभ्यने दो अक्षय तरकस प्रदान किये॥ ३५॥

तपोधनास्ततः सर्वे ह्यस्त्रग्रामं तयोर्ददुः।
तपोबलेन ते सर्वे मुनयः प्रददुः शरान्॥ ३६॥

तत्पश्चात् सभी तपस्वियोंने उन दोनोंको अनेक प्रकारके अस्त्र दिये। उन सबने अपने तपोबलसे अभिमन्त्रित करके बहुत-से बाण भी दिये॥ ३६॥

किरीटकवचान्येके ददुः खड्गौ च चर्मणी।
एवं धनुर्धरौ वीरौ तनुत्राणभृतौ यमौ॥ ३७॥
काकपक्षधरौ तस्मिन्नाश्रमे चरतः स्म तौ।

किन्हींने किरीट और कवच समर्पित किये तो किसीने ढाल और तलवार दी। इस प्रकार काकपक्ष (काकुल) धारी वे दोनों यमज वीर कवच और धनुषसे सुसज्जित हो उस आश्रममें विचरने लगे॥ ३७½॥

सीतां शुश्रूषमाणौ तौ कन्दमूलफलैः शुभैः॥ ३८॥
पादसंवाहनैश्चापि परां प्रीतिं वितेनतुः।

वे दोनों सुन्दर कन्द-मूल और फल देकर तथा पाँव दबाकर भी सीताजीकी सेवा-शुश्रूषा करते हुए उनके मनमें परम प्रीतिका विस्तार करने लगे॥ ३८½॥

जैमिनिरुवाच

अयोध्यायां महाबाहुः पालयन् रघुवंशजः॥ ३९॥
न शर्म लेभे रामोऽसौ ब्रह्महत्याभिपीडितः।
अश्वमेधं क्रतुवरं कर्तुकामोऽप्यभूद् रघुः॥ ४०॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! उधर रघुकुलनन्दन महाबाहु श्रीराम अयोध्यामें राज्यशासन करते रहे; परंतु (रावण-वधजनित) ब्रह्महत्यासे पीडित होनेके कारण उन्हें शान्ति नहीं मिली। तब उन रघुनाथजीके मनमें यज्ञश्रेष्ठ अश्वमेधका अनुष्ठान करनेकी इच्छा जाग्रत् हुई॥३९-४०॥

वसिष्ठं च समाहूय विश्वामित्रं च गालवम्।
वामदेवं सजाबालिमिदं वचनमब्रवीत्॥ ४१॥

उस समय वे वसिष्ठ, विश्वामित्र, गालव, वामदेव और जाबालि ऋषिको बुलाकर उनसे निम्नाङ्कित वचन बोले—॥४१॥

राम उवाच

अश्वमेधं करिष्यामि कथ्यतां तस्य वै विधिः।
अश्वश्च कीदृशो भाव्यो दानं कीदृग् विधीयते।
किं मया चरणीयं स्याद् व्रतं तच्च निरूप्यताम्॥४२॥

श्रीरामने कहा—महर्षियो! मैं अश्वमेध-यज्ञ करना चाहता हूँ, अतः आपलोग उसकी विधि बतानेकी कृपा करें। उस यज्ञमें घोड़ा कैसा होना चाहिये? किस प्रकारका दान दिया जाता है तथा मुझे किस व्रतका पालन करना होगा? इसका निरूपण कीजिये॥ ४२॥

ततो वसिष्ठः कथयांबभूव
दुःखेन साध्यः किल यज्ञ एषः।
अश्वश्च भाव्यः कुमुदेन्दुवर्णः
पीतश्च पुच्छे मलिनश्च कर्णे॥ ४३॥

तब वसिष्ठजी कहने लगे—'रघुनन्दन! निश्चय ही यह यज्ञ दुःसाध्य है। इसमें घोड़ा ऐसा होना चाहिये, जिसका रंग कुमुद और चन्द्रमाके समान उज्ज्वल हो, पूँछ पीली हो और कान श्याम रंगके हों॥ ४३॥

स रक्षणीयोऽब्दमलं नृवीरै-
र्धृतः परैश्चापि विमोक्षणीयः।
आरम्भ एवास्य हि विप्रवर्याः
पूज्याः सहस्रं श्रुतिपारगाश्च ॥ ४४ ॥

उस अश्वकी एक वर्षतक शूरवीर पुरुषोंद्वारा रक्षा होनी चाहिये। यदि कहीं किसी शत्रुने उसे पकड़ लिया तो बलपूर्वक उसे मुक्त करना चाहिये। यज्ञके आरम्भमें ही हजारों वेद-पारगामी विप्रवरोंकी पूजा होनी चाहिये ॥ ४४ ॥

एको रथो वारण एक एव
दशाश्वमुख्याश्च सुवर्णभारः।
शतं गवां हैमविभूषितानां
प्रस्थश्च देयो वरमौक्तिकानाम् ॥ ४५ ॥
एकैकशो भृत्यचतुष्टयं च
कार्येषु दक्षं किल देयमत्र ॥ ४६ ॥

इसमें प्रत्येक ब्राह्मणको एक रथ, एक हाथी, दस उत्तम घोड़े, एक भार सोना, स्वर्णालंकारोंसे विभूषित सौ गायें और सेर भर बहुमूल्य मोती दक्षिणारूपमें देनी चाहिये तथा कार्य करनेमें निपुण चार-चार नौकर भी दिये जाते हैं ॥४५-४६॥

असिपत्रव्रतं राम कथं त्वं न विधास्यसि।
यज्ञकर्मणि वै भार्या द्वितीया सहधर्मिणी ॥ ४७ ॥
तया विरहितं राम विफलं परिकथ्यते।

राम! इस यज्ञमें एक असिपत्र नामक व्रत किया जाता है, उसे तो आप किसी तरह भी नहीं कर सकेंगे; क्योंकि यज्ञकार्यमें सहायता देनेवाली धर्मपत्नी भी होनी चाहिये। राम! पत्नीके बिना तो यह यज्ञ निष्फल बतलाया जाता है ॥

राम उवाच

सौवर्णी प्रतिमा कार्या जानकीसदृशी प्रभो।
तादृश्या सीतया सार्धं करिष्ये व्रतमुत्तमम् ॥ ४८ ॥

तब श्रीरामने कहा—प्रभो! जानकीकी आकृति-सरीखी एक सोनेकी प्रतिमा तैयार करायी जाय। मैं उसी स्वर्ण-मयी सीताके साथ उस उत्तम व्रतका पालन करूँगा ॥ ४८ ॥

अश्वमेधसमारम्भः क्रियतां मुनिपुङ्गवैः।
अश्वशालासु रुचिरं शास्त्रोक्तैर्लक्षणैर्युतम् ॥ ४९ ॥
निरीक्ष्य वाजिनं मह्यं ततो दीक्षा प्रदीयताम्।

अब आप मुनिवरोंको साथ लेकर अश्वमेधयज्ञका आयोजन आरम्भ कीजिये और मेरी घुड़सालोंमें शास्त्रोक्त लक्षणोंसे सम्पन्न उस मनोहर अश्वको देख लीजिये। तत्पश्चात् मुझे यज्ञकी दीक्षा दीजिये ॥ ४९½ ॥

तद्भाषितमुपश्रुत्य वसिष्ठो मुनिभिर्वृतः ॥ ५० ॥
वाजिशालासु धवलमश्वमाहारयन्नरैः।
गोक्षीरवर्णं मुखतः कुङ्कुमाभं सुकेसरम् ॥ ५१ ॥
एकतः श्यामकर्णं तं हयमालोक्य विस्मितः।
वसिष्ठो ब्राह्मणान् सर्वान् सहस्रं पर्यपूजयत् ॥ ५२ ॥

श्रीरामका कथन सुनकर मुनियोंसे घिरे हुए वसिष्ठजीने मनुष्योंको भेजकर घुड़सालोंमें उज्ज्वल वर्णके अश्वकी खोज करायी। तब वे एक ऐसे अश्वको ले आये, जिसका रंग गो-दुग्धके समान उज्ज्वल था, मुखकी आभा केसरकी-सी थी और अयाल बड़े सुन्दर थे। उसके कान एक ओरसे श्याम रंगके थे। उस अश्वको देखकर वसिष्ठजीको बड़ा विस्मय हुआ; फिर उन्होंने एक हजारकी संख्यामें उन सभी वेदपारङ्गत ब्राह्मणोंकी पूजा की ॥ ५०—५२ ॥

वस्त्रालंकरणैर्दिव्यैर्वाजिभिश्च मनोजवैः।
रथैश्च वारणैर्मत्तैः कलधौततरैः शुभैः ॥ ५३ ॥
दोग्ध्रीभिर्धेनुभिश्चैव पूजयामास तान् द्विजान्।
ततश्च दीक्षितो रामस्तादृश्या सीतया सह ॥ ५४ ॥

वसिष्ठजीने उन ब्राह्मणोंको दिव्य वस्त्र, अलंकार, मनके समान वेगशाली घोड़े, रथ, श्वेत वर्णके सुन्दर मदमत्त हाथी, दुधारू गायें प्रदान करके उनका आदर-सत्कार किया। तत्पश्चात् उस स्वर्णमयी सीताके साथ श्रीराम यज्ञमें दीक्षित हुए ॥ ५३-५४ ॥

हयं तं पूजयामास चन्दनेन सुगन्धिना।
पुष्पैः स्रग्भिश्च चमरैः शोभितं रघुनन्दनः ॥ ५५ ॥

तब रघुनन्दनने पुष्पमालाओं और चँवरोंसे सुशोभित होने-वाले उस अश्वकी सुगन्धित चन्दनसे पूजा की ॥ ५५ ॥

भाले बद्ध्वा च सौवर्णं पत्रं तस्य हरेः पुनः।
तस्मिन् पत्रे विलिखितं रामो दशरथात्मजः ॥ ५६ ॥
एकवीराद्य कौसल्या तस्याः पुत्रो महाबलः।
तेन मुक्तं हरिवरं गृह्णातु बलवान् नृपः ॥ ५७ ॥
इत्यभिप्रायसहितं पत्रं भाले व्यशोभत।
शत्रुघ्नं चादिदेशाथ त्वया रक्ष्यस्तुरङ्गमः ॥ ५८ ॥

फिर उस अश्वके मस्तकपर स्वर्ण-पत्र बाँध दिया गया।

उस स्वर्ण-पत्रमें लिखा हुआ था कि 'इस समय एक कौसल्या ही वीरमाता हैं। उनके महाबली पुत्र दशरथनन्दन श्रीराम ही राजा हैं। उन्होंने इस उत्तम अश्वको छोड़ा है। यदि किसी राजामें बल हो तो वह इसे पकड़े।' ऐसे अभिप्रायसे युक्त वह पत्र घोड़ेके मस्तकपर शोभा पाने लगा। तदनन्तर शत्रुघ्नको आज्ञा दी गयी कि तुम इस अश्वकी रक्षामें जाओ॥

ततः स तुरगो मुक्तः पृष्ठतो लक्ष्मणानुजः।
अक्षौहिणीभिस्तिसृभिर्जगाम सहितो बली॥ ५९॥

तत्पश्चात् वह अश्व छोड़ दिया गया और उसके पीछे-पीछे महाबली शत्रुघ्न तीन अक्षौहिणी सेनाके साथ चले॥

नानादेशान् व्यतिक्रम्य नगरोपवनानि च।
लीलया विचचाराशु शत्रुघ्नसहितो हयः॥ ६०॥

शत्रुघ्नद्वारा सुरक्षित वह अश्व शीघ्र ही अनेकों देशों, नगरों और उपवनोंको लाँघता हुआ लीलापूर्वक विचरण करने लगा॥ ६०॥

राजानस्तं हयं दृष्ट्वा नमश्चक्रुः पराङ्मुखाः।
ये शूरा बलवन्तश्च ते गृह्णन्ति हयोत्तमम्॥ ६१॥
तान् जित्वा बलवान् वीराञ्छत्रुघ्नोऽमोचयद्धयम्।

राजालोग उस अश्वको देखकर युद्धसे विमुख हो उसे नमस्कार करते थे; परंतु जो बलवान् शूरवीर नरेश थे, वे उस उत्तम अश्वको पकड़ लेते थे। तब बलवान् शत्रुघ्न उन वीरोंको पराजित करके उस घोड़ेको छुड़ा लेते थे॥ ६१½॥

ततः स तुरगः प्राप्तो वाल्मीकेराश्रमे शुभे॥ ६२॥
वाल्मीकिर्वरुणाहूतो मखार्थं तलमभ्यगात्।
आश्रमोपवनं रम्यं प्रविवेश तुरङ्गमः॥ ६३॥

तत्पश्चात् वह अश्व महर्षि वाल्मीकिके सुन्दर आश्रममें जा पहुँचा। उस समय वाल्मीकिजी यज्ञ-कार्यके लिये वरुणद्वारा बुलाये जानेपर पाताललोकमें गये हुए थे। इधर उस अश्वने आश्रमके रमणीय उपवनमें प्रवेश किया॥ ६२-६३॥

दाडिमाः फलिता यत्र चूताः पल्लविनो नवाः।
मुनिद्रुमाः पुष्पवन्तो रात्रयः किं चन्द्रिकाञ्चिताः ६४

उस उपवनमें अनारके वृक्ष फलोंसे लदे हुए थे। आमके नये-नये पौधोंपर सुन्दर पल्लव निकले हुए थे। उस बनस्थलीमें खिले हुए अगस्त्य वृक्षोंको देखकर ऐसा संदेह होता था कि क्या यहाँ चाँदनी रातें शोभा पाती हैं?॥ ६४॥

अनेकाः पुष्पजात्यश्च फुल्लिता देवता इव।
मृद्वीका मण्डपा रम्या घटयन्त्रैः सुशोभिताः॥ ६५॥

वहाँ अनेकों जातिके पुष्प देवताओंकी भाँति प्रफुल्लित थे। दाखोंके मनोहर मण्डप (उन्हें सींचनेके लिये लगे हुए) घटयन्त्रोंसे सुशोभित थे॥ ६५॥

रम्भास्ताः फलिता यत्र स्वर्लोकात् किं समागताः।
तद्रक्षमाणो वीरोऽसौ धनुष्पाणिर्लवो बली॥ ६६॥

वहाँ बहुत-से केले फले हुए थे, जिन्हें देख यह जिज्ञासा होती थी कि क्या ये स्वर्गलोकसे आये हैं? उस समय बलवान् वीर लव धनुष हाथमें लिये हुए उस उपवनकी रक्षा कर रहा था॥ ६६॥

दूर्वाङ्कुरांश्चरन्तं तु वाजिनं ददृशे पुरः।
ऋषिपुत्रान् समाहूय हयाभ्याशं जगाम सः॥ ६७॥

जब उसने अपने सामने दूर्वाङ्कुरोंको चरते हुए उस घोड़ेको देखा, तब वह ऋषिकुमारोंको बुलाकर घोड़ेके निकट गया॥ ६७॥

हरेर्भालगतं पत्रं वाचयामास बालकः।
एकवीराद्य कौसल्या तस्याः पुत्रो रघूद्वहः॥ ६८॥
तेन रामेण मुक्तोऽसौ वाजी गृह्णात्विमं बली।
तत्पत्रस्थमभिप्रायं ज्ञात्वा शीघ्रं लवोऽब्रवीत्॥ ६९॥

फिर तो बालक लव घोड़ेके मस्तकपर बँधे हुए स्वर्ण-पत्रको बाँचने लगा—'आजकल एक कौसल्या ही वीरमाता हैं, उनके पुत्र रघुनन्दन श्रीराम हैं। उन्हीं रामने इस घोड़ेको छोड़ा है। यदि कोई बलाभिमानी वीर हो तो इस घोड़ेको पकड़ ले।' तब उस पत्रस्थ अभिप्रायको शीघ्र ही समझकर लव कहने लगा—॥ ६८-६९॥

अस्माकं जननी वन्ध्या त्वेकवीरा न सा किमु।
इत्येवमुक्त्वा वचनं लवो दध्रे तुरङ्गमम्॥ ७०॥
उत्तरीयं समुत्क्षिप्य बबन्ध कदलीतरौ।
वारयन्ति स्म तं वीरं मुनिपुत्रा भयान्विताः॥ ७१॥

'क्या हमारी माता बाँझ है? वह एकमात्र वीर पुत्र उत्पन्न करनेवाली नहीं है?' ऐसा कहकर लवने घोड़ेको पकड़ लिया और अपने दुपट्टेको उसपर डालकर उसे केलेके वृक्षसे बाँध दिया। तब मुनिकुमार भयभीत होकर वीरवर लवको मना करने लगे॥ ७०-७१॥

मुनिपुत्रा ऊचुः

लव त्वया रामवाजी वृथायं बध्यते बलात् ।
अस्य ये रक्षकास्ते त्वां नेष्यन्ति त्यज्यतामयम् ॥ ७२ ॥
अनादृत्य वचस्तेषामब्रवीत् कुपितो लवः ।

मुनिकुमारोंने कहा—लव ! तुम श्रीरामके इस घोड़ेको बलपूर्वक व्यर्थ ही बाँध रहे हो । इसके जो रक्षक हैं, वे तुम्हें पकड़ ले जायँगे; इसलिये इसे छोड़ दो । तब उनकी बातोंका अनादर करके लव क्रुद्ध होकर बोला ॥

लव उवाच

ऋषिस्त्रीकुक्षिजा यूयमहं सीतोदरोद्भवः ॥ ७३ ॥
सीतायाश्चोदरे जातः कृमिरेव न संशयः ।
यद्यमुं वाजिनं बद्ध्वा मुच्येयं भयशङ्कया ।
परं श्रेयस्तु मरणं न लज्जा मामुपाव्रजेत् ॥ ७४ ॥

लवने कहा—ऋषिकुमारो ! तुमलोग ऋषिपत्नियोंकी कोखसे पैदा हुए हो और मैं सीताके उदरसे उत्पन्न हुआ हूँ । यदि मैं इस घोड़ेको बाँधकर पुनः भयकी आशङ्कासे इसे छोड़ दूँ तो निस्संदेह मैं सीताके पेटसे एक कीड़ा ही पैदा हुआ । अतः मैं मर जाना ही परम श्रेयस्कर समझता हूँ, परंतु मुझे लज्जित होनेका अवसर न प्राप्त हो ॥ ७३-७४ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि कुशलवोपाख्याने तुरगग्रहणो नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें कुशलवोपाख्यानके प्रसंगमें लवके द्वारा अश्वका ग्रहण नामक उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९ ॥

त्रिंशोऽध्यायः

कुशलवोपाख्यान—लवका शत्रुघ्नके साथ युद्ध और मूर्च्छित होना तथा शत्रुघ्नका उसे अपने रथपर बैठाकर प्रस्थान करना

जैमिनिरुवाच

ततः प्राप्तं महत् सैन्यं रथवाजिसमाकुलम् ।
मत्तद्विरदसम्बाधं पत्तिभिश्च समावृतम् ॥ १ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर वहाँ एक बहुत बड़ी सेना आ पहुँची, जो रथों और घोड़ोंसे व्याप्त, मदमत्त हाथियोंसे भरी हुई और पैदल सैनिकोंसे संयुक्त थी ॥

कुतोऽश्वश्च कुतोऽश्वश्च व्याहरन्तो महाबलाः ।
रथिनः शतसाहस्राः प्राप्ताः शत्रुघ्नपालिताः ॥ २ ॥

उस समय शत्रुघ्नद्वारा सुरक्षित एक लाख महाबली रथी वीर 'घोड़ा कहाँ है ? घोड़ा कहाँ है ?' ऐसा कहते हुए वहाँ आ पहुँचे ॥ २ ॥

ददृशुः कदलीवृक्षे बद्धमश्वं महारथाः ।
पप्रच्छुः केन बद्धोऽयं लघूंस्तान् ब्रह्मचारिणः॥ ३ ॥

जब उन महारथियोंने घोड़ेको केलेके वृक्षमें बँधा देखा, तब वे उन छोटे-छोटे ब्रह्मचारियोंसे पूछने लगे—'इस घोड़ेको किसने बाँधा है ?' ॥ ३ ॥

तेऽब्रुवन्नाम्रवृक्षस्य मूले तिष्ठति निर्भयः ।
लवश्च नाम्ना विख्यातस्तेनायं विधृतो हयः ॥ ४ ॥

तब उन बालकोंने बतलाया—'वह जो आमके वृक्षकी जड़पर निर्भय बैठा हुआ है और 'लव' नामसे विख्यात है, उसीने इस घोड़ेको बाँध रखा है' ॥ ४ ॥

प्रहस्य रथिनस्ते तु प्रोचुर्मूर्खोऽस्ति बालकः ।
बलं हयं पालयन्तो न जानात्येष वै शिशुः ॥ ५ ॥
मुच्यतां मुच्यतां चाश्वो यथा शीघ्रं व्रजेद् धराम् ।
तावत् प्राप्तो महाबाहुर्धनुष्पाणिर्लवो बली ॥ ६ ॥
किमिदं गर्वितैर्वीरैः क्रियते हयमोचनम् ।
मां जित्वा मुच्यतामश्वो मयि तिष्ठति न क्वचित् ॥ ७ ॥

तब वे रथी योद्धा हँसकर कहने लगे—'यह बालक मूर्ख है । इस बच्चेको पता नहीं है कि हमलोगोंसहित एक विशाल सेना इस घोड़ेकी रक्षा कर रही है । अतः अब इस घोड़ेको खोल दो, इसे बन्धनमुक्त कर दो, जिससे यह शीघ्र ही पृथ्वी-पर विचरण करे ।' तबतक महाबाहु बलवान् लव धनुष हाथमें लिये हुए वहाँ आ धमका और कहने लगा—'वीरो ! तुमलोग गर्वमें आकर क्यों इस घोड़ेको खोल रहे हो ? पहले मुझे पराजित कर दो तत्पश्चात् घोड़ेको खोलना, अन्यथा मेरे रहते वह कहीं नहीं जा सकता' ॥ ५—७ ॥

अशृण्वतां वचस्तेषां मोक्तॄणां हयमुत्तमम् ।
चिच्छेद हस्तान् स लवो बलेन निशितैः शरैः ॥ ८ ॥

परंतु जब उन्होंने उसकी बातको अनसुनी कर दिया, तब लवने उस उत्तम अश्वको बन्धनमुक्त करनेवाले वीरोंके हाथोंको अपने तीखे बाणोंद्वारा बलपूर्वक काट डाला ॥ ८ ॥

ते छिन्नहस्ता योद्धारो ब्रुवन्ति स्म निपात्यताम् ।
ततस्तं शरवर्षेण ववृषुस्ते समागताः ॥९॥

हाथ कट जानेपर वे योद्धा कहने लगे—'इसे मारकर गिरा दो।' तब वहाँ आये हुए सभी वीरोंने लवपर बाणोंकी झड़ी लगा दी ॥ ९ ॥

केचिच्छक्तीश्च पाशांश्च चिक्षिपुः शतशो बलात् ।
आपतच्छरसंघातो न पस्पर्श लवं तदा ॥ १० ॥
यथा हि गौतमीतोये स्नातं पापचयो महान् ।

कुछ वीरोंने बलपूर्वक उसपर सैकड़ों शक्तियों तथा पाशों-से प्रहार किया; परंतु गिरते हुए वे बाणसमूह लवका स्पर्शतक नहीं कर सके, जैसे गौतमी नदीके जलमें स्नान करनेवालेको महान् पापराशि नहीं छू सकती ॥ १०½ ॥

तच्छस्त्रसंघं चिच्छेद योगीव भवबन्धनम् ॥ ११ ॥
पञ्चभिः पञ्चभिर्बाणैरेकैकं हृद्यताडयत् ।

तब भव-बन्धनको काटनेवाले योगीकी तरह लवने उस अस्त्रसमूहको काट गिराया और एक-एक वीरके हृदयमें पाँच-पाँच बाणोंसे चोट पहुँचायी ॥ ११½ ॥

निषङ्गाभ्यामक्षयाभ्यां गृह्णन् बाणान् मुमोच सः॥१२॥
गजा भिन्ना द्विधा बाणैः शुण्डाः छिन्ना द्विधा द्विधा ।
शिरांस्याधोरणानां च चिच्छेद निशितैः शरैः ॥१३॥

वह अपने दोनों अक्षय तरकसोंमेंसे बाण निकाल-निकाल-कर छोड़ने लगा। उसके बाणोंके प्रहारसे बहुत-से गजराज बीचसे ही विदीर्ण हो गये, उनके सूँड भी कटकर दो-दो टुकड़ोंमें बँट गये। फिर उसने अपने पैने बाणोंसे महावतोंका भी सिर काट लिया ॥ १२-१३ ॥

काश्मीरकम्बलान् वीरो घण्टाश्चिच्छेद लम्बिताः ।
हस्तिमञ्चान् पताकाश्च व्यलुनात् स लवो बली॥१४॥

बलवान् बीर लवने हाथियोंके काश्मीरी झूल, लटकते हुए घंटे, हौदे और पताकाओंको काटकर गिरा दिया ॥१४॥

रथान् काञ्चनसंनाहानच्छिनद् धन्विनां वरः ।
चक्राणि चक्ररक्षांश्च त्रिवेणून् सारथींस्तथा ॥ १५ ॥

धनुर्धर वीरोंमें श्रेष्ठ लवने सुवर्णमय आवरणसे विभूषित रथोंको तथा उनके पहियों, चक्ररक्षक वीरों, त्रिवेणुओं और सारथियोंको काटकर छिन्न-भिन्न कर दिया ॥ १५ ॥

अश्वांश्च व्यधमद् बाणैस्तथा वै रथसारथीन् ।
चामराणि ध्वजस्तम्भान् धनूंषि सुदृढानि च ॥१६॥
तूणीरान्निशितैर्बाणैश्चिच्छेद स कुशानुजः ।

उसने अपने बाणोंसे घोड़ों और रथसहित सारथियोंको विध्वंस कर दिया। फिर कुशके छोटे भाई लवने तीखे बाणोंसे चँवर, ध्वजस्तम्भ, सुदृढ़ धनुष और तरकसोंको भी काट दिया ॥

अवधीत् तुरगांश्चापि साश्वारोहान् रघूत्तमः ॥ १७ ॥
पदातीन् सायुधान् प्रासांश्चिच्छेद तिलशस्तदा ।
एवं लवो महत् कर्म चक्रे संग्राममूर्द्धनि ॥१८॥

रघुश्रेष्ठ लवने उस समय सवारोंसहित घोड़ोंका संहार कर डाला। हथियारसहित पैदल सैनिकों और प्रासोंको काटकर तिलके समान टुकड़े कर दिये। इस प्रकार लवने संग्रामके मुहानेपर महान् संहार मचा दिया ॥ १७-१८ ॥

जैमिनिरुवाच

स दृष्ट्वा निहतं सैन्यं बालकेन पदातिना ।
शत्रुघ्नः कुपितो वीरो रथमारुह्य चागमत् ।
विस्फारयन् धनुः श्रेष्ठं तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥१९॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तब पैदल ही युद्ध करनेवाले एक बालकके द्वारा अपनी सेनाको मारी जाती देख-कर वीरवर शत्रुघ्न क्रुद्ध हो गये और अपने रथपर सवार होकर वहाँ आये। वे अपने श्रेष्ठ धनुषकी टंकार करते हुए 'खड़ा रह, खड़ा रह' कहने लगे ॥ १९ ॥

एवं वदन्तं शत्रुघ्नं विव्याध दशभिः शरैः ।
श्रयन्माहेश्वरं स्थानं लवो निर्भयमानसः ॥ २० ॥

तब निर्भय मनवाला लव माहेश्वर स्थानका आश्रय लेकर ऐसा कहते हुए शत्रुघ्नको दस बाणोंसे बींध दिया ॥ २० ॥

हृदि चैकेन विव्याध चतुर्भिश्चतुरो हयान् ।
अच्छिनद् ध्वजमेकेन चतुर्भिश्चक्ररक्षकान् ॥ २१ ॥
ततश्चैकेन बाणेन धनुर्ज्यामच्छिनल्लवः ।

उसने एक बाणसे उनके हृदयपर चोट की और चार बाणोंसे चारों घोड़ोंको घायल कर दिया। एक बाणसे ध्वज काट दिया और चार बाणोंसे चक्ररक्षकोंको मार डाला। फिर एक बाणसे लवने शत्रुघ्नके धनुषकी प्रत्यञ्चा काट दी॥२१½॥

**आरोपयित्वा शत्रुघ्नो ज्यां द्वितीयां शरासने ॥ २२ ॥
ततो नालीकनाराचांस्तीक्ष्णभल्लान् मुमोच सः ।
त्रिभिर्ललाटे विव्याध लवं तं लक्ष्मणानुजः ॥२३॥**

तब शत्रुघ्न अपने धनुषपर दूसरी प्रत्यञ्चा चढ़ाकर नालीक नामक बाण और तीखे भल्ल छोड़ने लगे। लक्ष्मणके अनुज शत्रुघ्नने तीन भल्लोंसे लवके ललाटपर घाव कर दिया ॥

त्रिभिस्तैस्ताडितो बालः प्रहसन् वाक्यमब्रवीत् ।

उन तीन बाणोंसे पीड़ित होकर बालक लव मुसकराता हुआ कहने लगा ॥ २३½ ॥

लव उवाच

**ललाटे मम पुष्पाणि लग्नानि कमलानि किम् ॥२४॥
एतावत् ते बलं वीरं समग्रं परिलक्ष्यते ।**

लव बोला—क्या मेरे ललाटपर ये कमलके फूल लगाये गये हैं ? वीर ! मालूम होता है—यही तुम्हारा सारा बल है ॥

**इत्येवमुक्त्वा वचनं चतुर्भिश्चतुरो हयान् ॥ २५ ॥
अनयन्निशितैर्बाणैर्यमस्य सदनं महत् ।
सारथेश्च शिरः कायाच्छरेणैकेन चाहरत् ॥ २६ ॥**

ऐसी बात कहकर लवने चार पैने बाणोंसे शत्रुघ्नके चारों घोड़ोंको यमराजके विशाल भवनमें भेज दिया और एक बाणसे सारथिके सिरको उसकी कायासे काट गिराया ॥ २५-२६ ॥

**द्वाभ्यां शराभ्यां चिच्छेद ध्वजं चास्य समुच्छ्रितम् ।
द्विधा चक्रे लवो बाणैः शत्रुघ्नस्य धनुर्दृढम् ॥२७॥**

पुनः लवने दो बाणोंसे शत्रुघ्नके ऊँचे ध्वजको काट दिया और बाणोंके प्रहारसे उनके सुदृढ़ धनुषको काटकर उसके दो टुकड़े कर दिये ॥ २७ ॥

**सच्छिन्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः ।
शत्रुघ्नः कुपितो वीरो धनुरन्यत् समाददे ॥ २८ ॥**

इस प्रकार जब वीरवर शत्रुघ्नका धनुष काट दिया गया, रथ तोड़ डाला गया, घोड़े और सारथि मार डाले गये, तब क्रुद्ध होकर उन्होंने दूसरा धनुष हाथमें लिया ॥ २८ ॥

**सगुणं धनुरादाय शरं चैकं समाददे ।
पीतवर्णं सुनिशितं गार्ध्रपत्रैरलंकृतम् ॥ २९ ॥**

फिर उस प्रत्यञ्चासहित धनुषको उठाकर उसपर एक पीले रंगका गीधकी पाँखसे सुशोभित अत्यन्त तीखा बाण चढ़ाया ॥ २९ ॥

**ततोऽब्रवीत् स शत्रुघ्नः पलायस्व शिशोऽधुना ।
अन्यथा मरणं ते स्यात् कृपा मां बाधते त्वयि ॥३०॥**

तब शत्रुघ्नने कहा—'अरे बालक ! अब तू भाग जा, अन्यथा तेरी मृत्यु हो जायगी। मुझे तुझपर बड़ी दया आ रही है, जो बाण छोड़नेमें बाधा दे रही है' ॥ ३० ॥

**तदाकर्ण्य वचस्तस्य कुपितो बलवाँल्लवः ।
चिच्छेद तं शरं दिव्यं स द्विधा व्यपतद् विभो ॥ ३१ ॥
तथा हि पूर्वजाः पापात् स्वर्गाद् वै निपतन्त्यधः ।
कूटसाक्ष्यं च ये कुर्युर्व्यवहारच्युतास्तथा ॥ ३२ ॥**

शत्रुघ्नकी यह बात सुनकर बलवान् लव क्रुद्ध हो गया। विभो ! उसने शत्रुघ्नके उस दिव्य बाणको काट दिया, जिससे वह दो टूक होकर उसी प्रकार पृथ्वीपर गिर पड़ा, जैसे जो लोग व्यवहारसे च्युत हैं और झूठी गवाही देनेवाले हैं, उनके उस पापके कारण उनके पूर्वज स्वर्गलोकसे नीचे गिर पड़ते हैं ॥

**शत्रुघ्नो विस्मयाविष्टो बाणं चान्यं समाददे ।
तं शरं कालसंकाशं यावद्धनुषि संदधे ॥ ३३ ॥
तावत् सचापं सशरं चिच्छेद कुपितो लवः ।**

तब आश्चर्यचकित होकर शत्रुघ्नने दूसरा बाण हाथमें लिया और ज्यों ही वे उस काल-सरीखे बाणको धनुषपर संधान करने लगे त्यों ही लवने क्रुद्ध होकर उस बाणसहित धनुषको काट दिया ॥ ३३½ ॥

**ततो जग्राह शत्रुघ्नो लवणं येन चावधीत् ॥ ३४ ॥
तद् धनुस्तं शरं दिव्यं सूर्यवैश्वानरप्रभम् ।
मुमोच बाणं रुचिरं हतोऽसीति वचस्तथा ॥ ३५ ॥**

तत्पश्चात् शत्रुघ्नने जिससे लवणासुरका वध किया था, उस धनुष और सूर्य एवं अग्निके समान प्रज्वलित उस दिव्य बाणको हाथमें लिया और 'अब तू मारा गया' यों कहते हुए उस सुन्दर बाणको छोड़ दिया ॥ ३४-३५ ॥

**अमोघं स शरं ज्ञात्वा लवः सस्मार तं कुशम् ।
अस्मिन्नवसरे भ्राता कुशो मे विद्यते यदि ॥ ३६ ॥
तदास्य बाणस्य भयं न स्यान्मम कदाचन ।
अथ ते जानकी सत्यात् पातिव्रत्यादमुं शरम् ॥ ३७ ॥
छेत्स्ये मे स्यात् ततः कीर्तिरिति बाणं मुमोच सः ।
तेन बाणेन तं बाणं मध्ये चिच्छेद बालकः ॥ ३८ ॥**

उस बाणको अमोघ जानकर लव कुशका स्मरण करते हुए कहने लगा—'यदि इस अवसरपर मेरे भ्राता कुश

विद्यमान होते तो मुझे इस बाणका भय कदापि न होता। माता जानकी! अब मैं तुम्हारे सत्य और पातिव्रत्यके प्रभावसे इस बाणको काट दूँ तो इससे मेरी कीर्ति बढ़ेगी।' ऐसा कहकर बालक लवने बाण छोड़ दिया और अपने उस बाणसे शत्रुघ्नके बाणको बीचो-बीचसे काट डाला॥ ३६—३८॥

जैमिनिरुवाच

पूर्वार्धं न्यपतद् भूमावुत्तरार्धं च नापतत्।
तेनार्धेन धनुश्छिन्नं लवस्य हृदयं तथा॥ ३९॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! उस बाणका पूर्वार्ध भाग तो पृथ्वीपर गिर पड़ा, परंतु उत्तरार्ध भाग नहीं गिरा। उस आधे टुकड़ेने लवके धनुषको काटकर उसके हृदयको भी विदीर्ण कर दिया॥ ३९॥

स च्छिन्नधन्वा हृदि ताडितो भृशं
विभग्नचापो निपपात भूतले।
शिखी सुवेषो रुधिरावलिप्तो
मुमोह बालो न विवेद किंचन॥ ४०॥

तब जिसका धनुष कट गया था और जिसके हृदयमें गहरी चोट लगी थी, वह टूटे हुए धनुषवाला शिखाधारी सुवेषी बालक लव रक्तसे लथपथ होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा और मूर्च्छित हो गया। उस समय उसे कुछ भी ज्ञान नहीं रहा॥ ४०॥

ततः शङ्खांश्च भेर्यश्च वादयन्तः सुहर्षिताः।
योधाः शत्रुघ्नसैन्यस्थाः मृतशेषा जगर्जिरे॥ ४१॥

तत्पश्चात् शत्रुघ्नकी सेनामें मरनेसे बचे हुए योद्धा अत्यन्त हर्षित हुए और शङ्ख तथा नगाड़े बजाकर गर्जना करने लगे॥ ४१॥

मुमुचुस्तं हयं वीरा भीतं दृष्ट्वा च तं लवम्।
मुक्तः स तुरगो योधैर्बभ्रामोपवने तदा॥ ४२॥

फिर लवको भयभीत देखकर उन वीरोंने उस बँधे हुए घोड़ेको खोल दिया। तब योधाओंद्वारा मुक्त हुआ वह अश्व उस उपवनमें घूमने लगा॥ ४२॥

कृपाविष्टश्च शत्रुघ्नो लवमुत्थाप्य पाणिना।
रामाकृतिरयं बालः सिच्यतां पयसाधुना॥ ४३॥

तदनन्तर शत्रुघ्नने करुणासे द्रवीभूत हो लवको अपने हाथसे उठाकर कहा—'इस बालककी आकृति तो श्रीरामचन्द्रजीके समान है, अतः अब इसे जलसे सींचो'॥ ४३॥

ततस्ते सेवकाः शीघ्रमम्भोभिः सिषिचुर्लवम्।
सजीवं रथमारोप्य पृष्ठतोऽश्वस्य ते ययुः॥ ४४॥

तब वे सभी सेवक शीघ्र ही लवको जलसे सींचने लगे और जीते-जी उसे रथपर चढ़ाकर पुनः वे घोड़ेके पीछे-पीछे चल दिये॥ ४४॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि कुशलवोपाख्याने लवमूर्च्छाप्राप्तिर्नाम त्रिंशोऽध्यायः॥ ३०॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें कुशलवोपाख्यानके प्रसंगमें लवको मूर्च्छाकी प्राप्ति नामक तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३०॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

कुशलवोपाख्यान—मुनिकुमारोंद्वारा लवका समाचार पाकर सीताका विलाप, कुशका वनसे लौटकर युद्धके लिये जाना, कुशद्वारा शत्रुघ्नके सेनापति तथा उसके भाई नगका वध, बची हुई सेनाका अयोध्याकी ओर पलायन

जनमेजय उवाच

लवे धृते यथा युद्धं घोररूपं बभूव ह।
जगाम कुत्र च कुशः कथं सीता न वेद तत्॥ १॥
जैमिने सर्वमाचक्ष्व पवित्रां कुशसत्कथाम्।

जनमेजयने पूछा—जैमिनिजी! लवके पकड़ लिये जानेपर पुनः कैसा भयंकर संग्राम हुआ? उस समय कुश कहाँ चला गया था और सीताजीको इस वृत्तान्तका पता क्यों नहीं चला? मुने! कुशसे सम्बन्ध रखनेवाली पवित्र सत्कथाका विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये॥ १½॥

जैमिनिरुवाच

शृणु राजन् प्रवक्ष्यामि कुशस्य चरितं महत्॥ २॥
यच्छ्रुत्वा सर्वपापेभ्यो मुच्यते स्त्री पुमानपि।

जैमिनिजीने कहा—राजन्! सुनो, मैं कुशके उस महान् चरित्रका वर्णन करता हूँ, जिसे सुननेवाला मनुष्य

स्त्री हो अथवा पुरुष, वह समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥

अश्वे प्रचलिते तस्मिँल्लवे नीते महारथैः ॥ ३ ॥
अश्रुपूर्णमुखाः सीतां मुनिपुत्रास्तदा ययुः ।
सीते बद्धो लवेनाश्वः कस्यचिन्नृपतेर्बलात् ॥ ४ ॥
नृपतेस्तस्य सैन्येन पुत्रस्ते युयुधे लवः ।
निहत्य सैन्यं बालोऽसौ श्रान्तो वीरेण केनचित् ॥५॥
धृतो हस्तगतं छित्त्वा धनुर्नीतः पुरं प्रति ।

जब वह अश्व आगेको बढ़ा और महारथी वीर लवको पकड़कर उसके पीछे चलते बने, तब मुनिकुमार मुखपर आँसुओंकी धारा बहाते हुए सीताजीके पास गये और कहने लगे—'सीते ! तुम्हारे पुत्र लवने किसी राजाके घोड़ेको बल-पूर्वक बाँध लिया और फिर उस नरेशकी सेनाके साथ युद्ध करने लगा। जब वह बालक बहुत-सी सेनाका संहार करके थक गया था, उस समय किसी वीरने उसके हाथमें स्थित धनुषको काटकर उसे पकड़ लिया और अब वह उसे अपने नगरकी ओर ले जा रहा है' ॥ ३—५½ ॥

तद्वाक्यमाकर्ण्य बभूव जानकी
चित्रस्थिता देववराङ्गना सती ।
यथा हि विद्युद्ध्वनिना कुमारिका
धनी नरो वस्त्वपहारतो यथा ॥ ६ ॥

तब जैसे बिजलीकी कड़कड़ाहट सुनकर अल्पवयस्का कन्या तथा वस्तुओंके अपहरण हो जानेपर धनी पुरुष हक्का-बक्का हो जाता है, उसी तरह मुनिकुमारोंकी बात सुनकर सती-साध्वी जानकी चित्रलिखित श्रेष्ठ देवाङ्गनाकी भाँति ठगी-सी खड़ी रह गयी ॥ ६ ॥

सीतोवाच

मनसा कर्मणा वाचा यद्यहं रामतत्परा ।
तेन सत्येन मे पुत्रो लवोऽस्तु कुशली रणे ॥ ७ ॥

सीताजीने कहा—यदि मैं मन, वचन और कर्मसे श्रीरामका ही आश्रय ग्रहण करनेवाली होऊँ तो उस सत्यके प्रतापसे मेरा पुत्र लव रणक्षेत्रमें सकुशल रहे ॥ ७ ॥

तावज्जीव्याल्लवः पुत्रो यावज्ज्येष्ठः समाव्रजेत् ।
एकाकी निहतो बालः पापिष्ठैस्तैर्महारथैः ॥ ८ ॥

वह मेरा बेटा लव तबतक जीवित रहे, जबतक कि उसका बड़ा भाई कुश नहीं आ जाता। हाय ! उन पापी महारथियों-ने मेरे बच्चेको अकेला पाकर मारा है ॥ ८ ॥

रुरोद सा भृशं बाला पुत्रशोकेन पीडिता ।
मामनापृच्छ्य यातोऽसि शासने निरतो लव ॥ ९ ॥

तब पुत्रशोकसे पीडित होकर सुन्दरी सीता उच्च स्वरसे रोने लगीं—'बेटा लव ! तू तो सदा मेरी आज्ञाके पालनमें ही तत्पर रहता था, परंतु इस समय तू मुझसे बिना पूछे ही कैसे चला गया ? ॥ ९ ॥

चन्द्रबिम्बसमानं ते मुखं बाणैरभिद्यत ।
गात्रं च शकलीजातं लवस्य निशितैः शरैः ॥ १० ॥

'वत्स ! चन्द्रमण्डलके समान सुन्दर तेरा मुख बाणोंसे विदीर्ण हो गया होगा ? हाय ! मेरे पुत्र लवका शरीर तीखे बाणोंसे टूक-टूक हो गया होगा ॥ १० ॥

कन्दमूलफलाशी च द्वादशाब्दो विचक्षणः ।
परं तु युद्ध्यतां तेषां शूराणां तं च बालकम् ॥ ११ ॥
कराः कथं प्रवृत्तास्ते निर्दयानां च पापिनाम् ।

'मेरा लव कन्द-मूल-फलका भोजन करनेवाला अभी बारह वर्षका बच्चा था। वह युद्धकलामें निपुण भी नहीं था; तथापि उन युद्ध करनेवाले निर्दयी एवं पापी वीरोंके वे हाथ उस बालकपर कैसे उठ सके ! ॥ ११½ ॥

अस्मिंश्च समये तातो वाल्मीकिर्न कुशो बली ॥ १२ ॥
कस्येदं पुरतो वक्ष्ये दुःखं प्राप्तं सुदारुणम् ।

'इस समय यहाँ न तो पिता वाल्मीकि ही विद्यमान हैं और न बलवान् कुश ही उपस्थित है ! अब मैं किसके आगे यह वृत्तान्त कहूँ। हाय ! मेरे ऊपर अत्यन्त कठोर दुःख आ पड़ा !' ॥ १२½ ॥

जैमिनिरुवाच

तावत् समित्कुशाहारी वनान्निववृते कुशः ।
आगच्छतः कुशस्याथ दुर्निमित्तानि भारत ॥ १३ ॥
बहूनि पथि जातानि चित्तोद्वेगकराणि च ।
अपसव्यं मृगा यान्ति नदन्तो भैरवं रवम् ॥ १४ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—भारत ! इतनेमें ही समिधा और कुश लिये हुए कुश वनसे लौट रहा था। मार्गमें आते हुए उसे बहुत-से ऐसे अपशकुन हुए, जो चित्तको उद्विग्न कर देनेवाले थे। उस समय मृग भयंकर शब्द करते हुए बायीं ओरको भागने लगे ॥ १३-१४ ॥

ततः स व्यथयाऽऽविष्टो रामपुत्रो रघूद्वहः ।
चिन्तयामास मनसा केशवं विघ्नहारिणम् ॥ १५ ॥

तब रघुनन्दन श्रीराम-पुत्र कुश परम दुखी हुआ और मनमें विघ्नहारी केशवका ध्यान करने लगा ॥ १५ ॥

चिन्तयाविष्टमनसो बाहू तौ स्फुरितौ भृशम्।
नेत्राभ्यां स्वयमेवाम्भः सुस्रुवे विव्यथे मनः ॥ १६ ॥

फिर चिन्तामग्न मनवाले कुशकी दोनों भुजाएँ बारंबार फड़कने लगीं। नेत्रोंसे स्वयं ही आँसू बहने लगा और मन व्यथित हो उठा ॥ १६ ॥

एवं स आश्रमद्वारं कुशः प्राप्तो व्यचिन्तयत्।
लवो जवेन नायाति कथं मे सम्मुखो न हि ॥ १७ ॥

इस प्रकार आश्रमके द्वारपर पहुँचकर कुश विचार करने लगा—'क्या कारण है कि आज लव दौड़ता हुआ मेरे सामने नहीं आ रहा है? ॥ १७ ॥

आयान्तं तं लवं प्रातर्निवारयितवानहम्।
तस्मात् किं कुपितो नैति केन चासौ धृतो लवः ॥१८॥

'प्रातःकाल लव मेरे पीछे चलना चाहता था, तब मैंने उसे मना कर दिया था; इस कारण वह रूठ तो नहीं गया, जिससे नहीं आ रहा है अथवा किसीने लवको पकड़ तो नहीं लिया है?' ॥ १८ ॥

इत्येवं चिन्तयन् वीरो ददर्श जननीं स्वकाम्।
सीतां नमस्कृत्य कुशो जगाद वचनं शुभम् ॥ १९ ॥
मातः कस्मात् प्रलापोऽयं क्रियते क्व लवो गतः।

यों तर्क-वितर्क करते हुए वीरवर कुशने अपनी माता सीताका दर्शन किया और उन्हें नमस्कार करके सुन्दर वाणीमें पूछने लगा—'माँ! लव कहाँ गया? तुम क्यों ऐसा विलाप कर रही हो?' ॥ १९½ ॥

सीतोवाच

वत्स त्वयि गतेऽरण्ये फलान्याहर्तुमञ्जसा ॥२०॥
सहितो मुनिपुत्रैस्तु लवः क्रीडापरायणः।
उद्यानं गतवांस्तत्र कस्यचिन्नृपतेर्हयः ॥ २१ ॥
विचरन्निच्छया प्राप्तो ह्यग्रहीत् तं बलाल्लवः।
यथाबलं युद्ध्यमानो रणे मूर्च्छामुपागतः ॥ २२ ॥

सीताने कहा—वत्स! जब तुम फल लानेके लिये वनमें चले गये, तब लव तुरंत ही मुनिकुमारोंके साथ खेलता हुआ उपवनमें जा पहुँचा। वहाँ किसी राजाका अश्व स्वेच्छानुसार घूमता हुआ आया। तब लवने उसे बलपूर्वक पकड़ लिया; फिर रणक्षेत्रमें यथाशक्ति युद्ध करता हुआ मूर्च्छित हो गया ॥ २०—२२ ॥

तैर्नीयते पुरं बद्ध्वा जीवन् वा मृत एव वा।
कस्तं मोचयिता बालं त्वां विना कुश पुत्रक ॥ २३ ॥
यथा विष्णुः स्मृतो भक्तं संसारान्मोचयेद् द्रुतम्।

उस अवस्थामें वे वीर उसे बाँधकर अपने नगरको ले जा रहे हैं। पता नहीं, मेरा लाल लव अभी जीवित है या मर गया। बेटा कुश! तुम्हारे सिवा दूसरा कौन उस बालकको छुड़ा सकता है, अतः जैसे स्मरण करनेपर भगवान् विष्णु अपने भक्तको शीघ्र ही भवबन्धनसे मुक्त कर देते हैं (उसी तरह तुम भी लवको छुड़ा लाओ) ॥ २३½ ॥

तत् तस्या वचनं श्रुत्वा त्रिशाखां भ्रुकुटीं दधत् ।२४।
नेत्रे विलोहिते बिभ्रत् कुशो वचनमब्रवीत्।

माताकी ऐसी बात सुनकर कुशकी भौंहोंमें तीन स्थानपर बल पड़ गये। उसके नेत्र विशेषरूपसे लाल हो गये। तब वह (अपनी मातासे) कहने लगा ॥ २४½ ॥

कुश उवाच

अद्य मद्बाणभिन्नानां वैरिणां रुधिरं धरा।
पास्यते रुधिरं कोष्णं शोषितं सूर्यभानुभिः ॥ २५ ॥

कुश बोला—माँ! आज यह पृथ्वी मेरे बाणोंसे विदीर्ण हुए शत्रुओंके सूर्य-किरणोंद्वारा सोखे जाते हुए गरम-गरम रक्तका पान करेगी ॥ २५ ॥

इन्द्रश्च वरुणो वापि कुबेरो वा महाबलः ॥ २६ ॥
यमश्च यक्षगन्धर्वास्तेषां साहाय्यकारिणः।
भवन्तु सर्वे देवाश्च साध्याश्चापि मरुद्गणाः ॥ २७ ॥
तथापि तान् रणे जित्वा लवं तं परिमोचये।

यदि इन्द्र, वरुण, महाबली कुबेर, यमराज, यक्ष, गन्धर्व, साध्यगण, मरुद्गण आदि समस्त देवता उनकी सहायता करनेको उद्यत हो जायँगे तो भी मैं उन्हें युद्धमें पराजित करके उस लवको छुड़ाऊँगा ॥ २६-२७½ ॥

एष गच्छामि भो मातर्निषङ्गौ धनुरेव च ॥ २८ ॥
प्रदेहि चर्म खड्गं च किरीटं कवचं तथा।

माँ! तुम मेरे दोनों अक्षय तरकस, धनुष, ढाल, तलवार, किरीट और कवचको उठा तो दो, मैं अभी जाता हूँ ॥२८½॥

तत् पुत्रवचनं श्रुत्वा सत्वरं जानकी तदा।
प्रविश्य शालां तां रम्यां प्रददाविषुधी धनुः ॥ २९ ॥

चर्म खड्गं किरीटं च कवचं च कुशोऽग्रहीत् ।
सन्नद्धः कवची खड्गी चापबाणधरो युवा ॥ ३० ॥
कुशो ययौ नमस्कृत्य जननीं तां च जानकीम् ।
सीतयासौ प्रयुक्ताशीः कुशो बाहू व्यताडयत् ॥ ३१ ॥
विस्फारयन् धनुश्चोग्रं जगाम त्वरितो बली ।
यथा मत्तद्विपान् सिंहीतनयोऽभ्येति निर्भयः ॥ ३२ ॥

तब पुत्रका वह वचन सुनकर जानकीने तुरंत ही उस रमणीय कुटियामें प्रवेश किया और दोनों तरकस, धनुष, ढाल, तलवार, किरीट और कवच लाकर कुशको दे दिया । फिर तो तरुण-अवस्थावाले कुशने उन्हें लेकर कवच पहिन लिया और तलवार लटका ली तथा हाथोंमें धनुष-बाण धारण करके वह युद्धके लिये उद्यत हो गया और अपनी माता जानकीको प्रणाम करके चल पड़ा । उस समय सीताजीने उसे आशीर्वाद दिया । तब जैसे सिंहिनीका बच्चा निर्भय होकर मतवाले हाथियोंके पास चला जाता है, उसी तरह बलवान् कुश अपनी भुजाओंपर ताल ठोंकने लगा और अपने विशाल धनुषकी टंकार करता हुआ तुरंत ही शत्रुओंकी ओर बढ़ा २९–३२

गच्छतस्तांस्ततो दृष्ट्वा शत्रून् दूरादथाह्वयत् ।
तिष्ठन्तु वैरिणः सर्वे यदि शक्तिर्हि विद्यते ॥ ३३ ॥
नो चेद् बन्धुर्मदीयोऽसौ मुच्यतां वाथ युद्ध्यताम् ।
अनिर्जित्य कुशं वीरं नोपसर्पितुमर्हथ ॥ ३४ ॥

तत्पश्चात् शत्रुओंको जाते हुए देखकर वह दूरसे ही उन्हें पुकारकर कहने लगा—'शत्रुओ ! यदि तुममें शक्ति-सामर्थ्य हो तो तुम सभी खड़े हो जाओ और युद्ध करो, अन्यथा मेरे भाई लवको छोड़ दो । मुझ वीर कुशको पराजित किये बिना तुमलोगोंका आगे बढ़ना उचित नहीं है' ३३-३४

तच्छ्रुत्वा वचनं घोरं योधा वाक्यमथाब्रुवन् ।
कोऽयमायाति वीरोऽसौ खड्गचर्मधरो युवा ॥ ३५ ॥
शरचापयुतः शूरः किरीटी कवची महान् ।
कालो नूनं हि सर्वेषामयं नो भविता किल ॥ ३६ ॥

उस भयंकर वचनको सुनकर योद्धा आपसमें कहने लगे—'यह कौन वीर आ रहा है ? इसकी तरुण-अवस्था है । यह ढाल-तलवार धारण किये हुए है । महान् शूरवीर, धनुष-बाणसे युक्त एवं किरीट और कवचसे सुशोभित है । यह निश्चय ही हम सब लोगोंका काल होगा ?' ॥ ३५-३६ ॥

इति जल्पन्ति वै सर्वे सैनिका भयविह्वलाः ।
ध्वजाः कणकणायन्ते द्रुमा वातेरिता इव ॥ ३७ ॥

इस प्रकार वे सभी सैनिक भयसे व्याकुल होकर बातें कर ही रहे थे कि उनकी ध्वजाओंमें वायुसे झकोरे हुए वृक्षकी भाँति खड़खड़ाहटका शब्द होने लगा ॥ ३७ ॥

किरीटानि च वीराणां गृध्राः पस्पर्शुरम्बरात् ।
तस्मिन् काले निषङ्गेभ्यः स्वयं निर्यान्त्यलं शराः ॥३८॥

उस समय गीध आकाशमार्गसे आकर उन वीरोंके मुकुटोंका स्पर्श करने लगे । पर्याप्तमात्रामें बाण अपने-आप तरकसोंसे बाहर निकलने लगे ॥ ३८ ॥

कोशेभ्यश्च पृथग् भूताः स्वयमेवासयो ययुः ।
चण्डो वातः प्रववृते द्रुमानुन्मूलयन् ध्वजान् ॥ ३९ ॥

तलवारें स्वयं ही म्यानोंसे बाहर निकल पड़ीं । वृक्षों तथा ध्वजाओंको जड़से उखाड़ती हुई प्रचण्ड आँधी चलने लगी ॥ ३९ ॥

रजसा संवृतं व्योम सूर्योऽन्तर्धानमागमत् ।
क्षणात् प्रशान्ते रजसि वीरास्तं ददृशुः कुशम्॥ ४० ॥

आकाश धूलसे आच्छादित हो गया, जिससे सूर्य छिप गये । क्षणभरके बाद जब धूल शान्त हुई, तब वीरोंने कुशको देखा ॥ ४० ॥

जैमिनिरुवाच

आयान्तं तं कुशं दृष्ट्वा शत्रुघ्नो वाक्यमब्रवीत् ।
गच्छ सेनापते शीघ्रं निवारय शिशुं शरैः ।
यावत् सैन्यं व्यूहयामस्तावद् युध्यस्व मारिष॥ ४१ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! उस कुशको आक्रमण करते हुए देखकर शत्रुघ्नने अपने सेनापतिसे कहा—'सेनापते ! तुम शीघ्र जाओ और बाणोंके प्रहारसे उस बच्चेको आगे बढ़नेसे रोको । आर्य ! जबतक मैं अपनी सेनाकी व्यूह-रचना करूँ, तबतक तुम उसके साथ युद्ध करो ॥ ४१ ॥

सेनापतिरुवाच

अहमेनं हनिष्यामि प्रसादात् तव सुव्रत ।
इत्युक्त्वा प्रययौ बालं सेनाध्यक्षस्तदा बली ॥ ४२ ॥
तिष्ठ तिष्ठेति चोवाच विव्याध दशभिः शरैः ।

सेनापतिने कहा—सुव्रत ! आपकी कृपासे मैं इस बालकको मार डालूँगा । यों कहकर वह बलवान् सेनाध्यक्ष उस समय बालक कुशपर चढ़ आया और 'खड़ा रह, खड़ा रह' कहते हुए उसने कुशपर दस बाणोंसे प्रहार किया ॥ ४२½ ॥

कुशस्तानच्छिनद् बाणान् सेनावाहमताडयत् ॥४३॥
चतुर्भिश्चतुरोऽस्याश्वाञ्जघान कुपितः कुशः।
सारथेश्च शिरः कायाज्जहार प्रहसन्निव ॥ ४४ ॥

तब कुशने उन बाणोंको काटकर सेनापतिको पीड़ित कर दिया। फिर क्रोधमें भरकर उसने चार बाणोंसे सेनापतिके चारों घोड़ोंको मार डाला और मुसकराते हुए-से सारथिके सिर-को भी धड़से काट गिराया॥ ४३-४४॥

रथं च तिलशः कृत्वा तान् हत्वा पार्ष्णिसारथीन्।
चिच्छेद च धनुस्तस्य कवचं चाति निर्मलम् ॥४५॥

रथके तिलके समान टुकड़े करके पार्श्वरक्षकोंको मार डाला। उसके धनुष तथा अत्यन्त निर्मल कवचको भी छिन्न-भिन्न कर दिया॥ ४५॥

द्वाभ्यां शराभ्यां चिच्छेद हस्तौ तस्य दुरात्मनः।
चरणौ व्यलुनात् तस्य जङ्घे ते मांसले कुशः ॥४६॥

कुशने दो बाणोंसे उस दुरात्माके दोनों हाथ, पैर और मोटी-मोटी जंघाओंको कुतर दिया॥ ४६॥

जहार श्मश्रुलं वक्त्रं कण्ठोज्ज्वलितकुण्डलम्।
सेनावाहे हते तस्मिन् हाहाकारो महानभूत् ॥४७॥

फिर जिसका गला कुण्डलोंकी कान्तिसे प्रकाशित हो रहा था, उसके उस दाढ़ी-मूँछवाले मुखको काट गिराया। उस सेनापतिके मारे जानेपर वहाँ महान् हाहाकार मच गया॥४७॥

सेनावाहं हतं दृष्ट्वा भ्राता तस्य नगाह्वयः।
आजगाम गजारूढः शक्त्या तमहनत् कुशम् ॥ ४८ ॥

सेनापतिको मारा गया देखकर उसका भाई नग हाथी-पर सवार होकर वहाँ आ धमका और उसने कुशपर शक्तिसे वार किया॥ ४८॥

तां शक्तिं वह्निकूटाभां ज्वलन्तीमशनीमिव।
चिच्छेद पञ्चभिर्बाणैः सीतासूनुर्महाबलः ॥ ४९ ॥
चरणांश्चतुरोऽप्यस्य गजस्य व्यलुनात् कुशः।

तब महाबली सीताकुमार कुशने अग्नि-ज्वालाकी-सी कान्तिवाली एवं वज्र-सदृश प्रकाशमान उस शक्तिको पाँच बाणों-से काट दिया और उसके गजराजके चारों पैरोंको भी कुतर दिया॥ ४९½॥

संछिन्नचरणात् तस्माद् गजादाप्लुत्य धारयन् ॥५०॥
गदां विचित्रां महतीं नगोऽसौ व्यगमत् कुशम्।
कुशस्तं गदिनं हस्तं चिच्छेदाशीविषोपमम् ॥ ५१ ॥

तत्पश्चात् वह नग कटे हुए पैरोंवाले उस हाथीसे कूद पड़ा और अपनी विचित्र एवं विशाल गदा हाथमें लेकर कुश-पर चढ़ दौड़ा। कुशने सर्पके समान चढ़ाव-उतारवाले उस गदाधारी हाथको काट गिराया॥ ५०-५१॥

वामहस्तेन भूमिस्थं चक्रं जग्राह सत्वरः।
तमप्यपातयद् भूमौ बाहुं चक्रधरं कुशः ॥ ५२ ॥

तब उसने तुरंत ही बायें हाथसे पृथ्वीपर पड़े हुए एक चक्रको उठा लिया। तब कुशने उस चक्रधारी बायें हाथको भी काटकर भूतलपर गिरा दिया॥ ५२॥

तथापि धावमानस्य चरणावच्छिनद् द्रुतम्।
संछिन्नचरणो वीरश्छिन्नबाहुर्नगो बली ॥ ५३ ॥
धूलिधूसरसर्वाङ्गो रुधिरेण परिप्लुतः।
आससाद नगो बालं राहुः सूर्यमिवाम्बरे ॥ ५४ ॥

हाथोंके कट जानेपर भी जब वह दौड़ता ही रहा, तब कुशने शीघ्र ही उसके दोनों पैरोंको भी काट दिया। तत्पश्चात् जिसके हाथ-पैर कट चुके थे, जो खूनसे लथपथ हो रहा था तथा जिसके सारे शरीरमें धूल लिपटी हुई थी, वह बलशाली वीर नग बालक कुशके ऊपर उसी तरह झपटा, जैसे आकाशमें राहु सूर्यपर आक्रमण करता है॥ ५३-५४॥

छिन्नाभ्यामथ बाहुभ्यां गदां चिक्षेप तं प्रति।
स तया ताडितो वीरः पदान्न चलितः पदम् ॥ ५५ ॥

उसने अपनी कटी हुई भुजाओंसे कुशके ऊपर गदा फेंकी; परंतु उस गदासे आहत होकर वीरवर कुश एक पग भी विचलित न हुआ॥ ५५॥

तुतोषास्य कुशो वीरः प्रतापेन च तादृशः।
ततः सुनिशितं बाणं वधायास्य मुमोच सः ॥ ५६ ॥

उसके ऐसे प्रतापको देखकर वीरवर कुश संतुष्ट हो गया। तत्पश्चात् उसने नगका वध करनेके लिये एक अत्यन्त तीखा बाण चलाया॥ ५६॥

शरेण तेन वै छिन्नं शिरः खे तद् व्यलीयत।
शम्भुना मुण्डमालार्थं गृहीतं तद् वरं शिरः ॥ ५७ ॥

उस बाणसे उसका सिर कटकर आकाशमें विलीन हो गया। शंकरजीने अपनी मुण्डमालाके लिये उस उत्तम मस्तक-को ग्रहण कर लिया॥ ५७॥

एवं नगे विनिहते कुशः कोपसमन्वितः।
तत् सैन्यं व्यहनद् बाणैर्दण्डपाणिरिवान्तकः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार नगके मारे जानेपर कुश क्रोधमें भरकर दण्ड-पाणि यमराजकी भाँति बाणवर्षा करके उस सेनाका संहार करने लगा ॥ ५८॥

गजान् पर्वतसंकाशान् विददार वृषेध सः ।
उच्छलद्रुधिरेणाथ वीरास्ते रक्तवाससः ॥ ५९ ॥
अजायन्त भृशं विग्नाः पुष्पिता इव किंशुकाः ।
बाणैः पतद्भिस्तु बलादग्निः प्रादुरभून्महान् ॥ ६० ॥

जैसे इन्द्र पर्वतको विदीर्ण कर देते हैं, उसी तरह कुश-ने पर्वत-सदृश विशालकाय गजराजोंको चीर डाला । उनके शरीरोंसे उछलते हुए रुधिरसे उन वीरोंके वस्त्र लाल हो गये । वे अत्यन्त उद्विग्न हो उठे । उस समय उनकी शोभा खिले हुए पलाश-वृक्षोंकी भाँति हो रही थी । निरन्तर गिरते हुए बाणोंके संघर्षसे वहाँ महान् अग्नि प्रकट हो गयी ॥

रथनागेन्धनो वह्निर्ववृधे स च बालकः ।
पतद्भिर्वारणैर्मत्तैर्म्रियन्ते स्म महारथाः ॥ ६१ ॥

वह अग्नि रथ और हाथीरूपी इन्धनको पाकर ज्यों-ज्यों उद्दीप्त होने लगी, त्यों-त्यों बालक कुशका पराक्रम भी प्रचण्ड होता गया । गिरते हुए मतवाले हाथियोंसे दबकर कितने महारथी कालके गालमें चले गये ॥ ६१ ॥

स्वयमेव विदीर्यन्ते रथाश्चक्राणि ते ध्वजाः ।
जहुः प्राणानश्वचराः शरैर्भिन्नकलेवराः ॥ ६२ ॥

रथ, चक्र और ध्वज स्वयं ही टूटकर चूर-चूर हो गये । बाणोंके आघातसे शरीरके छिन्न-भिन्न हो जानेपर घुड़सवारोंने प्राण त्याग दिये ॥ ६२ ॥

हस्त्यश्वरथसंघाताः पदाता न्यपतन् भुवि ।
विष्णुभक्तिमकुर्वाणाः संसृताविव चाधमाः ॥ ६३ ॥
कन्यावित्तेन यो जीवेत् तदीयाः पितरो यथा ।

जैसे संसारमें विष्णुभक्तिसे विमुख अधम जीव पतित हो जाते हैं तथा जैसे कन्याके धनसे जीवन-यापन करनेवालेके पितरोंका स्वर्गसे पतन हो जाता है, उसी तरह झुंड-के-झुंड हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिक धराशायी हो गये ॥

एवं विनिहतं सैन्यं रथनागसमाकुलम् ॥ ६४ ॥
कुशेन तेन वीरेण स्वधर्मेणेव दुष्कृतम् ॥ ६५ ॥

उस वीरवर कुशने रथों और हाथियोंसे व्याप्त उस सेनाका उसी प्रकार संहार कर डाला, जैसे अपने ही धर्मा-चरणसे अपना पाप नष्ट हो जाता है ॥ ६४-६५ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि कुशलवोपाख्याने कुशयुद्धवर्णनं नामैकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें कुशलवोपाख्यानके प्रसंगमें कुशके युद्धका वर्णन नामक इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३१॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

कुशलवोपाख्यान—कुशके बाणोंसे शत्रुघ्नका मूर्च्छित होना, शेष सैनिकोंका भागकर अयोध्यामें श्रीरामसे सूचित करना, श्रीरामकी आज्ञासे लक्ष्मणका सेनासहित युद्धस्थलमें पहुँचना

जैमिनिरुवाच

ततः प्राप्तो महाबाहुः शत्रुघ्नो धूनयन् धनुः ।
विव्याध नवभिर्बाणैः कुशं तं कोपपूरितः ॥ १ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर महाबाहु शत्रुघ्न अपने धनुषको कँपाते हुए वहाँ आ पहुँचे और क्रोधमें भरकर उन्होंने उस कुशको नौ बाणोंसे बींध दिया ॥ १ ॥

ततः कुशोऽपि बलवान् रथं साश्वं व्यचूर्णयत् ।
शत्रुघ्नं हृदि विव्याध शरेणानतपर्वणा ॥ २ ॥
पुनश्च षष्ट्या विव्याध नाराचानां स्तनान्तरे ।

तब बलवान् कुशने भी घोड़ेसहित शत्रुघ्नके रथको तोड़-कर चूर्ण कर दिया और फिर एक झुकी हुई गाँठवाले बाणसे उनके हृदयको घायलकर पुनः उनकी छातीमें साठ बाणोंसे प्रहार किया ॥ २½ ॥

सोऽतिविद्धस्तु शत्रुघ्नो रथोपस्थे पपात ह ॥ ३ ॥
यथा मत्तो हि मातङ्गः स्खलितः पर्वतेऽपतत् ।
हतशेषाश्च ये योधास्तेऽप्ययोध्यां ययुर्द्रुतम् ॥ ४ ॥

उस प्रहारसे अत्यन्त घायल होकर शत्रुघ्न रथके पिछले भागमें गिर पड़े, मानो कोई मदमत्त गजराज पर्वतपर फिसल-कर गिर पड़ा हो । तब जो योधा मरनेसे बच गये थे, वे वेग-पूर्वक अयोध्याकी ओर भाग चले ॥ ३-४ ॥

अथ मूर्च्छां विहायासौ लवोऽपश्यत् स्वबान्धवम् ।
उत्थाय परिरभ्यैनं कुशं वीरं जहर्ष च ॥ ५ ॥

इधर जब लवकी मूर्च्छा टूटी; तब उसने अपने भाई वीरवर कुशको देखा, फिर तो उसने उठकर भाईका आलिङ्गन किया, जिससे उसे बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ५ ॥

उवाच च कुशं भ्रातर्धारयामि तुरङ्गमम्।
तेनानुनीतः स लवो बबन्धे तं तुरङ्गमम् ॥ ६ ॥

तत्पश्चात् उसने कुशसे कहा—'भैया! क्या मैं घोड़ेको पकड़ लूँ?' तब कुशकी अनुमति पाकर लवने पुनः उस घोड़ेको बाँध लिया ॥ ६ ॥

उभौ तौ भ्रातरौ युक्तौ यथा वायुविभावसू।
प्रतीक्षमाणौ वीराणामागमं तस्थतुर्बलात् ॥ ७ ॥

तदनन्तर वायु और अग्निकी भाँति वे दोनों भाई एक साथ होकर वीरोंके आगमनकी प्रतीक्षा करते हुए अपने बलके भरोसे डटकर खड़े हो गये ॥ ७ ॥

जैमिनिरुवाच

मृतशेषाश्च ये योधास्ते गत्वा राममब्रुवन्।
समासीनं दीक्षितं च मृगशृङ्गपरिग्रहम् ॥ ८ ॥
त्वचं रुरोर्वसानं च दण्डधारं सुमेखलम्।
भ्रातृभ्यां सहितं शूरं मुनिभिः परिवारितम् ॥ ९ ॥
तिलाज्यहोमसम्भूतधूमेनारुणलोचनम् ।
सुवर्णसीतया युक्तं मण्डपस्थमिदं वचः ॥ १० ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! उधर जो सैनिक मरनेसे बच गये थे, उन्होंने अयोध्यामें श्रीरामके पास जाकर पुकार मचायी। उस समय श्रीराम यज्ञकी दीक्षा ग्रहणकर बैठे हुए थे। मृगका सींग ही उनका परिग्रह था। वे रुरुनामक मृगके चर्मको धारण किये हुए थे। उनके हाथमें दण्ड था और कमरमें मेखला सुशोभित थी। दोनों भाइयों (भरत और लक्ष्मण) सहित शूरवीर राम मुनियोंसे घिरे हुए थे। तिल और घीके हवनसे उठे हुए धुएँसे उनके नेत्र लाल हो रहे थे। वे स्वर्णमयी सीताके साथ मण्डपमें विराजमान थे। उन श्रीरामके पास जाकर योद्धाओंने इस प्रकार कहा—॥८–१०॥

योद्धा ऊचुः

हे राम तेऽश्वः पृथिवीं चचार
वीरोऽपि कश्चिन्न दधार तं पुनः।
एकोऽग्रहीत् त्वादृश एव बालक-
स्तेनास्मदीयं निहतं बलं च ॥ ११ ॥

योधा बोले—महाराज राम! आपका अश्व पृथ्वीपर विचर रहा था, उसे किसी भी वीरने नहीं पकड़ा; परंतु एक बालकने, जिसकी आकृति आप-जैसी ही है, उस घोड़ेको बाँध लिया और उसने हमारी सेनाका संहार भी कर डाला ॥

धृतः कथंचित् तव चानुजेन
छित्त्वा धनुः श्रान्ततनुर्हि बालः।
तस्यापरो बन्धुरदीनसत्त्वः
प्राप्तः स चापासिधरो बलीयान् ॥ १२॥

तब आपके अनुज शत्रुघ्नने उस थके हुए शरीरवाले बालकके धनुषको काटकर किसी प्रकार उसे पकड़ लिया, इतनेमें ही उसका दूसरा भाई, जो उदार पराक्रमी एवं अत्यन्त बलवान् है, धनुष और तलवार धारण किये वहाँ आ पहुँचा ॥

तेनापि शेषं निहतं तवोग्रं
सैन्यं च सेनापतिना समेतम्।
तस्मिन् हते कश्मलमाशु सैन्यं
जगाम सर्वाः प्रदिशो दिशश्च ॥ १३ ॥

उसने भी बची-खुची आपकी भयंकर सेनाको सेनापतिसहित मार गिराया। सेनाध्यक्षके मारे जानेपर सारी सेना कष्टमें पड़ गयी और शीघ्र ही दिशाओं-विदिशाओंमें भाग चली ॥

जैमिनिरुवाच

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा रामो विस्मयमागतः।
उवाच किमयं जल्पो युष्माकं किमुत भ्रमः ॥ १४ ॥
पैशाच्यं किमु युष्माकं शत्रुघ्नः केन पात्यते।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! सैनिकोंकी वह बात सुनकर श्रीराम आश्चर्यचकित होकर बोले—'क्या तुमलोग यह बकवाद कर रहे हो या तुम्हें भ्रम हो गया है, अथवा तुमलोगोंपर पिशाच सवार हो गया है, जो ऐसी बातें कह रहे हो? भला, शत्रुघ्नको कौन गिरा सकता है?' ॥१४½॥

योधा ऊचुः

न जल्पोऽस्मासु राजेन्द्र न भ्रमो न पिशाचता ॥१५॥
स्मृतो यैस्त्वं सकृद् राम न जल्पो न पिशाचता।
भ्रमो न विद्यते तेषां जायते ज्ञानमुत्तमम् ॥ १६ ॥
साक्षाद् दृष्टे त्वयि विभो भ्रमोऽस्मासु कथं भवेत्।
जल्पः पिशाचता वापि कुतः स्याद् रघुनन्दन ॥१७॥

योधाओंने कहा—राजेन्द्र! न हम बकवाद कर रहे हैं, न हमें भ्रम है और न पिशाच ही लगा है। श्रीराम! जो एक

बार भी आपका स्मरणमात्र कर लेते हैं, उनकी बकवाद, पिशाचता और भ्रान्तिका नाश हो जाता है और उन्हें उत्तम ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है, फिर विभो! हमलोग तो आपका साक्षात् दर्शन कर रहे हैं, अतः रघुनन्दन ! हमें भ्रम कैसे हो सकता है ? बकवाद अथवा पिशाचता भी कहाँसे आयेगी ? ॥

रणे शेते स शत्रुघ्नः शिशोर्बाणैः प्रपीडितः ।
ततः सुदुःखितो रामो विलपन्निदमब्रवीत् ॥ १८ ॥

वास्तवमें उस शिशुके बाणोंसे अत्यन्त घायल होकर शत्रुघ्न रणभूमिमें सो रहे हैं । तब श्रीराम अत्यन्त दुखी होकर विलाप करते हुए यों कहने लगे ॥ १८ ॥

राम उवाच

विप्रद्विट् लवणो येन घातितो निशितैः शरैः ।
मदीयं वचनं कर्ता स शत्रुघ्नोऽर्भकैर्हतः ॥ १९ ॥

श्रीराम बोले—हाय ! जिसने अपने पैने बाणोंसे ब्राह्मणद्रोही लवणासुरका वध किया था, जो मेरी आज्ञाका पालन करनेवाला था, उस शत्रुघ्नको बच्चोंने मार डाला ? ॥

केन दोषेण मे भ्राता ह्यवस्थां तादृशीं गतः ।
एहि लक्ष्मण भद्रं ते श‍ृणु मे परमं वचः ॥ २० ॥

न जाने किस दोषके कारण मेरा भाई शत्रुघ्न ऐसी दशाको प्राप्त हुआ है ? लक्ष्मण ! तुम्हारा कल्याण हो ! अब तुम मेरे पास आओ और मेरी इस उत्तम बातको सुनो ॥

अहं हि दीक्षितो भ्रातर्न मया योद्धुमिष्यते ।
सैन्येन महता युक्तो भ्राता तिष्ठति यत्र ते ॥ २१ ॥
तत्र गत्वा प्रयोद्धव्यं मोच्योऽश्वः सत्त्वबान्धवः ।
तद्वाक्याल्लक्ष्मणस्तूर्णं प्रययौ सैनिकैः सह ॥ २२ ॥

प्यारे भाई ! मैंने यज्ञकी दीक्षा ले रखी है, इसलिये मेरा युद्ध करना उचित नहीं है; अतः तुम विशाल सेनाके साथ उस स्थानपर जाओ, जहाँ तुम्हारा भाई शत्रुघ्न पड़ा है । वहाँ जाकर तुम्हें विशेष उत्साहपूर्वक युद्ध करना चाहिये और यदि शत्रुघ्नके प्राण शेष हों तो उस भाई तथा अश्वको छुड़ाना चाहिये । श्रीरामकी आज्ञा पाकर लक्ष्मण तुरंत ही सैनिकोंके साथ प्रस्थित हुए ॥ २१-२२ ॥

ततो मत्ताश्च मातङ्गा रथाः काञ्चनभूषणाः ।
सादिनो नगरात् तस्मात् पत्तयश्च विनिर्ययुः ॥ २३ ॥

तदनन्तर मतवाले हाथी, सोनेके आभूषणोंसे विभूषित रथ, घुड़सवार और पैदल सैनिक अयोध्या नगरसे बाहर निकले ॥ २३ ॥

सर्वे रक्तपताकाश्च सर्वे रक्ताम्बरध्वजाः ।
चन्दनेनावलिप्ताङ्गा रणत्कङ्कणमण्डिताः ॥ २४ ॥

उन सब वीरोंकी पताकाएँ लाल वर्णकी थीं । उनके वस्त्र तथा ध्वज भी लाल रंगके ही थे । उनके शरीरपर चन्दनका अनुलेप लगा हुआ था और हाथ बजते हुए कंकणोंसे सुशोभित थे ॥ २४ ॥

वीरश्रीपरिणेतारो मालाभिर्बद्धमूर्द्धजाः ।
साक्षात् कालावताराः किं युद्धसंस्थामभीप्सवः ॥ २५ ॥

वे सभी विजयश्रीका वरण करना चाहते थे । उनके केश पुष्पमालाओंसे बँधे हुए थे । उन्हें देखकर मनमें यह प्रश्न उठता था कि क्या ये रणाङ्गणमें जानेकी इच्छावाले साक्षात् कालके अवतार हैं ? ॥ २५ ॥

युवानः श्मश्रुला वीरा युद्धशौण्डाः प्रहारिणः ।
श्वेताम्बरधराः सर्वे धीराः श्वेतपताकिनः ॥ २६ ॥
एकपत्नीव्रतयुता धर्मिष्ठाश्च जितेन्द्रियाः ।
निर्ययुर्नगरात् तस्माच्छतशोऽथ सहस्रशः ॥ २७ ॥

वे सभी वीर नौजवान, मूँछवाले, युद्धकुशल, प्रहार करनेमें चतुर, श्वेतवस्त्रधारी, धैर्यसम्पन्न, श्वेत पताकाओंसे युक्त, एकपत्नीव्रती, धर्मात्मा और जितेन्द्रिय थे । ऐसे सैकड़ों-हजारों वीर उस नगरसे बाहर निकले ॥ २६-२७ ॥

तेषामधिपतिर्ह्यासील्लक्ष्मणो बलवत्तरः ।
सेनानीः कालजिच्चासीद् धर्मिष्ठो ब्राह्मणप्रियः ॥ २८ ॥

उनके अधिपति महाबली लक्ष्मण थे और कालजित् सेनापति था, जो ब्राह्मणोंका प्रेमी एवं धर्मपालनमें तत्पर रहनेवाला था ॥ २८ ॥

गच्छता तेन सैन्येन कृताः शुष्काः समुद्रगाः ।
सरितः पर्वताश्चूर्णीभूता वाजिखुरैर्दृढैः ॥ २९ ॥

आगे बढ़ती हुई उस सेनाने (जल पीकर) समुद्रगामिनी नदियोंको सुखा दिया और घोड़ोंके सुदृढ़ टापोंसे खुदकर पर्वत चूर-चूर हो गये ॥ २९ ॥

विपिनानि स्थलान्यासंस्तृणं शत्रुमुखे स्थितम् ।
तत्परिग्रहणैस्तैस्तु पयो न सरितामपि ॥ ३० ॥

बड़े-बड़े वन रौंदे जानेके कारण समतल भूमिके

समान हो गये । तृण शत्रुओंके मुखमें चला गया । उन सैनिकोंद्वारा जल ग्रहण कर लिये जानेपर नदियोंका जल समाप्त हो गया ॥ ३० ॥

चक्रै रथानामश्वानां खुरैः प्रादुरभूद् रजः ।
मेघानामुपरिष्टात् तद् रजः पङ्कीबभूव ह ॥ ३१ ॥

रथोंके पहियों एवं घोड़ोंकी खुरोंसे खुदी हुई धरतीसे धूल उड़ने लगी । वह धूल मेघोंके ऊपर पहुँचकर कीचड़के रूपमें बदल गयी ॥ ३१ ॥

तेन पङ्केन मेघेषु घनत्वमभवत् तदा ।
उच्चानां वारणानां च शुण्डादण्डैर्भृशं हताः ॥ ३२ ॥
घनाः शनैः पलायन्ते पङ्कभारविनामिताः ।

उस समय उस कीचके मिल जानेसे बादल घनीभूत हो गये । ऊपरसे तो वे कीचके भारसे झुके पड़ते थे और नीचेसे विशालकाय गजराजोंके शुण्डदण्डसे अत्यन्त आहत हो रहे थे, अतः वे मेघ धीरे-धीरे इधर-उधर भागने लगे ॥ ३२½ ॥

पुरस्तादुत्प्लवन्ति स्म खड्गचर्मधरा नराः ॥ ३३ ॥
अश्ववाहाः प्रधावन्ति कुर्वन्तो विविधा गतीः ।
मेघनिर्घोषगम्भीरं गर्जन्तः प्रययू रथाः ॥ ३४ ॥
कम्पयन्तो धरां नागाः पर्वता इव निर्ययुः ।

ढाल-तलवार धारण करनेवाले पैदल सैनिक आगे-आगे उछलने-कूदने लगे । घुड़सवार नाना प्रकारकी चालें दिखाते हुए दौड़ लगाने लगे । रथ मेघकी गड़गड़ाहटके समान गम्भीर गर्जना करते हुए आगे बढ़ने लगे और पर्वताकार विशालकाय गजराज पृथ्वीको कँपाते हुए चलने लगे ॥ ३३-३४½ ॥

जैमिनिरुवाच

बबृंहिरे गजा मत्ता हया युद्धे जिहेषिरे ॥ ३५ ॥
जगर्जिरे रथाश्चक्रैः पत्तयश्च डिडिम्बिरे ।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! युद्धस्थलमें मतवाले गजराज चिग्घाड़ने और घोड़े हींसने लगे, रथोंके पहियोंसे घरघराहटकी आवाज होने लगी तथा पैदल सैनिक सिंहनाद करने लगे ॥ ३५½ ॥

ततः प्राप्तमनीकं तल्लक्ष्मणस्य भयानकम् ।
यत्रासौ मूर्च्छितः शेते शत्रुघ्नः सैनिकैः सह ॥ ३६ ॥

तदनन्तर लक्ष्मणकी वह भयंकर सेना उस स्थानपर जा पहुँची, जहाँ सैनिकोंसहित शत्रुघ्न मूर्च्छित होकर सो रहे थे ॥

ततः सुमित्रातनयः पुरस्ता-
ज्ज्येष्ठो ययौ कालजिता समेतः ।
ददर्श वीरं विकलं सुकेशं
शत्रुघ्नमात्यन्तिकजीवशेषम् ॥ ३७ ॥

फिर तो सुमित्राके ज्येष्ठ पुत्र लक्ष्मण कालजित्के साथ आगे बढ़े । उस समय उन्होंने सुन्दर केशवाले वीरवर शत्रुघ्न-को छटपटाते हुए देखा । उनके प्राणमात्र शेष रह गये थे ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि कुशलवोपाख्याने लक्ष्मणागमनं नाम द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें कुशलवोपाख्यानके प्रसङ्गमें युद्धस्थलमें लक्ष्मणका आगमननामक बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

कुशलवोपाख्यान—कुश और लवकी बातचीत, धनुषके लिये लवद्वारा सूर्यदेवकी स्तुति और सूर्यका उसे धनुष प्रदान करना, लवका भयंकर पराक्रम, लवद्वारा मन्त्री सुज्ञके दस पुत्रोंका तथा राक्षस रुधिराक्षका वध

जैमिनिरुवाच

तत् सैन्यं भीषणं दृष्ट्वा तत्प्रभुं लक्ष्मणं तथा ।
उवाच निर्भयो वीरः शत्रूणामङ्कुशः कुशः ॥ १ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर उस भयंकर सेना तथा उसके स्वामी लक्ष्मणको देखकर शत्रुओंके लिये अङ्कुशके समान कष्टदायक वीरवर कुश निर्भय होकर कहने लगा—॥ १ ॥

किमिदानीं च कर्तव्यं लव सैन्यं समागतम् ।
वारणानां रथानां च संख्यां कर्तुं न पार्यते ॥ २ ॥

'लव ! सेना तो आ गयी; अब हमलोगोंको क्या करना

चाहिये ? इस सेनामें इतने रथ और हाथी हैं कि उनकी गणना नहीं की जा सकती' ॥ २ ॥

लव उवाच

युद्धमत्र प्रकर्तव्यं हन्तव्याः सैनिकास्त्वमी ।
कूष्माण्डफलवद् भेद्या रथाश्छेद्या रसालवत् ॥ ३ ॥
शिरांसि पक्कफलवत् पातनीयानि भूतले ।

तब लव बोला—भैया ! इस समय युद्ध करना ही हमलोगोंका कर्तव्य है । इन सैनिकोंको कुम्हड़ेकी तरह विदीर्ण कर डालना चाहिये । रथोंको आमकी भाँति काट डालना चाहिये और वीरोंके मस्तकोंको पके हुए फलकी तरह भूतलपर गिरा देना चाहिये ॥ ३½ ॥

भ्रातः कुश महाबाहो समग्रस्य बलस्य ते ॥ ४ ॥
न योग्यमेतत् सैन्यं स्यादगस्त्यस्येव सागरः ।
न च सिंहस्य पुरतो जम्बूकालिः प्रसर्पति ॥ ५ ॥

महाबाहु भैया कुश ! जैसे अगस्त्यजीके सामने सागर नहींके बराबर है, उसी तरह आपके सम्पूर्ण बलके समक्ष इस सेनाकी क्या योग्यता है ? भला, कहीं सिंहके सामने गीदड़ोंका दल आगे बढ़ सकता है ? ॥ ४-५ ॥

पुण्यां भागीरथीं दृष्ट्वा पापराशिः क्षयं व्रजेत् ।
तथा त्वां समरे सेना दृष्ट्वा शीघ्रं विनश्यति ॥ ६ ॥
केवलं श्रोत्रियैरेव धार्यस्त्वं न च सैनिकैः ।
अहं हि वाहिनीवेगान्न भग्नः स्यां कथंचन ॥ ७ ॥

जैसे परम पावनी गङ्गाजीका दर्शन करके पापराशिका नाश हो जाता है, उसी तरह समरभूमिमें आपको देखकर इस सेनाका शीघ्र ही विनाश हो जायगा; क्योंकि आपको तो केवल श्रोत्रिय ब्राह्मण ही धारण कर सकते हैं, ये सैनिक आपके वेगको नहीं सह सकते । इधर मैं भी इस सेनाके वेगसे किसी प्रकार पीछे नहीं हट सकता ॥ ६-७ ॥

उत्तिष्ठ धनुरुद्यम्य बाणान् योजय मा चिरम् ।
अहं सैन्यमिदं सर्वं रुणध्मि निशितैः शरैः ॥ ८ ॥
किं करोमि धनुश्छिन्नं ततः सूर्यमुदैक्षत ।
लवो निश्चलया दृष्ट्या मनसा प्रार्थयन् धनुः ॥ ९ ॥

अतः उठिये और धनुष उठाकर उसपर बाण संधान कीजिये । अब विलम्ब मत कीजिये । मैं इस सारी सेनाको अपने तीखे बाणोंसे आच्छादित कर सकता हूँ; परंतु क्या करूँ, मेरा धनुष तो कट गया है । तदनन्तर लव मनमें धनुषके लिये प्रार्थना करता हुआ एकटक दृष्टिसे सूर्यकी ओर देखने लगा ॥ ८-९ ॥

लव उवाच

नमः सवित्रे सूर्याय पूष्णे ज्योतिष्मते नमः ।
नमः सप्ततुरङ्गाय नित्यं व्योमचराय च ॥ १० ॥

(मन-ही-मन प्रार्थना करते हुए) लवने कहा—सूर्यदेव ! आप सविता (जगत्‌को उत्पन्न करनेवाले) और सूर्य (प्रेरक) हैं, आपको नमस्कार है । पूषा (पुष्टिदायक) एवं प्रकाशपुञ्ज आपको प्रणाम है । आप सात घोड़ोंवाले रथपर बैठकर नित्य आकाशमें विचरते रहते हैं, आपको नमस्कार है ॥ १० ॥

मेषादीनामधीशाय मासि मासि नमो नमः ।
अयनद्वयकर्त्रे च प्रकाशाय नमोऽस्तु ते ॥ ११ ॥

आप मास-मासमें क्रमशः मेष आदि राशियोंके स्वामी होते रहते हैं, आपको बारंबार अभिवादन है । आप उत्तरायण और दक्षिणायनरूप दो अयनोंके प्रवर्तक और प्रकाशरूप हैं, आपको प्रणाम है ॥ ११ ॥

मूकान्धबधिराणां च वाङ्नेत्रश्रोत्रदाय च ।
शिरोर्तिशूलकुष्ठानां नाशकाय नमोऽस्तु ते ॥ १२ ॥

आप गूँगों, अन्धों और बहरोंको वाक्‌शक्ति, दृष्टिशक्ति, और श्रवणशक्ति प्रदान करनेवाले तथा सिरकी पीड़ा, शूल और कुष्ठरोगके विनाशक हैं, आपको नमस्कार है ॥ १२ ॥

नमः सुवर्णवर्णाय सहस्रकिरणाय च ।
जगतामेकनेत्राय भगवते भास्कराय च ॥ १३ ॥

जिनकी कान्ति स्वर्णके समान है, जो सहस्र किरणोंसे सम्पन्न और जगत्‌के प्राणियोंके लिये एकमात्र नेत्रस्वरूप हैं, उन भगवान् भास्करको प्रणाम है ॥ १३ ॥

दिवाकराय पिङ्गाय पयःस्रष्ट्रे घनाय तु ।
नमः पर्यायरूपाय जन्मत्राणक्षयाय ते ॥ १४ ॥

जो दिनके प्रवर्तक हैं, जिनके शरीरकी कान्ति पीली है, जो जलके स्रष्टा और मेघस्वरूप हैं तथा (सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुगके) क्रमके स्थापक और जगत्‌की उत्पत्ति, रक्षा और संहार करनेवाले हैं, उन सूर्यदेवको नमस्कार है ॥

ऋग्वेदरूपिणे तुभ्यं नमो ब्राह्मणरूपिणे ।
यजुःसामाथर्वकर्त्रे पुराणानामकारिणे ॥ १५ ॥

ऋग्वेद जिनका स्वरूप है, जो ब्राह्मणरूपमें प्रकट होते हैं तथा यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, पुराण और आगमके कर्ता अर्थात् प्रवर्तक हैं, उन सूर्यदेवको प्रणाम है ॥ १५ ॥

गाथेतिहासकर्त्रे ते नमो ब्रह्मस्वरूपिणे ।
नमो विश्वस्वरूपाय रुद्ररूपाय ते नमः ॥ १६ ॥

आप कथा-इतिहासका ज्ञान प्रदान करनेवाले और ब्रह्म-स्वरूप हैं, आपको नमस्कार है। आप विश्वस्वरूप और रुद्र-रूप हैं, आपको बारंबार प्रणाम है ॥ १६ ॥

विश्वस्य वाञ्छितकराय मनोरमाय
विश्वेश्वराय पुरुषाय सदामलाय ।
हंसाय चण्डघृणये मणिकुण्डलाय
नौम्याहवे जयकरं धनुरद्य मेऽस्तु ॥ १७ ॥

भगवन्! आप विश्वके प्राणियोंके अभीष्टदाता, मनमें रमण करनेवाले, विश्वेश्वर, आदिपुरुष, सदा मलरहित और हंसस्वरूप हैं । आप प्रचण्ड किरणोंवाले तथा मणियोंके कुण्डलोंसे विभूषित हैं, मैं आपके चरणोंमें नतमस्तक होकर प्रणाम करता हूँ। सूर्यदेव! आज आपकी कृपासे मुझे युद्ध-स्थलमें विजय दिलानेवाला धनुष प्राप्त हो ॥ १७ ॥

जैमिनिरुवाच

स्तोत्रेणानेन संतुष्टो रविर्दिव्यं शरासनम् ।
ददौ लवाय सौरं च पठतां श्रेय उत्तमम् ॥ १८ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! इस स्तोत्रद्वारा स्तवन करनेसे सूर्यदेव प्रसन्न हो गये। उन्होंने लवको एक दिव्य धनुष प्रदान किया; क्योंकि सूर्य-स्तोत्रका पाठ करनेवालोंको उत्तम कल्याणकी प्राप्ति होती ही है ॥ १८ ॥

सुवर्णपट्टै रुचिरैर्निबद्धं सगुणं दृढम् ।
धनुः प्राप्य महाबाहुर्लवः कुशमथाब्रवीत् ॥ १९ ॥

तब सुन्दर एवं चमकीले स्वर्णपत्रसे बँधे हुए प्रत्यञ्चा-सहित उस मजबूत धनुषको पाकर महाबाहु लवने कुशसे कहा ॥

लव उवाच

उपदिष्टं हि यत् स्तोत्रं मुनिना गुरुणा मम ।
सौरं तज्जपितं भ्रातस्तस्माल्लब्धं मया धनुः ॥ २० ॥

लव बोला—भैया! मेरे गुरु मुनि वाल्मीकिने मुझे जिस सूर्यसम्बन्धी स्तोत्रका उपदेश दिया था, मैंने उसीका जप किया है। उसीके प्रभावसे मुझे इस धनुषकी प्राप्ति हुई है ॥ २० ॥

यद् यदस्त्रमयं वस्तु तदहं प्राप्तवान् महत् ।
इत्येवमुक्त्वा वचनं संजग्माते महाबलौ ॥ २१ ॥

यहाँतक कि जो-जो अस्त्रसम्बन्धी महान् वस्तुएँ हैं, वे सभी मुझे प्राप्त हो गयी हैं। इस प्रकार बातें करके वे दोनों महाबली वीर युद्धके लिये चले ॥ २१ ॥

दग्धुं सैन्याटवीं किं तौ प्राप्तौ वायुविभावसू ।
तौ प्रविष्टौ चमूं घोरां लक्ष्मणेनाभिपालिताम् ॥ २२ ॥

(उन्हें देखकर ऐसा संदेह होता था कि) क्या वायु और अग्नि एक साथ मिलकर सेनारूपी वनको भस्म करनेके लिये आ पहुँचे हैं ? तत्पश्चात् उन दोनोंने लक्ष्मणद्वारा सुरक्षित उस भयंकर सेनामें प्रवेश किया ॥ २२ ॥

वर्षमाणौ शरान् घोरान् जीमूताविव पर्वते ।
आवर्तः सुमहानासीत् तयोः सैन्ये प्रविष्टयोः ॥ २३ ॥
मैनाकमन्दराभ्यां तु मथ्यमान इवार्णवे ।
सिंहनादात् तयोरेव योजनार्धं गतं बलम् ॥ २४ ॥

फिर तो वे दोनों पर्वतपर जलकी वृष्टि करनेवाले दो मेघोंकी भाँति भयंकर बाण बरसाने लगे। उन दोनोंके सेनामें प्रवेश करनेपर सैनिक एक ही स्थानपर ऐसे चक्कर काटने लगे, मानो मैनाक और मन्दर नामक दो पर्वतोंसे मथे जानेपर सागरमें भँवरें उठ रही हों। पुनः उनके सिंहनाद करनेपर वह सेना दो कोस पीछे हट गयी ॥ २३-२४ ॥

कालजिल्लक्ष्मणौ क्रुद्धौ रुरुधाते शरैः कुशम् ।
लक्ष्मणस्य च सैन्येन लवो रुद्धोऽतिपौरुषः ॥ २५ ॥

तब कालजित् और लक्ष्मण—इन दोनोंने कुपित होकर कुशको बाणवर्षा करके आगे बढ़नेसे रोक दिया और लक्ष्मण-की सेनाने प्रबल पुरुषार्थी लवको घेर लिया ॥ २५ ॥

भ्रम्यो गजानां हि शतेन जात-
स्ततोऽधिकास्ता हि शतं शतेन ।
गजे गजे तत्र रथा दशासन्
रथे रथे वाजिशतं बभूव ॥ २६ ॥
हरौ हरौ पत्तिशतं हि तस्था-
वेवं भ्रमीणां शतकेन रुद्धः ।

लवके ऊपर पहला घेरा सौ हाथियोंका था। उसके पीछे दस हजार हाथियोंकी कतार थी। प्रत्येक हाथीके पीछे दस रथ, प्रत्येक रथके पीछे सौ घोड़े और प्रत्येक घोड़ेके पीछे सौ

पैदल सैनिक खड़े थे। इस प्रकारके सौ घेरोंसे उस सेनाने लवको घेर लिया था ॥ २६½ ॥

ततो निजघ्नुः शरवज्रमुद्गरैः
प्रासैर्लवं ते शतशश्च योधाः ॥ २७ ॥
गदासिशक्त्यृष्टिपरश्वधैश्च
कुन्तैस्तथा सम्भ्रमवाजियुक्ताः ।
पाशैः करग्राहकरैश्च बालमेका-
किनं ते परिवव्रुरेनम् ॥ २८ ॥

तदनन्तर उत्तम घोड़ोंपर सवार हुए सैकड़ों योधा उस अकेले बालक लवको घेरकर उसपर बाण, वज्रके समान मुद्गर, प्रास, गदा, तलवार, शक्ति, ऋष्टि, फरसे, भाले और हाथोंको बाँध देनेवाले पाशोंसे प्रहार करने लगे ॥ २७-२८ ॥

द्विषो निजघ्ने निशितैः क्षुरप्रैः
शिरांसि भूमावपतन् स्फुरन्ति ।
लवो लवेनाहवकर्म कुर्वन्
ननाद कल्पान्तकरो यथा यमः ॥ २९ ॥

तब लवने लव (क्षण) मात्रमें ही अपने तीखे क्षुरप्रोंके प्रहारसे उन शत्रुओंका सफाया कर दिया। उनके मस्तक पृथ्वीपर गिरकर छटपटाने लगे। युद्धमें यों संहार मचाता हुआ लव सिंहनाद करने लगा। उस समय उसका स्वरूप कल्पान्तकारी यमराजके समान दीख पड़ता था ॥ २९ ॥

शतं शतेन विव्याध द्विशतं द्विशतेन च ।
सहस्रार्धं तदर्धेन सहस्रमयुतेन च ॥ ३० ॥
वीराणामहनत् क्रुद्धः प्रयुतं प्रयुतेन च ।

उसने सौ वीरोंको सौ बाणोंसे, दो सौको दो सौसे,पाँच सौको पाँच सौसे और एक हजारको दस हजार बाणोंसे बींध दिया। फिर कुपित हुए लवने एक लाख वीरोंको उतने ही बाण मारकर कालके हवाले कर दिया ॥ ३०½ ॥

जैमिनिरुवाच

चत्वारिंशद् भ्रमीर्हत्वा गजानां सिंहविक्रमः ॥ ३१ ॥
शरैः सम्भिन्नसर्वाङ्गो दिशः सर्वा व्यलोकयत् ।
इतः सैन्यं प्रचलितं रथवारणसंकुलम् ॥ ३२ ॥
लसत्खड्गप्रभाभिश्च श्यामीभूतं गजैरपि ।
ददर्श घोरं स लवो न कुशं पृष्ठतस्तथा ॥ ३३ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय लवका सम्पूर्ण अङ्ग बाणोंसे छिद गया था, फिर भी सिंहके समान पराक्रमी उस वीरने हाथियोंके चालीस घेरोंका संहार करके जब सारी दिशाओंकी ओर दृष्टि डाली, तब उसने देखा कि रथ और हाथियोंसे भरी-पूरी, चमकीली तलवारोंकी कान्तिसे प्रकाशित और हाथियोंके कारण काली-काली दीखती हुई वह भयंकर सेना तो यहाँसे विचलित हो उठी है, परंतु पीछेकी ओर कुश नहीं दीख रहे हैं ॥ ३१—३३ ॥

तदा दध्यौ चिरं बालो भ्राता मे क्व गतः कुशः ।
इति चिन्तयतस्तस्य लवस्य धनुरुत्तमम् ॥ ३४ ॥
जहार राक्षसः क्रुद्धो मातुलो लवणस्य यः ।
रुधिराक्ष इति ख्यातो रामं शरणमागतः ॥ ३५ ॥

तब बालक लव बहुत समयतक विचार करता रहा कि मेरे भाई कुश कहाँ चले गये ? लव यों चिन्ता कर ही रहा था कि एक राक्षसने कुपित होकर उसके श्रेष्ठ धनुषका अपहरण कर लिया। वह राक्षस लवणासुरका मामा था और रुधिराक्ष नामसे प्रसिद्ध था। उस समय वह श्रीरामके शरणापन्न हो गया था ॥ ३४-३५ ॥

लवो जवात् पलायन्तं धनुरादाय राक्षसम् ।
तिष्ठ तिष्ठेति चोवाच मत्तो जीवन् क्व यास्यसि ॥३६॥

जब लवने उस राक्षसको धनुष लेकर वेगपूर्वक भागते देखा, तब 'खड़ा रह, खड़ा रह' कहकर ललकारते हुए उससे कहा—'अरे ! तू मुझसे जीवित बचकर कहाँ जायगा' ॥३६॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं चक्रं जग्राह पाणिना ।
जनन्याश्चरणौ चित्ते चिन्तयित्वा महाभुजः ॥ ३७ ॥

ऐसी बात कहकर महाबाहु लवने अपनी माताके चरणोंका हृदयमें ध्यान किया और एक चक्र हाथमें उठा लिया ॥३७॥

स चक्रमादाय खमुत्पपात
श्येनो यथा भक्ष्यमिव प्रगृह्णन् ।
शिखीव पुष्पान् क्षतजावलिप्तो
रराज साक्षादिव चक्रपाणिः ॥ ३८ ॥

तब रक्तसे लथपथ शरीरवाला लव अपने शिकारको पकड़नेके लिये झपटते हुए बाजकी भाँति एवं पुष्प लेकर उड़ते हुए मोरके समान उस चक्रको लेकर आकाशमें उछला। उस समय उसकी शोभा साक्षात् चक्रपाणि भगवान् विष्णुकी-सी हो रही थी ॥ ३८ ॥

गगनस्थं लवं दृष्ट्वा योधा बिभ्युः पतेदिति ।
ततश्चापेषु रुचिराञ्छरांस्ते युयुजुर्भयात् ।
केचिद् दधुश्च चर्माणि सुदृढानि स्वमूर्धसु ॥ ३९ ॥

उस समय लवको आकाशमें स्थित देखकर सभी योद्धा भयभीत हो गये कि कहीं यह हमारे ऊपर न गिर पड़े। फिर तो वे भयके कारण अपने धनुषोंपर सुन्दर बाणोंका संधान करने लगे। किसी-किसीने अपने मस्तकपर अत्यन्त मजबूत बनी हुई अपनी ढालको ही रख लिया ॥ ३९ ॥

अस्मानुपरि वीरोऽसौ पतिष्यति न संशयः।
इति कृत्वा मतिं केचित् स्यन्दनस्याध आगमन् ॥४०॥

'निस्संदेह यह वीर हमारे ऊपर आक्रमण करेगा' यों विचारकर कुछ सैनिक रथके नीचे आकर छिप गये ॥ ४० ॥

बाणनिर्भिन्नवर्ष्माणो वारणा भुवि शेरते।
तेषामुदरमध्यस्थाः केचिच्छन्ना महारथाः ॥ ४१ ॥

जिनके शरीर बाणोंसे विदीर्ण हो गये थे, ऐसे बहुत-से गजराज मरकर पृथ्वीपर पड़े थे । कुछ महारथी भागकर उन्हींके उदरके खोड़रमें जा छिपे ॥ ४१ ॥

एवं स्म भीता वीरा ये तेऽप्येवं चक्रिरे तदा।
अवशिष्टा महावीरा निर्यातास्तु दशैव हि ॥ ४२ ॥

इस तरह वहाँ जो अन्य वीर भयभीत हो गये थे, उन्होंने भी अपनी रक्षाका ऐसा ही उपाय किया । उस समय केवल दस ही महान् वीर शेष रह गये थे और वे ही पुनः युद्धके लिये आगे बढ़े ॥ ४२ ॥

राज्ञो दशरथस्यासीन्मन्त्री सुज्ञो हि तत्सुताः।
जितश्रमो धार्मिकश्च सुकेतुः शत्रुसूदनः ॥ ४३ ॥
चन्द्रो मदः शलः कालो मल्लः सिंहश्च ते दश।
विव्यधुः सायकैस्तीक्ष्णैर्लवं खे चक्रपाणिनम् ॥ ४४ ॥
दशभिर्दशभिर्बाणैश्चिच्छिदुश्चक्रमुच्छ्रिताः ।

राजा दशरथके एक मन्त्रीका नाम सुज्ञ (सुमन्त्र) था, वे दसों वीर उसीके पुत्र थे। उनके नाम थे—जितश्रम, धार्मिक, सुकेतु, शत्रुसूदन, चन्द्र, मद, शल, काल, मल्ल और सिंह। इन दसों वीरोंने चक्र हाथमें लिये हुए आकाशमें स्थित लवको तीखे बाणोंसे घायल करने लगे। उन अभिमानियोंमेंसे प्रत्येकने दस-दस बाण मारकर लवके चक्रको काट दिया ४३-४४½

छिन्नचक्रो लवः शीघ्रं जग्राह परिघं भुवि ॥ ४५ ॥
जघान मन्त्रिपुत्रांस्तान् परिघेण हसन्निव।

चक्रके कट जानेपर लव पृथ्वीपर उतर आया और उसने शीघ्र ही एक परिघ उठा लिया तथा मुसकराते हुए-से उन मन्त्रिकुमारोंपर उस परिघसे आघात किया ॥ ४५½ ॥

ते छिन्नचर्मवर्माणो निपेतुः शोणितोक्षिताः ॥ ४६ ॥
वेदबाह्याः कुशास्त्रज्ञा विष्णुभक्तिविवर्जिताः।
मातापित्रोर्भक्तिहीना नास्तिका रौरवे यथा ॥ ४७ ॥

फिर तो उनकी ढाल और कवच छिन्न-भिन्न हो गये, शरीर खूनसे सराबोर हो गया और वे उसी प्रकार पृथ्वीपर गिर पड़े, जैसे वेदबहिष्कृत, कुत्सित शास्त्रके जानकार, विष्णु-भक्तिसे रहित और माता-पिताकी भक्तिसे हीन नास्तिक लोग रौरव नरकमें गिरते हैं ॥ ४६-४७ ॥

तावत् स राक्षसः प्राप्तो रुधिराक्षो गदां दधत्।
गदया ताडयामास मूर्ध्नि तं लवमोजसा ॥४८॥

तबतक राक्षस रुधिराक्ष गदा हाथमें लिये हुए वहाँ आ पहुँचा और उसने बलपूर्वक लवके मस्तकपर उस गदासे प्रहार किया ॥ ४८ ॥

जगाम मूर्च्छां बालोऽसौ मुहूर्तं भूतलेऽपतत्।
मूर्च्छां विहाय स लवस्तदा तस्थौ गजेन्द्रवत् ॥४९॥

उस गदाकी चोटसे बालक लव मूर्च्छित हो गया और दो घड़ीतक पृथ्वीपर पड़ा रहा। फिर मूर्च्छाके टूटनेपर वह गजेन्द्रकी भाँति उठकर खड़ा हो गया ॥ ४९ ॥

कुन्तमादाय भूमिस्थं प्रययौ राक्षसं प्रति।
केशेष्वाक्षिप्य तं दुष्टं कुन्तेनाभ्यहरच्छिरः ॥ ५० ॥

तत्पश्चात् वह एक भाला लेकर भूमिपर खड़े हुए उस राक्षसपर झपटा और उस दुष्टके केश पकड़कर उसने उस भालेसे उसका सिर काट लिया ॥ ५० ॥

स्वधनुर्जगृहे वीरः सूर्यदत्तं ननाद च।
मुमोच निशितान् बाणान् सैन्यक्षयकरान् बहून् ५१

फिर वीरवर लव सूर्यदेवद्वारा दिये गये अपने धनुषको लेकर सिंहनाद करने लगा। उस समय उसने सेनाका संहार करनेवाले बहुत-से तेज धारवाले बाणोंकी वर्षा की ॥ ५१ ॥

ततः सैन्येन महता वेष्टितः पुनरेव सः।
गर्भस्थो हि यथा जन्तुरज्ञानेन बहिः स्थितः ॥ ५२ ॥
वेष्ट्यते तद्वदप्येष तेन सैन्येन वेष्टितः।

तत्पश्चात् उस विशाल सेनाने पुनः लवको घेर लिया। जैसे गर्भस्थ जीव बाहर आनेपर अज्ञानसे लिप्त हो जाता है, उसी तरह उस सेनाने भी लवको परिवेष्टित कर लिया॥५२½॥

तृणैरावेष्टितो वह्निस्तान्येव दहति ध्रुवम् ॥ ५३ ॥
तद्वत् स बालस्तत् सैन्यमदहत् कोपपूरितः ॥ ५४ ॥

परंतु जैसे घास-फूससे घिरी हुई आग निश्चय ही उसे जलाकर भस्म कर देती है, उसी तरह बालक लव क्रोधमें भरकर उस सेनाको भस्म करने लगा ॥ ५३-५४ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि कुशलवोपाख्याने लवयुद्धविजयवर्णनं नाम त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें कुशलवोपाख्यानके प्रसंगमें युद्धमें लवकी विजयका वर्णननामक तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

कुशलवोपाख्यान—कुश और लक्ष्मणका युद्ध, कुशद्वारा कालजित्‌का वध और लक्ष्मणकी मूर्च्छा

जैमिनिरुवाच

कुशस्तं लक्ष्मणं दृष्ट्वा प्रययौ सिंहविक्रमः।
आयान्तं पञ्चभिर्बाणैर्लक्ष्मणोऽभिजघान तम् ॥ १ ॥
तैस्ताडितः कुशो वीरस्त्विदं वचनमब्रवीत्।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! उधर सिंहके समान पराक्रमी कुशने लक्ष्मणको देखकर उनपर आक्रमण कर दिया। तब कुशको अपनी ओर आते देखकर लक्ष्मणने उसपर पाँच बाणोंसे प्रहार किया। उन बाणोंसे पीड़ित होकर वीरवर कुश यों कहने लगा ॥ १½ ॥

कुश उवाच

स्थिरो भव महावीर मा पदं पृष्ठतः कुरु ॥ २ ॥
इत्येवमुक्त्वा वचनं बाणं चैकं मुमोच सः।
तेन बाणेन स रथो बभ्राम घटिकाद्वयम् ॥ ३ ॥
अतिभ्रमेण चत्वारो वाजिनः पञ्चतां ययुः।
ततोऽन्यं रथमारुह्य लक्ष्मणो मुमुचे शरान् ॥ ४ ॥

कुश बोला—महावीर ! अब तुम सावधान होकर खड़े हो जाओ, पीछे कदम मत हटाना। ऐसी बात कहकर कुशने एक बाण चलाया। उस बाणसे लक्ष्मणका रथ दो घड़ी-तक घूमता ही रह गया और अत्यन्त वेगसे चक्कर काटनेके कारण चारों घोड़े मृत्युके ग्रास बन गये। तब लक्ष्मण दूसरे रथपर चढ़कर बाण छोड़ने लगे ॥ २–४ ॥

द्वाभ्यां शराभ्यां चिच्छेद कवचं चातिनिर्मलम्।
किरीटं च त्रिभिर्बाणैस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ५ ॥

उन्होंने दो सायकोंसे कुशके अत्यन्त निर्मल कवचको तथा तीन बाणोंसे मुकुटको काट गिराया। यह एक अद्भुत-सी घटना हुई ॥ ५ ॥

स भिन्नकवचो वीरो मुक्तत्वक् सर्पराडिव।
तस्मिन् रणे रराजाथ सीतासूनुर्गतक्लमः ॥ ६ ॥

कवचके कट जानेपर भी सीताकुमार कुशके मनमें किसी प्रकारकी ग्लानि न हुई, प्रत्युत वह वीर उस युद्धस्थलमें केंचुल-का परित्याग करके चमकनेवाले सर्पराजकी भाँति शोभा पाने लगा ॥ ६ ॥

अब्रवील्लक्ष्मणं वीरः कुशो विनयपूर्वकम्।
द्विषद्भावं परित्यज्य मम भारस्त्वया हृतः ॥ ७ ॥
उपकारः कृतो नूनं त्वया कर्ता तथाप्यहम्।
सैन्यभारो महानस्ति तव लक्ष्मण साम्प्रतम् ॥ ८ ॥
तं सर्वं नाशयिष्यामि पश्य मे हस्तलाघवम्।

तत्पश्चात् वीरवर कुशने विनयपूर्वक लक्ष्मणसे कहा—'वीर ! तुमने शत्रुभावका परित्याग करके (मेरा कवच काट-कर) मेरे भारको दूर कर दिया है। यह तो तुमने मेरा उप-कार ही किया है, अतः अब मैं भी निश्चय ही इस उपकारका बदला चुकाऊँगा। लक्ष्मण ! इस समय तुम्हारे ऊपर सेनाका महान् भार है, अतः मैं उस सम्पूर्ण भारका विनाश कर दूँगा। अब तुम मेरे हाथोंकी फुर्ती देखो' ॥ ७-८½ ॥

अथ सूक्तं जपन्नुच्चैराथर्वश्रुतिविश्रुतम्।
आग्नेयमस्त्रं मुमुचे सीतासूनुर्महाबलः ॥ ९ ॥

तदनन्तर महाबली सीताकुमारने अथर्ववेदद्वारा प्रतिपादित सूक्तका उच्च स्वरसे जप करता हुआ आग्नेयास्त्रका प्रयोग किया ॥ ९ ॥

आग्नेयास्त्रात् ततो ज्वालाः प्रादुर्भूताः सहस्रशः।
ताभिस्तस्य रथो दग्धो लक्ष्मणस्य महात्मनः ॥ १० ॥
सैन्यं दग्धं पताकाश्च वासांस्याभरणानि च।
ज्वलत्कञ्चुकिनो वीरा दग्धश्मश्रुशिरोरुहाः ॥ ११ ॥
दह्यन्ते स्म सटा पुच्छं वाजिनां हंसवर्णिनाम्।
रथाश्चक्राणि दह्यन्ते छत्राणि चामराणि च ॥ १२ ॥
आयुधानि च सर्वाणि दग्धान्यासन् हविर्भुजा।

उस आग्नेयास्त्रसे सहस्रों ज्वालाएँ प्रकट हुईं। उन ज्वालाओंसे महात्मा लक्ष्मणका रथ जल गया। सेनामें आग लग गयी, जिससे सैनिकोंके ध्वज, वस्त्र और आभूषण आदि जलकर भस्म हो गये। वीरोंके बख्तर, दाढ़ी-मूँछ और सिरके बाल स्वाहा हो गये। हंसके समान उज्ज्वल वर्णवाले घोड़ोंकी पूँछ तथा अयाल जलने लगे। रथ, पहिये, छत्र और चँवर भी भस्म होने लगे। यहाँतक कि उस आगने समस्त आयुधों-को जलाकर राखका ढेर बना दिया ॥ १०–१२½ ॥

दह्यमानं ततो दृष्ट्वा सैन्यं शत्रुनिबर्हणः ॥ १३ ॥
लक्ष्मणः शमयामास तदस्त्रं वारुणास्त्रतः ।

तब शत्रुओंका संहार करनेवाले लक्ष्मणने अपनी सेनाको इस प्रकार भस्म होती देखकर वारुणास्त्रका प्रयोग करके उस आग्नेयास्त्रको शान्त कर दिया ॥ १३½ ॥

ततः कुशो महावीरो वायव्यं संदधे शरम् ॥ १४ ॥
वायव्यास्त्रेण ते सर्वे वीरा वियति डिड्यिरे ।
तदा रथा गजा मत्ताः पतन्त्यनिलरंहसा ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् महान् वीर कुशने वायव्यास्त्रका संधान किया। तब उस वायव्यास्त्रसे उठी हुई वायुके वेगसे वे सभी वीर उड़कर आकाशमें चले गये तथा रथ और मदमत्त गजराज पृथ्वीपर गिरने लगे ॥ १४-१५ ॥

जैमिनिरुवाच

सेनानीः कालजित् क्रुद्धो लक्ष्मणं वाक्यमब्रवीत् ।
संहरिष्याम्यहं बालं वेलेव मकरालयम् ॥ १६ ॥
यावत् कनिष्ठो नायाति तावत् कुर्वे पराक्रमम् ।
इत्येवमुक्त्वा वचनं कुशं प्रायात् स कालजित् ॥ १७ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तब सेनापति कालजित्ने कुपित होकर लक्ष्मणसे इस प्रकार कहा—'जैसे तटकी भूमि उमड़ते हुए समुद्रको रोक देती है, उसी तरह मैं इस बालकका संहार करूँगा और जबतक इसका छोटा भाई नहीं आ जाता है, तबतक मैं पराक्रम करता ही रहूँगा।' ऐसी बात कहकर कालजित्ने कुशपर धावा कर दिया ॥१६-१७॥

सेनाध्यक्ष उवाच

त्वमद्य नूनं सम्प्राप्तो रामचन्द्रबलक्षयः ।
जातो यद्यपि कुर्वेऽहं कुशस्योन्मूलनं ध्रुवम् ॥ १८ ॥
कालजिद्भाषितं श्रुत्वा कुशो वचनमब्रवीत् ।

पुनः सेनाध्यक्षने कहा—कुश ! यद्यपि तुमने श्रीरामकी सेनाका विनाश कर दिया है, तथापि अब तुम मेरे सामने आ गये हो, अतः मैं अवश्य ही तुम्हें जड़से उखाड़ फेंकूँगा । कालजित्का कथन सुनकर कुश कहने लगा ॥ १८½ ॥

कुश उवाच

अजागलस्तनस्येव व्यर्थं नाम विभाव्यते ।
बधिरस्य यथा कर्णौ वृथा श्रवणवर्जितौ ॥ १९ ॥
बालानां हि यथा ब्रह्म तृणस्याग्निर्यथा वृथा ।
सेनाध्यक्षः कृतः केन त्वादृशो बहुजल्पकः ॥ २० ॥
त्वयि पश्यति रे मूढ सैन्यं हन्ति ममानुजः ।
बाणं छिन्धि मया मुक्तं तव जिह्वाविदारकम् ॥ २१ ॥

कुश बोला—सेनाध्यक्ष ! जैसे (दुग्धरहित होनेके कारण) बकरीके गलेमें लटकता हुआ स्तन, श्रवण-शक्तिरहित बहरेके दोनों कान, बालकोंको ब्रह्मका उपदेश और एक तिनकेमें लगी हुई आग व्यर्थ ही होती है, उसी तरह तेरा नाम तो निरर्थक ही प्रतीत होता है । तुझ-जैसे बकवादीको किसने सेनापति बना दिया ? रे मूर्ख ! देखता नहीं, तेरे सामने ही मेरा छोटा भाई लव तेरी सेनाका संहार कर रहा है ? अच्छा, अब मैं तेरी जिह्वाको काट देनेवाला बाण छोड़ता हूँ, तू इसे काट ॥ १९—२१ ॥

इत्युक्त्वा कालजिज्जिह्वामलुनादिषुणा कुशः ।
मौनी त्वं साम्प्रतं जातो वाहिन्यां संस्थितं लवम् ॥ २२॥
अनयाऽऽशु च सम्पूज्य त्वं मौनव्रतमाचर ।

ऐसा कहकर कुशने एक बाण मारकर कालजित्की जीभ काट डाली और पुनः इस प्रकार कहा—'अब तो तू मौनी हो गया; अतः अब तू शीघ्र ही इस जीभसे सेनाके मध्यमें स्थित मेरे भाई लवकी पूजा करके मौनव्रतका पालन कर' ॥

अत्यन्तं कालजित् क्रुद्धः शरेणानतपर्वणा ॥ २३ ॥
कुशं तं हृदये विद्ध्वा वामहस्तमताडयत् ।

तब कालजित्ने अत्यन्त कुपित होकर एक झुकी हुई गाँठ-वाले बाणसे कुशके हृदयको बींधकर पुनः उसके बायें हाथमें गहरी चोट पहुँचायी ॥ २३½ ॥

चिच्छेद तस्यापि कुशो बाणैर्हस्तं च दक्षिणम् ॥ २४ ॥
ततोऽर्धचन्द्रेण शिरश्चिच्छेदास्य सकुण्डलम् ।

तत्पश्चात् कुशने भी बाणोंकी मारसे उसके दाहिने हाथको काटकर पुनः एक अर्धचन्द्राकार बाणसे उसके कुण्डलमण्डित सिरका भी उच्छेदन कर दिया ॥ २४½ ॥

हते कालजिति प्रौढे कुशं सौमित्रिरभ्यगात् ॥ २५ ॥
वर्षन् बाणगणान् घोराञ्छालतालवटच्छिदः ।
कुशं जघान हृदये बाणैः षड्भिरथो दृढम् ॥ २६ ॥

प्रबल पराक्रमी कालजित्के मारे जानेपर सुमित्रानन्दन लक्ष्मण शाल, ताल और वटवृक्षोंका छेदन करनेवाले भयंकर बाणसमूहोंकी वर्षा करते हुए कुशपर चढ़ आये और फिर

उन्होंने सुदृढ पराक्रमी कुशके हृदयपर छः बाणोंसे प्रहार किया॥ २५-२६ ॥

शक्तिं चिक्षेप सौमित्रिः कुशं प्रति गदामपि ।
कुन्तं खड्गं च परशुं तोमरं चर्म चाक्षिपत् ॥ २७ ॥
कुशस्तु सप्तधा तानि शस्त्राणि परिचिच्छिदे ।
ननर्द सिंहवद् वीरस्तिष्ठ तिष्ठ शरान् सह ॥ २८ ॥

लक्ष्मणने कुशके ऊपर शक्ति और गदा भी चलायी तथा भाला, खड्ग, फरसा, तोमर और ढालका भी प्रयोग किया; परंतु कुशने उन सारे आयुधोंके सात-सात टुकड़े कर दिये। पुनः वह वीर सिंहके समान गर्जना करता हुआ बोला—'खड़े रहो, खड़े रहो, मेरे बाणोंको भी तो सहन करो' ॥

इत्येवमुक्त्वा नाराचान् पञ्च वाल्मीकिनार्पितान् ।
गार्ध्रपत्रान् सुनिशितान् विषमान् पन्नगानिव ॥ २९ ॥
ज्वलदग्निकणान् वीरः कुशो धनुषि संदधे ।

यों कहकर वीरवर कुशने अपने धनुषपर उन पाँच नाराचोंका संधान किया, जिन्हें वाल्मीकि मुनिने दिया था। वे गीधकी पाँखोंसे सुशोभित और अत्यन्त तेज धारवाले थे तथा छोड़े जानेपर सर्पोंकी तरह वक्रगतिसे चलते थे। उनकी कान्ति धधकती हुई आगकी चिनगारियोंकी-सी थी ॥

अथ मुक्ताः शरा व्योम्नि ज्वलन्तो मर्मभेदिनः ॥ ३० ॥
बिभिदुर्हृदयं तस्य लक्ष्मणस्य महात्मनः ।
सौमित्रिश्च पपातोर्व्यां सूर्यः खादिव निष्प्रभः ॥ ३१ ॥

तदनन्तर धनुषसे छूटनेपर आकाशमें प्रकाशित होनेवाले उन मर्मभेदी बाणोंने महात्मा लक्ष्मणके हृदयको विदीर्ण कर दिया। तब लक्ष्मण प्रभाहीन होकर आकाशसे गिरते हुए सूर्यकी तरह पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३०-३१ ॥

जैमिनिरुवाच

ततः शुश्राव निनदं लवस्य स कुशो रणे ।
खड्गचर्मधरश्चायं पुप्लुवे पक्षिराडिव ॥ ३२ ॥
ददर्श तं लवं शूरं वेष्टितं गजपङ्क्तिभिः ।
खड्गेनाभ्यहनत् क्रुद्धो गजांश्च रथिनो बहून् ॥ ३३ ॥
भ्रमीर्जघान ताः सर्वाः क्षणाल्लवममोचयत् ।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तत्पश्चात् कुशने रणक्षेत्रमें लवकी गर्जना सुनी। फिर तो वह ढाल-तलवार लेकर पक्षिराज गरुडकी भाँति उछला और वहाँ पहुँचकर उसने देखा कि हाथियोंकी कतारोंने उस शूरवीर लवको घेर लिया है। तब उसने कुपित होकर तलवारसे ही बहुत-से गजराजों तथा रथी वीरोंका सफाया कर दिया और क्षणमात्रमें ही उन सभी घेरोंका नाश करके लवको छुड़ा लिया ॥ ३२-३३½ ॥

वाल्मीकेराश्रमे ताभ्यां सैन्यं सर्वं निपातितम् ॥ ३४ ॥
तस्थतुर्निर्भयौ वीरौ वीक्षमाणौ स्वमाश्रमम् ॥ ३५ ॥

इस प्रकार महर्षि वाल्मीकिके आश्रमके पास उन दोनों वीरोंने लक्ष्मणकी सारी सेनाको मार गिराया और फिर निर्भय होकर वे अपने आश्रमकी ओर देखते हुए खड़े हो गये ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि कुशलवोपाख्याने लक्ष्मणसेनापराजयो नाम चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें कुशलवोपाख्यानके प्रसंगमें लक्ष्मणकी सेनाका पराजयनामक चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३४॥

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

कुशलवोपाख्यान—श्रीरामका भरतकी सलाहसे दूतोंको आदेश देकर लक्ष्मणके पास भेजना, उसी समय घायल सैनिकोंका आना, श्रीरामका भरतको युद्धके लिये आदेश देना, भरतका हनुमान् आदि वानरों तथा विशाल सेनाके साथ वहाँ पहुँचना और हनुमान्‌जीद्वारा शत्रुघ्न और लक्ष्मणकी खोज करके उनकी सुरक्षा करना

जैमिनिरुवाच

गङ्गातीरे रामचन्द्रो दीक्षितो यज्ञमण्डपे ।
भरतं प्रत्युवाचाथ मुनिभिः परिवारितः ॥ १ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! उधर श्रीरामचन्द्रजी गङ्गा-तटपर बने हुए यज्ञमण्डपमें दीक्षा ग्रहण करके मुनियोंसे घिरे हुए बैठे थे। उस समय उन्होंने भरतजीसे कहा ॥१॥

श्रीराम उवाच

कथं नायाति वीरोऽसौ विजित्य हयहारिणौ ।
याभ्यां पराजयं प्राप शत्रुघ्नः स तवानुजः ॥ २ ॥

श्रीरामजी बोले—भाई भरत ! क्या कारण है कि जिन दोनों बालकोंसे तुम्हारे छोटे भाई शत्रुघ्न पराजित हो गये थे, घोड़ेका अपहरण करनेवाले उन बच्चोंको जीतकर वीरवर लक्ष्मण अभीतक नहीं आये ? ॥ २ ॥

सौमित्रिं वीक्ष्य संग्रामे त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
स्वप्नमध्ये विलीयेत प्रत्यक्षं कः सहिष्यति ॥ ३ ॥

भला, जिस लक्ष्मणको स्वप्नमें भी संग्राममें उपस्थित देखकर चराचरसहित त्रिलोकी विलीन हो जाती है, उसके वेगको प्रत्यक्ष रूपमें कौन सहन कर सकेगा ? ॥ ३ ॥

तमद्य बहुभिर्वीरैः सेवितं रोषपूरितम् ।
पतनादनुजस्यापि मयाऽऽज्ञप्तं न तौ क्षमौ ॥ ४ ॥
योधितुं वनजावज्ञौ चपलौ नाथवर्जितौ ।
लक्ष्मणस्य भयात् त्रस्तौ शरणं कं गमिष्यतः ॥ ५ ॥

इस समय तो वह अपने अनुज शत्रुघ्नके धराशायी होनेके कारण रोषमें भरा हुआ है, ऊपरसे उसे मेरी आज्ञा भी प्राप्त हो गयी है और उसके साथ बहुत-से वीर भी हैं—ऐसी दशामें उस लक्ष्मणके साथ युद्ध करनेके लिये वे दोनों वनवासी बालक समर्थ नहीं हो सकते; क्योंकि वे युद्धकलासे अनभिज्ञ एवं चपल हैं, साथ ही उनका कोई रक्षक भी नहीं है । अब वे लक्ष्मणके भयसे उद्विग्न होकर किसकी शरणमें जायँगे ? ॥ ४-५ ॥

आनयिष्यति सौमित्रिः शत्रुघ्नं धर्मलोकतः ।
स्वप्रतापेन पतितं जनन्यै दर्शयिष्यति ॥ ६ ॥

लक्ष्मण तो अपने प्रतापके बलपर युद्धमें गिरे हुए शत्रुघ्नको धर्मराजके लोकसे भी वापस लाकर माता सुमित्राको दिखा सकता है ॥ ६ ॥

लक्ष्मणं कुपितं श्रुत्वा संहरन्तं स्वबालकौ ।
प्रार्थयिष्यत्यनाथा कं रक्षणाय तयोः प्रसूः ॥ ७ ॥

इस समय उन बालकोंकी माता जब यह सुनेगी कि लक्ष्मण क्रोधमें भरकर मेरे बच्चोंका संहार कर रहे हैं, तब वह अबला उनकी रक्षाके लिये किससे प्रार्थना करेगी ? ॥ ७ ॥

कुतः प्राप्तौ स्वनाशाय दारकौ विघ्नकारकौ ।
दिनद्वयं विहीनं मे वर्षमध्ये तुरङ्गमः ॥ ८ ॥
शत्रुघ्नरक्षितः प्राप याभ्यां पार्श्वे निबन्धनम् ।

अब वर्षभरमें केवल दो ही दिन शेष रह गये हैं, इसी बीचमें विघ्न उत्पन्न करनेवाले ये बालक अपना ही विनाश करनेके लिये न जाने कहाँसे आ पहुँचे, जिनके समीप पहुँचकर शत्रुघ्नद्वारा सुरक्षित मेरा अश्व बाँध लिया गया ? ॥ ८½ ॥

मामनादृत्य भरतं सुग्रीवं च विभीषणम् ॥ ९ ॥
अङ्गदं वालितनयं हनूमन्तं महाबलम् ।
अन्यान् मम सुहृद्बन्धूंस्तृणीकृत्यापहारकौ ॥ १० ॥
वाजिनं करसम्प्राप्तं पश्यतां बालचेष्टितम् ।

इनकी बालचेष्टा तो देखो, जो इन्होंने मेरा अनादर करके तथा भरत, सुग्रीव, विभीषण, वालिकुमार अंगद, महाबली हनुमान् एवं मेरे अन्य सुहृद्-बन्धुओंको तृणके समान समझकर हाथमें आये हुए घोड़ेका अपहरण कर लिया ॥

भरत प्रेरय जनांस्तं देशं यत्र मे हयः ॥ ११ ॥
लक्ष्मणं प्रति संग्रामे यथाऽऽनयति वाजिनम् ।
वचनं कुरुते क्रुद्धः सौमित्रिर्मामकं सदा ॥ १२ ॥

भरत ! अब जहाँ मेरा घोड़ा पकड़ लिया गया है, उस देशमें लक्ष्मणके पास कुछ दूतोंको भेजो, जिससे वे संग्रामभूमिमें जाकर यह पता लगावें कि क्या लक्ष्मण घोड़ेको ले आ रहे हैं ? क्योंकि लक्ष्मण कुपित होकर सदाकी भाँति मेरी आज्ञाका पालन करता रहा है ॥ ११-१२ ॥

जैमिनिरुवाच

भरतेन समाहूताः पञ्च दूता महाबलाः ।
रामपार्श्वे क्षणादेत्य तानुवाच स्वयं प्रभुः ॥ १३ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तब भरतने पाँच महाबली दूतोंको बुलाया । वे क्षणभरमें श्रीरामके पास आकर खड़े हो गये । तब स्वयं भगवान् राम उनसे कहने लगे ॥ १३ ॥

राम उवाच

यात लक्ष्मणमानेतुं ब्रूत मद्वाक्यमेव तम् ।
जीवितेन युतौ युद्धे मोहनास्त्रेण मोहितौ ॥ १४ ॥
रक्षणीयौ त्वया बालौ सागसावपि लक्ष्मण ।
त्वं वीरोऽसि वृतश्चासि शूरैः सर्वास्त्रकोविदैः ॥ १५ ॥
रथस्थोऽसि समर्थोऽसि विरथौ तौ निराश्रयौ ।
अत्रानय शिशू वेगान्मा पातय रणेऽबलौ ॥ १६ ॥

श्रीराम बोले—दूतो ! तुमलोग लक्ष्मणको बुलानेके

लिये जाओ और वहाँ उनसे मेरी यह बात कहो—'लक्ष्मण ! यद्यपि उन बालकोंने अपराध किया है, तथापि तुम्हें उनकी रक्षा करनी चाहिये; अतः युद्धस्थलमें तुम उन्हें सम्मोहनास्त्र-द्वारा मोहित करके जीते-जी पकड़ लो। तुम स्वयं तो शूरवीर हो ही, साथ ही तुम्हारे साथ बहुत-से ऐसे शूरवीर भी हैं, जो सम्पूर्ण अस्त्रोंके जानकार हैं। तुम सामर्थ्यशाली होनेके साथ ही रथपर सवार हो तथा वे दोनों आश्रयरहित एवं रथहीन हैं; अतः तुम उन दोनों निर्बल शिशुओंको शीघ्र ही पकड़ लाओ, उन्हें युद्धमें मारना मत ॥ १४–१६ ॥

परबाले दयायुक्तं चित्तं कुर्वन्ति ये जनाः ।
ते पुत्रपौत्रैः सहिता जायन्ते भुवि साधवः ॥ १७ ॥

'जिन सज्जन पुरुषोंका चित्त पराये बालकको देखकर करुणा-पूर्ण हो जाता है, उन्हें इस पृथ्वीपर पुत्र-पौत्रोंकी प्राप्ति होती है ॥ १७ ॥

मया न पुत्रवदनं सीतावदनसंनिभम् ।
वीक्षितं भुवि जातेन ततस्तौ मोचयाम्यहम् ॥ १८ ॥

'इस पृथ्वीपर उत्पन्न होकर मैंने अभीतक सीताके समान मुखवाले पुत्रके मुखको नहीं देखा है, इसीलिये मैं उन दोनों बालकोंको जीवित छोड़ देनेके लिये आज्ञा देता हूँ ॥ १८ ॥

प्रष्टव्यौ कस्य पुत्रौ तौ किमर्थं वनचारिणौ ।
पुत्रयोर्जननी कुत्र तत् पृष्ट्वा तां समानय ॥ १९ ॥

'उनसे पूछना चाहिये कि तुम दोनों किसके पुत्र हो तथा किसलिये वनवासी हो गये हो ? उन पुत्रोंकी माता कहाँ है—यह पूछकर उसे भी लेते आना' ॥ १९ ॥

जैमिनिरुवाच

एवं दिशति रामे तु दूतान् प्रति विशाम्पते ।
तावद् दूताः शरैर्भिन्नाः क्षतजौघप्रवाहिणः ॥ २० ॥
लक्ष्मणस्य महावीरा रामं शरणमाययुः ।
राम रामेति जल्पन्तः शंसन्तः सुमहद्भयम् ॥ २१ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—प्रजानाथ जनमेजय ! श्रीराम इस प्रकार दूतोंको आदेश दे ही रहे थे, तबतक लक्ष्मणके महाबली दूत, जो बाणोंसे घायल हो शरीरसे रक्त बहा रहे थे, श्रीरामकी शरणमें आ पहुँचे । उस समय वे 'राम-राम' की रट लगा रहे थे और महान् भयकी सूचना दे रहे थे ॥

राम राम महाबाहो त्राह्यस्मान् महतो भयात् ।
बहुलेन बलेनापि वृतः शूरः स लक्ष्मणः ॥ २२ ॥
प्रापतत् काननं घोरं शत्रुघ्नो यत्र मूर्च्छितः ।
ससैनिकः क्षतो बाणैः कुशस्य परितिष्ठति ॥ २३ ॥
कुशसायकभिन्नाङ्गै रुधिरापीडवाहिभिः ।
वीरैर्न ज्ञायते किंचित् किंशुकैः पुष्पितैरिव ॥ २४ ॥

(वे बोले—) 'राम ! महाबाहु राम ! इस महान् भयसे हमलोगोंकी रक्षा कीजिये । महाराज ! जब विशाल सेना-से घिरे हुए शूरवीर लक्ष्मण उस भयंकर वनमें पहुँचे, उस समय वहाँ कुशके बाणोंसे घायल होकर सैनिकोंसहित शत्रुघ्न मूर्च्छित हुए पड़े थे । वीरोंके शरीर कुशके सायकोंसे छिन्न-भिन्न हो गये थे, वे अपने शरीरसे रक्तकी धारा बहा रहे थे तथा खिले हुए पलाशवृक्षकी भाँति जान पड़ते थे । उन मूर्च्छित हुए वीरोंको कुछ भी ज्ञात नहीं हो रहा था ॥ २२–२४ ॥

वज्रपातसहा वीरा नानाशस्त्रैः प्रपीडिताः ।
न जानन्ति व्यथां ये वै ते कुशेन विमूर्च्छिताः ॥ २५ ॥

'जो वीर वज्रपातको भी सहन करनेकी शक्ति रखते थे तथा नाना प्रकारके शस्त्रोंसे अत्यन्त पीडित होनेपर भी जिन्हें व्यथाका अनुभव नहीं होता था, उन्हें भी कुशने मूर्च्छित कर दिया था ॥ २५ ॥

लवेनैकेन शिशुना कृता सा वाहिनी घना ।
विमुखा भूभृतं प्राप्ता दृष्ट्वा बालस्य चेष्टितम् ॥ २६ ॥
लक्ष्मणस्य बलाध्यक्षः पतितो भुवि राघव ।
कालजिद् बहुभिः सार्द्धं कुशबाणैः प्रपीडितः ॥ २७ ॥

'उन दोनोंमेंसे अकेले बालक लवने उस घनी सेनाको भी मारकर विमुख कर दिया । वह सेना पर्वतपर भाग गयी । राघव ! तदनन्तर उस बालककी ऐसी चेष्टा देखकर लक्ष्मणका सेनापति कालजित् बहुत-से योद्धाओंके साथ युद्धस्थलमें उतरा, किंतु कुशके बाणोंसे अत्यन्त घायल होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २६–२७ ॥

लक्ष्मणेन कृतं युद्धं भ्रातरौ वीक्षितौ वने ।
स्वमनः कृपया युक्तं वैरं त्यक्त्वानुजस्य तत् ॥ २८ ॥

'इसके बाद जब लक्ष्मण युद्ध करने लगे, तब वनमें उन दोनों भाइयोंको देखकर उनका मन कृपापरवश हो गया । उस समय उन्हें अपने छोटे भाई शत्रुघ्नके वैरका भी ध्यान जाता रहा ॥ २८ ॥

ततः कुशं प्रत्युवाच सौमित्रिः स तवानुजः ।
गच्छ बालक मुक्तोऽसि कनिष्ठेन समं गृहम् ॥ २९ ॥

जनन्यै ब्रूहि मुक्तोऽस्मि सामयुक्तेन केनचित् ।

'तत्पश्चात् आपके अनुज लक्ष्मण कुशसे कहने लगे— 'बालक ! मैंने तुझे क्षमा कर दिया है, अब तू अपने छोटे भाईके साथ घर लौट जा और अपनी मातासे कहना कि किसी शान्तस्वभाव वीरने मुझे क्षमा करके छोड़ दिया है' ॥

लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा कुशो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ ३० ॥
त्वं गच्छ रामं मुक्तोऽसि दुःखितं त्वां न योधये ।

'तब लक्ष्मणकी बात सुनकर कुशने उन्हें उत्तर दिया— 'लक्ष्मण ! मैंने तुम्हें छोड़ दिया । अब तुम श्रीरामके पास चले जाओ । तुम्हारा मन दुखी हो गया है, अतएव मैं तुम्हारे साथ युद्ध नहीं करूँगा ॥ ३०½ ॥

न क्षमाल्पाप्यहो रामे साम्प्रतं हि विलोक्यते ॥ ३१ ॥
यः सानुजं भवन्तं तु क्लेशयन् नागतः स्वयम् ।

'अहो ! इस समय श्रीराममें तो थोड़ी-सी भी क्षमा नहीं दीखती, जो उन्होंने स्वयं न आकर शत्रुघ्नसहित तुम्हें इस कष्टमें डाल दिया है ॥ ३१½ ॥

भीतोऽवमानसंसर्गकारकाद् राघवादसि ॥ ३२ ॥
कृपा धृता त्वन्निमित्तमक्षतो याहि लक्ष्मण ।
प्रहराशु शरौघैर्मां पौरुषं चेद् विभाति ते ॥ ३३ ॥

'लक्ष्मण ! यदि तुम इस बातसे डर रहे हो कि रघुनाथजी मेरा अपमान करेंगे तो तुम्हारे लिये मैंने अपने मनमें कृपा धारण कर ली । अब तुम अक्षत ही लौट जाओ । अन्यथा यदि तुम्हें अपनेमें कुछ पौरुषकी प्रतीति होती हो तो शीघ्र ही मुझपर बाणसमूहोंसे प्रहार करो' ॥ ३२-३३ ॥

लक्ष्मणस्तं जघानाथ हृदये सप्तभिः शरैः ।
ते शरास्तं तदा भित्त्वा बालं युद्धे तथाविधे ॥ ३४ ॥
पतिताः कानने तीक्ष्णा बिभिदुः पादपानपि ।
ततः कुशस्य बाणौघैर्लक्ष्मणस्य कलेवरम् ॥ ३५ ॥
समाकीर्णं त्वग्विहीनं क्षणादेव रणे कृतम् ।
कर्तुं किं लक्ष्मणो वेत्ति नवीनं स्वं कलेवरम् ॥ ३६ ॥
पूर्वाभ्यासेन केनापि तस्माद् बालं प्रयोधितः ।
पश्चात् पपात धीरोऽसौ कुण्डली सायकैः क्षतः ॥ ३७ ॥

'तदनन्तर लक्ष्मणने कुशके हृदयपर सात बाणोंसे प्रहार किया । उस समय वे तीखे बाण उस बालकके हृदयको छेदकर वनमें जा गिरे और वहाँ उन्होंने वृक्षोंको भी छिन्न-भिन्न कर दिया । वैसे भयंकर युद्धके आरम्भ होनेपर कुशने रणभूमिमें लक्ष्मणके शरीरको अपने बाणसमूहोंसे आच्छादित करके क्षण-मात्रमें ही उसे त्वचाहीन कर दिया । परंतु क्या लक्ष्मण किसी पूर्वाभ्यासके कारण अपने शरीरको नवीन बना लेनेकी कोई विद्या जानते हैं ? जिससे वे उस बालकके साथ युद्ध करते ही रह गये । इसके बाद कुण्डलधारी तथा धैर्यशाली लक्ष्मण सायकोंसे क्षत-विक्षत होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥

भग्नं बलं ते पतितं गतं राम दिशो दश ।
भ्रातरौ तौ महावीरौ क्षतौ शत्रुघ्नलक्ष्मणौ ॥ ३८ ॥

'राजाधिराज राम ! इस प्रकार जब आपके दोनों महाबली भाई शत्रुघ्न और लक्ष्मण घायल हो गये, तब आपकी सेनामें भगदड़ मच गयी । बहुत-से वीर मारे गये और शेष दसों दिशाओंमें भाग गये ॥

ताभ्यां विहीना हि वयं तुभ्यं शंसितुमागताः ।
त्यज दीक्षां रघुपते कुरु युद्धं वनं व्रज ॥ ३९ ॥
यावन्नायान्ति ते बाणाः कुशकार्मुकनिःसृताः ।
नान्यस्य गणना तस्य कुशस्य पुरतः प्रभो ॥ ४० ॥

'उन दोनों वीरोंसे विहीन होकर हमलोग आपको इसकी सूचना देनेके लिये भाग आये हैं । रघुपते ! जबतक कुशके धनुषसे छूटे हुए बाण इधर नहीं आ रहे हैं, उसके पहले ही आप दीक्षाको त्याग दीजिये, वनमें चलिये और युद्ध कीजिये । प्रभो ! उस कुशके आगे दूसरे वीरकी कोई गणना नहीं है' ॥

जैमिनिरुवाच

एवंविधानि वाक्यानि श्रुत्वा तेषां स राघवः ।
मूर्च्छितो निपपातोर्व्यां भरतस्याग्रतस्तदा ॥ ४१ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तब उन दूतोंकी वैसी बात सुनकर रघुनाथजी भरतके सामने ही मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ४१ ॥

गृहीतो भरतेनाथ सिक्तश्चैवाम्भसा रघुः ।
परिमृज्यास्य नेत्रे च समाश्वास्य पुनः पुनः ॥ ४२ ॥
चेतनासहितं वीक्ष्य भरतो वाक्यमब्रवीत् ।

तब भरत रघुनाथजीको उठाकर उनपर जलके छींटे देने लगे और उनके नेत्रोंको जलसे धोकर बारंबार उन्हें ढाढ़स बँधाने लगे । तत्पश्चात् श्रीरामको चेतनायुक्त देखकर भरत इस प्रकार बोले ॥ ४२½ ॥

भरत उवाच

मा विषादे मनः कार्षीर्लक्ष्मणं प्रति राघव ॥ ४३ ॥

शत्रुघ्नेन समं युद्धे तवार्थे विनिपातितम् ।
लक्ष्मणस्त्यक्तुकामोऽयं स्वदेहं दुःखितो भृशम् ॥ ४४॥
परित्यज्यागतो देवीं यदाप्रभृति कानने ।
सीतादुःखेन नो जीवन् पुनरायाति तेऽन्तिकम् ॥४५॥
शंसितुं स पुरा प्राप्तस्तवादेशो मया कृतः ।
तथापि न कृपा जाता जानक्यां न च लक्ष्मणे ॥ ४६ ॥

भरतने कहा—राघव ! आप लक्ष्मणके लिये अपने मनमें विषाद मत कीजिये । वह आपके कार्यके लिये ही युद्धमें शत्रुघ्नके समान मार गिराया गया है । लक्ष्मण तो स्वयं ही अपने शरीरका परित्याग कर देना चाहता था; क्योंकि जबसे वह वनमें सीतादेवीको त्यागकर लौटा है, तबसे अत्यन्त दुखी रहा करता था । वह तो पहले ही सीताजीके दुःखसे दुखी होकर आपके समीप पुनः जीवित लौटना नहीं चाहता था, परंतु आपको यह समाचार देनेके लिये चला आया था कि मैंने आपके आदेशका पालन कर दिया । तथापि आपको जानकीजी तथा लक्ष्मणपर दया न आयी ॥ ४३–४६ ॥

संस्मृत्य समये मृत्युमकरोल्लक्ष्मणो हृदि ।
अथ रामनिमित्तं हि यज्ञकार्ये सबान्धवः ॥ ४७ ॥

अपने हृदयमें इन सब बातोंका स्मरण करके ही लक्ष्मणने इस यज्ञकार्यके अवसरपर श्रीरामके निमित्त भाई शत्रुघ्नसहित मृत्युका वरण कर लिया है ॥ ४७ ॥

स्मृत्वा त्यागं हि सीताया युद्धे तत्याज जीवितम् ।
निरपराधां त्यक्त्वा यां वने सीतां समागतः ॥ ४८ ॥
तत्रत्यं किल्बिषं देहे धारयन् संस्थितः सदा ।
तस्याद्य कुशकोदण्डप्रचण्डशरगङ्गया ॥ ४९ ॥
क्षालितं किल्बिषं गात्राद् राम पूतोऽद्य लक्ष्मणः ।
भरतं मामपूतं हि न प्रेरयसि किंचन ॥ ५० ॥

लक्ष्मणने सीता-परित्यागका स्मरण करके ही युद्धमें अपना जीवन विसर्जित कर दिया है । वह जिस निरपराध सीताजीको वनमें त्यागकर चला आया था, वह सीता-त्यागजन्य पाप सदा उसके शरीरमें वर्तमान रहा । आज उसके शरीरसे वह पाप कुशके धनुषसे निकली हुई प्रखर बाणगङ्गासे धुल गया । भैया राम ! आज लक्ष्मण तो पवित्र हो गया; परंतु अब मुझ अपावन भरतको वहाँ जानेकी आज्ञा क्यों नहीं देते ? ॥

अद्य राघव यास्यामि तत् कर्तुं पावनं वपुः ।
विचारः सकलो जातः सीतात्यागे च ते वने ॥ ५१ ॥
अयोध्यायां स्थितो जीवन् न तथाद्य करोम्यहम् ।
कथं हीनोऽत्र तिष्ठामि सीताशत्रुघ्नलक्ष्मणैः ॥५२॥
एवं वदन्तं भरतं जगाद भरताग्रजः ।

राघव ! आज मैं अपने उस शरीरको पावन करनेके लिये वहाँ जाऊँगा । जिस समय आपने वनमें सीताके त्यागका विचार किया था, उसी समय मेरे मनमें भी (स्वशरीर-त्यागका) पूर्ण विचार हो गया था, परंतु अयोध्यामें रहते हुए मैं वैसा न कर सका और अभीतक जीवित रहा । आज मैं अपने उस पूर्व-विचारको पूर्ण करूँगा । भला, अब मैं सीता, शत्रुघ्न और लक्ष्मणसे रहित होकर इस अयोध्यामें कैसे रह सकूँगा ? यों कहते हुए भरतसे भरताग्रज श्रीराम बोले ॥ ५१-५२½ ॥

श्रीराम उवाच

कोऽसौ भरत जानीहि स बालो व्रज काननम् ॥ ५३ ॥
तमानय कुशं जित्वा सानुजं मम संनिधौ ।
समुत्थापय वीरौ तौ मूर्च्छितौ मम बान्धवौ ॥ ५४ ॥

श्रीरामने कहा—भरत ! तुम उस वनमें जाओ और इसका पता लगाओ कि वह बालक कौन है । वहाँ जाकर रणभूमिमें मूर्च्छित पड़े हुए मेरे दोनों भाई वीरवर शत्रुघ्न और लक्ष्मणको उठाओ और अनुजसहित कुशको जीतकर उसे मेरे पास ले आओ ॥ ५३-५४ ॥

हनूमानपि यात्वेष जाम्बवान् वानरैः सह ।
तवानुवृत्तिं कुर्वाणः कुरु वाक्यं ममोदितम् ॥ ५५ ॥

ये हनुमान् और जाम्बवान् भी वानरोंके साथ तुम्हारा अनुवर्तन करते हुए तुम्हारे साथ जायँ । तुम मेरे कहे हुए वचनोंका पालन करो ॥ ५५ ॥

पितृवाक्यं मयाकारि व्रजता काननं प्रति ।
त्वया तु न कृतं तस्य जनकस्य वचो महत् ॥ ५६ ॥
नन्दिग्रामे प्रवसता जटावल्कलधारिणा ।
इदानीं तस्य पापस्य निष्कृतिं कुरु राघव ॥ ५७ ॥
मद्वाक्यकरणादेव पूतो भव महामते ।

मैंने वनमें जाकर भी पिताकी उस आज्ञाका पालन किया था; परंतु जटा-वल्कल धारण करके नन्दिग्राममें निवास करते हुए तुमने पिताके उस महत्त्वपूर्ण वचनको नहीं पूर्ण किया ! राघव ! इस समय तुम अपने उस पापका प्रायश्चित्त कर डालो । महामते ! मेरी आज्ञाका पालन करके ही तुम पवित्र हो लो ॥ ५६-५७½ ॥

भरतस्त्वब्रवीद् वाक्यं कथयामि रघूद्वह ॥ ५८ ॥
द्वौ श्रुतौ बालकौ वीरौ तव सैन्यनिपातकौ ।
न तौ भवान् विजानाति हनूमान् वेत्ति वा न वा ।५९।
अङ्गदो वा विजानाति नीतिज्ञः सचिवस्तव ।

तब भरत कहने लगे—"रघुनाथजी ! मैं आपसे कुछ निवेदन करता हूँ । आपकी सेनाका संहार करनेवाले जो दोनों वीर बालक सुने जाते हैं, उन्हें आप नहीं जानते । ये हनुमान् भी जानते हैं या नहीं—इसमें संदेह है । सम्भवतः अंगद जानते हों; क्योंकि ये आपके नीतिनिपुण मन्त्री हैं॥५८-५९½॥

अङ्गद उवाच

मन्येऽहं बालकौ तौ तु रामदुर्मन्त्ररूपिणौ ॥ ६० ॥
सीतां लोकापवादेन यज्जहौ रघुनन्दनः ।

तब अंगदने कहा—मैं तो ऐसा समझता हूँ कि रघुनाथजीने लोकापवादके कारण जो सीताजीका परित्याग कर दिया है, उसी दुर्मन्त्रके परिणामस्वरूप वे दोनों बालक प्रकट हुए हैं ॥ ६०½ ॥

जैमिनिरुवाच

एवं रामसमादिष्टो हनूमत्प्रमुखैर्वृतः ॥ ६१ ॥
निर्ययौ भरतः क्रोधाद् रथमारुह्य सत्वरः ।
निर्गतं बहुलं सैन्यं गगने भूतलेऽपि च ॥ ६२ ॥
राघवस्य पुराद् रम्यान्नरवानरसंकुलम् ।
भरतः काननं प्राप्य हनूमन्तमुवाच ह ॥ ६३ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार श्रीरामकी आज्ञा पाकर भरत हनुमान् आदि प्रमुख वानरोंको साथ लेकर क्रोधपूर्वक रथपर सवार हो तुरंत ही चल पड़े । उस समय उनके पीछे नर और वानरोंसे भरी-पूरी आकाश और पृथ्वीपर गमन करती हुई विशाल सेना रघुनाथजीके उस रमणीय नगर-से बाहर निकली । तत्पश्चात् भरत उस वनमें पहुँचकर हनुमान्से बोले ॥ ६१–६३ ॥

भरत उवाच

हनूमन् पश्य संग्रामे कुशबाणैर्निपातिताः ।
रामस्य वीरा बहवो विशिरस्का विबाहवः ॥ ६४ ॥

भरतने कहा—हनूमन् ! संग्रामभूमिमें कुशके बाणोंसे गिराये गये इन श्रीरामके वीर सैनिकोंकी ओर तो देखो । इनमें बहुतोंके सिर और भुजाएँ कट गयी हैं ॥ ६४ ॥

गजान् रथान् हयान् वीरान् करभान् गतमस्तकान् ।
धावमानान् पुरः पश्य गतस्वास्थ्यानितस्ततः ॥ ६५ ॥

उधर सामने देखो, बहुत-से हाथी, घोड़े, ऊँट और वीर सैनिक मस्तकहीन होकर पृथ्वीपर पड़े हैं, रथ टूट-फूटकर बिखर गये हैं एवं घायल प्राणी इधर-उधर दौड़ रहे हैं ॥

कुतस्तौ पतितौ वीरौ रणे शत्रुघ्नलक्ष्मणौ ।
शोणितेनात्र नीयन्ते बहुलेन महाबलाः ॥ ६६ ॥
भागीरथीं प्रति बलान्नीतौ किं मम बान्धवौ ।
क्वचित् कराः क्वचित् पादाः क्वचिद् दन्ता नृणामिह६७

न जाने वे दोनों वीर शत्रुघ्न और लक्ष्मण रणक्षेत्रमें कहाँ पड़े हैं ? यहाँ तो रुधिरकी प्रखर धारा महाबली वीरोंको बहाये लिये जा रही है । क्या मेरे दोनों भाई भी इसीके द्वारा बलात् गङ्गाजीमें डाल दिये गये ? यहाँ बहते हुए मनुष्योंके कहीं हाथ, कहीं पैर और कहीं दाँत दीख रहे हैं ॥ ६६-६७॥

दृश्यन्ते वाहनानां तु क्वचित् केशाः क्वचित् स्रजः ।
नदीमिमां समुल्लङ्घ्य व्रज पारं निरीक्षय ॥ ६८ ॥
यथा गतोऽसि लङ्कां त्वं तीर्त्वा जलनिधिं पुरा ।
तत्र तौ पश्य पतितौ बान्धवौ मामकौ भुवि ॥६९॥
विलोकनीयौ तौ बालौ त्वया कुशलवौ क्वचित् ।

कहीं वाहनोंके बाल और कहीं मालाएँ बहती हुई दृष्टि-गोचर हो रही हैं । अतः अब तुम जैसे पहले सागरको पार करके लंकामें पहुँच गये थे, उसी तरह इस रक्तकी नदीको लाँघकर उस पार जाओ और पता लगाओ । वहाँ पृथ्वीपर पड़े हुए मेरे उन दोनों भाइयोंकी खोज करो । साथ ही वे दोनों बालक कुश और लव भी यदि कहीं दीख जायँ तो उनपर भी दृष्टि रखना ॥ ६८-६९½ ॥

हनूमानुवाच

तदा तीर्णोऽस्मि भरत सागरं सीतया स्वयम् ॥ ७० ॥
सम्मुखा सा पुरा जाता विमुखाद्य विलोक्यते ।
शोणितौघां नदीं मन्ये दुस्तरां लक्ष्मणाग्रज ॥७१॥
तथापि तव वाक्येन वीक्षितुं यामि बान्धवौ ।

हनुमान्ने कहा—भरतजी ! उस समय मैंने स्वयं सीताजीकी कृपासे ही समुद्रको पार किया था; क्योंकि पहले वे मेरे सम्मुख (अनुकूल) थीं और आज विमुख (प्रतिकूल) दीख रही हैं । इसलिये लक्ष्मणजीके बड़े भैया ! मैं इस रुधिर-से भरी हुई नदीको पार करना कठिन ही मानता हूँ, तथापि

आपकी आज्ञासे मैं उन दोनों भाइयोंका पता लगानेके लिये जाऊँगा ॥ ७०-७१½ ॥

इत्युक्त्वा तां नदीं तीर्त्वा ददर्श पतितावुभौ ॥ ७२ ॥
शरनिर्भिन्नसर्वाङ्गौ रणे शत्रुघ्नलक्ष्मणौ ।
प्रार्थयन्ताविव धरां सीतात्यागेन दुःखिताम् ॥ ७३ ॥
मा कोपं व्रज नौ स्थानं देहि सीताद्रुहोरिति ।

यों कहकर हनुमान्‌जी उस नदीको पार करके उस पार जा पहुँचे और वहाँ उन्होंने रणभूमिमें पड़े हुए दोनों भाई शत्रुघ्न और लक्ष्मणको देखा । उनके सारे अङ्ग बाणोंसे छिन्न-भिन्न हो गये थे । वे दोनों मानो सीताके परित्यागसे दुखी हुई पृथ्वीसे प्रार्थना कर रहे थे कि 'वसुन्धरे ! तुम हमारे ऊपर कोप न करो और सीतासे द्रोह करनेवाले हम दोनोंको भी अपनेमें स्थान दो' ॥ ७२-७३½ ॥

हनूमांस्तौ गृहीत्वाथ बाहुभ्यां पुनरागतः ॥ ७४ ॥
भरतस्य समीपं हि मूर्च्छितौ तरसा नृप ।

राजन् ! तदनन्तर हनुमान् उन दोनों मूर्च्छित भाइयोंको अपनी भुजाओंमें दाबकर पुनः शीघ्र ही भरतके समीप लौट आये ॥ ७४½ ॥

ददर्श भरतो भिन्नौ कुशबाणैः समन्ततः ॥ ७५ ॥
रथे संस्थापयामास भ्रातरौ विस्मयान्वितः ।
रक्षणे चाङ्गदं दत्त्वा हनूमन्तमुवाच ह ॥ ७६ ॥

भरतने देखा कि ये दोनों कुशके बाणोंसे सर्वथा घायल हो गये हैं, तब उन्होंने आश्चर्यचकित होकर दोनों भाइयोंको एक रथमें लिटा दिया और अंगदको उनकी रक्षाके लिये नियुक्त करके हनुमान्‌से पूछा—॥ ७५-७६ ॥

क्व गतौ बालकौ वीरौ रामसैन्यनिपातकौ ।
हनूमन् पश्य कुत्रापि बालवेषधरौ सुरौ ॥ ७७ ॥
गतौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ पातयित्वा महारणे ।

'हनूमन् ! श्रीरामकी सेनाका विनाश करनेवाले वे दोनों वीर बालक कहाँ चले गये ? कहीं पता तो लगाओ । मालूम होता है, वे दोनों बाल-वेषधारी कोई देवता हैं, जो इस महासमरमें लक्ष्मण और शत्रुघ्नको धराशायी करके चले गये' ॥ ७७½ ॥

हनूमानुवाच

मेघनादशरैर्नायं मूर्च्छितो लक्ष्मणस्तथा ॥ ७८ ॥
यथा कुशशरैर्व्याप्तो न जहाति हि कश्मलम् ।
मूर्च्छना मामुपैत्येषा वीक्ष्य लक्ष्मणमातुरम् ।
पश्यन्ति सैनिकाः सर्वे बालाभ्यां निहतं बलम् ॥७९॥

हनुमान्‌ने कहा—भरतजी ! ये लक्ष्मण मेघनादके बाणोंसे भी वैसा मूर्च्छित नहीं हुए थे, जैसा आज कुशके बाणोंसे व्याप्त हो गये हैं । अरे ! मूर्च्छा तो इन्हें छोड़ती ही नहीं है । लक्ष्मणजीको दुखी देखकर तो इस समय मुझे मूर्च्छा आ रही है और सारे सैनिक उन दोनों बालकोंद्वारा मारी गयी सेनाकी ओर देख रहे हैं ॥ ७८-७९ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि कुशलवोपाख्याने हनूमद्वाक्यं नाम पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें कुशलवोपाख्यानके प्रसंगमें हनुमान्‌का कथन नामक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्‌त्रिंशोऽध्यायः

कुशलवोपाख्यान—कुश और लवका भरतके साथ युद्ध, भरतका मूर्च्छित होना, दूतोंके खबर देनेपर श्रीरामका युद्धके लिये आना, कुशद्वारा वानरोंसहित मूर्च्छित होना, लवका हनुमान् और जाम्बवान्‌को पकड़कर सीताके पास ले जाना, सीताद्वारा उनकी मुक्ति, वाल्मीकिजीका आगमन और कुश-लवद्वारा सारा वृत्तान्त सुनकर अमृतमय जलसे सींचकर श्रीराम आदिको उठाना, श्रीरामका अयोध्या लौटना, वाल्मीकि मुनिका पुत्रोंसहित सीताको श्रीरामके समीप ले जाना, अश्वमेधयज्ञकी समाप्ति

जैमिनिरुवाच

एतस्मिन्नन्तरे प्राप्तो धनुर्विस्फारयन् कुशः ।
खड्गचर्मधरो वीरो लवः संग्राममागमत ॥ १ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! इसी बीचमें कुश अपने धनुषकी टंकार करता हुआ आ पहुँचा और वीरवर लव ढाल-तलवार लिये हुए संग्रामभूमिमें आ धमका ॥ १ ॥

प्रकाशयित्वा पृथिवीं करैः सागरमेखलाम् ।
सूर्योऽन्तर्धानमापेदे ध्वान्तं च समपद्यत ॥ २ ॥

उधर सूर्यदेव भी सागरको मेखलारूपमें धारण करनेवाली पृथ्वीको अपनी किरणोंसे प्रकाश पहुँचाकर अन्तर्धान हो गये, तब चारों ओर अन्धकार छा गया ॥ २ ॥

आत्मनश्च परेषां च वीरो न ज्ञायते तदा ।
अन्योन्यं नामभिस्ते वै क्रोशन्ति रणकोविदाः ॥ ३ ॥

उस समय यह वीर अपना है या पराया—इसका ज्ञान जाता रहा । युद्धकुशल वीर परस्पर एक-दूसरेका नाम ले-लेकर पुकारने लगे ॥ ३ ॥

गजा मत्ताश्च धावन्ति चूर्णयन्तो रथान् बहून् ।
रथवेगेनाश्ववीराः पतन्ति हयपृष्ठतः ॥ ४ ॥
हयवेगेनाश्ववीराः पत्तयो भुवि शेरते ।
दोधूय खड्गं स लवः प्रविवेश महाचमूम् ॥ ५ ॥

मतवाले गजराज बहुसंख्यक रथोंको कुचलकर चूर-चूर करते हुए इधर-उधर दौड़ने लगे । रथके वेगपूर्वक ठोकर लगनेसे घुड़सवार घोड़ोंकी पीठसे गिरने लगे । घोड़ोंके वेगपूर्वक दौड़नेसे घुड़सवार तथा उनके धक्केसे पैदल सैनिक पृथ्वीपर लोटने लगे । इसी समय लवने अपनी तलवार लपलपाते हुए उस विशाल सेनामें प्रवेश किया ॥ ४-५ ॥

शिरस्याधाय चर्माशु खड्गेनाश्वपदोऽच्छिनत् ।
हस्तिहस्तान् विशालांश्च चिच्छेद स कुशानुजः ॥६॥

तब कुशके अनुज लवने ढालको सिरपर रखकर खड्गसे शीघ्र ही घोड़ोंके पैर और हाथियोंके विशाल शुण्डदण्डको काटना आरम्भ किया ॥ ६ ॥

दीर्घहस्तौ समालम्ब्य व्रजन्नुपरि हस्तिनम् ।
विदारयति कुम्भौ स काष्ठानीव कुठारकः ॥ ७ ॥

फिर वह अपने लंबे-लंबे हाथोंके सहारेसे हाथियोंके मस्तकपर पहुँचकर उनके कुम्भस्थलोंको उसी प्रकार विदीर्ण करने लगा, जैसे कुल्हाड़ा लकड़ीको चीर डालता है ॥ ७ ॥

मुक्ताफलानि जगृहे मुष्टिभिर्भुवि चाक्षिपत् ।
हस्तिदन्तेषु पतितैः खड्गैर्भृशभयानकाः ॥ ८ ॥
समुत्थिताश्चाग्निकणास्ते दहन्ति स्म सैनिकान् ।
तावत् क्रुद्धो महाबाहुः कुशो बाणान् मुमोच सः ॥ ९ ॥

वह उन फटे हुए कुम्भस्थलोंमेंसे मुट्ठी भर-भरकर गजमुक्ता लेकर पृथ्वीपर फेंकने लगा । हाथियोंके दाँतोंपर खड्गसे प्रहार किये जानेपर अत्यन्त भयावनी अग्निकी चिनगारियाँ प्रकट हो जाती थीं । वे सैनिकोंको भस्म करने लगीं । तबतक महाबाहु कुश भी कुपित होकर बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥

शिरांसि चिच्छिदे वीरो बाहूनङ्गदभूषितान् ।
शिरांसि करिणां बाणैरनयद् दिवमोजसा ॥ १० ॥

उस वीरने शत्रुओंके सिर तथा बाजूबंदविभूषित भुजाओंको काटकर गिरा दिया । वह हाथियोंके मस्तकोंको बलपूर्वक बाणोंसे काटकर द्युलोक (आकाश) में पहुँचा देता था ॥ १० ॥

आकाशेऽद्यापि ते प्राप्ता एकीभावं व्यवस्थिताः ।
अतः परं हि नक्षत्रं न भूतं न भविष्यति ॥११॥

आकाशमें पहुँचकर वे सभी सिर (हाथियोंके हस्त या शुण्ड) आज भी एकीभावको प्राप्त होकर स्थित हैं । उस हस्त-समुदायसे बढ़कर दूसरा कोई नक्षत्र न तो हुआ है और न होगा ही ॥ ११ ॥

तस्मान्नक्षत्रतां प्राप्ताः खे हस्ता हस्तिनां तथा ।
वर्षन्त्यद्यापि भूपृष्ठे हस्तादानोदकं बहु ॥ १२ ॥

इसी कारण वे हाथियोंके हस्त (सूँड) आकाशमें पहुँचकर नक्षत्र-पदको प्राप्त हुए हैं और आज भी वे भूतलपर अपने मदरूपी बहुत-से जलकी वर्षा करते रहते हैं ॥ १२ ॥

सावित्रं तस्य पानीयं निदानं मौक्तिकस्य च ।
एवं हि करिशीर्षाणि छिन्नानि शतशो रणे ॥ १३ ॥
कुशेन तेन वीरेण तदद्भुतमिवाभवत् ।

उस हस्त नक्षत्रपर सूर्यके पहुँचनेपर बरसनेवाला जल गजमुक्ताकी उत्पत्तिका कारण होता है । इस प्रकार उस विख्यात वीर कुशने रणभूमिमें सैकड़ों हाथियोंके मस्तक उड़ा दिये । यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ १३½ ॥

अथ कोदण्डटङ्कारबधिरीकृतदिग्गजः ॥ १४ ॥
ददर्श भरतः किं तौ कार्तिकेयगणेश्वरौ ।
संहरन्तौ निजं सैन्यं वनं वायुविभावसू ॥ १५ ॥
मुमोच निशितान् बाणांस्तोयधारा इवाम्बुदः ।

तदनन्तर अपने धनुषकी टंकारसे दिग्गजोंको बधिर बना देनेवाले भरतने उन्हें देखा और मन-ही-मन सोचा—क्या वे दोनों कार्तिकेय और गणेश हैं ? जो मेरी सेनाका उसी प्रकार संहार कर रहे हैं, जैसे पवन और अग्नि एक साथ होकर वनको भस्म कर रहे हों । फिर तो वे तीखे बाण छोड़ने लगे, मानो बादल जलकी धारा गिरा रहे हों ॥ १४-१५½ ॥

जैमिनिरुवाच

बालकौ कार्मुकयुतौ घनश्यामौ च संगतौ ॥ १६ ॥
काकपक्षधरौ वीक्ष्य हनूमानिदमब्रवीत् ।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर जिनके हाथोंमें धनुष सुशोभित था, जिनकी अङ्ग-कान्ति काले बादलके सदृश श्याम थी, ऐसे काकपक्षधारी उन दोनों बालकोंको एक साथ देखकर हनुमान्‌जी इस प्रकार बोले ॥ १६½ ॥

हनूमानुवाच

एतौ रामाकृती बालौ बलं रामस्य वीक्षकौ ॥ १७ ॥
सज्जास्तिष्ठन्तु सर्वत्र भरताद्या महाबलाः ।

हनुमान्‌जी बोले—श्रीरामकी-सी आकृतिवाले ये दोनों बालक श्रीरामकी सेनाकी ओर (क्रूर दृष्टिसे) देख रहे हैं, अतः अब भरत आदि महाबली वीर सर्वत्र सावधान होकर खड़े हो जायँ ॥ १७½ ॥

एवं ब्रुवति वीरे तु तदा पवननन्दने ॥ १८ ॥
तावत् कुशः प्रत्युवाच लवं रणगतं तदा ।
पश्य सैन्यं लव प्राप्तं तुरङ्गं नेतुमिच्छति ॥ १९ ॥
व्रजाम्येतद् बलं भ्रातस्तुरङ्गं त्वं हि पालय ।
ततो रामानुजं वीक्ष्य कुशो वचनमब्रवीत् ॥ २० ॥

वीरवर पवननन्दन हनुमान् ऐसा कह ही रहे थे कि कुशने रणभूमिमें खड़े हुए लवसे कहा—'लव ! देख, सेना तो आ पहुँची है और यह उस घोड़ेको ले जाना चाहती है; इसलिये भाई ! मैं उस सेनाकी ओर जा रहा हूँ और तू इस घोड़ेकी रक्षा करना ।' तत्पश्चात् भरतको देखकर कुश यों कहने लगा ॥ १८–२० ॥

कुश उवाच

शत्रुघ्नो लक्ष्मणश्चोभौ शयाते निहतं बलम् ।
किं नाम मे न जानासि शत्रुं मां कुशमागतम् ॥ २१ ॥

कुश बोला—भरत ! शत्रुघ्न और लक्ष्मण—ये दोनों रणभूमिमें पड़े सो रहे हैं और सारी सेनाका संहार हो गया; फिर भी क्या तुम मेरा नाम नहीं जानते ? मैं तुम्हारा शत्रु कुश हूँ और तुम्हारे सामने खड़ा हूँ ॥ २१ ॥

भरत उवाच

त्वां नयिष्याम्यहं युद्धात् पराजित्य निजां पुरीम् ।
सानुजं त्वरितं बालं घोटं मुञ्च व्रजाधुना ॥२२॥

तब भरतने कहा—कुश ! मैं तुझ बालकको तेरे छोटे भाईसहित परास्त करके इस युद्धस्थलसे अपनी नगरीको ले जाऊँगा, अन्यथा तू शीघ्र ही घोड़ेको छोड़ दे और अब अपने घरको लौट जा ॥ २२ ॥

जननीं ते तापसीं मे करुणः वीक्ष्य जायते ।
जनन्यै ब्रूहि मुक्तोऽस्मि सबन्धुर्भरतेन च ॥ २३ ॥
क्षमितं स्वबलस्याद्य पातनं यत् त्वया कृतम् ।

तेरी तपस्विनी माताकी ओर ध्यान करके मेरे हृदयमें करुणा उत्पन्न हो रही है । तू अपनी मातासे जाकर कह कि भरतने भाईसहित मुझे क्षमा कर दिया है । तूने जो मेरी सेनाको मार गिराया है, तेरे उस अपराधको भी मैंने आज क्षमा कर दिया ॥ २३½ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य कुशो बाणैरथार्दयत् ॥२४॥
भरतं सप्तभिर्वीरं वानरान् पञ्चसप्तभिः ।
हनूमन्तं शतेनायं ताडयामास संगरे ॥ २५ ॥

भरतकी वह बात सुनकर कुश उन्हें बाणोंसे पीडित करने लगा । उसने संग्रामभूमिमें वीरवर भरतको सात, वानरोंको बारह और हनुमान्‌को सौ बाणोंसे पीट दिया ॥ २४-२५ ॥

बाणानां वालिपुत्रं च सहस्रेण हसन्निव ।
नीलं पञ्चशतैर्विद्ध्वा सप्तत्या च नलं रणे ॥ २६ ॥
जाम्बवन्तं त्रिसाहस्रैर्बाणैर्विव्याध रोषितः ।
यस्य यस्य शरो लग्नो नितरां हृदये बलात् ॥ २७ ॥
मूर्च्छान्वितः स पतितः सीतापुत्रेण ताडितः ।

पुनः उस युद्धमें कुपित होकर कुशने मुसकराते हुए-से बालिकुमार अंगदको एक हजार, नीलको पाँच सौ और नलको सत्तर बाणोंसे बींधकर जाम्बवान्‌को तीन हजार बाणोंसे घायल कर दिया । अत्यन्त बलपूर्वक छोड़ा हुआ उसका बाण जिस-जिसके हृदयमें लगा, वही-वही सीतानन्दन कुशसे ताडित हो मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २६-२७½ ॥

बाणैः षड्भिश्च राजेन्द्र लवेनातिबलीयसा ॥ २८ ॥
भरतस्य धनुश्छिन्नं रथश्च शकलीकृतः ।
कुशकोदण्डनिर्मुक्तैर्मुमोह भरतः शरैः ॥ २९ ॥

राजेन्द्र जनमेजय ! तत्पश्चात् महाबली लवने छः बाणोंसे भरतके धनुषको काटकर उनके रथके भी टुकड़े-टुकड़े कर दिये तथा कुशके धनुषसे छूटे हुए बाणोंकी चोटसे भरत भी मूर्च्छित हो गये ॥ २८-२९ ॥

गिरिमुत्पाट्य हनुमान् भरतं वीक्ष्य मूर्च्छितम् ।
चिक्षेप सीतासुतयोर्मूर्ध्नि योजनमायतम् ॥ ३० ॥

तब भरतको मूर्च्छित हुआ देखकर हनुमान्‌ने एक योजन विस्तारवाले एक पर्वतखण्डको उखाड़कर उसीसे सीताके दोनों कुमारोंके मस्तकपर प्रहार किया ॥ ३० ॥

तं पर्वतं दीर्घनेत्रौ बाणैश्चक्रतुरम्बरे ।
त्रसरेणुनिभं रुद्रगात्रभूतिसुखप्रदम् ॥ ३१ ॥

परंतु विशाल नेत्रोंवाले उन दोनों भाइयोंने उस पर्वतको आकाशमें ही अपने बाणोंसे काटकर त्रसरेणुके समान चूर-चूर कर दिया, जिससे वह शंकरजीके शरीरको सुख देनेवाली विभूति बन गया ॥ ३१ ॥

पञ्चभिस्तं हरिसुतं प्रभिन्नमपि मूर्च्छितम् ।
शरैः कनकचित्रैश्च कुशश्चक्रे स्वपौरुषात् ॥ ३२ ॥

तत्पश्चात् कुशने अपने पुरुषार्थसे स्वर्णभूषित पाँच बाण मारकर वानर-पुत्र हनुमान्‌को भी घायल एवं मूर्च्छित कर दिया ॥ ३२ ॥

ततो भग्नं बलं भूयो रामाय पतितं जनः ।
कथयामास राजेन्द्र श्रुत्वा रामो विनिर्ययौ ॥ ३३ ॥
ससुग्रीवो महाबाहुर्भ्रातृदुःखेन दुःखितः ।
विभीषणयुतः श्रीमान् विस्मयोत्फुल्ललोचनः ॥ ३४ ॥
वनं प्राप्य रथारूढस्तौ ददर्श बलं च तत् ।
हतप्रहतविध्वस्तं रामेति परिभाषि च ॥ ३५ ॥

फिर तो सारी सेनामें भगदड़ मच गयी। तब पुनः दूतने श्रीरामके पास जाकर सेनाके संहारकी बात कह सुनायी । राजेन्द्र ! यह समाचार सुनकर शोभाशाली महाबाहु रामके नेत्र आश्चर्यसे चकित हो उठे और वे भाइयोंके दुःखसे दुखी होकर सुग्रीव और विभीषणके साथ रथपर चढ़कर चल पड़े । उस वनमें पहुँचकर वहाँ उन्होंने उन दोनों बालकोंको तथा अपनी उस सेनाको देखा, जिसके बहुत-से वीर मारे गये थे, बहुत-से घायल थे और बहुत-से नष्ट-भ्रष्ट होकर राम-रामकी पुकार मचा रहे थे ॥ ३३-३५॥

जैमिनिरुवाच

पप्रच्छ रामस्तौ बालौ स्वाकृती धन्विनां वरौ ।
कुतोऽधीतो धनुर्वेदो भवद्भ्यां यद्धतं बलम् ॥ ३६ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तब भगवान् राम धनुर्धर वीरोंमें श्रेष्ठ तथा अपनी-सी ही आकृतिवाले उन दोनों बालकोंसे पूछने लगे—'बालको ! तुम दोनोंको धनुर्वेदकी शिक्षा किससे मिली है, जिसके प्रभावसे तुमने मेरी सेनाका संहार कर डाला है ? ॥ ३६ ॥

केनोपनीतौ विधिवत् किंस्विद् वेदे कृतश्रमौ ।
किंस्वित् कलासु कुशलौ धर्मश्रवणतत्परौ ॥ ३७ ॥

'किसने विधिपूर्वक तुम्हारा उपनयन-संस्कार किया है ? और किस वेदमें तुमलोगोंने परिश्रम किया है ? तथा किन-किन कलाओंमें निपुणता प्राप्त की है ? क्या तुमलोग धर्म-चर्चा सुननेमें तत्पर रहते हो ? ॥ ३७ ॥

कच्चिन्न परदारेषु विरुद्धा दृष्टिरीर्यते ।
कच्चित् तेषु च विप्रेषु प्रतिज्ञायाश्च पालनम् ॥ ३८ ॥

'तुमलोग परायी स्त्रियोंपर कुदृष्टि तो नहीं डालते ? ब्राह्मणोंसे प्रतिज्ञा करके उसका पालन तो करते हो न ? ॥

कस्तातः का च जननी कुत्र वासो निवेद्यताम् ।
तद्भाषितमुपश्रुत्य कुशो वचनमब्रवीत् ॥ ३९ ॥

'तुम्हारे पिताका क्या नाम है ? तुम्हारी माता कौन है ? तुम्हारा निवासस्थान कहाँ है ? यह सब बातें मुझे बताओ ।' तब श्रीरामका कथन सुनकर कुशने उत्तर दिया ॥ ३९ ॥

कुश उवाच

किमस्मदीयकथया वंशजोद्भवया नृप ।
क्षात्रं पौरुषमुत्सृज्य कथ्यते त्वादृशैर्जनैः ॥ ४० ॥

कुशने कहा—नरेश्वर ! हमारे वंशसम्बन्धी कथासे तुम्हारा क्या प्रयोजन है ? वंशपरम्पराका कथन तो तुम्हारे-जैसे लोग ही क्षत्रियोचित पुरुषार्थका परित्याग करके किया करते हैं।।

शीघ्रं युध्यस्व राजेन्द्र विलम्बः क्रियते कथम् ।
न तुरङ्गो ह्यस्मदीय उच्यतां वाथ युध्यताम् ॥ ४१ ॥

राजेन्द्र ! अब शीघ्र युद्ध करो । विलम्ब क्यों कर रहे हो ? (तुम्हारे लिये दो ही उपाय है) या तो कह दो कि घोड़ा हमारा नहीं रहा अथवा युद्ध करो ॥ ४१ ॥

इति वाक्यं तयोः श्रुत्वा रामोऽवोचद् विशाम्पते ।
न करिष्याम्यहं युद्धं भवान् कथयतां कुलम् ॥ ४२ ॥

प्रजानाथ जनमेजय ! उन दोनों बालकोंकी बात सुनकर श्रीरामने कहा—'लो, मैं युद्ध नहीं करूँगा; अब तुम अपने कुलका वर्णन करो' ॥ ४२ ॥

कुश उवाच

केवलं सुषुवे सीता क्षमाशीलौ च नौ वने।
आवयोः कृतवान् सर्वं जातकर्मादिकं मुनिः ॥ ४३ ॥
उपनिन्ये च वाल्मीकिर्वेदं सम्यगपाठयत्।
तथा रामस्य चरितं सन्मनोनिर्वृतिप्रदम् ॥ ४४ ॥

तब कुश कहने लगा—राम ! हम दोनों क्षमाशील भाइयोंको केवल सीताने वनमें जन्म दिया है और वाल्मीकि मुनिने हम दोनोंके जातकर्म आदि सभी संस्कार सम्पन्न किये हैं तथा उपनयन-संस्कार करके वेद एवं सत्पुरुषोंके मनको आनन्द प्रदान करनेवाले श्रीरामके चरित्रकी शिक्षा भी सम्यक् प्रकारसे उन्होंने ही दी है ॥ ४३-४४ ॥

तत्तदभ्यासयोगेन दृष्टिर्विमलतां व्रजेत्।
बुद्धिस्वास्थ्यं मनःस्वास्थ्यं प्रतापश्चापि वर्धते ॥४५॥

उस वेद और रामचरितका अभ्यास करनेसे दृष्टि निर्मल हो जाती है, बुद्धि और मन स्वस्थ रहते हैं और प्रतापकी वृद्धि होती है ॥ ४५ ॥

तस्माद्धतं बलं सर्वं योधानां तव पश्यताम्।
ममता नास्ति ते राम पुत्रदारधनेषु च ॥ ४६ ॥

उसीके प्रभावसे मैंने तुम्हारे योद्धाओंके सामने सारी सेनाका संहार किया है। राम! तुममें तो पुत्र, स्त्री और धनके विषयमें ममता ही नहीं है ॥ ४६ ॥

तस्माद्धतस्य सैन्यस्य गणना ते न विद्यते।
न शक्तिर्विद्यते राम सा त्यक्ता किं त्वया वने ॥ ४७ ॥
शक्तिहीनो नरः कस्तु युध्येत निशितैः शरैः।

इसी कारण तुम्हारी मारी गयी सेनाकी कोई गणना ही नहीं है (कि वह कितनी संख्यामें मारी गयी)। राम ! क्या अब तुममें शक्ति नहीं है ? क्या तुमने उसे वनमें ही छोड़ दिया था ? तब भला, कौन शक्तिहीन पुरुष पैने बाणोंसे युद्ध कर सकता है ? ॥ ४७½ ॥

जैमिनिरुवाच

रामोऽमन्यत पुत्रौ तौ सीतातनयकीर्तनात्।
धिगस्तु खलु नो युद्धमित्युक्त्वा धनुरुज्झहौ ॥ ४८ ॥
पपात रथनीडेऽथ मूर्च्छितो जनमेजय।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! 'हम दोनों सीताके पुत्र हैं' कुशके इस कथनसे ही श्रीरामने समझ लिया कि ये दोनों मेरे ही पुत्र हैं। तब 'हमलोगोंके इस युद्धको धिक्कार है !' यों कहकर उन्होंने अपना धनुष फेंक दिया और फिर वे रथकी बैठकमें मूर्च्छित होकर गिर पड़े ॥ ४८½ ॥

मूर्च्छां विहाय धर्मात्मा धीरः सत्यपराक्रमः ॥ ४९ ॥
सुग्रीवं परिपप्रच्छ रामः परपुरंजयः।
एतौ कस्यात्मजौ वीरौ जानीहि कपिसत्तम ॥ ५० ॥

तत्पश्चात् मूर्च्छा दूर होनेपर शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेवाले सत्यपराक्रमी धीरवीर धर्मात्मा श्रीरामने सुग्रीवसे पूछा—'कपिश्रेष्ठ ! जरा इसका पता तो लगाओ कि ये दोनों वीर बालक किसके पुत्र हैं ?' ॥ ४९-५० ॥

सुग्रीव उवाच

पुराणपुरुषाज्जातावेतौ मन्येऽत्र राघव।
प्रतिबिम्बं तावकं हि वनमध्ये विलोक्यते ॥ ५१ ॥

तब सुग्रीवने कहा—राघव ! इस विषयमें तो मैं ऐसा समझता हूँ कि वे दोनों बालक आप पुराणपुरुषसे ही उत्पन्न हुए हैं; क्योंकि इस वनके बीच उनमें आपका ही प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर हो रहा है ॥ ५१ ॥

नापरं संगरे मन्ये जययुक्तं विना प्रभुम्।
तवाग्रे यामि बालौ हि युधि योधयितुं नृप ॥ ५२ ॥

नरेश्वर ! यद्यपि मैं यह समझ रहा हूँ कि संग्रामभूमिमें आपके अतिरिक्त दूसरा कोई विजयी नहीं हो सकता, तथापि मैं आपके सामने ही इन दोनों बालकोंसे लड़नेके लिये युद्ध-स्थलमें जाता हूँ ॥ ५२ ॥

गृहीत्वा शाखिनं राजन् मुमोच पुरतस्तयोः।
तौ वृक्षं तिलशः कृत्वा चक्रतुर्मूर्च्छितं हरिम् ॥ ५३ ॥
शरैः सुनिशितैस्तावन्नीलोऽयुध्यत वानरः।
नीलं बाणेन विव्याध कुशः कोपसमन्वितः ॥ ५४ ॥

राजन् ! (रणभूमिमें पहुँचकर) सुग्रीवने एक विशाल वृक्ष उखाड़कर उन दोनों बालकोंपर सामनेसे प्रहार किया। तब उन दोनोंने अत्यन्त तीखे बाणोंकी मारसे उस वृक्षके तिलके समान खण्ड-खण्ड करके सुग्रीवको भी मूर्च्छित कर दिया। तबतक नीलनामक वानर युद्ध करने लगा। तब कुशने कुपित होकर नीलको एक बाणसे घायल कर दिया ॥ ५३-५४ ॥

बभूवुर्बहवो नीला रुधिरात् तस्य चापरे।
तैश्च व्याप्तं रणं सर्वं तत्प्रमाणैर्महाबलैः ॥ ५५ ॥

तत्पश्चात् नीलके शरीरसे बहते हुए रक्तसे दूसरे बहुत-से

नील प्रकट हो गये। फिर तो नीलके समान ही आकार-प्रकार-वाले उन महाबली नीलोंसे सारा रणक्षेत्र व्याप्त हो गया ॥५५॥

तावत् कुशेन वीरेण बुद्ध्या सम्यग् विचारितम्।
जलौकास्त्रेण ते सर्वे विद्धाः पेतुर्धरातले ॥ ५६ ॥
स चापि पतितो नीलः परे भग्नाश्च सैनिकाः।
एक एव स्थितो रामो नाभवन् सैनिकाश्च ते ॥ ५७ ॥

तब वीरवर कुशने अपनी बुद्धिसे भलीभाँति विचार करके जलौकास्त्रका प्रयोग किया। फिर तो वे सभी नील उस अस्त्रसे घायल होकर भूतलपर गिर पड़े और वह वास्तविक नील भी धराशायी हो गया। तब दूसरे सैनिक भाग खड़े हुए। उस समय वहाँ उन सैनिकोंमेंसे कोई भी ठहर नहीं सका; अकेले श्रीराम ही खड़े रह गये ॥ ५६-५७ ॥

रामो मुमोच नाराचांस्तीक्ष्णान् कालानलप्रभान्।
मार्गणा निष्फलाः पेतुः कृपणस्येव मन्दिरे ॥ ५८ ॥
मनोरथा निर्धनस्य शरन्मेघा इवाम्बरे।

तदनन्तर श्रीराम कालाग्निके समान भयंकर एवं प्रकाश-मान तीखे नाराचोंकी वर्षा करने लगे; परंतु वे बाण जैसे कंजूसके घरपर याचना करनेवाले गरीबके मनोरथ व्यर्थ जाते हैं तथा आकाशमें छाये हुए शरत्कालके बादल (जलहीन होनेके कारण) निरर्थक होते हैं, उसी तरह निष्फल होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ५८½ ॥

यं यं बाणं मुमोचासौ राघवः कुपितो मृधे ॥ ५९ ॥
तं तं द्विधा चक्रतुस्तौ स चतुर्धाभवच्छरः।
एवं तदाभवद् युद्धं लोकविस्मयकारकम् ॥ ६० ॥

श्रीराम रणक्षेत्रमें क्रुद्ध होकर जिस-जिस बाणको छोड़ते थे, उस-उसको वे दोनों काटकर दो टुकड़े कर देते थे। इस प्रकार वह एक ही बाण चार भागोंमें बँट जाता था। उस समय संसारको विस्मित कर देनेवाला ऐसा ही युद्ध हुआ था॥

दृष्ट्वा तुल्यं बलं सम्यग् बालयो रघुनन्दनः।
सीतावदनवद् वक्त्रौ दृष्ट्वा बाणैश्च ताडितः ॥ ६१ ॥
पपात रथनीडेऽथ मूर्च्छितो जनमेजय।

जनमेजय! बाणोंसे अत्यन्त घायल हुए रघुनाथजीको जब यह निश्चय हो गया कि इन दोनों बालकोंमें एक-सा बल है, तब वे सीताके मुखके समान शोभाशाली उनके मुखकी ओर देखते हुए मूर्च्छित होकर रथकी बैठकमें गिर पड़े ॥

ततः कुशलवौ ज्ञात्वा मूर्च्छितं जानकीपतिम् ॥ ६२ ॥
समुत्तीर्य रथात् तस्माज्जगृहातेऽस्य कुण्डले।
केयूरं कण्ठहारं च लक्ष्मणस्यापि मण्डनम् ॥ ६३ ॥

तदनन्तर जानकीपति श्रीरामको मूर्च्छित जानकर कुश और लवने उन्हें उस रथसे उतारकर उनके दोनों कुण्डल, बाजूबंद और कण्ठहार उतार लिये तथा लक्ष्मणके भी आभूषण ले लिये ॥ ६२-६३ ॥

सर्वेषामपि वीराणां पतितानां रणाङ्गणे।
एतस्मिन्नन्तरे राजँल्लवः कुशमथाब्रवीत् ॥ ६४ ॥

इसी प्रकार उन्होंने रणाङ्गणमें पड़े हुए सभी वीरोंके आभूषण हस्तगत कर लिये। राजन्! इसी बीचमें लवने कुशसे कहा—॥

भ्रातः कुश ग्रहीष्यामि हनूमन्तं महाबलम्।
सीता वीक्ष्य कपिं हृष्टा भविष्यति न संशयः ॥ ६५ ॥

'भैया कुश! मैं इस महाबली हनुमान्‌को पकड़कर ले चलूँगा। इस बंदरको देखकर अवश्य ही माता सीता प्रसन्न होंगी ॥ ६५ ॥

रामस्य च रथं रम्यमध्यारोह सुदुर्जयम्।
लक्ष्मणस्य रथं रम्यमधिरुह्य व्रजाम्यहम् ॥ ६६ ॥
जाम्बवत्प्रमुखान् वीरान् स्वरथे परिपातय।

'आप श्रीरामके इस कठिनतासे जीते जानेवाले एवं रमणीय रथपर सवार होइये और मैं लक्ष्मणके सुन्दर रथपर चढ़कर चलता हूँ। आप इन जाम्बवान् आदि प्रधान-प्रधान वीरोंको अपने रथमें डाल लीजिये' ॥ ६६½ ॥

जैमिनिरुवाच

हनूमज्जाम्बवन्तौ च मूर्च्छाविरहितौ भुवि ॥ ६७ ॥
वानरावूचतुस्तथ्यं मीलयावोऽत्र लोचने ॥ ६८ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय रणभूमिमें हनुमान् और जाम्बवान्‌की मूर्च्छा विगत हो गयी थी। तब वे दोनों वानर-वीर परस्पर कहने लगे—'ठीक ही तो है, अब हमलोग यहाँ अपने नेत्र मूँद लें' ॥ ६७-६८ ॥

हनूमानुवाच

पश्य रामादयो वीरा मूर्च्छिता बालसायकैः।
जाम्बवन् मां च कुरुते मूर्च्छितं रामसम्भवः ॥ ६९ ॥
किं करिष्यामि यदि मां स नेष्यति बलात् कुशः।
सीतासमीपं मरणं भविष्यति न संशयः ॥ ७० ॥

उस समय हनुमान् कहने लगे—जाम्बवन्!

देखो न, इन बालकोंके सायकोंकी चोटसे श्रीराम आदि वीर मूर्च्छित हुए पड़े हैं। श्रीरामसे उत्पन्न हुए इस शिशुने मुझे भी बेहोश कर दिया था; परंतु अब क्या करूँ? यदि कहीं वह कुश मुझे बलपूर्वक पकड़कर सीताजीके समीप ले गया तो निस्संदेह मेरा मरण हो जायगा॥ ६९-७०॥

एवं ब्रुवाणे वीरे तु प्राप्तो रणगतो लवः।
जग्राह वानरौ तौ हि मुदा कपटमूर्च्छितौ॥ ७१॥

वीरवर हनुमान् ऐसा कह ही रहे थे कि उसी समय रणभूमिमें घूमता हुआ लव वहाँ आ पहुँचा और बड़ी प्रसन्नताके साथ उसने कपटपूर्वक मूर्च्छित हुए उन दोनों वानरोंको पकड़ लिया॥ ७१॥

सीतासमीपं गत्वाथ सर्वं जगदतुश्च तौ।
जितो रामःससैन्यो हि समानीतं च भूषणम्॥ ७२॥
वानरौ कौतुकार्थे ते मयाऽऽनीतौ निरीक्षय।
मातर्भ्रात्रा कृतं युद्धं विजयी पुनरागतः॥ ७३॥
सीता पुत्रौ परिष्वज्य वचनं चेदमब्रवीत्।

तत्पश्चात् वे दोनों सीताजीके निकट जाकर युद्धके सारे वृत्तान्तका वर्णन करने लगे—'माँ! हमने सेनासहित श्रीरामको जीत लिया है और उनके आभूषण भी उतार लिये हैं तथा तुम्हें तमाशा दिखानेके लिये मैं दो बंदरोंको भी पकड़ लाया हूँ। चलो देखो न। भाई कुशने घोर युद्ध किया था और अब वे विजयी होकर पुनः लौटे हैं।' तब सीता पुत्रोंको छातीसे लगाकर निम्नाङ्कित वचन बोलीं॥ ७२-७३½॥

सीतोवाच

मानिनौ वानरौ मुञ्च रणमध्ये च पुत्रक॥ ७४॥
मां निरीक्ष्य मृतावेतौ जीवहीनौ भविष्यतः।
ततो लवो मुमोचैतौ रणमध्ये महामतिः॥ ७५॥

सीताने कहा—अरे बेटा! तू इन दोनों मानी वानरोंको रणभूमिमें ही छोड़ आ, नहीं तो ये दोनों मुझे देख निर्जीव होकर मर जायँगे। तब महाबुद्धिमान् लवने उन दोनोंको रणक्षेत्रमें लाकर छोड़ दिया॥ ७४-७५॥

एतस्मिन्नन्तरे राजन् वाल्मीकिर्वरुणालयात्।
आजगाम महातेजा ऋषिभिः परिवारितः॥ ७६॥

राजन्! इसी बीचमें महातेजस्वी महर्षि वाल्मीकि ऋषियोंके साथ वरुणलोकसे लौटकर आ गये॥ ७६॥

तौ गत्वाथाकथयतां सर्वं कृत्यमशेषतः।
ततो ज्ञात्वा मुनिवरः सर्वानुत्थाप्य वारिणा॥ ७७॥
प्रोक्ष्यामृतमयेनैवमुवाच रघुनन्दनम्।

तब कुश और लवने महर्षिके समीप जाकर सारा वृत्तान्त ज्यों-का-त्यों उनसे कह सुनाया। सारी घटना जानकर मुनिवर वाल्मीकिने अमृतमय जलसे सींचकर उन समस्त मृत योद्धाओंको उठाया और फिर रघुनन्दनसे इस प्रकार कहा॥ ७७½॥

वाल्मीकिरुवाच

तव पुत्रौ महाराज गृह्यतां रघुनन्दन॥ ७८॥
मन्यसे यदि सीतां च निर्दोषां नेतुमर्हसि।

वाल्मीकिजी बोले—महाराज! ये दोनों आपके पुत्र हैं। रघुनन्दन! इन्हें ग्रहण कीजिये और यदि आप सीताको निर्दोष मानते हों तो उसे भी ले जा सकते हैं॥ ७८½॥

उत्थाय रामो नगरीं प्रविवेश ससैनिकः॥ ७९॥
विस्मयन्नेव च हयं मुक्तं वाल्मीकिना च तम्।
पालयामास वीरैस्तैःपश्चाद् यज्ञो महान् कृतः॥ ८०॥

तब श्रीराम विस्मय-विमुग्ध हो उठकर वहाँसे चल दिये और सैनिकोंसहित अपनी नगरीमें प्रविष्ट हुए। इधर शेष वीर महर्षि वाल्मीकिद्वारा बन्धनमुक्त किये गये उस अश्वकी रक्षा करने लगे। तत्पश्चात् श्रीरामने उस महान् यज्ञको सम्पन्न किया॥

यज्ञोत्सवे वर्तमाने वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवः।
सीतां नीत्वा पुत्रयुतां संस्थाप्य रघुसंनिधौ॥ ८१॥

जिस समय वह यज्ञोत्सव चालू हुआ उसी समय मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकिने पुत्रोंसहित सीताको लाकर रघुनाथजीके समीप खड़ी कर दिया॥ ८१॥

रामः पुत्रयुतो जातः सीतया सहितः स्थितः।
मुनीन् विसर्जयामास यज्ञान्ते च पुरस्कृतान्॥ ८२॥

तब श्रीराम पुत्रोंसे संयुक्त हुए और सीताके साथ विराजमान होकर उन्होंने यज्ञान्तमें मुनियोंको दक्षिणादिसे पुरस्कृत करके विदा किया॥ ८२॥

रामः सीतागतं स्नेहं विदधे तदपत्ययोः।
युद्धं तु पुत्रयोर्यद्वज्जातं रामेण वै पुरा॥ ८३॥
तथा पार्थस्य पुत्रस्य युद्धं प्रावर्ततान्द्भुतम्।

श्रीरामका जैसा स्नेह सीताके प्रति था, वैसा ही प्रेम वे दोनों पुत्रोंसे करने लगे। पूर्वकालमें जैसे श्रीरामके साथ उनके पुत्रोंका युद्ध हुआ था, उसी प्रकार अर्जुनका और उनके पुत्र बभ्रुवाहनका अद्भुत युद्ध प्रारम्भ हुआ॥ ८३½॥

सूत उवाच

पारीक्षिताय सकलं कथयामास जैमिनिः ॥ ८४ ॥
तत् तु युष्मभ्यमाख्यातं मया वै मुनिपुङ्गवाः ।

सूतजी कहते हैं—मुनिश्रेष्ठो ! महर्षि जैमिनिने परीक्षित्-नन्दन जनमेजयसे जिस कथाका वर्णन किया था, वही सारा-का-सारा वृत्तान्त मैंने आपलोगोंसे कह सुनाया है ॥ ८४½ ॥

नाख्यातवानिदं युद्धं वाल्मीकिः पितृपुत्रयोः ॥ ८५ ॥
यद्याख्यास्यदमज्जिष्यल्लोकोऽयं करुणार्णवे ।

वाल्मीकि मुनिने (अपनी रामायणमें) पिता-पुत्रके इस युद्धका वर्णन नहीं किया है । यदि वे इसका वर्णन करते तो यह संसार करुणाके समुद्रमें डूब जाता ॥ ८५½ ॥

इदमाख्यानकं रम्यं ये शृण्वन्ति नरोत्तमाः ॥ ८६ ॥
ते पुत्रपौत्रसहिता भुक्त्वा भोगान् मनोरमान् ।
सर्वपापविनिर्मुक्ता लभन्ते विष्णुमव्ययम् ॥ ८७ ॥

जो नरश्रेष्ठ इस मनोहर आख्यानका श्रवण करते हैं, वे इस संसारमें पुत्र-पौत्रोंसे सम्पन्न होकर मनोरम भोगोंका भोग करते हैं और अन्तमें समस्त पापोंसे छूटकर अविनाशी विष्णु-पदको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ८६-८७ ॥

शृणोतीदं पुण्यशीलं श्रावयेच्चेदमुत्तमम् ।
नरः फलमवाप्नोति राजसूयाश्वमेधयोः ॥ ८८ ॥

जो मनुष्य इस उत्तम इतिहासको स्वयं सुनता है अथवा किसी पुण्यात्माको सुनाता है, उसे राजसूय और अश्वमेध यज्ञोंके फलकी प्राप्ति होती है ॥ ८८ ॥

काञ्चनेन विमानेन स्वर्गं याति नरोत्तमः ।
पुनर्लक्ष्मीरूपयुतो जायते विमले कुले ॥ ८९ ॥

वह नरश्रेष्ठ स्वर्णनिर्मित विमानमें बैठकर स्वर्गलोकमें जाता है और पुनः (पुण्य क्षीण होनेपर) सुन्दर रूप तथा लक्ष्मीसे संयुक्त होकर किसी निर्मल कुलमें जन्म ग्रहण करता है ॥ ८९ ॥

श्रुत्वा त्विदमुपाख्यानं श्राव्यमन्यन्न रोचते ।
पुंस्कोकिलरुतं श्रुत्वा रूक्षा ध्वाङ्क्षस्य वागिव ॥ ९० ॥

जैसे कोकिलकी मीठी बोली सुननेके बाद कौएकी रूखी (काँव-काँव) वाणी अच्छी नहीं लगती, उसी तरह इस उपाख्यानके सुन लेनेपर दूसरी कथा सुननेकी रुचि नहीं होती ॥ ९० ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि कुशलवोपाख्याने रामाश्वमेधपरिसमाप्तौ फलस्तुतिवर्णनकथनं नाम षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥३६॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें कुशलवोपाख्यानके प्रसंगमें श्रीरामके अश्वमेधकी परिसमाप्तिमें फलस्तुतिका वर्णन नामक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

बभ्रुवाहन और हंसध्वजके युद्धमें हंसध्वजका पतन, सुवेग और बभ्रुवाहनका भयंकर युद्ध और सुवेगकी मृत्यु, बभ्रुवाहन और वृषकेतुका अद्भुत युद्ध, जिसमें बभ्रुवाहनकी विजय और उसके द्वारा वृषकेतुका वध

जैमिनिरुवाच

हंसध्वजेन तुमुलं कृतं युद्धं नराधिप ।
स बाणैर्बभ्रुवाहस्य छित्त्वा रथसहस्रकम् ॥ १ ॥
सरथं पातयित्वाग्रे बिभेदास्य वपुः शरैः ।
अस्त्राणि पार्थपुत्रस्य विफलानि कृतानि वै ॥ २ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—नरेश्वर जनमेजय ! उस समय राजा हंसध्वजने बड़ा भयंकर युद्ध किया । उन्होंने बाणोंकी मारसे बभ्रुवाहनके एक सहस्र रथोंको तोड़-फोड़ डाला तथा अर्जुनकुमारके सभी आयुधोंको निष्फल करके उसे सामने ही रथसहित पृथ्वीपर गिराकर उसके शरीरको बाणोंसे विदीर्ण कर दिया ॥ १-२ ॥

अक्षौहिणीपञ्चकं तु विजितं जनमेजय ।
स्मृत्वा कृष्णस्य वचनं पुत्रयोः पतनं मृधे ॥ ३ ॥

जनमेजय ! युद्धस्थलमें अपने दोनों पुत्रों (सुधन्वा और सुरथ) के मरणका तथा श्रीकृष्णकी वातोंका स्मरण करके हंसध्वजने बभ्रुवाहनकी पाँच अक्षौहिणी सेनाको परास्त कर दिया ॥ ३ ॥

बभ्रुवाहस्तु पार्थाय बाणं च परिमुञ्चति ।
तेन वीरसहस्राणां बलं भवति पातितम् ॥ ४ ॥

बभ्रुवाहन अर्जुनके ऊपर जिस बाणको छोड़ता था, उस एक ही बाणसे सहस्रों वीरोंका दल धराशायी हो जाता था ॥

पार्थपुत्रस्य बाणौघैर्मरालध्वजवाजिनः ।
रथोऽपि परमाणुत्वं प्राप्तवान् समरे तदा ॥ ५ ॥
स भिन्नहृदयो राजा हंसकेतुः क्षितिं ययौ ।

उस समय समरभूमिमें अर्जुनकुमारके बाण-समूहोंसे हंसध्वजके घोड़े तथा रथ भी परमाणुके समान चूर-चूर हो गये और राजा हंसध्वज हृदय विदीर्ण हो जानेके कारण पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ५½ ॥

पतिते च महावीर्ये हंसकेतौ महात्मनि ॥ ६ ॥
सुवेगः संगरे योद्धुं बभ्रुवाहनमागतः ।

उन महान् आत्मबलसे सम्पन्न एवं महान् पराक्रमी हंसध्वजके धराशायी हो जानेपर सुवेग बभ्रुवाहनसे युद्ध करनेके लिये संग्रामभूमिमें आया ॥ ६½ ॥

जघान नवभिर्बाणैः पार्थसूनुं स वक्षसि ॥ ७ ॥
छत्रं ध्वजं धनुश्चास्य त्रिभिर्बाणैर्द्विधाकरोत् ।
शतेन च सहस्राणां ताडयामास वक्षसि ॥ ८ ॥
पुनर्वीरसहस्रस्य कदनं कृतवानसौ ।

उसने अर्जुनकुमारकी छातीमें नौ बाणोंसे प्रहार किया और तीन बाणोंसे उसके छत्र, ध्वज और धनुषके दो-दो टुकड़े कर दिये। फिर सैकड़ों बाणोंसे हजारों वीरोंके वक्षःस्थलमें चोट पहुँचायी। सुवेगने पुनः सहस्रों वीरोंका संहार कर डाला ॥ ७-८½ ॥

गजानां चन्द्रशुभ्राणां शतानि च महाहवे ॥ ९ ॥
निहत्य पृथिवीं चक्रे मांसपङ्कां सुदारुणाम् ।

उसने उस महासमरमें चन्द्रमाके समान उज्ज्वल वर्णवाले सैकड़ों हाथियोंका वध करके पृथ्वीको मांसकी कीचसे युक्त एवं परम भयावनी बना दिया ॥ ९½ ॥

युद्धक्षेत्रं तु तत् सर्वं कर्षित्वा गजमस्तकैः ॥ १० ॥
अधश्चोर्ध्वं करैर्वाजिगजस्कन्धनियन्त्रितैः ।
अन्त्रैस्त्रिगुणितैर्योक्त्रैर्गजमुक्ताफलानि च ॥ ११ ॥
कृत्वा बीजं वपन्तश्च तस्मिन् काले विशाम्पते ।
शिरांसि मूलफलवत् प्रवपन्ति च भैरवाः ॥१२॥

प्रजानाथ जनमेजय ! उस समय भैरवगणोंने घोड़े और हाथीके कंधोंपर ऊपर-नीचे हाथीकी सूँड रखकर उन्हें आँतसे बाँधकर जुआठा बनाया और त्रिगुणित आँतोंकी बनी रस्सीके जोतोंसे हाथियोंके मस्तकोंको हलरूपमें बाँधकर उस सम्पूर्ण रणक्षेत्रको जोत डाला और उसमें वे गजमुक्तारूपी बीज बोने लगे तथा कहीं-कहीं मूलीके फलके समान वीरोंके सिरोंको छींटने लगे ॥ १०-१२ ॥

यक्षिण्यो नागचरणैश्छिन्नैर्मुसलकण्डनम् ।
नृशीर्षाणां स्म कुर्वन्ति गायन्त्यः शतशो भृशम् ॥१३॥
यन्त्रैर्गजाननमयैश्छिन्नैः पिंषन्ति चापराः ।

कुछ यक्षिणियाँ कटे हुए हाथीके पैरोंका मूसल बनाकर उनसे मनुष्योंके सैकड़ों मस्तकोंको कूटती हुई उच्च स्वरसे गान करने लगीं तथा दूसरी कटे हुए हाथियोंके मुखोंकी चक्की बनाकर उन चक्कियोंसे उन सिरोंको पीसने लगीं ॥१३½॥

पुनः सुवेगः संधाय शरं कालानलोपमम् ॥ १४ ॥
मुमोचार्जुनपुत्राय मध्यतः स द्विधाकरोत् ।
अग्रभागं तथाप्यस्य सम्मुखं चागतं रणे ॥ १५ ॥

पुनः सुवेगने एक कालाग्निके समान भयंकर बाणका संधान करके उसे अर्जुनकुमारके ऊपर छोड़ दिया; परंतु बभ्रुवाहनने उस बाणको बीचसे काटकर उसके दो टुकड़े कर दिये, तथापि उस बाणका अगला भाग रणभूमिमें बभ्रुवाहनके सम्मुख आगेको बढ़ा ॥ १४-१५ ॥

तं चापि द्विदलीकृत्य यावत् पश्यति चार्जुनिः ।
शकले पुनरायाते ते द्विधा कारितेऽधुना ॥१६॥

तब अर्जुनकुमार उसके भी दो टुकड़े करके जबतक उसकी ओर देखता है, तबतक वे दोनों टुकड़े पुनः उसकी ओर चले। उस समय उसने पुनः उनके दो टुकड़े कर दिये ॥

शकलानां चतुष्कं यत् तद् भूमौ पतितं नृप ।
पञ्चमं बाणशकलमग्रभागगतं तु यत् ।
हृदयेऽस्य प्रविष्टं तन्मूर्च्छितोऽभूत् तदार्जुनिः॥१७॥

राजन् ! उस बाणके जो चार टुकड़े थे, वे तो पृथ्वीपर गिर पड़े; परंतु जो बाणके अग्रभागवाला पाँचवाँ खण्ड था, वह उसके हृदयमें घुस गया, जिससे बभ्रुवाहन उस समय मूर्च्छित हो गया ॥ १७ ॥

विहाय पुनरेवायं कश्मलं सहसोत्थितः ।
ततः परं प्रज्वलितः प्रलये पावको यथा ॥ १८ ॥

फिर तत्काल ही मूर्च्छाका परित्याग करके वह सहसा उठ खड़ा हुआ और प्रलयकालकी प्रज्वलित अग्निके समान प्रचण्ड तेजसे संयुक्त दिखायी देने लगा ॥ १८ ॥

जघान पाण्डवीं सेनां स्थितां पार्थरथं प्रति।
तस्मिन् दिने स्थितौ द्वौ तु पार्थकर्णसुतावुभौ ॥ १९ ॥
कायनाशे विलीयन्तौ यथा जीवौ परस्परम्।

फिर तो वह अर्जुनके रथके समीप खड़ी हुई उनकी सेनाका संहार करने लगा। उस दिन जैसे शरीरका विनाश होनेपर जीवात्मा और परमात्मा परस्पर विलीन हुए खड़े रहते हैं, उसी तरह केवल अर्जुन और वृषकेतु—ये दो ही वीर वहाँ ठहर सके ॥ १९½ ॥

अन्ये ये मूर्च्छिता नीता जीवशेषा रणात् परम् ॥२०॥
उलूपी पालयामास विशल्यैर्विविधौषधैः।
पुरा समुद्धृता यस्माद् गुरुशापात् सुमानिनी ॥२१॥

मूर्च्छित अवस्थामें पड़े हुए दूसरे जिन वीरोंके प्राणमात्र अवशेष रह गये थे, उन्हें रणभूमिसे दूर हटा दिया गया। वहाँ उलूपी नाना प्रकारकी विशल्यकरणी ओषधियोंसे उनकी रक्षा करती रही; क्योंकि अर्जुनने पहले परम मानिनी उलूपीका गुरुजनके शापसे उद्धार किया था ॥ २०-२१ ॥

नागराजसुता देवी दिष्ट्या पार्थेन संगता।
तीर्थयात्राप्रसङ्गेन तथा चित्राङ्गदा च सा ॥ २२ ॥
उवाच पाण्डवस्तत्र वृषकेतुं महाबलम्।

यह देवी उलूपी नागराजकी कन्या थी। इसका तथा (बभ्रुवाहनकी माता) चित्राङ्गदाका तीर्थयात्राके प्रसंगसे भ्रमण करते हुए अर्जुनसे भाग्यवश समागम हो गया था। तत्पश्चात् वहाँ खड़े हुए अर्जुन महाबली वृषकेतुसे बोले ॥ २२½ ॥

अर्जुन उवाच

सैन्यं नष्टं कर्णपुत्र वस्तुजातं च मे हृतम् ॥ २३ ॥
हंसध्वजमुखा वीराः पतिता मम संनिधौ।
प्रद्युम्नः सह पुत्रेण नीतो मणिपुरं प्रति ॥ २४ ॥
मदर्थे योधितौ वीरौ निर्भिन्नौ सायकैश्च तौ।
अनुशाल्वोऽपि समरे पतितो नैव दृश्यते ॥ २५ ॥
सुवेगो निहतश्चाद्य नीताश्च मम वीरकाः।
छत्रैर्ध्वजैः कार्मुकैश्च चामरैश्च वरांशुकैः ॥ २६ ॥

अर्जुनने कहा—कर्णनन्दन! मेरी सेना नष्ट हो गयी और सारी वस्तुओंका अपहरण कर लिया गया। हंसध्वज आदि प्रधान-प्रधान वीर मेरे सामने ही धराशायी हो गये। अपने पुत्र अनिरुद्धसहित प्रद्युम्न मणिपुर नगरमें भेज दिये गये, उस समय मेरे लिये युद्ध करनेवाले वे दोनों वीर बाणोंसे क्षत-विक्षत हो गये थे। समरभूमिमें पड़े हुए अनुशाल्व भी नहीं दीख रहे हैं। आज सुवेग भी मार डाला गया तथा मेरे अन्य वीरोंको छत्र, ध्वज, धनुष, चँवर तथा उत्तम वस्त्रोंसहित अन्यत्र भेज दिया गया ॥ २३—२६ ॥

एकस्त्वमसि पुत्रात्र नापरः कोऽपि दृश्यते।
निर्गच्छ त्वं तु नगरे यत्र तौ धर्ममाधवौ ॥ २७ ॥
कुलपुत्रोऽसि भद्रं ते दातॄणां बीजमेव च।

बेटा! अब तो यहाँ अकेले तू ही बचा है, दूसरा कोई भी वीर नहीं दीख रहा है; अब तू जहाँ धर्मराज युधिष्ठिर और श्रीकृष्ण विराजमान हैं, उस हस्तिनापुर नगरको लौट जा; क्योंकि तू मेरे कुलका सुपूत तथा दानियोंका एकमात्र बीजरूप है। तेरा कल्याण हो ॥ २७½ ॥

एवं ब्रुवति पार्थे च यावत् तस्याग्रतो नृप ॥ २८ ॥
तावत् पार्थकिरीटस्थो गृध्रस्तीव्रं ववाश ह।

नरेश्वर! जिस समय अर्जुन वृषकेतुके सामने ऐसी बातें कह रहे थे, उसी समय एक गीध उनके मुकुटपर बैठकर जोर-जोरसे चींखने लगा ॥ २८½ ॥

ज्ञात्वा गृध्रं मस्तके खे शंसन्तं वैशसं स्वकम् ॥ २९ ॥
तथा कपोतं नीडे च रथस्य किल शायिनम्।
शिरोहीनां निजां छायां नासाविरहितं मुखम्।
स्फुलिङ्गवर्जिते नेत्रे प्रत्युवाच पुनर्वचः ॥ ३० ॥

तब आकाशमण्डलमें अपनी मृत्युकी सूचना देनेवाले मस्तकपर बैठे हुए गीध, रथकी बैठकमें सोये हुए कबूतर, मस्तकहीन अपनी छाया, नासिकारहित अपना मुख तथा मींचनेपर स्फुलिंग न प्रकट करनेवाले अपने नेत्रोंको देखकर अर्जुन पुनः वृषकेतुसे कहने लगे—॥ २९-३० ॥

पुत्र प्रयाहि नगरं धर्मभीमजनार्दनात्।
शंस त्वं वैशसं घोरं दुर्निमित्तानि मे रणे ॥ ३१ ॥

'वत्स! तू शीघ्र ही हस्तिनापुरको चला जा और वहाँ धर्मराज युधिष्ठिर, भीमसेन और श्रीकृष्णसे रणभूमिमें मेरी भयंकर मृत्युकी सूचना देनेवाले इन अपशकुनोंका वर्णन कर दे ॥ ३१ ॥

भवान् यदि मया सार्धं प्राप्नोषि मरणं रणे।
तवाद्य नाशे नष्टास्ते भविष्यन्ति परं क्षितौ ॥ ३२ ॥

'यदि तू मेरे साथ संग्रामभूमिमें मृत्युको प्राप्त हो जायगा

तो इस समय तेरे जीवित न रहनेपर वे सभी (युधिष्ठिरादि) पृथ्वीपर नष्ट हो जायँगे ॥ ३२ ॥

बहुधा योधितश्चासि भिन्नं बाणैर्वपुस्तव ।
विना त्वां न पृथा जीवेत् तस्मान्मां मुच्य गम्यताम् ३३

'बेटा ! तू बहुत बार लड़ चुका है । तेरा शरीर भी बाणोंसे घायल हो गया है । साथ ही तेरे बिना माता कुन्ती जीवित नहीं रह सकेंगी; इसलिये तू मुझे छोड़कर चला जा ॥

अकार्यं च महज्जातं मत्तो राजा च दीक्षितः ।
असिपत्रव्रतचरः कथं यज्ञक्रिया भवेत् ॥ ३४ ॥

'हाय ! मुझसे यह बहुत बड़ा न करनेयोग्य कार्य घटित हो गया; क्योंकि राजा युधिष्ठिर असिपत्र-व्रतका पालन करते हुए यज्ञकी दीक्षा ले चुके हैं, अब उनका यज्ञकार्य कैसे सम्पन्न होगा ? ॥ ३४ ॥

युधिष्ठिरस्य न स्नानं यज्ञान्तेऽवभृथादिकम् ।
जलयात्रा चतुःषष्टिदम्पतीभिः कृता न च ॥ ३५ ॥
युधिष्ठिरमुखा वीरा भीमाद्या मम बान्धवाः ।
छत्रं शतशलाकं तद् व्याघ्रचर्मसमन्वितम् ॥ ३६ ॥
युधिष्ठिरस्य पुरतो यज्ञारम्भे न धारितम् ।
गौरीणां नैव नारीणां सहस्रं चामरान्वितम् ॥ ३७ ॥
अग्रतो धर्मराजस्य गतं लाजप्रवर्षणम् ।
विप्राणां वेदनिर्घोषो नैव स्वर्मण्डपं गतः ॥ ३८ ॥

'यज्ञान्तमें महाराज युधिष्ठिरका अवभृथ स्नान भी न हो पाया । चौंसठ दम्पतियोंद्वारा जलयात्रा भी सम्पन्न न हो सकी और न उनके द्वारा युधिष्ठिर और भीमसेन आदि मेरे वीर भाइयोंका जलसे अभिषेक ही हो सका । यज्ञारम्भके अवसरपर व्याघ्रचर्मसे आच्छादित सौ तीलियोंवाला छत्र भी महाराज युधिष्ठिरके ऊपर न लगाया जा सका । न तो सहस्रों सौभाग्यवती स्त्रियाँ हाथोंमें चँवर लिये धर्मराजके आगे खीलें ही बरसा सकीं । वेदपाठी ब्राह्मणोंकी वेदध्वनि आकाश-मण्डलतक गूँजने भी नहीं पायी ॥ ३५–३८ ॥

न स्रुवाः कनकाबद्धा न स्रुचो बहुसंस्कृताः ।
वैकङ्कताश्च यज्ञे च चषालैर्मण्डिता न ते ॥ ३९ ॥
यूपा बैल्वा बादराश्च पालाशाः खादिराः शुभाः ।
न तत् पताकावेदीनां पूजनं मामकैः कृतम् ॥ ४० ॥

'ओह ! स्रुवोंपर सोने भी न मढ़े जा सके, स्रुचोंका अनेक प्रकारसे संस्कार भी न हो पाया तथा वैकंकत, बेल, बेर, पलाश और खैरके माङ्गलिक यज्ञस्तम्भ यज्ञमण्डपमें चषालों (काठके छल्लों) से विभूषित न हो सके और न मेरे बन्धु वेदियोंपर लगी हुई पताकाओंका ही पूजन कर सके ॥ ३९-४० ॥

वासुदेवं पुरस्कृत्य रुक्मिणी नैव तोषिता ।
अनसूयारुन्धतीनां वृद्धानामृषियोषिताम् ॥ ४१ ॥
सभर्तृकाणां यज्ञान्ते नमस्कृत्य युधिष्ठिरः ।
आशीर्भिरभियुक्तो न मया पार्थेन कारितः ॥ ४२ ॥
धिग् जीवितं मम वृथा मन्ये युद्धं करोम्यतः ।

'हा ! श्रीकृष्णको आगे करके रुक्मिणी भी संतुष्ट न की जा सकीं । हाय ! मैं अर्जुन यज्ञान्तमें युधिष्ठिरद्वारा नमस्कार किये जानेपर अनसूया, अरुन्धती आदि सौभाग्यवती बड़ी-बूढ़ी ऋषिपत्नियोंके शुभाशीर्वादोंसे उन्हें संयुक्त न करा सका; इसलिये मेरे जीवनको धिक्कार है ! अब मैं अपना जीवित रहना व्यर्थ समझता हूँ, अतः अब युद्ध करूँगा' ॥ ४१-४२½ ॥

वृषकेतुरुवाच

न व्रजामि भयान्मृत्यो रणे त्यक्त्वा धनंजयम् ॥ ४३ ॥
सूर्यः पितामहो भाति मद्भङ्गात् पतितो भवेत् ।
अभग्नो भङ्गमायाति तस्मान्मृत्युस्तु कीदृशः ॥ ४४ ॥

तब वृषकेतु बोला—चाचाजी ! मैं मृत्युके भयसे रणक्षेत्रमें आपको छोड़कर नहीं जा सकता; क्योंकि ये जो मेरे पितामह सूर्यदेव आकाशमें प्रकाशित हो रहे हैं, मेरे युद्धसे विमुख होनेपर इनका पतन हो जायगा । साथ ही जो वीर घायल हुए बिना ही युद्धसे विमुख हो जाता है, वह विमुखता ही उसके लिये मरण है, उससे बढ़कर उसकी और कौन-सी मृत्यु होगी ? ॥ ४३-४४ ॥

त्वं प्रयाहि महाबाहो गमनं कीदृशं मम ।
एकपत्नी च सा रम्या न मां प्राप्तं निरीक्षते ॥ ४५ ॥
विमुखं त्वां परित्यज्य सत्यमेतद् वदामि ते ।

महाबाहो ! आप भले ही लौट चलिये, परंतु आपको छोड़कर मेरा लौट जाना कैसे सम्भव हो सकता है । यदि कहीं मैं आपको छोड़कर युद्धसे विमुख हो चला जाऊँ तो मुझे भागकर आया हुआ जान एकमात्र मुझमें ही अनुराग करनेवाली मेरी सुन्दरी पत्नी मेरी ओर आँख उठाकर देखेगी भी नहीं । यह मैं आपसे सच्ची बात कह रहा हूँ ॥ ४५½ ॥

पश्याद्य पौरुषं पार्थ बभ्रुवाहनमागतम् ॥ ४६ ॥
योधयामि समक्षं ते ससैन्यमपि संगरे ।

पृथानन्दन ! आज आप मेरे पुरुषार्थको देखिये । मैं संग्राममभूमिमें आपके सामने ही सेनासहित आये हुए बभ्रुवाहन-से युद्ध करूँगा ॥ ४६½ ॥

मित्रार्थे यस्त्यजेत् प्राणान् गवार्थे च द्विजन्मनाम् ४७
स्वामिकार्ये च समरे तस्य लोकाः सनातनाः ।
जायन्ते नात्र संदेहः कैवल्यमपि चिन्तितम् ॥ ४८ ॥

जो मित्र, गौ, ब्राह्मण तथा स्वामीके कार्यकी सिद्धिके लिये समरभूमिमें युद्ध करता हुआ प्राणोंका परित्याग करता है, उसे सनातन लोकोंकी प्राप्ति होती है । यहाँतक कि यदि उसे मोक्ष अभीष्ट हो तो उसके लिये वह भी सुलभ हो जाता है । इसमें संदेह नहीं है ॥ ४७-४८ ॥

यावत् पार्थो महाबाहुः संग्रामे परितिष्ठति ।
तावत् क्रतुरयं जातः किं वृथा मां प्रभाषसे ॥ ४९ ॥

जबतक महाबाहु अर्जुन संग्रामभूमिमें वर्तमान हैं, तबतक तो यह अश्वमेध-यज्ञ सम्पन्न होगा ही, फिर आप व्यर्थमें ऐसी निराशाजनक बातें क्यों कर रहे हैं ॥ ४९ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं नमस्कृत्य ययौ मुदा ।
रथेनापि पताकेन बभ्रुवाहनमाह्वयत् ॥ ५० ॥

इतनी बात कहकर वृषकेतु अर्जुनको प्रणाम करके प्रसन्नतापूर्वक पताकासे सुशोभित एक रथपर सवार हो युद्ध-स्थलमें गया और बभ्रुवाहनको ललकारकर कहने लगा—॥

तिष्ठन्तो ये रणे धीराः पाण्डवस्य त्वया हताः ।
तेषामेवाद्य सर्वेषां करिष्ये शान्तिकं महत् ॥ ५१ ॥

'वीर ! रणभूमिमें खड़े हुए अर्जुनके जिन धैर्यशाली वीरोंको तुमने मार डाला है, उन सभीको शान्ति प्रदान करने-के लिये आज मैं महान् कर्म करूँगा' ॥ ५१ ॥

एवं ब्रुवन्तं बलिनं कर्णसूनुं शरैस्त्रिभिः ।
विव्याध हृदये शीघ्रं ते भित्त्वा धरणीं गताः ॥ ५२ ॥
तृषिता इव राजेन्द्र पातुं भोगवतीजलम् ।

राजेन्द्र ! बलवान् वृषकेतु यों कह ही रहा था कि बभ्रुवाहनने शीघ्रतापूर्वक तीन बाणोंसे उसके हृदयपर प्रहार किया । वे बाण वृषकेतुके हृदयको विदीर्ण करके इस प्रकार पृथ्वीमें समा गये मानो वे प्याससे व्याकुल होकर भोगवतीका जल पान करनेके लिये नागलोकमें जा रहे हों ॥

वृषकेतुः शरैः षड्भिस्तं जघान स्तनान्तरे ॥ ५३ ॥
स शरैरर्दितः कार्ष्णिर्भ्राम्यमाणः कथंचन ।
संस्थाप्यात्मानमव्यग्रो योधयामास कर्णजम् ॥ ५४ ॥

तब वृषकेतुने उसकी छातीमें छः बाण मारे । उन बाणों-से व्यथित होनेपर अर्जुनकुमार बभ्रुवाहनको चक्कर आ गया । वह किसी प्रकार अपनेको सँभालकर पुनः सावधान हो वृषकेतु-से युद्ध करने लगा ॥ ५३-५४ ॥

तिलशस्तद् रथं कृत्वा निपात्य रथसारथिम् ।
हयान् हत्वा च समरे शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥ ५५ ॥

उस प्रतापी वीरने वृषकेतुके रथके तिलके बराबर टुकड़े करके उस रथके सारथिको भी मार गिराया, फिर उसके घोड़ोंको मारकर समरभूमिमें अपना शङ्ख बजाया ॥ ५५ ॥

तस्याङ्गं पूरयित्वाथ शरैः कनकचित्रितैः ।
ततो जघान नाराचैः कर्णसूनुं महाबलम् ॥ ५६ ॥

तदनन्तर वह स्वर्णभूषित बाणोंसे वृषकेतुके शरीरको पूर्ण करके पुनः महाबली कर्णकुमारपर नाराचोंसे प्रहार करने लगा ॥ ५६ ॥

रथं तस्य सुचित्रं तं ससूतं च युगैर्युतम् ।
छित्त्वा शतसहस्रेण ताडयामास पाण्डविः ॥ ५७ ॥

अर्जुननन्दन बभ्रुवाहनने लाखों बाण चलाकर सारथि तथा जुएसहित वृषकेतुके दूसरे सुन्दर रथको काटकर उसे भी गहरी चोट पहुँचायी ॥ ५७ ॥

आग्नेयमस्त्रं तरसा प्रयुयोज नृपात्मजः ।
वारुणं कर्णजेनापि बभ्रुवाहे प्रयोजितम् ॥ ५८ ॥

फिर उस राजकुमारने तत्काल ही आग्नेयास्त्रका प्रयोग किया । तब वृषकेतुने भी बभ्रुवाहनपर वारुणास्त्र चलाया ॥

स्वयमेवाथ तेनापि वायव्यास्त्रं सुरोपितम् ।
पार्वतास्त्रं च शाक्रं च कौबेरमतिदारुणम् ॥ ५९ ॥
त्वाष्ट्रं चातिबलः श्रीमान् प्रेरयामास वैरिणम् ।
सौरं च शाम्भवं चास्त्रं सर्वशस्त्रविदारणम् ॥ ६० ॥
कार्तिकेयकृतं चास्त्रं याम्यं शस्त्रं स्वमाहवे ।
एवं शस्त्रास्त्रसम्पातैः कदनं चाभवद् भृशम् ॥ ६१ ॥

फिर बभ्रुवाहनने भी वायव्यास्त्रका संधान किया । तब अत्यन्त बलवान् एवं शोभाशाली वृषकेतुने युद्धस्थलमें अपने शत्रु बभ्रुवाहनपर पार्वतास्त्र, ऐन्द्रास्त्र, अत्यन्त भयंकर कौबे-रास्त्र, विश्वकर्मासम्बन्धी अस्त्र, सौरास्त्र, शाम्भवास्त्र, सम्पूर्ण

शस्त्रोंको विदीर्ण कर देनेवाला कार्तिकेयनिर्मित अस्त्र तथा याम्यास्त्र आदि अपने शस्त्रोंको चलाया। इस प्रकार शस्त्रास्त्रोंके प्रहारसे वहाँ महान् संहार मच गया ॥ ५९–६१ ॥

बहवो निहता वीरास्तस्मिन् युद्धे महात्मनोः।
संवर्तकाले राजेन्द्र यमेनेव निपातिताः ॥ ६२ ॥

राजेन्द्र ! उन महामनस्वी वीरोंके उस युद्धमें बहुत-से वीर मारे गये, मानो प्रलयकालके अवसरपर स्वयं यमराजने ही उन्हें मार गिराया हो ॥ ६२ ॥

रुद्राक्रीडनकं जातं भूततुष्टिकरं महत्।
निधनं रथनागानां पदातीनां च कर्णजात् ॥ ६३ ॥

उस समय वह रणक्षेत्र भूतोंको महान् संतोष प्रदान करनेवाला रुद्रका क्रीडास्थल बन गया। इस प्रकार वृषकेतुद्वारा रथी वीरों, हाथियों और पैदल सैनिकोंका महान् संहार हुआ ॥ ६३ ॥

तस्यास्त्रैर्वेष्टितः कार्ष्णिश्चिन्तयित्वाथ वैष्णवम्।
सर्वाण्यस्त्राणि तेनायं बभ्रुवाहो महाबलः ॥ ६४ ॥
शमयित्वा शरैर्घोरैर्वाडवास्त्रं समाददे।
उवाच कर्णपुत्रं तं बहवो निहता मया ॥ ६५ ॥
नाहं वै तादृशो व्याप्तो यथा कर्णात्मजेन च।
एनमत्र हनिष्यामि वृत्रं नमुचिहा यथा ॥ ६६ ॥

तब वृषकेतुके अस्त्रोंसे घिर जानेपर महाबली अर्जुनकुमार बभ्रुवाहनने वैष्णवास्त्रका स्मरण किया। तत्पश्चात् उस वैष्णवास्त्रसे निकले हुए भयंकर बाणोंसे उसने वृषकेतुके सभी अस्त्रोंका शमन करके पुनः वाडवास्त्र हाथमें लिया और वृषकेतुसे कहा—'मैंने बहुत-से वीरोंका वध किया है, परंतु जिस प्रकार वृषकेतुने मुझे बाणोंसे व्याप्त कर दिया था, वैसा कोई वीर न कर सका। इसलिये जैसे नमुचिका संहार करनेवाले इन्द्रने वृत्रासुरका वध किया था, उसी तरह आज मैं इसे मार डालूँगा' ॥ ६४–६६ ॥

एवं तमुद्दिश्य रणे चिक्षेपाशुगमाहवे।
हृदयेऽस्य शरो लग्नो वृषकेतोर्महात्मनः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार रणक्षेत्रमें वृषकेतुको लक्ष्य बनाकर उसने उस शीघ्रगामी बाणको छोड़ दिया। वह बाण महामनस्वी वृषकेतुके हृदयमें जा लगा ॥ ६७ ॥

बाणो गृहीत्वा गगने भ्रामयामास कर्णजम्।
दिशश्च प्रदिशः सर्वाः सरितः सागरानपि ॥ ६८ ॥
न पपात धरादेशे तदद्भुतमिवाभवत्।
अनेनैव स्वगात्रेण भिनत्त्येष पितामहम् ॥ ६९ ॥

उस बाणने वृषकेतुको लेकर आकाशमें, सारी दिशाओं और विदिशाओंमें तथा नदियों और सागरोंपर भी घुमाना आरम्भ किया, किंतु वह भूतलपर नहीं गिरा। यह एक अद्भुत-सी घटना हुई। उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानो यह वृषकेतु अपने इसी शरीरसे पितामह सूर्यदेवका भेदन करना चाहता है ॥ ६८-६९ ॥

त्रिमुहूर्त्तं परं संख्ये यत्र यत्र शरो गतः।
तत्र तत्र रणे प्राप्तौ पितापुत्रावुभावपि ॥ ७० ॥
निरीक्षन्तौ कर्णपुत्रं नीयमानं शरेण च।

इस प्रकार छः घड़ीतक वह बाण जिस-जिस ओर जाता था उसी ओर उस बाणद्वारा ले जाये जाते हुए वृषकेतुको युद्धस्थलमें खड़े हुए अर्जुन और बभ्रुवाहन टकटकी लगाये देखते रहे ॥ ७०½ ॥

मुहूर्तत्रितयादूर्ध्वं निपपात धरातले ॥ ७१ ॥
तस्मिन् मणिपुरे राजन् पार्थस्य पुरतस्तदा।

राजन् ! तब तीन मुहूर्तके बाद वृषकेतु उस मणिपुरमें ही अर्जुनके आगे पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ७१½ ॥

ततः कर्णात्मजः क्रुद्धः पुनरेवोत्थितोऽक्षिपत् ॥ ७२ ॥
शरान् पञ्च रथे तस्य युक्तस्य सहसा हसन्।

तत्पश्चात् वह पुनः तुरंत ही उठ खड़ा हुआ और क्रोधमें भरकर हँसते हुए उसने रथारूढ़ बभ्रुवाहनके रथपर सहसा पाँच बाण चलाये ॥ ७२½ ॥

ते शरास्तं रथं साश्वं ससूतं सपताकिनम् ॥ ७३ ॥
आनयन् सहितास्तेन नाकलोकं मनोरमम्।

वे बाण एक साथ मिलकर घोड़े, सारथि और ध्वजसहित उस रथको, साथ ही बभ्रुवाहनको भी उड़ाकर रमणीय स्वर्गलोककी ओर ले चले ॥ ७३½ ॥

रविमण्डलमत्युग्रं प्रविशन्तं रथं स्वकम् ॥ ७४ ॥
बाणनिर्भिन्नकायोऽपि वीक्ष्यात्मानं मुमोच सः।
स रथो भानुना दग्धो यथा सम्पातिरण्डजः ॥ ७५ ॥

तब बभ्रुवाहनने अपने रथको अत्यन्त भयंकर सूर्यमण्डलमें प्रविष्ट होते देखकर बाणोंसे घायल होनेपर भी अपनेको उस रथसे अलग कर लिया अर्थात् वह उस रथसे कूद पड़ा। तत्पश्चात् सूर्यदेवने जैसे सम्पाती पक्षीको झुलस दिया था, उसी तरह उस रथको जलाकर भस्म कर दिया ॥ ७४-७५ ॥

पतन्तं बभ्रुवाहं च वृषकेतुः शरैः पुनः।
प्रेषयामास गगने स्वपितामहमण्डले ॥ ७६ ॥
हंसध्वजो मदीयोऽत्र जितो वीरस्त्वया पुरा।
तदर्थं बभ्रुवाह त्वां प्रेरयामि सुरालये ॥ ७७ ॥
ईदृशं कुपितो वाक्यं प्रत्युवाच विशाम्पते।

प्रजानाथ जनमेजय ! तदनन्तर आकाशसे गिरते हुए बभ्रुवाहनको वृषकेतुने पुनः बाणोंद्वारा अपने पितामह सूर्यदेवके मण्डलकी ओर भेज दिया और फिर क्रुद्ध होकर वह निम्नाङ्कित वचन कहने लगा—'बभ्रुवाहन ! तुमने पहले इस संग्राममें मेरे पक्षके वीर हंसध्वजको जीत लिया है, उसीके परिणामस्वरूप अब मैं तुम्हें देवलोकमें भेज रहा हूँ' ॥

तावच्छरांस्त्रिधा कृत्वा स्वगात्राद् बभ्रुवाहनः ॥ ७८ ॥
पपात कुपितोऽतीव तस्योपरि यथाचलः।

तब बभ्रुवाहनने अपने शरीरसे बाणोंको निकालकर उनके तीन-तीन टुकड़े कर दिये और फिर वह अत्यन्त क्रुद्ध होकर पर्वतकी भाँति वृषकेतुके ऊपर ढह पड़ा ॥ ७८½ ॥

घर्षयामास च करौ चकम्पे कन्धरां च ह ॥ ७९ ॥
पञ्चभिः सायकैस्तत्र विव्याध रविपौत्रकः।

उस समय सूर्यदेवका पौत्र वृषकेतु अपने हाथोंको मलने लगा और फिर गर्दन कँपाते हुए उसने पाँच बाणोंसे बभ्रुवाहनको घायल कर दिया ॥ ७९½ ॥

एवं कर्णात्मजो वीरो बभ्रुवाहश्च भूतले ॥ ८० ॥
युध्यमानौ शरैर्घोरैः पार्थः पश्यति कौतुकम्।

इस प्रकार पृथ्वीपर आकर बभ्रुवाहन और वीर वृषकेतु—ये दोनों भयंकर बाणोंके प्रहारसे परस्पर युद्ध करने लगे और अर्जुन खड़े-खड़े यह दृश्य देख रहे थे ॥ ८०½ ॥

ऊचे पार्थं कर्णसुतो युद्धे तस्मिंस्तथाविधे ॥ ८१ ॥
रथचक्रं हि कर्णस्य निमग्नं पुरुषर्षभ।
कथं तेन तदा प्रोक्तं तिष्ठेति वचनं प्रभो ॥ ८२ ॥
कर्णेन च महायुद्धे नायं तद्वत् प्रभाषते।
मया भिन्नशरीरोऽपि परं युद्धं न मुञ्चति ॥ ८३ ॥

वैसे भयंकर युद्धके होते समय वृषकेतुने अर्जुनसे कहा—'पुरुषश्रेष्ठ ! उस महायुद्धके अवसरपर जब मेरे पिता कर्णके रथका पहिया पृथ्वीमें धँस गया था, उस समय उन्होंने 'थोड़ी देर ठहर जाइये' ऐसी बात न जाने कैसे कह दी थी; परंतु प्रभो ! मेरेद्वारा शरीरके क्षत-विक्षत हो जानेपर भी न तो यह वैसा कहता ही है और न युद्धसे ही विमुख हो रहा है' ॥ ८१–८३ ॥

एवं ब्रुवाणे वीरे तु पार्थस्य पुरतः पुनः।
पपात कार्ष्णिः कुपितो मूर्ध्नि कर्णसुतस्य हि ॥ ८४ ॥
भिद्यमानो रणे बाणैः शस्त्रैर्नानाविधैरपि।

अर्जुनके सामने वीर वृषकेतुके यों कहनेपर बभ्रुवाहन जिसका शरीर युद्ध करते-करते नाना प्रकारके बाणों तथा शस्त्रोंसे घायल हो चुका था, क्रुद्ध होकर पुनः वृषकेतुके मस्तकपर कूद पड़ा ॥ ८४½ ॥

उभौ तौ स्यन्दनारूढौ क्षणेन विरथौ दिवि ॥ ८५ ॥
उत्पतन्तौ पातयन्तौ रथस्थौ ददृशुर्जनाः।
अन्योन्यं स्वशरैर्घोरैर्नीयमानौ सुरालये ॥ ८६ ॥

उस समय लोगोंने देखा कि वे दोनों अभी-अभी रथपर बैठे हुए युद्ध कर रहे थे, पुनः क्षणमात्रमें ही वे रथको छोड़ उछलकर आकाशमें जा पहुँचे और वहाँसे एक-दूसरेको गिराते हुए पुनः अपने रथपर आ गये। इस प्रकार वे अपने भयंकर बाणोंकी मारसे एक-दूसरेको देवलोकमें भेज देना चाहते थे ॥ ८५-८६ ॥

उभयोर्गात्रजं मांसं छिन्नं बाणैः सहस्रधा।
नीयते गगने गृध्रैस्तथान्यैः श्येनपत्रिभिः ॥ ८७ ॥

सहस्रों प्रकारके बाणोंके प्रहारसे उन दोनोंके शरीरसे कटकर गिरे हुए मांसको लेकर गीध तथा बाज आदि अन्य पक्षी आकाशकी ओर भागने लगे ॥ ८७ ॥

एकः क्षितौ द्वितीयः खे पुनरेव क्षितौ च खे।
तावेतौ तादृशौ राजन् दिनानां पञ्चकं रणे ॥ ८८ ॥

राजन् ! उन दोनोंमें कभी एक तो पृथ्वीपर रहता तो दूसरा आकाशमें उछल जाता, कभी दोनों पृथ्वीपर ही आ जाते और कभी दोनों ही आकाशमें पहुँच जाते। इस प्रकार रणभूमिमें पाँच दिनतक उन दोनोंका युद्ध चलता रहा ॥ ८८ ॥

पञ्चमे दिवसे कार्ष्णिः कर्णपुत्रं तथाविधम्।
बहुभिः सायकैस्तीक्ष्णैः समन्ताद् व्यकिरत् पुनः ॥ ८९ ॥
उवाच क्रोधनयनो धन्यस्त्वमसि नापरः।
वृषकेतो न मे युद्धं कृतं केनापि मानिना ॥ ९० ॥

पाँचवाँ दिन आनेपर बभ्रुवाहनने वैसा भयंकर युद्ध करनेवाले वृषकेतुको पुनः चारों ओरसे बहुसंख्यक तीखे

बाणोंकी वर्षा करके आच्छादित कर दिया और क्रोधसे आँखें तरेरकर कहने लगा––'वृषकेतु ! तुम धन्य हो। तुम्हारे समान दूसरा कोई वीर नहीं है; क्योंकि वीरताका अभिमान रखनेवाले किसी भी शूरवीरने मेरे साथ ऐसा युद्ध नहीं किया है (जैसा कि तुमने किया है) ॥ ८९-९० ॥

इदानीं स्मर वीर त्वं तथा देवं जनार्दनम्।
अथ बाणैर्जीवितं ते पातयिष्यामि संगरे ॥ ९१ ॥

'परंतु वीर ! अब तुम भगवान् जनार्दनका स्मरण कर लो; क्योंकि अब मैं समरभूमिमें बाणोंकी मारसे तुम्हारी जीवनलीला समाप्त कर दूँगा' ॥ ९१ ॥

जैमिनिरुवाच

अर्धचन्द्रं मुमोचास्मै कर्णपुत्राय मारिष।
तमायान्तं त्रिधा कृत्वा यावन्नदति कर्णजः ॥ ९२ ॥
तावत् तेनापरो बाणो मुक्तः कनकचित्रितः।
स कण्ठनालात् तच्छीर्षं जहार गगने गतः ॥ ९३ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—आर्य जनमेजय ! यों कहकर बभ्रुवाहनने वृषकेतुके ऊपर एक अर्धचन्द्राकार बाण चलाया। अपने ऊपर आते हुए उस बाणके तीन टुकड़े करके वृषकेतु जब सिंहनाद करने लगा, तब बभ्रुवाहनने एक दूसरा सुवर्णभूषित बाण छोड़ दिया। वह बाण कण्ठनालसे वृषकेतुके सिरका अपहरण करके आकाशमें चला गया ॥ ९२-९३ ॥

छिन्नं शिरः खात् प्रपतत् प्रलग्नं हृदये तदा।
बभ्रुवाहस्य राजेन्द्र पातयित्वा कलेवरम्।
पश्चात् कन्दुकवत् प्राप्तं पार्थस्य पदयोः शुभम् ॥९४॥

राजेन्द्र ! तब वह कटा हुआ सिर आकाशसे गिरते समय बभ्रुवाहनके हृदयपर बड़े वेगसे टकराया, जिसके आघातसे उसका शरीर पृथ्वीपर गिर पड़ा। तत्पश्चात् वह सुन्दर मस्तक गेंदकी तरह उछलकर अर्जुनके चरणोंमें जा गिरा ॥ ९४ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि बभ्रुवाहनविजये वृषकेतुवधो नाम सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें बभ्रुवाहनके विजयमें वृषकेतुका वधनामक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टत्रिंशोऽध्यायः

वृषकेतुके मरनेपर अर्जुनका विलाप, अर्जुन और बभ्रुवाहनका युद्ध, बभ्रुवाहनद्वारा अर्जुनका वध, बभ्रुवाहनका मणिपुरमें स्वागत, चित्राङ्गदाका विलाप, बभ्रुवाहनका अग्निप्रवेश करनेका विचार, उलूपीका मणिके लिये पुण्डरीकनागको शेषनागके पास पातालमें भेजना, शेषनाग और पुण्डरीककी बातचीत, शेषनागके मणि देनेके लिये उद्यत होनेपर धृतराष्ट्र नागद्वारा उसका विरोध

जैमिनिरुवाच

वृषकेतोस्तदा राजन् संग्रामे तु महच्छिरः।
जपत् केशवरामेति नृसिंहेति मुदा युतम् ॥ १ ॥
अग्रहीत् तरसा पार्थः कराभ्यां कुण्डलान्वितम्।
कबन्धो धावमानः सन् निपपात रणे रिपून् ॥ २ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—राजा जनमेजय ! उस समय वृषकेतुका वह विशाल मस्तक संग्रामभूमिमें प्रसन्नतापूर्वक 'केशव, राम, नृसिंह' आदि भगवन्नामोंका जप कर रहा था। उस कुण्डलमण्डित सिरको अर्जुनने तुरंत ही अपने दोनों हाथोंसे उठा लिया और उसके कबन्ध (धड़) ने रणभूमिमें चक्कर काटते हुए बहुत-से शत्रुओंको धराशायी कर दिया ॥ १-२ ॥

पातयित्वापि सुमुखं रिपुं नृत्यति संगरे।
तत्सुरूपं समालोक्य विललापार्जुनस्तदा ॥ ३ ॥

वह धड़ सावधान होकर सामने आये हुए शत्रुको भी पृथ्वीपर गिराकर समरभूमिमें नृत्य-सा कर रहा था। तब उसके सुन्दर रूपको देखकर अर्जुन विलाप करने लगे—॥

हा कष्टं सुमहत् प्राप्तं विना त्वां पुत्र संगरे।
कथयिष्यामि किं गत्वा धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ॥ ४ ॥
त्वां विना पुरुषव्याघ्र कुन्तीं देवीं च पार्षतीम्।
मात्राहं शिक्षितश्चास्मि रक्षणीयस्त्वया शिशुः ॥ ५ ॥
किमुत्तरं नु तां वक्ष्ये भीमसेनं च साम्प्रतम्।
नकुलं सहदेवं च कृष्णदेवं च मे प्रियम् ॥ ६ ॥

'बेटा ! तेरे न रहनेसे अब समरभूमिमें मेरे ऊपर बहुत बड़ा कष्ट आ पड़ा । हाय ! पुरुषश्रेष्ठ ! मैं तुझे खोकर हस्तिनापुर जानेपर धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर, कुन्तीदेवी और द्रौपदीसे क्या कहूँगा ? चलते समय माता कुन्तीने मुझे यह सीख दी थी कि तुम इस बच्चे वृषकेतुकी सर्वथा रक्षा करना; अब मैं उनसे क्या उत्तर दूँगा ? तथा भीमसेन, नकुल, सहदेव और अपने प्रेमी भगवान् श्रीकृष्णसे कौन-सा मुँह लेकर बात करूँगा ?॥ ४–६ ॥

यौवनाश्वस्य तुरगः समानीतः स्वपौरुषात् ।
कथं त्वया सुत प्राणास्त्यक्ताः कृष्णं विनाग्रतः॥ ७ ॥

'पुत्र ! तू अपने पुरुषार्थके बलपर राजा यौवनाश्वको जीतकर उनसे यह घोड़ा लाया था, सो आज श्रीकृष्णकी अनुपस्थितिमें ही तूने अपने प्राणोंका परित्याग कैसे कर दिया ? ॥ ७ ॥

तव प्राणाश्च किं कृष्णो यथा प्राणा हरेर्वयम् ।
शरीरं तावकं पुत्र भक्षितं गगने खगैः ॥ ८ ॥

'वत्स ! जैसे हम भगवान् श्रीकृष्णके प्राणके समान हैं, उसी तरह श्रीकृष्ण तेरे प्राणस्वरूप हैं क्या ? बेटा ! तेरे शरीरको आकाशमें पक्षियोंने नोच-नोचकर खा डाला है ॥

स्वगात्रं हि समुत्कृत्य पिता शक्राय ते ददौ ।
शक्रपुत्रस्य कार्येऽत्र विहङ्गेभ्यस्त्वयार्पितम् ॥ ९ ॥

'(मुझे तो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि) जैसे तेरे पिता कर्णने अपने शरीरसे जन्मजात कवच काटकर इन्द्रको दे दिया था, उसी तरह तूने इन्द्र-पुत्र अर्जुनके लिये आज अपना शरीर पक्षियोंको समर्पित कर दिया है ॥ ९ ॥

बहुवारं भीमसेनो गच्छत्येको महारणे ।
द्वितीयो न नरः कश्चित्तस्य याति सहायताम् ॥ १० ॥

'भैया भीमसेन अनेक बार अकेले ही बड़े-बड़े संग्रामोंमें गये हैं, उस समय तेरे अतिरिक्त दूसरा कोई वीर उनकी सहायतामें नहीं गया है ॥ १० ॥

त्वया शत्रुशिरांस्येव पङ्कजानि करेण च ।
गृहीत्वा रुधिराक्तानि मौक्तिकानि रणाङ्गणे ॥ ११ ॥
पितामहाय सूर्याय दत्तोऽर्घ्यः प्रत्यहं मुदा ।

'बेटा ! तू तो प्रतिदिन रणाङ्गणमें शत्रुओंके सिररूपी कमल और रक्तसे सने हुए मोतियोंको हाथमें लेकर अपने पितामह सूर्यदेवको प्रसन्नतापूर्वक अर्घ्य दिया करता था ॥ ११½ ॥

प्रथितौ द्वौ स्थितौ वीरौ दिवाकरधनंजयौ ॥ १२ ॥
आवयोः पतनं भाव्यं त्वयि वीरेऽद्य पातिते ।

'संसारमें सूर्यदेव और अर्जुन—ये ही दोनों विख्यात वीर माने गये हैं; परंतु वीर ! आज तेरे धराशायी हो जानेपर हम दोनोंका पतन अवश्यम्भावी हो गया ॥१२½॥

भास्करः सत्कृतो नाके यशसा तावकेन च ॥ १३ ॥
अहं तु शिरसानेन कृष्णगोविन्दवादिना ।

'वत्स ! तेरे यशसे स्वर्गलोकमें भगवान् भास्कर सत्कृत हो रहे हैं और यहाँ 'श्रीकृष्ण, गोविन्द' आदि नामोंका उच्चारण करनेवाले तेरे इस मस्तकसे मेरा भी सत्कार हो गया ॥

एतत् कृतं महद्वैरं मया सार्द्धं हि पुत्रक ॥ १४ ॥
पिता मे निहतः कर्णः पार्थेन च रणाङ्गणे ।
कृत्वा दुःखातुरं पार्थं ततोऽसि प्रथमं गतः ॥ १५ ॥

'बेटा ! तूने यह सोचकर कि रणाङ्गणमें अर्जुनने मेरे पिता कर्णका वध किया था, आज मेरे साथ यह महान् वैर निकाला है, जो मुझे दुःखातुर करके तू पहले ही चल बसा है ॥

यथा रथस्य चक्रं हि ग्रस्तं भूम्या पितुश्च ते ।
शापिता तेन वीरेण कृता मातङ्गसङ्गिनी ॥ १६ ॥

'तेरे पिताके रथके पहियेको जब पृथ्वीने ग्रस लिया था, तब वीरवर कर्णने उसे शाप दे दिया था कि जा, तू दिग्गजों-से समागम करनेवाली हो जा, उसी तरह तूने आज बड़े-बड़े गजराजोंको मारकर पृथ्वीको उनकी संगिनी बना दिया है ॥

उपकारकरं श्रीमन्नान्यं पश्यामि साम्प्रतम् ।
अद्य मे निहतं सैन्यमद्य मे निहतः सुतः ॥ १७ ॥
सुभद्रानन्दनः शूरो नष्टमद्य कुलं मम ।
कृष्णेनापि परित्यक्तो वृषकेतौ च पातिते ॥ १८ ॥

'शोभाशाली पुत्र ! इस समय तुझसे बढ़कर अपना उपकार करनेवाला कोई दूसरा मुझे नहीं दीख रहा है । हाय ! वृषकेतुके मारे जानेपर आज मेरी सारी सेनाका संहार हो गया । मुझे तो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मेरा शूरवीर पुत्र सुभद्रानन्दन अभिमन्यु आज ही मारा गया । आज मेरा कुल चौपट हो गया और श्रीकृष्णने भी मेरा परित्याग कर दिया ॥ १७-१८ ॥

यथा सूर्यं विना भूमिर्गृहं दीपविवर्जितम् ।
लिङ्गहीना यथा पिण्डी जयश्रीस्त्वां विना तथा ॥ १९ ॥

'बेटा ! जैसे सूर्यके प्रकाशके बिना भूमि, दीपकरहित घर और लिंगहीन पिण्डीकी शोभा नहीं होती, वही दशा तेरे बिना विजयश्रीकी हो रही है' ॥ १९ ॥

इत्युक्त्वा मुक्तकण्ठस्तं संस्मरन्नर्जुनोऽरुदत् ।
क्व गतोऽसि हृषीकेश दुःखितं मां न विन्दसे ॥ २० ॥
नायासि स्मृत मात्रस्त्वं मन्ये त्यक्तोऽस्मि साम्प्रतम् ।

ऐसा कहकर वृषकेतुका स्मरण करते हुए अर्जुन फूट-फूटकर रोने लगे (और फिर श्रीकृष्णका ध्यान करके कहने लगे—) 'हृषीकेश ! आप कहाँ चले गये हैं ? क्या आपको पता नहीं है कि मैं महान् कष्टमें पड़ा हूँ ? मेरे स्मरण करते ही जो आप नहीं आ रहे हैं, इससे मैं समझता हूँ कि इस समय आपने मेरा परित्याग कर दिया है' ॥ २०½ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं मूर्च्छितो न्यपतद् भुवि ॥ २१ ॥
हृदये तच्छिरः कृत्वा तस्मिन् महति संगरे ।

इतनी बात कहकर अर्जुन उस महान् संग्रामके अवसरपर वृषकेतुके सिरको अपने हृदयपर रखकर मूर्च्छित हो पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २१½ ॥

ततश्चित्राङ्गदासूनुः पतितं धरणीतले ॥ २२ ॥
धनुष्कोट्या प्रताड्यैनं प्रहसन् वाक्यमब्रवीत् ।
कथं वैश्यभवाः पार्थ तुलनार्थं समागताः ॥ २३ ॥
रणार्णवे यशःपोतमारूढोऽस्म्यधुना रणे ।
घनानि कानि वीराणां शिरांस्यल्पानि कानि च ॥ २४ ॥

तब चित्राङ्गदाकुमार बभ्रुवाहन भूतलपर पड़े हुए अर्जुनको अपने धनुषकी नोकसे पीडित करके ठठाकर हँसता हुआ कहने लगा—'पार्थ ! वैश्यसे उत्पन्न हुए हम किस प्रकार तौलनेके लिये आ गये हैं (उसे सुनिये) । इस समय मैं युद्धसागरमें यशरूपी नौकापर सवार हूँ और युद्धस्थलमें वीरोंके सिरोंको तौल रहा हूँ कि इनमें कौन भारी हैं और कौन हल्के हैं ॥ २२–२४ ॥

सर्वेषामेव सार्धं हि तुलितं तद् धनंजय ।
वृषकेतोः शिरश्चित्रं शिवपूजनलिङ्गके ॥ २५ ॥
उत्तिष्ठार्पय देवाय शङ्कराय धनंजय ।

'धनंजय ! मैंने सभी सिरोंके साथ वृषकेतुके उस सिरकी भी तुलना कर ली है, वह बड़ा विचित्र है; अतः अब आप उठिये और उसे शिवपूजनके निमित्त बने हुए लिंगपर भगवान् शंकरके अर्पण कर दीजिये ॥ २५½ ॥

तुष्टः प्रदास्यति हरः शस्त्रं पाशुपतं च ते ॥ २६ ॥
स्मारयिष्यति युद्धार्थे क्षयं त्वं च गमिष्यसि ।

'उससे प्रसन्न होकर भगवान् शंकर आपको पाशुपतास्त्र प्रदान कर देंगे और युद्धके लिये उसकी स्मृति भी करा देंगे । परंतु फिर भी आपका विनाश हो जायगा' ॥ २६½ ॥

जैमिनिरुवाच

ततः प्रबुद्धो बलवान् पार्थः कोपसमन्वितः ।
तच्छिरो रथमादाय स्थापयित्वा दधद् धनुः ॥ २७ ॥
उवाच पुत्रं तरसा शूरं तं बभ्रुवाहनम् ।
संहाररूपिणं वीक्ष्य क्व यास्यसि ममाग्रतः ॥ २८ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर जब बलवान् अर्जुनकी चेतना लौट आयी, तब उन्होंने वृषकेतुके सिरको लेकर रथपर रख दिया और फिर कुपित हो तुरंत ही अपना धनुष उठा लिया । तत्पश्चात् वे अपने उस शूरवीर पुत्र बभ्रुवाहनसे बोले—'वीर ! तू मुझ मूर्तिमान् कालको देखकर फिर मेरे सामनेसे भागकर कहाँ जायगा ?॥२७-२८॥

सर्वे वीरा मदीया हि पातिताश्च परे धृताः ।
त्वां हत्वा मोचयाम्येतान् कुपितोऽहं महाहवे ॥ २९ ॥

'तूने मेरे समस्त वीरोंको मार गिराया है और जो जीवित बचे थे, उन्हें पकड़ रखा है; अतः मैं इस महासंग्राममें कुपित हो तेरा वध करके उन वीरोंको मुक्त करूँगा ॥ २९ ॥

गृहाण सायकं वीर वृषकेतुं च मामकम् ।
पातयित्वा स्ववीर्येण कीदृशं जीवितं तव ॥ ३० ॥
सहस्व मत्प्रहारं हि भिनद्मि गिरिमप्यहम् ।

'वीर ! अब तू बाण हाथमें ले । भला, अपने पराक्रमसे मेरे वृषकेतुको मारकर तू कैसे जीवित रह सकता है ? मैं पर्वतको भी विदीर्ण कर सकता हूँ, अतः अब तू मेरे प्रहारको सहन कर' ॥ ३०½ ॥

जैमिनिरुवाच

ततो मुमोच बाणौघांस्तोयौघानिव तोयदः ॥ ३१ ॥
चित्राङ्गदात्मजस्याग्रे तैर्भिन्नं प्रबलं बलम् ।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तत्पश्चात् मूसलाधार वृष्टि करनेवाले मेघकी तरह अर्जुन बाणसमूहोंकी वृष्टि करने लगे । उन बाणोंके प्रहारसे चित्राङ्गदाकुमारके देखते-देखते उसकी प्रबल सेना छिन्न-भिन्न हो गयी ॥ ३१½ ॥

शरीरं तस्य वीरस्य भित्त्वा पार्थो महाबलः ॥ ३२ ॥
ननाद भैरवं नादं घनस्तनितवद् भृशम् ।

फिर महाबली अर्जुन वीर बभ्रुवाहनके शरीरको घायल करके बादलकी गड़गड़ाहटके समान अत्यन्त भयंकर सिंहनाद करने लगे ॥ ३२½ ॥

अर्जुनस्य शरैर्नागा नीयमाना रथाश्च ते ॥ ३३ ॥
हयाः पदातयो राजन् दिवि चक्रीकृता दृढम् ।
पार्थबाणैर्जगद् व्याप्तं दुर्गप्राकारभञ्जकैः ॥ ३४ ॥

राजन् ! अर्जुनके बाणोंसे उड़ाये जाते हुए वे रथ, हाथी, घोड़े और पैदल सैनिक आकाशमें सुदृढ़ चक्रकी भाँति घूमने लगे । उस समय दुर्ग एवं परकोटोंको तोड़-फोड़ डालनेवाले अर्जुनके सायकोंसे सारा संसार व्याप्त हो गया ॥ ३३-३४ ॥

यथा प्रवर्धितो वायुः शुष्कपत्राणि भूतलात् ।
तृणान्यावर्तयत्याशु गगने पाण्डवः शरैः ॥ ३५ ॥

जैसे प्रचण्ड आँधी पृथ्वीपरसे सूखे पत्तों तथा घास-फूस-को उड़ाकर आकाशमें घुमाने लगती है, उसी प्रकार अर्जुन अपने बाणोंसे शत्रुसेनाको आकाशमें घुमाने लगे ॥ ३५ ॥

शरवृष्ट्या शरीराणि पतितानि मृतानि च ।
दह्यन्ते तेजसा युद्धे पाण्डवस्य विशाम्पते ॥ ३६ ॥

प्रजानाथ जनमेजय ! उस युद्धमें बाणवृष्टिके कारण वीरों-के शरीर घायल होकर गिर पड़े और वे मर गये तथा बहुत-से वीर अर्जुनके तेजसे जलने लगे ॥ ३६ ॥

शरपुङ्खभवेनाथ वायुना नीयते रजः ।
सेनाजुषा पाण्डवेन हतानां नरवाजिनाम् ॥ ३७ ॥

बाणोंकी पूँछसे उत्पन्न हुई वायु सेनासेवी अर्जुनके द्वारा मारे गये मनुष्यों और घोड़ोंसे उठी हुई धूलको उड़ाने लगी ॥

वडवानलवत् तीव्रमदहत् स धनंजयः ।
यैर्दृष्टः संगरे पार्थस्तेऽभवन् मोक्षसंयुताः ॥ ३८ ॥

अर्जुन वडवानलके समान बड़े वेगसे सेनाको भस्म करने लगे । उस समय समरभूमिमें जिन्होंने अर्जुनका दर्शन कर लिया, उनकी मुक्ति हो जाती थी ॥ ३८ ॥

यथा काश्यामन्तकाले भवभीतैर्जनैर्हरः ।
तथा पार्थोऽपि देहान्ते तेऽपि जातास्तथाविधाः ॥३९॥

जैसे काशीपुरीमें मरणके समय संसार-भयसे भीत मनुष्यों-की दृष्टिमें आकर भगवान् शंकर उन्हें मुक्ति प्रदान करते हैं, उसी तरह जिन्होंने देहान्तके समय अर्जुनको देख लिया, वे भी मुक्तिके भागी हो गये ॥ ३९ ॥

बभ्रुवाहं शरैर्घोरैः संच्छाद्य व्यनदद् बली ।
नादानं न च संधानं न मोक्षं पाण्डवस्य ते ॥ ४० ॥
रणमध्ये च ददृशुः प्रलयं मेनिरे जनाः ।
निर्वापयन्ति सहसा तेजसा पाण्डवस्य तु ॥ ४१ ॥

बलवान् अर्जुनने भयंकर बाणोंसे बभ्रुवाहनको आच्छादित करके बड़ी विकट गर्जना की । उस समय रणभूमिमें खड़े हुए वीर यह भी नहीं देख पाते थे कि अर्जुनने कब बाण हाथमें लिया, कब संधान किया और कब उसे छोड़ दिया । वे लोग यही समझते थे कि प्रलयकाल उपस्थित हो गया है । अर्जुनके तेजसे वे सहसा शान्त हो जाते थे ॥ ४०-४१ ॥

बभ्रुवाहस्ततः क्रुद्धो विव्याध च धनंजयम् ।
चतुर्भिः सायकैस्तीक्ष्णैस्तुरङ्गान् सारथिं त्रिभिः॥४२॥
छत्रं चैकेन बाणेन सप्तभिः पवनात्मजम् ।
प्रकुर्वाणौ महद् युद्धमन्योऽन्यजयकाङ्क्षिणौ ॥ ४३ ॥

तदनन्तर बभ्रुवाहन कुपित होकर अर्जुनको घायल करने लगा । उसने चार तीखे बाणोंसे उनके घोड़ोंको, तीनसे सारथिको, एक बाणसे छत्रको और सात बाणोंसे पवननन्दन हनुमान्‌को बींध दिया । उस समय परस्पर एक-दूसरेपर विजय पानेकी अभिलाषासे उन दोनोंमें घोर संग्राम होने लगा ॥

बभ्रुवाहन उवाच

पार्थ द्रोणाच्च देवेभ्यस्त्वयास्त्राणि पुरा विभो ।
शिक्षितान्यधुना तानि विफलानि कथं तव ॥ ४४ ॥

उस समय बभ्रुवाहनने कहा--सामर्थ्यशाली पार्थ ! पहले आपने गुरु द्रोणाचार्य तथा देवताओंसे जिन अस्त्रोंको सीखा था, आपके वे आयुध इस समय निष्फल क्यों हो रहे हैं॥

नायाति सारथिः कस्मात् तन्न जानासि दुर्मते ।
पतिव्रता मे जननी दूषिता गतबुद्धिना ॥४५॥
त्वया मम समक्षं हि सतां दोषो भयावहः ।

दुर्बुद्धे ! आपको पता नहीं है कि किस कारणसे आपके सारथि श्रीकृष्ण नहीं आ रहे हैं । आपने मूर्खतावश मेरे सामने मेरी पतिव्रता माताको दूषित बतलाया है । (इसीलिये श्रीकृष्ण नहीं आ रहे हैं; क्योंकि) सत्पुरुषोंमें दोष लगाना महान् भयदायक होता है ॥ ४५½ ॥

यावद् भवांश्च समरे यत्र कुत्रापि संस्थितः ॥ ४६ ॥

तावत् समागतः कृष्णः स्मृतः पूर्वं त्वयार्जुन ।
स्मरणं विस्मृतं चासीत् तस्य विष्णोर्महात्मनः॥ ४७ ॥

अर्जुन ! अबतक तो पहले जहाँ-कहीं भी समरभूमिमें स्थित होकर आपने श्रीकृष्णका स्मरण किया है, वे तुरंत वहाँ आ पहुँचे हैं। इस समय आप उन महात्मा विष्णुरूप श्रीकृष्णका स्मरण करना भूल कैसे गये ? ॥४६-४७ ॥

क्षणं प्रतीक्षामि रणे यावत् स्मरसि केशवम् ।
न युद्धं प्रकरिष्यामि त्वया पूर्वं धनंजय ॥ ४८ ॥
कृष्णविस्मृतियुक्तानां महाहानिः पदे पदे ।
स्मर त्वं नाथवत्त्वात् तु मा गर्वं च वृथा कुरु ॥ ४९ ॥

धनंजय ! मैं क्षणभरतक रणभूमिमें आपकी प्रतीक्षा करूँगा, तबतक आप उन केशवका स्मरण कर लें। इसके पूर्व मैं आपके साथ युद्ध नहीं करूँगा; क्योंकि श्रीकृष्णका विस्मरण करनेवालोंको पद-पदपर महान् हानि उठानी पड़ती है। आप तो श्रीकृष्णसे सनाथ हैं, अतः उनका स्मरण कीजिये, व्यर्थमें गर्वके वशीभूत मत होइये ॥ ४८-४९ ॥

कर्णस्य सुतेन सतां सम्मतं शक्रनन्दन ।
यथा पुरा कृतं युद्धं मया सार्धं महात्मना ॥ ५० ॥
तथा कुरु निजं शौर्यं प्रदर्शय ममार्जुन ।
कर्णपुत्रो रणे धीरः सोऽपि स्वर्गं गतोऽधुना ॥ ५१ ॥

इन्द्रकुमार ! जैसे पहले महान् आत्मबलसे सम्पन्न कर्ण-पुत्र वृषकेतुने मेरे साथ सत्पुरुषोंद्वारा सम्मानित युद्ध किया है, उसी तरह आप भी कीजिये। अर्जुन ! आज आप अपना पराक्रम मुझे दिखलाइये; क्योंकि रणमें धीरता रखनेवाला एक वृषकेतु था, वह भी इस समय स्वर्गलोकको चला गया ॥

जैमिनिरुवाच

एवं तेन तदा प्रोक्तः सव्यसाची रुषान्वितः ।
ववर्ष मोहं संत्यज्य भल्लान् कनकभूषितान् ॥ ५२ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय बभ्रुवाहन-के यों कहनेपर सव्यसाची अर्जुन क्रोधसे भर गये और मोहका त्याग करके स्वर्णभूषित भल्ल नामक बाणोंकी वर्षा करने लगे॥

रथस्थं बलिनं पुत्रं विव्याध प्रहसन्निव ।
तैः शरैरग्निसंकाशैः स विद्धो न रणं जहौ ॥ ५३ ॥

उन्होंने हँसते-हँसते रथपर बैठे हुए अपने बलवान् पुत्र-को घायल कर दिया; परंतु अग्निके समान दाहक एवं उद्दीप्त सायकोंसे घायल होनेपर भी बभ्रुवाहन युद्धसे विमुख नहीं हुआ॥

गगनं पूरयामास स्वबाणैर्बभ्रुवाहनः ।
सव्यसाचिनमत्युग्रो बिभेद निशितैः शरैः ॥ ५४ ॥

बभ्रुवाहनने अपने बाणोंसे आकाशको भर दिया और अत्यन्त उग्र होकर पैने बाणोंसे अर्जुनको भी घायल कर दिया ॥ ५४ ॥

कर्तव्यं विस्मृतः पार्थो गङ्गाशापेन मोहितः ।
यं यं शरं स संधत्ते यच्छस्त्रं शापमोहितः ॥ ५५ ॥
तं तं शरं च तच्छस्त्रं युधि चिच्छेद पुत्रकः ।

उस समय गङ्गाजीके शापसे मोहित होनेके कारण अर्जुन-को अपना कर्तव्य भूल गया। वे शापविमुग्ध होकर जिस-जिस बाण तथा जिस शस्त्रका संधान करते थे, उस-उस बाण तथा उस शस्त्रको उनका पुत्र बभ्रुवाहन युद्धस्थलमें काट देता था ॥ ५५½ ॥

एतस्मिन्नन्तरे राजन् कुपितो बभ्रुवाहनः ॥ ५६ ॥
अर्धचन्द्रं स्वकोदण्डे संदधे परवीरहा ।
ज्वालायुक्तं कालकल्पं वडवानलसंनिभम् ॥ ५७ ॥

राजन् ! इसी बीचमें शत्रु-वीरोंका संहार करनेवाले बभ्रुवाहनने क्रुद्ध होकर अपने धनुषपर एक अर्धचन्द्राकार बाणका संधान किया। वह बाण वडवानलके समान ज्वालाओं-से युक्त तथा काल-सरीखा था ॥ ५६-५७ ॥

ततश्चकम्पिरे देवाः शक्राद्याः पितरस्तथा ।
सूर्यादयो ग्रहाः सर्वे भुजङ्गाश्च भयावृताः ॥ ५८ ॥

उस समय इन्द्र आदि देवता, पितर, सूर्य आदि ग्रह और सभी नाग भयभीत होकर काँप उठे ॥ ५८ ॥

द्विधा भिन्ना धरा देवी उल्कानां पतनं ततः ।
ववौ सशर्करो वायू रुधिरं ववृषुर्घनाः ॥ ५९ ॥

पृथ्वी देवी दो भागोंमें विदीर्ण हो गयीं। आकाशसे उल्कापात होने लगा। धूलसे भरी हुई वायु चलने लगी और बादल रक्तकी वर्षा करने लगे ॥ ५९ ॥

प्रसमीक्ष्यार्जुनो बाणं प्रलयानलरूपिणम् ।
स्वबाणैरपि भीमैस्तं न शशाक व्यपोहितुम् ॥ ६० ॥
चिन्तयामास गोविन्दं यावत् पार्थो महाबलः ।
तावद् बाणेन तीव्रेण शिरो ज्वलितकुण्डलम् ॥ ६१ ॥
छिन्नं पार्थस्य तरसा निपपात धरातले ।
पश्चात् कबन्धः पतितो वृषकेतो रणान्तिके ॥ ६२ ॥

उस प्रलयाग्नि-सरीखे बाणको देखकर अर्जुन जब अपने भयंकर बाणोंसे भी उसका निवारण करनेके लिये समर्थ न हो सके, तब महाबली अर्जुन भगवान् गोविन्दका ध्यान करने लगे। तबतक उद्दीप्त कुण्डलोंसे सुशोभित अर्जुनका सिर एक तीखे बाणसे कटकर तुरंत ही भूतलपर गिर पड़ा। तत्पश्चात् वृषकेतुके युद्धस्थलके पास ही उनका कबन्ध भी लोट गया॥

पार्थस्य कुन्तीपुत्रस्य देहो राजन् रणाजिरे।
अनेकरत्नसंयुक्त एकादश्यां निशामुखे॥ ६३॥
कार्तिके मासि सौम्ये च ऋक्षे चैवोत्तराभिधे।

राजन्! अनेक रत्नाभरणोंसे सुशोभित कुन्तीपुत्र अर्जुनका शरीर कार्तिक मासकी एकादशी तिथिको सायंकालके समय बुधवारको उत्तरा भाद्रपदा नक्षत्रमें रणाङ्गणमें गिरा था॥

मुखं पार्थस्य तच्छिन्नं वासुदेवेति जल्पकम्॥ ६४॥
क्षणमासीदभिनवं छिन्नालङ्कारवर्जितम्।

अलंकारोंके कट जानेके कारण उनसे हीन तथा श्रीकृष्णके नामोंका उच्चारण करनेवाला अर्जुनका वह कटा हुआ मुख क्षणभर तक बिल्कुल नवीन-सा दीख पड़ा॥ ६४½॥

द्वौ सूर्यौ पतितौ भूमौ मेनिरे शिरसी तयोः॥ ६५॥
जनाः सकरुणास्तत्र वृषकेतुधनंजयौ।

उस समय वृषकेतु और अर्जुनको देखकर वहाँ उपस्थित लोगोंका हृदय दयार्द्र हो उठा। वे लोग उन दोनोंके सिरोंको देखकर ऐसा समझने लगे मानो दो सूर्य आकाशसे भूतलपर आ गिरे हों॥ ६५½॥

चित्राङ्गदा तदा प्राप्ता मणिपूरं पुरोत्तमम्॥ ६६॥
श्रुत्वा युद्धं च शापं च ह्यर्जुनस्यैव नादरात्।
रथारुढाश्चाल्पजना विना धर्माज्ञया नृप॥ ६७॥

राजन्! उसी समय चित्राङ्गदा भी नगरश्रेष्ठ मणिपुरमें आ पहुँची। उसने अर्जुनके गङ्गाद्वारा प्राप्त हुए शापका वृत्तान्त तथा अनादरके कारण बभ्रुवाहनके साथ होते हुए युद्धका समाचार सुन लिया था, अतएव वह धर्मराजकी आज्ञा लिये बिना ही थोड़े-से सैनिकोंको साथ लेकर रथपर सवार हो हस्तिनापुरसे चल दी थी॥ ६६-६७॥

हाहाकारो महानासीत् तस्मिन् काले सुदारुणः।
बभ्रुवाहस्य च बले हर्षश्च सुमहानभूत्॥६८॥

उस समय अत्यन्त भयंकर एवं महान् हाहाकार मच गया। उधर बभ्रुवाहनकी सेनामें महान् हर्ष छा गया॥६८॥

वादित्राणि च संजघ्नुः पुष्पवर्षं च कन्यकाः।
चक्रुर्मुदा युताः सर्वाः स्वनाथविजये तदा॥ ६९॥

उस समय अपने स्वामीके विजयी होनेपर नाना प्रकारके बाजे बजने लगे और सभी कन्याएँ हर्षमें भरकर पुष्पवृष्टि करने लगीं॥ ६९॥

स्तुवन्तो बन्दिनः प्राप्ता बभ्रुवाहनपौरुषम्।
राजापि सबलः प्रीतो रणे विस्मृतसौहृदः॥ ७०॥
प्रविवेश पुरं रम्यं पताकाभिः सुशोभितम्।
पुष्पप्रकरसंयुक्तं सिक्तं चन्दनवारिणा॥ ७१॥
नृत्यन्तीभिः स्म नारीभिः परितः परिवारितम्।

बभ्रुवाहनके बल-पौरुषकी प्रशंसा करते हुए बन्दीगण वहाँ आ पहुँचे। जिसने युद्धस्थलमें पितृसम्बन्धी सौहार्द-सौहालको भुला दिया था, वह राजा बभ्रुवाहन भी प्रसन्नतापूर्वक दल-बलसहित अपने रमणीय नगरमें प्रविष्ट हुआ। वह नगर पताकाओंसे सुशोभित था। उसके राजमार्गोंपर ढेर-के-ढेर पुष्प बिखेरे गये थे और चन्दनमिश्रित जलका छिड़काव किया गया था। चारों ओर नाचती हुई अप्सराओंसे वह नगर व्याप्त था॥ ७०-७१½॥

सपुत्रा दीपसंयुक्ता दूर्वादलधराः स्त्रियः॥ ७२॥
गोरोचनं कुङ्कुमं च दधि दिव्याम्बरान्विताः।
नीराजयन्त्यो राजानमुलूप्या सह मारिष॥ ७३॥

आर्य जनमेजय! तब दिव्य वस्त्रोंसे विभूषित पुत्रवती स्त्रियाँ हाथोंमें दीपकसहित दूर्वादल, गोरोचन, कुंकुम और दही लेकर उलूपीके साथ राजा बभ्रुवाहनकी आरती उतारने लगीं॥ ७२-७३॥

कथयन्ति वचांसीह तदा चित्राङ्गदां प्रति।
धन्यासि देवि वीरं त्वं प्रसूतासि महाबलम्॥ ७४॥
येनायं निहतः पार्थो विजयी यः सदा क्षितौ।

उस समय वे नारियाँ चित्राङ्गदासे यों कहने लगीं—'देवि! तुम धन्य हो, तुमने ऐसे महाबली शूरवीर पुत्रको जन्म दिया है, जिसने उस अर्जुनको भी मार गिराया, जो इस पृथ्वीपर सदा विजयी ही होते रहे हैं'॥ ७४½॥

तासां वचनमाकर्ण्य वरालंकारमण्डिता॥ ७५॥
नीराजनार्थं पुत्रस्य आयाता सा पपात ह।
महानन्दे विषादोऽभूद् बभ्रुवाहनमन्दिरे॥ ७६॥

उन स्त्रियोंकी बात सुनकर चित्राङ्गदा, जो श्रेष्ठ अलंकारों-

से विभूषित हो पुत्रकी आरती उतारनेके लिये आयी थी, मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ी । उस समय बभ्रुवाहनके महलमें महान् आनन्दके अवसरपर विषाद छा गया ॥७५-७६॥

सर्वाश्च नार्यः सहसा परिवार्य स्थिता गृहे ।
रुदन्त्यः सिषिचुस्तोयैः शीतलैश्चन्दनान्वितैः ॥ ७७ ॥
वीजयन्त्यस्ताडयन्त्यो हृदयं निजमुष्टिभिः ।
स्वामिनीं पतितां वीक्ष्य राजानं चापरा गता ॥ ७८ ॥
कथयामास पतितां पार्थपुत्राय मारिष ।
न जानीमो नरश्रेष्ठ जननी पतिताद्य ते ॥ ७९ ॥
तामुत्थापय भद्रं ते उलूपीमपि मा चिरम् ।

तब राजमहलमें सभी स्त्रियाँ सहसा रोती हुई चित्राङ्गदाको घेरकर खड़ी हो गयीं। वे उसे चन्दनमिश्रित शीतल जलसे सींचने लगीं। कोई हवा करने लगीं। कोई-कोई अपनी स्वामिनीको पड़ी हुई देखकर अपनी मुट्ठीसे हृदयको पीटने लगीं। आर्य ! उसी समय एक दूसरी स्त्री राजाके पास जाकर उस अर्जुनकुमारसे उसकी माताके गिरनेका समाचार निवेदन करने लगी—'नरश्रेष्ठ ! आज आपकी माता पृथ्वीपर पड़ी हुई हैं। उनके गिरनेका कारण हमें ज्ञात नहीं है; अतः आपका कल्याण हो, चलिये और उन्हें तथा उलूपीको भी उठाइये। अब देर मत कीजिये' ॥ ७७—७९½ ॥

बभ्रुवाहः समुत्तीर्य रथात् तस्माद् ददर्श ताम् ॥८०॥
कण्ठसूत्रेण रहितां ताटङ्कद्वयवर्जिताम् ।
श्वसन्तीं पन्नगसुतां द्वितीयां जननीं च ताम् ॥ ८१ ॥

यह सुनकर बभ्रुवाहन उस रथसे उतर पड़ा और माताके पास जाकर देखा कि वह सौभाग्यसूचक कण्ठसूत्र और कर्णफूलोंसे रहित होकर पड़ी है। इस प्रकार वह तथा दूसरी माता नागकन्या उलूपी—ये दोनों शोकवश लंबी साँसें ले रही हैं ॥

समुत्थाप्य तदा तेन नेत्राणि मृजितानि च ।
ततस्ते जीवितयुते वीक्ष्य हृष्टोऽब्रवीदिदम् ॥ ८२ ॥

तब उसने उन दोनोंको उठाकर उनके नेत्र धोये। तत्पश्चात् उन्हें जीवनयुक्त देखकर वह प्रसन्नतापूर्वक यों कहने लगा—॥ ८२ ॥

आनन्दकाले पतिते जनन्यौ मे कथं क्षितौ ।
शृणुतां मातरौ युद्धं हयहेतोर्मया कृतम् ॥ ८३ ॥

'माताओ ! यह तो महान् आनन्दका समय है, इस अवसरपर मेरी माता होकर आपलोग पृथ्वीपर क्यों पड़ी हैं ? मैंने अश्वमेधके घोड़ेके लिये जो युद्ध किया है, उसका वर्णन सुनिये ॥ ८३ ॥

पार्थो ह्यर्जुननामात्र कश्चित् प्राप्तोऽश्वरक्षणे ।
महावीरैर्वृतो धीरैः प्रद्युम्नप्रमुखैर्हितैः ॥ ८४ ॥

'कोई अर्जुन नामवाला पृथाका पुत्र उस घोड़ेकी रक्षामें नियुक्त होकर यहाँ आया। उसके साथ उसके हितैषी महान् पराक्रमी एवं धैर्यशाली प्रद्युम्न आदि प्रमुख वीर भी थे ॥

ते सर्वे निर्जिता मातः पार्थः स निहतो युधि ।
वीराणामपि सर्वेषां गुरुर्बालोऽप्यसौ हतः ॥ ८५ ॥

'माँ ! मैंने युद्धस्थलमें उन सभी वीरोंको पराजित कर दिया है और उस पृथाकुमारको भी मार डाला है। उसके साथ एक वीर और था, जो बालक होनेपर भी सभी वीरोंका गुरु था, उसका भी मैंने वध कर दिया है ॥ ८५ ॥

वृषकेतुरिति ख्यातः कर्णपुत्रो महाबलः ।
तेनाहं मोहितो भूरि वीरेणैव रणाङ्गणे ॥ ८६ ॥

'वह महाबली बालक 'वृषकेतु' नामसे विख्यात कर्णका पुत्र था। उस वीरने रणाङ्गणमें मुझे अनेक बार मोहमें डाल दिया था ॥ ८६ ॥

महता चैव कृच्छ्रेण संग्रामे निहतः शुचिः ।
गृहाण कण्ठसूत्रं त्वं ताटङ्के कर्णभूषणे ॥ ८७ ॥
अमङ्गलं ते रूपं हि दृश्यते मण्डनं विना ।

'उस पवित्र वृषकेतुको मैं संग्राममें बड़ी कठिनाईसे मार सका हूँ। माँ ! अब तुम अपने कण्ठसूत्र तथा कानोंको शोभित करनेवाले कर्णफूलोंको पहिन लो; क्योंकि शृङ्गारके बिना तुम्हारा यह रूप अमङ्गल-सा दीख रहा है' ॥८७½ ॥

चित्राङ्गदोवाच

किं कृतं पापरूपेण त्वया पुत्रेण साम्प्रतम् ॥ ८८ ॥
पितरं स्वं पातयित्वा पार्थं धर्मानुजं वरम् ।
नारायणसखायं तं कुन्त्यै नागेन्द्रदायकम् ॥ ८९ ॥
मण्डनं मे त्वया भग्नं कण्ठसूत्रं तथा हृतम् ।
तालपत्रं तथा नष्टं वदन् मूढ न लज्जसे ॥ ९० ॥

तब चित्राङ्गदा कहने लगी—अरे ! तुझ पापस्वरूप पुत्रने इस समय यह क्या अनर्थ कर डाला ? हाय ! जो धर्मराजके छोटे भाई तथा भगवान् श्रीकृष्णके सखा थे, जिन्होंने कुन्तीदेवीको नागेन्द्र प्रदान किया था, उन पुरुषश्रेष्ठ

अपने पिता अर्जुनको मारकर तूने मेरा शृङ्गार बिगाड़ दिया, कण्ठसूत्र छीन लिया तथा सौभाग्यसूचक तालपत्र भी नष्ट कर दिया । मूर्ख ! तुझे ऐसी बातें कहते लज्जा नहीं आ रही है ? ॥ ८८–९० ॥

धिक् ते प्रतिबलं तेजो यत् पार्थः पातितो रणे।
अद्य धर्मात्मजो राजा कामवस्थां गमिष्यति ॥ ९१ ॥
यज्ञे नष्टे दीक्षितश्च ब्राह्मणैः परिवारितः।
कुन्ती पार्थविहीनाद्य त्वया पौत्रेण सा कृता ॥ ९२ ॥

तूने जिस बलसे रणक्षेत्रमें अर्जुनको मार गिराया है, तेरे उस बल और तेजको धिक्कार है। हा ! धर्मनन्दन महाराज युधिष्ठिर यज्ञकी दीक्षा लेकर ब्राह्मणोंसे घिरे हुए बैठे हैं । आज अर्जुनके मारे जानेसे यज्ञके नष्ट हो जानेपर उनकी क्या दशा होगी ? नीच ! कुन्तीदेवीका पौत्र होकर आज तूने उन्हें उनके पुत्र अर्जुनसे रहित कर दिया ! ॥ ९१-९२ ॥

कथं कृपायुतं चित्तं न कृतं जनकं प्रति।
यस्माज्जातोऽसि पाप त्वं पार्थाद् विनयकोविदात् ९३

अरे पापी ! तू विनयके अगाध विद्वान् जिन अर्जुनसे उत्पन्न हुआ है, उन अपने पिताके प्रति तेरे चित्तमें दया क्यों नहीं आयी ? ॥ ९३ ॥

स चात्र निहतः शूरो मम भर्त्ता वृथा त्वया।
असम्मन्त्र्य मया सार्धं कथं युद्धं कृतं रणे ॥ ९४ ॥

तूने युद्धस्थलमें व्यर्थ ही मेरे उन शूरवीर स्वामीको मार डाला है । बिना मेरी सम्मति लिये तूने रणक्षेत्रमें उनके साथ युद्ध ही क्यों किया ? ॥ ९४ ॥

शस्त्राणां संग्रहो नूनं तावको देहदारकः।
कथं न भिद्यते वक्षस्तावकं पितृघातक ॥ ९५ ॥

रे पिताके हत्यारे ! तेरा शस्त्रसमूह निश्चय ही शरीरको विदीर्ण कर देनेवाला है, परंतु उससे तेरा वक्षःस्थल क्यों नहीं फट जाता ? ॥ ९५ ॥

कर्णभूषां त्वमामुञ्च किं मां वदसि दुर्मते।
कण्ठे मे खादिराङ्गारतप्तां घोरां च शृङ्खलाम् ॥ ९६ ॥
क्षिप्रं पातय कर्णे मे लोहशङ्कुं च पुत्रक।

दुर्बुद्धे ! अब तू मुझसे कर्णभूषण पहननेकी बात क्यों कह रहा है ? पुत्राधम ! अब तो तू शीघ्र ही मेरे गलेमें खैरके अङ्गारोंसे तपी हुई भयंकर जंजीर डाल दे और कानोंमें लोहेकी कीलें ठोंक दे ॥ ९६½ ॥

क्व पातितः स मे भर्ता स्थानं दर्शय मा चिरम् ॥९७॥
यथानेन समं यामीत्युक्त्वा पुत्रं च निर्गता।
भूषणानि परित्यज्य ययौ यत्रास्ति पाण्डवः ॥ ९८ ॥

कुलाङ्गार ! तूने मेरे उन पतिदेवको कहाँ मारकर गिराया है, उस स्थानको मुझे शीघ्र ही दिखा । अब विलम्ब मत कर जिससे मैं भी उनकी सहगामिनी होकर परलोकको चली जाऊँ । अपने पुत्रसे यों कहकर चित्राङ्गदा आभूषणोंका परित्याग करके राजमहलसे निकल पड़ी और जहाँ अर्जुन पड़े हुए थे, उस स्थानके लिये चल दी ॥ ९७-९८ ॥

उलूपी वारयामास क्षणे तस्मिन् विशाम्पते।
चित्राङ्गदां प्रत्युवाच उलूपी भरतर्षभ ॥ ९९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! प्रजानाथ जनमेजय ! उसी क्षण उलूपीने चित्राङ्गदाको वहाँ जानेसे रोक दिया और फिर वह उससे कहने लगी—॥ ९९ ॥

पार्थस्य मरणे देवि संशयो वर्तते मम।
यक्षराजसुते पश्य प्रविशामि स्वकं वनम् ॥१००॥
यत्र पार्थेन कथितं ममाग्रे मरणं पुरा।
दाडिमीपञ्चकं देवि यदा दग्धं भविष्यति ॥१०१॥
स्वयमेव तदा ज्ञेयं भवत्या मरणं मम।
आयाहि यत्र पश्यामि संकेतं तादृशं वने ॥१०२॥

'देवि ! अर्जुनकी मृत्युके विषयमें मेरे मनमें संदेह हो रहा है । यक्षराजकन्ये ! देखो, मैं अभी अपने उस उपवनमें प्रवेश करती हूँ, जहाँ पहले अर्जुनने मेरे सामने अपनी मृत्युका संकेत बतलाया था। उन्होंने कहा था—'देवि ! जिस समय ये पाँचों अनारके वृक्ष अपने-आप ही जलकर भस्म हो जायँगे, उस समय तुम समझ लेना कि मेरा मरण हो गया।' अतः तुम भी आओ और उस वनमें चलकर उनके बतलाये हुए संकेतको देखा जाय' ॥ १००–१०२ ॥

गृहीत्वा तां तदा देवी नागेन्द्रतनया वने।
ददर्श पञ्चकं दग्धं दाडिमीनां विनाग्निना ॥१०३॥

तब नागेन्द्रकन्या देवी उलूपी चित्राङ्गदाको साथ लेकर उस वनमें गयी और वहाँ उन्होंने अनारके उन पाँचों वृक्षोंको बिना अग्निके संयोगके ही जलकर भस्म हुए देखा ॥

ततो नागेन्द्रदुहिता हा हा नाथेति भाषिणी।
चित्राङ्गदान्विता प्राप्ता पार्थस्य शिरसोऽन्तिके॥१०४॥

तब तो वह नागेन्द्रकन्या उलूपी 'हा नाथ ! हा नाथ !'

यों विलाप करती हुई चित्राङ्गदाके साथ अर्जुनके सिरके संनिकट जा पहुँची ॥ १०४ ॥

तावदेव ससैन्या सा सपुत्रा दीपभासिता।
मुक्तकेशा ददर्शाथ पतितं श्वेतवाहनम् ॥१०५॥
छिन्नं च तच्छिरो दृष्ट्वा समीपे वैष्णवस्य हि।
पार्थस्य पादयोर्देहं कृत्वा वचनमब्रवीत् ॥१०६॥

उस समय चित्राङ्गदाके केश खुले हुए थे और उसके साथ उसका पुत्र बभ्रुवाहन भी मशालोंका प्रकाश फैलाती हुई सेनाको साथ लिये हुए चल रहा था। वहाँ पहुँचकर चित्राङ्गदाने पृथ्वीपर पड़े हुए श्वेतवाहन अर्जुनको देखा। फिर उनके कटे हुए सिरको देखकर वह विष्णुभक्त अर्जुनके चरणोंके समीप अपने शरीरको डालकर यों कहने लगी—॥

मम देहो गतो नाथ पादस्पर्शोऽस्तु तेऽनघ।
सार्धं त्वया पदं प्राप्स्ये स्पृशन्ती देहसंयुता ॥१०७॥

'नाथ! मेरा शरीर आपकी सेवामें आ गया। निष्पाप! इसे आपके चरणोंका स्पर्श प्राप्त हो। मैं आपके शरीरका स्पर्श करती हुई सदेह आपके साथ परम पदको प्राप्त होऊँगी॥

इह त्वं यदि रुष्टोऽसि मम पुत्रापमानतः।
तव दास्यं करिष्यामि क्षमस्वाद्य धनंजय ॥१०८॥

'धनंजय! यदि इस लोकमें मेरे पुत्रद्वारा अपमानित होनेके कारण आप मुझसे रूठ गये हैं तो मैं वहाँ आकर आपकी सेवा करूँगी। अब आप मुझे क्षमा करें ॥ १०८ ॥

उत्तिष्ठ नाथ गावोऽद्य विराटस्य महीपतेः।
नीयन्ते कौरवैर्भूयो निवर्तयितुमर्हसि ॥१०९॥

'(तत्पश्चात् चित्राङ्गदा उन्मत्त-सी होकर प्रलाप करने लगी—) नाथ! उठिये, आज राजा विराटकी गौएँ कौरव पुनः छीनकर लिये जा रहे हैं, उन्हें लौटा लाना ही आपके लिये उचित है ॥ १०९ ॥

द्रोणं द्रुपदराजेन पुरा वीरापमानितम्।
बद्ध्वा तं पार्थतां तस्मै किं न दर्शयसेऽर्जुन ॥११०॥

'वीरवर अर्जुन! पहले राजा द्रुपदने गुरु द्रोणाचार्यका अपमान कर दिया था, तो अब आप उन गुरुदेवके लिये राजा द्रुपदको बाँधकर अपनी अर्जुनता क्यों नहीं प्रकट करते ? ॥ ११० ॥

द्रौपदीवरणे वीराः सन्ति नाथ समागताः।
मत्स्ययन्त्रं परं भित्त्वा तां त्वं पार्थ समानय ॥१११॥
नाहं सापत्नजं भावं करिष्ये पुरतस्तव।

'नाथ! द्रौपदीका वरण करनेके लिये बहुत-से वीर आये हुए हैं, अतः आप उस श्रेष्ठ मत्स्ययन्त्रका भेदन करके द्रौपदीको ले आइये। पृथानन्दन! मैं आपके सामने उनसे सौतिया-डाह नहीं करूँगी ॥ १११½ ॥

एष प्राप्तो हुताशस्त्वां प्रार्थितुं खाण्डवं वनम् ॥११२॥
आच्छादितं कुरु विभो बाणैः पञ्जरकं पुनः।

'विभो! ये अग्निदेव खाण्डववनको जलानेकी प्रार्थना करनेके लिये आपके पास आये हुए हैं, अतः आप अपने बाणोंसे उस वनको आच्छादित करके पुनः पिंजरा-सा बना दीजिये ॥ ११२½ ॥

किरातवेषप्रच्छन्नः सूकरं वनगं हरः ॥११३॥
नयत्येष महाकोलं त्वदीयं शरणागतम्।

'ये किरात-वेषमें छिपे हुए भगवान् शंकर उस वनचारी शूकरको लिये जा रहे हैं। वह विशाल वराह आपके शरणागत हो चुका है (अतः आप उसकी रक्षा कीजिये)' ॥ ११३½ ॥

एवं ब्रुवति सा बाला तथा चित्राङ्गदा च सा ॥११४॥
गृहीत्वा पार्थशीर्षं तत् तथान्यं कुण्डलान्वितम्।
वृषकेतोरुभे देव्यौ रुरुदाते घनस्वनम् ॥११५॥

ऐसा कहते हुए ही सुन्दरी उलूपी तथा चित्राङ्गदाने अर्जुनके और दूसरे कुण्डलमण्डित वृषकेतुके सिरको उठा लिया और फिर वे दोनों देवियाँ उच्च स्वरसे विलाप करने लगीं—॥

कर्णपुत्र महाबाहो पिता ते पाण्डवेन हि।
संग्रामे निहतः पुत्र पितृवैरं न च स्थितम् ॥११६॥
हा हतास्मि विनष्टास्मि कर्णपुत्रे निपातिते।

'महाबाहु कर्णपुत्र! तेरे पिताको तो अर्जुनने ही संग्राम-भूमिमें मार डाला था; परंतु बेटा! तूने उस पिताके वैरको भी भुला दिया था। हाय! वृषकेतुके मारे जानेपर तो मैं मारी गयी, मेरा सर्वथा विनाश हो गया ॥ ११६½ ॥

बभ्रुवाहन भद्रं ते कुरु मे त्वं मनोगतम् ॥११७॥
खड्गेन मामकं छिन्धि शिरो रामाधिको भव।
रामेण निहता माता रेणुका केवला पुरा ॥११८॥
त्वं निजं जनकं हत्वा जननीयुगलं बलात्।
पातयस्व न ते रामः समतां तु गमिष्यति ॥११९॥

'बभ्रुवाहन! तेरा कल्याण हो। अब तू मेरा एक मनोरथ पूर्ण कर दे। तू अपनी तलवारसे

मेरे सिरको काटकर परशुरामसे भी आगे बढ़ जा; क्योंकि पूर्वकालमें परशुरामने तो (पिताके कहनेसे) केवल अपनी माता रेणुकाका ही वध किया था; परंतु तू (स्वेच्छासे) अपने पिताको तो मार ही चुका, अब अपनी इन दोनों माताओंको भी बलपूर्वक मार डाल, इससे परशुराम किसी प्रकार भी तेरी समता न कर सकेंगे ॥ ११७–११९ ॥

काष्ठान्याहर पुत्रात्र कुरु दीप्तं च पावकम्।
उलूपीसहितां मां त्वं दग्धुमर्हसि सुव्रत ॥१२०॥

'पुत्र ! अब तू यहाँ लकड़ियाँ मँगाकर अग्नि प्रज्वलित कर दे। सुव्रत ! इस समय उस अग्निमें उलूपीसहित मुझको जला देना ही तेरे लिये उचित है ॥ १२० ॥

एकं कष्टतरं कार्यं कृतं दुःखविवर्धनम्।
अर्थिनां सुरवृक्षाख्यं वृषकेतुं घ्नता त्वया ॥१२१॥

'बेटा ! तूने दुःखकी वृद्धि करनेवाला एक महान् कष्टदायक कार्य कर डाला है, जो तूने वृषकेतुका वध कर दिया। अरे ! वह तो याचकोंके लिये कल्पवृक्षके समान था ॥१२१॥

आशा मया कृता पुत्र प्राप्स्येऽहं हस्तिनापुरम्।
तत्र यज्ञक्रियारम्भे पार्थेन सहिता नृपम् ॥१२२॥
कृष्णं च रुक्मिणीं सत्यां द्रौपदीं सात्वतीमपि।
उत्तरां च विशालाक्षीमुषां बाणसुतामपि ॥१२३॥
तन्मातरं स्त्रीयुताहं प्रदास्ये बहुलं धनम्।
विलोक्य निखिलं लोकं हताशाहं त्वया कृता ॥१२४॥

'पुत्र ! मैंने यह सोच रखा था कि मैं अर्जुनके साथ हस्तिनापुरको जाऊँगी और वहाँ यज्ञकार्य आरम्भ होनेपर राजा युधिष्ठिर, श्रीकृष्ण, रुक्मिणी, सत्यभामा, द्रौपदी, सुभद्रा, विशाल नेत्रोंवाली उत्तरा, बाणासुरकुमारी उषा, वृषकेतुकी माता तथा उपस्थित सम्पूर्ण लोगोंका दर्शन करके स्त्रियोंसे घिरी हुई मैं उन्हें बहुत-सा धन भेंट करूँगी; परंतु तूने मेरी आशाओंपर पानी फेर दिया' ॥ १२२–१२४ ॥

बभ्रुवाहन उवाच

ज्ञातो मया पिता मातर्गतोऽहं तस्य संनिधौ।
तुरगं तं पुरस्कृत्य नमस्कर्तुं धनंजयम् ॥१२५॥
मामुवाच परं दुष्टं गदितुं तन्न शक्यते।

तब बभ्रुवाहन बोला—माँ ! पहले जब मुझे यह मालूम हुआ कि ये मेरे पिता हैं, तब मैं घोड़ेको आगे करके इन धनंजयको प्रणाम करनेके लिये इनके संनिकट गया था; परंतु इन्होंने मुझे ऐसा महान् दूषित शब्द कहा, जिसे मैं अपने मुखसे किसी प्रकार नहीं कह सकता ॥ १२५½ ॥

अतः परं न संदेहो भूमौ कीर्तिविवर्जितम् ॥१२६॥
पितृहन्तारमालोक्य जनो मां त्यजतु स्फुटम्।

किंतु इसमें भी संदेह नहीं कि पितृ-हत्यासे बढ़कर कीर्तिका विनाश करनेवाला दूसरा कार्य इस भूतलपर नहीं है। मुझ पितृ-हत्यारेको देखकर लोग प्रकटरूपसे मेरा परित्याग कर देंगे॥

न तीर्थं पावनं कर्तुं पितृघ्नं मां धरातले ॥१२७॥
न दानं न व्रतं यज्ञो नापि ज्ञानं भविष्यति।

इस भूतलपर मुझ पितृघातीको पावन करनेके लिये तीर्थ, दान, व्रत, यज्ञ तथा ज्ञान भी समर्थ नहीं हो सकता ॥१२७½॥

स चक्रपाणिर्मित्रस्य पातनात् पावनस्तथा ॥१२८॥
रोषेण महता युक्तो निरये पातयिष्यति।

हाँ, भगवान् श्रीकृष्ण पतित-पावन हैं, परंतु वे चक्रपाणि अपने मित्रका वध करनेके कारण महान् रोषमें भरकर मुझे नरकमें ढकेल देंगे ॥ १२८½ ॥

सर्वाणि यान्ति कृष्णस्य स्मरणात् पातकानि च ॥१२९॥
न वैष्णवस्य पार्थस्य मया विनिहतस्य च।
कुत्सितं मामकं ज्ञात्वा स्वमित्रस्यातिदुःखितः ॥१३०॥
प्रत्यक्षमपि कृष्णोऽत्र प्राप्तः किल्बिषनाशकृत्।
धनंजयवधस्यांहो नाशयिष्यति केशवः ॥१३१॥

(यह ठीक है कि) भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण करनेसे समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं; परंतु मैंने जो विष्णुस्वरूप श्रीकृष्णके भक्त अर्जुनका वध कर दिया है, मेरा यह पाप कैसे नष्ट होगा ? श्रीकृष्ण तो अपने मित्रके वधरूप मेरे इस निन्दित कर्मको जानकर अत्यन्त दुखी हो गये होंगे। यदि पापापहारी श्रीकृष्ण यहाँ प्रत्यक्षरूपसे आ जाते तो वे केशव अर्जुनके वधजनित मेरे पापका नाश कर देते ॥ १२९–१३१ ॥

तस्माद् वह्निप्रवेशे मे मतिर्जाताद्य शोभना।
एकं हि विस्मृता माता उलूपी पन्नगी पुरा ॥१३२॥
जातमात्रं हि मां दुष्टं पितृघ्नं ज्ञानसंयुता।
ज्ञात्वा प्रसूतिसमये न हतो बालसर्पवत् ॥१३३॥
ततोऽहं नाभवं दुष्टो जननीशोकदायकः।

(परंतु उनका आना असम्भव दीख रहा है,) इसी कारण आज मैंने अग्निमें प्रवेश करनेका शुभ विचार कर

लिया है। मेरी माता नागकन्या उलूपीने पहले ही एक बातकी भूल की। ये तो दिव्य ज्ञानसे सम्पन्न हैं, अतः इन्होंने मेरे जन्म लेते ही यह जान लिया होगा कि यह दुष्ट अपने पिताकी हत्या करनेवाला होगा, यह जानकर भी इन्होंने साँपके कोयेकी भाँति मुझे प्रसूतिकालमें ही मार क्यों नहीं डाला, जिससे आज मैं दुष्ट अपनी माताको शोक प्रदान करनेवाला तो नहीं होता॥ १३२-१३३½ ॥

वैधव्यदानदीक्षायामरिस्त्रीणामहं गुरुः ॥१३४॥
यः पुरा साम्प्रतं जातो मातृवैधव्यदायकः।
वह्निं तस्माद् विशाम्यद्य नान्यथा शुद्धिरस्ति मे १३५

जो मैं पहले शत्रुओंकी स्त्रियोंको वैधव्यदानकी दीक्षा देनेमें गुरुरूपसे विख्यात था, वही मैं आज अपनी माताको वैधव्य प्रदान करनेवाला हो गया। इसलिये अब मैं अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा, अन्यथा मेरी शुद्धि नहीं हो सकती॥

जैमिनिरुवाच

ततः प्रेष्यानुवाचासौ काष्ठानां संचयो महान्।
क्रियतां क्रियतां तूर्णं प्रवेक्ष्ये जातवेदसम्॥१३६॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर बभ्रुवाहनने दूतोंको आज्ञा दी—'दूतो! तुमलोग लकड़ियोंका महान् ढेर इकट्ठा करो, जल्दी करो, अब मैं अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा'॥

चित्राङ्गदोवाच

क्षणं प्रतीक्ष वै पुत्र पितृघातक दुर्मते।
उपायः करणीयोऽत्र यदि जीवेद् धनंजयः॥१३७॥

(यह सुनकर) चित्राङ्गदा बोली—अरे पिताकी हत्या करनेवाला दुर्बुद्धि पुत्र! क्षणभर प्रतीक्षा तो कर। इस विषयमें कोई प्रयत्न करना चाहिये, सम्भवतः अर्जुन जीवित हो जायँ॥ १३७॥

उलूप्युवाच

उपायोऽस्ति मया दृष्टः पार्थसंजीवनाय वै।
पाताले विद्यते पुत्र मृतसंजीवको मणिः॥१३८॥

तब उलूपीने कहा—बेटा! अर्जुनको जीवित कर देनेका एक उपाय तो मेरी समझमें आ गया है। वह यह है कि पाताललोकमें एक ऐसी मणि है, जो मरे हुएको जीवन प्रदान करनेवाली है॥ १३८॥

शेषराजस्य कोशस्थो रक्ष्यते च महाविषैः।
मृतान् मृतान् पन्नगान् हि पुनः संजीवयन्ति ते॥१३९॥

वह मणि नागराज शेषके कोशमें सुरक्षित है। महान् विषैले नाग उसकी रक्षामें नियुक्त हैं। वे उस मणिके द्वारा मरे हुए नागोंको पुनः जीवित कर लेते हैं॥ १३९॥

दृष्ट्या च दाहयन्त्येते पर्वतान् सतृणान् द्रुमान्।
कर्कोटकश्च कुलिको वासुकिस्तक्षकस्तथा॥१४०॥
शङ्खको दीर्घजिह्वश्च मूषकादश्च भासुरः।
फणानां शतसंयुक्ता द्विशतास्त्रिशताः परे॥१४१॥
चतुःशताः पञ्चशताः षट्शताः सुविषोल्बणाः।
केचित् सप्तशताः सर्पाः फणैर्मणिविदीपितैः॥१४२॥
फणैर्नवशता अष्टशता ह्यासन् फणैः स्थिताः।

वे नाग अपनी दृष्टिसे ही घास-फूस तथा वृक्षोंसहित पर्वतोंको जलाकर भस्म कर सकते हैं। उनके नाम हैं—कर्कोटक, कुलिक, वासुकि, तक्षक, शंखक, दीर्घजिह्व, मूषकाद और भासुर। उनमेंसे कोई-कोई सौ फनसे संयुक्त हैं तो दूसरे दो सौ तथा तीन सौ फनवाले हैं। किसीके अत्यन्त भयंकर विषसे संयुक्त चार सौ, किसीके पाँच सौ तथा किसीके छः सौ फन हैं। कुछ सर्प मणियोंद्वारा उद्दीप्त होनेवाले सात सौ फनोंसे संयुक्त हैं। कोई-कोई नाग आठ सौ और कोई नौ सौ फन धारण करके वहाँ स्थित रहते हैं॥ १४०-१४२½ ॥

शेषं च वेत्सि बलिनं धरापर्वतधारिणम्॥१४३॥
शयनं वासुदेवस्य सश्रीकस्य यथासुखम्।
निर्भयं जायते यस्मात् तस्मात् कश्चानयेन्मणिम्॥१४४॥

पर्वतसहित पृथ्वीमण्डलको धारण करनेवाले बलवान् शेषको तो तू जानता ही है। उन शेषनागपर लक्ष्मीसहित वासुदेवस्वरूप भगवान् नारायण निर्भय होकर सुखपूर्वक शयन करते हैं। भला, उन शेषनागसे मणिको छीनकर कौन ला सकता है॥ १४३-१४४॥

दृष्टोऽप्युपायो विफलः पितुस्ते जीवनेऽद्य किम्।
वैधव्यं बाधते पुत्र सह यास्यामि मा चिरम्॥१४५॥

इस प्रकार जाना हुआ भी उपाय निष्फल ही प्रतीत होता है। अब तेरे पिताके जीवनकी क्या आशा है। पुत्र! यह वैधव्य मुझे कष्ट दे रहा है, अतः अब मैं शीघ्र ही इन पतिदेवके साथ परलोकको चली जाऊँगी॥ १४५॥

यावन्न कुन्ती चायाति मां न पश्यति पन्नगीम्।
पतिघ्नीं तावदेवाहं हन्तव्या पुत्रक त्वया॥१४६॥
तथा चित्राङ्गदा चेयं सखी मे जननी च ते।

बेटा ! जबतक कुन्तीदेवी यहाँ आकर मुझ पतिघातिनी नागिनको नहीं देख लेती हैं, उसके पहले ही तू मेरा तथा इस चित्राङ्गदाका, जो मेरी सखी और तेरी माता है, वध कर दे॥

संजीवकं मणिं शम्भुः पन्नगेभ्यो ददौ पुरा ॥१४७॥
भीतेभ्यो वैनतेयाच्च तं मणिं जीवरूपिणम् ।
न ते दास्यन्ति पार्थाय तस्माच्छोचामि पुत्रक ॥१४८॥

प्राचीन कालमें भगवान् शंकरने वह संजीवनी मणि गरुडसे भयभीत हुए नागोंको प्रदान की थी । इस समय वे नाग उस जीवनस्वरूपिणी मणिको अर्जुनके लिये नहीं देंगे । बेटा ! इसीलिये मुझे महान् शोक हो रहा है ॥

बभ्रुवाहन उवाच

के सर्पाः प्राकृता मातः क्रुद्धे मय्यर्जुनान्तके ।
न दास्यन्ति मणिं धैर्यात् स्वबलाद् विषगर्जनात् ॥१४९॥
भिनद्मि सप्त पातालानाहरिष्यामि चामृतम् ।
मणिं च विफणान् कृत्वा पन्नगांस्तान् महाविषान्१५०

तब बभ्रुवाहनने कहा—माँ ! जब मैं अर्जुनका भी काल हूँ, तब मेरे कुपित होनेपर इन साधारण सर्पोंकी क्या गणना है ? फिर भी यदि वे अपने विषैले फूत्कारके बलपर धैर्यपूर्वक डटे रहकर मुझे मणि नहीं देंगे तो मैं सातों पातालोंका भेदन कर डालूँगा और उन महान् विषैले नागोंको फनरहित करके उस मणि तथा अमृतको ले आऊँगा।१४९-१५०।

तोषितः शङ्करो येन वासवाद्यास्तथा सुराः ।
तोषिता अमुना पित्रा स मया युधि घातितः ॥१५१॥
मातामहवधोपाये कीदृशं मे भविष्यति ।

मेरे जिन पिताजीने (युद्धस्थलमें) भगवान् शंकरको तथा इन्द्र आदि देवताओंको संतुष्ट कर दिया था, जब मैंने संग्राममें उन्हें भी मार गिराया, तब मातामह (नाना) का बध करनेमें मुझे कौन-सी हिचक होगी ? ॥ १५१½ ॥

प्रथमं पातयिष्यामि सर्वान् सर्पान् समागतान्॥१५२॥
ततः पार्थेन सहितान् मणिना जीवयापरान् ।
वृषकेतुमुखान् वीरान् क्षणं मातः प्रतीक्षताम्॥ १५३॥

मैं पहले सम्मुख आये हुए समस्त नागोंको मार गिराऊँगा। तत्पश्चात् उस मणिके स्पर्शसे अर्जुनके साथ-साथ वृषकेतु आदि अन्य वीरोंको भी जीवित कर दूँगा । माँ ! तुम क्षणभर और प्रतीक्षा करो ॥ १५२-१५३ ॥

ते सर्पा जीवितयुता गमिष्यन्ति यथासुखम् ।
मया संजीविताः सर्वे गृहीत्वा जीवदं मणिम् ॥१५४॥

फिर मैं उन मरे हुए नागोंको भी जिला दूँगा । तत्पश्चात् वे सभी सर्प जीवनसम्पन्न हो उस जीवनदायिनी मणिको लेकर सुखपूर्वक अपने स्थानको लौट जायँगे ॥ १५४ ॥

पालयाद्यार्जुनं नाथं मम वीरैः समन्विता ।
अद्य पश्यन्तु मे वीर्यं त्रयो लोकाः सदेवताः ॥१५५॥

माँ ! इस समय तुम मेरे वीर सैनिकोंको साथ लेकर अपने प्राणनाथ अर्जुनकी रक्षा करती रहो । आज देवताओंसहित तीनों लोक मेरा पराक्रम देखेंगे ॥ १५५ ॥

उलूप्युवाच

किमिदं भाषसे मूढ पौरुषं मणिसंग्रहे ।
महाविषान् पन्नगेन्द्रान् कथं तानवमन्यसे ॥१५६॥

उलूपी बोली—मूर्ख ! तू मणिके ग्रहणके विषयमें यह क्या अपने पुरुषार्थकी डींग हाँक रहा है ? तू उन महान् विषधर नागराजोंकी अवमानना क्यों कर रहा है ? ॥ १५६ ॥

शेषराट् सुमहाकायो महामायो मनोजवः ।
दुर्बलो बलिना सार्द्धं वैरं कुर्वन्न लज्जसे ॥१५७॥

नागराज शेष अत्यन्त विशाल शरीरवाले हैं । वे बड़ी-बड़ी मायाओंके ज्ञाता हैं । उनका वेग मनके समान है और तू एक दुर्बल प्राणी है । तुझे ऐसे बलवान्के साथ वैर करते लज्जा नहीं आ रही है ? ॥ १५७ ॥

बभ्रुवाहन उवाच

उक्तं वचो नानृतं मे भविष्यति कथंचन ।
हरोऽपि यदि तान् सर्पान् पालयिष्यति रोषितः॥१५८॥
कुबेरवासवयमैः सहितः सन्न मे भयम् ।
चित्रार्पितानिव बलैः करिष्याम्यसुरानहीन् ॥१५९॥
अर्जुनस्य सुतो योऽहं पौत्रः पाण्डोश्च निर्भयः ।

बभ्रुवाहनने कहा—माँ ! मेरी कही हुई बात कभी असत्य नहीं हो सकती । यदि भगवान् शङ्कर भी अत्यन्त रोषमें भरकर कुबेर, इन्द्र और यमराजके साथ आकर उन नागोंकी रक्षा करेंगे तो भी मुझे भय नहीं होगा । मैं अपने बलके भरोसे उन असुररूप नागोंको चित्रलिखितकी तरह निश्चेष्ट कर दूँगा, क्योंकि मैं अर्जुनका पुत्र तथा महाराज पाण्डुका निर्भीक पौत्र हूँ ॥ १५८-१५९½ ॥

उलूप्युवाच

मा पुत्र साहसं कार्षीरुपायं प्रदिशामि ते ॥१६०॥
सखा मे पुण्डरीकोऽत्र मन्त्री मन्त्रविदां वरः ।
पाताले प्रेरयिष्ये तं प्रथमं पितरं प्रति ॥१६१॥
यथा तेषां मनो वीर कृपायुक्तं करिष्यति ।

उलूपी बोली—बेटा ! ऐसा दुःसाहस मत कर। मैं तुझे उपाय बतलाती हूँ। मन्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ मन्त्री पुण्डरीक यहाँ विद्यमान हैं। वे मेरे सखा हैं। मैं उन्हें पहले पाताललोकमें अपने पिताके पास भेजूँगी। वीर ! वहाँ वे ऐसी चेष्टा करेंगे, जिससे उन नागोंका मन दयापरवश हो जायगा ॥ १६०-१६१½ ॥

बुद्ध्या भवेद्धै यत् कार्यं तद् बलेन न जायते ॥१६२॥
बुद्ध्या शमेन चेत् कार्यं प्राणिनामिह जायते ।
पौरुषं क्लेशसंयुक्तं कः कुर्याद् बुद्धिसंयुतः ॥१६३॥

जो कार्य बुद्धिसे जैसा सिद्ध होता है, वह बलसे वैसा नहीं हो सकता । यदि इस लोकमें प्राणियोंका कार्य बुद्धिद्वारा शान्तिपूर्वक हो जाता है तो ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा, जो उसकी सिद्धिके लिये कष्टदायक पुरुषार्थका प्रयोग करेगा ॥ १६२-१६३ ॥

जैमिनिरुवाच

एवं पुत्रं वारयित्वा समाहूयाशु पन्नगम् ।
पुण्डरीकं पाण्डवस्य जीवनार्थं समादिशत् ॥१६४॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार अपने पुत्र बभ्रुवाहनको दुःसाहस करनेसे रोककर उलूपीने शीघ्र ही नागराज पुण्डरीकको बुलाया और अर्जुनको जीवित करनेके उद्देश्यसे वह उन्हें आदेश देते हुए कहने लगी—॥ १६४ ॥

गच्छ पन्नग नागेन्द्रं गृहीत्वा कण्ठभूषणम् ।
मदीये कर्णपत्रे च शेषं गच्छ ममाज्ञया ॥१६५॥

'पन्नगश्रेष्ठ ! तुम मेरी आज्ञासे मेरा यह कण्ठभूषण तथा मेरे ये दोनों कर्णफूल लेकर नागराज शेषके पास चले जाओ और शीघ्र जाओ ॥ १६५ ॥

पार्थस्य कर्णपुत्रस्य वृत्तान्तं पुत्रकारितम् ।
समये वर्तमानाय कथनीयं महात्मने ॥१६६॥
महद्भिरनुयुक्ताय दुष्टसङ्गच्युताय च ।
यथा मणिं तव करे प्रयच्छति तथा कुरु ॥१६७॥
शिवास्ते सन्तु पन्थानो मत्प्रियार्थं हि गच्छतः ।

'वहाँ पहुँचकर जब वे महात्मा नागराज सत्पुरुषोंके साथ बैठे हों और वहाँ कोई दुष्ट प्रकृतिवाला न रहे, उस समय उनसे पुत्र बभ्रुवाहनद्वारा किया गया अर्जुन और वृषकेतु-सम्बन्धी सारा वृत्तान्त कह सुनाना । वहाँ तुम ऐसा प्रयत्न करना, जिससे वे उस संजीवनीमणिको तुम्हारे हाथमें दे दें । जाओ, मेरा प्रिय कार्य सम्पादन करनेके लिये जाते हुए तुम्हारे मार्ग मङ्गलमय हों ॥ १६६-१६७½ ॥

जैमिनिरुवाच

ततः स मन्त्रसहितं वचनं प्राह पन्नगः ॥१६८॥
उलूपीं शोकसंयुक्तां सान्त्वयन्निव भारत ।

जैमिनिजी कहते हैं—भरतवंशी जनमेजय ! तब उस नागराज पुण्डरीकने शोकमग्न हुई उलूपीको सान्त्वना देते हुए-से यों सलाहयुक्त वचन कहा—॥ १६८½ ॥

देवि यामि त्वयाऽऽज्ञप्तः सर्पराजनिवेशनम् ॥१६९॥
दिव्यं मणिं समाहर्तुं सपुत्रा पालयार्जुनम् ।

'देवि ! मैं तुम्हारी आज्ञासे उस दिव्य मणिको लानेके लिये नागराजके निवासस्थानको जाता हूँ, तबतक पुत्रकी सहायतासे तुम अर्जुनकी रक्षा करती रहना ॥ १६९½ ॥

अर्जुनस्य शरीरं हि चिरकालं न तिष्ठति ॥१७०॥
मृतानामिह जन्तूनां गात्रं नश्यति भूतले ।
न शीघ्रं जायते कार्यं नृणां राजसभासु च ॥१७१॥
बहुकार्या हि राजानो न स्मरन्ति हि सौहृदम् ।
दशामि पाण्डवस्याङ्गं मद्विषान्न विनङ्क्ष्यति ॥१७२॥
भवत्या रक्षितव्यं हि रत्यानङ्गस्य रक्षितम् ।

(परंतु यह भी भय है कि) 'अर्जुनका शरीर चिरकाल-तक टिक नहीं सकेगा; क्योंकि पृथ्वीपर मरे हुए प्राणियोंकी देह शीघ्र ही नष्ट हो जाया करती है (और सम्भवतः मेरे लौटनेमें विलम्ब हो; क्योंकि) राजसभाओंमें साधारण लोगों-के कार्य जल्दी हो नहीं पाते, क्योंकि राजाओंके बहुत-से काम रहते हैं, जिससे वे सौहार्दको भूल जाते हैं । इसलिये मैं अर्जुन-के शरीरको डँस लेता हूँ, जिससे मेरे विषके प्रभावसे इनके शरीरका नाश नहीं होगा । तुम्हें इनके शरीरकी उसी तरह रक्षा करनी चाहिये जैसे रतिने अपने पति कामदेवकी देहको बचाया था' ॥ १७०–१७२½ ॥

बभ्रुवाहन उवाच

वृषकेतोः शरीरं त्वं प्रथमं दश पन्नग ॥१७३॥

योधितो यो मया सार्द्धं संग्रामे च निपातितः ।
तथा पार्थसखा चायं प्राप्स्यते जीवितं स्वकम्॥ १७४॥
न जीवितं धारयति मत्पिता चामुना विना ।
वृषकेतुयुतं पार्थं कृत्वा त्वं सततं व्रज ॥१७५॥
शरीरं पाण्डवस्याद्य पालयामि न संशयः ।

तब बभ्रुवाहनने कहा—नागश्रेष्ठ ! जिसने मेरे साथ युद्ध किया है और जिसे मैंने संग्रामभूमिमें मार गिराया है, उस वृषकेतुके शरीरको तुम पहले डँस लो । यह अर्जुनका मित्र है, इसलिये यह जिस प्रकार अपना जीवन प्राप्त कर सके वैसा प्रयत्न करना चाहिये; क्योंकि इसके बिना मेरे पिताजी भी जीवित रहना नहीं चाहेंगे । अतः वृषकेतुसहित अर्जुनके शरीरको डँसकर तत्पश्चात् तुम यात्रा करो । इधर मैं इस समय अर्जुनके शरीरकी रक्षा करता रहूँगा; इसमें संदेह नहीं है ॥ १७३–१७५½ ॥

जैमिनिरुवाच

पुण्डरीकस्तदा तस्य वाक्यात् पार्थं तदादशत्॥ १७६॥
वृषकेतोश्च तरसा नागराजपुरं ययौ ।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तब बभ्रुवाहनके कथनानुसार पुण्डरीकने उस समय अर्जुन और वृषकेतुको डँसकर तत्काल ही नागराज शेषके नगरकी यात्रा कर दी ॥ १७६½ ॥

ददर्श चातलं घोरं महासर्पविभूषितम् ॥१७७॥
सर्वं तत् काञ्चनमयं रम्यं विपुलकाननम् ।
अयुतं योजनानां हि गणितं शास्त्रकोविदैः ॥१७८॥
दिव्याभिर्नागकन्याभिर्वृतं तदतिशोभनम् ।
वितलं च प्रविष्टोऽसौ दिव्यं चम्पकशोभितम्॥ १७९॥

उसने सबसे पहले बड़े-बड़े नागोंसे विभूषित भयंकर अतललोकको देखा । वह सारा-का-सारा लोक स्वर्णमय था । उस रमणीय लोकमें बहुत-से वन थे । शास्त्रज्ञ विद्वानोंने उसे दस हजार योजनके विस्तारवाला बतलाया है । दिव्य नागकन्याओंसे भरा रहनेके कारण वह अत्यन्त मनोहर लगता है । उसे पार करके पुण्डरीकने चम्पाके वृक्षोंसे सुशोभित दिव्य वितललोकमें प्रवेश किया ॥ १७७–१७९ ॥

सुतलं च शमीवृक्षैः काञ्चनैः फलितैः शुभैः ।
महातलं चाम्रवृक्षैर्नानापत्रिविचित्रितैः ॥१८०॥
वृतं मरकतैरन्यैर्दिव्यैश्चन्दनकाननैः ।
रसातलं तथाभूतं वीक्ष्य विस्मयमागमत् ॥१८१॥
दोलारूढाभिरधिकं पन्नगीभिर्विराजितम् ।

तत्पश्चात् सुन्दर फलोंसे लदे हुए स्वर्णमय शमीवृक्षोंसे सुशोभित सुतललोकको और फिर नाना प्रकारके पक्षियोंके बैठनेसे चित्र-विचित्र-से लगते हुए आमके वृक्षोंसे युक्त महातललोकको लाँघता हुआ वह मरकतमणि, चन्दनवन तथा अन्य दिव्य काननोंसे व्याप्त रसातलमें जा पहुँचा । वहाँ नागिनियाँ झूला झूल रही थीं, जिससे वह और भी सुशोभित हो रहा था । उस लोककी वैसी सुन्दरता देखकर पुण्डरीक आश्चर्यचकित हो गया ॥ १८०-१८१½ ॥

पाताले परमं लिङ्गं संवीक्ष्य हाटकेश्वरम् ॥१८२॥
स्थितं भोगवतीतीरे दिव्यचम्पकपूजितम् ।
सर्वैर्मनोरमैस्तत्र नागस्त्रीभिर्निरन्तरम् ॥१८३॥
स्तूयमानं च रम्याभिर्मण्डिताभिः कुचैर्घनैः ।
संतुष्टोऽभून्नमस्कृत्य स्नात्वा भोगवतीजले ॥१८४॥

तदनन्तर पाताललोकमें जाकर पुण्डरीकने भोगवतीके तटपर स्थित हाटकेश्वर नामसे विख्यात भगवान् शंकरके परमोत्तम लिङ्गका दर्शन किया । वहाँ मनोहर अङ्गोंवाले सभी नाग तथा स्थूल एवं कठोर स्तनोंसे सुशोभित सुन्दरी नागपत्नियाँ उन भगवान् हाटकेश्वरका दिव्य चम्पाके पुष्पोंसे पूजन कर निरन्तर उनकी स्तुति कर रही थीं । तब पुण्डरीक भोगवतीके जलमें स्नान करके भगवान् हाटकेश्वरको प्रणामकर परम प्रसन्न हुआ ॥ १८२–१८४ ॥

विमलैः पद्मगन्धैश्च महापातकनाशनैः ।
दिव्यैर्वृक्षैर्लताभिश्च शोभितं चामृतेन च ॥१८५॥
नवकुण्डैः सुधापूर्णैर्महानागैः सुरक्षितम् ।
मन्दिरं शेषराजस्य प्रविवेश महत्तरम् ॥१८६॥
नानाभावैर्विचित्रं हि सर्वतश्च सुशोभनम् ।
नानारत्नमयं दिव्यं नानासद्मविराजितम् ॥१८७॥
मण्डितं शेषराजेन सहस्रफणशोभिना ।

तत्पश्चात् उसने नागराज शेषके विशाल भवनमें प्रवेश किया । शेषनागका वह भवन महान् पातकोंका विनाश करनेवाले, कमलकी-सी सुगन्धसे परिपूर्ण, निर्मल तथा दिव्य वृक्षों और लताओंसे एवं अमृतसे सुशोभित था । उसमें अमृतसे भरे हुए नौ कुण्ड थे, जिनकी रक्षामें बड़े-बड़े नाग नियुक्त थे । वह सब ओरसे नाना प्रकारके भावोंको प्रदर्शित करनेवाले विचित्र दृश्योंसे अत्यन्त सुन्दर लग रहा था । वह दिव्य भवन अनेक प्रकारके रत्नोंसे बना हुआ

था। उसमें बहुत-से कमरे (कक्ष) सुशोभित थे। वह सहस्र फन धारण करनेवाले नागराज शेषसे विभूषित था॥ १८५-१८७½॥

उपविष्टं ददर्शैनं प्रभया परया युतम्॥१८८॥
वृतं कर्कोटकाद्यैस्तैः शेषं तक्षकपन्नगैः।
जपन्तं वासुदेवेति वाङ्मनःकायकर्मभिः॥१८९॥

वहाँ उसने उत्कृष्ट प्रभासे युक्त उन शेषनागको बैठे हुए देखा। उस समय वे मन-वचन-शरीरके कर्मोंद्वारा भगवान् वासुदेवका जप कर रहे थे और उनके चारों ओर कर्कोटक तथा तक्षक आदि श्रेष्ठ नाग बैठे हुए थे १८८-१८९

पुण्डरीकः प्रणम्यैनं कण्ठसूत्रमदर्शयत्।
ताटङ्कपत्रे दुहितुर्नागराजस्य संसदि॥१९०॥
पुरतः स्थित एवास्य प्रत्युवाच धराधरम्।

तब पुण्डरीकने नागराज शेषकी सभामें पहुँचकर उन्हें प्रणाम किया और फिर उनकी पुत्रीके कण्ठसूत्र और दोनों कर्णफूल उन्हें दिखाये। तत्पश्चात् उनके आगे ही खड़ा होकर वह पृथ्वीको धारण करनेवाले उन शेषनागसे कहने लगा॥ १९०½॥

पुण्डरीक उवाच

नाथाहं शरणं प्राप्तो भवन्तं पन्नगेश्वरम्॥१९१॥
उलूप्या प्रेषितः पार्श्वे त्वदीयमिह काम्यया।
दौहित्रेण कृतं कर्म स्वपिता चार्जुनो हतः॥१९२॥
संजीवनार्थं पार्थस्य दीयतां मणिसत्तमः।

पुण्डरीक बोला—नाथ! मैं आप नागराजकी शरणमें आया हूँ। उलूपीने एक कामनावश मुझे यहाँ आपके पास भेजा है। (उसने कहलाया है कि) 'आपके दौहित्र बभ्रुवाहनने ऐसा कुत्सित कर्म कर डाला है कि उसने अपने पिता अर्जुनका ही वध कर दिया है; अतः अर्जुनको जीवित करनेके लिये आप उस उत्तम मणिको दे दीजिये'॥१९१-१९२½॥

शेष उवाच

तस्याः पतिर्महाबाहुः कन्याया मम पाण्डवः॥१९३॥
सव्यसाची कृष्णसूतः संग्रामे हरतोषकः।
हरदत्तवरश्चायमजेयः स सुरासुरैः॥१९४॥
तच्च वाक्यं शङ्करस्य शक्यते न व्यपोहितुम्।
जानामि पौरुषं तस्य वैष्णवस्य धनुष्मतः॥१९५॥
केनासौ पतितः पार्थो मुक्तः किं तेन केशवः।
केशवेन विना तं च कः समर्थः सुरक्षितुम्॥१९६॥

तब शेषनागने पूछा—पुण्डरीक! मेरी कन्याके पति तो महाबाहु अर्जुन हैं। वे बायें हाथसे भी बाण चलानेमें कुशल हैं। श्रीकृष्ण उनके सारथि हैं। उन्होंने संग्राममें भगवान् शंकरको भी संतुष्ट कर दिया था, जिससे प्रसन्न होकर शंकरजीने उन्हें वर प्रदान किया था। उस वरके प्रभावसे वे देवताओं तथा राक्षसोंके लिये अजेय हो गये हैं। भगवान् शंकरके उस वचनको उलट देना असम्भव है। मैं भी विष्णुभक्त धनुर्धारी अर्जुनके बल-पौरुषको जानता हूँ। फिर भी उन अर्जुनको किसने मार दिया! क्या उस समय उन्होंने श्रीकृष्णको छोड़ दिया था? भला, श्रीकृष्णके बिना दूसरा कौन उनकी रक्षा करनेके लिये समर्थ हो सकता है?१९३—१९६

किमर्थं दुहितोलूपी मत्समीपं हितार्थिनी।
त्वां वै सम्प्रेषितवती सर्वं तत् कारणं वद॥१९७॥
परमो विस्मयो मेऽद्य श्रुत्वा पार्थस्य पातनम्।

परोपकारपरायण मेरी पुत्री उलूपीने किसलिये तुम्हें मेरे पास भेजा है? वह सब कारण मुझे बताओ; क्योंकि आज अर्जुनका मारा जाना सुनकर मुझे परम विस्मय हो रहा है॥ १९७½॥

पुण्डरीक उवाच

भीष्मद्रोणप्रभृतयः संग्रामे धर्मसूनुना॥१९८॥
गोत्रजा निहताः सर्वे तेषां दुःखेन दुःखितः।
युधिष्ठिरः क्रतुवरं कर्तुकामो महीतले॥१९९॥
यं हयं मोचयामास तं निजग्राह पाण्डविः।
अर्जुनेनान्वितं तं च बभ्रुवाहो महाबलः॥२००॥

पुण्डरीकने कहा—नागराज! धर्मनन्दन युधिष्ठिरने महाभारत-युद्धमें जिन भीष्म, द्रोण तथा अन्य सभी कुटुम्बी जनोंका वध किया एवं कराया था, उनके दुःखसे दुखी होकर वे भूतलपर यज्ञश्रेष्ठ अश्वमेधका अनुष्ठान करना चाहते हैं। उस यज्ञके निमित्त उन्होंने जिस अश्वको छोड़ा था और जिसकी रक्षामें अर्जुन नियुक्त थे, उस घोड़ेको महाबली अर्जुनकुमार बभ्रुवाहनने पकड़ लिया॥ १९८—२००॥

जातं मणिपुरे युद्धं बभ्रुवाहनपार्थयोः।
पुत्रेण स हतो युद्धे गङ्गाशापेन मोहितः॥२०१॥

तब मणिपुरमें बभ्रुवाहन और अर्जुनका घोर संग्राम हुआ। उस युद्धमें गङ्गाजीके शापसे मोहित हुए अर्जुन अपने पुत्रके हाथों मारे गये॥ २०१॥

विद्यते पाण्डवो भूमौ दुहितुस्ते पतिः प्रियः।
संजीवनाय पार्थस्य संनिधौ ते महामते ॥२०२॥
उलूपी मां निजं दूतं व्यादिशत् परमाशया।
तथा कुरुष्व मां नाग यथा ते वै यशो भवेत् ॥२०३॥

आपकी कन्याके प्रियतम पति वे अर्जुन इस समय पृथ्वी-पर पड़े हुए हैं। महाबुद्धे! उन्हीं अर्जुनको जीवित करनेके लिये उलूपीने आपसे बहुत बड़ी आशा रखकर मुझे अपना दूत बनाकर आपके संनिकट भेजा है। इसलिये नागराज! मेरी इस याचनाको पूर्ण कीजिये, जिससे लोकमें आपका यश हो ॥ २०२-२०३ ॥

धर्मानुजं कृष्णरतं कारयन्तं महाक्रतुम्।
जामातरं निजं युद्धे प्रहतं जीवय प्रभो ॥२०४॥
महतां वैभवं लोके परोपकृतये सदा।
जायते त्वसतां वित्तं परनाशाय केवलम् ॥२०५॥
किं पुनः कृष्णशरणो वैष्णवस्ते सुतापतिः।
महद्भिः पतिताः पाल्याः स्ववृत्तेन धनेन च ॥२०६॥

प्रभो! जो धर्मराज युधिष्ठिरके छोटे भाई और भगवान् श्रीकृष्णके परायण रहनेवाले हैं, जिन्होंने अपने ज्येष्ठ भ्राता-द्वारा महायज्ञ अश्वमेधका अनुष्ठान प्रारम्भ कराया है, युद्धमें मारे गये अपने उन जामाताको आप जीवन-दान दीजिये; क्योंकि संसारमें महत्त्वशाली पुरुषोंका वैभव सदा परोपकारके लिये ही होता है और दुर्जनोंका धन केवल परोपकारके लिये। इसलिये बड़े लोगोंको अपने आचरण और धनसे पतितोंकी रक्षा करनी चाहिये। ऐसी दशामें यदि आप अपनी पुत्रीके पति अर्जुनको, जो एकमात्र श्रीकृष्णकी ही शरण ग्रहण करने-वाले एवं विष्णुभक्त हैं, जीवन-दान दे दें तो फिर क्या कहना है? ॥ २०४-२०६ ॥

जैमिनिरुवाच

एवं शेषस्तदा तेन पुण्डरीकेण याचितः।
प्रत्युवाच महासर्पान् पश्यन्तु विधिकारितम् ॥२०७॥
पाण्डवार्थं प्रदास्यामि मणिं जीवितदायकम्।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! तब उस पुण्डरीक-द्वारा यों याचना किये जानेपर शेषनाग अपने समीपस्थ विशाल-काय सर्पोंसे कहने लगे—'नागो! भाग्यके विधानको तो देखो। मैं उस जीवनदायिनी मणिको अर्जुनके निमित्त अवश्य प्रदान करूँगा ॥ २०७½ ॥

किं वित्तेन शरीरेण किं राज्येनेह पन्नगाः ॥२०८॥
न जीवति पुनः पार्थो विधृतेन मयाखिलाः।
मृतं पार्थं हि सुधया मणिना वाद्य जीवये ॥२०९॥

'पन्नगश्रेष्ठगण! यदि अर्जुन पुनः जीवित नहीं हो जाते हैं तो मेरे इस धन और शरीरको धारण करनेसे क्या लाभ हुआ? अथवा इस पाताललोकके राज्यसे ही क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ? मेरा इन सम्पूर्ण पदार्थोंपर अधिकारी बना रहना व्यर्थ है; अतः आज मैं अमृत अथवा मणिद्वारा मरे हुए अर्जुनको जिलाऊँगा ॥ २०८-२०९ ॥

वैष्णवार्थमदत्तौ द्वावारनालकपर्दकौ।
मया लोभेन विधृतौ भविष्येते सुधामणी ॥२१०॥

'यदि मैं लोभवश अमृत और मणिको अपने पास ही रखे रहूँ और उन्हें विष्णु-भक्त अर्जुनके निमित्त प्रदान न करूँ तो वे काँजी और कौड़ीके समान ही तो होंगे ॥ २१० ॥

शास्तापनयकर्तॄणां विद्यते किल केशवः।
येनायं दण्डितः पार्थो हयमेधप्रकारकः ॥२११॥

'साथ ही (उन्हें न देनेसे अन्याय भी होगा और) अन्याय करनेवालोंका शासन करनेके लिये भगवान् केशव विद्यमान ही हैं, जिन्होंने अश्वमेध यज्ञका प्रारम्भ करानेवाले इन अर्जुनको भी (चित्राङ्गदाको दुर्वचन कहनेके कारण) दण्ड दे ही दिया ॥ २११ ॥

तस्मादयं पुण्डरीको मणिं यातु ममाज्ञया।
गृहीत्वा वैष्णवं पार्थं पुनः संजीवयत्वयम् ॥२१२॥

'इसलिये अब यह पुण्डरीक मेरी आज्ञासे मणि लेकर जाय और यह उस मणिद्वारा विष्णुभक्त अर्जुनको पुनः जीवित कर दे' ॥ २१२ ॥

एवंविधं शेषवचस्ते निशम्य परस्परम्।
दुःखिताः पन्नगाश्चासन्नशुभं मेनिरे हृदि ॥२१३॥

शेषनागकी ऐसी बातोंको सुनकर वे सभी नाग परस्पर परम दुखी हो गये और अपने मनमें इसे अशुभ समझने लगे ॥

तेषां मध्ये महाबुद्धिर्धृतराष्ट्रोऽपि पन्नगः।
प्रत्युवाच धराधारं विस्तरं तु कथानकम् ॥२१४॥

उनमें एक धृतराष्ट्र नामका नाग भी था, जो महाबुद्धि-मान् था। उसने पृथ्वीको धारण करनेवाले शेषनागसे विस्तार-पूर्वक कथानक कहना प्रारम्भ किया ॥ २१४ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

वदान्यानामदेयं हि किंचिन्नास्ति धरातले ।
तथापि नाथ वक्ष्येऽहमात्मनः सदृशं वचः ॥२१५॥

धृतराष्ट्र बोला—नाथ ! उदार दाताओंके लिये इस भूतलपर कुछ भी अदेय नहीं है, तथापि मैं अपनी बुद्धिके अनुरूप कुछ बातें कहना चाहता हूँ ॥ २१५ ॥

मर्त्यलोके कथं राजन् मणिं जीवितदायकम् ।
मानुषस्य मृतस्यार्थे त्वमेनं मोक्तुमर्हसि ॥२१६॥

राजन् ! आप इस जीवनदायिनी मणिको एक मरे हुए मनुष्यके निमित्त मृत्युलोकमें भेजना कैसे उचित समझते हैं ? ॥ २१६ ॥

गुरुघ्नस्य कृतघ्नस्य नौषधिर्न मणिर्नृप ।
न मन्त्रा देवताश्चैव जायन्ते चार्थसाधकाः ॥२१७॥

नागराज ! जो गुरुकी हत्या करनेवाला तथा कृतघ्न होता है, उसके लिये न ओषधि काम करती है और न मणिसे ही लाभ होता है; यहाँतक कि मन्त्र और देवता भी उसका प्रयोजन सिद्ध करनेवाले नहीं होते ॥ २१७ ॥

असत्या मानवा मृत्युं प्राप्य जीवन्ति नैव ते ।
मूलं स्वकं न वृक्षाश्च दर्शयन्ति फलप्रदाः ॥२१८॥
भवान् पन्नगसर्वस्वं मणिं यच्छति जीवदम् ।
सततं वैनतेयेन विग्रहो नाथ विद्यते ॥२१९॥

जो मनुष्य असत्यभाषी होते हैं, वे मृत्युको प्राप्त होकर पुनः जीवित नहीं हो सकते । नाथ ! क्या कहीं फल प्रदान करनेवाले वृक्ष अपनी जड़को भी दिखाते हैं (अर्थात् नहीं); परंतु आप तो नागोंकी सर्वस्वभूत इस जीवन प्रदान करनेवाली मणिको भी दे देना चाहते हैं और इधर हमलोगोंका गरुडके साथ निरन्तर विग्रह लगा ही रहता है ॥ २१८-२१९ ॥

मातङ्गमुनिशापेन पातालं न विशत्यसौ ।
भूतलस्थं मणिं प्राप्य गरुडः किं न नेष्यति ॥२२०॥

माना कि मतंगमुनिके शापके कारण गरुड पाताललोकमें नहीं प्रवेश कर सकते; परंतु भूतलपर उस मणिको पाकर क्या वे उसे उठा नहीं ले जायँगे ? ॥ २२० ॥

कृतघ्ना मानुषाः सर्वे मणिगर्वेण गर्विताः ।
सुधामपि नयिष्यन्ति त्यक्त्वा नो विषजं भयम् २२१

साथ ही समस्त मनुष्य कृतघ्न होते हैं । वे मणि पा जानेसे उसके गर्वसे गर्वीले हो जायँगे और फिर वे हमारे विषजन्य भयकी कुछ भी परवा न करके अमृतको भी उठा ले जायँगे ॥ २२१ ॥

सुधामणिविहीनानां पन्नगानां फणास्थितान् ।
ग्रहीष्यन्ति मणींस्तत्र स्त्रियोऽपि मृगलोचनाः ॥२२२॥

इस प्रकार जब हम पन्नगगण अमृत और मणिसे हीन हो जायँगे, तब मृत्युलोककी मृगनयनी स्त्रियाँ भी हमारे फनोंपर स्थित मणियोंको निकाल लेंगी ॥ २२२ ॥

ततो राजिलतां प्राप्य सर्पाणां जीवितं वृथा ।
स्थानं च सुन्दरं वीक्ष्य कथं हास्यति पाण्डवः ॥२२३॥

तत्पश्चात् जलसर्पकी भाँति निर्विषताको प्राप्त होकर हम नागोंका जीवन ही व्यर्थ हो जायगा । इधर इस सुन्दर पाताललोकको देखकर अर्जुन इसे छोड़ कैसे सकेंगे अर्थात् इसपर अधिकार कर लेंगे ॥ २२३ ॥

निर्विषान् गतसंस्थानान् गतश्रीकान् गृहे गृहे ।
पन्नगान् भ्रामयिष्यन्ति भिक्षुकाः स्वोदरम्भराः २२४

इस प्रकार जिनका विष नष्ट हो गया है और जो स्थान और लक्ष्मीसे भ्रष्ट हो चुके हैं, उन नागोंको पकड़कर अपना पेट पालन करनेवाले भिक्षुक घर-घर घुमाते फिरेंगे ॥ २२४ ॥

हितं यज्जायते कार्यं नृपाणां मन्त्रिभिश्च तत् ।
प्रवक्तव्यं यथाबुद्ध्या नृपाः कुर्वन्तु वा न वा ॥२२५॥

जिस कार्यके करनेसे राजाओंका हित होनेकी सम्भावना हो, मन्त्रियोंको चाहिये कि उस कार्यको वे राजासे अवश्य कह दें । राजालोग उसे करें अथवा न करें (यह तो उनकी इच्छा) ॥ २२५ ॥

जैमिनिरुवाच

शेषस्तद्वचनं श्रुत्वा प्राहैनं धृतराष्ट्रकम् ।
महातापयुतं वाग्मी प्रहसन् धरणीधरः ॥२२६॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तब पृथ्वीको धारण करनेवाले एवं वचन-रचनामें चतुर शेषनाग उसकी बात सुनकर महान् संतापसे पीड़ित उस धृतराष्ट्रसे हँसते हुए बोले ॥२२६॥

शेष उवाच

तव वाक्येन विधृतः कथं संजीवको मणिः ।
न दीयते मया तस्मै पाण्डवाय महात्मने ॥२२७॥

शेषनागने कहा—धृतराष्ट्र ! तुम्हारी बातोंमें आकर मैं यहाँ रखी हुई संजीवनी मणिको उन महामनस्वी पाण्डुपुत्र अर्जुनके लिये कैसे न दूँ ? ॥ २२७ ॥

मूर्खेण सह वासोऽपि देशे ग्रामे पुरे गृहे।
अनर्थ एव सम्भाव्यो व्यवहारं विनैव हि ॥२२८॥

जिस देश, ग्राम, नगर अथवा घरमें किसीको मूर्खके साथ रहनेका अवसर प्राप्त हो जाय, वह यदि वहाँ कोई दुर्व्यवहार न भी करे तो भी उसे अनर्थप्राप्तिकी ही सम्भावना रहती है ॥ २२८ ॥

वरं जलधिपातालज्वलनावटपातनम्।
न विवेकविहीनेन मूर्खेण सह संगतम् ॥२२९॥

इसीलिये समुद्र, पाताल, अग्निकुण्ड अथवा गड्ढेमें गिरकर मर जाना उत्तम है; परंतु विवेकशून्य मूर्खके साथका रहना ठीक नहीं समझा जाता ॥ २२९ ॥

कीर्तिः परा भवित्री मे दत्ते संजीवके मणौ।
नास्माभिश्चेन्मणिर्दत्तः पार्थः किं न स जीवति ॥२३०॥

अरे मूर्ख ! इस संजीवनी मणिके दे देनेसे मुझे उत्तम कीर्तिकी प्राप्ति होगी। मान लो, यदि हमलोग मणि न भी दें तो क्या वे अर्जुन जीवित नहीं होंगे ? ॥ २३० ॥

तत्र कृष्णेन मणिना जीवितं प्राप्स्यतेऽर्जुनः।
नूनं कृष्णमणेर्मूढ प्राप्स्यते सचराचरम् ॥२३१॥
प्राप्नोति जीवसम्भारयुक्ताः स्म चिरजीविनः।

मन्दबुद्धे ! वहाँ श्रीकृष्णरूपी मणिके स्पर्शसे अर्जुनको अवश्य ही जीवनकी प्राप्ति हो जायगी। उस श्रीकृष्ण-मणिके प्रभावसे तो चराचरसहित सम्पूर्ण जगत् जीवन धारण कर सकता है तथा जीवके उम[illegible]से युक्त प्राणी उस मणिके प्रभावसे चिरकालतकका जीवन प्राप्त [illegible]र लेते हैं ॥ २३१½ ॥

वत्सान् हृत्वा पुरा कृष्णात् सगोपान् सत्यलोकधृक् २३२
अनयत् स्वपदं सर्प जिज्ञासुर्मधुसूदनम्।

सर्प ! प्राचीन कालकी बात है, एक बार सत्यलोकको धारण करनेवाले ब्रह्माजीके मनमें मधुसूदन श्रीकृष्णके प्रभावको जाननेकी इच्छा उत्पन्न हो गयी। तब वे श्रीकृष्णके पाससे ग्वालबालोंसहित बछड़ोंको चुराकर अपने लोकमें ले गये ॥

सत्यलोकगता गोपा नापश्यन् गोपबालकम् ॥२३३॥
निनिन्दुस्ते विधातारं जगदुर्बालमध्रुवम्।
धिक् सत्यलोको विफलो यत्र कृष्णो न विद्यते ॥२३४॥

सत्यलोकमें पहुँचनेपर जब उन गोपोंने वहाँ नन्दगोपके पुत्र श्रीकृष्णको नहीं देखा, तब वे विधाताकी निन्दा करते हुए कहने लगे—'यह ब्रह्मा निरा बालक ही है। इसकी बुद्धि बड़ी चञ्चल है। जहाँ श्रीकृष्ण विद्यमान नहीं हैं, ऐसे इस निष्फल सत्यलोकको धिक्कार है ॥ २३३-२३४ ॥

यशोदानन्दनेनाद्य किमर्थं वञ्चिता वयम्।
कमलाद् ब्रह्मणो जन्म श्रुतं तदनृतं ध्रुवम् ॥२३५॥
पङ्कजं हरिनाभौ तज्जातं पातकभस्मजम्।
नो चेत् कृष्णप्रियानस्मान् कुर्यात् कर्मजडान् कथम् २३६

'न जाने आज यशोदानन्दनने हमलोगोंको किस कारणसे ठग लिया है। हमने सुना था कि भगवान्‌के नाभिकमलसे ब्रह्माका जन्म हुआ है सो तो निश्चय ही असत्य प्रतीत हो रहा है अथवा श्रीहरिकी नाभिसे जो कमल निकला था, वह पापकी राखसे उत्पन्न हुआ था; क्योंकि यदि ऐसा न होता तो यह विधाता श्रीकृष्णके प्यारे हम गोपोंको ऐसा कर्मजड क्यों बना देता ?' ॥ २३५-२३६ ॥

तेषां वचनमाकर्ण्य सत्यं मेने तथा विधिः।
नवीना रचिता गोपाः सवत्सा येन विष्णुना ॥२३७॥
सपुत्रास्ताः स्त्रियो गावस्तोषिता बालकेन च।
किं पृथां मृतपुत्रां तां विशोकां न करिष्यति ॥२३८॥

तब उन गोपोंकी वैसी बात सुनकर ब्रह्माने उसे सत्य ही माना था। उस समय भला, जिन विष्णुस्वरूप श्रीकृष्णने अपनी बाल्यावस्थामें ही बछड़ोंसहित उन गोपोंकी नवीन सृष्टि कर डाली थी और उनसे गौओं तथा गोपियोंको पुत्रवती बनाकर उन्हें संतुष्ट कर दिया था, वे ही श्रीकृष्ण क्या जिसका पुत्र (अर्जुन) मर गया है, उस अपनी बुआ कुन्तीके शोकका निवारण नहीं करेंगे ? ॥ २३७-२३८ ॥

तृणं वज्रायते कृष्णाद् वज्रं वा जायते तृणम्।
तस्माद् दास्ये मणिं सर्पा न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥२३९॥

ओ मूढ़ ! श्रीकृष्णकी कृपासे तो एक तिनका भी वज्र-सा हो जाता है और वज्र तिनकेके समान। इसलिये सर्पो ! मैं (अर्जुनके लिये) इस संजीवक मणिको अवश्य दूँगा, इस विषयमें अब मुझे कुछ भी विचार नहीं करना है ॥

परोपकृतये जन्म साधूनामिह जायते।
दधीचिना दर्शितं तद् देवकार्यं प्रकुर्वता ॥२४०॥

इस लोकमें सत्पुरुषोंका जन्म परोपकारके लिये ही होता है, जिसका प्रमाण देवकार्यकी सिद्धिके लिये अपनी अस्थितक प्रदान करनेवाले महर्षि दधीचिने प्रत्यक्षरूपमें दिखा दिया है ॥

धृतराष्ट्र उवाच

तं च कृष्णमणिं प्राप्य यदि जीवेत पाण्डवः ।
वृथा मणिं प्रेरयसे येन जीवामहे वयम् ॥२४१॥

तब धृतराष्ट्रने कहा—नागेन्द्र ! यदि उस श्रीकृष्णरूपी मणिको पाकर अर्जुन जीवित हो सकते हैं तो जिस मणिसे हम नागोंका जीवन सुरक्षित है, उसे आप व्यर्थ ही भेज रहे हैं ॥ २४१ ॥

रोचते पन्नगानां ते विनाशो गरुडाद् यदि ।
प्रदेहि त्वं मणिं नाथ न ब्रूमोऽत्र पुनर्वचः ॥२४२॥

नाथ ! यदि आपको गरुड़द्वारा नागोंका विनाश कराना ही अभीष्ट है तो भले ही उस मणिको दे दीजिये । अब मैं इस विषयमें पुनः कुछ नहीं कहूँगा ॥ २४२ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि बभ्रुवाहनविजयो नामाष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें बभ्रुवाहनकी विजयनामक अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

पुण्डरीकका विफलमनोरथ होकर लौटना और बभ्रुवाहनका पाताललोकपर चढ़ाई, नागोंके साथ घोर संग्राम, नागोंकी पराजय होनेपर शेषनागका मणि तथा अन्य वस्तुओंद्वारा बभ्रुवाहनको शान्त करना, बभ्रुवाहनका मणिपुर लौटना, अर्जुनके मस्तकका धृतराष्ट्रपुत्र दुर्बुद्धिद्वारा चुराया जाना, श्रीकृष्णका भीमसेन, कुन्ती, देवकी और यशोदासहित मणिपुरमें आना और उनके सामने बभ्रुवाहनका विलाप करना

जैमिनिरुवाच

एवंविधं वचः श्रुत्वा पुण्डरीकं फणाभृतम् ।
शेषस्तं प्रत्युवाचाथ न कुलं नः प्रयच्छति ॥ १ ॥
संजीवकमणिं नाग गच्छ त्वं बभ्रुवाहनम् ।
मया प्रोक्तमिदं ब्रूहि मन्यन्ते हि न मे वचः ॥ २ ॥
दुष्टानां प्राणिनां जन्म नोपकाराय जायते ।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर धृतराष्ट्रकी वैसी बात सुनकर नागराज शेषने उस फणाधारी पुण्डरीकसे कहा—'नाग ! तुम बभ्रुवाहनके पास लौट जाओ और उनसे मेरी कही हुई यह बात कहो कि हमारा यह नागकुल उस संजीवक मणिको नहीं देना चाहता । वे समझानेपर भी मेरी बात नहीं मान रहे हैं; क्योंकि दुष्ट प्राणियोंका जन्म परोपकारके लिये नहीं होता ॥ १-२½ ॥

किमर्थं केशवं त्यक्त्वा याचितुं मां वृथाऽऽगतः॥ ३ ॥
प्रार्थयिष्यन्ति मनुजा मत्वा पातालवासिनः ।
वयं स्थिता भयान्नूनं सदा करपदच्युताः ॥ ४ ॥

'तुम किसलिये भगवान् केशवको छोड़कर व्यर्थमें मुझसे याचना करनेके लिये यहाँ आये ? (परंतु तुम्हारा आना भी ठीक ही है; क्योंकि) मनुष्य हमें पातालवासी समझकर याचना करेंगे ही और हमारी यह दशा है कि हम यहाँ हाथ-पैरसे हीन होकर सदा गरुडके भयसे भीत बने पड़े रहते हैं' ॥

ततो जगाम भग्नाशः पुण्डरीको रणाङ्गणे ।
यत्र पार्थः प्रावृतस्तैर्बभ्रुवाहनसैनिकैः ॥ ५ ॥
कर्पूरदीपैः शतशो भासिते वीणकान्विते ।
दीपाश्चन्दनतैलेन केचित् सिक्ताः प्रभान्विताः ॥ ६ ॥

तब पुण्डरीक निराश होकर उस रणाङ्गणको लौट पड़ा, जहाँ वीणकसे युक्त डेरेमें बभ्रुवाहनके सैनिकोंसे घिरे हुए अर्जुन पड़े थे । वह डेरा सैकड़ों जलती हुई कपूरकी डलियोंसे उद्भासित हो रहा था तथा चन्दनके तेलसे भरे हुए कुछ दीपक वहाँ अपनी प्रभा बिखेर रहे थे ॥ ५-६ ॥

यत्रास्ते रुदती सा तु पार्थ पार्थेति भाषिणी ।
उलूपी ह्यपरा राजन् यत्र चित्राङ्गदा च सा ॥ ७ ॥
आशया पुण्डरीकस्य चिन्तयन्ती समागमम् ।
ददर्शाथ ततो नागं विफलं तं समागतम् ॥ ८ ॥

राजन् ! वहाँ उलूपी तथा दूसरी चित्राङ्गदा—ये दोनों 'हा पार्थ ! हा पार्थ !' यों कहकर विलाप करती हुई बैठी

थीं और आशा लगाये हुए पुण्डरीकके आगमनकी चिन्ता कर रही थीं। इतनेमें ही उन्होंने विफलमनोरथ होकर लौटे हुए पुण्डरीक नागको देखा ॥ ७-८ ॥

पुण्डरीक उवाच

न प्रयच्छन्ति मानान्धा मणिं सर्पाः सुरोषिताः।
पावके पुत्रदत्ते तत् प्रविश त्वं यथासुखम् ॥ ९ ॥

पुण्डरीकने कहा—भद्रे! अभिमानसे अंधे हुए वे नाग उस मणिको नहीं देंगे। वे तो मेरी बात सुनकर अत्यन्त रुष्ट हो उठे थे; अतः अब तुम पुत्रद्वारा प्रज्वलित की हुई आगमें सुखपूर्वक प्रवेश कर जाओ ॥ ९ ॥

जैमिनिरुवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा कार्ष्णिः कोपसमन्वितः।
आदिदेश बलं सर्वं स्वयमेव ययौ नृप ॥ १० ॥
रक्षां विधाय पार्थस्य गृहीत्वा स्वशरान् बहून्।
कोपादश्रूणि मुञ्चन् हि श्रोत्राभ्यां पावकार्चिषः ॥ ११ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—महाराज जनमेजय! पुण्डरीकका वह कथन सुनकर अर्जुनकुमार बभ्रुवाहन क्रोधसे भर गया। उसने अपनी सारी सेनाको यात्रा करनेकी आज्ञा दे दी और स्वयं भी अर्जुनकी रक्षाका प्रबन्ध करके अपने बहुत-से बाणोंको लेकर प्रस्थान किया। उस समय क्रोधके कारण उसके नेत्रोंसे आँसू झर रहे थे और कानोंसे अग्निकी ज्वालाएँ निकल रही थीं ॥ १०-११ ॥

क्व शेषो वासुकिः क्वास्ते क्व च ते तक्षकादयः।
कर्कोटशङ्खकुलिका धृतराष्ट्रः क्व पन्नगः ॥ १२ ॥
मणिं तेभ्यो हराम्यद्य सुधामपि धनानि च।

(चलते समय वह कहने लगा—) 'शेषनाग कहाँ हैं? वासुकि कहाँ बैठा हुआ है? वे तक्षक, कर्कोटक, शंख और कुलिक आदि नाग कहाँ चले गये? वह धृतराष्ट्र नामक नाग कहाँ पड़ा हुआ है? आज मैं उनसे मणि, अमृत तथा उनकी धन-सम्पत्ति भी छीन लूँगा ॥ १२½ ॥

पार्थः पिता मे पतितो धर्मराजस्य चानुजः ॥ १३ ॥
कृष्णस्य सेवको भूमौ कथं स्थास्यति मत्पुरः।

'जो भगवान् श्रीकृष्णके सेवक तथा धर्मराज युधिष्ठिरके अनुज हैं, वे मेरे पिता अर्जुन मेरे सामने कैसे पृथ्वीपर पड़े रह जायँगे? ॥ १३½ ॥

अद्य सर्पानसत्तुल्यान् पश्यन्तु मम सैनिकाः ॥ १४ ॥
निर्दग्धवपुषः सर्वे पाण्डवार्थे रसातले।
अद्य भोगवतीतोयं भिन्नं मत्सायकैः क्षितिम् ॥ १५ ॥
प्रयातु पाण्डवस्याङ्गं क्षालयत् परितिष्ठतु।
अद्य सर्पमणीन् सर्वान् स्त्रियो गृह्णन्तु लीलया ॥ १६ ॥

'आज मेरे सैनिक इन सर्पोंको निर्जीव-सा हुआ देखेंगे। आज रसातलमें अर्जुनके निमित्त समस्त नागोंका शरीर भस्म हो जायगा। आज मेरे बाणोंसे छिन्न-भिन्न होकर भोगवतीका जल पृथ्वीपर पहुँच जायगा और वहाँ अर्जुनके अङ्गोंका प्रक्षालन करता हुआ स्थिर होकर रहेगा। आज स्त्रियाँ सर्पोंकी सारी मणियोंको लीलापूर्वक निकाल लेंगी ॥ १४–१६ ॥

अद्य जीवन्तु ते सर्वे मया ये संगरे हताः।
अद्य शेषनिमित्तं चेच्छङ्करः पुरतो भवेत् ॥ १७ ॥
शिरसा स्वेन तं देवं वारयिष्ये न संशयः।
शरैश्चराचरं व्याप्तं पश्यन्तु स्थापितं जनाः ॥ १८ ॥

'आज जिन्हें मैंने संग्रामभूमिमें मार डाला है, वे सभी जीवित हो जायँगे। आज यदि शेषनागके लिये भगवान् शंकर भी मेरा सामना करनेके लिये आ जायँगे तो मैं उन देवाधिदेवको अपने सिरसे प्रणाम करके निस्संदेह रोक दूँगा। आज लोग ब्रह्माद्वारा स्थापित किये हुए इस चराचर जगत्‌को मेरे बाणोंसे व्याप्त हुआ देखेंगे' ॥ १७-१८ ॥

जैमिनिरुवाच

वरदत्तप्रभावेण पातालं निर्ययौ बली।
महासैन्यपरीतोऽसौ पाण्डविर्निर्भयोऽपि सन् ॥ १९ ॥
पातालमुखमासाद्य रचयामास तद् बलम्।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर बलवान् बभ्रुवाहन प्राप्त हुए वरदानके प्रभावसे अपनी विशाल सेनाके साथ पाताललोकमें जा पहुँचा। यद्यपि वह अर्जुनकुमार निर्भीक था, तथापि पातालके प्रवेशद्वारपर पहुँचकर उसने अपनी सेनाकी व्यूह-रचना की ॥ १९½ ॥

विज्ञातः सर्पराजेन क्रुद्धः पार्थसुतो बली ॥ २० ॥
शेषः प्रोवाच तान् सर्वान् स्वभृत्यान् नयवर्जितान्।
धृतराष्ट्रेण मन्देन रोषितो बभ्रुवाहनः ॥ २१ ॥
यथा युद्धे हताः सर्वे सुता विगतबुद्धिना।
नरेण धृतराष्ट्रेण पन्नगेन तथा वयम् ॥ २२ ॥

इधर जब नागराज शेषको यह ज्ञात हुआ कि बलवान् अर्जुनकुमार बभ्रुवाहन क्रुद्ध होकर आ पहुँचा है, तब वे

अपने उन सभी अन्यायी सेवकोंसे कहने लगे—'इस मन्दबुद्धि धृतराष्ट्रने बभ्रुवाहनको रुष्ट कर दिया है। इससे प्रतीत होता है जैसे बुद्धिहीन मानव धृतराष्ट्रके कारण महाभारत-युद्धमें उसके सभी पुत्रोंका संहार हो गया, उसी तरह इस नागरूप-धारी धृतराष्ट्रके कारण हमलोगोंका भी सर्वनाश हो जायगा॥

कः कृष्णभृत्यं संग्रामे विजेष्यति स तिष्ठतु ।
अद्य कालानलज्वालामालाजाले रसातलम् ॥ २३ ॥
भस्मसात् पन्नगान् सर्वान् करिष्यति मतिर्मम ।

'अच्छा तो अब संग्रामभूमिमें इस श्रीकृष्ण-सेवक बभ्रुवाहनको कौन पराजित करेगा, वह खड़ा हो जाय। मेरी बुद्धिमें तो ऐसा आ रहा है कि आज बभ्रुवाहन प्रलयाग्निके ज्वालासमूहोंके समान अपने बाणसमूहोंसे समस्त नागोंसहित रसातलको भस्मीभूत कर देगा ॥ २३½ ॥

धृतराष्ट्रेण वीरोऽसौ योधनीयो महाबलः ॥ २४ ॥
येन यद्वापितं बीजं तत्फलं तेन भुज्यते ।
कर्कोटकस्तक्षकस्तु तथान्ये यान्तु योधितुम् ॥२५॥

'अब धृतराष्ट्रको इस महाबली वीरके साथ युद्ध करनेके लिये जाना चाहिये; क्योंकि जो जैसा बीज बोता है, उसका फल उसीको भोगना उचित है। उसके साथ कर्कोटक, तक्षक तथा दूसरे नाग भी युद्ध करनेके लिये जायँ' ॥ २४-२५ ॥

ततो नृपाज्ञया सैन्यं निर्गतं स्वपुराद् बहिः ।
वमन्तश्च धमन्तश्च विषपूरप्रवर्षिणः ॥ २६ ॥

तदनन्तर राजाकी आज्ञासे नाग-सेना अपने नगरसे बाहर निकली। उस समय विष-प्रवाहकी वर्षा करनेवाले सर्प विष उगलते हुए शब्द करने लगे ॥ २६ ॥

तदा द्विशतशीर्षा ये क्रुद्धास्त्रिशतशीर्षकाः ।
चतुःशतफणाश्चान्ये सैन्येन चतुरङ्गिणा ॥ २७ ॥
निर्ययुस्ते महावीरा दिव्यरूपवपुर्धराः ।
धन्विनो दिव्यकवचा मत्तमातङ्गसंस्थिताः ॥ २८ ॥
हयै रथैस्तथैवान्ये पदाताश्च सहस्रशः ।
हारकुण्डलकेयूरकिरीटघनमौक्तिकैः ॥ २९ ॥
मस्तका भास्वरा येषां मणिरत्नविभूषिताः ।
सुविचित्राः सुवर्णस्य नानालंकारमण्डिताः ॥ ३० ॥
विराजमाना राजेन्द्र पार्थपुत्रमथापतन् ।
योजनानां पञ्चकं हि भूमिं व्याप्य स्थिता रणे ॥ ३१ ॥
तेषां मुखेभ्यो निष्पेतुर्घोरास्ता विषवृष्टयः ।

उनमें जिन नागोंके दो सौ तथा तीन सौ मस्तक थे और जो चार सौ फनवाले थे, वे सभी तथा अन्य नाग भी कुपित होकर चतुरंगिणी सेनाके साथ निकले। दिव्य रूप एवं शरीर धारण करनेवाले वे नाग बड़े वीर थे। दिव्य कवच-से सुशोभित हो धनुष लिये हुए मतवाले गजराजोंपर सवार थे। बहुत-से सर्प हार, कुण्डल, बाजूबंद, मुकुट और बड़े-बड़े मोतियोंसे विभूषित हो घोड़ों और रथोंपर बैठकर तथा दूसरे हजारोंकी संख्यामें पैदल ही चल रहे थे। बहुतोंके मस्तक मणियों और रत्नोंसे विभूषित होनेके कारण चमक रहे थे। कुछ नाग स्वर्णनिर्मित नाना अलंकारोंसे सज-धजकर अत्यन्त सुन्दर लग रहे थे। वे रणक्षेत्रमें पाँच योजनतककी भूमिको घेरकर खड़े थे। राजेन्द्र ! इस प्रकार सुशोभित होते हुए वे नाग अर्जुन-पुत्र बभ्रुवाहनपर टूट पड़े। उस समय उनके मुखोंसे भयंकर विषकी वर्षा होने लगी ॥ २७–३१½ ॥

विस्फुलिङ्गसहस्रैस्तु दह्यमानं तु तद् बलम् ॥ ३२ ॥
निजं वीक्ष्यार्जुनसुतो ररक्षाथ स्वपौरुषात् ।

तब विषाग्निकी सहस्रों चिनगारियोंसे अपनी उस सेनाको जलती देख बभ्रुवाहन अपने पुरुषार्थसे उसकी रक्षा करने लगा ॥ ३२½ ॥

सेने ते सर्पनरयोर्मिलिते तत्क्षणाद् युधि ॥ ३३ ॥
ध्रुवाविव विराजेते रुद्रस्य प्रलयागमे ।

फिर तो तत्काल ही युद्धस्थलमें वे नाग और मनुष्योंकी सेनाएँ परस्पर गुत्थमगुत्थ हो गयीं। उस समय वे सेनाएँ रुद्रके प्रलयकालके अवसरपर टकराते हुए दोनों ध्रुवोंकी भाँति शोभित हो रही थीं ॥ ३३½ ॥

ततः प्रववृते युद्धं सेनयोरुभयोस्तदा ॥ ३४ ॥
बाणखड्गगदापातैर्मुसलैः प्रासकुन्तकैः ।
पातितैः पात्यमानैश्च रणं तद् दारुणं बभौ ॥ ३५ ॥

तत्पश्चात् उन दोनों सेनाओंका भयंकर संग्राम आरम्भ हुआ। उस समय बाण, खड्ग, गदा, मुसल, प्रास और भालोंके प्रहारसे गिरे एवं गिराये जाते हुए वीरोंसे वह रणभूमि अत्यन्त भयंकर दीखने लगी ॥ ३४-३५ ॥

ब्रह्मेन्द्रचन्द्रैः ससुरैर्व्याप्तं खं परिदृश्यते ।
जयं नागपतेः केचित् केचित् कार्ष्णेः शशंसिरे ॥ ३६ ॥

उस समय आकाश देवताओंसहित ब्रह्मा, इन्द्र और चन्द्रमासे भरा हुआ दीख रहा था। उनमें कोई-कोई नाग-

राज शेषकी जय बोल रहे थे तो कोई अर्जुनकुमार बभ्रुवाहनकी ॥ ३६ ॥

युद्धे प्रवर्तमाने तु मानवा विषमोहिताः ।
सर्पैर्दष्टा विनाशं ते जग्मुस्तत्र सहस्रशः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार युद्धके चलते रहनेपर बहुत-से मनुष्य सर्पोंके विषसे मूर्च्छित हो गये तथा जिन्हें वहाँ नागोंने डँस लिया था, वे हजारोंकी संख्यामें मृत्युको प्राप्त हो गये ॥ ३७ ॥

धृतराष्ट्रेण तत् सैन्यं पार्थपुत्रस्य पातितम् ।
शस्त्रास्त्रैर्विविधैर्घोरैः सहस्राण्येकविंशतिः ॥ ३८ ॥

धृतराष्ट्र नामक नागने नाना प्रकारके भयंकर शस्त्रास्त्रोंके प्रहारसे बभ्रुवाहनकी इक्कीस हजार सेनाको मार गिराया ॥

क्रुद्धस्ततो महाबाहुर्बभ्रुवाहोऽपि तादृशम् ।
धृतराष्ट्रं रणे चक्रे विरथं हतवाहनम् ॥ ३९ ॥

तत्पश्चात् महाबाहु बभ्रुवाहनने भी उसी प्रकार रणक्षेत्रमें कुपित होकर धृतराष्ट्रके घोड़ोंको मारकर उसे रथहीन कर दिया ॥ ३९ ॥

सेनामसह्यां तत्राजौ विष्णोरमिततेजसः ।
स्मरणाद् बाणजालेन कार्ष्णिश्चक्रे महाक्षयम् ॥ ४० ॥

फिर अर्जुनकुमारने वहाँ युद्धस्थलमें उस नाग-सेनाको असह्य होती देखकर अमिततेजस्वी भगवान् विष्णुका स्मरण किया और अपने बाणसमूहोंसे उसका महान् संहार आरम्भ किया ॥ ४० ॥

पतन्ति मणयो भिन्नाः शरैः सर्पफणाच्युताः ।
प्रलये गगनाद् भूमौ नक्षत्राणीव भारत ॥ ४१ ॥

भरतवंशी जनमेजय ! जैसे प्रलयके अवसरपर तारे आकाशसे टूटकर पृथ्वीपर गिरने लगते हैं, उसी तरह बाणोंसे विदीर्ण हुए सर्पोंके फनोंसे निकल-निकलकर मणियाँ गिर रही थीं ॥ ४१ ॥

ततः प्ररुद्धो बहुभिः समन्तात् तैर्महाविषैः ।
रराज रौद्ररूपोऽयं पार्वतीशो रणे यथा ॥ ४२ ॥
शुशुभे यमुनावारिगतो नन्दात्मजो यथा ।

तदनन्तर उन बहुसंख्यक महाविषैले नागोंने चारों ओरसे बभ्रुवाहनको घेर लिया । उस समय रणभूमिमें रौद्ररूपधारी बभ्रुवाहन पार्वतीपति भगवान् शंकरकी भाँति शोभित होने लगा तथा यमुनाके कालियदहमें कालियनागद्वारा घिर जानेपर नन्दनन्दन श्रीकृष्णकी जैसी शोभा हुई थी, वही शोभा बभ्रुवाहनकी भी हो रही थी ॥ ४२½ ॥

सैन्यं भस्मनिभं वीक्ष्य जातं सर्वत्र फूत्कृतैः ॥ ४३ ॥
तेषां फणावायुजवैर्बभ्रुवाहोऽपि संदधे ।
मयूरास्त्रं महद् भीमं सर्वनागनिषूदनम् ॥ ४४ ॥

तत्पश्चात् जब बभ्रुवाहनने देखा कि उन नागोंके फनोंसे उत्पन्न हुई वायुके वेगसे संयुक्त उनके फूत्कारोंसे मेरी सेना सर्वत्र जलकर राख-सी हो गयी है, तब उसने भी सम्पूर्ण नागोंका संहार करनेवाले महान् भयंकर मयूरास्त्रका संधान किया॥

मधुवर्षं ततश्चक्रे लिप्ताङ्गाः पवनाशनाः ।
मधुना ते ततो जाता बाणैर्भिन्नकलेवराः ॥ ४५ ॥

फिर वह मधुकी वर्षा करने लगा । तब जिनके शरीर बाणोंसे घायल हो चुके थे, उन पवनाशी नागोंके सारे अङ्ग मधुसे सराबोर हो गये ॥ ४५ ॥

पिपीलिकास्त्रं वीरेण मुक्तं पार्थसुतेन च ।
ताभिर्विलिप्तगात्रास्ते संग्रामं विजहुस्तदा ॥ ४६ ॥

तदनन्तर वीर अर्जुनकुमारने पिपीलिकास्त्रका प्रयोग किया । उस अस्त्रसे निकली हुई चींटियाँ नागोंके शरीरोंमें लिपट गयीं । तब वे नाग युद्ध छोड़कर भाग खड़े हुए ॥ ४६ ॥

धृतराष्ट्रस्य सर्वाङ्गं जातं पलविवर्जितम् ।
भित्त्वास्थीनि पुनर्मज्जां पन्नगस्य पिपीलिकाः ।
अस्थीनि चिञ्चाफलवत् कोटरं हि प्रकुर्वते ॥ ४७ ॥
दष्टस्तथा ह्येव पिपीलिकाभि-
र्यथाभिगन्तुं न शशाक वीरः ।

धृतराष्ट्र नामक नागका सारा शरीर जब मांसहीन हो गया, तब चींटियाँ पुनः उस नागकी हड्डियाँ फोड़कर चर्बी चाटने लगीं । उस समय चींटियोंने उसकी हड्डियोंको इमलीके फलके समान खोखली कर दिया था और उसके शरीरको इस प्रकार काटा था कि वह वीर हिलने-डुलनेमें भी असमर्थ हो गया ॥ ४७½ ॥

बाणैर्मयूरैर्नकुलैश्च घोरैः
पिपीलिकाभिर्मधुना च सर्पाः ॥ ४८ ॥
वित्रास्यमाना रणमण्डले ते
गता निकेतं धरणीधरस्य ॥ ४९ ॥
राजा तान् भिन्नसर्वाङ्गान् प्रत्युवाच हसन्निव ।

तब रणमण्डलमें जो सर्प भयंकर बाणोंसे तथा मयूरास्त्र,

नकुलास्त्र, पिपीलिकास्त्र और मधुसे अत्यन्त उद्विग्न हो गये थे, वे भागकर धरणीधर शेषनागके भवनमें जा पहुँचे। वहाँ उनके सारे अङ्गोंको घायल हुआ देख नागराज शेष उनसे हँसते हुए-से बोले ॥ ४८-४९½ ॥

शेष उवाच

पलायनं कथं तस्मान्मानुषाद् युद्धकोविदैः ॥ ५० ॥
कृतं भवद्भिः सकलैः साधुमन्त्रविशारदैः।
प्रदीयमानो धर्मार्थे वारितो यैर्महामणिः ॥ ५१ ॥

शेषनागने कहा—सर्पो ! धर्म-कार्यके लिये प्रदान करते समय उस संजीवक मणिको जिन्होंने देनेसे रोक दिया था, वे आप सब लोग तो युद्धकलाके विद्वान् और उत्तम सलाह देनेमें चतुर हैं; फिर उस मनुष्यके सामनेसे आपलोग भाग कैसे आये?॥

कथं न तं वारयते मन्त्रीशो हितकोविदः।
ईदृशं तं मणिं कस्मात् परिरक्षति नो सुधाम् ॥ ५२ ॥

अब मन्त्रियोंका सरदार तथा हितकर मन्त्रोंका जानकार धृतराष्ट्र उस मानव वीरको क्यों नहीं रोकता ? तथा वैसे गुणोंसे युक्त उस मणि और अमृतकी रक्षा क्यों नहीं करता?॥

समर्थे च धनं देयं शरीरमपि वल्लभम्।
अदत्तमुभयं शोच्यं श्मशाने स्रगिव स्थिता ॥ ५३ ॥

(उचित तो यह है कि) अपनेसे बढ़कर सामर्थ्यशाली प्राणी याचना करे तो उसे धन तथा अपने प्यारे शरीरको भी दे देना चाहिये; क्योंकि न देनेपर इन दोनोंकी श्मशानमें पड़ी हुई मालाकी भाँति शोचनीय दशा हो जाती है ॥ ५३ ॥

शीघ्रं मणिं चार्पयत तक्षकाद्या महाविषाः।
छत्रं शतशलाकं च कुण्डले च महाधने ॥ ५४ ॥
दिव्यरत्नमयी स्रक् च प्रदेया पार्थसूनवे।

महाविषधर तक्षक आदि नागगण ! तुमलोग शीघ्र ही संजीवक मणि, सौ तीलियोंवाला छत्र और दोनों बहुमूल्य कुण्डल बभ्रुवाहनके अर्पण कर दो तथा वह दिव्य रत्नोंकी बनी हुई माला भी अर्जुनकुमारको दे देनी चाहिये॥ ५४½॥

यावन्न धूमकल्लोलैः पूरितं तेन भूतलम् ॥ ५५ ॥
तावद् गच्छामहे सर्वे यत्रास्ते केशवप्रियः।

जबतक वह वीर उड़ते हुए धुएँकी लहरोंसे इस पाताल-लोककी पृथ्वीको आच्छादित नहीं कर देता है, उसके पूर्व ही हम सबको वहाँ पहुँच जाना चाहिये, जहाँ श्रीकृष्णका प्यारा वह बभ्रुवाहन स्थित है ॥ ५५½ ॥

शोच्येनानेन मणिना किं कार्यं पाण्डवस्य हि ॥ ५६ ॥
भविष्यति समीपस्थे कृष्णे त्रैलोक्यपालके।

जब अर्जुनके समीप त्रिलोकीका पालन करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण उपस्थित होंगे, उस समय इस तुच्छ मणिसे अर्जुनका कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा ?॥ ५६½ ॥

यथा क्षीरार्णवे नीतमजाक्षीरं न गण्यते ॥ ५७ ॥
कामधेनुः सुरतरुः कल्पवल्ली तथा हरौ।

जैसे क्षीरसागरके सामने ले जाये जानेपर बकरीके दूधकी कोई गणना नहीं होती, उसी तरह भगवान् श्रीहरिके समक्ष कामधेनु, कल्पवृक्ष तथा कल्पवल्लीकी क्या महत्ता है ?॥

भवन्तः पन्नगाः सर्वे मानुषेण पराजिताः ॥ ५८ ॥
प्रायश्चित्तं प्रकुर्वन्तु मणिदानप्रभञ्जकाः।

तुमलोगोंने मणिका दान करते समय उसका खण्डन कर दिया था, इसीलिये तुम सभी नागोंको एक मनुष्यने पराजित कर दिया है; अतः अब तुमलोग प्रायश्चित्त करो ॥ ५८½ ॥

मया सह हरिं प्राप्तं पाण्डवार्थे महापुरे ॥ ५९ ॥
पश्यन्तु गरुडारूढमभया मृत्युनाशनम्।

(वह प्रायश्चित्त यह है कि) उस महानगर मणिपुरमें अर्जुनके लिये मृत्युका विनाश करनेवाले भगवान् श्रीहरि गरुडपर सवार होकर पधारे हुए हैं, तुमलोग मेरे साथ निर्भय होकर उनका दर्शन करो ॥ ५९½ ॥

विलोक्यते यदि हरिर्नयनैर्भक्तिसंयुतैः ॥ ६० ॥
जीवैर्न तान् वैनतेयो बाधितुं न क्षमोऽन्तकः।

यदि प्राणी अपने भक्तिपूर्ण नेत्रोंद्वारा भगवान् श्रीहरिका दर्शन कर लें तो उन्हें गरुड अथवा यमराज कोई भी बाधा देनेमें समर्थ नहीं हो सकता ॥ ६०½ ॥

ततः पातालविवरान्निर्गतः पन्नगेश्वरः ॥ ६१ ॥
मणिमादाय रत्नानि विविधानि बहूनि च।
वस्त्रालंकरणाद्यं च वस्तुजातं तथा बहु ॥ ६२ ॥
पार्थपुत्राय तद् दातुमाययौ च स्वयं प्रभुः।

तदनन्तर नागराज शेष संजीवक मणि, नाना प्रकारके बहुसंख्यक रत्न तथा वस्त्र-अलंकार आदि बहुत-सी वस्तुएँ साथ लेकर उस पातालविवरसे बाहर निकले और वह सब अर्जुन-

कुमारको देनेके लिये स्वयं सामर्थ्यशाली शेषजी उसके समीप आये ॥ ६१-६२½ ॥

जैमिनिरुवाच

गृहीत्वा तं मणिं राजा वित्तं च विविधं तदा ॥ ६३ ॥
प्रायान्मणिपुरे रम्ये पार्थपुत्रो मुदान्वितः ।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तब राजा बभ्रुवाहन उस मणि तथा नाना प्रकारके धनको ग्रहण करके आनन्द-पूर्वक रमणीय मणिपुरको चल दिया ॥ ६३½ ॥

धृतराष्ट्रस्ततो दुःखं प्राप्तवान् यादृशं नृप ॥ ६४ ॥
कथयिष्यामि ते वीर सम्यगाकर्णयाधुना ।

नरेश्वर ! उस समय धृतराष्ट्र नागको जैसा दुःख प्राप्त हुआ था, उसका वर्णन मैं अब तुमसे करता हूँ, तुम सावधान होकर सुनो ॥ ६४½ ॥

पुत्राभ्यां सहितो गेहे स्वके मन्त्रमथाकरोत् ॥ ६५ ॥
दुःस्वभावं च दुर्बुद्धिं समाहूयेदमब्रवीत् ।
अनर्थः समुद्भाञ्जातः पुत्रौ प्रज्ञाप्रकारितः ॥ ६६ ॥
पार्थेन जीवितं प्राप्तं तन्न मे सुखदायकम् ।
धर्मानुजश्च भविता विजयी बभ्रुवाहनः ॥ ६७ ॥
भविष्यत्यश्वमेधश्च चिरं वैरा हि पाण्डवाः ।
किमत्रानन्तरं कार्यं ब्रुवतां पुत्रकावुभौ ॥ ६८ ॥
मया निवारितो राजा हितार्थे दीर्घदर्शिना ।

तदनन्तर धृतराष्ट्र अपने घर जाकर पुत्रोंके साथ मन्त्रणा करने लगा । उसने दुःस्वभाव और दुर्बुद्धि नामक पुत्रोंको बुलाकर इस प्रकार कहा—'पुत्रो ! शेषजीकी बुद्धिके कारण बहुत बड़ा अनर्थ होना चाहता है । यदि अर्जुनको जीवन प्राप्त हो गया तो वह मेरे लिये सुखदायक न होगा । धर्मराजके अनुज अर्जुनके जीवित हो जानेपर तो बभ्रुवाहन विजयी हो जायगा और युधिष्ठिरका अश्वमेध यज्ञ भी पूर्ण हो जायगा; परंतु पाण्डवोंका हमारे साथ चिरकालसे वैर बँधा हुआ है । पुत्रो ! अब इसके बाद क्या करना चाहिये, इस विषयमें तुम दोनों अपने विचार प्रकट करो । मुझ दीर्घदर्शीने नागकुलके हितके लिये नागराज शेषको मना किया था (परंतु उन्होंने मेरी बात नहीं मानी) ॥ ६५–६८½ ॥

दुर्बुद्धिरुवाच

शोकं जहि महाबाहो कुतो दुर्बुद्धिना क्रतुः ॥ ६९ ॥
यत्राहं तत्र पुण्यस्य कथा कापि न जायते ।

तब दुर्बुद्धि कहने लगा—महाबाहो ! आप शोकका परित्याग कीजिये । भला, मुझ दुर्बुद्धिके रहते हुए यज्ञ कैसे पूर्ण हो सकता है ? क्योंकि जहाँ मैं पहुँच जाता हूँ, वहाँ तो कभी पुण्यकी चर्चा भी नहीं हो सकती (फिर यज्ञकी तो बात ही क्या है ?) ॥ ६९½ ॥

जनितोऽस्मि त्वया तात दुःस्वभावश्च मेऽनुजः ॥ ७० ॥
आवाभ्यां तात पुत्राभ्यां सहितः शोचसे कथम् ।

पिताजी ! आपने मुझको तथा मेरे छोटे भाई दुःस्वभाव-को पैदा किया है । तात ! फिर हम दोनों पुत्रोंके रहते हुए आप शोक क्यों कर रहे हैं ? ॥ ७०½ ॥

अहं भ्रात्रा युतो येषां गृहे तिष्ठामि वै क्षणम् ॥ ७१ ॥
जयं तत्र न पश्यामि कुतो वै याज्ञिको विधिः ।
शत्रूणां पतनं तेषां नरके न वृषे मतिः ॥ ७२ ॥

मैं अपने भाईके साथ जिनके घरोंमें क्षणमात्र भी ठहर जाता हूँ, वहाँ जय तो दीखती ही नहीं, फिर याज्ञिक विधि कैसे हो सकेगी ? उन शत्रुओंकी बुद्धि तो धर्मकार्यमें लगती ही नहीं, जिससे उनका नरकमें पतन हो जाता है ॥७१-७२॥

त्वं प्रयाहि यतो राजा याति जीवयितुं नरम् ।
अहमग्रे गमिष्यामि हर्तुं पार्थशिरो महत् ॥ ७३ ॥

अतः पिताजी ! आप तो जहाँ राजा शेष उस मनुष्यको जीवित करनेके लिये जा रहे हैं, वहाँ उनके साथ चले जाइये और मैं अर्जुनके उस विशाल सिरका अपहरण करनेके लिये वहाँ पहले ही चलता हूँ ॥ ७३ ॥

पातयिष्ये वने घोरे महागरुडवर्जिते ।
कथं संजीवयिष्यन्ति नीते शिरसि संगरात् ॥ ७४ ॥

मैं उस सिरको लेकर जहाँ गरुडकी पहुँच नहीं हो सकती, ऐसे भयंकर एवं विशाल वनमें डाल दूँगा । जब मैं युद्धस्थल-से अर्जुनके सिरको ही उठा ले जाऊँगा, तब वे उसे कैसे जीवित कर सकेंगे ॥ ७४ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं दुःस्वभावेन संयुतः ।
जगाम च शिरो हर्तुं पार्थस्य हि सकुण्डलम् ॥ ७५ ॥
अनयद् बकदाल्भ्यस्य वने शून्ये स्थितश्च सः ।

इतनी बात कहकर दुर्बुद्धि अपने भाई दुःस्वभावके साथ अर्जुनके कुण्डलमण्डित सिरका अपहरण करनेके लिये चल दिया और उस सिरको चुराकर वह बकदाल्भ्य ऋषिके सुनसान वनमें ले गया और वहीं छिपकर बैठ गया ॥ ७५½ ॥

चित्राङ्गदा तथोलूपी नापश्येतां महच्छिरः ॥ ७६ ॥
प्रोचतुः किमिदं जातं हा हतः पाण्डवो मुहुः ।
केन नीतं शिरो रम्यं सुचारु हरिजल्पकम् ॥ ७७ ॥

इधर जब चित्राङ्गदा और उलूपीने उस विशाल सिरको वहाँ नहीं देखा, तब वे कहने लगीं—'यह क्या हो गया ? श्रीहरिके नामोंका उच्चारण करनेवाले उस परम सुन्दर एवं मनोरम सिरको कौन उठा ले गया ? हाय ! ये पाण्डुनन्दन तो अब पुनः मारे गये' ॥ ७६-७७ ॥

जैमिनिरुवाच

पतिते धर्मपत्न्यौ ते पार्थपादान्तिके तदा ।
ततः कलकलश्चासीद् रणमध्ये विशाम्पते ॥ ७८ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—प्रजानाथ जनमेजय ! तब अर्जुनकी दोनों धर्मपत्नियाँ उनके चरणोंके समीप गिर पड़ीं । उस समय रणभूमिमें महान् कोलाहल होने लगा ॥ ७८ ॥

बभ्रुवाहोऽपि शमितस्तैः सर्वैः सहितो मुदा ।
शेषं पुरस्कृत्य पुरं प्रविवेश महाबलः ॥ ७९ ॥

इसी समय जिसका क्रोध शेषनागद्वारा शान्त कर दिया गया था, उस महाबली बभ्रुवाहनने भी उन सभी नागोंके साथ शेषजीको आगे करके आनन्दपूर्वक अपने नगरमें प्रवेश किया॥

स तु लब्ध्वा मणिं यावत् प्रविश्य रणमण्डलम् ।
तत्र पश्यति तं पार्थं तावच्छुश्राव तं ध्वनिम् ॥८०॥
शिरो नीतं शिरो नीतं केनापि स्वपितुश्छलात् ।

तत्पश्चात् जब वह मणिको लेकर रणमण्डलमें पहुँचा और वहाँ उन अर्जुनको देखनेके लिये गया, तबतक उसे ऐसी ध्वनि सुनायी पड़ी कि 'कोई छलपूर्वक मेरे पिताका सिर उठा ले गया, किसीने मस्तक चुरा लिया' ॥ ८०½ ॥

पतिते मातरौ वीक्ष्य पार्थगात्रं विशीर्षकम् ॥८१॥
निपपात धरायां तु मृतकल्पो महीपते ।

पृथ्वीनाथ ! वहाँ अपनी माताओंको भूमिपर पड़ी हुई तथा अर्जुनके शरीरको मस्तकहीन देखकर बभ्रुवाहन मृतक-तुल्य हो पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ८१½ ॥

यस्मिन् काले किरीटी हि पतितो रणमण्डले ॥ ८२ ॥
तस्मिन् दिने निशामध्ये स्वप्नं कुन्ती ददर्श ह ।

इधर जिस समय दिव्य किरीटधारी अर्जुन रणभूमिमें गिरे थे, उसी दिन रातके समय कुन्तीने एक स्वप्न देखा ॥८२½॥

पार्थाय धर्मराजाय सकृष्णाय च सत्वरा ॥८३॥
प्रबुद्धा कथयामास स्वप्नं रात्रौ समीक्षितम् ।

तब तुरंत ही उनकी निद्रा भङ्ग हो गयी और वे श्रीकृष्ण-के साथ बैठे हुए अपने पुत्र धर्मराज युधिष्ठिरसे रातमें देखे हुए उस स्वप्नका वर्णन करती हुई कहने लगीं—॥ ८३½ ॥

मया धनंजयो दृष्टस्तैलवाप्यन्तरे गतः ॥ ८४ ॥
दासेरकं समारूढो गतोऽसौ दक्षिणां दिशम् ।
गोमयेनानुलिप्ताङ्गो जपाकुसुममण्डितः ॥ ८५ ॥

'बेटा ! मैंने स्वप्नमें देखा है कि अर्जुनके शरीरपर गोमयका अनुलेप लगा हुआ था, फिर उसने तेलकी बावलीमें स्नान किया, तत्पश्चात् जपाके पुष्पोंसे विभूषित हो ऊँटपर चढ़कर वह दक्षिण दिशाकी ओर चला गया ॥ ८४-८५ ॥

नूनं न विद्यते पार्थो वेद्मि कृष्ण सखा तव ।
हृदयं भिद्यते मेऽद्य सुभद्राकङ्कणं गतम् ॥ ८६ ॥

'श्रीकृष्ण ! इस दुःस्वप्नके देखनेसे तो मैं ऐसा समझती हूँ कि निश्चय ही तुम्हारा मित्र अर्जुन अब इस संसारमें नहीं है । हाय ! आज सुभद्राका कंकण छिन गया, यह सोचकर मेरा हृदय फटा जाता है' ॥ ८६ ॥

कृष्णस्तस्या वचः श्रुत्वा सस्मार गरुडं प्रभुः ।
आजगामाथ गरुडस्तमारूढो जगत्पतिः ॥ ८७ ॥
कुन्तीं च मातरं भीमं देवकीं गोपकन्यकाम् ।
समारोप्य ययौ तत्र यत्रास्ते पतितोऽर्जुनः ॥ ८८ ॥
अयुतस्तम्भसंयुक्ते वीणके स्त्रीभिरन्विते ।

कुन्तीकी बात सुनकर सामर्थ्यशाली भगवान् श्रीकृष्णने गरुडका स्मरण किया । उनके स्मरण करते ही गरुड वहाँ आ पहुँचे । तब जगदीश्वर श्रीकृष्ण गरुडपर सवार हो गये और फिर भीमसेन, कुन्ती, माता देवकी और गोपकुमारी यशोदाको चढ़ाकर वे उस स्थानके लिये चल दिये, जहाँ दस हजार खम्भोंवाले वीणकनामक खेमेमें स्त्रियोंसे घिरे हुए अर्जुन पड़े हुए थे ॥ ८७-८८½ ॥

ददर्श च रणं घोरं बभ्रुवाहेन कारितम् ॥ ८९ ॥
रात्रौ रत्नप्रदीपैश्च भासितं हेमकुण्डलैः ।
बाहुभिश्चन्दनादिग्धैः किरीटैः कटकैर्वृतम् ॥ ९० ॥

वहाँ पहुँचकर उन्होंने बभ्रुवाहनद्वारा कराये गये उस भयंकर युद्धस्थलको देखा । वह रणभूमि कटकर गिरी हुई चन्दनचर्चित भुजाओं, किरीटों और बाजूबंदोंसे आच्छादित

हो गयी थी तथा रातके समय वह मशालों और स्वर्णनिर्मित कुण्डलोंसे उद्भासित हो रही थी ॥ ८९-९० ॥

नारीणां च सहस्रैस्तं पार्थं वीक्ष्यामृतं हरिः ।
नारीवदनचन्द्रैश्च पार्थस्य मुखपङ्कजम् ॥ ९१ ॥
विम्लानतामिदं नीतं क्वापि क्वापीत्यवोचत ।

जब श्रीकृष्णने अर्जुनको सहस्रों नारियोंसे घिरा देखा, तब वे उन्हें जीवित समझकर कहने लगे—'भीमसेन ! अर्जुनके इस मुखकमलको स्त्रियोंके मुखरूपी चन्द्रमाओंने कहीं-कहीं अत्यन्त म्लान कर दिया है' ॥ ९१½ ॥

भीमः कृष्णं प्रत्युवाच कृष्णसूर्योदयेऽधुना ॥ ९२ ॥
प्रकाशितं मुखाम्भोजं भ्रातुर्मे सम्भविष्यति ।

तब भीमसेनने श्रीकृष्णसे कहा—'भगवन् ! अब श्रीकृष्ण-रूपी सूर्यके उदय होनेपर मेरे भाई अर्जुनका मुख-कमल पुनः प्रफुल्लित हो जायगा' ॥ ९२½ ॥

जैमिनिरुवाच

ततः समुत्तीर्य खगाद् वासुदेवो महायशाः ॥ ९३ ॥
भीमेन सह ताभिश्च पार्थं वीक्ष्याब्रवीद् वचः ।
किं जातं केन वीरेण पातितोऽसि धनंजय ॥ ९४ ॥
इयं च देवकी माता यशोदा जननी च मे ।
कुन्ती पितृष्वसा भीमो रणे त्वां वीक्षते मुहुः ॥ ९५ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर महा-यशस्वी वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण भीमसेन और उन स्त्रियोंसहित गरुडकी पीठसे उतर पड़े और अर्जुनको देखकर कहने लगे—'धनंजय ! यह क्या हो गया ? किस वीरने तुम्हें मार गिराया है ? ये मेरी जननी देवकी, माता यशोदा, बुआ कुन्ती और भीमसेन रणभूमिमें बारंबार तुम्हारी ओर देख रहे हैं' ॥ ९३–९५ ॥

तं तथावादिनं कृष्णं भीमो वचनमब्रवीत् ।
त्वमेव यदि गोविन्द पतितं परिपृच्छसि ॥ ९६ ॥
किमन्धकारजनितं भयं वेत्ति दिवाकरः ।

इस प्रकार कहते हुए उन श्रीकृष्णसे भीमसेनने कहा—'गोविन्द ! यदि आप ही इन पड़े हुए अर्जुनसे यों पूछ रहे हैं तो क्या अन्धकारजनित भयको सूर्यदेव जानते हैं ? अर्थात् जैसे सूर्यके सामने अन्धकारकी कोई बिसात नहीं है, उसी तरह आपका यह पूछना निर्मूल है ॥ ९६½ ॥

स को मदीयं संग्रामे गृहीत्वात्र तुरङ्गमम् ॥ ९७ ॥
पातयित्वा गतः कोऽपि मां हि जानातु संगतम् ।

'अच्छा तो वह कौन वीर है, जो मेरे घोड़ेको पकड़कर यहाँ संग्रामभूमिमें अर्जुनको धराशायी करके चला गया है ? वह कोई भी हो, अब उसे समझ लेना चाहिये कि मैं यहाँ आ पहुँचा हूँ' ॥ ९७½ ॥

कोऽसौ पार्थसमो वीरः पतितोऽर्जुनसंनिधौ ॥ ९८ ॥
एतं द्वितीयं जानामि कर्णपुत्रं च पातितम् ।

(फिर वृषकेतुकी ओर देखकर कहने लगे—) 'यह अर्जुन-के संनिकट पड़ा हुआ अर्जुनके समान ही दूसरा वीर कौन है ? मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि यह दूसरा गिराया हुआ वीर कर्णकुमार वृषकेतु है' ॥ ९८½ ॥

एवमुक्त्वा तत्र गत्वा भीमसेनोऽतिविह्वलः ॥ ९९ ॥
विललाप महाबाहुरर्जुनेति मुहुर्मुहुः ।

यों कहकर महाबाहु भीमसेन अर्जुनके समीप गये और अत्यन्त विह्वल होकर बारंबार 'हा अर्जुन ! हा अर्जुन !' कहते हुए विलाप करने लगे ॥ ९९½ ॥

जैमिनिरुवाच

ततः प्रबुद्धो वीरोऽसौ बभ्रुवाहो महाबलः ॥१००॥
जनन्यौ तस्य ते बुद्धे ददृशाते जनार्दनम् ।
कुन्तीं यशोदासंयुक्तां देवकीं च वृकोदरम् ॥१०१॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! इसी बीच महाबली वीर बभ्रुवाहनकी मूर्च्छा भंग हो गयी और उसकी दोनों माताओंने भी सचेत होकर वहाँ आये हुए श्रीकृष्ण, कुन्ती, यशोदा, देवकी और भीमसेनको देखा ॥ १००-१०१ ॥

प्रद्युम्नेनानिरुद्धेन युयुधानेन चान्वितम् ।
ज्ञात्वार्जुनसुतो भीमं प्रत्युवाचातिदुःखितः ॥१०२॥

तत्पश्चात् अर्जुनकुमार बभ्रुवाहन भीमसेनको प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और सात्यकिसे मिलते देख अनुमानतः उन्हें भीम-सेन समझकर अत्यन्त दुखी हो उनसे कहने लगा—॥ १०२ ॥

मया पुत्रेण जनको निहतो भीम पापिना ।
सैन्यं च पातितं कर्णपुत्रश्च निहतो रणे ॥१०३॥

'भीमसेन ! मुझ पापात्मा पुत्रने रणभूमिमें अपने पिता अर्जुनका वध कर दिया है, उनकी सेनाको मार गिराया है और वृषकेतुको भी मार डाला है ॥ १०३ ॥

एवंविधं सागसं मां गदया परिपोथय ।
स्वजीवितविनाशार्थं कृतो नामैष विग्रहः ॥१०४॥

'मैं ऐसा अपराधी हूँ, अतः आप अपनी गदासे मुझे मार डालिये। मैंने अपने विनाशके लिये ही यह वैर ठाना था ॥ १०४ ॥

शेषमुख्याश्च सम्प्राप्ता गृहीत्वा जीवदं मणिम्।
मध्ये केनापि दुष्टेन शिरो नीतं पितुश्च मे ॥१०५॥

'(पिताजीको जीवित करनेके लिये) शेष आदि प्रमुख नाग जीवनदायिनी मणि लेकर आये हुए हैं, परंतु इसी बीच कोई दुष्ट मेरे पिताका सिर ही उठा ले गया' ॥ १०५ ॥

नमस्करोमि गोविन्द चरणौ ते कृपां कुरु।
सुदर्शनेन चक्रेण शिरो मे छिन्धि मा चिरम् ॥१०६॥
यथा पुरा राहुकण्ठो मधुसूदन पातितः।

(फिर भगवान् श्रीकृष्णकी ओर देखकर बोला—) 'गोविन्द ! मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ। आप मुझपर कृपा कीजिये। मधुसूदन ! जैसे पहले आपने राहुका मस्तक काट गिराया था, उसी तरह आज सुदर्शन चक्रसे मेरे सिरको काट डालिये। अब विलम्ब मत कीजिये ॥ १०६½ ॥

यस्मिन् काले न जननी न पिता न च बान्धवाः ॥१०७॥
जनस्तिष्ठति तत्र त्वं सर्वदा परिरक्षसि।

'भगवन् ! जिस समय माता, पिता, भाई-बन्धु अथवा अन्य कुटुम्बीजन कोई भी सहायताके लिये नहीं ठहरता, उस समय आप सर्वदा उस भक्तकी रक्षा करते हैं ॥ १०७½॥

पितृहन्ता गमिष्यामि देवाहं नरकार्णवान् ॥१०८॥
न पीडयिष्यति च मां दृष्टस्त्वमसि चक्षुषा।

'देव ! मैं तो पिताका हत्यारा हूँ, अतः मुझे नरक-समुद्रोंमें गिरना पड़ेगा; परंतु अब यमराज मुझे पीडा न दे सकेंगे, क्योंकि मैंने अपने इन नेत्रोंसे आपका दर्शन कर लिया है ॥ १०८½ ॥

तवागमेन मृत्युर्मे भाव्यश्च नरको हतः ॥१०९॥
मृत्युः प्रियो मे परमो जीवितं दुःखदं महत्।
तव वैष्णवसर्वस्वं मया चोरेण मोषितम् ॥११०॥

'भगवन् ! आपका शुभागमन होनेपर तो अब मेरी मृत्युकी भी सम्भावना नहीं है और नरक तो मेरे लिये समाप्त ही हो गये; परंतु मुझे तो इस समय मृत्यु ही परम प्यारी लग रही है। यह जीवन तो महान् दुःखदायी प्रतीत हो रहा है; क्योंकि मुझ चोरने आपके भक्त अर्जुनको, जो वैष्णवोंके सर्वस्व थे, चुरा लिया है॥ १०९-११० ॥

ईश्वराज्ञा लङ्घिता हि त्रिशूले शाङ्करे क्षिप।
अथवाद्य जगन्नाथ छिन्धि चक्रेण मे शिरः ॥१११॥

'जगदीश्वर ! मैंने आप-जैसे सामर्थ्यशाली पुरुषकी आज्ञाका उल्लङ्घन किया है, अतएव अब मुझे या तो भगवान् शंकरके त्रिशूलपर फेंक दीजिये अथवा सुदर्शनचक्रसे मेरा सिर काट लीजिये ॥ १११ ॥

पितामहीं न पश्यामि जनन्या न नमस्कृता।
अब्रुवाणा कथं कुन्ती नाशीर्वादं प्रयच्छति ॥११२॥

'हाय ! मैं अपनी दादीको नहीं देख रहा हूँ। मेरी माताने उन्हें प्रणाम भी नहीं किया, जिससे वे मौन हैं। दादी कुन्ती आशीर्वाद क्यों नहीं दे रही हैं ?' ॥ ११२ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि कृष्णागमो नामैकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें श्रीकृष्णका आगमननामक उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशोऽध्यायः

शेषनागकी अर्जुनको जीवित करनेके लिये श्रीकृष्णको प्रेरणा, श्रीकृष्णकी प्रतिज्ञासे धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्बुद्धि और दुःस्वभावकी मृत्यु, अर्जुनके सिरका रणभूमिमें वापस आना, श्रीकृष्णका मणिस्पर्शसे वृषकेतु और अर्जुनको जीवित करना, सबका मणिपुरमें प्रवेश और स्वागत, श्रीकृष्णका पाँच रातके बाद धन-सम्पत्ति तथा स्त्रियों-सहित भीमसेनको हस्तिनापुर भेजना

जनमेजय उवाच

कथं धनंजयो वीरो जीवितस्तत्र सुव्रत।
मणिस्पर्शेन कृष्णेन जीवितं तस्य तद् वद ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले जैमिनिजी ! वहाँ मणिपुरमें भगवान् श्रीकृष्णने मणिके स्पर्शद्वारा वीरवर अर्जुनको कैसे जीवित किया था ? अर्जुनके जीवन-सम्बन्धी उस वृत्तान्तका वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

जैमिनिरुवाच

ततः कुन्तीं प्रत्युवाच नागराजस्य कन्यका।
नमस्कृतासि देवि त्वं सर्पिण्या विषदंष्ट्रया॥ २॥
संलग्नया पार्थकरे भवती गोमती नु किम्।
तया स पन्नगस्त्यक्तः पुत्रहन्ता यथा पुरा॥ ३॥
तथाहं साम्प्रतं त्यक्ता त्वया वै राजकन्यया।
शापदण्डेन लपनं मदीयं परिपोथय॥ ४॥

जैमिनिजीने कहा—जनमेजय! तदनन्तर नागराज शेषकी पुत्री उलूपीने कुन्तीसे कहा—'देवि! जिसके दाढ़ोंमें विष भरा हुआ है और जो अर्जुनके साथ पाणिग्रहण कर चुकी है, ऐसी यह नागिन आपको प्रणाम कर रही है। (परंतु आप मौन क्यों हैं?) क्या आप गोमती नहीं हैं? प्राचीन कालमें जैसे गोमतीने अपने पुत्रकी हत्या करनेवाले सर्पको त्याग दिया था, उसी तरह आप राजकुमारीने इस समय मेरा परित्याग तो नहीं कर दिया है? (यदि ऐसी ही बात हो तो) शापरूपी दण्डसे आप मेरे मुखको कुचल दीजिये'॥ २–४॥

जैमिनिरुवाच

ततः प्ररुरुदुः सर्वाः सह कुन्त्या महास्वनम्।
हा पाण्डवेति पतिताः सर्वेषां पश्यतामपि॥ ५॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! तत्पश्चात् कुन्ती-सहित सभी स्त्रियाँ फूट-फूटकर रोने लगीं और सबके देखते-देखते 'हा अर्जुन!' कहकर पृथ्वीपर गिर पड़ीं॥ ५॥

अथ शेषः प्रत्युवाच नमस्कृत्य जनार्दनम्।
हृषीकेश जगन्नाथ किमिदं वीक्ष्यते त्वया॥ ६॥
धर्मराजस्य निखिलं कुलं मग्नं रसातले।
तदुद्धर कृपासिन्धो मणिनानेन मा चिरम्॥ ७॥
यतः पाषाणजातीयो मज्जयेन्नैव तारयेत्।
सुधापि सुलभा चेयं जनार्दन तवेच्छया॥ ८॥

तदनन्तर शेषनागने जनार्दनको प्रणाम करके उनसे कहना आरम्भ किया—'हृषीकेश! आप यह क्या तमाशा देख रहे हैं? जगदीश्वर! धर्मराज युधिष्ठिरका सारा कुल रसातलमें डूब गया है। कृपासिन्धो! इस मणिद्वारा उसका उद्धार कीजिये, अब देर मत लगाइये; क्योंकि आपकी कृपासे पत्थर भी डूबता नहीं, बल्कि तार देता है। जनार्दन! आपकी इच्छासे यहाँ यह अमृत भी तो सुलभ है॥ ६–८॥

मग्नं कुलं मज्जयसे पाण्डवस्य महात्मनः।
रोदनेन जनानां हि न पश्यामो वयं शिरः॥ ९॥
क्व गतं केन नीतं वा पार्थस्य धरणीतलात्।
यदत्रानन्तरं कार्यं विष्णुना क्रियतामिह॥ १०॥

'आप तो (निश्चिन्त बैठकर) महामनस्वी युधिष्ठिरके डूबे हुए कुलको और अधिक डुबा रहे हैं। इन लोगोंके रोने-चिल्लानेसे हमलोगोंको वह सिर थोड़े ही देखनेको मिलेगा? अर्जुनका सिर कहाँ चला गया? पृथ्वीपरसे कौन उठा ले गया?—इस विषयमें अब आगे जो कर्तव्य हो, उसे आप सर्व-व्यापी श्रीहरिको करना चाहिये'॥ ९-१०॥

श्रीवासुदेव उवाच

शृण्वन्तु सर्वे वचनं मदीयं मन्त्रसंयुतम्।
यद्यहं ब्रह्मचर्येण न भग्नो भूतले सदा॥ ११॥
तेन मे सुकृतेनाद्य पार्थस्यायातु तच्छिरः।
यैर्नीतं ते पतन्त्वद्य भिन्नशीर्षा ममाज्ञया॥ १२॥

तब श्रीवासुदेवने कहा—मेरे मन्त्रयुक्त इस वचनको सभी लोग सुन लें—'यदि भूतलपर मेरा ब्रह्मचर्यव्रत सदा अखण्ड बना रहा हो तो मेरे उस पुण्यके प्रभावसे अर्जुनका वह सिर अभी यहाँ आ जाय और जिन्होंने उसका अपहरण किया है, मेरी आज्ञासे आज उनके मस्तक फट जायँ और वे मृत्युको प्राप्त हो जायँ'॥ ११-१२॥

जैमिनिरुवाच

एवं ब्रुवति देवेशे विनष्टौ धृतराष्ट्रजौ।
पाण्डवस्य शिरः प्राप्तं तदा मणिपुरे नृप॥ १३॥

जैमिनिजी कहते हैं—नरेश्वर जनमेजय! देवेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके यों कहते ही धृतराष्ट्र नागके दोनों पुत्र (दुर्बुद्धि और दुःस्वभाव) विनष्ट हो गये और अर्जुनका सिर उसी समय मणिपुरमें आ पहुँचा॥ १३॥

गृहीत्वा केशवो दिव्यं मणिं शेषात् स्वयं प्रभुः।
प्रत्युवाच हरस्याज्ञा न हन्तव्या हि मादृशैः॥ १४॥

तब स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने शेषनागके हाथसे उस दिव्य मणिको लेकर इस प्रकार कहा—'मुझ-जैसे लोगोंको भगवान् शंकरकी आज्ञाका हनन नहीं करना चाहिये॥ १४॥

पार्थः शम्भुप्रसादेन मणिना जीवितं पुनः।
प्राप्नोतु यत्तास्तिष्ठन्तु योजयेऽस्य मणिं हृदि॥ १५॥

'अतः भगवान् शम्भुकी कृपासे मणिके स्पर्शद्वारा अर्जुन पुनः अपने जीवनको प्राप्त हो जायँ । आपलोग सावधान होकर खड़े हो जायँ, अब मैं अर्जुनके हृदयपर उस मणिको रखना चाहता हूँ ॥ १५ ॥

प्रथमं कर्णपुत्रस्य पश्चात् पार्थस्य धन्विनः ।
उत्तिष्ठ कर्णपुत्राद्य मणिस्ते हृदये धृतः ॥ १६ ॥

'परंतु पहले वृषकेतुके हृदयपर रखूँगा, तत्पश्चात् धनुर्धर वीर अर्जुनके हृदयसे स्पर्श कराऊँगा ।' (यों कहकर उन्होंने वृषकेतुसे कहा—) 'कर्णपुत्र ! मैंने तेरे हृदयपर मणि रख दी है, अब उठ खड़ा हो जा' ॥ १६ ॥

जैमिनिरुवाच

धृते मणौ कर्णपुत्रस्य शीर्षं
बाणैर्भिन्नं बभ्रुवाहस्य युद्धे ।
तथा लग्नं चायसं चुम्बकेन
यथा पुरा घनघातैर्विशीर्णम् ॥ १७ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! मणिके रखते ही बभ्रुवाहनके साथ होनेवाले युद्धमें बाणोंद्वारा कटा हुआ वृषकेतुका सिर उसके धड़से उसी प्रकार चिपक गया, जैसे पहले घनके आघातसे विशीर्ण हुआ लोहा चुम्बकसे चिपक जाता है ॥ १७ ॥

समुत्थितः कर्णपुत्रो मनीषी
बाणान् पुनः संदधानो हि चापे ।
कृष्ण कृष्ण केशवेति ब्रुवाणं
रणे पुनस्तिष्ठ तिष्ठेति वीरम् ॥ १८ ॥
चुचुम्ब तं केशवोऽतिप्रहर्षा-
न्नमस्कृतः कर्णपुत्रेण कृष्णः ।

तब बुद्धिमान् वृषकेतु उठ खड़ा हुआ और 'कृष्ण ! कृष्ण ! केशव !' इस प्रकार भगवन्नामोंका उच्चारण करने लगा । तत्पश्चात् अपने धनुषपर बाणोंका संधान करते हुए 'खड़ा रह, युद्धस्थलमें खड़ा रह' यों ललकारने लगा । यह देखकर भगवान् केशव हर्षातिरेकसे उस वीरका चुम्बन करने लगे और वृषकेतुने श्रीकृष्णके चरणोंमें अपना मस्तक रख दिया ॥

समुत्थिते कर्णपुत्रेऽथ पार्थ-
स्तथा बुद्धो विधिना तेन कृष्णात् ॥ १९ ॥
यथा देही मायया भिन्नभावः
सम्प्राप्यासौ निर्विकारं सुयोगात् ।

तदनन्तर वृषकेतुके उठ खड़ा होनेपर श्रीकृष्णने उसी विधिसे अर्जुनको भी उसी प्रकार चैतन्य बना दिया, जैसे मायाके वशीभूत होकर भेद-भावमें पड़ा हुआ जीवात्मा सुन्दर योग घटित होनेपर निर्विकार परमात्माको पाकर प्रबुद्ध हो जाता है ॥ १९½ ॥

तैर्वीक्षितः पन्नगैः सव्यसाची
त्रिभिर्वीरैः कृष्णबाहुप्रगुप्तः ।
ते पुष्पवर्षं मुमुचुः सुराः के
पार्थस्य दध्मुर्विविधांश्च शङ्खान् ॥२०॥

तब उन नागोंने भगवान् श्रीकृष्णकी भुजाओंसे सुरक्षित सव्यसाची अर्जुनको तीनों वीरों (बभ्रुवाहन, वृषकेतु और भीमसेन) के साथ खड़ा देखा । उस समय आकाशमें उपस्थित देवगण नाना प्रकारके शङ्खोंकी ध्वनि करते हुए अर्जुनके ऊपर पुष्पोंकी वर्षा करने लगे ॥ २० ॥

आनन्दितास्तदा सर्वे सैनिकाः पाण्डवस्य ते ।
ववन्दिरेऽथ सम्प्राप्तान् कृष्णकुन्तीमुखान् प्रभून् ॥२१॥

उस समय अर्जुनके सभी सैनिक आनन्दमग्न हो गये और फिर वे वहाँ आये हुए श्रीकृष्ण तथा कुन्ती आदि अपने स्वामियोंकी वन्दना करने लगे ॥ २१ ॥

वृषकेतुस्तदा वीरो नमस्कृत्याखिलान् मुदा ।
ददर्श भीमं कुन्तीं च प्रहृष्टां पुत्रदर्शनात् ॥ २२ ॥

तब वीर वृषकेतुने भी आनन्दपूर्वक सभी गुरुजनोंको नमस्कार करके पुत्रको जीवित हुआ देखकर परम प्रसन्न हुई कुन्ती और भीमसेनका दर्शन किया ॥ २२ ॥

सर्वे ते संगता वीराः प्रद्युम्नप्रमुखाः पुनः ।
प्रविष्टा बभ्रुवाहस्य पुरं कृष्णानुगा नृप ॥ २३ ॥

राजा जनमेजय ! फिर प्रद्युम्न आदि सभी प्रमुख वीर वहाँ एकत्रित हुए और श्रीकृष्णके पीछे-पीछे उन सभी वीरोंने बभ्रुवाहनके नगरमें प्रवेश किया ॥ २३ ॥

सर्वैः पुरस्थैः सुजनैः पूजिता वित्तसंचयैः ।
सप्तषष्टिर्वरा नार्यो नृत्यन्त्यो भावसंयुताः ॥ २४ ॥

उस समय सभी पुरवासी सज्जनोंने धन-राशि भेंट करते हुए उनका आदर-सत्कार किया और सरसठ उत्तम स्त्रियाँ भाव-प्रदर्शन करती हुई नृत्य करने लगीं ॥ २४ ॥

कुबेर इव वित्ताढ्या हृष्टास्तैः शतशः पुरे ।
पताकिनं नादयुक्तं गजाश्वरथमण्डितम् ॥ २५ ॥
कुबेरनगराभासं वीक्ष्य ते विस्मिता भृशम् ।

उस मणिपुरमें प्रद्युम्न आदि वीरोंने सैकड़ों ऐसे धनाढ्य व्यक्तियोंको देखा, जो मानो धनाध्यक्ष कुबेर ही थे । उस नगरमें पताकाएँ फहरा रही थीं, चारों ओर बाजे बज रहे थे और वह हाथी, घोड़े और रथोंसे सुशोभित था । कुबेरके नगरके समान शोभायमान उस नगरको देखकर वे सभी वीर अत्यन्त विस्मित हो गये ॥ २५½ ॥

मुक्ताफलचतुष्केऽथ सकृष्णं सव्यसाचिनम् ॥ २६ ॥
सभायां बभ्रुवाहस्य स्थापयन्तोऽब्रुवन् वचः ।
ते वीरा नागसहिता मा त्रपां कुरु पाण्डव ॥ २७ ॥
पुत्रेण जीवितश्चास्मि हतसैन्योऽस्म्यहं कृतः ।
सर्वत्र जयमन्विच्छेत् पुत्रादेकात् पराजयम् ॥ २८ ॥

तत्पश्चात् बभ्रुवाहनकी सभामें मोतियोंके चौकपर श्रीकृष्ण-सहित अर्जुनको बैठाकर नागोंसहित वे वीर कहने लगे--'पाण्डुनन्दन ! पुत्रने मेरी सेनाका संहार कर डाला है और उसीने मुझे पुनः जीवित किया है, यह सोचकर आप अपने मनमें लज्जा न करें; क्योंकि मनुष्यको सर्वत्र तो विजय पानेकी इच्छा करनी चाहिये, परंतु केवल पुत्रसे पराजयकी ही अभि-लाषा करनी चाहिये ॥ २६–२८ ॥

गङ्गाशापेन संजातं पतनं ते धनंजय ।
पुनः कृष्णप्रसादेन जीवितोऽसि धनंजय ॥ २९ ॥

'साथ ही धनंजय ! (पुत्रके पुरुषार्थसे न तो आपकी मृत्यु ही हुई है और न आपको पुनर्जीवन ही मिला है ।) आपका पतन तो गङ्गाजीके शापके कारण हुआ है और भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे आप पुनः जीवित हुए हैं ॥ २९ ॥

भीमेन सहितो वीर पश्य पुत्रस्य वैभवम् ।
चित्राङ्गदां प्रियां पार्थ द्वितीयां नागकन्यकाम् ॥ ३० ॥
सम्भावय महाभाग पुत्रं वीरं च लज्जितम् ।
गृहाण सकलं राज्यं पुत्रेण यदुपार्जितम् ॥ ३१ ॥

'वीर ! अब आप भीमसेनके साथ अपने पुत्रके वैभव-को देखिये । पृथाकुमार ! आप अपनी प्यारी पत्नी चित्राङ्गदा तथा दूसरी पत्नी नागकन्या उलूपीका सम्मान कीजिये । महा-भाग ! पितृवधसे लज्जित हुए अपने इस वीर पुत्रको अपनाइये और आपके इस पुत्रने जिसे उपार्जित किया है, उस सम्पूर्ण राज्यको स्वीकार कीजिये' ॥ ३०-३१ ॥

वासुदेव महाबुद्धे प्रबोधय धनंजयम् ।
संगमश्चैतयोः कार्यः कुन्त्याः पुत्रकपौत्रयोः ॥ ३२ ॥
देवक्या भीमसेनेन जनन्या ते यशोदया ।

(फिर वे श्रीकृष्णसे कहने लगे–)'वसुदेवनन्दन ! आप तो महान् बुद्धिमान् हैं । आप इन अर्जुनको समझाइये और आपकी माता देवकी और यशोदा तथा भीमसेनको उचित है कि ये लोग कुन्तीके इन बेटे और पोतेमें मेल करा दें ॥

अधोमुखश्च वीरोऽसौ नार्जुनं परिपश्यति ॥ ३३ ॥
त्यक्तुकामो निजं देहं कलुषं स्वपितुर्वधात् ।

'यह वीर बभ्रुवाहन मुँह लटकाये खड़ा है, लज्जाके मारे अर्जुनकी ओर देखतक नहीं रहा है और अपने पिताका वध कर देनेके कारण कलुषित हुए अपने शरीरका परित्याग कर देना चाहता है' ॥ ३३½ ॥

जैमिनिरुवाच

ततः कृष्णेन संयुक्तं स्थापयित्वा निजासने ॥ ३४ ॥
पितरं प्राह पुत्रोऽसौ बभ्रुवाहो महायशाः ।
हिमाचलं गमिष्यामि पातयिष्ये कलेवरम् ॥ ३५ ॥
नान्यथा पातकं घोरं गमिष्यति कलेवरात् ।

जैमिनिजी कहते हैं--जनमेजय ! तदनन्तर अर्जुनका वह महायशस्वी पुत्र बभ्रुवाहन श्रीकृष्णसहित अपने पिता अर्जुनको अपने आसनपर बैठाकर कहने लगा—'पिताजी ! अब मैं हिमालयपर चला जाऊँगा और वहाँसे अपने शरीरको नीचे गिरा दूँगा; अन्यथा यह भयंकर पाप मेरे शरीरसे दूर नहीं होगा ॥ ३४-३५½ ॥

कृष्णभक्तस्य च गुरोर्धर्मकार्यप्रकारिणः ॥ ३६ ॥
वधो न सुखदो मह्यं तस्मात् त्यक्ष्ये कलेवरम् ।

'जो भगवान् श्रीकृष्णके भक्त और अपने ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिरके अश्वमेध-यज्ञरूपी धर्मकार्यको पूर्ण करानेवाले हैं, उन पिताजीकी हत्या मुझे सुखसे नहीं रहने देगी, इसलिये मैं अपना शरीर त्याग दूँगा' ॥ ३६½ ॥

भीमसेन उवाच

यदि ते पातकं गात्रे भवेद् वीर महीतले ॥ ३७ ॥
न तिष्ठति समीपे ते देवकीनन्दनो हरिः ।

तब भीमसेनने कहा—वीर ! यदि भूतलपर तेरे शरीरमें पाप विद्यमान होता तो ये देवकीनन्दन श्रीहरि तेरे समीप आकर खड़े न होते ॥ ३७½ ॥

यथा वयं ते पितरः पातयित्वा पितामहम् ॥ ३८ ॥
गुरुं द्रोणं भानुपुत्रं स्थिताः कृष्णेन वीक्षिताः ।
तथा त्वं जीवत्पितृको हरिणा पावनीकृतः ॥ ३९ ॥

बेटा ! जैसे तेरे पिता-ताऊ आदि हमलोग पितामह भीष्म, गुरु द्रोणाचार्य और सूर्यपुत्र कर्णको मारकर श्रीकृष्णकी कृपा-दृष्टिसे देखे जानेपर निष्पाप होकर वर्तमान हैं, उसी तरह इन श्रीहरिने तेरे पिताको जीवित करके तुझे पावन कर दिया है ॥

तुरङ्गं धर्मराजस्य त्यक्त्वा शोकं च पालय ।
तव का गणना पुत्र कृष्णाग्रे पापकर्मणाम् ॥ ४० ॥
पञ्चपातककर्तारः किं नाम्नास्य न तारिताः ।

पुत्र ! अब तू शोक त्यागकर धर्मराज युधिष्ठिरके इस अश्वकी रक्षा कर । भला, श्रीकृष्णके सामने तेरे पापकर्मोंकी क्या गणना है ? क्या इनके नामने पाँच महान् पातक करने-वाले पापियोंको नहीं तार दिया है ? ॥ ४०½ ॥

तुर्ये युगे च सम्प्राप्ते मानवान् पापपूरितान् ॥ ४१ ॥
पावयिष्यति नामास्य विष्णोरमिततेजसः ।

चौथे युग कलियुगके आनेपर इन अमिततेजस्वी विष्णु-स्वरूप श्रीकृष्णका नाम पापपूर्ण मनुष्योंको पावन बनायेगा ॥

कुतो दुःखं कुतो दैन्यं कुतः पापभयं नृणाम् ॥ ४२ ॥
येषां सद्भावसंयुक्ता जिह्वा स्यात् कृष्णवादिनी ।

जिन मनुष्योंकी जिह्वा सद्भावसे संयुक्त होकर श्रीकृष्णके नामोंका उच्चारण करनेवाली होगी, उन्हें दुःख, दरिद्रता और पापका भय कहाँसे हो सकता है ॥ ४२½ ॥

जैमिनिरुवाच

ते कृष्णेन कृताः सर्वे वैरशोकविवर्जिताः ॥४३॥
प्रमोदिताश्च संतुष्टास्तदा मणिपुरे नृप ।
वादित्राणि च संजघ्नुर्ददुर्दानानि भूरिशः ॥ ४४ ॥
विस्मयं तस्य युद्धस्य चरितं बहु मेनिरे ।
वृषकेतुं च कृष्णं च शशंसुः शेषसंयुताः ॥ ४५ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णने उन सबको वैर और शोकसे रहित कर दिया । तब वे उस मणिपुरमें परम प्रसन्न और संतुष्ट हो गये । उस समय नाना प्रकारके बाजे बजने लगे और शेषसहित सभी लोगोंने बहुत-सा धन दान किया । वे वृषकेतु और श्रीकृष्णकी प्रशंसा करने लगे तथा इस युद्धके वृत्तान्तको परम विस्मयकी घटना मानने लगे ॥ ४३—४५ ॥

मुमोच तुरगं कृष्णः पञ्चमे दिवसे ततः ।
कुन्ती वधूभिः सहिता मुमुदे पौत्रमन्दिरे ॥ ४६ ॥

तदनन्तर पाँचवाँ दिन आनेपर श्रीकृष्णने उस घोड़ेको मुक्त करनेका विचार किया । उधर कुन्ती पुत्र-वधुओंके साथ अपने पोतेके राजभवनमें आनन्द मनाने लगीं ॥ ४६ ॥

गायन्ति गायकास्तत्र नृत्यन्ति स्म नटादयः ।
मुदितो माधवो राजन् पार्थं पुत्रसमन्वितम् ॥ ४७ ॥
वरासने चोपविष्टमिदं वचनमब्रवीत् ।

उस राजमहलमें गवैये गाते और नट आदि नर्तकगण नृत्य करते रहते थे । राजन् ! तब भगवान् श्रीकृष्ण आनन्द-मग्न होकर पुत्रसहित श्रेष्ठ आसनपर बैठे हुए अर्जुनसे इस प्रकार कहने लगे ॥ ४७½ ॥

श्रीवासुदेव उवाच

वयं सुखोषिताः सर्वे बभ्रुवाहस्य मन्दिरे ॥ ४८ ॥
सुखेन पञ्चरात्रं नौ गतं पश्य धनंजय ।
इदानीं भीमसेनोऽयं सह कुन्त्या यशोदया ॥ ४९ ॥
उलूप्या सहितो राज्यं धर्मराजस्य गच्छतु ।
चित्राङ्गदा तथा यातु गृहीत्वा विविधं धनम् ॥ ५० ॥
प्रारम्भं कारयन्त्वेते यज्ञस्येति मतिर्मम ।
चिन्तां सुमहतीं राजा करिष्यति गते मयि ॥ ५१ ॥

श्रीवासुदेव बोले—धनंजय ! देखो, हम सब लोग बभ्रुवाहनके महलमें अबतक सुखपूर्वक रहे । इस प्रकार आनन्दपूर्वक रहते हुए हमारी पाँच रात्रियाँ व्यतीत हो गयीं । अब तो मेरा ऐसा विचार है कि ये भीमसेन कुन्ती, यशोदा और उलूपीको साथ लेकर धर्मराज युधिष्ठिरके राज्यको लौट जायँ तथा चित्राङ्गदा भी नाना प्रकारकी धन-सम्पत्ति लेकर हस्तिनापुरको चली जाय । ये सब वहाँ पहुँचकर यज्ञ-कार्य आरम्भ करावें; क्योंकि मेरे चले आनेपर राजा युधिष्ठिर बहुत बड़ी चिन्तामें पड़े होंगे ॥ ४८—५१ ॥

भवान् पुत्रयुतश्चाहं वृषकेतुस्तथापरः ।
हंसध्वजश्च वीरोऽसौ तथान्ये सन्तु रक्षणे ॥ ५२ ॥
अग्रे सन्ति महाबाहो राजानो वैष्णवाः परे ।
अजेयास्ते मयाप्याशु तेनाहं त्वां त्यजे कथम् ॥ ५३ ॥

इधर पुत्र बभ्रुवाहनसहित तुम, मैं, दूसरा वृषकेतु, ये वीर हंसध्वज तथा दूसरे वीर घोड़ेकी रक्षामें तत्पर रहेंगे; क्योंकि महाबाहो ! आगे मार्गमें जो दूसरे विष्णुभक्त नरेश मिलनेवाले हैं, उन्हें मैं भी जल्दी परास्त नहीं कर सकता, इसलिये मैं तुम्हें अकेले कैसे छोड़ सकता हूँ ॥ ५२-५३ ॥

जैमिनिरुवाच

एवं हि मन्त्रं कृत्वाथ प्रेरयामास पाण्डवम्।
वासुदेवो महाभागो वित्तं च बहुलं स्त्रियः ॥ ५४ ॥
रक्षणार्थं स्थितो राष्ट्रे तुरङ्गस्यातिकौतुकात्।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर महाभाग श्रीकृष्णने ऐसी मन्त्रणा करके पाण्डुनन्दन भीमसेनको बहुत-सी धन-सम्पत्ति और उन स्त्रियोंके साथ हस्तिनापुरको भेज दिया और स्वयं परम कौतूहलवश घोड़ेकी रक्षा करनेके लिये उस राष्ट्रमें ही ठहर गये ॥ ५४½ ॥

शेषादयस्ततः सर्पाः कृष्णं विज्ञाप्य तं मुदा ॥ ५५ ॥
पातालमभिजग्मुर्वै बभ्रुवाहेन पूजिताः।

तत्पश्चात् शेष आदि सभी सर्प बभ्रुवाहनद्वारा सत्कृत होकर भगवान् श्रीकृष्णसे आज्ञा ले आनन्दपूर्वक पातालको चले गये ॥ ५५½ ॥

य इदं वासुदेवस्य चरितं सार्जुनस्य च ॥ ५६ ॥
शृणुयात् सर्वपापेभ्यो मुच्यते नात्र संशयः।
संजीवनं चार्जुनस्य सह कर्णात्मजेन च ॥ ५७ ॥

जो मनुष्य अर्जुनसहित श्रीकृष्णके इस चरित्रका तथा वृषकेतुसहित अर्जुनके इस पुनर्जीवनके वृत्तान्तका श्रवण करेगा, वह निस्संदेह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जायगा ॥

कथानकं पुण्यकरं यः कृष्णस्य शृणोति सः।
दुर्मृत्युना न बाध्येत कदाचिदपि वै नरः ॥ ५८ ॥

भगवान् श्रीकृष्णका यह कथानक पुण्य प्रदान करनेवाला है। जो मनुष्य इसे श्रवण करेगा, उसे दुर्मृत्यु कभी भी बाधा नहीं पहुँचा सकती ॥ ५८ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि बभ्रुवाहनविजयो नाम चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें बभ्रुवाहनकी विजयनामक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

मणिपुरसे घोड़ेका आगे बढ़ना, ताम्रध्वजद्वारा उसका पकड़ा जाना, दोनों सेनाओंकी व्यूह-रचना तथा श्रीकृष्ण और ताम्रध्वजकी बातचीत

जनमेजय उवाच

ततः परं किमभवत् कथं कृष्णेन संयुतः।
वीरैर्वृतः सव्यसाची ररक्ष तुरगं मुने ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—मुने! इसके अनन्तर कौन-सी घटना घटी? भगवान् श्रीकृष्णके साथ अन्य वीरोंसे घिरे हुए सव्यसाची अर्जुनने किस प्रकार उस यज्ञिय अश्वकी रक्षा की थी? ॥ १ ॥

परमं जायते सौख्यं शृण्वानस्य तवाननात्।
हृदि मे वासुदेवस्य पिबतः सुकथामृतम् ॥ २ ॥

ब्रह्मन्! आपके मुखसे भगवान् श्रीकृष्णके चरित्रको सुनकर और उस सुन्दर कथारूपी अमृतको कर्णपुटोंद्वारा पान करके मेरे हृदयमें परम आनन्द उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

संतापनुत् क्षीरनिधिरेक एव सदोच्यते।
किं पुनश्चन्द्रकिरणैर्मलयानिलसंयुतैः ॥ ३ ॥
सुशीतलत्वं गमितः सुमनोभिरलंकृतः।
चरितं वासुदेवस्य गहनं रससंयुतम् ॥ ४ ॥
तथाभूतमहं मन्ये वदतस्ते महामते।

अकेला क्षीरसागर ही सदा संतापनाशक कहा जाता है; परंतु यदि उसे मलयाचलकी शीतल वायुसे संयुक्त चन्द्रमाकी किरणें अत्यन्त शीतल कर दें और वह सुगन्धित पुष्पोंसे अलंकृत हो जाय तो फिर उसकी शीतलताका क्या कहना है? महामते! उसी तरह भगवान् वासुदेवका चरित्र परम गहन तथा रसमय है, फिर आपके मुखसे कहे जानेपर मैं उसे उस सुशीतल क्षीरसागरकी भाँति ही मानता हूँ ॥ ३-४½ ॥

भीमे गते नागपुरं किं चकार जनार्दनः ॥ ५ ॥
तत् सर्वं कथयाद्य त्वं मया पृष्टोऽसि सत्तम।

साधुशिरोमणे! जब भीमसेन हस्तिनापुरको चले गये, तब भगवान् जनार्दनने कौन-सी लीला की? वह सारा वृत्तान्त अब आप वर्णन कीजिये; क्योंकि मैं आपसे पूछ जो रहा हूँ ॥

बिलानि तानि मन्येऽहं मुखानि जगतां पतेः ॥ ६ ॥
प्रवदन्ति न माहात्म्यं येषां पूर्णानि कीटकैः।

जिन लोगोंके मुख जगदीश्वर श्रीकृष्णके माहात्म्यका वर्णन नहीं करते, उनके उन मुखोंको मैं कीड़ोंसे भरे हुए बिलोंके समान ही मानता हूँ ॥ ६½ ॥

बभ्रुवाहपुरान्मुक्तो वाजिराजो महामुने ॥ ७ ॥
कानि राष्ट्राणि तुरगः परिबभ्राम तद् वद ।

महामुने ! वह अश्वराज जब बभ्रुवाहनके नगरसे छोड़ा गया, तब वह घूमता हुआ किन-किन राष्ट्रोंमें गया था ? यह मुझे बताइये ॥ ७½ ॥

जैमिनिरुवाच

पुरात् प्रमुक्तो राजेन्द्र तैः सकृष्णैर्महाबलैः ॥ ८ ॥
यावत् प्रयाति तुरगस्तावत् ताम्रध्वजेन सः ।
वीक्षितो रक्षता स्वं हि वाजिमेधतुरङ्गमम् ॥ ९ ॥
प्रमुक्तं रत्ननगरात् स्वपित्रा बर्हिकेतुना ।

जैमिनिजीने कहा—राजाधिराज जनमेजय ! श्रीकृष्ण-सहित महाबली वीरोंद्वारा सुरक्षित वह अश्व मणिपुरसे छूटकर जब आगेको बढ़ा, तब ताम्रध्वजकी दृष्टि उसपर पड़ी। ताम्रध्वज उस समय अपने अश्वमेध यज्ञके घोड़ेकी रक्षा कर रहा था, जिसे उसके पिता मयूरध्वजने रत्ननगरसे छोड़ा था ॥८-९½॥

ताम्रध्वजस्य हंसं तमर्जुनस्य हयो ययौ ॥ १० ॥
आघ्राय वदनं तस्य स्तब्धकर्णो ररास ह ।

तबतक अर्जुनका अश्व ताम्रध्वजके उस घोड़ेके पास जा पहुँचा और उसके मुखको सूँघकर कानोंको खड़ा करके हींसने लगा॥

चरणेनोद्धृतेनैनं ताडयामास भारत ॥ ११ ॥
प्रोथं मुक्ताफलमयं दशनैश्चादशत् क्रुधा ।

भरतवंशी जनमेजय ! फिर उसने क्रोधपूर्वक अपने उठे हुए अगले पैरसे उसपर चोट की और पुनः वह मोतियोंसे सजे हुए उसके थूथुनको अपने दाँतोंसे काटने लगा ॥११½॥

पद्भ्यामेनं द्वितीयोऽपि ता[illegible]मास वक्षसि ॥ १२ ॥
स्कन्धकण्डूयनं पश्चाच्चक्रतुस्तौ तु वाजिनौ ।

तब दूसरा घोड़ा भी उसकी छातीमें एक दुलत्ती जमा दी। तत्पश्चात् वे दोनों घोड़े परस्पर कंधे खुजलाने लगे ॥

ताम्रध्वजः प्रधानं स्वं पप्रच्छ बहुलध्वजम् ॥ १३ ॥
कस्य यज्ञनिमित्तं हि मुक्तः पत्रं प्रवाचय ।

तदनन्तर ताम्रध्वजने अपने प्रधान मन्त्री बहुलध्वजसे पूछा—'यह अश्व किसके यज्ञके निमित्त छोड़ा गया है ? इसके मस्तकपर बँधे हुए स्वर्णपत्रको बाँचो तो सही' ॥ १३½ ॥

बहुलध्वजस्ततः पत्रं धृत्वा वाजिनमुत्तमम् ॥ १४ ॥
पपाठ पत्रजं भावं राज्ञे सर्वं न्यवेदयत् ।

तब बहुलध्वजने उस उत्तम घोड़ेको पकड़कर उस स्वर्ण-पत्रको पढ़ा और उस पत्रमें लिखा हुआ सारा अभिप्राय राजा ताम्रध्वजसे निवेदन कर दिया ॥ १४½ ॥

राजा श्रुत्वा प्रधानस्य वचनं कोपपूरितः ॥ १५ ॥
जग्राह पाण्डवहयं कृष्णाभ्यामपि रक्षितम् ।
प्रद्युम्नेनानिरुद्धेन तथा हंसध्वजेन च ॥ १६ ॥
अनुशाल्वेन वीरेण कर्णपुत्रेण धीमता ।
पाल्यमानं गतभयस्तथा वीरैः समन्वितम् ॥ १७ ॥
स्वां सेनां सर्वशस्त्राढ्यां रचयन् वाक्यमब्रवीत् ।

प्रधान मन्त्रीकी बात सुनकर राजा ताम्रध्वज क्रोधसे भर गया और फिर उसने पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके उस अश्वको, जो श्रीकृष्ण और अर्जुनद्वारा भी सुरक्षित था तथा प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, हंसध्वज, अनुशाल्व और बुद्धिमान् वीर वृषकेतु जिसकी रक्षा कर रहे थे तथा जो अन्यान्य वीरोंसे घिरा हुआ था, निर्भय होकर पकड़ लिया। फिर समस्त शस्त्रास्त्रोंसे भरी-पूरी अपनी सेनाकी व्यूह-रचना करते हुए कहने लगा ॥

ताम्रध्वज उवाच

मम पित्रा दीक्षितेन कृता यज्ञास्तु सप्त वै ॥१८॥
पुनश्चायं नरपतिः प्रकर्ता चाष्टमं क्रतुम् ।
अष्टमेन तुरङ्गेण पितुश्चैवाष्टमः क्रतुः ॥ १९ ॥
भविष्यति सकृष्णोऽयमन्ये ते कृष्णवर्जिताः ।
संजाता ये कृताः पूर्वं तिष्ठन्तु हरिसम्मुखाः ॥ २० ॥
भवन्तश्च महाबुद्धे महद् युद्धं भविष्यति ।

ताम्रध्वज बोला—प्रधानजी ! मेरे पिताजी अश्वमेध-यज्ञकी दीक्षा लेकर सात यज्ञ तो कर चुके हैं। अब पुनः वे नरेश यह आठवाँ यज्ञ कर रहे हैं। मेरे पिताका यह आठवाँ यज्ञ इस आठवें घोड़ेसे श्रीकृष्णके सामने ही सम्पन्न होगा। अभीतक जो यज्ञ पहले किये गये थे, वे तो श्रीकृष्णकी अनु-पस्थितिमें ही पूर्ण हुए थे। महाबुद्धे ! अब तुमलोग श्रीहरिके सामने डटकर खड़े हो जाओ, क्योंकि घोर संग्राम होनेकी सम्भावना है ॥ १८–२०½ ॥

बहुलाश्व उवाच

तव सैन्येन पार्थस्य बहुलेनाल्पकं भुवि ॥ २१ ॥
संछादितं बलं राजन् यथा क्वापि न दृश्यते ।

बहुलाश्वने कहा—राजन् ! आपकी बहुसंख्यक सेना-से अर्जुनकी थोड़ी-सी सेना इस प्रकार आच्छादित हो गयी है कि वह पृथ्वीपर कहीं दिखायी भी नहीं दे रही है ॥ २१½ ॥

जानाति राष्ट्रं राजेन्द्र बभ्रुवाहोऽथवा न वा ॥ २२ ॥
प्रददाति करं भारं मुक्तानां यः पितुश्च ते ।

राजेन्द्र ! बभ्रुवाहन जो आपके पिताको मोतियोंका एक भार कररूपमें प्रदान करता है, आपके राज्यको जानता ही है। पता नहीं वह यहाँ आया है या नहीं ॥ २२½ ॥

मुक्ताफलानि गच्छन्ति मयूरध्वजमन्दिरे ॥ २३ ॥
नित्यं पुष्पाञ्जलौ कार्ये नर्त्तकीनां रजांसिवत् ।

वे मोती राजा मयूरध्वजके महलमें प्रतिदिन नर्तकियोंके पुष्पाञ्जलि-कार्यमें धूलके समान व्यय हो जाते हैं ॥ २३½ ॥

अस्मिन् ग्रामे महावीरै रणोऽयं दृश्यते कृतः ॥ २४ ॥
अशक्ताः पतिताः केचित् केचिन्मृत्युमुपागताः ।

ऐसा दीख पड़ता है कि इन महावीरोंने इस ग्राममें युद्ध किया है; क्योंकि यहाँ कुछ अशक्त होकर पड़े हुए हैं और कुछ मृत्युको प्राप्त हो चुके हैं ॥ २४½ ॥

निर्धनानामपुष्टानामल्पपौरुषकारिणाम् ॥२५॥
एतेषां कीदृशं युद्धं भविष्यति हये धृते ।

अब तो ये निर्धन, स्वास्थ्यहीन और अल्प पुरुषार्थवाले हो गये हैं, अतः इनका घोड़ा पकड़ लेनेपर ये क्या युद्ध कर सकेंगे ? ॥ २५½ ॥

ताम्रध्वज उवाच

अन्येषामत्र वीराणां गणना का ममाग्रतः ॥ २६ ॥
वीरावत्र रणे धीरौ बभ्रुवाहनकर्णजौ ।
नारदात् पौरुषं रात्रावेतयोः संश्रुतं मया ॥ २७ ॥

ताम्रध्वजने कहा—प्रधानजी ! यहाँ मेरे सामने अन्य वीरोंकी क्या गिनती है ? हाँ, इस सेनामें बभ्रुवाहन और कर्ण-पुत्र वृषकेतु—ये दो रणधीर वीर हैं; क्योंकि रातमें मैंने नारद-जीके मुखसे इन दोनोंके पुरुषार्थकी चर्चा सुनी है ॥२६-२७॥

नरनारायणौ तेन कथितौ पार्थमाधवौ ।
प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च युयुधानस्तथापरः ॥ २८ ॥
एते कृष्णसमा वीरास्ततो युद्धं भविष्यति ।
अर्द्धचन्द्रेण व्यूहेन वाहिनीं रचितां कुरु ॥ २९ ॥

वे नारदजी यह भी बता रहे थे कि अर्जुन और श्रीकृष्ण नर-नारायणके अवतार हैं । उस सेनामें प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और दूसरे सात्यकि—ये भी श्रीकृष्णके समान ही वीर हैं; अतः युद्ध तो अवश्य होगा । अब तुम अपनी सेनाको अर्धचन्द्र-नामक व्यूहके आकारमें खड़ी कर दो ॥ २८-२९ ॥

पाञ्चजन्यस्वनं घोरं प्रकरोति जनार्दनः ।
देवदत्तं पाण्डवश्च शङ्खं वादयते भृशम् ।
तुरगार्थं समायान्ति रथिनः शस्त्रपाणयः ॥ ३० ॥

(सुनते नहीं हो) जनार्दन अपने पाञ्चजन्य शङ्खका भयंकर शब्द कर रहे हैं और अर्जुन अपने देवदत्त नामक शङ्खको बारंबार बजा रहे हैं । अब शस्त्रधारी रथी वीर घोड़े-को छुड़ानेके लिये आ ही रहे होंगे ॥ ३० ॥

जैमिनिरुवाच

एवं विधाय तरसा राजा युद्धे स्थितस्तदा ।
स कृत्वा निश्चयं धैर्यात् कृष्णेनाथ निरीक्षितः ॥ ३१ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तब राजा ताम्रध्वज तुरंत ही इस प्रकार सेनाकी व्यूह-रचना करके युद्ध करनेका ही निश्चय लेकर धैर्यपूर्वक युद्धस्थलमें खड़ा हो रहा था, तबतक उसपर भगवान् श्रीकृष्णकी दृष्टि पड़ गयी ॥ ३१ ॥

वासुदेवस्तु तान् दृष्ट्वा योद्धुं योधानवस्थितान् ।
उवाच वाक्यं प्रहसन् पार्थं संस्पृश्य पाणिना ॥ ३२ ॥

तब युद्ध करनेके लिये डटकर खड़े हुए उन योधाओंको देखकर श्रीकृष्ण हँस पड़े और अपने हाथसे अर्जुनके शरीरका स्पर्श करके इस प्रकार बोले ॥ ३२ ॥

श्रीवासुदेव उवाच

पार्थ ताम्रध्वजं पश्य मयूरध्वजनन्दनम् ।
अनेन विधृतः सोऽश्वस्त्वदीयः स्वं प्ररक्षता ॥ ३३ ॥

श्रीवासुदेवने कहा—पार्थ ! इस मयूरध्वजके पुत्र ताम्रध्वजकी ओर तो दृष्टिपात करो । इसने अपने घोड़ेकी रक्षा करते हुए तुम्हारे उस अश्वको पकड़ लिया है ॥ ३३ ॥

अत्र युद्धं व्यवसित सुमहद् वीरपातनम् ।
मोचयाश्वं महावीराच्छङ्खाद् वेदं यथा हरिः ॥ ३४ ॥

अब यहाँ निश्चय ही वीरोंका संहार करनेवाला अत्यन्त भयंकर संग्राम होगा; अतः जैसे भगवान् श्रीहरि शंखासुरसे वेदको छीन लाये थे, उसी तरह तुम भी इस महावीरसे अश्व-को मुक्त करनेका प्रयत्न करो ॥ ३४ ॥

प्रद्युम्नाद्याश्च ये वीरा बभ्रुवाहनपालिताः।
सर्वे युद्धं करिष्यन्ति त्वं मया सहितोऽनघ ॥ ३५ ॥
रणभूमिं परित्यज्य समायाहि यतो व्रजे।
पितास्य दीक्षितः पार्थ विद्यते नर्मदातटे ॥ ३६ ॥

निष्पाप ! ये जो प्रद्युम्न आदि वीर हैं, वे सभी बभ्रुवाहन-की संरक्षकतामें युद्ध करेंगे और तुम रणभूमिका परित्याग करके मेरे साथ उस स्थानपर चलो, जहाँ मैं चल रहा हूँ। पार्थ ! ताम्रध्वजका पिता यज्ञकी दीक्षा लेकर नर्मदा-तट-पर विद्यमान है ॥ ३५-३६ ॥

शूरोऽयं जितकामस्तु सत्यवागनसूयकः।
न योधनीयः पार्थेन सत्यमेतद् वदामि ते ॥ ३७ ॥

यह ताम्रध्वज शूरवीर है। इसने कामपर विजय पा ली है। यह सत्यवादी और परायी निन्दासे दूर रहनेवाला है। तुम्हारा इसके साथ युद्ध करना उचित नहीं है। यह मैं तुमसे सत्य कह रहा हूँ ॥ ३७ ॥

गृध्रव्यूहं हि रचय यथास्थानं धनंजय।
एतान् वीरान् महाकायांस्ताम्रध्वजबले स्थितान् ।३८।
जानामि कालरूपांस्तान् सर्वे युध्यन्तु मामकाः।
अहं स्वरथमारुह्य दारुकेण नियन्त्रितम् ॥ ३९ ॥
योत्स्यामि सहितः पुत्रैः पौत्रैः श्रान्तोऽसि पाण्डव।
विनाशं सर्ववीराणामद्य मन्ये समागतम् ॥ ४० ॥

धनंजय ! अब तुम यथास्थान गृध्रव्यूहकी रचना करो; क्योंकि ताम्रध्वजकी सेनामें स्थित इन विशालकाय वीरोंको मैं कालरूप ही समझ रहा हूँ। फिर भी हमारे वीर उनके साथ युद्ध करें। मैं दारुकद्वारा नियन्त्रित अपने रथपर चढ़कर पुत्रों तथा पौत्रों-को साथ लेकर युद्ध करूँगा। अर्जुन ! तुम तो थक गये हो (अतः विश्राम करो)। मैं तो ऐसा समझता हूँ कि आज सभी वीरोंका विनाशकाल आ पहुँचा है॥ ३८–४० ॥

जैमिनिरुवाच

एतावदुक्त्वा वचनं माधवः स्वरथं गतः।
गृध्रव्यूहेन सहितस्तुरङ्गं प्रति मारिष ॥ ४१ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—आर्य जनमेजय ! इतनी बातें कहकर भगवान् श्रीकृष्ण अपने रथपर सवार हुए और गृध्र-व्यूहके साथ-साथ घोड़ेकी ओर बढ़े ॥ ४१ ॥

वासुदेवं रथस्थं ते ददृशुः सर्वपार्थिवाः।
गृध्रस्य च मुखे राजा ग्रीवायामनुशाल्वकः ॥ ४२ ॥

जब उन सभी राजाओंने देखा कि श्रीकृष्ण रथपर सवार होकर गृध्रव्यूहमें उसके मुखस्थानपर विराजमान हैं, तब राजा अनुशाल्व उसकी गरदनके स्थानपर आ डटा ॥ ४२ ॥

हंसध्वजो नेत्रसंस्थः पक्षयोर्यदुनन्दनौ।
प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च सात्यकिर्भोजवर्धनः ॥ ४३ ॥
पादयोरुभयोर्मध्ये गृध्रस्य किल संस्थितौ।
यौवनाश्वो मेघवर्णो व्यूहरक्षाविधायिनौ ॥ ४४ ॥

हंसध्वज नेत्रस्थानपर खड़े हुए और यदुनन्दन प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध उसके दोनों पंखोंकी जगह स्थित हुए। सात्यकि और कृतवर्माने उस गीधके दोनों पैरोंके मध्यका स्थान ग्रहण किया। यौवनाश्व और मेघवर्ण—इन दोनोंने व्यूहकी रक्षाका भार सँभाला ॥ ४३-४४ ॥

अर्जुनं हृदये वीरं बहुभिः परिवारितम्।
चञ्चुस्थितावुभौ वीरौ बभ्रुवाहनकर्णजौ ॥ ४५ ॥

बहुत-से वीरोंके साथ वीरवर अर्जुनको हृदयस्थानपर खड़ा किया गया। फिर बभ्रुवाहन और वृषकेतु—ये दोनों वीर उस गीधकी चोंचके स्थानपर खड़े हुए ॥ ४५ ॥

एतान् वीक्ष्य बहून् वीरान् बहूनन्यांश्च पार्थिवान्।
ताम्रध्वजो मुदा युक्त आजुहाव जनार्दनम् ॥ ४६ ॥

ताम्रध्वजने जब इन बहुसंख्यक वीरों तथा अन्य बहुत-से राजाओंको देखा, तब वह आनन्दमग्न होकर श्रीकृष्णको सम्बोधित करके कहने लगा—॥ ४६ ॥

मया गृहीतं तुरगं पार्थस्य महतो रणात्।
यदि मोचयितुं कृष्ण स्वयं प्राप्तोऽसि संगरे ॥ ४७ ॥
धैर्यं रणे प्रकर्तव्यं पार्थं पालय केशव।
मदीयं वाजिनं यान्तं किं न धारयसे विभो ॥ ४८ ॥

'श्रीकृष्ण ! मैंने अर्जुनके घोड़ेको पकड़ लिया है, उसे महासमरसे मुक्त करानेके लिये यदि आप स्वयं संग्रामभूमिमें पधारे हैं तो केशव ! रणक्षेत्रमें धैर्यपूर्वक खड़े रहिये और अपने अर्जुनकी रक्षा कीजिये। विभो ! मेरा घोड़ा भी तो आपकी ओर गया है, आप उसे क्यों नहीं पकड़ लेते ? ॥ ४७-४८ ॥

नान्येषां विद्यते शक्तिस्त्वां विना देवकीसुत।
मया समं महारंगे सम्यग् योधयितुं हरे ॥ ४९ ॥

'देवकीनन्दन ! हरे ! आपके अतिरिक्त और किसीमें इतनी शक्ति नहीं है कि वह महासमरमें मेरे साथ भलीभाँति युद्ध कर सके ॥ ४९ ॥

सुदर्शनं हि शार्ङ्गं च शस्त्राण्यन्यानि धारय ।
न विद्यते भयं मेऽत्र दृष्टस्त्वमसि चेद् रणे ॥ ५० ॥

'श्रीकृष्ण ! आप अपने सुदर्शन चक्र, शार्ङ्गधनुष तथा अन्य आयुधोंको धारण कर लीजिये । अब मुझे आपसे कुछ भी भय नहीं है, क्योंकि मैंने रणक्षेत्रमें आपका दर्शन कर लिया है' ॥ ५० ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि कृष्णताम्रध्वजभाषणं नामैकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें श्रीकृष्ण और ताम्रध्वजका भाषणनामक एकताळीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

अर्जुनकी सेनाके साथ ताम्रध्वजका युद्ध और उसका घोर पराक्रम

जैमिनिरुवाच

एतावदुक्त्वा वचनं पार्थसैन्यं तथाविधम् ।
नाराचैरर्धचन्द्रैश्च समन्ताद् व्यकिरद् बली ॥ १ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! इतनी बात कहकर बलवान् ताम्रध्वजने गृध्र-व्यूहाकारमें खड़ी हुई अर्जुनकी सेना-को अर्द्धचन्द्राकार नाराचोंद्वारा चारों ओरसे आच्छादित कर दिया ॥ १ ॥

पार्थं जघान सप्तत्या शराणां केशवं त्रिभिः ।
बाणैर्बिभेद तरसा सिंहनादमथाकरोत् ॥ २ ॥

उसने अर्जुनपर सत्तर बाणोंसे प्रहार किया और फिर वेगपूर्वक तीन बाणोंसे केशवको घायल करके वह सिंहनाद करने लगा ॥ २ ॥

दारुकं पञ्चभिर्बाणैश्चतुर्भिश्चतुरो हयान् ।
विव्याध कुपितो वीरस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ३ ॥
नवभिः सात्यकिं वीरं कृतवर्माणमष्टभिः ।
प्रद्युम्नं च सहस्रेणानिरुद्धमयुतेन च ॥ ४ ॥

फिर वीर ताम्रध्वजने क्रुद्ध होकर पाँच बाणोंसे दारुकको, चार बाणोंसे चारों घोड़ोंको, नौ बाणोंसे वीरवर सात्यकिको, आठ बाणोंसे कृतवर्माको, एक हजार बाणोंसे प्रद्युम्नको और दस हजार बाणोंसे अनिरुद्धको बींध दिया । यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ ३-४ ॥

अनिरुद्धस्ततो वीरः समाहूयेदमब्रवीत् ।
तिष्ठ ताम्रध्वज रणे पश्य त्वं मम पौरुषम् ॥ ५ ॥

तब वीरवर अनिरुद्धने ताम्रध्वजको सम्बोधित करके कहा—'ताम्रध्वज ! अब तुम रणभूमिमें सावधान होकर खड़े हो जाओ और मेरे पुरुषार्थको देखो ॥ ५ ॥

सहस्व मे प्रहारं हि मुञ्च मुञ्च तुरङ्गमम् ।
कस्त्वां त्राता रणान्मन्द पुरतो मम तद् वद ॥ ६ ॥

'मन्दबुद्धे ! घोड़ेको छोड़ दो, जल्दी छोड़ दो, अन्यथा मेरे प्रहारको सहन करो । भला, बताओ तो सही, मेरे सामने आ जानेपर इस युद्धस्थलसे कौन तुम्हारी रक्षा करेगा' ॥ ६ ॥

ताम्रध्वज उवाच

मदनात् तावकं जन्म पुष्पबाणाद् विशेषतः ।
बाणकन्यापतिस्त्वं तु किं युद्धं प्रकरिष्यसि ॥ ७ ॥

तब ताम्रध्वजने कहा—मूर्ख ! विशेषतः कोमल पुष्प ही जिसके बाण हैं, उस कामदेवसे तो तू पैदा हुआ है और बाणासुरकी कन्या (उषा) का पति है (जिसके यहाँ तुझे कैदमें रहना पड़ा था) भला, तू क्या युद्ध करेगा ॥७॥

बाणेन रक्षितः पूर्वमुषास्नेहेन साधुना ।
नाहं तथाविधं कार्यं करिष्यामि महारणे ॥ ८ ॥

पहले साधुस्वभाववाले बाणासुरने अपनी पुत्री उषाके स्नेहवश तुझे मरनेसे बचा दिया था, परंतु आज इस महा-समरमें मैं वैसा स्नेहपूर्ण व्यवहार नहीं करूँगा ॥ ८ ॥

अद्य कृष्णस्य पुरतः पातयिष्ये महाशरैः ।
आत्मानं पालय विभो न भवेज्जीवितं तव ॥ ९ ॥

मैं तो आज तुझे श्रीकृष्णके देखते-देखते अपने अत्यन्त भयंकर बाणोंसे मार गिराऊँगा । सामर्थ्यशाली वीर ! अब तू अपनी रक्षाका प्रबन्ध कर ले; क्योंकि अब तेरा जीवन नहीं बच सकता ॥ ९ ॥

अनिरुद्ध उवाच

बाणं मुञ्चामि तिष्ठ त्वं बहुधा किं प्रभाषसे ।
आत्मानं स्वयमेवेह वर्णयन्ति न पण्डिताः ॥ १० ॥

अनिरुद्धने कहा—अच्छा तो अब तू सावधान होकर खड़ा हो जा, मैं बाण छोड़ता हूँ। तू यहाँ क्या बढ़-बढ़कर बातें बना रहा है? जो बुद्धिमान् होते हैं, वे इस प्रकार अपने आप ही अपनी प्रशंसा नहीं किया करते ॥ १० ॥

जैमिनिरुवाच

बाणं मुमोचानिरुद्धः प्रलयानलसंनिभम् ॥ ११ ॥
बिभेद हृदयं तस्य सुचित्रस्य धनुष्मतः।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! यों कहकर अनिरुद्धने एक प्रलयकालकी अग्निके समान भयंकर बाण छोड़ दिया। उस बाणने धनुर्धारी सुचित्र (ताम्रध्वज) के हृदयको विदीर्ण कर दिया ॥ ११½ ॥

सुचित्रोऽपि शराणां हि नवत्या यदुनन्दनम् ॥ १२ ॥
विव्याध समरे तूर्णं शरांस्तान् पञ्चधा परः।
अनिरुद्धः क्षणाच्चक्रे वीरं शिखिनिभं रणे ॥ १३ ॥

तत्पश्चात् सुचित्रने भी समरभूमिमें तुरंत ही यदुनन्दन अनिरुद्धपर नब्बे बाणोंसे प्रहार किया। तब शत्रु अनिरुद्धने क्षणमात्रमें ही उन बाणोंके पाँच-पाँच टुकड़े करके वीर सुचित्रको उस युद्धमें ऐसा घायल किया कि खूनसे सराबोर होनेके कारण उसका शरीर अग्निके समान लाल रंगका हो गया ॥ १२-१३ ॥

चतुर्भिर्निहता वाहाः पञ्चमेनाथ सारथिम्।
जघान च ततस्तस्य वीरानन्यांश्च दारुणान् ॥ १४ ॥

तदनन्तर उन्होंने चार बाणोंसे सुचित्रके घोड़ोंको मार डाला और पाँचवें बाणसे उसके सारथिका काम तमाम कर दिया, फिर वे उसके अन्यान्य भयंकर वीरोंका संहार करने लगे ॥ १४ ॥

अनिरुद्धशरैर्भिन्ना दृश्यन्ते सर्वसैनिकाः।
चित्राङ्गा वनमध्यस्थाः स्फुरन्तस्ते तथाभवन् ॥ १५ ॥

अनिरुद्धके बाणोंसे सभी सैनिक घायल दीख रहे थे। उस समय उन सैनिकोंकी ऐसी शोभा हो रही थी मानो चित्र-विचित्र अङ्गोंवाले हरिण वनमें उछल-कूद रहे हों ॥ १५ ॥

बाहूंश्चिच्छेद वीराणामङ्गुलीश्च नखांस्तथा।
मणिबन्धं पृथक् चक्रे हस्तदण्डं च मारिष ॥ १६ ॥
वक्षःस्थलानि चास्थीनि कटिदेशान् सुमांसलान्।
शिरांसि च पृथक् चक्रे नेत्राणि च हसन्निव ॥ १७ ॥
दन्तान् भ्रुवस्तथा श्मश्रूः क्रुद्धश्चिच्छेद यादवः।
परमाणूपमां नीतास्तस्य वीरस्य सैनिकाः ॥ १८ ॥

आर्य जनमेजय! यदुवंशी अनिरुद्धने कुपित होकर विपक्षी वीरोंकी भुजाओं, अंगुलियों और नखोंतकको काट डाला। उनके हाथों और कलाइयोंको काटकर अलग-अलग कर दिया। फिर हँसते हुए-से उनके वक्षःस्थलों, हड्डियों, अत्यन्त मांसल कटिप्रदेशों, सिरों और नेत्रोंको काटकर पृथक्-पृथक् विभाजित कर दिया। उनके दाँतों, भौंहों और दाढ़ी-मूँछोंको भी छिन्न-भिन्न कर दिया। यहाँतक कि उन्होंने वीर सुचित्रके सैनिकोंको काटकर परमाणुके समान बना दिया ॥ १६—१८ ॥

वायुना तद् रजो नीतं सागरे हि महात्मना।
अनिरुद्धप्रयुक्तेन तस्मिन् काले विशाम्पते ॥ १९ ॥

प्रजानाथ जनमेजय! उस समय महामनस्वी अनिरुद्धद्वारा प्रयुक्त हुई वायुने उस धूलको उड़ाकर समुद्रमें डाल दिया ॥ १९ ॥

चतुर्विधं बलं हत्वा विधूमोऽग्निरिव ज्वलन्।
अक्षौहिणीनां त्रितयं पातितं बलिनामुना ॥ २० ॥
कृष्णपौत्रेण वीरेण सुचित्रस्य रणाङ्गणे।
पुनरन्यं महत् सैन्यं पोथयामास सायकैः ॥ २१ ॥

इस प्रकार उस चतुरङ्गिणी (हाथीसवार, घुड़सवार, रथी और पैदल सैनिकोंसे युक्त) सेनाका संहार करके अनिरुद्ध धूमरहित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे। श्रीकृष्णके उस बलवान् पौत्र वीर अनिरुद्धने उस समय रणाङ्गणमें सुचित्रकी तीन अक्षौहिणी सेनाका सफाया कर दिया था। फिर उन्होंने दूसरी विशाल सेनाको बाणोंसे रौंधना आरम्भ किया २०-२१

पतङ्गा इव ते सर्वे दग्धाः कार्मुकधारिणः।
रथा विभिन्नास्तिलशो गजास्त्रस्ता वनं गताः ॥ २२ ॥
हया हताः साश्ववीरा बाणैस्ते विदलीकृताः।

उस समय वे सभी धनुर्धर सैनिक पतिंगोंकी भाँति जलकर भस्म हो गये। रथ तिलके समान चूर-चूर हो गये। गजराजोंने भयभीत होकर वनका रास्ता लिया। घोड़े कालके गालमें चले गये और घोड़ोंसहित घुड़सवार वीर बाणोंके प्रहारसे टुकड़े-टुकड़े हो गये ॥ २२½ ॥

सुचित्रोऽपि महाबाहुः प्रद्युम्नतनयं रणे ॥ २३ ॥
बाणैर्विव्याध निशितैर्विरथं तं चकार सः।

तब महाबाहु सुचित्रने भी प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्धको रणक्षेत्रमें तीखे बाणोंसे घायल करके उन्हें रथहीन कर दिया ॥ २३½ ॥

तं रथं भग्नचक्राक्षं त्यक्त्वा कार्मुकमाददे ॥ २४ ॥

जघान बाणजानाथः सुचित्रं बहुभिः शरैः ।
विरथं ताम्रकेतुं हि चक्रे क्रोधसमन्वितः ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् बाणासुरकी पुत्री उषाके पति अनिरुद्ध जिसका पहिया और धुरा टूट गया था, उस रथसे कूद पड़े और धनुष हाथमें लेकर सुचित्रपर बहुसंख्यक बाणोंसे प्रहार करने लगे। फिर उन्होंने कुपित होकर ताम्रध्वजको भी रथहीन कर दिया॥ २४-२५ ॥

उभौ तौ विरथौ वीरौ क्षितिस्थौ चक्रतू रणम् ।
ततोऽनिरुद्धं कृत्वासौ मूर्च्छितं स्वरथं स्थितः ॥ २६ ॥

जब वे दोनों वीर रथहीन हो गये, तब वे पृथ्वीपर खड़े होकर ही युद्ध करने लगे। इसी बीच ताम्रध्वज अनिरुद्धको मूर्च्छित करके अपने दूसरे रथपर जा बैठा ॥ २६ ॥

पातयामास सम्प्राप्तान् वीरान् पाण्डवसैनिकान् ।
प्रद्युम्नं पञ्चभिर्बाणैः क्षिप्त्वासौ वाक्यमब्रवीत् ॥२७॥

तत्पश्चात् अर्जुनके जो-जो वीर सैनिक ताम्रध्वजके सामने आ पहुँचे, उन्हें उसने मार गिराया और फिर वह प्रद्युम्नको पाँच बाणोंसे दूर फेंककर यों कहने लगा—॥ २७ ॥

कामः सुयोद्धापि मया यदि युद्धे पराजितः ।
कथं न युद्धं कुरुते देवकीनन्दनो हरिः ॥ २८ ॥
आयातु यातु गोविन्दः कार्यं जातं तु मामकम् ।

'प्रद्युम्न तो विख्यात वीर थे, जब मैंने युद्धमें उन्हें भी पराजित कर दिया, तब देवकीनन्दन श्रीहरि अब क्यों युद्ध नहीं करते हैं ? परंतु वे गोविन्द युद्धस्थलमें आवें अथवा लौट जायँ, मेरा काम तो सिद्ध हो गया' ॥ २८½ ॥

जैमिनिरुवाच

ततः प्राप्तो महाबाहुः कर्णपुत्रो महायशाः ॥ २९ ॥
वृषकेतुः समाहूय पञ्चभिर्निशितैः शरैः ।
जघान ताम्रकेतुं हि विरथं तमथाकरोत् ॥ ३० ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर कर्णपुत्र महाबाहु वृषकेतु वहाँ युद्धके लिये आ धमका। उस महायशस्वी वीरने ताम्रध्वजको ललकारकर पाँच पैने बाणोंसे उसपर प्रहार किया और उसे रथहीन कर दिया ॥ २९-३० ॥

ततोऽन्यं रथमास्थाय यावत् पातयते शिशुम् ।
तावद् रथो द्वितीयोऽपि कर्णपुत्रेण चूर्णितः ॥ ३१ ॥

तब दूसरे रथपर बैठकर ताम्रध्वज जबतक उस बालक वृषकेतुको मार गिरानेका विचार कर रहा था तबतक वृषकेतुने उस दूसरे रथको भी चूर्ण कर दिया ॥ ३१ ॥

यं यं रथं प्रयात्येष सुचित्रः सिंहलीलया ।
तं तं चिच्छेद समरे वृषकेतुरुदारधीः ॥ ३२ ॥
एवं शतत्रयं तेन रथानां तस्य पातितम् ।

इस प्रकार सिंहके समान खेल करता हुआ वह सुचित्र जिस-जिस रथपर चढ़कर आता था, उसी-उसीको उदारबुद्धि वृषकेतु समरभूमिमें छिन्न-भिन्न कर देता था। इस तरह वृषकेतुने ताम्रध्वजके तीन सौ रथोंको तोड़ डाला ॥ ३२½ ॥

अन्यं रथं गतो राजा बाणैः कर्णात्मजं रणे ॥ ३३ ॥
मूर्च्छितं पातयामास देहं व्याधिगणो यथा ।
एवं भित्त्वानुशाल्वं तं चक्रे पौरुषवर्जितम् ॥ ३४ ॥

तब राजा ताम्रध्वज एक दूसरे रथपर जा चढ़ा। फिर तो जैसे व्याधिसमूह शरीरको व्यथित करके मूर्च्छित कर देता है, उसी तरह उसने रणक्षेत्रमें वृषकेतुको बाणोंके प्रहारसे मूर्च्छित करके धराशायी कर दिया। इसी तरह अनुशाल्वको भी घायल करके उसे पुरुषार्थहीन बना दिया ॥ ३३-३४॥

यौवनाश्वं शरेणैव रथाद् भूमौ व्यपातयत् ।
सात्यकिस्तस्य तुरगान् हत्वा बाणैश्च सप्तभिः ॥ ३५ ॥
करोति नादं शङ्खस्य यावत् तेनाथ पातितः ।

फिर यौवनाश्वको एक ही बाण मारकर रथसे पृथ्वीपर गिरनेको विवश कर दिया। सात्यकि सात बाणोंसे ताम्रध्वजके घोड़ोंको मारकर अपना शङ्ख बजा रहे थे, तबतक उसने उन्हें भी बाण मारकर गिरा दिया ॥ ३५½ ॥

कृतवर्मा शराभ्यां हि पीडितो निपपात ह ॥ ३६ ॥
सुचित्रस्याग्रतो राज्ञस्तदद्भुतमिवाभवत् ।

इसी समय कृतवर्मा भी राजा सुचित्रके दो बाणोंसे पीड़ित होकर उसके सामने ही पृथ्वीपर गिर पड़े। यह एक अद्भुत-सी घटना हुई ॥ ३६½ ॥

विरेजुस्ते नरा भूमौ पतिताश्चास्य सायकैः ॥ ३७ ॥
क्षीणपुण्या इव जना गगनाद् भूतले यथा ।

ताम्रध्वजके बाणोंसे घायल होकर भूमिपर पड़े हुए वे वीर सैनिक पुण्य क्षीण हो जानेपर आकाशसे भूतलपर गिरे हुए मनुष्योंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ ३७½ ॥

बभ्रुवाहनमायान्तं सुचित्रो वीक्ष्य संगरे ॥ ३८ ॥
प्रत्युवाच हसन् वीरस्त्वमेव परियुध्यसि ।
क्षणं तिष्ठसि युद्धे मे पुरतो बाणपञ्चकम् ॥ ३९ ॥
त्वं विमोचयसे धैर्यात् त्यजेऽहं मौक्तिकं करम् ।

तदनन्तर समरभूमिमें बभ्रुवाहनको आक्रमण करते देख वीर सुचित्र हँसते हुए कहने लगा—'तुम्हीं युद्ध करने चले हो। तुम मेरे सामने युद्धस्थलमें क्षणभर भी ठहर सकोगे ? अच्छा, यदि तुम धैर्यपूर्वक खड़े रहकर मेरे ऊपर पाँच बाण छोड़ दोगे तो मैं तुम्हारे मोतियोंके करको क्षमा कर दूँगा ॥ ३८-३९½ ॥

जैमिनिरुवाच

कार्ष्णिर्मुमोच नाराचान् पञ्च ताम्रध्वजं प्रति।
ते बाणाः सप्तधा तेन सुचित्रेण विभेदिताः ॥ ४० ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तब अर्जुनकुमार बभ्रुवाहनने ताम्रध्वजपर पाँच नाराच चलाये; परंतु उस सुचित्रने उन बाणोंको काटकर उनके सात-सात टुकड़े कर दिये॥

रथः संचूर्णितश्चास्य बभ्रुवाहस्य तत्क्षणात्।
पतितो भूतले कार्ष्णिः खिलीभूतो महारणे ॥ ४१ ॥

फिर उसी क्षण बभ्रुवाहनके रथको भी तोड़कर चूर्ण बना दिया। तब उस महायुद्धमें अर्जुनकुमार घायल होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ४१ ॥

पततस्तस्य वीरस्य शरीराद् भूषणानि च।
विभिन्नानि विकीर्णानि नक्षत्राणीव संक्षये ॥ ४२ ॥

बभ्रुवाहनके गिरते समय उस वीरके शरीरसे छिन्न-भिन्न हुए आभूषण प्रलयके अवसरपर गिरते हुए नक्षत्रोंके समान पृथ्वीपर बिखर गये ॥ ४२ ॥

तादृशं पार्थतनयं पातालतलभेदिनम्।
खिलीकृत्य ययौ रोषात् तिष्ठ कृष्णेति वादकः ॥ ४३ ॥

तत्पश्चात् जो पाताललोकका भी भेदन करनेवाला था, अर्जुनके ऐसे वीर पुत्रको घायल करके ताम्रध्वज रोषमें भरकर 'कृष्ण ! खड़े तो रहो' यों कहता हुआ आगे बढ़ा॥ ४३ ॥

तं वीक्ष्य वीरा नेत्राणि निमील्य गतजीविताः।
तत्राभवन् महाराज रुद्रं वीक्ष्येव जन्तवः ॥ ४४ ॥
वाहनानि परित्यज्य पलायन्ते स्म सैनिकाः।

महाराज जनमेजय ! जैसे संहारकालमें भगवान् रुद्रको देखकर प्राणी भयभीत हो प्राण-त्याग कर देते हैं, उसी तरह वहाँ ताम्रध्वजको देखकर कितने वीरोंकी आँखें मुद गयीं और वे भयके मारे प्राणशून्य हो गये तथा कितने सैनिक अपने-अपने वाहनोंका परित्याग करके पलायन करने लगे ॥४४½॥

हंसध्वजं समाकीर्णं बाणैस्तस्य महात्मनः ॥ ४५ ॥
परित्यज्य प्रगच्छन्ति तस्मिन् युद्धेऽतिभास्वरे।

उस अत्यन्त प्रकाशमान युद्धमें महान् आत्मबलसे सम्पन्न सुचित्रके बाणोंसे आच्छादित हुए हंजध्वजको छोड़कर योद्धा भाग खड़े हुए ॥ ४५½ ॥

त्यक्त्वाथ युद्धे चास्त्राणि तथा शस्त्राणि चापरे ॥४६॥
रुधिरौघे विलीयन्ते मीना इव विशाम्पते।
नात्मानं ते प्रजानन्ति शरजालेन मोहिताः ॥ ४७ ॥

प्रजानाथ जनमेजय ! दूसरे बहुत-से वीर उस युद्धमें अपने शस्त्रास्त्रोंको त्यागकर रक्तसे भरे हुए गड्ढेमें मछलियोंकी तरह डूबने-उतराने लगे। वे शत्रुके बाणसमूहसे ऐसे मोहित हो गये थे कि उन्हें अपने-आपका कुछ भी ज्ञान नहीं रह गया था ॥ ४६-४७ ॥

मा भैष्ट वीरा मा भैष्टेत्युक्त्वा वीरो धनंजयः।
आजगामाथ समरे धनुर्विस्फारयन् स्वकम् ॥ ४८ ॥

इसी बीच वीर अर्जुन अपने धनुषकी टंकार करते हुए समरभूमिमें आ पहुँचे और 'वीरो ! डरो मत। भय मत करो' यों कहने लगे ॥ ४८ ॥

अब्रुवंस्ते हि किं पार्थ तुरङ्गेण करिष्यसि।
गोत्रवध्याभयेनासौ कुरुते यज्ञमुत्तमम् ॥ ४९ ॥
अस्य हस्तेन निखिलानस्मान् हत्वा धनंजय।
किं करिष्यसि पुण्यं हि येन पूतो भविष्यसि ॥ ५० ॥

तब सैनिकोंने कहा—'पार्थ ! इस घोड़ेको लेकर आप क्या करेंगे ? धनंजय ! एक बारके किये हुए गोत्र-हत्याजनित पापके भयसे मुक्त होनेके लिये तो महाराज युधिष्ठिर उत्तम यज्ञ अश्वमेधका अनुष्ठान कर रहे हैं, अब पुनः इस ताम्रध्वजके हाथों हम सब लोगोंका वध कराकर आप कौन-सा ऐसा पुण्य कार्य करेंगे, जिसके करनेसे पुनः पवित्र हो सकेंगे' ॥४९-५०॥

एवंविधांस्तदा शब्दान् ब्रुवाणाः संगरे मुहुः।
ततः पार्थेन वीरेण स्तम्भितं तादृशं बलम् ॥ ५१ ॥

उस समय संग्रामभूमिमें वे वीर बारंबार ऐसे ही शब्द बोल रहे थे। तब वीर अर्जुनने इस प्रकार भयभीत हुई अपनी सेनाको आश्वासन देकर खड़ा किया ॥ ५१ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि ताम्रध्वजविजयो नाम द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें ताम्रध्वजकी विजयका वर्णन नामक बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

ताम्रध्वजका अर्जुनके साथ लगातार सात दिनोंतक युद्ध करके अपना घोर पराक्रम प्रकट करना, श्रीकृष्णका ताम्रध्वजसे युद्ध करनेके लिये आना और उसके कहनेसे अर्जुनका सारथि बनना तत्पश्चात् पुनः सुदर्शन चक्रसे उसकी सेनाका संहार करना

जैमिनिरुवाच

पार्थः सुचित्रमासाद्य नवभिः सायकैर्नृप।
विव्याध वक्षसि क्रुद्धस्तैः शरैः पातितो रथात्॥ १॥

जैमिनिजी कहते हैं—राजा जनमेजय! तब क्रोधमें भरे हुए अर्जुनने सुचित्रके निकट जाकर उसकी छातीमें नौ बाण मारे। उन बाणोंके आघातसे वह रथसे नीचे गिर पड़ा॥ १॥

अन्यं स्यन्दनमारुह्य सुचित्रो रथिनां वरः।
व्यकिरत् पाण्डवं बाणैः समन्ताद् घनवद् गिरिम्॥ २॥

फिर तुरंत ही रथी वीरोंमें श्रेष्ठ सुचित्र दूसरे रथपर जा चढ़ा। तत्पश्चात् जैसे बादल जल बरसाकर पर्वतको ढक देते हैं, उसी तरह उसने बाण-वर्षा करके चारों ओरसे अर्जुनको आच्छादित कर दिया॥ २॥

पार्थोऽपि तमदृश्यं हि कृत्वा युद्धे शिलीमुखैः।
स्वशङ्खं पूरयामास तिष्ठेति प्राह मारिष॥ ३॥
रथं चिच्छेद तिलशः सहयं सूतसंयुतम्।

आर्य जनमेजय! तब अर्जुनने भी 'खड़ा तो रह' यों कहकर अपना शङ्ख बजाया और सुचित्रको बाणोंसे आच्छादित करके उसे युद्धस्थलमें अदृश्य कर दिया। पुनः घोड़े तथा सारथि-सहित उसके रथको भी काटकर तिलके बराबर टुकड़े कर दिये॥

अन्यं रथं प्रयातोऽयं सुचित्रो रोषपूरितः॥ ४॥
पार्थस्य तुरगान् सूतं पातयित्वाब्रवीद् वचः।
हयास्ते निहताः सूतो मयायं पातितो रथात्॥ ५॥
क्व गमिष्यसि नेष्यामि स्वपुरं हंससंयुतम्।

तत्पश्चात् सुचित्र दूसरे रथपर चढ़कर आ धमका और रोषमें भरकर अर्जुनके घोड़ों तथा सारथिको मारकर यों कहने लगा—'अर्जुन! मैंने तुम्हारे घोड़ोंको मार डाला और सारथि-को भी रथसे नीचे गिरा दिया। अब तुम भागकर कहाँ जाओगे? मैं तुम्हें पकड़कर उस यज्ञिय अश्वसहित अपने नगरको ले चलूँगा'॥ ४-५½॥

तस्य वाक्येन भिन्नोऽसौ विव्याधार्जुन आहवे॥ ६॥
तं वीरं रथसंयुक्तं चक्रे भग्नकलेवरम्।

तब अर्जुनने सुचित्रके वचनोंसे मर्माहत होकर संग्राम-भूमिमें उसे बींधना आरम्भ किया। उन्होंने रथके साथ-साथ उस वीरके शरीरको भी छिन्न-भिन्न कर दिया॥ ६½॥

रथानां तस्य वीरस्य सहस्रं परिपातितम्॥ ७॥
किरीटिना तदा युद्धे नायं तिष्ठति संगरात्।

उस समय किरीटधारी अर्जुनने युद्धस्थलमें वीर सुचित्रके सहस्रों रथोंको तोड़ डाला; परंतु वह युद्धसे विमुख नहीं हुआ॥

पार्थं विव्याध नाराचैः सुचित्रोऽन्यरथं गतः॥ ८॥
अर्जुनं मूर्च्छितं चक्रे कृष्णस्य पुरतस्तदा।
मूर्च्छां त्यक्त्वा जघानाथ सुचित्रं पाण्डवः शरैः॥ ९॥

तत्पश्चात् सुचित्र दूसरे रथपर चढ़कर अर्जुनको नाराचोंसे बींधने लगा और श्रीकृष्णके सामने ही उन्हें मूर्च्छित कर दिया। तदनन्तर अर्जुन मूर्च्छाका परित्याग करके शीघ्र ही उठ पड़े और सुचित्रपर बाणोंसे प्रहार करने लगे॥ ८-९॥

ततस्ताम्रध्वजः पार्थं सरथं दक्षिणां दिशम्।
बाणैः सुनिशितैर्निन्ये योजनं धरणीपथम्॥ १०॥

तब ताम्रध्वजने अत्यन्त पैने बाणोंके प्रहारसे रथसहित अर्जुनको दक्षिण दिशाकी ओर एक योजन भूमितक पीछे ढकेल दिया॥ १०॥

समागतं रथं वीक्ष्य पुनरेव महाशरैः।
बिभेद सकलं तस्य पाण्डवस्यातिपौरुषात्॥ ११॥

तत्पश्चात् अर्जुनके उस रथको पुनः सम्मुख आया हुआ देखकर उसने प्रबल पुरुषार्थपूर्वक बड़े-बड़े बाणोंसे उस रथके सारे अवयवोंको छिन्न-भिन्न कर दिया॥ ११॥

अर्जुनस्तं हि सरथं गगने सायकैस्त्रिभिः।
प्रेरयामास वेगेन सिंहनादमथाकरोत्॥ १२॥

तब अर्जुनने वेगपूर्वक तीन बाण मारकर रथसहित सुचित्र-को आकाशमें उछाल दिया और फिर वे स्वयं सिंहनाद करने लगे॥ १२॥

सारथिं च रथं चैव प्राप्य पार्थोऽपरं रणे।
सुचित्रस्य घनां सेनां निन्ये यमपुरं प्रति॥ १३॥

तबतक सारथि एक दूसरा रथ लेकर वहाँ आ पहुँचा

और अर्जुन उसपर सवार होकर रणक्षेत्रमें सुचित्रकी घनीभूत सेनाको मारकर यमपुरीका पथिक बनाने लगे ॥ १३ ॥

अर्जुनं व्यधमद् राजा शरैः कनकचित्रितैः।
उभौ चित्रास्त्रविद्वांसौ चित्रमण्डलकारिणौ ॥ १४ ॥
वीरश्रिया वृतौ धीरौ न मुञ्चेतां महारणम्।
उभौ युद्धं परित्यज्य न गतौ तद्धि कौतुकम् ॥ १५ ॥

तब राजा ताम्रध्वजने अर्जुनको स्वर्णभूषित बाणोंसे घायल कर दिया। इस प्रकार विचित्र अस्त्रोंके विद्वान् वे दोनों वीर अद्भुत पैंतरे दिखाते हुए युद्ध कर रहे थे। वीरश्रीसे सुशोभित उन दोनों धैर्यशाली योद्धाओंने महासमरसे मुख नहीं मोड़ा। उस समय वे दोनों युद्धका परित्याग करके जो विमुख नहीं हुए, यह बड़े आश्चर्यकी बात हुई ॥ १४-१५ ॥

अक्षौहिणीनां द्विशतं पार्थेन विनिपातितम्।
सुचित्रेणापि पार्थस्य प्रयुतं निहतं बलम् ॥ १६ ॥

उस युद्धमें अर्जुनने शत्रुपक्षकी दो सौ अक्षौहिणी सेनाका संहार कर डाला और सुचित्रने भी अर्जुनकी एक लाख सेनाको कालके गालमें भेज दिया ॥ १६ ॥

चक्रतुर्दारुणं युद्धमन्योन्यजयकाङ्क्षिणौ।
धनुश्चिच्छेद पार्थस्य ध्वजं च कनकावृतम् ॥ १७ ॥

इस प्रकार वे दोनों परस्पर एक-दूसरेपर विजय पानेकी लालसासे घोर संग्राम कर रहे थे। इतनेमें ही सुचित्रने अर्जुनके धनुष तथा स्वर्णजटित ध्वजको काट दिया ॥ १७ ॥

पताकां चक्रगोप्तारौ सर्वोपकरणानि च।
छत्रं रथं च तुरगान् संरम्भात् सूतमेव च ॥ १८ ॥
यं यं रथं नृपो याति तं तं चिच्छेद शक्रजः।

तब इन्द्रकुमार अर्जुनने क्रोधवश उसके पताका, दोनों चक्ररक्षक, सारी युद्ध-सामग्रियाँ, छत्र, रथ और घोड़ोंको तथा सारथिको भी काटकर गिरा दिया। फिर राजा ताम्रध्वज जिस-जिस रथपर चढ़कर सामने जाता था, अर्जुन उस-उस रथको तोड़ डालते थे ॥ १८½ ॥

सहस्रं पुनरेवास्य द्वितीयं जनमेजय ॥ १९ ॥
रथानां तत्र भग्नं हि सुचित्रस्यातिधन्विनः।
पार्थबाणैः पीडिताङ्गः पौरुषं न विमुञ्चति ॥ २० ॥

जनमेजय! इस प्रकार उस युद्धमें अर्जुनने पुनः उत्कृष्ट धनुर्धर सुचित्रके दो हजार रथोंको चौपट कर दिया। उस समय यद्यपि ताम्रध्वजका शरीर अर्जुनके बाणोंकी चोटसे व्यथित हो उठा था, तथापि वह पुरुषार्थ करनेसे पीछे नहीं हटता था ॥ १९ २० ॥

तस्य मांसकणाश्छिन्नाः पतन्ति पवनाहताः।
कृष्णस्य मस्तके राजन् धरण्यां खे च संस्थिताः॥२१॥

राजन्! उसके शरीरसे कटकर निकले हुए मांसकण हवाके झोंकेसे आकाशमें जा पहुँचते थे और फिर वहाँसे श्रीकृष्णके मस्तक और पृथ्वीपर बिखर जाते थे ॥ २१ ॥

एवंविधं तदा जातं युद्धं त्रैलोक्यमोहनम्।
वीरयोरुभयोर्घोरं दिनानां सप्तकं नृप ॥ २२ ॥

महाराज जनमेजय! इस प्रकार उस समय उन दोनों वीरोंका त्रिलोकीको मोहमें डाल देनेवाला वह भयंकर संग्राम सात दिनोंतक चलता रहा ॥ २२ ॥

दिवारात्रं प्रकुर्वाणौ युद्धं वीक्ष्य भिया वृताः।
सर्वे वीरास्तदा राजन् विस्मयं तस्य मेनिरे ॥ २३ ॥

राजन्! उस समय सभी वीर उन दोनोंको दिन-रात युद्ध करते देख भयभीत हो गये और उस युद्धको एक आश्चर्यकी वस्तु मानने लगे ॥ २३ ॥

सुचित्रः पाण्डवरथं गृहीत्वा गगने गतः।
श्येनवद् व्यचरद् राजन्नामिषं क्रोधमूर्च्छितः॥ २४ ॥
चिक्षेप भूतले दूरात् साश्वध्वजपताकिनम्।
तं निरीक्ष्याथ गोविन्दः स्वकरेण दधौ हरिः ॥ २५ ॥

जनमेजय! इतनेमें ही सुचित्र क्रोधसे मूर्च्छित हो अर्जुनके रथको पकड़कर आकाशमें जा पहुँचा और ऊपर-ही-ऊपर इस प्रकार विचरण करने लगा मानो कोई बाज मांसका टुकड़ा लिये हुए आकाशमें चक्कर लगा रहा हो। फिर उसने उस घोड़े और ध्वज-पताकासहित रथको दूरसे ही पृथ्वीपर फेंक दिया। तब उस रथको गिरता हुआ देखकर गोविन्द श्रीहरिने उसे अपने हाथसे थाम लिया ॥ २४-२५ ॥

ताम्रध्वज उवाच

मयायं पोथितः पार्थः सरथो गगनाद् भुवि।
त्वया यदि धृतो हस्ते पौरुषं मामकं शुभम् ॥ २६ ॥

उस समय ताम्रध्वजने कहा—श्रीकृष्ण! मैंने रथसहित इन अर्जुनको आकाशसे भूतलपर पटक दिया था, परंतु यदि आपने इन्हें अपने हाथपर रोक लिया है तो मेरा पुरुषार्थ मेरे लिये शुभकारक हो गया ॥ २६ ॥

तं तथा भाषमाणं तु राजानं मधुसूदनः।
जघान गदया मूर्ध्नि पदा च हृदये तथा ॥ २७ ॥

राजा ताम्रध्वज यों कह ही रहा था कि मधुसूदनने उसके मस्तकपर गदासे और हृदयपर पैरसे प्रहार किया ॥ २७ ॥

स भिन्नहृदयो भूपः प्रापतत् कृष्णसम्मुखः।
स्वरथं समवस्थाय कृष्णं विव्याध सायकैः ॥ २८ ॥

तब हृदयके घायल हो जानेके कारण राजा ताम्रध्वज श्रीकृष्णके सामने ही पृथ्वीपर गिर पड़ा; फिर तुरंत ही अपने रथपर बैठकर श्रीकृष्णको सायकोंसे बींधने लगा ॥ २८ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

पार्थ त्वमेव संग्रामे युध्यस्वाहं च योधये।
आवयोः संगमेनायं विजेतव्यो मतिर्मम ॥ २९ ॥

तब श्रीकृष्ण बोले—पार्थ ! मेरा तो ऐसा विचार है कि संग्रामभूमिमें तुम भी इसका सामना करो और मैं भी इसके साथ लोहा लूँगा। इस प्रकार हम दोनोंके एक साथ मिलकर युद्ध करनेसे ही यह जीता जा सकेगा ॥ २९ ॥

मा शङ्कां कुरु वीरेऽस्मिन् महासत्त्वे धनंजय।
पश्य द्रवन्तीं पृतनां सुचित्रशरपीडिताम् ॥ ३० ॥

धनंजय ! इसकी वीरताके विषयमें तुम कोई शङ्का मत करो; क्योंकि यह महान् पराक्रमी है। देखो न, सुचित्रके बाणोंसे पीड़ित हुई तुम्हारी सेना भागी जा रही है ॥ ३० ॥

बभ्रुवाहनमुख्या ये तेऽमुना हेलया जिताः।
गाण्डीवमुक्तैर्नाराचैस्त्वं प्रपातय मा चिरम् ॥ ३१ ॥
शार्ङ्गेण धनुषा चैनं पातये नात्र चिन्तनम्।
ततो मुमोच गोविन्दः कार्मुकात् स्वान्महाशरान् ३२

तुम्हारे जो बभ्रुवाहन आदि प्रधान वीर थे, उन्हें तो इसने लीलापूर्वक ही पराजित कर दिया है। अतः अब तुम अपने गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए नाराचोंद्वारा इसे मार गिराओ। विलम्ब मत करो। इधर मैं भी अपने शार्ङ्गधनुषसे बाण चलाकर इसे गिरानेका प्रयत्न करता हूँ। अब इसमें सोचने-विचारनेकी आवश्यकता नहीं है। यों कहकर गोविन्द अपने धनुषसे बड़े-बड़े बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ ३१-३२ ॥

अर्जुनः सम्मुखो वीरं विव्याध हरिणोदितः।
तथापि केशवस्तं हि व्यकिरद् रथसंस्थितम् ॥ ३३ ॥

यद्यपि श्रीहरिकी प्रेरणासे अर्जुन सामने आकर उस वीर-को बाणोंसे बींध रहे थे, तथापि केशवने रथपर बैठे हुए सुचित्रके ऊपर बाणोंकी झड़ी लगा दी ॥ ३३ ॥

नरनारायणौ तेन विद्धौ बाणैः सुतेजनैः।
उभयोर्धनुषी चक्रे गुणहीने स्वसायकैः ॥ ३४ ॥

तब सुचित्रने भी नर-नारायणके अवतार अर्जुन और श्रीकृष्णको अपने अत्यन्त तेज किये हुए बाणोंसे घायल कर दिया और फिर उन दोनोंके धनुषोंकी प्रत्यञ्चा भी काट दी ॥ ३४ ॥

उवाच केशवं राजा हर्षेणोत्फुल्ललोचनः।
जनेन द्वौ पृथग् भूतौ संयोज्यौ भूतिमिच्छता ॥ ३५ ॥
अर्जुनस्य रथं त्यक्त्वा सूतत्वं तच्च केशव।
महारथोऽपरो भूत्वा युध्यसे यत्नमास्थितः ॥ ३६ ॥
त्वया विहीनः पार्थोऽसौ पतत्येव न संशयः।
सारथिर्भव गोविन्द मा पातय धनंजयम् ॥ ३७ ॥

ऐसा करके राजा ताम्रध्वजके नेत्र हर्षसे खिल उठे, फिर वह केशवसे कहने लगा—'केशव ! ऐश्वर्याभिलाषी पुरुषको चाहिये कि वह दो पृथक् हुए व्यक्तियोंको परस्पर मिला दे, परंतु आप अर्जुनके रथ और उनके सारथिपनका त्याग करके एक दूसरा महारथी बनकर यत्नपूर्वक युद्ध करनेपर उतारू हो गये हैं। (आपके लिये यह उचित नहीं है; क्योंकि) आपसे विलग होनेपर निस्संदेह अर्जुनका पतन हो जायगा, अतः गोविन्द ! आप अर्जुनका पतन मत कराइये, उनका सारथि बन जाइये' ॥ ३५—३७ ॥

ततः कृष्णो रथं त्यक्त्वा पार्थसूतोऽभवत् पुनः।
प्रेरयामास तुरगाञ्जवनान् किङ्किणीयुतान् ॥३८॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण अपने रथका त्याग करके पुनः अर्जुन-के सारथिके स्थानपर आ विराजे और फिर उन्होंने छोटी-छोटी घंटियोंसे सुशोभित उन वेगशाली घोड़ोंको आगे बढ़ाया ॥

तं रथं चावसंघट्य कशाघातेन सारथिः।
ताडयामास वेगेन कोपादरुणलोचनः ॥ ३९ ॥

उस समय सारथि श्रीकृष्णके नेत्र क्रोधसे लाल हो रहे थे, उन्होंने उस रथको अपने काबूमें करके वेगपूर्वक आगे बढ़ने-के लिये घोड़ोंको चाबुकसे मारा ॥ ३९ ॥

सुचित्रोऽपि शरैस्तीक्ष्णैर्दशभिर्मधुसूदनम्।
विव्याध पाण्डवं षष्ट्या शराणां पृथिवीपते ॥ ४० ॥
छत्रं पार्थस्य चिच्छेद पुनः कृष्णं शतेन च।

पृथ्वीनाथ जनमेजय ! तब सुचित्रने भी अपने तीखे दस बाणोंसे मधुसूदनको और साठ बाणोंसे अर्जुनको बींध दिया। पुनः उसने श्रीकृष्णको सौ बाण मारकर अर्जुनके छत्रको भी काट गिराया ॥ ४०½ ॥

अर्जुनस्तस्य वीरस्य रथं चक्रे विचूर्णितम् ॥ ४१ ॥
गात्रं बिभेद नाराचैः समन्ताल्लोमवाहिभिः।

फिर अर्जुनने पंख लगे हुए नाराचोंसे वीर सुचित्रके रथको चूर्ण करके सब ओरसे उसके शरीरको भी छेद डाला ॥

यत्र यत्रार्जुनशरैर्नीयते तत्कलेवरम् ॥ ४२ ॥
पुनरायाति पार्थस्य समीपे शस्त्रसंयुतम्।

अर्जुनके बाण उसके शरीरको अपने वेगसे जहाँ-जह

उड़ाकर ले जाते थे, वहीं-वहींसे वह पुनः शस्त्र धारण किये हुए अर्जुनके समीप आ जाता था ॥ ४२½ ॥

पदात् पदं तमायान्तं सुचित्रं माधवोऽक्षिपत् ॥ ४३ ॥
पदप्रहाराभिहतः पपात धरणीतले ।

इस प्रकार अपने चरणोंके समीप आते हुए सुचित्रको श्रीकृष्णने पैरकी ठोकरसे दूर फेंक दिया । तब उनके पदप्रहार-से व्यथित होकर वह भूतलपर गिर पड़ा ॥ ४३½ ॥

पुनरुत्थाय वीरोऽसौ गजं मत्तं समाश्रितः ॥ ४४ ॥
तत्र संस्थः शरैस्तीक्ष्णैर्व्यधमत् कृष्णपाण्डवौ ।
रथं सकृष्णं साश्वं तं चक्रे भ्रमसमाकुलम् ॥ ४५ ॥

तत्पश्चात् वीर सुचित्र पुनः उठकर एक मदमत्त गजराज-पर जा चढ़ा और उसकी पीठपर बैठे-बैठे अपने तीखे बाणोंसे श्रीकृष्ण और अर्जुनको घायल करने लगा । फिर उसने घोड़े और श्रीकृष्णसहित अर्जुनके उस रथको चक्करमें डाल दिया ॥

मूर्च्छां त्यक्त्वा च ये वीरा बभ्रुवाहनसंनिभाः ।
योद्धुं प्राप्तास्ताम्रकेतुं ते भिन्नाः पतिताः शरैः ॥४६॥

उधर बभ्रुवाहन-सरीखे जो भयंकर पराक्रमी वीर मूर्च्छा टूटनेपर पुनः ताम्रध्वजका सामना करनेके लिये आये, वे उसके बाणोंसे घायल होकर फिर धराशायी हो गये ॥ ४६ ॥

एवंविधं प्रयुध्यन्तं सुचित्रं माधवः क्रुधा ।
गृहीत्वा दारुणं दिव्यं करे चक्रं सुदर्शनम् ॥ ४७ ॥
तिष्ठ तिष्ठेति राजानं समरे प्राद्रवद् रथात् ।

सुचित्रको इस प्रकार घोर संग्राम करते देखकर श्रीकृष्ण क्रोधसे तमतमा उठे और तुरंत ही अपने भयंकर दिव्य सुदर्शनचक्रको हाथमें लेकर रथसे कूद पड़े । फिर समरभूमिमें राजा ताम्रध्वजको 'खड़ा रह, खड़ा रह' यों ललकारते हुए उसपर झपटे ॥ ४७½ ॥

धरा च कम्पिता तत्र देवानां भयमाविशत् ॥ ४८ ॥
समुद्राश्चुक्षुभुः सूर्यश्चकम्पे भ्रमिता दिशः ।
शेषाद्याः पन्नगाः सर्वे भयात् कुण्डलिनोऽभवन् ४९

उस समय पृथ्वी डगमगाने लगी । देवताओंके हृदयमें भय समा गया । समुद्रोंमें ज्वार उठने लगा । सूर्यमण्डल कम्पित हो उठा । दिशाएँ भ्रमित हो गयीं तथा शेष आदि समस्त नाग भयके कारण कुण्डली बाँधकर बैठ गये ॥४८-४९॥

ताम्रध्वजो गजं त्यक्त्वा सम्मुखः कृष्णमागमत् ।
तेन चक्रेण देवेशश्चकार कदनं महत् ॥ ५० ॥
शतमक्षौहिणीनां तु क्रुद्धेन हरिणा हतम् ॥ ५१ ॥

तब ताम्रध्वज अपने हाथीसे उतरकर श्रीकृष्णके सम्मुख आया । देवेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने उस चक्रसे महान् संहार आरम्भ किया । उस समय क्रोधमें भरे हुए श्रीहरिने सौ अक्षौहिणी सेनाका संहार कर दिया ॥ ५०-५१ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि ताम्रध्वजयुद्धे श्रीकृष्णकोपो नाम त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें ताम्रध्वजके युद्धमें श्रीकृष्णका क्रोधनामक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

ताम्रध्वजका श्रीकृष्ण और अर्जुनको जीते-जी पकड़ लेना और श्रीकृष्णके झटकेसे उसका मूर्च्छित होना तथा ताम्रध्वजके घसीटनेसे अर्जुन और श्रीकृष्णका मूर्च्छित होकर गिरना, मूर्च्छा भंग होनेपर दोनों घोड़ोंको नगरकी ओर जाते हुए देखकर ताम्रध्वजका सेनासहित नगरको लौटना, वहाँ मन्त्री बहुलाश्वके मुखसे सारा वृत्तान्त सुनकर मयूरध्वजका अपने पुत्रको फटकारना और श्रीकृष्णका दर्शन करनेके लिये उद्यत होना, इधर श्रीकृष्ण और अर्जुनकी मूर्च्छाका टूटना, दोनोंका रत्ननगरमें जाना, वहाँ नगर-निवासियोंकी रात्रिचर्या देखना और प्रातःकाल मयूरध्वजके दर्शन करना

जैमिनिरुवाच

पतितां वीक्ष्य तां सेनां सुचित्रो हर्षपूरितः ।
प्रोवाच कृष्णं कुपितं चक्रपाणिं महाहवे ॥ १ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! अपनी उस सेनाको मारी गयी देखकर सुचित्र आनन्दमग्न हो गया और उस महायुद्धमें कुपित हुए चक्रपाणि श्रीकृष्णसे कहने लगा—॥१॥

सेना हता कृतं कार्यं मध्ये चान्तरदायिनी ।
इदानीं त्वां हि पश्यामि यथारूपमवस्थितम् ॥ २ ॥

'भगवन् ! आपने जो मेरी सेनाका संहार कर दिया, यह तो बड़ा ही उत्तम कार्य किया; क्योंकि यह मेरे और आपके बीचमें व्यवधानरूप थी । अब इसके न रहनेपर मैं यहाँ खड़े हुए आपके वास्तविक रूपका दर्शन तो करूँगा ॥

सुदर्शनं च ते रूपं कथं त्यक्ष्येऽहमद्य वै ।
पित्रा नियुक्तो यज्ञार्थं तिष्ठेति मधुसूदन ॥ ३ ॥

'मधुसूदन ! यद्यपि पिताजीने मुझे यज्ञकार्यके लिये नियुक्त किया है, तथापि अब मैं आपके इस सुन्दर रूपका दर्शन कैसे त्याग सकता हूँ, अतः अब आप मेरे सामने खड़े रहिये ॥

त्वमश्वं रक्षता देव मयाकस्माद् विलोकितः ।
यथा काचं विचिन्वन् हि लभेद् दिव्यं मणिं तथा ॥४॥

'देव ! जैसे काँचकी खोज करनेवालेको दिव्य मणिकी प्राप्ति हो जाय, उसी तरह अपने यज्ञीय अश्वकी रक्षा करते हुए मुझे अकस्मात् आपका दर्शन सुलभ हो गया है ॥ ४ ॥

अर्जुनार्थं त्वया पुण्यं युद्धे पूर्वं समर्पितम् ।
अधुना स्वशरीरं हि नियोजयसि केशव ॥ ५ ॥

'केशव ! पहले युद्धमें आपने अर्जुनके लिये अपने पुण्यको ही समर्पित किया था; परंतु इस समय तो आप अपना शरीर ही लगा दे रहे हैं ॥ ५ ॥

चक्रहस्तं धारयामि पार्थं च रथिनां वरम् ।
मम तातस्य यज्ञेऽस्मिन् यथा जायेत दैवतम् ॥ ६ ॥

'फिर भी मैं सुदर्शन-चक्रधारी आपको तथा रथी वीरोंमें श्रेष्ठ अर्जुनको पकड़े लेता हूँ, जिससे मेरे पिताके उस यज्ञमें आप दोनों भी देवरूपसे उपस्थित हो जायँगे' ॥ ६ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं चक्रहस्तं परामृशत् ।
दक्षिणेन करेणैव करं कृष्णस्य संगरे ॥ ७ ॥
वामहस्तेन देवस्य पदं जग्राह वेगतः ।
ललाटे स्वे पदं स्थाप्य सम्मुखोऽर्जुनमाद्रवत् ॥ ८ ॥

इतनी बात कहकर ताम्रध्वजने संग्रामभूमिमें श्रीकृष्णके उस चक्रधारी हाथको अपने दाहिने हाथमें ले लिया और वेगपूर्वक बायें हाथसे उन देवेश्वरके चरणको पकड़कर अपने ललाटपर रख लिया । फिर वह उनके सामने ही अर्जुनपर झपटा ॥ ७-८ ॥

तमायान्तं सकृष्णं हि पार्थोऽपि व्यचरत् तदा ।
कृष्णाज्ञया शराणां स्वे कार्मुके संदधे शतम् ॥ ९ ॥
समाकिरत् तथाभूतं सुचित्रं जनमेजय ।

जनमेजय ! श्रीकृष्णको दबोचे हुए उसे अपनी ओर आते देखकर अर्जुन भी रणक्षेत्रमें विचरने लगे । फिर श्रीकृष्णकी आज्ञासे उन्होंने अपने धनुषपर सौ बाणोंका संधान किया और उन बाणोंसे उस रूपमें आते हुए सुचित्रको ढक दिया ॥ ९½ ॥

पार्थं पदा ताडयित्वा ताम्रकेतुर्महाबलः ॥ १० ॥
जग्राह कृष्णसंयुक्तं बाहुभ्यां संगरे मुदा ।
ततः कृष्णेन चाक्षिप्तः पपात धरणीतले ॥ ११ ॥

तब महाबली ताम्रध्वजने संग्रामभूमिमें अर्जुनको लात मारकर पुनः आनन्दपूर्वक अपनी दोनों भुजाओंसे श्रीकृष्णके साथ ही उन्हें भी पकड़ लिया । तत्पश्चात् श्रीकृष्णने उसे बड़े जोरसे धक्का दिया, जिससे वह पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ १०-११॥

पतता तेन तौ कृष्णावाकृष्टौ हस्तवेगतः ।
पतितौ तावपि तदा पृथ्व्यां मोहसमन्वितौ ॥ १२ ॥

गिरते समय सुचित्र अपने हाथके वेगसे उन श्रीकृष्ण और अर्जुनको भी साथ ही खींच ले गया । तब वे दोनों भी पृथ्वीपर गिर पड़े और मूर्च्छित हो गये ॥ १२ ॥

उत्थितः स्वयमेवासौ यावत् पश्यति भूतले ।
तावद् ददर्श तौ यातौ तुरङ्गौ स्वपुरं प्रति ॥ १३ ॥

पुनः जब ताम्रध्वजने स्वयं उठकर पृथ्वीपर दृष्टि दौड़ायी, तब उसे वे दोनों यज्ञीय अश्व अपने नगरकी ओर जाते दिखायी पड़े ॥ १३ ॥

हतावशेषान् वीरांस्तान् गृहीत्वा प्रययौ नृप ।
मयूरकेतुं सम्प्राप्य कालेन कियता तदा ॥ १४ ॥

फिर तो उसने अपने उन हतावशिष्ट वीरोंको साथ लेकर नगरकी ओर कूच कर दिया और कुछ कालके पश्चात् वह अपने पिता मयूरध्वजके पास जा पहुँचा ॥ १४ ॥

स्थितो बहिः पुराभ्याशे रम्ये वै यज्ञमण्डपे ।
पुत्रं वीक्ष्यागतं राजा हयौ च परमं बलम् ॥ १५ ॥
प्रत्युवाच हसन् वीरः पुत्रं स्वं तं शिखिध्वजः ।

उस समय वीर राजा मयूरध्वज नगरके बाहर समीपमें ही निर्मित रमणीय यज्ञमण्डपमें बैठे हुए थे । जब उन्होंने विशाल

सेना और दोनों घोड़ोंके साथ पुत्रको आया हुआ देखा, तब वे अपने पुत्र ताम्रध्वजसे हँसते हुए बोले ॥ १५½ ॥

मयूरध्वज उवाच

पुनरेव हयो वत्स सम्प्राप्तो वर्षवर्जितः ॥ १६ ॥
द्वितीयः कस्य तुरगो नृपतेर्धारितस्त्वया ।

मयूरध्वजने कहा—बेटा ! वर्ष पूर्ण होनेके पूर्व ही यह अश्व लौट कैसे आया ? और यह दूसरा अश्व किस नरेशका है, जिसे तू पकड़ लाया है ? ॥ १६½ ॥

तं पुत्रः प्रत्युवाचेदं नमस्कृत्याग्रतः स्थितः ।
दीक्षितं शृङ्गहस्तं हि मृगाजिनपरिग्रहम् ॥ १७ ॥

तब ताम्रध्वज, जो यज्ञकी दीक्षा ग्रहण करके हाथमें सींग धारण किये हुए थे तथा मृग-चर्म ही जिनका परिग्रह था, अपने उस पिताके चरणोंमें प्रणाम करके उनके आगे खड़ा हो गया और इस प्रकार कहने लगा ॥ १७ ॥

ताम्रध्वज उवाच

यज्ञार्थं धर्मराजेन सकृष्णो हयरक्षणे ।
नियुक्तः सव्यसाची हि धनुर्विद्याविशारदः ॥ १८ ॥
वीरैः परिवृतो धीरैः स मया वीक्षितः पुरि ।
बभ्रुवाहस्य नृपतेस्तुरङ्गं परिरक्षता ॥ १९ ॥

ताम्रध्वज बोला—पिताजी ! यह दूसरा घोड़ा धर्मराज युधिष्ठिरका यज्ञीय अश्व है । इसकी रक्षाके लिये उन्होंने श्रीकृष्णकी संरक्षकतामें धनुर्विद्याविशारद अर्जुनको नियुक्त किया था । उनके साथ और भी बहुत-से रणधीर वीर थे । अपने अश्वकी रक्षा करते हुए मैंने उन्हें राजा बभ्रुवाहनके नगरके संनिकट देखा ॥ १८-१९ ॥

तत्र युद्धं व्यवसितं यादृशं पृच्छ मानिनम् ।
निजं प्रधानं बलिनं वक्तारं बहुलध्वजम् ।
इति पुत्रवचः श्रुत्वामात्यं पप्रच्छ सादरम् ॥ २० ॥

फिर वहाँ जैसा घोर संग्राम हुआ है, उसका सारा वृत्तान्त आप अपने प्रधान मन्त्री बहुलध्वजसे, जो मानी, बलवान् तथा प्रवचनकुशल हैं, पूछ लीजिये । पुत्रकी ऐसी बात सुनकर मयूरध्वजने आदरपूर्वक अपने मन्त्रीसे पूछा ॥ २० ॥

बहुलध्वज उवाच

प्रद्युम्नप्रमुखा वीराः पाण्डवार्थे महाबलाः ।
पातितास्तव पुत्रेण पश्चात् कृष्णौ हि योधितौ ॥ २१ ॥
ताभ्यां युद्धं महत् कृत्वा गृहीत्वा कृष्णमाधवौ ।
तस्मिन् रणे पातितौ तौ मूर्च्छितौ तव सूनुना ॥ २२ ॥

तब बहुलध्वज कहने लगा—राजन् ! आपके पुत्रने जब अर्जुनके लिये युद्ध करनेवाले प्रद्युम्न आदि महाबली वीरोंको पराजित कर दिया, तब श्रीकृष्ण और अर्जुन सामना करनेके लिये आये । उस समय आपके इन पुत्रने उन दोनोंके साथ घोर संग्राम करके श्रीकृष्ण और अर्जुनको जीते-जी पकड़ लिया । फिर (मुक्त होनेके लिये उन दोनोंके प्रयत्न करनेपर) इन्होंने उस रणभूमिमें उन दोनोंको हाथके झटकेसे गिराकर मूर्च्छित कर दिया ॥ २१-२२ ॥

ततः परं द्वौ तुरगौ निर्गतौ स्वेच्छया रणात् ।
एतयोः पृष्ठतः प्राप्तस्ताम्रकेतुर्निजं पुरम् ॥ २३ ॥

तत्पश्चात् ये दोनों अश्व स्वेच्छानुसार रणक्षेत्रसे निकलकर नगरकी ओर चल पड़े । उन्हींके पीछे पीछे ये ताम्रध्वज भी अपने नगरमें आ पहुँचे हैं ॥ २३ ॥

मूर्च्छां त्यक्त्वा कृष्णपार्थौ किं कर्तारौ न वेद्मि तत् ।
वयं कुशलिनः प्राप्ताः सहायाः संस्थितं त्विदम् ॥ २४ ॥

मूर्च्छा भंग होनेपर श्रीकृष्ण और अर्जुन क्या करेंगे—इसका मुझे कुछ भी पता नहीं है । हम तो सहायकोंसहित सकुशल यहाँ लौट आये हैं और यह आपकी सेना भी आपके सामने खड़ी है ॥ २४ ॥

मयूरध्वज उवाच

अकार्यं तु महत् कृत्वा पुत्रः प्राप्तो ममान्तिकम् ।
गृहीत्वा तुरगौ मन्दो हा कष्टं वञ्चितोऽस्म्यहम् ॥ २५ ॥
परित्यज्य वशं प्राप्तौ हृषीकेशधनंजयौ ।
हयाभ्यां नैव मे यज्ञो भविष्यति मतिर्मम ॥ २६ ॥
पुत्रकः शत्रुरूपेण प्राप्तो मां बाधितुं गृहे ।

यह सुनकर मयूरध्वजने कहा—मन्त्रिन् ! मेरे इस मूर्ख पुत्रने तो महान् नीच कर्म कर डाला, जो यह अपने वशमें आये हुए श्रीकृष्ण और अर्जुनका परित्याग करके इन दोनों घोड़ोंको लेकर मेरे पास लौट आया है । हाय ! यह तो मेरे लिये बड़े कष्टकी बात हुई । मैं तो ठग लिया गया । मेरा तो ऐसा विचार है कि इन दोनों अश्वोंके आ जानेसे ही मेरा यज्ञ पूर्ण नहीं होगा । यह पुत्राधम शत्रुरूपसे मुझे पीड़ा देनेके लिये घर लौट आया है ॥ २५-२६½ ॥

यदि देवस्त्वया दृष्टो भगवान् मधुसूदनः ॥ २७ ॥

सार्जुनो युद्धसमये विना तं कथमागतः ।

(फिर पुत्रको सम्बोधित करके बोले—) अरे अभागे ! यदि अर्जुनसहित देवाधिदेव भगवान् मधुसूदन युद्धके अवसर-पर तेरी आँखोंके सामने आ गये थे तो तू उन्हें लिये बिना लौट कैसे आया ? ॥ २७½ ॥

यथा हि दुर्भगा नारी पतिं प्राप्य निशामुखे ॥ २८ ॥
कदाचिद् दैवयोगेन निद्रां प्रकुरुते तथा ।
त्वया कृतं हरिं त्यक्त्वा गच्छ दूरे हि मद्गृहात् ॥ २९ ॥

जैसे किसी नारीका (परदेशनिवासी) पति दैवयोगसे कभी प्रदोषकालमें घरपर आ जाय और उसके आनेपर भी वह अभागिनी नींद लेती रहे, श्रीहरिका त्याग करके तूने वैसा ही कार्य किया है; अतः अब तू मेरे घरसे निकल जा ॥ २८-२९ ॥

वेत्सि त्वमात्मनो बुद्धिं धन्यां तुरगसंग्रहात् ।
तुलसीकाननं त्यक्त्वा विजया हि समाश्रिता ॥ ३० ॥

मन्दबुद्धे ! युधिष्ठिरके घोड़ेको पकड़ लानेसे जो तू अपनी बुद्धिको धन्य समझ रहा है (यह तेरी निरी मूर्खता है; क्योंकि) तेरी बुद्धिने तो तुलसीकाननका त्याग करके भाँगका आश्रय लिया है ॥ ३० ॥

वरां चम्पकजां मालामधः कृत्वा सुमोहितः ।
कस्तु गृह्णाति सरसो धत्तूरकुसुमस्रजम् ॥ ३१ ॥

भला, ऐसा कौन रसिक व्यक्ति होगा, जो अत्यन्त मोहमें पड़कर चम्पाके पुष्पोंसे गुँथी हुई उत्तम मालाका तिरस्कार करके धतूरके फूलोंकी मालाको ग्रहण करेगा ? ॥ ३१ ॥

यज्ञं त्यक्त्वा गमिष्यामि हयौ दूरे क्षिपाम्यहम् ।
स्थानं शंस सुदुर्बुद्धे यत्र तौ कृष्णपाण्डवौ ॥ ३२ ॥

ओ दुर्बुद्धे ! मैं इन दोनों घोड़ोंको दूर फेंकता हूँ अर्थात् इनकी मुझे आवश्यकता नहीं है । तू मुझे उस स्थानको बता जहाँ श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों विराजमान हैं । मैं इस यज्ञका त्याग करके वहीं जाऊँगा ॥ ३२ ॥

जैमिनिरुवाच

एवं विनिश्चयं कृत्वा स्थितः स नृपतिर्गृहे ।
सपत्नीकः कृष्णकाङ्क्षी पुत्रं गर्हन् पुनः पुनः ॥ ३३ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा दृढ़ निश्चय करके राजा मयूरध्वज पत्नीसहित घर ही रह गये । उनके मन-में श्रीकृष्ण-दर्शनकी प्रबल आकाङ्क्षा थी, अतः वे बारंबार पुत्रकी निन्दा कर रहे थे ॥ ३३ ॥

कृष्णो मणिपुरे बुद्धः प्रबुद्धाश्चेतरे जनाः ।
ततः कृष्णं सव्यसाची प्राहेदं वचनं नृप ॥ ३४ ॥

नरेश्वर ! इधर मणिपुरमें श्रीकृष्ण मूर्च्छासे जाग उठे तथा दूसरे लोग भी मूर्च्छा त्यागकर सचेत हुए । तब अर्जुन श्रीकृष्णसे इस प्रकार बोले ॥ ३४ ॥

अर्जुन उवाच

क्व गतौ तुरगौ नाथ क्व चायं भूपतिर्गतः ।
तत्र मां नय देवेश यत्र युद्धं प्रजायते ॥ ३५ ॥

अर्जुनने कहा—नाथ ! वे दोनों घोड़े कहाँ चले गये ? तथा राजा ताम्रध्वज किधर छिप गया ? देवेश ! मुझे वहाँ ले चलिये, जहाँ युद्ध हो रहा था ॥ ३५ ॥

श्रीवासुदेव उवाच

हयौ रत्नपुरं पार्थ गतौ मन्ये महाहवात् ।
तत्र गच्छामहे सर्वे मयूरध्वजपालिते ॥ ३६ ॥

श्रीवासुदेव बोले—पार्थ ! मैं तो समझता हूँ कि वे दोनों घोड़े इस महान् युद्धस्थलसे रत्नपुरको चले गये; अतः अब हम सबको भी मयूरध्वजसे सुरक्षित उसी नगरमें चलना चाहिये ॥ ३६ ॥

त्वं मया सहितश्चाग्रे यान्तु वीराश्च पृष्ठतः ।
अग्रे ते दर्शयिष्यामि मयूरध्वजसाहसम् ॥ ३७ ॥

तुम तो मेरे साथ पहले चलो, शेष सभी वीर पीछे आयेंगे । वहाँ पूर्व ही पहुँचकर मैं तुम्हें मयूरध्वजका साहस दिखाऊँगा ॥ ३७ ॥

गृहीत्वा पाण्डवं हस्ते प्रययौ तं नृपं प्रति ।
पृष्ठतो निर्गतं सैन्यं पाण्डवस्य महात्मनः ॥ ३८ ॥
वासुदेवस्ततः पार्थमिदं वचनमब्रवीत् ।

यों कहकर श्रीकृष्ण अर्जुनका हाथ पकड़कर राजा मयूर-ध्वजके पास चल दिये । उनके पीछे महामनस्वी अर्जुनकी सेनाने भी कूच किया । मार्गमें जाते हुए श्रीकृष्ण अर्जुनसे इस प्रकार कहने लगे ॥ ३८½ ॥

श्रीवासुदेव उवाच

दीक्षितस्य पुरं रम्यं दिव्यप्राकारतोरणम् ॥ ३९ ॥
पार्थ पश्य नृपस्यास्य चरितं मानसं तथा ।
प्रतारयितुमायाते मयि सत्यं न मोक्ष्यति ॥ ४० ॥

श्रीवासुदेव बोले—पार्थ ! यज्ञमें दीक्षित राजा मयूर-ध्वजके रमणीय नगरकी ओर तो दृष्टिपात करो । वह दिव्य परकोटे और फाटकोंसे सुशोभित हो रहा है । नगरकी भाँति ही इस राजाका चरित्र और मन भी सुन्दर है । यद्यपि मैं इसे छलनेके लिये चल रहा हूँ, फिर भी यह सत्यका परित्याग नहीं करेगा ॥ ३९-४० ॥

वृद्धोऽहं ब्राह्मणो भूत्वा प्रार्थये तादृशं नृपम्।
त्वां बालकं करिष्यामि हितार्थं तव सुव्रत ॥ ४१ ॥

सुव्रत ! मैं तुम्हारे हितके लिये तुम्हें बालक (शिष्य) बनाऊँगा और स्वयं वृद्ध ब्राह्मणका रूप धारण करके उस सत्यवादी नरेशसे याचना करूँगा ॥ ४१ ॥

एह्यागच्छ मया सार्धं प्रविशामि पुरं महत्।
निशामध्ये चरिष्यामि रक्षितं बहुभिर्जनैः ॥ ४२ ॥

आओ, मेरे साथ चलो। अब मैं बहुसंख्यक पुरुषों-द्वारा सुरक्षित उस महान् नगरमें प्रवेश करके रात्रिके समय वहाँ विचरण करूँगा ॥ ४२ ॥

जैमिनिरुवाच

प्रविश्य तौ तथाभूतौ निशामध्ये त्वपश्यताम्।
निद्रितानां जनानां हि स्त्रीयुतानां विचेष्टितम् ॥ ४३ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तब श्रीकृष्ण और अर्जुन वृद्ध ब्राह्मण तथा बालकका रूप धारण करके नगरमें प्रविष्ट हुए और रात्रिके समय स्त्रियोंके साथ सोये हुए लोगोंकी विशेष चेष्टाएँ देखने लगे ॥ ४३ ॥

दृष्टाः कृष्णेन ते लोका वरमञ्चकशायिनः।
परस्परं प्रब्रुवाणाः कौतुकेन जनाधिप ॥ ४४ ॥

जनेश्वर ! उस समय श्रीकृष्णने देखा कि वे नगरनिवासी (अपनी पत्नियोंके साथ) उत्तम पलंगपर शयन कर रहे हैं और कौतुकवश परस्पर उनमें बातें हो रही हैं ॥ ४४ ॥

कश्चित् पुमान् निजां कान्तां चन्द्रदीपेन भासिताम्।
गृहीत्वा वदनं तस्याः स्वकरेणाब्रवीद् वचः ॥ ४५ ॥

कोई पुरुष चन्द्रमारूपी दीपकसे प्रकाशित होती हुई अपनी प्रियतमा पत्नीसे उसके मुखको अपने हाथमें लेकर यों कह रहा था—॥ ४५ ॥

सर्वाङ्गानि च ते वीक्ष्य भद्रे कुवलयाक्षि मे।
न तथा जायते तृप्तिर्यथा कृष्णविलोकने ॥ ४६ ॥

'भद्रे ! कमललोचने ! तुम्हारे सम्पूर्ण अङ्गोंको देखकर भी मुझे वैसी तृप्ति नहीं प्राप्त होती, जैसी श्रीकृष्णके दर्शनसे मिलती है' ॥ ४६ ॥

नार्युवाच

सकृष्णासि ध्रुवं नाथ रतिकाले हि पश्यसि।
मल्लोचनस्थं कृष्णं ते मोक्षं मन्ये समागतम् ॥ ४७ ॥

स्त्री बोली—नाथ ! निश्चय ही मैं श्रीकृष्णसे संयुक्त हूँ। मैं तो समझती हूँ कि रतिके समय जब आप मेरे नेत्रोंमें स्थित श्रीकृष्णका दर्शन करेंगे, तब आपका मोक्ष ही हो जायगा ॥

प्रिय उवाच

गृहीताः कुटिला भद्रे मदीयाः शिरसि स्थिताः।
त्वया करेण वामेन भिन्नकेशो न किं भवे ॥ ४८ ॥

प्रियतम पतिने कहा—भद्रे ! तुमने अपने बायें हाथ-से जो मेरे सिरके कुञ्चित केशोंको पकड़ रखा है तो क्या मेरी वे जुल्फें उखड़ न जायँगी ? ॥ ४८ ॥

नार्युवाच

मुञ्चाधरपुटं धीर मा भिन्धि कुचमण्डलम्।
सुवृत्तयोः कृतो भेदः स्खलनायोपजायते ॥ ४९ ॥

स्त्री बोली—धैर्यशाली प्रियतम ! तो आप भी मेरे अधरपुटको छोड़ दीजिये और मेरे सटे हुए उरोजोंको एक दूसरेसे पृथक् न कीजिये; क्योंकि सुन्दर गोल-गोल उरोजोंका भेदन (अथवा दो सदाचारी पुरुषोंमें भेद—फूट डालना) स्खलन (पतन) का कारण बन जाता है ॥ ४९ ॥

पुरुष उवाच

सुवृत्तानां मौक्तिकानां त्यक्तसङ्गाविमौ कुचौ।
तावत् सम्पीडयिष्यामि भवेतां कृष्णचूचुकौ ॥ ५० ॥

पुरुषने कहा— सुन्दरि ! इस समय इन स्तनोंने सुन्दर गोल-गोल मोतियोंका संग त्याग दिया है (अथवा इन्होंने सदाचारी मुक्त पुरुषोंका साथ छोड़ दिया है); अतः मैं इन्हें तबतक पीड़ा दूँगा, जबतक कि इनके मुँह काले नहीं पड़ जायँगे ॥ ५० ॥

जैमिनिरुवाच

एवंविधानि वाक्यानि शृण्वन् रात्रौ जनार्दनः।
ततः प्रभातसमये वर्त्तमानेऽर्जुनान्वितः ॥ ५१ ॥
प्रययौ नृपतिं द्रष्टुमुपविष्टं वरासने।
विविधैः पार्थिवैर्गुप्तं मण्डपे भूसुरैर्वृते ॥ ५२ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! रातभर श्रीकृष्ण नगरवासियोंकी इस प्रकारकी बातें सुनते रहे। तदनन्तर प्रातः-काल होनेपर वे अर्जुनके साथ राजा मयूरध्वजसे मिलनेके लिये चले। उस समय वे नरेश ब्राह्मणोंसे भरे हुए मण्डपमें उत्तम आसनपर बैठे हुए थे और बहुत-से सामन्त राजा उनकी रक्षा-में नियुक्त थे ॥ ५१-५२ ॥

कस्तूरीनिकरैश्चन्द्रकलाभिश्चैव संयुते।
नानारत्नचतुष्केऽथ तं ददर्श जनार्दनः ॥ ५३ ॥

वहाँ पहुँचकर श्रीकृष्णने मयूरध्वजको कस्तूरीसमूह तथा चन्द्रकलाओंसे संयुक्त नाना प्रकारके रत्नोंसे निर्मित चौकीपर बैठे हुए देखा ॥ ५३ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि ताम्रध्वजविजयो नाम चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें ताम्रध्वजकी विजयनामक चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णका अर्जुनके साथ यज्ञमण्डपमें मयूरध्वजके पास जाना, उनसे बातचीत करना और छलसे उनके आधे शरीरकी याचना करना, मयूरध्वजका अपना शरीर चिरवानेके लिये उद्यत होना

जैमिनिरुवाच

दीक्षितं जायया युक्तं तुरङ्गद्वयसंयुतम्।
तमब्रवीत् तदा विप्रः स्वस्तीति प्रथमं वचः॥ १॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! राजा मयूरध्वज यज्ञकी दीक्षा ग्रहण करके पत्नीसहित बैठे हुए थे। दोनों यज्ञीय अश्व उनके पास ही खड़े थे। उस समय ब्राह्मणरूपधारी श्रीकृष्णने उनके निकट जाकर प्रणाम करनेसे पहले ही 'स्वस्तिवाचन' (मङ्गलमय आशीर्वाद प्रदान) किया॥ १॥

द्विज उवाच

स्वस्ति ते नृपशार्दूल विद्धि मां संगतं द्विजम्।
सशिष्यं पश्य सम्प्राप्तं मण्डपे यज्ञकारिते॥ २॥

ब्राह्मणने कहा—राजसिंह! आपका कल्याण हो। आपको विदित होना चाहिये कि मैं एक ब्राह्मण हूँ और यज्ञके लिये बनवाये गये आपके इस मण्डपमें शिष्यसहित आ पहुँचा हूँ। आप मेरी ओर देखिये॥ २॥

मयूरध्वज उवाच

समुत्थितोऽस्म्यहं विप्र नमस्कर्तुं सशिष्यकम्।
भवन्तं यावदेवात्र तावत् स्वस्ति प्रभाषसे॥ ३॥

मयूरध्वजने कहा—ब्रह्मन्! मैं यहाँ जबतक शिष्यसहित आपको प्रणाम करनेके लिये उठ ही रहा था तबतक आपने 'स्वस्ति' कहकर आशीर्वाद दे दिया॥ ३॥

नमस्कारं विना विप्र स्वस्ति ब्रूते जनाय यः।
शापेन किं ततः कार्यं तस्माद् युक्तं न ते कृतम्॥४॥

विप्रवर! यदि कोई ब्राह्मण प्रणाम किये बिना ही किसी मनुष्यको आशीर्वाद दे देता है तो वह आशीर्वाद उसके लिये शाप-तुल्य हो जाता है; फिर उसे पृथक् शाप देनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती। इसलिये आपने यह उचित नहीं किया॥४॥

जैमिनिरुवाच

पपात दण्डवत् पश्चाद् वासुदेवस्य चाग्रतः।
समुत्थापित एवासौ कृष्णेनामितबुद्धिना॥ ५॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! इतना कहनेके पश्चात् राजा मयूरध्वज भगवान् वासुदेवके आगे दण्डकी भाँति पड़ गये। तब अगाध बुद्धिसम्पन्न श्रीकृष्णने उन्हें उठाकर खड़ा कर दिया॥ ५॥

पप्रच्छ नृपतिर्भूयो हरिं प्रच्छन्नभूसुरम्।
कस्मात् प्राप्तं पूज्यपादैः सशिष्यैर्मम मण्डपम्॥ ६॥
किं प्रियं भवतां कार्यं प्रब्रुवन्तु मयाधुना।
धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि नादेयं मम विद्यते॥ ७॥

तदनन्तर राजाने विप्रवेषमें छिपे हुए श्रीहरिसे पूछा—'विप्रवर! मेरे यज्ञमण्डपमें शिष्यसहित आप पूज्यचरणोंका किसलिये शुभागमन हुआ है? आपने तो मुझपर महान् अनुग्रह किया है। आपके दर्शनसे मैं धन्य हो गया। अब आप आज्ञा दीजिये कि मैं इस समय आपका कौन-सा प्रिय कार्य सम्पन्न करूँ? क्योंकि मेरे पास ऐसी कोई प्रिय वस्तु नहीं है, जिसे मैं आपको दे न सकूँ'॥ ६-७॥

विप्र उवाच

नमस्कारं विना विप्रैः स्वस्ति वाच्यो नराधिपः।
विज्ञप्तिकाले त्वपरैर्नमस्कार्यो महीपतिः॥ ८॥

विप्रने कहा—राजन्! अपने किसी कार्यको निवेदन करनेके समय ब्राह्मण प्रणाम किये बिना ही राजाके लिये 'स्वस्ति' शब्दका उच्चारण करें, यह उचित है तथा दूसरे वर्णवाले लोगोंको चाहिये कि वे जब किसी कामसे राजाके पास आवें तो उस समय स्वयं ही पहले राजाको प्रणाम करें॥ ८॥

राजोवाच

आदेशो दीयतां मह्यमार्यैरद्याविशङ्कया।
कुर्वऽहं सकलं कार्यं जीवितेन धनेन च॥ ९॥

राजाने कहा—ब्रह्मन्! अब आप महानुभाव निःशङ्क होकर मुझे आज्ञा दीजिये। मैं अपने धन तथा जीवनको

न्योछावर करके आपके सम्पूर्ण कार्यको पूर्ण करनेकी चेष्टा करूँगा ॥ ९ ॥

ब्राह्मण उवाच

शृणु राजन् प्रवक्ष्यामि यदर्थमहमागतः।
रम्याद् धर्मपुरात् कर्तुं विवाहं स्वसुतस्य हि ॥ १० ॥
कृष्णशर्मा द्विजस्तेऽत्र कन्यायुक्तः पुरोहितः।
विद्यते मान्यशीलोऽयं मत्वा दास्यति कन्यकाम्॥ ११ ॥
आयामि पुत्रसहितो यावत् ते नगरं प्रति।
तावन्मार्गे वने घोरे सिंहः कोपसमन्वितः ॥ १२ ॥
जग्राह पुत्रं तरुणं पश्यतो मम पार्थिव।
ततो मया स्वपुत्रस्य मोक्षणे चोद्यमः कृतः ॥ १३ ॥

तब ब्राह्मण कहने लगा—राजन् ! मैं जिस कार्यके लिये आपके पास आया हूँ, उसका वर्णन करता हूँ; सुनिये। मैं अपने पुत्रका विवाह करनेके लिये रमणीय धर्मपुरसे रवाना हुआ हूँ। (मार्गमें मैंने सुना कि) आपके इस नगरमें एक कृष्णशर्मा नामक ब्राह्मण रहते हैं, वे आपके पुरोहित हैं। उनके एक कन्या है। 'वे माननीयोंका समादर करनेवाले हैं, अतः अपनी कन्या मेरे पुत्रके लिये दे देंगे'—ऐसा विचार करके मैं पुत्रको साथ ले आपके नगरकी ओर आ रहा था, तबतक मार्गमें भयंकर वनमें पहुँचनेपर वहाँ क्रोधमें भरा हुआ एक सिंह मिला। उसने मेरे देखते-देखते मेरे तरुण पुत्रको पकड़ लिया। पृथ्वीनाथ ! तब मैं अपने पुत्रको उससे मुक्त करनेके लिये प्रयत्न करने लगा ॥ १०–१३ ॥

स्मृतो नृसिंहस्तत्राशु नागतः स्मरणान्मम।
दुःखितं मां स वै सिंहः प्रत्युवाच हसन्निव ॥ १४ ॥
मनुष्यवाक् पीडयन् मे पुत्रगात्रं तदा नखैः।
दंष्ट्राभिर्भीषणाभिश्च तर्जयँल्लाङ्गुलेन माम् ॥ १५ ॥

मैंने उस अवसरपर शीघ्र ही भगवान् नृसिंहका स्मरण किया, परंतु मेरे स्मरण करनेपर भी जब वे नहीं पधारे, तब मुझे बड़ा दुःख हुआ। तत्पश्चात् वह सिंह मुझ दुखियासे मनुष्यकी वाणीमें हँसता हुआ-सा कहने लगा। उस समय वह अपने नखों तथा भयंकर दाढ़ोंसे मेरे पुत्रके शरीरको पीड़ित करके अपनी पूँछसे मुझे भी डरा रहा था ॥ १४-१५ ॥

सिंह उवाच

वृथा श्रमं हि विप्रेन्द्र पुत्रं प्रति करिष्यसि।
मया ग्रस्तं हि कालेन नान्यस्तारयितुं क्षमः ॥ १६ ॥

सिंहने कहा—विप्रेन्द्र ! अब तुम अपने पुत्रको छुड़ानेके लिये व्यर्थ ही परिश्रम कर रहे हो; क्योंकि जब कालस्वरूप मैंने इसे पकड़ लिया, तब इसका उद्धार करनेके लिये दूसरा कोई समर्थ नहीं हो सकता ॥ १६ ॥

गच्छ शिष्येण सहितः स्वगृहं मा विचारय।
हिंस्राणां पुरतो वासो न सुखायोपजायते ॥ १७ ॥

अब तुम सोच-विचार न करो। इस शिष्यके साथ अपने घरको लौट जाओ; क्योंकि हिंसक जीवोंके सामने अधिक कालतक ठहरना सुखदायक नहीं होता ॥ १७ ॥

अन्यं जनय पुत्रं त्वं यस्ते लोकप्रदो भवेत्।
अपुत्रस्य परो लोको नास्ति वेदेन भाषितम् ॥ १८ ॥

ब्रह्मन् ! वेदका कथन है कि पुत्रहीनको उत्तम लोककी प्राप्ति नहीं होती; अतः अब तुम घर जाकर दूसरे ऐसे पुत्रको उत्पन्न करो, जो तुम्हें उत्तम लोक प्रदान कर सके ॥ १८ ॥

ब्राह्मण उवाच

मां भक्षयित्वा सिंह त्वं मुञ्च पुत्रं हि लोकदम्।
वृद्धस्याल्पायुषो व्यर्थं जीवितं पुत्रवर्जितम् ॥ १९ ॥

ब्राह्मणने (मैंने) कहा—सिंह ! तुम मेरे पुत्रको छोड़ दो और उसके बदले मेरा भक्षण कर लो; क्योंकि यही मुझे उत्तम लोक प्रदान करनेवाला है। अब मैं वृद्ध हो चला। मेरी आयु भी थोड़ी ही शेष होगी (अतः दूसरा पुत्र उत्पन्न कर नहीं सकता)—ऐसी दशामें पुत्रहीन हो जानेपर तो मेरा जीवन ही व्यर्थ हो जायगा ॥ १९ ॥

सिंह उवाच

वयं तु मृत्युना ग्रस्तं घातयामो जनं क्वचित्।
साहाय्यकारकाः सर्वे सर्पहिंस्रजलादिकाः ॥ २० ॥

सिंह बोला—विप्रवर ! हमलोग कहीं भी उसी जीवका वध करते हैं, जो मृत्युसे ग्रस्त हो; क्योंकि सर्प, हिंसक प्राणी तथा जल आदि सभी वस्तुएँ केवल मृत्युकी सहायता करनेवाली हैं ॥ २० ॥

तवायुष्यं हि बहुलं गतायुस्तव पुत्रकः।
तस्माद् गच्छ मयाऽऽज्ञप्तः किमिदं क्रियते त्वया ॥ २१ ॥

तुम्हारी आयु अभी बहुत है और तुम्हारे पुत्रकी आयु समाप्त हो चुकी है (अतः इसकी मृत्यु तो निश्चित ही है), इसलिये तुम मेरे कहनेसे घर लौट जाओ। अहो ! प्राण देनेके लिये उतारू होकर तुम यह क्या कर रहे हो ! ॥ २१ ॥

ब्राह्मण उवाच

केनोपायेन दानेन तपसा वा प्रमुञ्चसि।
तदा प्रोक्तं केसरिणा त्वत्तः किं प्रार्थ्यते नृप ॥ २२ ॥

ब्राह्मणने कहा—सिंह ! तुम दान, तपस्या अथवा किस उपायसे मेरे पुत्रको छोड़ सकते हो, यह मुझे बताओ। राजा मयूरध्वज ! उस समय सिंहने जो कुछ कहा था, उसके लिये क्या मैं आपसे प्रार्थना कर सकता हूँ ? ॥ २२ ॥

मयूरध्वज उवाच

विप्रेन्द्र मामके राष्ट्रे क्षुद्रः सिंहो न विद्यते।
नारसिंहं विना कोऽन्यस्तव पुत्रं प्रधारयेत् ॥ २३ ॥

मयूरध्वजने कहा—विप्रेन्द्र ! मेरे राज्यमें तो छोटा-सा भी सिंह नहीं रहता; अतः भगवान् नृसिंहके अतिरिक्त दूसरा कौन सिंह आपके पुत्रको पकड़ सकता है ? ॥ २३ ॥

ब्राह्मण उवाच

सिंहेन प्रार्थितं किंचित् त्वत्तो यन्नृपसत्तम।
भविष्यति हि तद् देयं यत् त्वां याचति केसरी॥ २४ ॥

ब्राह्मणने कहा—नृपश्रेष्ठ ! उस सिंहने आपसे जो कुछ प्रार्थना की है, उसे आपको अवश्य देना होगा; क्योंकि वह आपसे ही याचना कर रहा है ॥ २४ ॥

राजोवाच

किं प्रार्थितं केसरिणा मत्तो दास्यामि तेऽनघ।
तद् ब्रूहि शीघ्रं विप्रेन्द्र नानृतं मम भाषितम् ॥ २५ ॥

राजाने पूछा—निष्पाप ब्राह्मण ! उस सिंहने मुझसे किस वस्तुके लिये याचना की है, उसे शीघ्र ही बताइये । मैं वह वस्तु आपको दूँगा; क्योंकि मेरा कथन असत्य नहीं हो सकता ॥ २५ ॥

ब्राह्मण उवाच

प्रदास्यसि कथं तत् तु मया यत् प्रार्थ्यते किमु।
अपुत्रत्वं दारुणं हि कः प्राणान् दयितान् नृप ॥ २६ ॥

ब्राह्मणने कहा—नरेश्वर ! मैं जिस वस्तुके लिये आपसे याचना करना चाहता हूँ, उसे आप कैसे दे सकेंगे ? मेरा पुत्रहीन हो जाना मेरे लिये बड़ी भयंकर बात है ! भला, इसके निवारणके लिये कौन अपने प्यारे प्राणोंका उत्सर्ग करेगा ? ॥ २६ ॥

सिंहेन प्रार्थितं दाता भवांश्चेच्छृणु दारुणम्।
तेनोक्तोऽहं महारण्ये शरीरार्धं समानय ॥ २७ ॥
मयूरकेतोः पुत्रं ते ततो मुञ्चामि भूसुर।
त्वदीयं तपसा दग्धं वृद्धं गात्रं न रोचते ॥ २८ ॥

यदि आप सिंहद्वारा माँगी हुई वस्तु देनेके लिये उद्यत हैं तो उस दारुण वचनको सुनिये । उस महान् वनमें सिंहने मुझसे कहा था कि 'ब्राह्मण ! यदि तुम मयूरध्वजका आधा शरीर ला दो तो मैं तुम्हारे पुत्रको छोड़ दूँगा । तुम्हारा शरीर तो तपस्यासे दग्ध एवं वृद्ध हो चुका है, अतः यह मुझे पसंद नहीं है ॥ २७-२८ ॥

नानाविधफलैः पुष्टं दिव्यदुग्धरसैर्वपुः।
मयूरकेतोर्निर्भिन्नं सुप्रियं मम दीयताम् ॥ २९ ॥

उधर मयूरध्वजका शरीर नाना प्रकारके फलों तथा दिव्य दुग्ध आदि रसोंसे परिपुष्ट है । वह चीरा हुआ शरीर मुझे परम प्रिय लगेगा; अतः उसे ही मेरे लिये ला दो ॥ २९ ॥

यावच्च नानयेर्गात्रं तादृशं तावदेव हि।
पुत्रं न ते भक्षयेऽहं सत्यमेतद् वदामि ते ॥ ३० ॥

जबतक तुम मयूरध्वजके उस परिपुष्ट शरीरको लेकर नहीं आ जाओगे, तबतक मैं तुम्हारे पुत्रको नहीं खाऊँगा—यह मैं तुमसे सत्य कह रहा हूँ ॥ ३० ॥

ब्राह्मण उवाच

किमर्थं स्वशरीरं हि राजा भेत्स्यति सुन्दरम्।
परार्थे नैव गच्छामि मृगाधिप नराधिपम् ॥ ३१ ॥

ब्राह्मण पुनः कहने लगा—मृगराज ! भला, राजा होकर वे दूसरेके लिये अपने सुन्दर शरीरको क्यों चिरायेंगे; अतः मैं उन नरेशके पास ऐसी याचना करने नहीं जाऊँगा ॥

सिंहेनोक्तं पुनरपि गच्छ विप्र नृपं प्रति।
ददौ दधीचिरस्थीनि कवचं भानुजो यथा ॥ ३२ ॥
तथा प्रदास्यति वपुर्विप्रार्थे नान्यथा भवेत्।
यशस्विनां शरीरे स्वे प्रीतिर्न महती क्वचित् ॥ ३३ ॥

राजन् ! तब उस सिंहने पुनः मुझसे कहा—'ब्रह्मन् ! तुम राजाके पास अवश्य जाओ । (मेरा तो विश्वास है कि) जैसे इन्द्रके याचना करनेपर महर्षि दधीचिने अपनी हड्डियाँ तथा सूर्यपुत्र कर्णने अपना जन्मजात कवच उन्हें दे डाला था, उसी प्रकार राजा भी ब्राह्मणके निमित्त अपना शरीर

प्रदान कर देंगे। यह बात अन्यथा नहीं हो सकती; क्योंकि यशस्वी पुरुषोंका अपने शरीरपर कभी विशेष प्रेम नहीं होता॥

रणमध्ये पातनीयं द्विजार्थे बाहुजैर्वपुः।
त्वं विप्र सुतहीनोऽसि ततो याहि तदन्तिकम् ॥ ३४ ॥

'परब्रह्म परमात्माकी भुजाओंसे उत्पन्न हुए क्षत्रियोंको ब्राह्मणके कार्यके लिये रणभूमिमें अपने शरीरका भी उत्सर्ग कर देना उचित है। विप्रवर! तुम अब पुत्रहीन हो रहे हो, अतः राजाके पास जाओ॥ ३४॥

तं प्रार्थय महीपालं गत्वा शोकविनाशनम्।
बहवो जनितास्तेन पुत्रा राज्यं चिरं कृतम् ॥ ३५ ॥
त्वां वीक्ष्य कृपया युक्तो भविष्यति न संशयः।
अर्थिना प्रार्थ्यते सर्वं जनो यच्छतु वा न वा ॥ ३६ ॥

'वहाँ जाकर राजा मयूरध्वजसे प्रार्थना करो। वे तुम्हारा शोक दूर कर देंगे; क्योंकि उनके बहुत-से पुत्र उत्पन्न हो चुके हैं और उन्होंने चिरकालतक राज्यका भी उपभोग कर लिया है; इसलिये तुम्हारी दुरवस्था देखकर वे निस्संदेह दयासे द्रवित हो जायँगे। (इसमें संकोचकी क्या बात है?) याचक तो सभी प्रकारकी वस्तुएँ माँगता है, दाता दे अथवा न दे (यह उसकी इच्छापर निर्भर है)'॥ ३५-३६॥

ब्राह्मण उवाच

इत्थं तेन वने प्रोक्तं सिंहेनाहं प्रचोदितः।
सशिष्यस्त्वद्गृहं प्राप्तः पुत्रशोकातुरो नृप ॥ ३७ ॥
केनाप्युपायेन वने सिंहात् पुत्रं समानय।

ब्राह्मण कहने लगे—नरेश्वर! इस प्रकार वनमें उस सिंहने मुझसे कहा था। उसीकी प्रेरणासे पुत्रशोकसे आतुर होकर मैं अपने इस शिष्यके साथ आपके घरपर आया हूँ; अतः अब आप जिस किसी भी उपायसे मेरे पुत्रको वनमें स्थित उस सिंहसे छुड़ाकर ला दीजिये॥ ३७½॥

अदृष्टः केसरी जातः कथयन् दारुणं वचः ॥ ३८ ॥
शरीरार्द्धं विना तस्य नागन्तव्यं महीपतेः।
आगतस्य न ते पुत्रं विना नात्र प्रमोचये ॥ ३९ ॥

राजन्! उस समय वह सिंह 'तुम राजा मयूरध्वजके शरीरका अर्धभाग लिये बिना मत लौटना। यदि उस शरीरको लिये बिना ही वापस आओगे तो मैं तुम्हारे पुत्रको छोड़ नहीं सकता।'—यों कठोर वचन कहता हुआ मेरी आँखोंसे ओझल हो गया॥ ३८-३९॥

इति तेन यदा प्रोक्तं तदा त्वामहमागतः।
निवेद्य दुःखं भूपाले स्थातव्यं दुर्बलैर्जनैः ॥ ४० ॥

जब उसने ऐसी बात कही, तभी मैं आपके पास आया हूँ; क्योंकि दुर्बल लोगोंको चाहिये कि वे राजासे अपना दुःख निवेदन करके चुपचाप स्थित रहें॥ ४०॥

रामचन्द्रेण वीरेण ब्राह्मणस्य मृतः सुतः।
ब्रह्मचर्यव्रतकरः पुराऽऽनीतः स्वपौरुषात् ॥ ४१ ॥

प्राचीनकालमें वीरवर श्रीरामचन्द्रजीने ब्राह्मणके मरे हुए पुत्रको, जो ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाला था, अपने पुरुषार्थसे वापस ला दिया था॥ ४१॥

नृपाशयाहं पुत्रार्थी भवन्तं समुपागतः।
रामतुल्यं हि सत्त्वेन मत्वा धैर्येण पार्थिव ॥ ४२ ॥

पृथ्वीनाथ! नरेश्वर! मैं अपने पुत्रके जीवन-प्राप्तिकी कामनावाला हूँ, इसलिये मैं आपको श्रीरामके समान ही पराक्रमी तथा धैर्यशाली समझकर बहुत बड़ी आशा लगाकर आपके पास आया हूँ॥ ४२॥

नृप उवाच

तिष्ठ विप्रेन्द्र दास्यामि मण्डपे स्वं कलेवरम्।
सर्वेषामत्र विप्राणामग्रे साधूदितं मया ॥ ४३ ॥

तब राजाने कहा—विप्रेन्द्र! थोड़ी देर ठहरिये। मैं इस यज्ञमण्डपमें अपना शरीर आपके अर्पण कर दूँगा। मैंने यहाँ उपस्थित सभी ब्राह्मणोंके समक्ष यह सत्य बात कही है॥

जैमिनिरुवाच

एवमुक्त्वा वचो राजा पुत्रं राज्ये न्यवेशयत्।
सुस्नातो जाह्नवीतोयैः शालग्रामशिलाजलैः ॥ ४४ ॥
तुलसीदलजां मालां कण्ठे कृत्वा हसन्निव।
शङ्खचक्राङ्कितं गात्रं कृत्वा राजा मुदान्वितः ॥ ४५ ॥
सभामण्डपमागत्य सर्वान् विप्रानुवाच सः।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसी बात कहकर राजा मयूरध्वजने अपने पुत्रको राज्यसिंहासनपर बैठा दिया और स्वयं गङ्गाजलसे भली प्रकार स्नान किया, शालग्रामशिलाओंके प्रक्षालित जलसे अपनेको सींचा, तुलसीदलोंसे बनी

हुई माला गलेमें धारण कर ली, शरीरको शङ्ख-चक्रसे अङ्कित कर लिया ! इस प्रकार राजा मयूरध्वज आनन्दपूर्वक हँसते हुए सभामण्डपमें आये और सभी ब्राह्मणोंसे कहने लगे ॥४४-४५½॥

मयूरध्वज उवाच

एनं कृष्णं विप्ररूपं पुत्रार्थे मां समागतम् ॥ ४६ ॥
अर्चयामि स्वदेहार्द्धाद् यथा पुत्रयुतो भवेत् ।
पश्यन्तु कौतुकं सर्वे ब्राह्मणा यज्ञवाटके ॥ ४७ ॥

मयूरध्वज बोले—मेरे यज्ञमण्डपमें उपस्थित द्विजवरो ! ये ब्राह्मण देवता अपने पुत्रके जीवनकी कामनासे मेरे पास आये हुए हैं; अतः मैं इन्हें श्रीकृष्णके समान मानकर अपने शरीरका आधा भाग देकर इनका सत्कार करूँगा, जिससे ये पुत्रवान् हो जायँ । अब आप सब लोग यह कौतुक देखिये ॥ ४६-४७ ॥

वार्धकीकाः समायान्तु करपत्रसमन्विताः ।
द्वौ स्तम्भौ रोपयन्त्वत्र भिन्दन्तु मम मस्तकम् ॥ ४८ ॥
येषां प्रियोऽहं सततं तैर्न वाच्यं हि दूषणम् ॥ ४९ ॥

अब यहाँ दो खम्भे खड़े कर दिये जायँ तथा बढ़ई आरा लिये हुए आ जायँ और मेरे मस्तकको दो भागोंमें चीर दें । जिनके लिये मैं सर्वदासे प्रिय रहा हूँ, उन्हें भी (मेरी यह दशा देखकर) कोई कटुवचन नहीं बोलना चाहिये ॥४८-४९॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि मयूरध्वजदेहार्धदाननिश्चयो नाम पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें मयूरध्वजका अपना आधा शरीर दे देनेका निश्चयनामक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥४५॥

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

रानी कुमुद्वती और पुत्र ताम्रध्वजद्वारा आरेसे मयूरध्वजके शरीरका चीरा जाना, बायें नेत्रसे आँसू टपकनेके कारण श्रीकृष्णका उसे त्यागकर चल देना, पुनः मयूरध्वजके स्पष्टीकरण करनेपर लौटना और प्रसन्न होकर राजाको चतुर्भुजरूपमें दर्शन देना, राजाद्वारा श्रीकृष्णका स्तवन, तत्पश्चात् मयूरध्वजका अर्जुनके साथ घोड़ेकी रक्षाके लिये प्रस्थान

जैमिनिरुवाच

तस्य वाक्यं हि ते श्रुत्वा प्रधानाश्च द्विजास्तदा ।
कम्पिताश्च भिया युक्ता बभूवुर्नृपसत्तम ॥ १ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ जनमेजय ! उस समय उस ब्राह्मणका वचन सुनकर सभी मन्त्री तथा द्विज भयभीत हो उठे और उनका शरीर काँपने लगा ॥ १ ॥

प्रब्रुवन्तः सकरुणं कुतः कालनिभो द्विजः ।
आगतः प्राणहरणो राज्ञोऽस्माकं हि निर्दयः ॥ २ ॥

वे दयापरवश होकर कहने लगे—'यह कालके समान हमारे राजाके प्राणोंका अपहरण करनेवाला ब्राह्मण कहाँसे आ गया ? यह तो बड़ा निर्दयी है ॥ २ ॥

बहवो याचका दृष्टास्त्वीदृशो न कदाचन ।
राज्ञो देहं याचयेत् को निर्दयो निरपत्रपः ॥ ३ ॥

'हमलोगोंने बहुत-से याचक देखे, परंतु ऐसा याचक कभी भी सामने नहीं आया । भला, ऐसा कौन निष्ठुर तथा निर्लज्ज याचक होगा, जो राजाके सामने आकर उनके शरीरकी ही याचना करे ॥ ३ ॥

सिंहो हि घातुको लोके प्रसिद्धो मांसभक्षकः ।
अयं च मानुषो जात्या ब्राह्मणो ज्ञानवांस्तथा ॥ ४ ॥
स्वार्थनिष्ठः कथं जातो भूत्वा ब्राह्मणजातिजः ।
अस्माकं क उपायोऽत्र भावि यत् तद् भविष्यति॥ ५ ॥
अवश्यम्भाविभावानां प्रतीकारो न विद्यते ।
सत्यवादी प्रियातिथ्यः कथं वार्यो महीपतिः ॥ ६ ॥

'संसारमें मांसभक्षी सिंह ही जीवहिंसक प्रसिद्ध है; परंतु यह तो मनुष्य है, जातिका भी ब्राह्मण है तथा ज्ञानसम्पन्न भी है; फिर यह ब्राह्मण-वंशमें उत्पन्न होकर भी ऐसा स्वार्थपरायण कैसे हो गया ? अच्छा, हमलोग इस विषयमें उपाय ही क्या

कर सकते हैं। जो होनहार होगा, वह तो होकर ही रहेगा; क्योंकि जो कार्य अवश्यम्भावी हैं, उनके प्रतीकारका कोई उपाय है ही नहीं। इधर हमारे महाराज सत्यवादी तथा अतिथि-सत्कारके प्रेमी हैं, ऐसी दशामें उन्हें कैसे रोका जा सकता है ॥ ४–६ ॥

किमयं विप्ररूपेण पुरा प्राप्तो यथा बलिम्।
वामनो यज्ञसमये तथा विप्रो हरिं द्विजम् ॥ ७ ॥

'प्राचीनकालमें जैसे भगवान् विष्णु वामनरूपसे राजा बलिके यहाँ उनके यज्ञके अवसरपर पधारे थे, उसी तरह वे ही भगवान् विप्रवेषमें हमारे यज्ञमण्डपमें आये हैं क्या? हमलोग तो इस ब्राह्मणको श्रीहरिके रूपमें ही समझ रहे हैं' ॥

एवं वदन्तस्ते सर्वे तदा राज्ञा निवारिताः।
ततो नृपो हर्षितोऽभूद् दत्त्वा दानान्यनेकशः ॥ ८ ॥

जब वे ऐसी बातें कहने लगे, तब राजाने उन्हें ऐसा कहनेसे मना कर दिया। तदनन्तर राजा मयूरध्वजने अनेक प्रकारके दान दिये, जिससे उन्हें परम हर्ष प्राप्त हुआ ॥ ८ ॥

तदाऽऽयाता वार्धकीकाः स्तम्भौ द्वौ रोपितौ हि तैः।
तिर्यक्काष्ठं कृतं चैकं दृढं बद्धं च रज्जुभिः ॥ ९ ॥

उसी समय वहाँ बढ़ई आ पहुँचे। उन्होंने दो खम्भे खड़े कर दिये और उनके ऊपर एक काष्ठ तिरछा (बेड़ा) रखकर उसे रस्सियोंसे दृढ़तापूर्वक बाँध दिया ॥ ९ ॥

आदिदेश तदा राजा करपत्रं स्वमस्तके।
धर्त्तुं स्वयं हर्षयुतः सर्वेषामेव पश्यताम् ॥ १० ॥

तब सबकी आँखोंके सामने ही स्वयं राजा मयूरध्वजने हर्षपूर्वक अपने मस्तकपर आरा रखनेका आदेश दिया ॥१०॥

क्षालयित्वा विप्रपादौ राजा वचनमब्रवीत्।
शरीरार्द्धेन गोविन्दः प्रीयतां यज्ञनायकः ॥ ११ ॥

उस समय राजाने उन ब्राह्मणदेवका पाद-प्रक्षालन करके (उस जलको सिरपर चढ़ाया और) यों कहना आरम्भ किया—'अब यज्ञनायक भगवान् गोविन्द मेरे शरीरके अर्धभागसे प्रसन्न हों ॥ ११ ॥

अस्मत्कुलप्रसूतानां नराणां शुभमिच्छताम्।
सभायां विप्रकार्ये हि ददतां यौवनं धनम् ॥ १२ ॥

'हमारे कुलमें उत्पन्न हुए शुभाकाङ्क्षी मनुष्योंको चाहिये कि वे इसी प्रकार सभामें उपस्थित हुए ब्राह्मणके कार्यके हेतु अपना यौवन और धन दान कर दें ॥ १२ ॥

गृहाण विप्र भिन्नं मे शरीरार्द्धं नृकेसरी।
संतोषं परमं यातु भिनद्मि स्वं कलेवरम् ॥ १३ ॥

'विप्रवर! अब मैं अपना शरीर चिरवा रहा हूँ। आप चिरे हुए मेरे शरीरके आधे भागको ले जाइये। उससे वे भगवान् नृसिंह परम संतोष लाभ करें ॥ १३ ॥

रे रे मल्ला मयाऽऽज्ञप्ताः कर्षन्तु स्वबलान्मम।
गात्रं बद्धं पट्टगुणैर्मा चिरं यातु भूसुरः ॥ १४ ॥

'अरे मल्लो! मैं तुम्हें आज्ञा दे रहा हूँ, तुमलोग रेशमकी डोरीसे बँधे हुए मेरे शरीरपर रखे हुए आरेको बलपूर्वक खींचो। विलम्ब मत करो। जिससे ये भूदेव शीघ्र ही लौट जायँ ॥ १४ ॥

धन्योऽस्मिन् भूतले जातो ब्राह्मणेनामुना कृतः।
शृण्वन्तु लोकाः सकला भाषितं मम सादरम् ॥ १५ ॥

'इस भूतलपर उत्पन्न हुए मुझको इन ब्राह्मणदेवने धन्यवादका पात्र बना दिया। अब यहाँ उपस्थित सभी लोग आदरपूर्वक मेरा कथन सुनें—॥ १५ ॥

परोपकृतये येषां शरीरं वित्तसंग्रहः।
याति यत् तत् स्थितं शोच्यमुभयं दानवर्जितम्॥ १६ ॥
तस्मात् प्रहर्षः कर्तव्यो मां निरीक्ष्य सभासदैः।

'जिन प्राणियोंकी देह और धनराशि परोपकारके कार्यमें व्यय होती है, उसीको स्थिर समझना चाहिये; क्योंकि दान-रहित होनेपर तो उन दोनोंकी शोचनीय अवस्था हो जाती है। इसलिये मेरी इस दशाको देखकर सभी सभासदोंको परम आनन्द मानना चाहिये' ॥ १६½ ॥

जैमिनिरुवाच

हाहाभूतं तदा राष्ट्रं वीक्ष्य राजानमेव च ॥ १७ ॥
क्रन्दमानं हि संजातं कुररीगणसंनिभम्।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय राजाकी वह दशा देखकर सारे राज्यमें हाहाकार मच गया। सारी प्रजा क्रौञ्च पक्षियोंके झुंडकेसमान जगह-जगह एकत्रित होकर चीख-चीखकर चिल्लाने लगी ॥ १७½ ॥

महिषी तस्य नृपतेः समागत्याब्रवीन्नृपम् ॥ १८ ॥
विप्रस्य पुरतो दृष्ट्वा रम्या राजन् कुमुद्वती।

राजन् ! तब राजा मयूरध्वजकी सुन्दरी रानी कुमुद्वती ब्राह्मणके सामने आकर हर्षपूर्वक राजासे कहने लगी ॥१८½॥

कुमुद्वत्युवाच

राजन् विप्राय देहार्धं त्वया देयं मया श्रुतम् ॥ १९ ॥
तवार्धगात्रं भार्यास्मि मां दत्त्वा सत्यवाग्भव ।

कुमुद्वती बोली—राजन् ! मैंने सुना है कि आप अपने शरीरका अर्धभाग ब्राह्मणको देना चाहते हैं, सो आपका अर्धाङ्ग तो मैं ही हूँ; क्योंकि मैं आपकी भार्या हूँ; अतः आप मुझे ब्राह्मणको देकर अपने वचनको सत्य कीजिये ॥ १९½ ॥

सजीवं दीयते दानं भिन्नं ते गतजीवितम् ॥ २० ॥
परेण भिन्नं पश्वास्यो न गृह्णाति मतिर्मम ।

दान भी तो सजीवका ही दिया जाता है, आपका शरीर तो चीरे जानेसे निर्जीव हो जायगा । साथ ही मेरा तो ऐसा विचार है कि दूसरे द्वारा विदीर्ण किये हुए मांसको सिंह ग्रहण भी नहीं करते ॥ २०½ ॥

तुर्यांशो यदि देयो हि भवेद् भग्नं हि ते वपुः ॥ २१ ॥
अर्धं प्रार्थयते सिंहः स्त्रीरूपं विद्धि मारिष ।

आर्य ! इसके अतिरिक्त यदि चतुर्थांश ही देना हो तब तो आपका शरीर चीरा जाय (क्योंकि अर्धाङ्ग तो मैं ही हूँ और आपके अर्धाङ्गके दो भाग करनेपर सम्पूर्ण शरीरका चातुर्थांश हो जायगा); परंतु वह सिंह तो आधा भाग माँग रहा है और वह अर्धभाग स्त्रीरूपमें मुझे ही समझिये ॥ २१½ ॥

प्राणनाथस्य पुरतो या नारी मृत्युमाव्रजेत् ॥ २२ ॥
उत्तमां गतिमाप्नोति नात्र कार्या विचारणा ।

साथ ही जो स्त्री अपने प्राणनाथके सामने ही मृत्युको प्राप्त होती है, उसे उत्तम गतिकी प्राप्ति होती है; इसमें अन्यथा विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ २२½॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा विप्रः प्रोवाच सत्वरः॥ २३ ॥
एकाग्रमनसं ज्ञात्वा राजानं वाक्यकोविदः ।

कुमुद्वतीकी वह बात सुनकर और राजाको एकाग्र मनसे कुछ विचार करते जानकर वह वाक्यविशारद ब्राह्मण तत्काल ही बोल उठा ॥ २३½ ॥

विप्र उवाच

सिंहेन कथितं राजन् वामाङ्गं स्त्री महीपतेः ॥ २४ ॥
दक्षिणाङ्गं प्रदेयं मे वामाङ्गं नीयते कथम् ।

ब्राह्मणने कहा--राजन् ! सिंहने कह दिया था कि राजाका वामाङ्ग स्त्री है, अतः मुझे दक्षिणाङ्ग ही देना चाहिये। तब मैं वामाङ्गको कैसे ले जा सकता हूँ ॥ २४½ ॥

शरीरं दक्षिणाङ्गं मे दातुं सिंहाय चार्हसि ॥ २५ ॥
न दास्यसि कदाचित् त्वं निराशो यामि तं प्रति ।

इसलिये उस सिंहको देनेके लिये आप अपने शरीरका दक्षिणाङ्ग ही मुझे प्रदान कीजिये । यदि कदाचित् आप नहीं देंगे तो मैं निराश होकर उसके पास लौट जाऊँगा ॥२५½ ॥

तेनैव प्रेषितो राजन् सामीप्यं तव सुव्रत ॥ २६ ॥
गत्वा तं कथयिष्यामि पुत्रं भक्ष यथासुखम् ।

उत्तम व्रतका पालन करनेवाले राजन् ! उस सिंहने ही मुझे आपके पास भेजा था । उसके पास जाकर मैं उससे कह दूँगा कि (राजा अपने शरीरका दक्षिणार्ध भाग नहीं देना चाहते, अतः) अब तुम सुखपूर्वक मेरे पुत्रको खा लो ॥ २६½ ॥

एवं विप्रे प्रवदति शृण्वतां वै सभासदाम् ॥ २७ ॥
पश्यतां कौतुकं चैव राजपुत्रोऽतिहर्षितः ।
तं ब्राह्मणं शिष्ययुतं गिरा कोमलया तदा ॥ २८ ॥
सम्पादयन् पितुः कीर्तिमुवाच परया मुदा ।

जिस समय ब्राह्मण ऐसी बातें कह रहा था और सभी सभासद् उसकी बातें सुनते हुए वह कौतुक देख रहे थे, उसी समय राजकुमार ताम्रध्वज अत्यन्त हर्षित होकर शिष्यसहित आये हुए उस ब्राह्मणसे कोमल वाणीमें बोला । उस समय ताम्रध्वज परमानन्दमें मग्न होकर अपने पिताकी कीर्तिका सम्पादन करना चाहता था ॥ २७-२८½ ॥

ताम्रध्वज उवाच

यो वै पिता स पुत्रो हि श्रुतिरेषा सनातनी ॥ २९ ॥
ब्राह्मणार्थे हि मत्पित्रा शरीरार्धं समर्पितम् ।
शरीरार्धं समग्रं हि पितुर्भवति पुत्रकः ॥ ३० ॥

ताम्रध्वजने कहा—विप्रवर ! जो पिता है, वही पुत्र है (अर्थात् 'पिता वै जायते पुत्रः' पिता ही पुत्ररूपसे उत्पन्न होता है)—यही सनातनी श्रुति है । इसलिये यदि मेरे पिताजीने अपने शरीरका अर्धभाग ब्राह्मणको देनेके लिये प्रतिज्ञा की है तो पिताके शरीरका सम्पूर्ण आधा भाग पुत्र ही होता है (वह मैं चलनेके लिये तैयार हूँ) ॥

प्रसन्नस्तरुणं वीक्ष्य मांसपुष्टं मृगाधिपः।
भविष्यति महाबुद्धे पुत्रस्य च महद्यशः॥ ३१॥
भीष्मरामादिभिर्लब्धं पितृवाक्यकरैर्यशः।

महाबुद्धे! मांससे हृष्ट-पुष्ट मुझ तरुणको देखकर मृगराज सिंह भी प्रसन्न हो जायगा और मुझ पुत्रको भी महान् यशकी प्राप्ति हो जायगी; क्योंकि भीष्म और परशुराम आदिने भी पिताकी आज्ञाका पालन करनेसे उत्तम यश लाभ किया था॥ ३१½॥

ब्राह्मण उवाच

सत्यं त्वं भाषसे पुत्र वचः केसरिणः शृणु॥ ३२॥
पुत्रेण भार्यया भिन्नं मयूरध्वजमस्तकम्।
द्विधा जातं शरीराद्धि दक्षिणाङ्गं त्वमानय॥ ३३॥
कथं तदन्यथा कर्तुं शक्यते मद्विधेन तु।

ब्राह्मणने कहा—बेटा! तू सत्य कह रहा है; परंतु तू उस सिंहके वचनको भी तो सुन। (उसने कहा था कि) 'तुम पुत्र और भार्यासे भिन्न मयूरध्वजके मस्तकका वह दाहिना भाग ले आना, जो उनके शरीरसे फाड़कर दो भागोंमें विभक्त किया गया होगा।' तब बताओ, मुझ-जैसा व्यक्ति उस कथनके विपरीत कैसे कर सकता है?॥ ३२-३३½॥

जैमिनिरुवाच

ततः स नृपशार्दूलो वारयित्वा प्रियां सुतम्॥ ३४॥
तयोः करे ददौ राजा करपत्रं मुदान्वितः।
स्त्रीपुत्रयोः पुरस्तस्य ब्राह्मणस्य महात्मनः॥ ३५॥
जपन् केशव रामेति नृसिंहेति च धैर्यतः।
ददृशुस्तं तथाभूतं सर्वे देवाः सवासवाः॥ ३६॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर राजसिंह मयूरध्वजने अपनी पत्नी तथा पुत्रको वैसा करनेसे मना कर दिया और उन महात्मा ब्राह्मणके सामने अपने उन दोनों स्त्री और पुत्रके हाथमें आनन्दपूर्वक आरा दे दिया। फिर स्वयं धैर्यपूर्वक 'केशव, राम, नृसिंह' आदि भगवन्नामोंका जप करने लगे। उस समय इन्द्रसहित समस्त देवता राजाकी उस दशाको देख रहे थे॥३४-३६॥

यदा धृतं मस्तके स्वे करपत्रं महात्मनः।
महतां चाभवद् ग्लानिर्दुःखिताः पौरजा जनाः॥ ३७॥

जिस समय उन महात्मा राजाके मस्तकपर आरा रखा गया, उस समय सत्पुरुषोंके मनमें बड़ी ग्लानि हुई और समस्त नागरिकजन दुःखमें डूब गये॥ ३७॥

भार्या जग्राह तद्वाक्यात् करपत्रं च पुत्रकः।
गायन्ती रामरामेति ब्राह्मणं वाक्यमब्रवीत्॥ ३८॥
सर्वेषां शृण्वतां तत्र भिनद्मि स्वपतिं द्विज।
नृसिंहेन पुरा भिन्नः स्तम्भो यद्वत् सुकोपिना॥ ३९॥
विदारितो दैत्यनाथस्तद्वन्नाथं महामतिम्।

राजाकी आज्ञासे एक ओर रानीने तथा दूसरी ओर पुत्रने आरेको पकड़ लिया। तब रानी राम-रामका गान करती हुई वहाँ उपस्थित सभी लोगोंके सुनते हुए ब्राह्मणसे कहने लगी—'द्विजवर! अब मैं अपने पतिको चीरती हूँ। पूर्वकालमें जैसे भगवान् नृसिंहने अत्यन्त कुपित होकर खम्भेको फाड़ डाला था और उससे प्रकट होकर दैत्यराज हिरण्यकशिपुको विदीर्ण कर दिया था, उसी तरह मैं भी अपने महाबुद्धिमान् स्वामीको चीर डालूँगी॥ ३८-३९½॥

नृप उवाच

करपत्रं करस्थं ते प्रिये पश्यामि तादृशम्॥ ४०॥
केतक्याः कोमलं पत्रं शरीरे सुखदं यथा।
त्वं भिन्धि कं मे निःशङ्कं करजैरिव संगमे॥ ४१॥

राजाने कहा—प्रिये! जैसे केतकीका कोमल पत्ता शरीरपर रखे जानेसे सुखद प्रतीत होता है, उसी तरह तुम्हारे हाथमें स्थित यह आरा भी मुझे सुखदायक लग रहा है, अतः अब तुम समागमके समय नखोंसे क्षत-विक्षत करनेकी तरह निःशङ्क होकर आरेसे मेरे मस्तकको चीर डालो॥ ४०-४१॥

यथा तत्र न मे पीडा जायते च नखैः प्रिये।
तथाद्य करपत्रस्य दन्तैः कमलकोमलैः॥ ४२॥

प्रिये! जैसे उस समय नखोंद्वारा खरोंचनेसे मुझे पीड़ा नहीं मालूम देती थी, उसी तरह आज इन कमलके समान कोमल आरेके दाँतोंसे मुझे कष्ट नहीं हो रहा है॥ ४२॥

ततः सा तस्य भूपस्य मस्तकं पुत्रसंयुता।
बिभेद करपत्रेण समक्षं कृष्णपार्थयोः॥ ४३॥

तदनन्तर पुत्रसहित रानी कुमुद्वतीने श्रीकृष्ण और अर्जुनकी आँखोंके सामने ही आरेसे राजा मयूरध्वजके मस्तकको विदीर्ण कर दिया॥ ४३॥

हाहाकारो महानासीद् भिन्ने के जनमेजय।
वामनेत्रे जलं प्राप्तं तदा विप्रो दुरासदः॥ ४४॥

प्रत्युवाच महीपालं भिन्नं भ्रमिततारकम् ।
न ग्रहीष्यामि ते गात्रं रुदन् यच्छसि मारिष ॥ ४५ ॥
अभावोपहृतं दानं न गृह्णन्ति विपश्चितः ।

जनमेजय ! मस्तकके फटते ही वहाँ महान् हाहाकार मच गया । उस समय राजाके बायें नेत्रमें आँसू छलक आये । यह देखकर उस दुरासद ब्राह्मणने, जिनका मस्तक विदीर्ण हो गया था और जिनके नेत्रोंकी पुतलियाँ उलट गयी थीं, उन राजासे कहा—'आर्य ! तुम तो रोते हुए दान कर रहे हो, इसलिये मैं तुम्हारे इस शरीरको नहीं ग्रहण करूँगा, क्योंकि विद्वान् पुरुष अश्रद्धासे दिये गये दानको स्वीकार नहीं करते४४-४५½॥

विना पुत्रेण मे स्वर्गो रुद्धस्तिष्ठति तिष्ठतु ॥ ४६ ॥
सिंहो यातु यथास्थानं गृहीत्वा मम बालकम् ।
रुदित्वा वामनेत्रेण राजा देहार्धमप्ययम् ॥ ४७ ॥
ददाति तदहं विप्रः कथं गृह्णामि सत्तमः ।

'अब पुत्रके न मिलनेके कारण मेरा स्वर्गलोकका मार्ग अवरुद्ध हो गया है, सो भले ही रुका रहे । सिंह भी मेरे बालकको लेकर अपने अभिमत स्थानको चला जाय; परंतु जब यह राजा बायें नेत्रसे आँसू बहाकर अपने देहार्धका दान कर रहा है, तब मैं एक श्रेष्ठ ब्राह्मण होकर ऐसे दानको कैसे ग्रहण कर लूँ ?' ॥ ४६-४७½ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं परित्यज्य महीपतिम् ॥ ४८ ॥
प्रययौ पश्यतां तेषां पार्थयुक्तो जनार्दनः ।

इतनी बात कहकर जनार्दनने राजाका परित्याग कर दिया और अर्जुनको साथ लेकर उन सबके देखते-देखते वे वहाँसे चल दिये ॥ ४८½ ॥

गच्छन्तं ब्राह्मणं वीक्ष्य पतिं प्राह कुमुद्वती ॥ ४९ ॥
गृहीत्वा मस्तकं भिन्नं कराभ्यां सुमुखी सती ।

ब्राह्मणको जाते देखकर सती-साध्वी सुन्दरी कुमुद्वतीने राजाके फटे हुए मस्तकको अपने दोनों हाथोंसे थामकर पति-देवसे कहा ॥ ४९½ ॥

कुमुद्वत्युवाच

सत्यव्रत महाबुद्धे वदान्यानां शिरोमणे ॥ ५० ॥
ब्राह्मणस्त्वां मया भिन्नं परित्यज्याद्य गच्छति ।
नाथ वारय गच्छन्तं विप्रं देहार्धयाचकम् ॥ ५१ ॥
गतेऽगृहीत्वा विफला तत्र कीर्तिर्भविष्यति ।

कुमुद्वती बोली—सत्यव्रत ! महाबुद्धे ! दानिशिरोमणे ! ये ब्राह्मणदेव अब मेरे द्वारा चीरे हुए आपका परित्याग करके जा रहे हैं । नाथ ! देहार्धकी याचना करनेवाले उन जाते हुए ब्राह्मणको रोकिये; क्योंकि यदि वे दान लिये बिना ही चले जायँगे तो आपकी कीर्ति निष्फल हो जायगी ॥ ५०-५१½ ॥

नृप उवाच

भिन्नं त्वया धृतं भद्रे मस्तकं मामकं पुनः ॥ ५२ ॥
ततो ब्रवीमि विप्रेन्द्रं व्रजन्तं काननं गृहात् ।

राजाने कहा—भद्रे ! तुमने मेरे फटे हुए मस्तकको पुनः अपने हाथसे थाम लिया है, इसलिये मेरे घरसे विमुख होकर वनको जाते हुए उन श्रेष्ठ ब्राह्मणसे मैं अभी बात कर सकता हूँ ॥ ५२½ ॥

मा गच्छ मुनिशार्दूल श्रुत्वाऽऽयाहि वचो मम ॥ ५३ ॥
वामाङ्गलोचने प्राप्तं यस्मात् तोयं द्विजोत्तम ।

(रानीसे यों कहकर वे ब्राह्मणसे कहने लगे—) 'मुनिश्रेष्ठ ! मत जाइये । लौट आइये, पहले मेरी बात सुन लीजिये, तब जाइयेगा । द्विजोत्तम ! मेरे बायें नेत्रमें जिस कारणसे आँसू आ गया है (वह बता रहा हूँ) ॥ ५३½ ॥

दक्षिणाङ्गं ब्राह्मणार्थे मदीयं साधुसंगतम् ॥ ५४ ॥
वामाङ्गं पतितं भूमौ वृथा यातीति रोदितम् ।

'ब्रह्मन् ! (मैंने सोचा कि) मेरा दक्षिणाङ्ग तो ब्राह्मणके कार्यमें लग जायगा; इसलिये इसका तो उत्तम उपयोग हो गया; परंतु मेरा वामाङ्ग पृथ्वीपर गिरकर व्यर्थ हो जायगा—इसी कारण मुझे रुलाई आ गयी थी ॥ ५४½ ॥

न व्यथा करपत्रान्मे तीक्ष्णाद् भवति तादृशी॥ ५५ ॥
यादृशी विप्रविमुखाद् वामाङ्गादिह जायते ।

'विप्रवर ! मुझे तीखे आरेसे चीरे जानेपर भी वैसी व्यथा नहीं मालूम हुई, जैसी यहाँ अपने बायें अङ्गके ब्राह्मणसे विमुख हो जानेसे हो रही है' ॥ ५५½ ॥

इति तस्य वचः श्रुत्वा प्रसन्नः परमेश्वरः ॥ ५६ ॥
आत्मनो दर्शयामास स्वरूपं भूपसंनिधौ ।

राजाकी ऐसी बात सुनकर परमेश्वर श्रीकृष्ण प्रसन्न हो गये और राजाके संनिकट अपना असली स्वरूप प्रकट करके उन्होंने राजाको दर्शन दिया ॥ ५६½ ॥

समालिङ्ग्याब्रवीद् वीरं कृष्णः कमललोचनः ॥ ५७ ॥
धन्योऽसि नृपशार्दूल मयूरध्वज सुव्रत ।

उस समय कमललोचन श्रीकृष्णने उस वीर राजाका आलिङ्गन करके कहा—'राजसिंह ! उत्तम व्रतका पालन करनेवाले मयूरध्वज ! तुम धन्य हो ॥ ५७½ ॥

परीक्षितोऽसि बहुधा मया त्वं पाण्डवेन च ॥ ५८ ॥
यज्ञं कुरु महाबाहो सपत्नीकः सपुत्रकः ।

महाबाहो ! मैंने तथा अर्जुनने बहुत प्रकारसे तुम्हारी परीक्षा कर ली है। अब तुम अपने पुत्र तथा पत्नीसहित अपना यज्ञ पूर्ण करो ॥ ५८½ ॥

ताम्रध्वजेन संग्रामे तोषितौ तव सूनुना ॥ ५९ ॥
मूर्च्छितौ सैन्यसहितौ कृतौ वीरप्रमाथिनौ ।
मां निरीक्ष्य कुतो दुःखं जायते प्राणिनामिह ॥ ६० ॥

राजन् ! यद्यपि मैं और अर्जुन दोनों ही बड़े-बड़े वीरोंको मथ डालनेकी शक्ति रखते हैं तथापि तुम्हारे पुत्र ताम्रध्वजने संग्रामभूमिमें हम दोनोंको संतुष्ट करके सेनासहित मूर्च्छित कर दिया था। भला, इस संसारमें मेरा दर्शन हो जानेपर प्राणियोंको दुःखकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? ॥ ५९-६० ॥

देहार्धं हि त्वया दत्तं मद्वाक्येन महात्मना ।
तव यज्ञे भविष्यामि कर्मकर्ता महामते ॥ ६१ ॥
यस्माद् भक्तपराधीनो जितोऽस्मि तव सूनुना ।

महामते ! महान् आत्मबलसे सम्पन्न तुमने मेरे कहनेसे अपने शरीरका आधा भाग प्रदान कर दिया है, अतः मैं तुम्हारे यज्ञमें कर्मचारी होकर काम करूँगा; क्योंकि एक तो मैं यों ही भक्त-पराधीन हूँ, दूसरे तुम्हारे पुत्रने मुझे संग्रामभूमिमें जीत लिया है ॥ ६१½ ॥

युधिष्ठिरस्य तुरगं गृहाण त्वमपि स्फुटम् ॥ ६२ ॥
द्वौ हयौ समये हुत्वा कीर्तिं प्राप्नुहि शोभनाम् ।
कीदृशस्तव गात्रस्य भेदोऽयं मम पश्यतः ॥ ६३ ॥

अब तुम स्पष्ट रूपसे युधिष्ठिरके घोड़ेको भी ले लो और समयानुसार दोनों घोड़ोंकी अग्निमें आहुति देकर सुन्दर कीर्ति लाभ करो। मेरे देखते हुए यह तुम्हारे शरीरका भेदन कैसा ? (यह तो मेरी एक लीलामात्र है) ॥ ६२-६३ ॥

मयूरध्वज उवाच

धाम ते परमं विष्णो पदं च बहुलं प्रभो ।
भिन्नं कृत्वा शरीरं मे प्रविष्टं यद् बहिः स्थितम् ॥ ६४ ॥

तब मयूरध्वजने कहा—सर्वव्यापक प्रभो ! आपका जो उत्कृष्ट धाम (तेज) तथा विस्तृत पद (धाम) बाहर संसारमें व्याप्त था, वही मेरे शरीरको विदीर्ण करके उसमें प्रविष्ट हो गया है ॥ ६४ ॥

श्रीपते वासुदेवाद्य धन्योऽहं ते कृतः प्रभो ।
किं मे यज्ञेन गोविन्द यदि तुष्टोऽसि केशव ॥ ६५ ॥

लक्ष्मीपते ! वसुदेवनन्दन ! प्रभो ! आज आपने मुझे कृतार्थ कर दिया। केशव ! यदि आप प्रसन्न हैं तो गोविन्द ! अब मेरे यज्ञ करनेसे क्या लाभ ? ॥ ६५ ॥

दृष्टे त्वयि जगन्नाथे कीर्तिते नमिते श्रुते ।
यज्ञकोटिकृतं पुण्यं भवतीति न संशयः ॥ ६६ ॥

आप जगदीश्वरका दर्शन हो जानेपर, आपका नाम लेनेपर, आपके चरणोंमें नमस्कार करनेपर तथा आपका गुणानुवाद सुननेपर करोड़ों यज्ञोंके अनुष्ठानका पुण्य यों ही प्राप्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ६६ ॥

त्वया प्रोक्तं कर्मकर्ता तथा कुरु जनार्दन ।
तुरङ्गौ मां च मत्पुत्रान् मत्प्रियां च महाजनम् ॥ ६७ ॥
गृहीत्वा यज्ञकर्तॄंश्च यज्ञोपकरणानि च ।
स्वकरेण महाविष्णो हृदयं स्वं निवेशय ॥ ६८ ॥

जनार्दन ! आपने कहा है कि मैं तुम्हारे यज्ञमें कार्य करूँगा तो महाविष्णो ! ऐसा कीजिये कि इन दोनों घोड़ोंको, मुझको, मेरे पुत्रोंको, मेरी पत्नीको, इस महान् जनसमुदायको, यज्ञकर्ताओंको और यज्ञकी समग्रियोंको अपने हाथसे पकड़कर अपने हृदयमें निविष्ट कर लीजिये ॥ ६७-६८ ॥

भवन्तं प्राप्य गोविन्द मया चेत् क्रियते क्रतुः ।
प्रहसिष्यन्ति मां विप्रा वेदवेदाङ्गपारगाः ॥ ६९ ॥

गोविन्द ! यदि मैं आपको पाकर भी यज्ञानुष्ठानमें लग जाऊँ तो ये वेदवेदाङ्गके पारगामी विद्वान् ब्राह्मण मेरी हँसी उड़ायेंगे ॥ ६९ ॥

महान्तमग्निमुत्सृज्य हिमेन परिपीडितः ।
कः सेवेत नरो मूढो विस्फुलिङ्गान् जनार्दन ॥ ७० ॥
तृषितो जाह्नवीतोयं हित्वा नीहारमाव्रजेत् ।

जनार्दन ! कौन ऐसा मूर्ख मनुष्य होगा, जो सर्दीसे पीडित होनेपर प्रज्वलित अग्निराशिको छोड़कर चिनगारियोंका सेवन करने जायगा तथा प्याससे व्याकुल होनेपर गङ्गाजलका परित्याग करके ओसकणोंकी ओर दौड़ेगा ॥ ७०½ ॥

मूढधीर्वाजिनौ प्राप्य त्वामवज्ञाय माधवम् ॥ ७१ ॥
यजते हयमेधाभ्यां स दण्ड्यो रविसूनुना ।

जो मन्दबुद्धि दोनों घोड़ोंको पाकर आप माधवकी अवहेलना करके दो अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करेगा, वह यमराजके दण्डका पात्र होगा ॥ ७१½ ॥

पुत्रको मे कृष्णपार्थौ त्यक्त्वा युद्धे समागतः॥ ७२ ॥
भाग्योदयान्मया दृष्टौ नरनारायणाविमौ ।

भगवन् ! मेरा यह मूर्ख पुत्र युद्धस्थलमें आप और अर्जुन दोनोंको छोड़कर चला आया था; परंतु अपने किसी उत्कृष्ट भाग्यके उदय होनेसे मुझे आप दोनों नर-नारायणका दर्शन प्राप्त हो गया ॥ ७२½ ॥

नमस्ते पुण्डरीकाक्ष ब्रह्मणे गुरवे नमः ॥ ७३ ॥
ब्रह्मगोलोकसाहस्रैः फलिताय नमो नमः ।
हन्त्रे गोप्त्रे नमस्तेऽस्तु सृष्टिकर्त्रे प्रमीढुषे ॥ ७४ ॥

कमलनयन ! आपको नमस्कार है । आप जगद्गुरु एवं ब्रह्मस्वरूप हैं, आपको प्रणाम है । आप सहस्रों ब्रह्माण्ड-गोलकोंमें व्याप्त हैं, आपको बारंबार नमस्कार है । आप सृष्टिके कर्ता, पालक और संहर्ता हैं तथा अन्न-जल आदि अभीष्ट वस्तुओंकी वर्षा करनेवाले भी आप ही हैं, आपको मेरा प्रणाम है ॥ ७३-७४ ॥

अनन्ताय सुपूर्णाय वेदनिःश्वासकारिणे ।
श्रीधराय नमो नाथ शेषमञ्चकशायिने ॥ ७५ ॥

नाथ ! आप अन्तरहित और सर्वत्र परिपूर्ण हैं । आप वेदस्वरूप निःश्वास प्रकट करनेवाले शेषरूपी शय्यापर शयन करनेवाले हैं, आप श्रीधरको नमस्कार है ॥ ७५ ॥

लवणघ्नाय शान्ताय नमस्ते कलिताय च ।
ज्ञानाय ज्ञानगम्याय नमः कालजिताय च ॥ ७६ ॥
नमो दृश्याय वेद्याय नमः पारम्पराय च ।

लवणासुरका वध करनेवाले, शान्तस्वरूप तथा समस्त कलाओंसे सम्पन्न आपको मेरा प्रणाम है । आप ज्ञानस्वरूप हैं, ज्ञानद्वारा ही जाननेमें आते हैं तथा कालपर भी विजय पानेवाले हैं, आपको मेरा अभिवादन है । यह दृश्य जगत् आपका ही स्वरूप है, श्रुतियों-स्मृतियोंद्वारा एकमात्र आप ही जानने योग्य हैं, आपको नमस्कार है । आप सृष्टि-परम्पराको स्थापित करनेवाले हैं, आपको प्रणाम है ॥ ७६½ ॥

जैमिनिरुवाच

एवं स्तुतस्तदा तेन विश्वात्मा मधुसूदनः ॥ ७७ ॥
प्रसन्नात्माभवत् कृष्णो भक्तिं पार्थाय दर्शयन् ।
त्रिरात्रं च स्थितस्तत्र भक्त्या तुष्टो जगत्प्रभुः॥ ७८ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय जब राजाने विश्वात्मा मधुसूदनकी इस प्रकार स्तुति की, तब भगवान् श्रीकृष्णका चित्त प्रसन्न हो गया । वे जगदीश्वर अर्जुनको राजाकी भक्तिका दर्शन कराते हुए उनके भक्तिभावसे संतुष्ट होकर उस रत्नपुरमें तीन राततक ठहरे रहे॥ ७७-७८ ॥

केशवेन समं पश्चात् प्रययौ वाजिपालने ।
दत्त्वा कृष्णकरे सर्वं वित्तं जीवितमेव च ।
सुहृद्भिः सहितो राजा पार्थमालिङ्ग्य चाग्रतः॥ ७९ ॥

तदनन्तर राजा मयूरध्वजने अर्जुनको गले लगाया और अपनी सारी सम्पत्ति तथा जीवन भी भगवान् श्रीकृष्णके हाथोंमें समर्पित कर दिया, फिर वे अपने सुहृदोंसे घिरे हुए केशवके साथ-साथ अश्वकी रक्षाके लिये आगे-आगे प्रस्थित हुए ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि मयूरध्वजविजयवर्णनं नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें मयूरध्वजकी विजयका वर्णन नामक छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

दोनों घोड़ोंका राजा वीरवर्माके नगरमें जाना और वीरवर्माकी आज्ञासे उनका पकड़ा जाना, वीरवर्माके पुत्रोंके साथ बभ्रुवाहनका युद्ध, यमराजका युद्धके लिये आना, अर्जुनके पूछनेपर श्रीकृष्णद्वारा यमराजका वीरवर्माके जामाता बननेकी कथाका वर्णन

जैमिनिरुवाच

तुरङ्गमौ गतौ राजन् पुरे वै वीरवर्मणः ।
सर्वसैन्ययुतः कृष्णः पालयन्नन्वगान्मुदा ॥ १ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—महाराज जनमेजय ! तदनन्तर वे दोनों घोड़े घूमते हुए राजा वीरवर्माके नगरमें जा पहुँचे । भगवान् श्रीकृष्ण भी सारी सेनाके साथ उनकी रक्षा करते हुए प्रसन्नतापूर्वक उनके पीछे-पीछे वहाँ गये ॥ १ ॥

धर्मश्चतुष्पदो यत्र तेन भूपतिना कृतः।
जामाता यस्य शमनो राष्ट्रे तिष्ठति मूर्तिमान् ॥ २ ॥

उस नगरमें राजाने धर्मको चतुष्पद (चौपाया) बना दिया था अर्थात् वहाँ धर्मके सत्य, दया, शौच एवं इन्द्रिय-संयम—इन चारों चरणोंका पूर्णरूपसे पालन होता था। साक्षात् यमराज राजा वीरवर्माके जामाता थे। वे मूर्तिमान् होकर उनके राज्यमें निवास करते थे ॥ २ ॥

सारस्वतपुरे रम्ये निवसन्ति हि धार्मिकाः।
धर्मार्थकाममोक्षाणां पारगा यत्र मानवाः ॥ ३ ॥
स्वप्नेऽपि कुत्सिते मार्गे न गच्छन्ति कदाचन।

रमणीय सारस्वतपुरमें उनकी राजधानी थी, जहाँ धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके पारगामी धार्मिक मनुष्य निवास करते थे। वे कभी स्वप्नमें भी कुमार्गपर पैर नहीं रखते थे॥

अर्जुनं कृष्णसहितं रक्षन्तं वरवाजिनौ ॥ ४ ॥
शुश्राव वीरवर्मासौ राष्ट्रे बहुलसेवके।
आदिदेश ततो राजा ग्रहणार्थं महाबलान् ॥ ५ ॥

जब राजा वीरवर्माने सुना कि बहुसंख्यक राजसेवकोंसे युक्त मेरे राज्यमें श्रीकृष्णके साथ-साथ अर्जुन दो यज्ञिय अश्वोंकी रक्षा करते हुए आ पहुँचे हैं, तब उन्होंने अपने महाबली सेवकोंको उन घोड़ोंको पकड़ लेनेके लिये आज्ञा देते हुए कहा—॥ ४-५ ॥

तुरगौ मामके राष्ट्रे पाण्डवस्य महात्मनः।
व्यचरेतां चिरं रम्ये पौरुषेणाहरन्तु तौ ॥ ६ ॥

'वीरो! मेरे मनोहर राज्यमें महामनस्वी अर्जुनके अश्वमेध-यज्ञसम्बन्धी दो घोड़े चिरकालसे विचर रहे हैं, उन्हें तुमलोग बलपूर्वक पकड़ लो' ॥ ६ ॥

नृपस्य वचनं श्रुत्वा निर्गतं विविधं बलम्।
महावीराः पञ्चधीरा ग्रहणार्थं विनिर्गताः ॥ ७ ॥
सुभालः सुरभो लीलः कुवलः सरलश्च ते।
पुत्रा दिव्यरथारूढा धन्विनो वीरवर्मणः ॥ ८ ॥

राजाका आदेशयुक्त वचन सुनकर नाना प्रकारकी सेना नगरसे बाहर निकलने लगी। उस सेनाके साथ पाँच महान् रणधीर वीर घोड़ोंको पकड़नेके लिये चले। उनके नाम थे—सुभाल, सुरभ, लील, कुवल और सरल। वे पाँचों राजा वीरवर्माके पुत्र थे और धनुष धारण किये हुए दिव्य रथोंपर सवार थे ॥ ७-८ ॥

ते प्राप्ताः पाण्डवबलं तृणीकृत्य रणस्थितान्।
गृहीत्वा वाजिनौ रोषात् प्रयाता भूपसंनिधौ॥ ९ ॥

वे आगे बढ़कर अर्जुनकी सेनाके संनिकट जा पहुँचे। वहाँ रणक्षेत्रमें स्थित शत्रुपक्षी वीरोंको तृणके समान समझकर उन्होंने रोषपूर्वक उन दोनों घोड़ोंको पकड़ लिया और फिर वे राजा वीरवर्माके पास चल दिये ॥ ९ ॥

यावद् गच्छन्ति ते वीरा नृपं प्रति महाबलाः।
बभ्रुवाहेन राजेन्द्र आहूतास्तावदेव हि ॥ १० ॥

राजेन्द्र जनमेजय! जब वे महाबली वीर राजाके पास जाने लगे, तबतक बभ्रुवाहनने उन्हें ललकारा ॥ १० ॥

शङ्खनादेन वीरांस्तान् कृत्वा बधिरकर्णकान्।
पार्थपुत्रस्तदा रोषाद् व्यधमच्छत्रुवाहिनीम् ॥ ११ ॥
बभ्रुवाहो महातेजाः शरैः कनकचित्रितैः।

उस समय महातेजस्वी अर्जुनकुमार बभ्रुबाहनने इतना भयंकर शङ्खनाद किया कि उसे सुनकर उन वीरोंके कान बहरे हो गये। तत्पश्चात् वह रोषमें भरकर स्वर्णजटित बाणोंसे शत्रु-सेनाका सर्वनाश करने लगा ॥ ११½ ॥

ततो युद्धं समभवत् तुमुलं भूप दारुणम् ॥ १२ ॥
केशाकेशि रणेऽतीव मुष्टामुष्टि नखानखि।
पदातिगणमेवाग्रे जग्मुर्वीरा मदोत्कटाः ॥ १३ ॥

राजा जनमेजय! तदनन्तर रणभूमिमें अत्यन्त भयंकर तुमुल युद्ध होने लगा। उन मदोत्कट वीरोंने पहले पैदल सेना-पर ही आक्रमण किया। फिर तो वे परस्पर एक दूसरेके केश पकड़कर, परस्पर मुक्कोंसे प्रहार करके तथा एक-दूसरेको नखोंसे बकोटकर युद्ध करने लगे ॥ १२-१३ ॥

रथा गजैः संगतास्ते गजाः कुत्रापि वाजिभिः।
विपरीतमिदं जातं रुद्रक्रीडनसंनिभम् ॥ १४ ॥

कहीं रथी वीर हाथीसवारोंसे उलझ गये तो कहीं वे हाथी-सवार घुड़सवारोंसे जा भिड़े। इस प्रकार भगवान् रुद्रकी क्रीडास्थलीकी भाँति वहाँ मर्यादारहित युद्ध होने लगा ॥ १४ ॥

बभ्रुवाहेन वीरेण हन्यमानं बलं महत्।
संचुक्रोच तथाभूतमग्नौ चर्माहितं यथा ॥ १५ ॥

जैसे अग्निमें डाला हुआ चमड़ा सिकुड़ जाता है, उसी प्रकार वीर बभ्रुवाहनद्वारा मारी जाती हुई वह विशाल सेना संकुचित हो गयी अर्थात् सिमटकर थोड़े स्थानमें आ गयी ॥

संयमिन्याः पतिस्तावत् समागत्य नराधिपम् ।
समुत्कृष्टं पार्थबलं घातयामास रोषितः ॥ १६ ॥

तबतक संयमनीपुरीके स्वामी यमराज राजा बभ्रुवाहनके सामने युद्धके लिये आ डटे और फिर वे क्रोधमें भरकर उत्कर्षको प्राप्त होती हुई अर्जुनकी सेनाका संहार करने लगे ॥

धर्मराजेन पार्थस्य पातितं विविधं बलम् ।
हतप्रवीरमत्युग्रं श्वशुरार्थे नराधिप ॥ १७ ॥

नरेश्वर जनमेजय ! धर्मराजने अपने श्वशुरके निमित्त अर्जुनकी अनेक प्रकारकी सेनाको मार गिराया । उस समय उस अत्यन्त भयंकर सेनाके बहुत-से वीर मार डाले गये ॥

पार्थो वीक्ष्य हतं सैन्यं जामात्रा वीरवर्मणः ।
उवाच केशवं देवं विस्मयन्निव भारत ॥ १८ ॥

भरतवंशी जनमेजय ! तदनन्तर जब अर्जुनने देखा कि वीरवर्माके जामाताद्वारा मेरी बहुत-सी सेना मार डाली गयी, तब वे आश्चर्यचकित-से होकर भगवान् केशवसे पूछने लगे—॥

कोऽसौ देवो हृषीकेश नररूपेण मे बलम् ।
तीक्ष्णैः शरैः पातयते समक्षं तव माधव ॥ १९ ॥

'हृषीकेश ! माधव ! यह कौन-सा देवता है, जो मनुष्य-रूप धारण करके आपकी आँखोंके सामने अपने तीखों बाणोंसे मेरी सेनाका संहार कर रहा है ?' ॥ १९ ॥

वासुदेव उवाच

यमं विद्धि महाबाहो पुरतः स्थितमाहवे ।
प्रार्थितं चैव कन्यार्थे स्वपुरे वीरवर्मणा ॥ २० ॥

वासुदेवने उत्तर दिया—महाबाहो ! तुम्हें विदित होना चाहिये कि युद्धस्थलमें जो ये सामने खड़े हैं साक्षात् यमराज हैं । राजा वीरवर्माने अपनी कन्याका वरण करनेके लिये इन्हें अपने नगरमें प्रार्थना करके बुलाया था ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच

किमेतत् कृष्ण कथितं यमो नृपसुतापतिः ।
कथमेतत् संगतं हि तत् सर्वं वद केशव ॥ २१ ॥

तब अर्जुनने पूछा—श्रीकृष्ण ! आपने यह क्या कहा कि यमराज राजा वीरवर्माकी कन्याके पति हैं ? केशव ! यह घटना कैसे घटित हुई थी; यह सारा वृत्तान्त मुझे बतानेकी कृपा कीजिये ॥ २१ ॥

कृष्ण उवाच

मालिनी नाम कन्यास्य संजाता वीरवर्मणः ।
मानुषं न वरं पार्थ वृणुते भुवि मानिनी ॥ २२ ॥

श्रीकृष्ण कहने लगे—पार्थ ! इस राजा वीरवर्माके एक मालिनी नामकी कन्या उत्पन्न हुई थी । वह मानिनी मालिनी भूतलपर किसी मनुष्यको पतिरूपमें वरण करना नहीं चाहती थी ॥ २२ ॥

यदा पृष्टा पुरा गेहे पित्रा सा मालिनी शुभा ।
कस्ते वरो मया कार्यो मानुषं नेच्छसे यदि ॥ २३ ॥

पहले घरपर जब उसके पिताने उस सुन्दरी मालिनीसे पूछा—'बेटी ! यदि तू मनुष्यको अपना पति बनाना नहीं चाहती तो बता, मैं किसके साथ तेरा विवाह कर दूँ' ॥ २३ ॥

मालिन्युवाच

धर्मराजाय मां तात देहि त्वं नापरो वरः ।
अन्ये मृता नरा यान्ति यमस्य सदनं प्रति ॥ २४ ॥

मालिनीने कहा—पिताजी ! आप मुझे धर्मराजके हाथ-में समर्पण कर दीजिये । इनके अतिरिक्त दूसरा कोई मेरा पति नहीं हो सकता; क्योंकि दूसरे मानव तो मृत्युके पश्चात् इन यमराज़के ही भवनमें जाते हैं ॥ २४ ॥

धर्मराजशरीरं हि प्राप्याहं कीर्तिमाप्नुयाम् ।
कृष्णप्राप्ताञ्जनान् यास्ये स्वगुणैः पतितोषकैः ॥ २५ ॥

इन धर्मराजके शरीरको पतिरूपमें पाकर मैं उत्तम कीर्ति-की भागिनी हो जाऊँगी और पतिदेवको संतुष्ट करनेवाले अपने गुणोंके प्रभावसे श्रीकृष्णको प्राप्त हुए लोगोंकी श्रेणीमें स्थान प्राप्त कर लूँगी ॥ २५ ॥

नरस्य पाणिग्रहणं प्रथमं क्रियते मया ।
पश्चाद् वह्नौ शरीरं मे यदि स्पृष्टं भविष्यति ॥ २६ ॥
द्वितीयस्य जनस्याहं नाप्नुयां संगतिं यथा ।
तथा तात विधातव्यो धर्मराजो हि मे वरः ॥ २७ ॥

पिताजी ! यदि मैं पहले मनुष्यके साथ विवाह कर लूँ तो मृत्युके पश्चात् मुझे भी चिताग्निमें पड़ना पड़ेगा । उस समय अग्निदेव मेरे शरीरका स्पर्श कर लेंगे; अतः तात ! जिस प्रकार पतिदेवके अतिरिक्त किसी अन्य पुरुषके साथ मेरा सम्पर्क न हो सके, वैसा ही प्रयत्न आपको करना चाहिये । इसलिये धर्मराज ही मेरे योग्य बर हैं ॥ २६-२७ ॥

या नारी पुरुषं प्राप्य पितृदत्तं भुवि स्थिता।
वञ्चयित्वा निजं कान्तमपरं याति मोहिता ॥ २८ ॥
तां तु वैवस्वतो राजा नरके पातयत्यसौ।
तमेवादौ वरं कृत्वा निदेशे स्थीयते मया ॥ २९ ॥

भूतलपर उत्पन्न हुई जो स्त्री पिताद्वारा दिये गये पुरुषको पतिरूपमें पाकर पीछे मोहवश अपने उस पतिको धोखा देकर पर-पुरुषके साथ सम्बन्ध कर लेती है, उस पापिनीको ये सूर्य-पुत्र यमराज नरकमें ढकेल देते हैं; इसीलिये मैं पहले ही इन्हें अपना पति बनाकर इनकी आज्ञामें रहना चाहती हूँ॥२८-२९॥

तत्र मां धर्मराजोऽयं पालयिष्यति पापतः।
सुगुप्तं सर्वदा तात तव पुण्यं भविष्यति ॥ ३० ॥

पिताजी ! वहाँ (यमलोकमें) ये धर्मराज पापोंसे मेरी रक्षा करते रहेंगे, जिससे आपका (कन्यादानका) पुण्य सर्वदा सुरक्षित रहेगा ॥ ३० ॥

प्राकृताय सुता दत्ता भवेत् पुण्यप्रदायिनी।
किं नु धर्माय मूर्ताय दत्ताहं तु शिवप्रदा ॥ ३१ ॥

जब साधारण जनको दान की हुई कन्या पुण्य प्रदान करनेवाली होती है, तब यदि आप मुझे साक्षात् मूर्तिधारी धर्मराजको दे देंगे, तब मैं आपके लिये परम कल्याणकारिणी होऊँ; इसके लिये तो कहना ही क्या है ? ॥ ३१ ॥

एवंविधं मया तात कर्तव्यं हृदि चिन्तितम्।
नानाविधानि कार्याणि धर्मगुप्तानि यानि मे।
तदा मनोरथो रम्यो भविष्यति हि मामकः ॥ ३२ ॥

पिताजी ! मैंने अपने हृदयमें ऐसा ही कर्तव्य सोच रखा है। ऐसा करनेसे मेरे जो नाना प्रकारके कार्य हैं, वे सभी धर्म-राजद्वारा सुरक्षित रहेंगे; अतः धर्मराजको पतिरूपमें पा लेनेपर मेरे सभी सुन्दर मनोरथ पूर्ण हो जायँगे ॥ ३२ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि वीरवर्मयुद्धवर्णनं नाम सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें वीरवर्माके युद्धका वर्णन नामक सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

वररूपमें यमराजकी प्राप्तिके लिये राजा वीरवर्मा और मालिनीका यमराजकी आराधना करना, नारदजीका यमलोकमें जाकर यमराजसे मालिनीका वृत्तान्त कहना, यमराजका विवाह-तिथिको निश्चय करके नारदजीको वीरवर्माके पास भेजना और बारातमें चलनेके विषयमें इनका राजयक्ष्माके साथ संवाद तथा यमराजका नाना प्रकारके रोगोंकी उत्पत्तिका कारण बताते हुए उनसे छूटनेके उपायका निरूपण करना

जैमिनिरुवाच

एवंविधं सुतावाक्यं वीर[illegible] निशम्य तत्।
यमसूक्तैर्दिवारात्रं स यमं स्तौति नित्यशः ॥ १ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! अपनी पुत्रीकी ऐसी बात सुनकर राजा वीरवर्मा दिन-रात निरन्तर यमसूक्तोंद्वारा यमराजकी स्तुति करने लगे ॥ १ ॥

मालिनी विधिवद् देवसमाराधनतत्परा।
बभूव यौवनं प्राप्य ध्यानभावं न सा जहौ ॥ २ ॥

उधर मालिनी भी विधिपूर्वक यमदेवकी आराधनामें तत्पर हो गयी। यहाँतक कि युवावस्था आ जानेपर भी मालिनी-ने यमराजका ध्यान करना नहीं छोड़ा ॥ २ ॥

नारदेन तदा ज्ञातं चिन्तितं नृपतेः सुता।
ईदृशं कुरुते भावं नैनां वेत्ति यमः स्वयम् ॥ ३ ॥

जब नारदजीको यह बात मालूम हुई, तब वे विचार करने लगे—'अहो ! यह राजकुमारी यमराजके प्रति ऐसा भक्तिभाव कर रही है, परंतु स्वयं यमराज इसे जानते ही नहीं ॥ ३ ॥

तं गत्वा कथयिष्यामि भावमस्याः सुशोभनम्।
धर्मकार्ये प्रकुर्वाणा यमप्रीत्यै दिने दिने ॥ ४ ॥

हृदि स्थितं मनुष्याणां विन्दत्येव सुचेष्टितम्।
समवर्ती कथं मन्दो मालिन्याः फलदूषकः॥ ५॥

'अतः अब मैं उनके पास चलकर उनसे मालिनीके अत्यन्त सुन्दर भक्तिभावका वर्णन करूँगा। यमराज तो सबके साथ समान व्यवहार करनेमें प्रसिद्ध हैं। वे मनुष्योंके हृदयोंमें उठे हुए अत्यन्त गुप्त विचारोंको भी जान लेते हैं और मालिनी प्रतिदिन उनकी प्रसन्नताके लिये धर्मकार्यका अनुष्ठान करती रहती है, फिर भी न जाने क्यों वे उसे दर्शन देनेमें शिथिलता दिखाकर उसके कर्मफलको दूषित कर रहे हैं?' ॥ ४-५॥

जैमिनिरुवाच

ततो जगाम देवर्षिर्यमस्य सदनं प्रति।
न्यवेदयत् प्रियां तस्मै मालिनीं राजकन्यकाम्॥ ६॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर देवर्षि नारद यमराजके भवनकी ओर चल पड़े। वहाँ पहुँचकर उन्होंने यमराजसे उनकी प्रिया राजकुमारी मालिनीका वृत्तान्त निवेदन किया॥ ६॥

धर्मराज न जानासि मालिनी त्वामनुव्रता।
सत्यव्रता धर्मरता पुण्यसर्वस्वदायिनी॥ ७॥

वे बोले—'धर्मराज! आप नहीं जानते? राजकुमारी मालिनी आपका ही अनुवर्तन करनेवाली, सत्यव्रतमें तत्पर तथा धर्मपरायणा है। वह आपके लिये अपना समस्त पुण्य प्रदान करती रहती है॥ ७॥

त्वामेव प्रत्यहं वेत्ति तां त्वं वरय मा चिरम्।
पराशां सफलां सन्तः कुर्वन्त्येव हि नेतरे॥ ८॥

'प्रतिदिन आपका ही ध्यान करती है; अतः आप शीघ्र ही उसका (पत्नीरूपमें) वरण कीजिये; क्योंकि सत्पुरुष ही परायी आशाको सफल करते हैं, दुर्जन नहीं॥ ८॥

मनुष्यवेषमास्थाय स्वभृत्यैः सहितो व्रज।
सारस्वते पुरे रम्ये पालिते वीरवर्मणा॥ ९॥
चतुष्पादो यत्र वृषो गतातङ्काश्च मानवाः।
पुरी च सा त्वया धन्या भविष्यति मतिर्मम॥ १०॥

'इसलिये अब आप मनुष्यका वेष धारण करके अपने सेवकोंके साथ राजा वीरवर्माद्वारा सुरक्षित उस रमणीय सारस्वतपुरमें चलिये, जहाँ धर्म अपने चारों चरणोंसे संयुक्त होकर विराजमान है और जहाँके निवासियोंके मनमें किसी प्रकारका भय नहीं है। आपके पहुँच जानेसे वह नगरी और भी धन्य हो जायगी, ऐसा मेरा विश्वास है'॥ ९-१०॥

श्रीवासुदेव उवाच

नारदं प्रेरयामास पुरे सारस्वते यमः।
वैशाखे मासि शुक्ले वै पक्षे तां वरयाम्यहम्॥ ११॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—पार्थ! तब यमराजने नारदजीको यह संदेश देकर सारस्वतपुरको भेजा कि आगामी वैशाख मासके शुक्लपक्षमें मैं मालिनीका वरण करूँगा॥ ११॥

इत्युक्तो नारदस्तेन प्रययौ वीरवर्मकम्।
कथयामास वृत्तान्तं यमेनोक्तं सुमङ्गलम्॥ १२॥

यमराजके यों कहनेपर नारदजी वीरवर्माके पास गये और वहाँ उन्होंने राजासे यमराजके कहे हुए परम माङ्गलिक वृत्तान्तका वर्णन किया॥ १२॥

राजा कन्याविवाहं तु कर्तुकामो व्यवस्थितः।
यमोऽपि नायकानां तु शतमष्टोत्तरं मुदा॥ १३॥
आदिदेश महाकायान् महाबलपराक्रमान्।
महावीरं निजं चैव तेषां मध्ये पुरस्कृतम्॥ १४॥
क्षयं प्रधानं रोगाणां नायकं वाक्यमब्रवीत्।
शेषं हि ब्रह्महत्यायाः स्वरधातुविनाशकम्॥ १५॥

नारदजीकी बात सुनकर राजा वीरवर्मा अपनी पुत्रीका विवाह करनेके लिये उद्यत हो उसकी व्यवस्थामें लग गये। उधर यमराजने भी अपने एक सौ आठ नायकोंको प्रसन्नतापूर्वक बारातमें चलनेका आदेश दिया। वे सभी नायक विशालकाय तथा महान् बल-पराक्रमसे सम्पन्न थे। उनमें जो सबसे प्रतिष्ठित महान् वीर था, वह ब्रह्महत्याका शेषरूप, स्वर और धातुका विनाश करनेवाला तथा रोगोंमें प्रधान क्षय रोग था, अपने उस अन्तरङ्ग नायकसे यमराजने यों कहा॥ १३—१५॥

यम उवाच

यक्ष्मन् विवाहे रम्ये मे स्वभृत्यैः परिवारितः।
आमन्त्रितः समायाहि भुवि चित्रपुरं प्रति॥ १६॥

यमराज बोले—यक्ष्मन्! मैं तुम्हें आमन्त्रित कर रहा हूँ। तुम मेरे इस शुभ विवाहके अवसरपर अपने सेवकोंके साथ भूतलके विचित्र नगर सारस्वतपुरको चलो॥ १६॥

यक्ष्मोवाच

कथं समागमो नाथ तस्मिन् राष्ट्रे भविष्यति।
विप्रप्रियाश्च ते लोका राजापि द्विजसेवकः॥ १७॥

यक्ष्माने कहा—नाथ ! उस राज्यमें मेरा गमन कैसे सम्भव हो सकता है, क्योंकि वहाँके निवासी ब्राह्मणोंके प्रेमी हैं और वहाँका राजा भी द्विजोंकी शुश्रूषा करनेवाला है॥ १७॥

विप्राणां पठतां चोग्रो ध्वनिर्धूमश्च होमजः।
मन्नेत्रश्रोत्रयोर्दुःखं करिष्यति न संशयः॥ १८॥

उस देशके ब्राह्मण वेदपाठी हैं, उनकी उग्र वेदध्वनि तथा हवनकुण्डसे उठा हुआ धूम निस्संदेह मेरे कानों तथा नेत्रोंके लिये कष्टकर होगा॥ १८॥

प्रमेहं पुत्रकं सूक्ष्मं घृताक्षं मूत्रनाशकम्।
बहुकालेन जन्तूनां मद्गुणैः सम्मितं भुवि॥ १९॥

मेरा पुत्र प्रमेह जो सूक्ष्म शरीरवाला है, जिसकी आँखें गायके घीके समान पीतवर्णकी हैं; जो भूतलपर चिरकालसे प्राणियोंके मूत्रका विनाशक है और गुणमें मेरे ही समान है, उसे मैं वहाँ कहाँ रख सकूँगा ? ॥ १९॥

विषूचिकायास्त्वधिको महिमा केन लभ्यते।
क्षणेन मानुषं हन्ति दासी ते रविनन्दन॥ २०॥

रविनन्दन ! आपकी दासी जो विषूचिका (हैजा) है, उससे बढ़कर महिमा किसे प्राप्त हो सकती है ? वह क्षणमात्रमें ही मनुष्योंके प्राण ले लेती है, वह उस नगरमें कैसे रह सकेगी ? ॥ २०॥

भ्रातुः स्थानं न पश्यामि पाण्डोरमिततेजसः।
भ्रातुर्भार्या विशालाक्षी शोफा हर्त्री परं जनम्॥ २१॥
तया सह सुतस्तेन पाण्डुना स जलोदरः।
जनितः स्वगुणैस्तुल्यस्तं कुत्र विनिवेशये॥ २२॥

मेरा अमिततेजस्वी भाई जो पाण्डुरोग है, उसके लिये तो मुझे सारस्वतपुरमें कोई स्थान ही नहीं दीख रहा है। भाई पाण्डुकी विशाललोचना भार्या शोफा (सूजन) है, जो बलिष्ठ लोगोंके प्राणोंका अपहरण करनेवाली है, वह वहाँ कहाँ रहेगी ? तथा शोफाके साथ समागम करके उस पाण्डुने जिस जलोदर नामक पुत्रको उत्पन्न किया है, वह गुणोंमें अपने पिताके ही समान है, उसे मैं उस नगरमें कहाँ ठहराऊँगा ? २१-२२

राजा धर्मपरो नित्यं शुचिश्चैव महाजनः।
यत्र जातो भानुपुत्र तत्राहं किं शरीरवान्॥ २३॥

सूर्यपुत्र ! भला, जिस देशका राजा सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाला हो और जहाँका महान् जनसमुदाय नित्य पवित्र कार्य करनेका अभ्यासी हो, वहाँ मैं मूर्तिमान् होकर कैसे रह सकता हूँ ? ॥ २३॥

कोऽहं शोच्यतरो नाथ व्रणानां पुरतः स्थितः।
त्वया सुमानितानां हि परमाणुनिभः प्रभो॥ २४॥

नाथ ! आपद्वारा सम्मानित जो ये व्रण (फोड़े) हैं, इनके सामने पहुँचनेपर क्या मेरी शोचनीय दशा नहीं हो जायगी ? प्रभो ! उस समय तो मैं परमाणुके तुल्य ही दीख पड़ूँगा॥ २४॥

एतेषां परमं तेजो भूपतीन् हन्ति पौरुषात्।
गुरुस्त्रीसंगमरतान् विप्रघ्नाञ्छिशुघातकान्॥ २५॥

इन व्रणोंका उत्कृष्ट तेज अपने पुरुषार्थसे गुरुपत्नीगामी, विप्रहत्यारे तथा शिशुघाती भूपतियोंका संहार कर डालता है॥ २५॥

व्रणस्य बहुरूपाणि शतमष्टोत्तरं विभो।
विचर्चिका प्रिया यस्य पुत्रश्चास्य भगन्दरः॥ २६॥
गुरुस्त्रीगामिनां शिश्नमूले किल भगो भवेत्।

विभो ! व्रणके बहुत-से भेद हैं, जिनमें एक सौ आठ प्रधान हैं। उस व्रणकी पत्नी विचर्चिका (खाज) है और भगन्दर उसका पुत्र है। यह भगन्दर गुरुपत्नीके साथ समागम करनेवाले पुरुषोंकी शिश्न-इन्द्रियके मूल स्थानमें होता है॥ २६½॥

गुरूणां स्वप्रशास्तॄणां छायां क्वापि न मानवाः॥ २७॥
स्पृशन्ति धर्मनिरता वीरवर्मापि तादृशः।
एतस्य स्फोटराजस्य निवासस्तत्र नेष्यते॥ २८॥

उस देशके निवासी मनुष्य धर्ममें तत्पर रहनेवाले हैं। वे कभी अपनेको आज्ञा देनेवाले गुरुजनोंकी छायाका भी स्पर्श नहीं करते और उनका राजा वीरवर्मा भी वैसा ही धर्मनिष्ठ है। ऐसी दशामें वहाँ इन स्फोटराजका निवास कदापि वाञ्छनीय नहीं है॥ २७-२८॥

त्रयोदशविधश्चायं ज्वरराट् सांनिपातिकः।
गुरुस्तु शम्भुजनितः कुतः स्थास्यति तद् वद॥ २९॥

अच्छा, यह बतलाइये कि ये जो श्रेष्ठ ज्वरराज सन्निपात हैं, जिन्हें भगवान् शंकरने उत्पन्न किया है तथा जिनके तेरह भेद हैं, ये उस नगरमें कहाँ ठहरेंगे ? ॥ २९॥

अतिसारश्च वीरोऽसौ नायकस्ते महाबलः।
प्रिया संग्रहणी यस्य पुत्रो ध्मानश्च भासुरः॥ ३०॥

अरोचकः क्रोधनश्च पुत्रः परमपातकः।
एतैर्वृतो निवासं क प्राप्स्यते नाथ तद् वद ॥ ३१ ॥

नाथ! यह तो बताइये कि आपका जो यह महाबली वीर नायक अतिसार है, जिसकी प्रियतमा पत्नी संग्रहणी है और प्रकाशमान पुत्र ध्मान है तथा दो अन्य महापातकी पुत्र अरोचक और क्रोधन हैं, इन सबके साथ वह सारस्वतपुरमें कहाँ निवास पा सकेगा ॥ ३०-३१ ॥

शतानि त्रीणि शूलानां तानि यानि महात्मनाम्।
गमिष्यन्ति लयं तत्र स्थानहीनानि मारिष ॥ ३२ ॥

आर्य! ये जो तीन सौ महामनस्वी शूल रोग हैं, ये सब-के-सब उस नगरमें स्थान न मिलनेके कारण नष्ट ही हो जायँगे ॥ ३२ ॥

हिक्काश्वासादयश्चैते कासकुष्ठा महाबलाः।
उपरिस्था वायुभूता भ्रमितुं न क्षमाः पुरे ॥ ३३ ॥

ये जो हिक्का (हिचकी), श्वास (दमा), कास (खाँसी) और कोढ़ आदि महान् भयंकर रोग हैं, वायु ही जिनका स्वरूप है और शरीरमें वायुके ऊपरकी ओर उठनेसे ही जिनकी उत्पत्ति होती है, ये तो उस सारस्वतपुरमें भ्रमण भी नहीं कर सकेंगे ॥ ३३ ॥

धनुर्वातादयो वाताः कर्णशूलोऽपि भासुरः।
नेत्ररोगा महाकाया मुखरोगाश्च पातकाः ॥ ३४ ॥
वल्मीकं गण्डमाला च तथापस्मार एव च।
बालुको डमरू रौद्रो विस्तीर्णा च शिरोव्यथा ॥ ३५ ॥
एते मुख्यतमा रोगास्तथान्ये बहवो यम।
त्वयाऽऽज्ञप्ता न गच्छन्ति पुरेऽकस्मान्महीपतेः॥ ३६ ॥

यमदेव! शरीरको धनुषकी तरह टेढ़ा कर देनेवाले धनुषटंकार आदि वातरोग, चमक-चमककर पीडा देनेवाला कर्णशूल, अनेक प्रकारके आकारवाले नेत्ररोग, पापस्वरूप मुखरोग, शरीरमें छिद्र कर देनेवाला वल्मीक, गण्डमाला, मृगी, बालुक, भयंकर डमरू रोग, विस्तृत सिरदर्द (आधा-सीसी आदि)—ये जो मुख्य-मुख्य रोग हैं तथा इनके अतिरिक्त अन्य भी जो बहुत-सी भयंकर व्याधियाँ हैं, वे सभी आपके आज्ञा देनेपर राजा वीरवर्माके नगरमें यकायक जानेके लिये उद्यत नहीं होंगे ॥ ३४–३६ ॥

यम उवाच

भवन्तो विविधाकारा महारोगा महाबलाः।
स्वरूपेण नृपं यान्तु दिव्यालंकारमण्डिताः ॥ ३७ ॥

तब यमराजने कहा—यक्ष्मन्! तुम्हारे-जैसे जितने भी नाना प्रकारके आकार-प्रकारवाले महाबली भयंकर रोग हैं, वे सब-के-सब दिव्यालंकारोंसे सुसज्जित हो अपना-अपना रूप धारण करके राजा वीरवर्माके पास चलें ॥ ३७ ॥

यथा मम पुरे वासः क्रियते वचनं तथा।
सर्वैरपि नृपस्यास्य कर्तव्यं वीरवर्मणः ॥ ३८ ॥

तथा जैसे यहाँ मेरे नगरमें रहकर तुमलोग मेरी आज्ञाका पालन करते हो, उसी तरह वहाँ चलकर तुम सब लोगोंको राजा वीरवर्माकी भी आज्ञा माननी चाहिये ॥ ३८ ॥

ये जीवाः पापसंयुक्तास्ते पश्यन्तु निपातनान्।
रोगान् भयानकान् भूमौ शुभान् सुकृतकारिणः॥ ३९ ॥

भूतलपर जो पापात्मा जीव हैं, वे ही इन संहारकारी रोगोंको भयानक रूपमें देखेंगे; परंतु जो पुण्यात्मा हैं, उन्हें इनका दर्शन सौम्यरूपमें होगा ॥ ३९ ॥

मां च पश्यन्ति धर्मिष्ठा धर्मरूपं न चेतरे।
कालानलशरीरं हि वीक्षन्ते पापकारिणः ॥ ४० ॥

जैसे धर्मात्मा प्राणियोंको ही धर्मराजरूपमें मेरा दर्शन प्राप्त होता है, इनके अतिरिक्त जो पाप कर्म करनेवाले हैं, उन्हें वह रूप दृष्टिगोचर नहीं होता। उन्हें तो मेरा कालाग्निके समान दारुण रूप ही दीख पड़ता है ॥ ४० ॥

ब्रह्महत्या कृता येन प्राणिना गतबुद्धिना।
न निस्तीर्णा ब्रह्महत्या गलत्कुष्ठ विशेषतः ॥ ४१ ॥
तस्य गात्रे रोगराज स्थानं ते नात्र संशयः।

रोगराज गलत्कुष्ठ! जिस मन्दबुद्धि प्राणीने ब्रह्महत्या कर डाली हो और प्रायश्चित्त आदि उपायोंद्वारा उस ब्रह्महत्याका निवारण न किया हो, विशेषतः उसके शरीरमें तुम्हारा स्थान होगा, इसमें संशय नहीं है ॥ ४१½ ॥

त्वया ग्रस्तो जनः कुर्याद् यदि जाप्यं हि शाङ्करम्॥ ४२ ॥
महारुद्रं सहोमं च दानं विप्राय यच्छति।
सुवर्णपुरुषं निष्कैश्चतुर्विंशतिभिः कृतम् ॥ ४३ ॥
ततः परं तस्य गात्रं त्यज्यतां सर्वदा त्वया।
कृतपुण्यस्य पुरतो भृत्यवद् वर्तनं तव ॥ ४४ ॥

यदि कहीं तुम्हारे द्वारा ग्रस्त होनेपर वह प्राणी भगवान् शंकरके महारुद्र (महामृत्युञ्जय) मन्त्रका जप करे और फिर विधिवत् हवन करके चौबीस निष्क सोनेका बना हुआ सुवर्ण-पुरुष ब्राह्मणको दान दे दे तो तुम सर्वदाके लिये उसके

शरीरका त्याग कर देना । ऐसे पुण्यकर्ता मनुष्योंके सामने तो तुम्हें सेवककी भाँति व्यवहार करना चाहिये ॥ ४२–४४॥

क्षयी तु वित्तहीनश्च सोमवारे समाश्रयेत् ।
गौतमीं सागरस्थां चेत् स्नानार्थं मासमात्रकम्॥ ४५ ॥
स्नातमात्रं जनं यक्ष्मन् मा पीडय पतिष्यति ।

यदि राजयक्ष्माका रोगी धनहीन हो तो उसे चाहिये कि वह एक मासतक प्रत्येक सोमवारको स्नान करनेके लिये सागरगामिनी गौतमी (नर्मदा) की शरण ले । यक्ष्मन् ! गौतमीमें स्नानमात्र करनेवाले उस प्राणीको तुम पुनः पीडित मत करना । यदि करोगे तो तुम्हारा पतन हो जायगा ॥ ४५½ ॥

इयं च ते प्रिया देवी पातनी तत्क्षणान्नृणाम् ॥ ४६ ॥
विषूचिका नरं येन पातकेन प्रगच्छति ।
देवतार्थे दीयमानं वित्तं हरति मन्दधीः ॥ ४७ ॥
ब्राह्मणान् भोजनस्थान् हि वियोजयति पातकी ।
अन्नमेकः स्वयं भुङ्क्ते वञ्चयित्वा सुतान् द्विजान्॥४८॥
तं प्रिया ते महाभाग बाधते सा विषूचिका ।
अन्नदं सुरसेवां हि कुर्वन्तं न तु पीडयेत् ॥ ४९ ॥

महाभाग ! यह तुम्हारी प्यारी पत्नी विषूचिका देवी, जो मनुष्योंको पकड़ते ही मार गिराती है, जिस पापसे युक्त मनुष्यके पास जा सकेगी, उसे सुनो—जो मन्दबुद्धि देवकार्यके लिये दिये जाते हुए धनका अपहरण कर लेता है, जो पापी भोजनके लिये बैठे हुए ब्राह्मणोंको वहाँसे उठा देता है, जो अपने पुत्रों तथा ब्राह्मणोंको भुलावेमें डालकर अकेले स्वयं ही उत्तम अन्न खा लेता है, ऐसे पापीको तुम्हारी प्रिया विषूचिका बाधा पहुँचा सकेगी; परंतु जो अन्नका दान देता हो अथवा देवताकी सेवा करता हो, उसे यह पीड़ित नहीं कर सकेगी ॥ ४६–४९ ॥

पितृगोत्रभवां नारीं कामयन्ति विमोहिताः ।
नराश्च नार्योऽपि तथा पुरुषेषु च संयुताः ॥ ५० ॥
ते पीड्यन्ते प्रमेहेण पुत्रकेण तव प्रभो ।
सुवर्णतस्कराश्चान्ये मूत्रकृच्छ्रेण सर्वदा ॥ ५१ ॥

प्रभो ! जो विषय-विमोहित पुरुष पिताके गोत्रमें उत्पन्न हुई स्त्रीके साथ कामोपभोग करते हैं, उसी तरह जो नारियाँ पितृकुलमें पैदा हुए पुरुषोंसे समागम करती हैं, ऐसे पापी प्राणियोंको तुम्हारा पुत्र प्रमेह कष्ट पहुँचायेगा । दूसरे जो सुवर्णकी चोरी करनेवाले पापी हैं, वे सर्वदा मूत्रकृच्छ्रसे व्यथित रहेंगे ॥ ५०-५१ ॥

सुवर्णसिकतां दत्त्वा सौवर्णं देवभूषणम् ।
पलप्रमाणं तुलितं प्रमेहान्मुच्यते जनः ॥ ५२ ॥

स्वर्ण-सिकता तथा पलभर तौले हुए सोनेका आभूषण देवताको प्रदान करके मनुष्य प्रमेहरोगसे छुटकारा पा जाता है ॥ ५२ ॥

सुवर्णकमलं दद्यात् कृत्वा पूर्णं पलेन तु ।
द्विजाय श्रोत्रियायात्र मूत्रकृच्छ्रात् प्रमुच्यते ॥ ५३ ॥

मूत्रकृच्छ्रका रोगी वेदवेत्ता ब्राह्मणको पूरे पलभर स्वर्णका कमल बनवाकर दान दे तो वह मूत्रकृच्छ्ररोगसे मुक्त हो जाता है ॥ ५३ ॥

लिङ्गपीडा शिवस्वं च ये हरन्ति विलोभतः ।
परप्रभां समालोक्य मुखं स्फुरितकारिणः ॥ ५४ ॥

जो विशेष लोभवश शिव-सम्पत्तिकी चोरी करते हैं तथा जो परायी उन्नतिको देखकर मुख बिचकानेवाले हैं; उन्हें लिङ्ग-पीडाका रोग होता है ॥ ५४ ॥

कुम्भीपाकादिनरके पतन्ति हेमकारिणः ।
कुनखाश्च प्रजायन्ते मांसपिण्डोपमाः परम् ॥ ५५ ॥
शरीरं पाण्डुसंकाशं पाण्डुना स हि पीड्यते ।

जो सुवर्णकी चोरी करनेवाले हैं, वे कुम्भीपाक आदि भयंकर नरकोंमें गिरते हैं । नरकभोगके पश्चात् पुनर्जन्म लेनेपर वे कुनखी होते हैं । उनके वे नख मांसपिण्डके समान हो जाते हैं । शरीर पाण्डुरोगसे पीडित होनेके कारण पाण्डुके समान पीला पड़ जाता है ॥ ५५½ ॥

ददाति दानं विप्राय माहिषं शास्त्रसम्मतम् ॥ ५६ ॥
पिण्याकसर्षपोपेतं जपाकुसुमपूजितम् ।
तीर्थे रम्ये मुद्गलाख्ये वैष्णवं कुरुते जपम् ॥ ५७ ॥
त्रिपञ्चाशत् सहस्राणि यो नरस्तं प्रमुञ्चतु ।
पाण्डुनामा तव भ्राता न चेत् सोऽपि मरिष्यति॥ ५८ ॥

ऐसे रोगसे ग्रस्त हुआ जो मनुष्य शास्त्रविधिके अनुसार ब्राह्मणको जपाके पुष्पोंसे पूजा करके सरसोंकी खलीके साथ भैंसा दान करता है तथा मुद्गल नामक रमणीय तीर्थमें जाकर तिरपन हजार विष्णु-सम्बन्धी मन्त्रका जप करता है, तुम्हारे भाई पाण्डुको चाहिये कि वह ऐसे मनुष्यको छोड़ दे । यदि नहीं छोड़ेगा तो वह भी मर जायगा ॥५६–५८॥

अजां प्रयच्छति नरः श्रद्धया काञ्चनावृताम्।
विप्राय वेदविदुषे शोफो मुञ्चति तं नरम्॥ ५९॥
न स्थातव्यं त्वया तस्य गात्रे पुंसः कथंचन।

जो मनुष्य वेदज्ञ ब्राह्मणको श्रद्धापूर्वक सुवर्णके साथ बकरीका दान देता है, शोफ नामक रोग उसे छोड़कर दूर हट जाता है। तुम्हें भी ऐसे पुरुषके शरीरमें किसी प्रकार नहीं ठहरना चाहिये॥ ५९½॥

जलोदरो यातु जनं गर्भपातिनमादरात्॥ ६०॥
पश्चात् त्यजतु तं भूतं प्रपापुण्येन भूषितम्।

पाण्डुपुत्र जलोदर गर्भपात करानेवाले मनुष्यके शरीरमें आदरपूर्वक निवास करे। तत्पश्चात् जब वह पापी प्राणियोंके लिये प्याऊका प्रबन्ध करके उसके पुण्यसे विभूषित हो जाय, तब जलोदरको चाहिये कि उसका पीछा छोड़ दे॥ ६०½॥

शतमष्टोत्तरं घोरं व्रणानां मम मानिनाम्॥ ६१॥
तुलापुरुषदानेन समग्रं तत् प्रशाम्यति।

मेरे माननीय व्रणोंके जो एक सौ आठ भयंकर भेद हैं, वे सब-के-सब तुला-पुरुषके दानसे शान्त हो जाते हैं।६१½।

अर्धप्रसूतां सुरभिं यथोक्तां यः प्रयच्छति॥ ६२॥
तस्य गात्रे च तैः सर्वैर्व्रणैः स्थेयं न कर्हिचित्।

जो शास्त्रविधिके अनुसार आधी ब्यायी हुई गौका दान करता है, उसके शरीरमें उन सभी व्रणोंको कभी भी नहीं टिकना चाहिये॥ ६२½॥

विचर्चिका नरं दुष्टं रसतस्करिणं चिरम्॥ ६३॥
परिपीडयते तावद् यावद् दत्तं न काञ्चनम्।

जो रसकी चोरी करता है, ऐसे दुष्ट मनुष्यको विचर्चिका (खाज) चिरकालतक भयंकर पीडा देती रहती है और जबतक वह रोगी सुवर्णका दान नहीं कर देता, तबतक उसका पिण्ड नहीं छोड़ती॥ ६३½॥

भगन्दरो जनं त्यक्त्वा सौवर्णं कदलीफलम्॥ ६४॥
दातारं पलमात्रं हि ब्राह्मणाय प्रगच्छतु।

जो पलभर सोनेका केलेका फल बनवाकर ब्राह्मणको दान कर दे, भगन्दरको चाहिये कि वह ऐसे दानी व्यक्तिका त्याग करके तुरंत चल दे॥ ६४½॥

संनिपातो नरं चैव शिवप्रासादभञ्जकम्॥ ६५॥
समाश्रयति भूलोके याति विश्वासघातकम्।

भूलोकमें जो शिवजीके मन्दिरको तोड़नेवाला तथा विश्वास-घाती होता है, ऐसे मनुष्यके शरीरमें सन्निपात अपना डेरा जमा लेता है॥ ६५½॥

परापवादवक्तारमतीसारो व्रजत्वसौ॥ ६६॥
पूर्तं जीर्णप्रकर्त्तारं समाश्रयतु ते सखा।

जो परायी निन्दा करनेवाले हैं तथा जो कुएँ-बावड़ी आदिको नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं, तुम्हारा यह सखा अतीसार उस पुरुषके पास जाकर उसके शरीरका आश्रय लेकर निवास करे॥ ६६½॥

धर्मद्रव्यं ग्रहीतारं यातु संग्रहणी जनम्॥ ६७॥
मेषीप्रदानात् सा यातु अतिसारप्रिया सती।

जो धर्मादेकी सम्पत्तिको हड़प लेता है, ऐसे मनुष्यके पास संग्रहणीका जाना उचित है और जब वह रोगी मेषी (भेड़ी) का दान कर दे, तब अतीसारको सती पत्नी संग्रहणी उसे छोड़कर चली जाय॥ ६७½॥

भुञ्जतो ब्राह्मणान् द्वेष्टि तमरोचक आव्रजेत्॥ ६८॥
भोजयेद् विविधान्नेन तं च जह्यादरोचकः।

जो भोजन करते हुए ब्राह्मणोंसे द्वेष करता है, उसके समीप अरोचकको पदार्पण करना चाहिये और जब वह रोगी नाना प्रकारके अन्न ब्राह्मणोंको भोजन करा दे, तब आरोचक-को उसका त्याग कर देना उचित है॥ ६८½॥

धिक्शब्दं सुहृदो यश्च प्रहारं कुरुते जनः॥ ६९॥
सम्पीडयन्ति ये लोकान् पथि भल्लैः प्रहस्य तु।
आशाभङ्गं विदधते यान्तु शूलगणाश्च तान्॥ ७०॥

जो मनुष्य अपने सुहृदोंपर धिक्-शब्दका प्रहार करता है। जो मार्गमें जानेवाले पथिकोंको हँसकर भालेसे पीड़ित करते हैं तथा किसीको आशा देकर पश्चात् उस आशाको पूर्ण नहीं करते, उन मनुष्योंके पास शूलोंका समुदाय जायगा॥

कारागृहनिबद्धान् नॄन् पञ्जरस्थांश्च पक्षिणः।
पथि चोरैर्हन्यमानान् मोचयन्ति महाभयात्॥ ७१॥
सदाशिवे तु ये भक्ता न ताञ्छूलशतत्रयम्।

जो कारागारमें बंद हुए मनुष्योंको, पिंजरेमें पड़े हुए पक्षियोंको तथा मार्गमें लुटेरोंद्वारा पीटे जाते हुए राहगीरोंको उस महान् भयसे छुड़ाते हैं तथा जो भगवान् सदाशिवके भक्त हैं, उनके समीप इन तीन सौ शूलोंमेंसे एक भी नहीं फटक सकता॥ ७१½॥

हिक्का प्रिया तु यात्वेनं सहते न परोदयम् ॥ ७२ ॥
लक्षहोमप्रकर्तारं मा व्रजेद्नघं जनम् ।

जो पराये उत्कर्षको नहीं सह पाता, उसके पास यह मेरी प्यारी हिचकी पहुँचेगी; परंतु जो एक लाख मन्त्रोंसे हवन करके निष्पाप हो जायगा, उस मनुष्यके पास यह हिक्का नहीं जा सकेगी ॥ ७२½ ॥

निरीक्ष्य यक्षवित्तं च धनुर्वातः प्रयातु तम् ॥ ७३ ॥
माषमेरुं तैलवापीं प्रदातारं विमुञ्चतु ।

जिसके पास यक्षके समान धन हो अर्थात् जो धन संग्रह तो करता हो, परंतु उसे सत्कार्यमें व्यय करनेमें कृपणता करता हो, उसकी ऐसी सम्पत्तिको देखकर धनुर्वात नामक रोगको उसके समीप जाना चाहिये और जब वह रोगी मेरुपर्वतके समान उड़दकी ढेरी लगाकर तथा बावलीको तेलसे भरकर दान कर दे, तब उसे छोड़ देना उचित है ॥ ७३½ ॥

हरेः कथां न शृण्वन्ति ये न साधुजनस्य च ॥ ७४ ॥
तान् नरान् कर्णशूलोऽयं व्याप्नुयान्नेतरानृजून् ।
कपिलाधेनुदातृंश्च शृण्वतो वैष्णवीं कथाम् ॥ ७५ ॥

जो न तो भगवान् श्रीहरिकी कथा ही सुनते हैं और न सत्पुरुषोंके हरिगुणगानसम्बन्धी प्रवचनको ही श्रवण करते हैं, उन मनुष्योंके शरीरमें इस कर्णशूलका व्याप्त हो जाना सर्वथा उचित है; परंतु इनके अतिरिक्त जो कोमल स्वभाववाले तथा कपिला गौका दान करनेवाले हैं और जो सदा विष्णुसम्बन्धी कथा श्रवण करते रहते हैं, ऐसे व्यक्तियोंके पास इसे भूलकर भी नहीं जाना चाहिये ॥ ७४-७५ ॥

परस्वे जायते दृष्टिर्नेत्ररुक् तं नरं व्रजेत् ।
हारिणं परदाराणामन्नं यानेन भुञ्जताम् ॥ ७६ ॥
सुवर्णकमलस्यात्र प्रदातारं विमुञ्चति ।

जिसकी लोभभरी दृष्टि सदा पराये धनपर लगी रहती है, जो परायी स्त्रियोंका अपहरण करनेवाला है तथा जो सवारीपर बैठकर अन्न भोजन करते हुए चलते हैं, ऐसे मनुष्योंके पास नेत्ररोग जायगा; परंतु जो नेत्ररोगी सोनेका कमल बनवाकर दान कर देगा, उसे यह रोग छोड़ देगा ॥ ७६½ ॥

शैलेशं सोमनाथं च काशीनाथं च वीक्षकम् ॥ ७७ ॥
यदि पश्यति संसारं विनाशयति तत्क्षणात् ।
किं तु नेत्ररुजां वृन्दं न दाहयति तादृशान् ॥ ७८ ॥

यदि वह नेत्ररोगी जगद्द्रष्टा भगवान् शैलेश (अमरनाथ), सोमनाथ और काशीपति विश्वनाथका दर्शन कर लेता है तो भगवान् शंकर तत्काल ही उसके आवागमनका विनाश कर देते हैं और वैसे मनुष्योंको यह नेत्ररोगोंका समुदाय भी कष्ट नहीं पहुँचाता ॥ ७७-७८ ॥

पितृहा चेतनाहीनो मातृहान्धश्च जायते ।
नरकान्तं प्रकुर्वीत प्रायश्चित्तैर्यथाविधि ॥ ७९ ॥

पिताकी हत्या करनेवाला चेतनाशून्य (पागल) और मातृहत्यारा अंधा होता है। ऐसे रोगियोंको चाहिये कि वे शास्त्रीय विधिके अनुसार प्रायश्चित्त करके इन नरकस्वरूप रोगोंका विनाश कर डालें ॥ ७९ ॥

वाणी यस्य न संजाता कदाचित् साधुवर्णने ।
परापवादिनी नित्यं मुखसंतापकारिणी ॥ ८० ॥
मुखरोगस्तमालोक्य सकुटुम्बः प्रहृष्यति ।

जिसकी वाणी कभी भी सत्पुरुषोंके गुण-वर्णनमें प्रवृत्त नहीं होती, उलटे परायी निन्दा करनेमें नित्य रस लेती रहती है, वह वाणी मुखको संताप देनेवाली होती है। ऐसे मनुष्यको देखकर परिवारसहित मुखरोग प्रसन्न होता है ॥ ८०½ ॥

यः स्तौति साधुसंयुक्तं शिवं भक्त्या सदा जनः॥ ८१ ॥
ददाति वृषभं श्वेतं ब्राह्मणाय यथोचितम् ।
मुखरुक् तं जनं वीक्ष्य दूराद् दूरं पलायते ॥ ८२ ॥

जो मनुष्य सदा सत्सङ्गति करते हुए भक्तिपूर्वक भगवान् शिवकी स्तुति करता है और ब्राह्मणको यथोचितरूपसे श्वेत बैल दान करता है, ऐसे मनुष्यको देखकर मुखरोग दूर-से-दूर पलायन कर जाता है ॥ ८१-८२ ॥

त्वं रक्षेति धनं प्रोक्तः स्वयं लोभेन मोहितः ।
स्थापितं न ददात्यस्मै वित्तेशायोरुपातकी ॥ ८३ ॥
वल्मीकं तत्पदं प्राप्य स्थूलं जायेत रोपितम् ।

जो किसीके ऐसा कहनेपर कि 'आप मेरे धनकी रक्षा कर दीजिये' उस धनको अपने पास रख लेता है; परंतु पीछे स्वयं उस धनके लोभसे मोहित होकर वह रखा हुआ धन उस धनके मालिकको वापस नहीं देता अर्थात् धरोहरको हड़प लेता है, वह महापातकी कहलाता है। उसके पैरमें वल्मीक नामक स्थूल रोग उत्पन्न होता है ॥ ८३½ ॥

ब्राह्मणेभ्यो धनं भूरि प्रयच्छति जनस्तु यः ॥ ८४ ॥
तं न वल्मीकको याति पीडितुं हरिसेवकम् ।

जो मनुष्य ब्राह्मणोंको अधिक-से-अधिक धन दान देता है, ऐसे भगवान् श्रीहरिके भक्तको वह बल्मीक रोग पीड़ा नहीं पहुँचा सकता ॥ ८४½ ॥

परस्याननसंस्थं यो ग्रासं हरति मन्दधीः ॥ ८५ ॥
देवोपकरणान्येव गण्डमाला तमीहते ।
नानारत्नप्रदानेन गण्डमाला विलीयते ॥ ८६ ॥

जो मन्दबुद्धि मनुष्य दूसरेके मुखके ग्रासको छीन लेता है तथा देव-सामग्रियोंको हड़प जाता है, गण्डमालानामक रोग ऐसे मनुष्यकी प्रतीक्षा करता रहता है । यह गण्डमालारूपी व्याधि नाना प्रकारके रत्नोंका दान करनेसे विनष्ट हो जाती है ॥

गुरुपत्नीं गच्छतीह स कण्डूकुष्ठवान् भवेत् ।
कण्डूकुष्ठं प्रयात्येव शिवघण्टाप्रदानतः ॥ ८७ ॥

जो इस लोकमें गुरुपत्नीके साथ समागम करता है, उसे कण्डूकुष्ठ नामक रोग होता है । वह कण्डूकुष्ठ रोग शिवजीके लिये घण्टा प्रदान करनेसे दूर हो जाता है ॥ ८७ ॥

वदान्यं लाभसंतुष्टं परं वीक्ष्य विमूर्च्छति ।
तमपस्माररोगोऽयं भ्रामयन् परितिष्ठति ॥ ८८ ॥
कृष्णधेनुप्रदानेन हेमपुष्करतो व्रजेत् ।

जो मनुष्य किसी दूसरे यदृच्छालाभसे ही संतुष्ट रहनेवाले एवं उदार दानीको देखकर मूर्च्छित होता रहता है, ऐसे मनुष्यके शरीरमें यह अपस्मार (मृगी) नामक रोग प्रवेश करके उसे बारंबार घुमाता रहता है । यह अपस्मार काली गौ तथा स्वर्णके बने हुए कमलका दान करनेसे दूर हो जाता है ॥८८½॥

दम्भेनाचरते धर्मं गजचर्म प्रयातु तम् ॥ ८९ ॥
हंसतीर्थोदकस्नानकारकं न समाश्रयेत् ।

जो मनुष्य दम्भपूर्वक धर्मका आचरण करता है, उसे गजचर्म नामक रोग घेर लेगा । यह गजचर्म हंसतीर्थके जलमें स्नान करनेवाले मनुष्यके समीप नहीं फटक सकता ॥ ८९½ ॥

शिरोर्तिप्रमुखा रोगा यान्ति विश्वासघातकम् ॥ ९० ॥
सूर्यपूजादिकैः पुण्यैः प्रणश्यन्ति न संशयः ।

ये जो सिरदर्द आदि प्रधान रोग हैं, वे सब विश्वासघात करनेवालेको घेर लेते हैं और पुनः सूर्य-पूजन आदि पुण्यकर्मोंके अनुष्ठानसे इनका नाश भी हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ९०½ ॥

धर्मसूत्रं परस्याथ ये छिन्दन्ति नराधमाः ॥ ९१ ॥
डमरुर्वालुकं गाढं मुञ्चतस्तान् न पादतः ।

जो नराधम दूसरेके धर्मसूत्र (यज्ञोपवीत आदि) को तोड़ डालते हैं, उनके पैरको डमरू और बालुक—ये दोनों रोग ऐसी दृढ़तासे पकड़ लेते हैं कि उनका छूटना कठिन हो जाता है ॥ ९१½ ॥

स्वर्णसूत्रस्य देवेभ्यो ब्राह्मणेभ्यः प्रदानतः ॥ ९२ ॥
जायन्ते वालुकैर्मुक्ता बाधते तान् न वालुकम् ।

पुनः देवताओं तथा ब्राह्मणोंको स्वर्णसूत्र प्रदान करनेसे उन्हें उस बालुक रोगसे मुक्ति मिल जाती है और फिर वह रोग उन्हें बाधा नहीं पहुँचाता ॥ ९२½ ॥

कर्मणा मनसा वाचा परद्रोहं करोति यः ॥ ९३ ॥
स प्रेत्यापुत्रतां गच्छेन्नात्र कार्या विचारणा ।

जो मन, वचन और कर्मसे सदा परद्रोह ही करता रहता है, वह मरनेके पश्चात् पुनः जन्म लेनेपर पुत्रहीन होता है—इसमें अन्यथा विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ ९३½ ॥

शृणुयाद्धरिवंशं वै वारत्रितयमेव च ।
स मुक्तस्तेन पापेन पुत्रवान् धनवान् भवेत् ॥ ९४ ॥

यदि वह तीन बार हरिवंशपुराणका श्रवण करे तो उस पापसे मुक्त हो जाता है और उसे पुत्र तथा धनकी प्राप्ति हो जाती है ॥ ९४ ॥

जैमिनिरुवाच

एवं यमेन यत् प्रोक्तं शृण्वन्ति भुवि मानवाः ।
तेषां न रोगजा पीडा भविष्यति कदाचन ॥ ९५ ॥

जैमिनिजी कहते हैं— जनमेजय ! इस प्रकार यमराजने जो यह (रोगोंके लक्षण तथा उनसे छूटनेके उपायका) वर्णन किया है, इसे भूतलपर जो मनुष्य सुनेंगे, उन्हें कभी भी रोगजनित पीड़ा नहीं सहनी पड़ेगी ॥ ९५ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि कर्मविपाकवर्णनं नामाष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें कर्मविपाकका वर्णननामक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

यमराजका सारस्वतपुरमें आकर मालिनीका पाणिग्रहण करना और वीरवर्माको वर प्रदान करना, वीरवर्माका अर्जुनके साथ युद्धमें भयंकर पराक्रम प्रकट करके अर्जुन, श्रीकृष्ण और हनुमान्‌को पकड़ लेना, श्रीकृष्णद्वारा उसपर चरणप्रहार, वीरवर्माका आत्म-समर्पण और वीरवर्माकी सहायतासे अर्जुनका सेनासहित महानदके पार उतरना

जैमिनिरुवाच

ततो यमस्तु तैर्भृत्यैः कामरूपैः समन्वितः ।
परिणेतुं नृपसुतां नारदो यत्र विद्यते ॥ १ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर यमराज इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले अपने उन सेवकोंको साथ लेकर राजकुमारी मालिनीके साथ विवाह करनेके लिये उस स्थानको चले, जहाँ नारदजी पहलेसे ही विद्यमान थे ॥ १ ॥

तत् प्राप्य रम्यं नगरं वीक्ष्य सारस्वतं यमः ।
वरयामास धर्मिष्ठां मालिनीं तत्परां विभुः ॥ २ ॥
होमशालास्थितां देवीं तर्पयन्तीं हुताशनम् ।
अर्चयन्तीं नारदादीनृषीन् मृगयतीं पतिम् ॥ ३ ॥

उस रमणीय सारस्वतपुरमें पहुँचकर यमराजने देखा कि धर्मिष्ठा मालिनी पतिकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करती हुई हवन शालामें बैठकर आहुतियोंद्वारा अग्निदेवको तृप्त कर रही है और नारद आदि ऋषियोंकी अर्चना कर रही है, तब सामर्थ्यशाली यमराजने अपनेमें ही परायण रहनेवाली देवी मालिनीका पत्नीरूपमें वरण कर लिया ॥ २-३ ॥

तां प्राप्य कामिनीं धर्मो राजानं वाक्यमब्रवीत् ।
प्रसन्नोऽस्मि वरं ब्रूहि कं प्रयच्छामि तेऽनघ ॥ ४ ॥
स्वल्पेन किल कालेन तव मृत्युर्विलोक्यते ।

उस सुन्दरी मालिनीको पाकर धर्मराजने राजा वीरवर्मासे कहा—'निष्पाप नरेश ! मैं आपपर प्रसन्न हूँ । आप कोई वर माँगिये । मैं आपको कौन-सी वस्तु प्रदान करूँ ? मुझे तो ऐसा दीख रहा है कि थोड़े ही समयमें आपकी मृत्यु होनेवाली है' ॥ ४½ ॥

वीरवर्मोवाच

जामातस्ते वरं नैव वाञ्छाम्यत्रात्मजीवदम् ॥ ५ ॥
कन्याविचेन जीवन्ति ते नरा निरयं गताः ।

वीरवर्माने कहा—जामातः ! अब मैं आपसे अपने जीवनकी वृद्धि करनेवाला कोई वर माँगना नहीं चाहता; क्योंकि जो मनुष्य कन्याके धनसे जीवन-निर्वाह करते हैं, वे नरकगामी होते हैं ॥ ५½ ॥

धर्मराज उवाच

भवान् दाता प्रतिग्राही धर्मोऽहं तोषितस्त्वया॥ ६ ॥
आशीर्भिरभिनन्दामि दातारं कोऽत्र विस्मयः ।

तब धर्मराजने कहा—राजन् ! आप दाता हैं और मैं स्वयं धर्मराज आपका प्रतिग्रह ग्रहण करनेवाला हूँ । आपने मुझे संतुष्ट कर दिया है; अतः मैं आप-जैसे दाताका अपने आशीर्वचनोंद्वारा अभिनन्दन करना चाहता हूँ । इसमें आश्चर्य करनेकी क्या बात है ? ॥ ६½ ॥

नृप उवाच

यस्मिन् दिने मे मरणं भविष्यति हि भानुज ॥ ७ ॥
त्वद्वरेण हृषीकेशं तस्मिन्नहनि कामये ।

राजाने कहा—सूर्यनन्दन ! अच्छा तो मेरी यही अभिलाषा है कि जिस दिन मेरी मृत्यु होनेवाली हो, उस दिन आपके वर-प्रभावसे मुझे भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन प्राप्त हो जाय ॥ ७½ ॥

यम उवाच

तावत् त्वां न विमुञ्चामि यावत् कृष्णसमागमः॥ ८ ॥
त्वन्निमित्तं परबलं धारयिष्यामि मे वरः ।

यमराज बोले—राजन् ! मैं आपको यह वर देता हूँ कि जबतक आपका श्रीकृष्णके साथ समागम नहीं हो जायगा, तबतक आपको छोड़कर मैं कहीं नहीं जाऊँगा और आपके लिये आपके राज्यपर चढ़कर आयी हुई शत्रुसेनाको रणक्षेत्रमें रोक दूँगा ॥ ८½ ॥

वासुदेव उवाच

एष पार्थ यमो भाति तव सैन्यं प्रतापयन् ॥ ९ ॥
वीरवर्माणमायान्तं पश्य मद्दर्शनोत्सुकम् ।
वृतं महारथैर्वीरैः संनद्धो भव पाण्डव ॥ १० ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहने लगे—पार्थ ! ये वे ही यमराज हैं, जो तुम्हारी सेनाको संतप्त करते हुए प्रकाशित हो रहे हैं। पाण्डुनन्दन ! उधर देखोः मेरे दर्शनकी लालसासे राजा वीरवर्मा इधर ही आ रहा है। उसके साथ बहुत-से महारथी वीर हैं; अतः अब तुम भी युद्धके लिये तैयार हो जाओ ॥ ९—१० ॥

मयूरकेतुप्रमुखा बभ्रुवाहनकर्णजौ ।
प्रद्युम्नाद्याश्च युध्यन्तु कौतुकं त्वं विलोकय ॥ ११ ॥
भविष्यति महद् युद्धमनेकगजपातनम् ।

मयूरध्वज, बभ्रुवाहन, वृषकेतु और प्रद्युम्न आदि प्रधान-प्रधान वीर उसके साथ लोहा लेंगे और तुम अलग खड़ा होकर यह दृश्य देखो। इस समय घोर संग्राम होगा, जिसमें बहुसंख्यक हाथियोंका विनाश हो जायगा॥ ११½ ॥

जैमिनिरुवाच

एवं ब्रुवति देवेशे कृष्णे पार्थरथस्थिते ॥ १२ ॥
वीरवर्मार्जुनं प्राह प्राप्यं युद्धे तथाविधे ।
एते मया जिता वीरास्त्वदीयाः पार्थ संगरे ॥ १३ ॥
परं न मामिका कण्डूस्त्वां विना परिशाम्यति ।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! जिस समय अर्जुनके रथमें विराजमान देवेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार कह रहे थे और उधर वह भयंकर युद्ध चल रहा था, उसी समय वीर-वर्मा अर्जुनके पास आकर कहने लगा—'पृथानन्दन ! मैंने संग्रामभूमिमें तुम्हारे इन सभी वीरोंको पराजित कर दिया है; परंतु मेरे हाथकी खुजलाहट तुम्हारे साथ युद्ध किये बिना शान्त होनेवाली नहीं है' ॥ १२-१३½ ॥

गोविन्द भव वीरस्त्वं पार्थो भवतु वा न वा ॥ १४ ॥
सहस्व मत्प्रहारं त्वं तिष्ठ मा मुञ्च संगरम् ।

(पुनः श्रीकृष्णको सम्बोधित करके कहने लगा—) 'गोविन्द ! ये अर्जुन पराक्रम प्रकट करें अथवा न करें; परंतु अब आप ही वीर बनिये और मेरा प्रहार सहन कीजिये। डट-कर खड़ा हो जाइये, संग्राम छोड़कर भाग मत जाइयेगा' ॥ १४½ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं शरैः सप्तभिरर्जुनम् ॥ १५ ॥
ताडयामास हृदये बाणषष्ठ्या जनार्दनम् ।

इतनी बात कहकर राजा वीरवर्माने सात बाणोंसे अर्जुनके हृदयपर चोट की और साठ बाणोंसे श्रीकृष्णको घायल कर दिया ॥ १५½ ॥

बाणैस्ते पञ्चभिर्वीरा मूर्च्छिताः पतिताः क्षितौ॥ १६ ॥
मयूरकेतुप्रमुखास्तदद्भुतमिवाभवत् ।

तत्पश्चात् उसके पाँच बाणोंसे घायल होकर वे मयूरध्वज आदि प्रधान वीर मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ १६½॥

अर्जुनोऽपि नृपं बाणैः समन्ताद् व्यकिरद् रणे॥ १७ ॥
मुञ्चाश्वौ मामकौ क्रोधाद् ब्रुवाणोऽपि पुनः पुनः।

तब अर्जुनने भी रणभूमिमें चारों ओरसे राजा वीरवर्माके ऊपर बाणोंकी झड़ी लगा दी। उस समय वे क्रोधपूर्वक बार-बार ऐसा कह रहे थे कि 'मेरे दोनों घोड़ोंको छोड़ दो'॥१७½॥

नृप उवाच

उभौ गृहीतौ तुरगौ यथा युद्धे मयार्जुन ॥ १८ ॥
तथात्र धारये वीरौ सम्मुखौ माधवार्जुनौ ।

राजा वीरवर्माने कहा--अर्जुन ! जिस प्रकार युद्ध-स्थलमें मैंने दोनों घोड़ोंको पकड़ रखा है, उसी तरह सम्मुख आये हुए तुम दोनों वीर श्रीकृष्ण और अर्जुनको अभी पकड़े लेता हूँ॥ १८½ ॥

जैमिनिरुवाच

पार्थं बाणसहस्रैस्तु सकृष्णं वीरवर्मकः ॥ १९ ॥
संछादयित्वा व्यनदत् सतोय इव तोयदः ।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! यों कहकर राजा वीरवर्मा श्रीकृष्ण और अर्जुनको सहस्रों बाणोंसे आच्छादित करके जलपूर्ण मेघके समान गर्जना करने लगा ॥ १९½ ॥

तस्य बाणान् सव्यसाची चकार तिलशः क्षणात्॥२०॥
सुमन्त्र इव शत्रूणां देशान् प्राज्ञैरधिष्ठितः ।
जघान सप्तभिर्बाणैर्वीरवर्माणमाहवे ॥ २१ ॥

फिर तो जैसे मन्त्रकुशल सचिवोंद्वारा प्रयुक्त की हुई उत्तम मन्त्रणा शत्रुओंके देशोंको नष्ट-भ्रष्ट करके उनपर अधिकार जमा लेती है, उसी तरह अर्जुनने क्षणभरमें उसके बाणोंको काटकर तिलके समान टुकड़े कर दिये और फिर रणभूमिमें सात बाणोंसे वीरवर्माको भी घायल कर दिया २०-२१

पार्थं जघान षष्ट्यासौ शराणां तिग्मतेजसाम् ।
वासुदेवं शतेनापि हनूमन्तं शतेन च ॥ २२ ॥

तब वीरवर्माने अत्यन्त चमकीले साठ बाणोंसे अर्जुनपर प्रहार किया और फिर सौ बाणोंसे श्रीकृष्णको बींधकर हनुमान्‌को भी सौ बाणोंसे पीट दिया ॥ २२ ॥

हया भिन्नाः शरैर्घोरैर्धृताः कृष्णेन ये करे ।
तस्माद् गच्छन्ति ते भूमौ विषमायां नराधिप ॥ २३ ॥

नरेश्वर जनमेजय ! वीरवर्माके भयंकर बाणोंसे अर्जुनके घोड़े घायल हो गये, इसलिये यद्यपि श्रीकृष्णने उनकी बागडोर हाथमें लेकर उन्हें अपने काबूमें कर रखा था, तथापि वे विषम (ऊबड़-खाबड़) जमीनकी ओर भागने लगे ॥ २३ ॥

अन्ये वीराः शरैश्छन्ना न दृश्यन्ते च भूतले ।
भ्रमितं पाण्डवबलं मोहेनेव यथा जगत् ॥ २४ ॥
वीरवर्माणमालोक्य कृष्णः प्रोवाच पाण्डवम् ।

दूसरे वीर उसके बाणोंसे ऐसे ढक गये थे कि वे भूतलपर दिखायी ही नहीं पड़ते थे । उस समय अर्जुनकी सेना मोहके वशीभूत होकर आवागमनके चक्रमें पड़े हुए जगत्‌के समान चक्कर काटने लगी । तब वीरवर्माको (जोर पकड़ते) देखकर भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा ॥ २४½ ॥

श्रीवासुदेव उवाच

वेत्सि पार्थ महाबाहो यथान्ये क्षत्रिया जिताः ॥ २५ ॥
तथा विजेष्यामि रणे वीरवर्माणमत्र वै ।
नासौ शक्यो मया जेतुमुपायैस्ते निपातिताः ॥ २६ ॥

श्रीवासुदेव बोले——महाबाहु अर्जुन ! क्या तुम यह समझ रहे हो कि जैसे पहलेके युद्धोंमें मैंने अन्य क्षत्रिय वीरोंको पराजित कर दिया था, उसी तरह इस संग्राममें राजा वीरवर्मापर भी विजय प्राप्त कर लूँगा ? (परंतु ऐसा होना तो असम्भव है; क्योंकि) यह तो मेरे द्वारा भी नहीं जीता जा सकता। पहलेके वीरोंको तो तुमने मेरी युक्तियोंके सहारे मार डाला था ॥ २५-२६ ॥

यथा कर्णस्य तच्चक्रं ग्रस्तं भूम्या महारणे ।
नास्य चक्रं ग्रसेद् देवी समर्थो जायते पुनः ॥ २७ ॥

जैसे महाभारत-युद्धमें पृथ्वीने कर्णके रथके पहियेको ग्रस लिया था, वह पृथ्वीदेवी इस समय इसके रथ-चक्रको ग्रसना नहीं चाहती; इससे यह अधिकाधिक जोर पकड़ता जा रहा है॥२७॥

सुदर्शनेन तच्छिन्नं शिशुपालशिरो महत् ।
नास्य कण्ठात् पातयितुं क्षमं चक्रं हि मामकम् ॥ २८ ॥

(राजसूय यज्ञके अवसरपर) जिस प्रकार सुदर्शन चक्रने शिशुपालके विशाल मस्तकको काट गिराया था, मेरा वही चक्र इस समय इसके सिरको गलेसे पृथक् कर देनेके लिये समर्थ नहीं हो रहा है ॥ २८ ॥

सिंधुराजस्य विशिखैर्नीतं शीर्षं रणाद् बहिः ।
यैस्तावकैर्न तैरस्य वीक्ष्यते दाहदं मुखम् ॥ २९ ॥

तुम्हारे जो बाण सिन्धुराज जयद्रथके सिरको उड़ाकर रणभूमिसे बाहर चले गये थे, वे बाण वीरवर्माके संताप देनेवाले मुखकी ओर तो देख भी नहीं सकते ॥ २९ ॥

हनुमानेव संग्रामे रथं लाङ्गूलबन्धनैः ।
निबध्नातु हि वीरस्य संग्रामे वीरवर्मणः ॥ ३० ॥
भ्रामयित्वा शतगुणं प्रमुञ्चतु महार्णवे ।

इसलिये अब हनुमान् ही संग्रामभूमिमें बलवान् वीरवर्माके रथको अपनी पूँछरूपी रस्सीसे बाँध लें और उसे सौ बार घुमाकर महासागरमें डाल दें ॥ ३०½ ॥

हनुमानुवाच

नेदं वनं रावणस्य जम्बुमाली न राक्षसः ॥ ३१ ॥
जानकीत्रासकारिण्यो राक्षस्यो न पुरः स्थिताः ।

हनुमान्‌ने कहा—भगवन् ! न तो यह रावणकी अशोकवाटिका है, न जम्बूमाली नामक राक्षस है और न जानकीजीको डराने-धमकानेवाली राक्षसियाँ ही मेरे सामने खड़ी हैं (फिर मैं किसपर क्रोध करूँ ? यह राजा तो वैष्णव होनेके कारण क्रोधका पात्र नहीं है) ॥ ३१½ ॥

श्रीवासुदेव उवाच

मयाऽऽदिष्टो रथं चास्य प्रक्षिप त्वं हि वायुज ॥ ३२ ॥
अप्यकार्यशतं कार्यं धर्मार्थे हि त्वया मया ।

श्रीवासुदेवने कहा—वायुनन्दन ! तुम मेरे आदेशसे वीरवर्माके रथको समुद्रमें फेंक दो; क्योंकि धर्मराज युधिष्ठिरके लिये मुझे और तुम्हें सैकड़ों न करने योग्य भी कार्य करने चाहिये ॥ ३२½ ॥

जैमिनिरुवाच

प्रेरितो वासुदेवेन गृहीत्वास्य रथं हरिः ॥ ३३ ॥
लाघवं सखुतं स्वरूपं प्रस्थितो गगनं प्रति ।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तब श्रीकृष्णकी प्रेरणासे हनुमान्‌जी घोड़े, सारथि और राजासहित वीरवर्माके रथको पकड़कर आकाशकी ओर उड़ चले ॥ ३३½॥

परित्यज्य रथं राजा तत्क्षणात् पाण्डवस्य हि ॥ ३४ ॥
गृहीत्वा रथमाकाशे प्रपेदे पवनात्मजम् ।
प्रत्युवाच हनूमन्तं त्वया मे नीयते रथः ॥ ३५ ॥
शून्यो हि विपुलः कृष्णरथं पश्य मयाऽऽहृतम् ।
नयिष्यसि रथं यत्र तत्र माधवपाण्डवौ ॥ ३६ ॥
नयिष्यामि न मुञ्चामि दैवात् त्यक्तौ त्वया रणे ।
क्षीराब्धौ कृष्णनाथस्य शयनं शेषमञ्चके ॥ ३७ ॥

यह देखकर राजा वीरवर्मा अपने रथसे कूद पड़ा और तत्काल ही अर्जुनके रथको लेकर आकाशमें हनुमान्‌जीके संनिकट जा पहुँचा और उनसे कहने लगा—'हनुमान् ! तुम मेरे जिस विशाल रथको लिये जा रहे हो, वह तो खाली है । इधर देखो, मैं तो श्रीकृष्णके रथको उठा लाया हूँ । अब तुम जहाँ मेरे रथको ले जाओगे, वहीं मैं भी श्रीकृष्ण और अर्जुनको ले चलूँगा । उन्हें छोड़ूँगा नहीं। प्रारब्धवश ही तुमने इन दोनोंको रणभूमिमें छोड़ दिया है । अब तो भगवान् श्रीकृष्णका क्षीरसागरमें शेषशय्यापर ही शयन होगा अर्थात् मैं इन्हें क्षीरसमुद्रमें डाल दूँगा ॥ ३४–३७ ॥

रमा विरहिणी नित्यं या चिन्तयति माधवम् ।
पार्थभक्त्या वृतं कान्तं सा प्राप्नोतु मयार्पितम् ॥ ३८ ॥

'वहाँ लक्ष्मीजी पति-विरहसे व्याकुल होकर सदा इन माधवका ध्यान करती रहती हैं; क्योंकि ये यहाँ अर्जुनकी भक्तिके वशीभूत हो गये हैं । वे आज मेरेद्वारा अर्पण किये गये अपने इन पतिदेवको प्राप्त कर लें ॥ ३८ ॥

यथासौ भासते सूर्यो न चन्द्रं वीक्षते तथा ।
यन्निमित्तं गतश्चन्द्रस्तं जानन्तु विचक्षणाः ॥ ३९ ॥
त्वत्तोऽधिकं कृतं कर्म हृदि जानाति तत्त्वतः ।

ये चन्द्रमा उन्हें सूर्यके समान दाहक प्रतीत होते हैं, इसलिये वे चन्द्रमाकी ओर नहीं देखती हैं । जिस (विरहरूपी) निमित्तसे चन्द्रमा उनके लिये दाहकत्वको प्राप्त हुए हैं; उसे सहृदय विद्वान् ही जानें । मैंने यहाँ तुमसे अधिक पराक्रम कर दिखाया है, इस बातको तुम अपने मनमें अच्छी तरह जानते हो ॥ ३९½ ॥

हनुमानुवाच

महिमा ते मया दृष्टो वर्णितो नु त्वयानघ ॥ ४० ॥
तनोति पौरुषं स्वं यः साधुभिर्वर्ण्यते न सः ।

हनुमान्‌ने कहा—निष्पाप नरेश ! तुम अपनी जिस महिमाका वर्णन कर रहे हो, उसे तो मैंने प्रत्यक्ष देख लिया । (तुम्हें ऐसा नहीं कहना चाहिये; क्योंकि) जो स्वयं अपने मुखसे अपने पुरुषार्थका वर्णन करता है, साधु पुरुष उसकी प्रशंसा नहीं करते ॥ ४०½ ॥

वीरवर्मोवाच

रथं गृहीत्वा मे वीर न गन्तुं पार्यते त्वया ॥ ४१ ॥
सहस्व मत्प्रहारं हि मया कृष्णौ यथा धृतौ ।

वीरवर्माने कहा—वीर ! अब तुम मेरे रथको लेकर आगे नहीं जा सकते । जैसे मैंने श्रीकृष्ण और अर्जुनको पकड़ रखा है, उसी तरह तुम्हें भी पकड़ लूँगा । अब मेरे प्रहारको सहन करो ॥ ४१½॥

ततो जघान सरथं हनूमन्तं स्वमुष्टिना ॥ ४२ ॥
तस्य मुष्टिप्रहारेण न ययौ पवनात्मजः ।
एवमेकेन ते वीरास्त्रयो युद्धे तथा धृताः ॥ ४३ ॥

तदनन्तर वीरवर्माने रथ लेकर आगे बढ़ते हुए हनुमान्‌जीपर अपने मुक्केसे प्रहार किया । उसके मुष्टि-प्रहारसे व्याकुल होकर हनुमान्‌जी आगे न बढ़ सके । इस प्रकार अकेले वीरवर्माने युद्धस्थलमें उन तीनों वीरोंको अपने काबूमें कर लिया ॥ ४२-४३ ॥

तं नृपं हृदये कृष्णो जघान स्वपदा त्वरन् ।
मूर्च्छितः स पपातोर्व्यां गृहीत्वा चरणौ हृदि ।
मुहूर्त्तार्धेन तां हित्वा पुनरेवोत्थितोऽब्रवीत् ॥ ४४ ॥

तब तुरंत ही श्रीकृष्णने राजा वीरवर्माके हृदयपर अपने चरणसे प्रहार किया, जिससे वह उनके दोनों चरणोंको हृदयपर धारण किये हुए मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा । पुनः एक घड़ीके बाद वह मूर्च्छा त्यागकर उठ खड़ा हुआ और यों कहने लगा—॥ ४४ ॥

मया त्रयो धृता यूयं नैकोऽहं विधृतस्त्रिभिः ।
यमेन मरणं प्रोक्तं मदीयं तद्गतं कुतः ॥ ४५ ॥

मैंने तुम तीनों वीरोंको अपने वशमें कर लिया था; परंतु तुम तीनों वीर मिलकर मुझ अकेलेको अपने काबूमें न ला सके। (ऐसे ही अवसरपर) यमराजने मेरी मृत्यु बतायी थी, परंतु न जाने वह मौत कहाँ चली गयी ॥ ४५ ॥

नीतौ पार्थस्य तुरगौ मया वीराः प्रतोषिताः ।
कृष्णाङ्घ्रिस्पर्शतो नूनं मृत्युर्मेऽद्य पलायितः ॥४६॥

'मैंने अर्जुनके दोनों घोड़ोंको पकड़ लिया और संग्राम-भूमिमें वीरोंको संतुष्ट कर दिया, परंतु मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि श्रीकृष्णके चरण-स्पर्शसे निश्चय ही आज मेरी मृत्यु दूर भाग गयी है' ॥ ४६ ॥

ततो वीक्ष्य नृपं कृष्णः स्वे रथे समवस्थितम् ।
उवाच पाण्डवं युद्धे शृणु फाल्गुनमेव च ॥ ४७ ॥
नायं वर्षसहस्रेण विजेतव्यस्त्वया मया ।
सर्वास्त्रसंग्रहं वेत्ति लघुहस्तो महाबलः ॥ ४८ ॥
सर्वे जिता रणे वीरास्तथाहमपि तोषितः ।

तदनन्तर जब श्रीकृष्णने राजा वीरवर्माको अपने रथमें बैठा हुआ देखा, तब वे युद्धस्थलमें ही पाण्डुनन्दन अर्जुनसे बोले—'पार्थ ! सुनो, चाहे हजारों वर्षोंतक युद्ध चलता रहे, परंतु हम और तुम—दोनों मिलकर भी इसे पराजित नहीं कर सकते; क्योंकि यह महान् बलवान् एवं फुर्तीला है और साथ ही सम्पूर्ण अस्त्रसमूहोंका ज्ञाता भी है। इसने रणभूमिमें सभी वीरोंको जीत लिया है और मुझे भी संतुष्ट कर दिया है' ॥ ४७-४८½ ॥

अर्जुन उवाच

येन त्वं तोषितो नाथ विजयी स प्रजायते ॥ ४९ ॥
पौरुषेण मदीयेन नैवाप्नोति पराजयम् ।

तब अर्जुनने कहा—नाथ ! जिसने आपको संतुष्ट कर दिया, वह तो विजयी होता ही है। वह मेरे पुरुषार्थ प्रकट करनेसे पराजित नहीं हो सकता ॥ ४९½ ॥

एवं ब्रुवाणं वीरोऽसौ पार्थं प्रोवाच सत्वरः ॥ ५० ॥
वीरवर्मा प्रसन्नस्तं मैवं वद धनंजय ।
चराचरं त्वया पार्थ शक्यते जेतुमाहवे ॥ ५१ ॥
त्वद्वाक्येनामुना वीर प्रसन्नं जायते मनः ।

अर्जुनके ऐसा कहनेपर वीरवर्मा प्रसन्न हो गया और फिर तुरंत ही वह वीर अर्जुनसे कहने लगा—'धनंजय ! आप ऐसा मत कहें। पृथानन्दन ! आप तो संग्रामभूमिमें चराचर जगत्‌को पराजित कर सकते हैं। वीर ! आपके इस कथनसे मेरा मन प्रसन्न हो गया है' ॥ ५०-५१½ ॥

इत्युक्त्वा धनुरुत्सृज्य पतितः कृष्णपादयोः ॥ ५२ ॥
निपपात तदा राजा पार्थमालिङ्ग्य सत्वरः ।
तुरगाभ्यां समं स्वं हि राज्यं देहं स्वकं ददौ ॥ ५३ ॥
श्रीकृष्णनाथस्य करे कृत्वा वीरैश्च सौहृदम् ।
तोषयन् कृष्णनाथस्य भक्त्या चित्तं पुरः स्थितः॥ ५४॥

यों कहकर राजा वीरवर्माने अपने धनुषको फेंक दिया और नम्र होकर वह श्रीकृष्णके चरणोंमें गिर पड़ा। फिर उसने तुरंत ही अर्जुनको गले लगाकर दोनों घोड़ोंके साथ-साथ अपने राज्य और अपने शरीरको भी भगवान् श्रीकृष्णके हाथमें समर्पित कर दिया। तत्पश्चात् सभी वीरोंके साथ मैत्रीभाव स्थापित करके अपनी भक्तिसे भगवान् श्रीकृष्णके चित्तको प्रसन्न करते हुए उनके आगे खड़ा हो गया ॥ ५२–५४ ॥

षष्ठेऽथ दिवसे राजा दर्शयामास सत्वरम् ।
सारस्वतं पुरं स्वं हि वित्तं पार्थाय धीमते ।
मौक्तिकान्यष्टधा यानि धनानि च बहूनि च ॥ ५५ ॥
रत्नजातं तु सकलं यन्नेतुं नैव शक्यते ।

तदनन्तर छठे दिन राजा वीरवर्माने बुद्धिमान् अर्जुनको शीघ्र ही अपना सारस्वतपुर और सारा धन दिखलाया। फिर अपने यहाँ जो आठ प्रकारकी मोतियाँ, अटूट धनभण्डार और ढेर-के-ढेर रत्न भरे थे, जिन्हें उस नगरसे बाहर नहीं ले जाया जा सकता था, उन सबको भी अर्जुनके नेत्रोंके समक्ष उपस्थित किया ॥ ५५½ ॥

गजानां चन्द्रशुभ्राणां सहस्राण्येकसप्ततिः ॥ ५६ ॥
एकतः श्यामकर्णान् हि तुरगान् सुबहूनपि ।
सुन्दरीणां सहस्राणि नव पार्थकरे ददौ ॥ ५७ ॥
स्वयं पुरःसरो भूत्वा पालयामास वाजिनौ ।

तत्पश्चात् राजाने चन्द्रमा-सरीखे उज्ज्वल वर्णवाले इकहत्तर हजार हाथी, जिनके कान एक ओरसे श्याम वर्णके थे, ऐसे बहुत-से घोड़े और नौ हजार सुन्दरी स्त्रियाँ अर्जुनके हाथमें समर्पित कर दीं तथा स्वयं अग्रगामी सेवक बनकर उन दोनों घोड़ोंकी रक्षा करने लगा ॥ ५६-५७½ ॥

ततः पार्थमुखा वीरा ददृशुर्भासुरं नदम् ॥ ५८ ॥
नानाचक्राकुलजलमावर्त्तशतसंकुलम् ।

तदनन्तर आगे बढ़नेपर अर्जुन आदि वीरोंने एक विशाल नद देखा, जो जलसे भरे रहनेके कारण चमक रहा था। उसका जल अनेक रूपोंमें चक्रकी भाँति घूम रहा था और उसमें सैकड़ों भँवरें उठ रही थीं ॥ ५८½ ॥

नयन्ति हि गजान् यत्र मीनास्तानितरे झषाः ॥ ५९ ॥
महद्भिर्जलकल्लोलैर्हसन्तमिव सागरम् ।

उसमें रहनेवाले मगर-मच्छ बड़े-बड़े गजराजोंको घसीट ले जाते थे तथा अन्य और भी ऐसे विशालकाय मच्छ थे, जो

उन मगर-मच्छोंको भी धर दबोचते थे। वह अपनी उत्ताल जल-तरङ्गोंसे महासागरको हँसता हुआ-सा प्रतीत हो रहा था॥

पार्थोऽब्रवीन्महाभागं वीरवर्माणमादरात्॥ ६०॥
प्रतियामि नदं यातौ हयौ वारितरौ मम।
पोतैस्तारय मत्सैन्यं वीरवर्मा तथाकरोत्॥ ६१॥
तीर्णं सैन्यं समग्रं हि पार्थस्य जनमेजय॥ ६२॥

तब अर्जुनने महाभाग्यशाली राजा वीरवर्मासे आदरपूर्वक कहा—'राजन्! मैं इस नदको पार करना चाहता हूँ; क्योंकि मेरे दोनों घोड़े जलको तैरकर उस पार पहुँच गये। अतः अब आप नौकाओंद्वारा मेरी सेनाको उस पार पहुँचाइये।' तब वीरवर्माने वैसा ही प्रबन्ध किया। जनमेजय! इस प्रकार अर्जुनकी सारी सेना महानदके उस पार पहुँच गयी॥६०—६२॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि वीरवर्मविजयकथनं नामैकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ४९॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें वीरवर्माकी विजयका कथन नामक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४९॥

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

घोड़ोंका राजा चन्द्रहासके नगर कुन्तलपुरमें पहुँचना और पकड़ा जाना, नारदजीका आगमन, अर्जुनके पूछनेपर नारदजीद्वारा चन्द्रहासकी कथाका वर्णन

जैमिनिरुवाच

सारस्वतपुरान्मुक्तौ वाजिनौ निर्गतौ नृप।
लम्बोदरं नमस्कृत्य वक्ष्येऽहं यत्र तौ गतौ॥ १॥

जैमिनिजी कहते हैं— जनमेजय! सारस्वतपुरसे छूट-कर वे दोनों घोड़े आगे बढ़े। तत्पश्चात् वे जहाँ पहुँचे थे, वहाँका वृत्तान्त मैं गणेशजीको प्रणाम करके वर्णन करता हूँ॥

वायुवेगसमौ दान्तौ चन्द्रदीप्तिमुखौ हरी।
चन्द्रहासपुरं प्राप्तौ ततः कौन्तलकं शुभम्॥ २॥

तदनन्तर जो वायुके समान वेगशाली थे, जिनके मुखकी कान्ति चन्द्रमाके सदृश उज्ज्वल वर्णकी थी तथा जो सुशिक्षित होनेके कारण सधे हुए थे, वे घोड़े राजा चन्द्रहासके सुन्दर नगर कुन्तलपुरमें जा पहुँचे॥ २॥

पृष्ठतोऽनुययुः सर्वे कृष्णप्रद्युम्नजिष्णवः।
हंसध्वजस्ताम्रकेतुः प्रवीरः फाल्गुनिर्वृषः॥ ३॥

उन घोड़ोंके पीछे-पीछे श्रीकृष्ण, प्रद्युम्न, अर्जुन, हंसध्वज, ताम्रध्वज, प्रवीर, अर्जुनकुमार बभ्रुवाहन और वृषकेतु आदि सभी वीर चल रहे थे (वहाँ पहुँचनेपर वे घोड़े उन्हें नहीं दिखायी दिये)॥ ३॥

वीक्षमाणास्तुरङ्गौ तौ व्यामोहाविष्टचेतसः।
वाजिनौ नः कुतः प्राप्तौ केन नीतौ तलं गतौ॥ ४॥
आकाशमुत्प्लुतौ किं नु वियद्ग्रीवाः स्म तेऽभवन्।

उस समय सब ओर दृष्टि डालनेपर भी उन घोड़ोंको न पाकर उन सबके मनपर व्यामोह छा गया और वे परस्पर कहने लगे—'हमारे दोनों घोड़े कहाँ चले गये? उन्हें किसने पकड़ लिया? वे पातालमें तो नहीं चले गये अथवा उछलकर आकाशमें तो नहीं जा पहुँचे?' यों कहते हुए वे गला ऊपर उठाकर आकाशकी ओर देखने लगे॥ ४½॥

तावद् ददृशुराकाशे पुरुषं दीप्ततेजसम्॥ ५॥
भ्राजमानं श्रियातीव द्वितीयमिव भास्करम्।

तबतक उन्हें आकाशमें एक तेजस्वी पुरुष दिखायी पड़े, जो उद्दीप्त तेजसे संयुक्त थे और अत्यन्त श्रीसम्पन्न होनेके कारण दूसरे सूर्यके समान प्रकाशित हो रहे थे॥ ५½॥

मुनीनां प्रवरं चैव वेदवेदाङ्गपारगम्॥ ६॥
नारदं कलहप्रेप्सुं वैष्णवानां गरीयसम्।
कृष्ण माधव गोविन्द नृसिंह मधुसूदन॥ ७॥
जपन्तं मनसा नित्यं भक्त्या केवलया युतम्।
पृथक् पृथङ्नमश्चक्रुर्मुनिं तं फाल्गुनादयः॥ ८॥

वे वेद-वेदाङ्गोंके पारगामी विद्वान् मुनिश्रेष्ठ नारदजी थे। जिन्हें कलह या युद्ध देखनेकी विशेष रुचि रहती है और जो विष्णु-भक्तोंमें गौरवपूर्ण स्थान रखते हैं। वे नित्य-निरन्तर अनन्यभक्तिपूर्वक मन-ही-मन 'कृष्ण! माधव! गोविन्द! नृसिंह! मधुसूदन!' आदि भगवन्नामोंका जप करते रहते हैं। निकट आनेपर अर्जुन आदि सभी वीरोंने पृथक्-पृथक् मुनिवर नारदजीको प्रणाम किया॥ ६—८॥

कुतः प्राप्तं पूज्यपादैर्दृष्टौ नः किं तुरङ्गमौ ।
इत्यमुं परिपप्रच्छ फाल्गुनः स्वामिगौरवात् ॥ ९ ॥

तदनन्तर नारदजीका स्वामीकी तरह सम्मान करते हुए अर्जुनने उनसे पूछा—'पूज्यपाद देवर्षे ! कहाँसे आपका शुभागमन हो रहा है ? क्या कहीं हमारे वे दोनों घोड़े आपके दृष्टिपथमें आये हैं ?' ॥ ९ ॥

नारदस्त्वब्रवीदश्वौ गतौ कौन्तलकं पुरम् ।
यत्र राजा चन्द्रहासो वैष्णवः पालितां पुरीम् ॥ १० ॥

तब नारदजीने बतलाया—'जहाँ परम विष्णु-भक्त राजा चन्द्रहास राज्य करता है, उसके द्वारा सुरक्षित उस नगरीका नाम कुन्तलपुर है । वे दोनों घोड़े उसी नगरमें जा पहुँचे हैं ॥ १० ॥

यस्मै कुन्तलको राजा राज्यं दत्त्वा वनं ययौ ।
धृष्टबुद्धेः प्रधानस्य कन्यां यः परिणीतवान् ॥ ११ ॥
केरलाधिपतेः पुत्रः कुलिन्देनानुपालितः ।
लक्ष्मीपतेः प्रसादात् स प्राप्य कौन्तलकां पुरीम् ॥ १२ ॥
चन्द्रहासो महाबाहुर्योद्धा तादृङ् न विद्यते ।
अमी नृपतयस्तस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ १३ ॥

'चन्द्रहास केरल देशके राजाका पुत्र है । राजाकी मृत्युके पश्चात् इसे कुलिन्दने पाला-पोसा है । पीछे राजा कुन्तलक इसे अपना राज्य देकर वनमें चले गये । तत्पश्चात् इसने राजाके प्रधान मन्त्री धृष्टबुद्धिकी कन्याका पाणिग्रहण किया । भगवान् लक्ष्मीपतिकी कृपासे ही इसे कुन्तलपुरका राज्य प्राप्त हुआ है । महाबाहु चन्द्रहासके समान योद्धा इस समय दूसरा कोई नहीं है । ये जो तुम्हारे साथ राजालोग हैं, ये तो उसकी सोलहवीं कलाकी भी बराबरी नहीं कर सकते' ॥ ११–१३ ॥

नारदस्य वचः श्रुत्वा बीभत्सुर्विस्मयान्वितः ।
प्रत्युवाच क आहोस्विच्चन्द्रहासो महाबलः ॥ १४ ॥
शंस नारद मे सर्वं चरित्रं विस्मयान्वितम् ।
चन्द्रहासस्य नृपतेर्विस्तरेण यथातथम् ॥ १५ ॥
यो भक्तो हरिमेधस्य वासुदेवस्य भूपतिः ।

नारदजीकी बात सुनकर अर्जुनको महान् विस्मय हुआ । फिर वे कहने लगे—'नारदजी ! वह महाबली राजा चन्द्रहास कौन है, जो अश्वमेध यज्ञद्वारा पूजित होनेवाले भगवान् वासुदेवका भक्त है ? उस राजा चन्द्रहासका सारा चरित्र महान् विस्मयजनक है; अतः आप मुझसे उसका यथोचितरूपसे विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये' ॥ १४-१५½ ॥

नारद उवाच

समयः कीदृशः पार्थ हयौ मार्गच्युतौ तव ॥ १६ ॥
चिन्तातुरो धर्मराजो विद्यते हस्तिनापुरे ।

नारदजीने कहा—पृथानन्दन ! आजकल कैसा समय है—इसपर भी तो ध्यान दो । तुम्हारे दोनों घोड़े मार्गसे भ्रष्ट हो चुके हैं । उधर हस्तिनापुरमें धर्मराज युधिष्ठिर चिन्तातुर हुए बैठे हैं (ऐसी विषम परिस्थितिमें तुम्हें कथा सुननेके लिये अवकाश कहाँ है ?) ॥ १६½ ॥

अर्जुन उवाच

उभयोः सेनयोर्मध्ये कथं कृष्णमुखादहम् ॥ १७ ॥
अश्रौषं स्वस्थचित्तः सन् कुरुक्षेत्रे कथानकम् ।

अर्जुनने कहा—मुने ! जिस समय कुरुक्षेत्रके मैदानमें दोनों सेनाएँ आमने-सामने खड़ी थीं, उस समय उन सेनाओंके बीच मैंने स्वस्थचित्त होकर भगवान् श्रीकृष्णके श्रीमुखसे श्रीमद्भगवद्गीताकी कथा कैसे सुनी थी ? (जैसे तब अवकाश मिल गया था, वैसे अब भी है) ॥ १७½ ॥

सत्कथाश्रवणे येषां पुंसां न समयो भवेत् ॥ १८ ॥
वञ्चितास्ते हि कालेन नरा ह्यल्पायुषो भुवि ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन कथयस्व कथामिमाम् ॥ १९ ॥

नारदजी ! इस भूतलपर मनुष्योंकी आयु थोड़ी ही होती है, अतः जिन पुरुषोंको सत्कथा-श्रवणके लिये समय नहीं मिलता, उन्हें अवश्य ही कालने ठग लिया है । इसलिये सब प्रकारसे प्रयत्नपूर्वक आप इस कथाका वर्णन कीजिये ॥

अश्वो मे यातु विप्रेन्द्र यज्ञो भवतु वा न वा ।
श्रेयोऽर्थिभिर्नरैः सम्यक् श्रोतव्या वैष्णवी कथा ॥ २० ॥
एतद् यज्ञशतं चाश्वमेधादीनां प्रकीर्तितम् ।

विप्रेन्द्र ! मेरा घोड़ा भले ही चला जाय । अश्वमेध यज्ञ पूर्ण हो या न हो; परंतु कल्याणकामी मनुष्योंको चाहिये कि वे विष्णु-सम्बन्धी कथाका सम्यक्‌रूपसे श्रवण करें; क्योंकि यह कथा-श्रवण सैकड़ों अश्वमेधादि यज्ञोंके समान बतलाया गया है ॥

नारद उवाच

केरलाधिपतिः पूर्वमासीद् राजा सुधार्मिकः ॥ २१ ॥
राज्यं चकार मेधावी विधिवत् पालयन् महीम् ।
तस्य पुत्रोऽभवन्मूलनक्षत्रे बहुभाग्यवान् ॥ २२ ॥

तब नारदजी कहने लगे—पार्थ ! प्राचीन कालकी बात है। केरल देशमें एक परम बुद्धिमान् राजा राज्य करता था। उसका नाम था सुधार्मिक, वह शास्त्रविधिके अनुसार पृथ्वीकी रक्षा करता हुआ राज्य-कार्य सँभालता था। उसके एक महान् भाग्यशाली पुत्र हुआ, जिसका जन्म मूल नक्षत्रमें हुआ था॥ २१-२२॥

तस्मात् कतिपयैरेव दिवसैर्वेष्टितं पुरम्।
वैरिभिस्तस्य नृपतेरन्ते श्लेष्मादिभिर्यथा॥ २३॥

उस पुत्रके जन्म लेनेके कुछ ही दिनों बाद शत्रुओंने राजाके नगरको उसी प्रकार घेर लिया, जैसे प्राणान्तके समय कफ आदि धातु प्राणीके गलेको जकड़ लेते हैं॥ २३॥

युद्धं कृत्वा स नृपतिर्जहौ प्राणान् सुधार्मिकः।
परलोकगतं श्रुत्वा पतिं पत्न्यन्वगान्मुदा॥ २४॥

तब राजा सुधार्मिक उन शत्रुओंके साथ युद्ध करते-करते अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठा। पतिको परलोकवासी हुआ सुनकर रानी भी आनन्दपूर्वक पतिके साथ सती हो गयी॥

पितृभ्यां रहितं बालं धात्री कौन्तलकं पुरम्।
निन्ये पुरः श्रियस्तस्या भविष्यत् पतिमूर्जितम्॥२५॥

इस प्रकार जब वह बालक माता-पितासे हीन—अनाथ हो गया, तब धाय उसे लेकर कुन्तलपुरमें चली आयी। वह बालक उस नगरकी राज्यश्रीका भावी बलवान् पति था॥२५॥

वर्षाणि त्रीणि च तथा पालितो यत्नतः शिशुः।
धात्र्या कण्डनपेषादिकर्मभिः कौन्तले पुरे॥ २६॥

कुन्तलपुरमें धायने कूटना-पीसना आदि मिहनत-मजदूरी करके तीन वर्षोंतक यत्नपूर्वक उस शिशुका पालन-पोषण किया॥

ध्यायन्ती स्वनृपं धात्री संतप्यति दिने दिने।
ततः पञ्चत्वमगमद् धात्री बालं विना सती॥ २७॥

वह धाय प्रतिदिन अपने राजाका स्मरण करके संतप्त होती रहती थी। तदनन्तर वह सती-साध्वी धाय भी बालक चन्द्रहासको अकेला छोड़कर मृत्युको प्राप्त हो गयी॥ २७॥

सोऽर्भकस्त्र्यब्दिको गौरो लक्षणैरभिलक्षितः।
वामपादे लघुं षष्ठीमङ्गुलिं बिभ्रदेव हि॥ २८॥

उस समय बालककी अवस्था तीन वर्षकी थी। उसका शरीर शुभ लक्षणोंसे लक्षित गौर वर्णका था। उसके बायें पैरमें पाँच अँगुलियोंके अतिरिक्त एक छोटी-सी छठी अँगुली और अधिक थी॥ २८॥

तदा स्नेहेन बहुना काभिश्चित् प्रतिपालितः।
स्त्रीभिः पञ्चाब्दिको जातस्ततः स्वैरं चचार सः॥ २९॥

तब उस नगरकी कुछ स्त्रियाँ बड़े स्नेहसे उस आश्रय-हीन बालकका पालन-पोषण करने लगीं। इस प्रकार जब वह बालक पाँच वर्षका हुआ, तब वह स्वच्छन्दतापूर्वक नगरमें विचरण करने लगा॥ २९॥

वीथ्यां तथार्भकैः सार्धं रेमे भुङ्क्ते च तैः सह।
भोजयन्ति च तं काश्चित् स्नापयन्ति पुरस्त्रियः।
लेपयन्ति सुगन्धैश्च चन्दनैर्वरयोषितः॥ ३०॥

वह गलियोंमें अपने समवयस्क बालकोंके साथ खेलता था और उन्हींके साथ खा-पी लेता था। नगरवासिनी स्त्रियोंमेंसे कोई उसे खिला देती थीं, तो कोई-कोई उसे नहला देती थीं तथा कुछ श्रेष्ठ महिलाएँ उसके शरीरपर चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्योंका अनुलेप कर देती थीं॥ ३०॥

स्वपित्यपि च ताभिश्च बालस्तस्मिन् पुरेऽर्जुन।
कञ्चुकादि प्रयच्छन्ति वरोष्णीषं च काञ्चन॥ ३१॥

अर्जुन ! उस नगरमें कोई-कोई स्त्री उसे पहननेके लिये अँगरखे और कोई-कोई सुन्दर टोपी बनवा देती थीं। वह बालक उन्हीं स्त्रियोंके घरोंमें सो भी जाता था॥ ३१॥

उपानहौ पट्टसूत्ररज्जुर्बिभ्रच्छुचिः शुचिः।
धृष्टबुद्धेः प्रधानस्य मन्दिरं स्वेच्छयागमत्॥ ३२॥

एक दिन वह परम पवित्र बालक जूते और रेशमकी डोरी (करधनी) धारण किये हुए स्वेच्छानुसार घूमता-घामता प्रधान मन्त्री धृष्टबुद्धिके महलमें चला गया॥ ३२॥

विप्रैर्योगीश्वरैः शान्तैर्मुनिभिः समलंकृतम्।
तं शिशुं मुनयः सर्वे दृष्ट्वा विस्मयमागताः॥ ३३॥

वह महल योगीश्वर ब्राह्मणों तथा शान्तप्रकृति मुनियोंसे सुशोभित था। उस बालकको देखकर सभी मुनि महान् आश्चर्यमें पड़ गये॥ ३३॥

पश्चाच्च बुभुजुस्तेन शिशुना पाण्डुनन्दन।
धृष्टबुद्धिर्विनीतः संस्तान् मुनीन् पर्यपूजयत्॥ ३४॥
अर्घ्यादिक्रियया सम्यग् भोजयामास पायसम्।
विविधान्नमपूपांश्च मोदकान् वटकानपि॥ ३५॥

पाण्डुनन्दन ! तत्पश्चात् उन मुनियोंने उस बालकको अपने साथ बैठाकर भोजन कराया । उस समय धृष्टबुद्धिने विनीतभावसे अर्घ्य-पाद्य आदि क्रियाद्वारा उन मुनियोंकी भलीभाँति पूजा की और फिर सम्यक् प्रकारसे उन्हें खीर, नाना प्रकारके उत्तम अन्न, पूए, लड्डू और बड़े भोजन कराये ॥ ३४-३५ ॥

तृप्तास्ते मुनयो बालः स्वाचान्ता धौतपाणयः ।
धृष्टबुद्धिप्रदत्तेन चन्दनेन सुगन्धिना ॥ ३६ ॥
वस्त्रालंकरणैरन्यैस्तोषितास्तेऽब्रुवन् वचः ।
धृष्टबुद्धेऽभिनन्दामश्चिरं जीव सुखी भव ॥ ३७ ॥

भोजनसे तृप्त होकर बालकके साथ उन मुनियोंने आचमन किया और फिर वे अपने हाथ-मुख धोकर शुद्ध हुए। तत्पश्चात् धृष्टबुद्धिने उन्हें सुगन्धित चन्दन, वस्त्र, आभूषण तथा और भी तरह-तरहकी वस्तुएँ प्रदान कीं । उन वस्तुओंसे संतुष्ट होकर वे इस प्रकार कहने लगे—'धृष्टबुद्धे ! हमलोग तुम्हारा अभिनन्दन करते हैं । तुम्हारी आयु लंबी हो और तुम सुखी रहो ॥ ३६-३७ ॥

यस्त्वया वीक्षितो बालः पुरस्तात् पञ्चवार्षिकः।
कोऽयं कस्य सुतः प्राप्तः कस्माद् देशाच्च तद् वद॥ ३८ ॥

'तुमने अपने सामने खड़े हुए पाँच वर्षकी अवस्थावाले जिस बालकको देखा है, वह कौन है ? किसका पुत्र है ? किस देशसे यहाँ आया है ? यह सब बातें हमें बताओ' ॥ ३८ ॥

इति पृष्टो धृष्टबुद्धिः प्रत्युवाच स्मयन्निव ।
कति बाला भ्रमन्त्यस्मिन्ननाथाः पुटभेदने ।
राजकार्यगरीयस्त्वान्नाहं जानामि बालकम् ॥ ३९ ॥

मुनियोंके ऐसा पूछनेपर धृष्टबुद्धि मुसकराता हुआ-सा बोला—'मुनीश्वरो ! इस नगरमें ऐसे तो कितने ही अनाथ लड़के घूमते रहते हैं । मैं तो राज-कार्यमें ही व्यस्त रहता हूँ, इसलिये मैं इस बालकको नहीं जानता' ॥ ३९ ॥

मुनय ऊचु

मनोहरो लक्षणलक्षिताङ्गो
बालो ध्रुवं राज्यधरो विभाति ।
त्वं धृष्टबुद्धे प्रतिपालयैनं
त्वत्सम्पदां पालयितार्भकोऽग्रे ॥ ४० ॥

मुनियोंने कहा—धृष्टबुद्धे ! इस मनोहर बालकका शरीर सभी शुभ लक्षणोंसे संयुक्त होनेके कारण विशेषरूपसे प्रकाशित हो रहा है; अतः यह निश्चय ही किसी राज्यका अधिकारी होगा । तुम इस शिशुका पालन-पोषण करो । आगे चलकर यही बालक तुम्हारी सम्पत्तिका उत्तराधिकारी होगा ॥

ततो विसृष्टा मुनयः सरोषं
बुद्ध्यामुना चिन्तयता किमीदृक् ।
यथागतं ते मुनयोऽभिजग्मुः
स राजमन्त्री भृशमन्वतप्यत् ॥ ४१ ॥

तदनन्तर मुनियोंकी बात सुनकर धृष्टबुद्धि कुपित हो गया और उन मुनियोंको विदा कर दिया । वे मुनि जैसे आये थे, वैसे ही अपने-अपने स्थानको चले गये । तब वह राजमन्त्री 'मुनियोंने ऐसा क्यों कहा ?' यों अपनी बुद्धिसे सोचता हुआ अत्यन्त दुखी हो गया ॥ ४१ ॥

किमेभिरीड्यैरुदितं वचो मां
यत् सम्पदां तेऽधिपतिर्भविष्यति।
बालः कथं तद्विपरीतकर्ता
तेषां मुनीनामहमस्मि वाक्यम् ॥ ४२ ॥

(वह अपने मनमें विचारने लगा कि) इन पूजनीय मुनियोंने मुझसे ऐसी बात क्यों कही कि 'यह बालक तुम्हारी सम्पत्तिका अधिपति होगा ।' अच्छा, अब मैं कौन-सा उपाय करूँ कि जिससे उन मुनियोंका वाक्य व्यर्थ हो जाय ॥ ४२ ॥

विचार्य मन्त्री नृपतेः शिशोर्वधं
समाह्वयत् सोऽन्त्यजवृन्दमातुरः।
रे रे पशुघ्ना वनगह्वरं महद्
विनीय बालं प्रतिहन्तुमर्हथ ॥ ४३ ॥
चिह्नं शरीरस्य किमप्यवश्य-
मानाय्यमस्मत्परितुष्टिकारि ।
ततो भवद्भ्यो विविधा महिष्यो
मया प्रदेया घटदुग्धभाजः ॥ ४४ ॥

यों विचार करते-करते राजमन्त्रीने उस बालकका वध करा देनेका ही निश्चय किया । तब वह आतुरतापूर्वक चाण्डालोंके समुदायको बुलाकर उनसे कहने लगा—'अरे पशुकी हत्या करनेवाले कसाइयो ! तुम्हें इस बालकको किसी विशाल गहन वनमें ले जाकर मार डालना चाहिये और इसके शरीरका कोई चिह्न भी अवश्य लाना चाहिये, जिससे मुझे सब तरहसे विश्वास हो जाय (कि तुमलोगोंने उसे निश्चय ही मार डाला है) । ऐसा करनेपर मैं तुम्हें घड़ा भर दूध देनेवाली अनेक जातिकी बहुत-सी भैंसें पुरस्काररूपमें दूँगा' ॥ ४३-४४ ॥

नारद उवाच

तस्य वाक्यं समाकर्ण्य चाण्डाला हर्षिताः शिशुम्।
प्रतार्य जगृहुर्मत्ता निन्युस्तं वनगह्वरम् ॥ ४५ ॥
भयानकैः पक्षिसङ्घैः सेवितं कण्टकैर्युतम्।

नारदजी कहते हैं—अर्जुन ! राजमन्त्रीकी बात सुनकर वे चाण्डाल परम प्रसन्न हुए और किसी प्रकार बहकाकर उन्होंने उस बालकको पकड़ लिया; फिर मदमत्त हुए वे उसे ऐसे गहन वनमें ले गये, जिसमें झुंड-के-झुंड भयानक पक्षी निवास करते थे और जो काँटोंसे भरा था ॥ ४५½ ॥

सुधार्मिकस्य तनयं हसन्तमवधार्य तम् ॥ ४६ ॥
शस्त्राणि शितधाराणि कोशेभ्यो जगृहुस्तदा ।

तब उन्होंने राजा सुधार्मिकके उस हँसते हुए पुत्रको कसकर पकड़ लिया और म्यानोंसे तीखी धारवाली तलवारें निकालकर हाथमें ले लीं ॥ ४६½ ॥

भ्रमता तेन शिशुना या दृष्टा प्रतिमा हरेः ॥ ४७ ॥
शालग्रामशिला रम्या तां मुखे सोऽर्भकोऽक्षिपत्।

इससे पहले किसी समय नगरमें घूमते समय उस शिशुने भगवान् श्रीहरिकी शालग्राम-शिलामयी जो सुन्दर प्रतिमा देखी थी, उसे उठाकर उसने अपने मुखमें डाल लिया था ॥ ४७½ ॥

स क्रीडमानः शिशुभिर्यष्टिपाषाणगोलकैः ॥ ४८ ॥
उच्यमानो वयस्यैः किं सुखेन क्रीडसेऽमुना ।
वर्तुलेनोपलेनाद्य सोऽब्रवीत् ताञ्छिशून् प्रति ॥ ४९ ॥

एक दिन वह बालकोंके साथ डंडे और पत्थरकी गुल्ली-द्वारा खेल रहा था। उस समय उसके समवयस्क बालकोंने (एक शालग्रामशिला देकर उससे) कहा—'क्या तुम इस समय इस गोल पत्थरसे आनन्दपूर्वक खेलोगे ?' तब उसने उन शिशुओंसे कहा—॥ ४८-४९ ॥

सखायः सन्ति बहुधा चित्रपाषाणगोलकाः ।
ईदृशोऽनुपमः स्निग्धो नापरो वीक्षितो मया ॥ ५० ॥

'मित्रो ! यों तो चित्र-विचित्र पत्थरोंके बहुत-से गुल्ले हैं, परंतु ऐसा अनुपम एवं चिकना गुल्ला मैंने दूसरा नहीं देखा है ॥ ५० ॥

क्रीडाम्येभिरहं पूर्वं वर्तुलैरश्मगोलकैः ।
भग्नेषु तेषु चान्तेऽहं रमिष्याम्यधुना ध्रुवम् ॥ ५१ ॥
स बालस्तां शिलां रम्यां धारयन् वदनेऽरमत् ।

'अतः इस समय पहले तो मैं इन पत्थरके सुडौल गुल्लोंसे खेलूँगा और जब ये टूट जायँगे, तब अन्तमें मैं निश्चय ही इसीसे खेलूँगा ।' ऐसा कहकर वह बालक उस सुन्दर शालग्रामशिलाको मुखमें डालकर खेलने लगा ॥ ५१½ ॥

नारद उवाच

अनुग्रहान्मम पुरा ध्रुवो विष्णुमतोषयत् ॥ ५२ ॥
तथैव पार्थ देवेशं दध्यौ नारायणं स्वयम् ।

नारदजी कहते हैं—पार्थ ! जैसे पूर्वकालमें ध्रुवने मेरे अनुग्रहसे भगवान् विष्णुको संतुष्ट कर लिया था, उसी प्रकार वह बालक (उस शालग्राम-सेवनके प्रभावसे) स्वयं देवेश्वर भगवान् नारायणका ध्यान करने लगा—॥५२½॥

कृष्ण कृष्ण जगन्नाथ वासुदेव जनार्दन ॥ ५३ ॥
चाण्डालाः शितधारैश्च खड्गैर्घ्नन्ति जगत्पते ।
पाहि मां परमानन्द सर्वव्यापिन् नमोऽस्तु ते ॥ ५४ ॥
ध्रुवश्च रक्षितो येन प्रह्लादो गजराट् तथा ।

'भक्तोंके चित्तको आकर्षित करनेवाले श्रीकृष्ण ! जगदीश्वर वासुदेव ! जनार्दन ! जगत्पते ! ये चाण्डाल अपनी तीखी धारवाली तलवारोंसे मुझे मार डालना चाहते हैं । अतः परमानन्दस्वरूप भगवन् ! मेरी रक्षा कीजिये । जिन्होंने ध्रुव, प्रह्लाद तथा गजराजको संकटसे बचाया था, उन सर्वव्यापी नारायणको मेरा प्रणाम स्वीकार हो ॥ ५३-५४½ ॥

निर्गतीनां चदीनानां त्वं नाथः परिगीयसे ॥ ५५ ॥
न माता न पिता बन्धुरस्माकं न च गोत्रजाः ।
न त्राता यदि गोविन्द को मे त्राता भविष्यति॥ ५६ ॥
पाहि व्यसनतो माद्य सर्वव्यापिन् नमोऽस्तु ते।

'भगवन् ! जो अनाथ हैं, कुत्सित योनिमें पड़े हैं और दीन हैं, उनके लिये तो आपका ही 'दीनबन्धु और दीनानाथ' कहकर गुणगान किया जाता है । गोविन्द ! मैं भी तो अनाथ ही हूँ; क्योंकि न तो मेरी माता जीवित है न पिता ही, न मेरे कोई भाई-बन्धु है, न हमारे कुटुम्बमें ही कोई है । ऐसी दशामें यदि आप इस संकटसे मेरा उद्धार नहीं करेंगे तो दूसरा कौन मेरा रक्षक होगा । अतः सर्वव्यापी प्रभो ! आज इस विपत्तिसे मुझे उबारिये, आपको नमस्कार है' ॥ ५५-५६½ ॥

ततो देवः स भगवांश्चण्डालांस्तानमूमुहत् ॥ ५७ ॥

मोहितास्त्वन्त्यजा वाक्यमब्रुवन् कीदृशः शिशुः।
सुकुमारो विशालाक्षो दीर्घबाहुर्मनोहरः ॥ ५८ ॥
किं धृष्टबुद्धिना प्रोक्तं हन्तव्यो बालको वने ।

तदनन्तर देवेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने उन चाण्डालोंको मोहमें डाल दिया। तब मोहके वशीभूत हुए वे चाण्डाल यों कहने लगे—'भाइयो ! यह कैसा सुकुमार बालक है। इसके नेत्र विशाल हैं, भुजाएँ घुटनोंतक लटक रही हैं और इसका रूप मनको चुराये लेता है। न जाने धृष्टबुद्धिने क्यों ऐसी आज्ञा दे दी कि इस बालकको वनमें ले जाकर मार डालो ॥ ५७-५८½॥

यद्यान्त्यजा वयं पूर्वं नानापापेन कर्मणा ॥ ५९ ॥
बालकस्य वधाद् घोरा भविष्यामोऽत्र कीदृशाः।
अथवा केन दोषेण पितृभ्यां रहितोऽभवत् ॥ ६० ॥

'हमलोग तो यों ही पूर्वजन्मके नाना प्रकारके पापकर्मोंके परिणामस्वरूप चाण्डाल होकर उत्पन्न हुए हैं; फिर यदि हम इस बालकका वध कर डालें तो इस लोकमें हमारी कैसी दारुण दशा होगी। अथवा न जाने इस बालकने ही कौन-सा ऐसा पाप किया था, जिसके कारण यह माता-पितासे हीन हो गया' ॥ ५९-६० ॥

इत्युदीर्य शिशोर्देहं निरीक्षंस्तेऽन्त्यजास्तदा ।
वामपादे कृशां षष्ठीमङ्गुलिं ददृशुस्तदा ॥ ६१ ॥

उस समय ऐसा कहकर वे चाण्डाल उस बालकके शरीरकी ओर निहारने लगे। तबतक उनकी दृष्टि उसके बायें पैरके उस छोटी-सी छठी अँगुलीपर पड़ गयी ॥ ६१ ॥

छित्त्वा नयामश्चिह्नार्थं धृष्टबुद्धेर्दुरात्मनः।
इत्युक्त्वा चिच्छिदुः षष्ठीमङ्गुलिं तं विमुच्य च ॥ ६२ ॥

(तब वे कहने लगे कि काम तो बन गया) 'हमलोग दुरात्मा धृष्टबुद्धिको चिह्नरूपमें दिखानेके लिये इसी अँगुलीको काटकर ले चलेंगे।' ऐसा कहकर उन चाण्डालोंने उस छठी अँगुलीको काट लिया और उस बालकको मुक्त कर दिया ॥ ६२ ॥

त्वरितास्ते पुरं जग्मुश्चिह्नमादाय हर्षिताः।
धृष्टबुद्धिं नमस्कृत्य दर्शयामासुरङ्गुलिम् ॥ ६३ ॥

तत्पश्चात् वे चिह्नस्वरूप उस अँगुलीको लेकर हर्षपूर्वक बड़ी उतावलीके साथ नगरको लौट गये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने धृष्टबुद्धिको नमस्कार करके उसे वह अँगुली दिखा दी ॥

जहर्ष हृदि दुर्बुद्धिर्मयाकारि वचो वृथा।
मुनीनामथ चाण्डालान् महिषीभिरतोषयत् ॥ ६४ ॥

उसे देख कुत्सित बुद्धिवाला धृष्टबुद्धि यह सोचकर हर्षके मारे मनमें फूला नहीं समाता था कि मैंने मुनियोंका वचन व्यर्थ करा दिया। तत्पश्चात् उसने पुरस्काररूपमें भैंसें प्रदान करके चाण्डालोंको भी संतुष्ट कर दिया ॥ ६४ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि चन्द्रहासोपाख्याने पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें चन्द्रहासका उपाख्याननामक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

चन्द्रहासका जीवन-वृत्तान्त--वनमें पक्षियों और हरिणियोंद्वारा उस बालककी परिचर्या, कुलिन्दाधिपतिका वहाँ आना और उसे अपने घोड़ेपर बैठाकर नगरमें ले जाना, वहाँ राजाद्वारा बालककी शिक्षाका प्रबन्ध

नारद उवाच

शृणु पार्थ महाबाहो स बालो गहने वने।
स्मरणात् तव मित्रस्य चाण्डालैर्न हतस्तदा ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—महाबाहु पार्थ ! अब आगेकी कथा सुनो, जब उस बालकने गहन वनमें तुम्हारे सखा श्रीकृष्णका स्मरण किया, तब चाण्डालोंने उसका वध नहीं किया ॥ १ ॥

बालो वा तरुणो वृद्धः स्त्री पुमान् देवकीसुतम्।
स्मरत्यहर्निशं पार्थ कृच्छ्रान्मुक्तो न संशयः ॥ २ ॥

पृथानन्दन ! बालक, तरुण, वृद्ध, स्त्री अथवा पुरुष कोई भी हो, यदि वह रात-दिन देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण करता है तो वह संकटसे मुक्त हो जाता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है ॥ २ ॥

छिन्नषष्ठाङ्गुलिर्बालः क्षरदृरुधिरलेपवान् ।
भृशं रुरोद दुःखार्तो मोहयन् हरिणीगणम् ॥ ३ ॥

उस बालककी छठी अँगुली कट गयी थी, जिसकी पीड़ा-से वह व्याकुल था। उस घावसे निकलते हुए खूनसे वह सन गया था; अतः जोर-जोरसे रोने लगा। उसकी चिल्लाहटको सुनकर हरिणियाँ भी मोहित हो गयीं॥ ३॥

पाहि मां देवदेवेश कृष्ण नाथ कृपानिधे।
कृच्छ्रान्मोचय मां कान्त सर्वव्यापिन् नमोऽस्तु ते॥४॥

(वह रोते हुए कहने लगा—) 'देवदेवेश्वर श्रीकृष्ण ! मेरी रक्षा कीजिये। नाथ ! आप तो कृपाके समुद्र हैं, अतः मुझे इस संकटसे छुड़ाइये। सर्वव्यापी स्वामिन् ! आपको मेरा प्रणाम स्वीकार हो' ॥ ४ ॥

ता हरिण्यः समागम्य लिलिहुश्चरणं शनैः ।
अस्मत्पतिः स्वभर्तारं विहाय वनगह्वरम् ॥ ५ ॥
प्रविष्टः कामुकोऽस्माकं तस्मात् तेन विवर्जिताः ।
मुखरूपेण चन्द्रोऽयं स्रवदश्रुलवः स्फुटम् ॥ ६ ॥
वाहनेन विना स्वामी नभसः स्खलितो भुवि ।
प्रसादयन्त्य इव ता लिलिहुर्विजने वने ॥ ७ ॥

तदनन्तर वे हरिणियाँ उसके निकट जाकर धीरे-धीरे उसके घावयुक्त पैरको चाटने लगीं (और मन-ही-मन तर्क करने लगीं कि मालूम होता है) 'हमारे पति हरिण हमारे साथ रति-क्रीडा करनेकी इच्छासे अपने स्वामी (चन्द्रमा) को छोड़कर गहन वनमें प्रविष्ट हो गये हैं, इसी कारण आज ये उनसे रहित हो गये हैं । मुखकी कान्तिसे तो ये प्रत्यक्ष ही चन्द्रमा हैं। इनके नेत्रोंसे अश्रुकण झर रहा है। अपने वाहनसे हीन हो जानेके कारण ये स्वामी आकाशसे भूतलपर गिर पड़े हैं।' ऐसा विचारकर वे हरिणियाँ उस निर्जन वनमें उस बालकको प्रसन्न करती हुई-सी (उसके पैरको) चाटने लगीं ॥ ५–७ ॥

पक्षिणो दुःखिताः सर्वे छायां पक्षैः स्म कुर्वते।
उलूका वृन्दशश्चैव स्थिता दुःखान्न निर्गताः ॥ ८ ॥

सारे पक्षी उसके रुदनसे दुखी हो अपने पंखोंको फैलाकर उसपर छाया करने लगे। झुंड-के-झुंड उलूक अपने घोंसलोंमें बैठे ही रह गये; वे उसके दुःखसे दुखी होनेके कारण बाहर निकले ही नहीं ॥ ८ ॥

पारावतास्तु तद्दुःखात् कृत्वा तु कठिनं स्वरम्।
पूरयन्ति स्म पाषाणैरुदरं शोकविह्वलाः ॥ ९ ॥

उस बालकके दुःखसे शोक-विह्वल हुए कबूतर कठोर बोली बोलने लगे और पत्थर-कणोंसे अपने पेट भरने लगे ॥

एतस्मिन्नन्तरे प्राप्तो देशाध्यक्षः कुलिन्दकः ।
तद्देशरक्षणार्थाय आगतो वनगह्वरे ॥ १० ॥

इसी अवसरपर उस देशका अधिपति कुलिन्द, जो उस वनप्रदेशकी देखभाल करनेके लिये उस गहन वनमें आया हुआ था, वहाँ आ पहुँचा ॥ १० ॥

अथो ददर्श तं बालं स्रवदश्रुलवाननम् ।
जपन्तं हरिनामानि राम गोविन्द मापते ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् उसने जिसके मुखपर बहते हुए अश्रुबिन्दुओं-की धारियाँ पड़ी हुई थीं और जो 'राम, गोविन्द, रमापते' आदि भगवन्नामोंका जप कर रहा था, उस बालकको देखा ॥ ११ ॥

त्राहि मां करुणासिन्धो द्रौपदी च यथा पुरा ।
किमुपेक्षसि मां बालं वने मात्रा विवर्जितम् ॥ १२ ॥

(वह बालक रोते हुए कह रहा था—) 'करुणासिन्धो ! जैसे पहले आपने द्रौपदीको संकटसे उबारा था, उसी तरह आज मेरी भी रक्षा कीजिये। भगवन्! मैं मातृहीन बालक वनमें छोड़ दिया गया हूँ, ऐसी दशामें आप मेरी उपेक्षा क्यों कर रहे हैं ? ॥ १२ ॥

यद्युपेक्षसि मां नाथ तवैव हि तदा त्रपा।
त्वद्भक्ता नावसीदन्ति श्रुतमेतन्मया विभो ॥ १३ ॥

'नाथ ! यदि आप मुझपर ध्यान नहीं देंगे तो ऐसी दशा-में आपको ही लज्जित होना पड़ेगा; क्योंकि विभो ! मैंने ऐसा सुन रखा है कि आपके भक्तोंको कष्ट नहीं भोगना पड़ता' १३

श्रुत्वा वाक्यं स नृपतिः कुलिन्दो विस्मयान्वितः ।
अवतीर्य हयात् क्षिप्रं बालं च परिसान्त्वयन् ॥ १४ ॥
उवाच वाक्यं मेधावी सोऽश्रूणि परिमार्जयन् ।

बालककी बात सुनकर कुलिन्द आश्चर्यचकित हो गया। वह तुरंत ही अपने घोड़ेसे उतर पड़ा और फिर वह बुद्धिमान् नरेश उस बालकके आँसू पोंछकर उसे सान्त्वना देते हुए उससे पूछने लगा—॥ १४½॥

कः पिता तव का माता क्व च ते सुहृदां गणः ।
किमर्थं निर्जनेऽरण्ये स्थितः प्रब्रूहि मां शिशो ॥ १५ ॥

'बच्चा ! तेरे पिताका क्या नाम है ? तेरी माता कौन है ? तेरे सुहृद्-बन्धु आदि कुटुम्बीजन कहाँ हैं ? तू किस लिये इस निर्जन वनमें आ पड़ा है ? यह सब मुझे विस्तार-पूर्वक बता' ॥ १५ ॥

बालक उवाच

मम माता पिता कृष्णस्तेनाहं परिपालितः ।
तमपश्यन् महाराज रोदनं क्रियते मया ॥ १६ ॥

बालकने कहा—महाराज ! मेरे माता-पिता तो श्रीकृष्ण हैं । उन्होंने ही अबतक मेरा पालन-पोषण किया है; परंतु आज मुझे उनका दर्शन नहीं हो रहा है, इसी कारण मैं रो रहा हूँ ॥ १६ ॥

श्रुत्वैतच्चिन्तयामास स राजा जनमेजय ।
ममापुत्रस्य जायेत पुत्रोऽसौ वैष्णवः शिशुः ॥ १७ ॥

जनमेजय ! बालककी वह बात सुनकर राजा कुलिन्द विचार करने लगा कि मैं पुत्रहीन हूँ, अतः यदि यह विष्णु-भक्त शिशु मेरा पुत्र हो जाय तो अच्छा हो ॥ १७ ॥

इत्युक्त्वा तं समालिङ्ग्य वाजिपृष्ठे त्वरोपयत् ।
स्वयं चारुह्य नगरीं चन्दनाह्वां कुलिन्दकः ॥ १८ ॥
ययौ परिजनैः सार्धं हर्षोद्रेकात् स्फुरद्भुजः ।
गच्छन् पथ्यब्रवीत् सा मे पापर्द्धिः पुण्यदाभवत्॥

मन-ही-मन ऐसा कहकर राजा कुलिन्दने उस बालकको हृदयसे लगाकर उसे अपने घोड़ेकी पीठपर बैठा लिया और फिर स्वयं भी उसी घोड़ेपर चढ़कर वह अपने परिजनोंके साथ अपनी चन्दनावती नगरीकी ओर चल दिया । उस समय हर्षो-द्रेकके कारण राजा कुलिन्दकी भुजाएँ फड़क रही थीं । मार्गमें जाते हुए वह कहने लगा कि 'मेरी जो सम्पत्ति अभीतक (पुत्र न होनेके कारण) पापस्वरूप थी, वह आज पुण्यदायिनी हो गयी' ॥ १८-१९ ॥

इत्थं ब्रुवन् स नगरीं सम्प्राप्तश्चन्दनावतीम् ।
प्रविवेश कुलिन्दः स्वं भवनं पुत्रसंयुतः ॥ २० ॥

ऐसा कहते हुए राजा कुलिन्द अपनी चन्दनावती नगरीमें जा पहुँचा और उस पुत्रको साथ लिये हुए उसने अपने भवनमें प्रवेश किया ॥ २० ॥

मेधाविन्यै स्वराज्ञ्यै तं पुत्रं लब्धं न्यवेदयत् ।
सा हर्षिताब्रवीद् वाक्यमशोच्याहं तु केवलम्।
जाता मनोरथाः सर्वे पाविताहं न संशयः ॥ २१ ॥

वहाँ उसने उस प्राप्त हुए पुत्रको अपनी बुद्धिमती रानी-की गोदमें डाल दिया । तब रानी हर्षित होकर यों कहने लगी—'मुझे केवल पुत्रका ही अभाव था । (अब इस पुत्रके प्राप्त हो जानेसे) मैं शोचनीय नहीं रह गयी । मेरे सारे मनोरथ पूर्ण हो गये । इसने मुझे पवित्र कर दिया—इसमें संदेह नहीं है' ॥ २१ ॥

नारद उवाच

ततः कुलिन्दो मेधावी ह्युत्सवं समचीकरत् ।
ब्राह्मणान् स्नातकान् वेदविदुषः पर्यपूजयत् ॥ २२ ॥

नारदजी कहते हैं—अर्जुन ! तदनन्तर बुद्धिमान् राजा कुलिन्दने पुत्रोत्सव मनानेका आयोजन किया । उस उत्सवमें उसने वेदवेत्ता स्नातक ब्राह्मणोंकी पूजा की ॥ २२ ॥

गणका अब्रुवन् हृष्टा हे कुलिन्द तवार्भकः ।
अयं बहुश्रवाः श्रीमान् विष्णुभक्तो महायशाः ।
चन्द्रः शुद्धमुखाद् रम्याद्धसतोऽस्य पतिष्यति ॥ २३ ॥
चन्द्रहासेति नाम्नायं भविष्यति धरापतिः ।

उस अवसरपर ज्योतिषी हर्षमें भरकर कहने लगे—'हे कुलिन्द ! तुम्हारा यह शोभाशाली बालक बहुत-से शास्त्रोंका श्रवण करनेवाला, भगवान् विष्णुका भक्त और महान् यशस्वी होगा । जिस समय यह हँसेगा, उस समय इसके सुन्दर एवं शुद्ध मुखसे चन्द्रमा गिरते हुए-से प्रतीत होंगे; इसलिये यह 'चन्द्रहास' नामसे विख्यात पृथ्वीपति होगा' ॥ २३½ ॥

ततः प्रभृति भोः पार्थ चन्द्रहासो दिने दिने ॥ २४ ॥
कुलिन्दस्याशया सार्धं व्यवर्धत यथा शशी ।

पार्थ ! तबसे वह चन्द्रहास प्रतिदिन कुलिन्दकी आशाके साथ-साथ चन्द्रमाके समान बढ़ने लगा ॥ २४½॥

अकृष्टपच्या पृथिवी प्रजा आनन्दनिर्भराः ॥ २५ ॥
गावश्च घटदोहिन्यो देश आसन् मनोरमाः ।

जबसे चन्द्रहास उस देशमें आया, तबसे वहाँकी भूमि बिना जोते ही अन्न उत्पन्न करने लगी । प्रजाएँ आनन्दमें मग्न रहने लगीं और गौएँ (हृष्ट-पुष्ट होनेके कारण) मनको

आनन्द देनेवाली हो गयीं, वे घड़े-घड़े भर दूध देने लगीं ।। २५½ ।।

सप्ताब्दिकश्चन्द्रहासो नानाक्षरविनिर्णयम् ॥ २६ ॥
विचार्य सम्यङ् मनसा हरिरित्यक्षरद्वयम् ।
स जजाप सदा क्रुद्धस्तदा सोऽक्षरपाठकः ॥ २७ ॥

जब चन्द्रहासकी अवस्था सात वर्षकी हुई, तब उसने नाना प्रकारके अक्षर-समुदायोंपर भलीभाँति मनसे विचार किया । उस समय उसे 'हरि' ये दो ही अक्षर सर्वश्रेष्ठ प्रतीत हुए, अतः वह सदा उन्हींका जप करने लगा। तब उसके वर्णमाला-की शिक्षा देनेवाले गुरु क्रुद्ध होकर उससे पूछने लगे--२६-२७

अहर्निशं चन्द्रहास हरिरित्यक्षरद्वयम् ।
उदाहरसि नान्यांस्त्वं वर्णान् पठसि चार्भक ॥ २८ ॥

'चन्द्रहास ! तू रात-दिन 'हरि' इन दो अक्षरोंका ही उच्चारण करता रहता है । अरे बालक ! तू दूसरे वर्णोंको क्यों नहीं पढ़ता ?' ।। २८ ।।

चन्द्रहास उवाच

सिद्धो वर्णसमाम्नायः समग्रो ह्यच्युते मया ।
हरिरित्यक्षरालापान्नान्यन्निःसरते मुखात् ॥ २९ ॥
मदीयात् किं करोम्यद्य किंकरो भवतामहम् ।

चन्द्रहासने कहा—गुरुदेव ! मैं तो आपका किङ्कर हूँ । मैंने भगवान् श्रीकृष्णमें समस्त वर्णसमाम्नाय सिद्ध कर लिया है, अतएव 'हरि' इन दोनों अक्षरोंके उच्चारणके सिवा दूसरा अक्षर मेरे मुखसे निकलता ही नहीं । अब मैं क्या करूँ ।। २९½ ।।

ततो गुरुश्चुकोपास्मै वंशं भिन्नं करे दधत् ॥ ३० ॥
ककेति भण भोः शिष्य यथैवं परिवर्तते ।

तब वे गुरुदेव चन्द्रहासपर कुपित हो गये और अपना फटा हुआ बाँसका डंडा हाथमें लेकर कहने लगे—'भो शिष्य ! तू 'क, का' इत्यादिका उच्चारण कर, जिससे पाठ बदलता रहे (और तुझे पढ़ना आ जाय)' ।। ३०½ ।।

चन्द्रहासोऽब्रवीद् वाक्यं भीतवत् तं शनैः शनैः ॥ ३१ ॥
न भणामि कदाचिन्मे न जिह्वा परिवर्त्तते ।

तब चन्द्रहास भयभीत-सा होकर धीरे-धीरे गुरुदेवसे कहने लगा—'गुरुजी ! मैं कभी भी वैसा नहीं कह सकता; क्योंकि (अन्य वर्णके उच्चारणके लिये) मेरी जीभ लौटती ही नहीं ।। ३१½ ।।

हरिनाम जपिष्यामि नान्यैः शास्त्रैः प्रयोजनम् ॥ ३२ ॥
यत्र नाम हरेर्नास्ति तानि शास्त्राणि किं प्रभो ।
यस्मिञ्छास्त्रे पुराणे च हरिनाम न दृश्यते ॥ ३३ ॥
श्रोतव्यं नैव तच्छास्त्रं यदि ब्रह्मा स्वयं वदेत् ।

'मैं तो भगवान् श्रीहरिके नाम (अथवा 'हरि' इस नाम) का ही जप करूँगा । मुझे अन्य शास्त्रोंसे कोई प्रयोजन नहीं है । प्रभो ! जिन शास्त्रोंमें भगवान् श्रीहरिका नाम नहीं है, उन शास्त्रोंको लेकर क्या करना है ? क्योंकि जिस शास्त्र अथवा पुराणमें श्रीहरिके नामका गुणगान न दीख पड़े, उस शास्त्रको यदि स्वयं ब्रह्मा ही कहते हों तो भी उसे नहीं सुनना चाहिये' ।। ३२-३३½ ।।

नारद उवाच

शृणु पार्थ महाबाहो वैष्णवस्य शिशोः पुनः ॥ ३४ ॥
चरितं चन्द्रहासस्य सर्वपापप्रणाशनम् ।

नारदजी कहते हैं—महाबाहु पार्थ ! तुम विष्णु-भक्त बालक चन्द्रहासका आगेका चरित्र पुनः श्रवण करो । यह समस्त पातकोंका समूल नाश करनेवाला है ।। ३४½ ।।

एतस्मिन्नन्तरे क्रुद्धः कुलिन्दभवनं ययौ ॥ ३५ ॥
चन्द्रहासगुरुर्गत्वा कुलिन्दं वाक्यमब्रवीत् ।

इसी बीचमें चन्द्रहासके गुरुजी क्रुद्ध होकर राजा कुलिन्द-के भवनको चल दिये । वहाँ पहुँचकर उन्होंने कुलिन्दसे इस प्रकार कहा—।। ३५½ ।।

महद्भूतस्य संचारात् कस्यचित् तव पुत्रकः ।
अहर्निशं हरिरिति प्रजल्पन् परितिष्ठति ॥ ३६ ॥

'राजन् ! आपके पुत्रके शरीरमें किसी महान् भूतका संचार हो गया है, जिसके कारण वह रात-दिन 'हरि-हरि' यों प्रलाप करता रहता है ।। ३६ ।।

पाठितोऽपि मया शास्त्रं कुबुद्धिर्न पठत्यसौ ।
यद्याज्ञा मम राजेन्द्र तर्हि शास्मि न संशयः ॥ ३७ ॥

'राजेन्द्र ! मेरे पढ़ानेपर भी यह दुर्बुद्धि शास्त्रका अध्ययन नहीं करता, अतः यदि आप मुझे आज्ञा दें तो मैं इसे दण्ड देकर राहपर ले आ सकता हूँ; इसमें संशय नहीं है' ।। ३७ ।।

कुलिन्द उवाच

दैवाल्लब्धो मया पुत्रः स कथं ताड्यतेऽधुना।
ईदृशोऽपि पिशाचोऽयं मूर्खः पालयिता ध्रुवम् ॥ ३८ ॥

तब कुलिन्दने कहा—ब्रह्मन्! यह पुत्र मुझे बड़े भाग्यसे प्राप्त हुआ है। तब भला, अब उसे दण्ड कैसे दिया जा सकता है? अच्छा यदि वह इस प्रकार पिशाचग्रस्त होनेसे मूर्ख ही रह जायगा तो भी वह राज्यका पालन तो करेगा ही। यह तो निश्चित ही है ॥ ३८ ॥

नाश्रावि गुरुभिश्चित्रं शिशोराचरितं महत्।
एकादशीदिने प्राप्ते नान्नं भुङ्क्ते न चामृतम्॥ ३९ ॥

आप गुरुजनोंने तो इस बालकके महान् विचित्र चरित्रको अभी सुना ही नहीं है। यह बालक एकादशीका दिन आनेपर न तो अन्न खाता है और न जल ही पीता है ॥ ३९ ॥

अमुं विना कथं भुङ्क्षे तस्येयं स्थितिरीदृशी।
तस्माद् याहि गृहं विप्र चन्द्रहासो यथासुखम्॥ ४० ॥
वर्त्ततामष्टमेऽब्देऽस्य मेखलाबन्धनक्रियाम्।
करिष्यामि ततश्चायं वेदाभ्यासं करिष्यति ॥ ४१ ॥

तब इसके भोजन किये बिना मैं ही कैसे अन्न-जल ग्रहण कर सकता हूँ। मेरे ऐसे भक्त पुत्रकी आप ऐसी पिशाचग्रस्ता दशा बतला रहे हैं। इसलिये विप्रवर! अब आप अपने घर जाइये और चन्द्रहास भी सुखपूर्वक विचरण करे। आठवें वर्षमें मैं इसका मेखलाबन्धन—यज्ञोपवीत-संस्कार करूँगा। तत्पश्चात् यह वेदाभ्यास कर लेगा ॥ ४०-४१ ॥

यथागतं गतो विप्रो हर्षितोऽभूत् कुलिन्दकः।
गाढमालिङ्ग्य तं पुत्रं चन्द्रहासं मनोरमम् ॥ ४२ ॥

तब वे ब्राह्मणदेव जैसे आये थे, वैसे ही लौट गये और राजा कुलिन्द अपने उस मनको आनन्द देनेवाले पुत्र चन्द्रहासका गाढ़ आलिङ्गन करके परम प्रसन्न हुआ (और कहने लगा—) ॥ ४२ ॥

अनेनैकेन पुत्रेण पाविता विषया मम।
विष्णुभक्तेन दक्षेण किमन्यैर्बहुभिः सुतैः ॥ ४३ ॥

'मेरे इस विष्णुभक्त तथा कार्यदक्ष एकमात्र पुत्रने मेरे राज्य एवं उसमें निवास करनेवाली सारी प्रजाओंको पवित्र कर दिया। अन्य बहुत-से कुपुत्रोंके होनेसे क्या लाभ? ॥ ४३ ॥

सर्पिण्या बहवः पुत्रा जायन्ते हरिभक्षकाः।
अयं हरिपदध्यानगतचित्तः सुतो मम ॥ ४४ ॥

'सर्पिणीके तो बहुत-से पुत्र होते हैं, किंतु वे मेढ़कोंका भक्षण करनेवाले ही होते हैं; परंतु मेरे इस पुत्रका चित्त सदा भगवान् श्रीहरिके चरणोंके ध्यानमें ही लीन रहता है ॥ ४४ ॥

किं मयाऽऽचरितं पूर्वं तपः पञ्चाग्निसाधनम्।
येनाहं प्राप्तवान् पुत्रं वैष्णवं जनवल्लभम् ॥ ४५ ॥

'पूर्व जन्ममें मैंने पञ्चाग्नि-तापन आदि न जाने कौन-सा ऐसा तप किया था, जिसके फलस्वरूप मुझे यह विष्णुभक्त तथा प्रजाजन-वल्लभ पुत्र प्राप्त हुआ है' ॥ ४५ ॥

नारद उवाच

अथाष्टमेऽब्दे सम्प्राप्ते मेखलाबन्धनक्रियाम्।
चन्द्रहासस्य सकलां व्यदधात् स कुलिन्दकः ॥ ४६ ॥

नारदजी कहते हैं—अर्जुन! तदनन्तर आठवाँ वर्ष आनेपर राजा कुलिन्दने चन्द्रहासकी मौञ्जीबन्धनसम्बन्धी समस्त क्रियाएँ विधिवत् सम्पन्न कीं ॥ ४६ ॥

ततो वेदाहुतीर्हुत्वा साङ्गं वेदमपाठयत्।
अपीपठच्चन्द्रहासो वेदं ध्यायन् हरिं हृदि ॥ ४७ ॥

तत्पश्चात् वेदमन्त्रोंद्वारा अग्निमें आहुतियाँ डालकर कुलिन्दने अपने पुत्रके लिये षडङ्गोंसहित वेद पढ़नेका प्रबन्ध कर दिया और चन्द्रहास अपने हृदयमें भगवान् श्रीहरिका ध्यान करते हुए वेदाध्ययन करने लगा ॥ ४७ ॥

पठित्वा निखिलं वेदं सोऽब्रवीत् प्रीयतां हरिः।
वेदेषु स्मृतिशास्त्रेषु गीयते मे प्रभुर्हरिः ॥ ४८ ॥

सम्पूर्ण वेदकी शिक्षा समाप्त करके वह कहने लगा कि 'सारे वेदों तथा स्मृति-शास्त्रोंमें जिन मेरे स्वामी श्रीहरिका गुणगान किया गया है, वे भगवान् मुझपर प्रसन्न हों ॥ ४८ ॥

तन्न पश्याम्यहं वस्तु यत्र नायं हरिः स्थितः।
इत्थं वेदार्थमालोक्य धनुर्वेदमथाभ्यसत् ॥ ४९ ॥

'मुझे तो ऐसी कोई वस्तु दीखती ही नहीं कि जिसमें श्रीहरि व्याप्त न हों।' इस प्रकार वेदार्थको हृदयङ्गम करके चन्द्रहास धनुर्वेदका अभ्यास करने लगा ॥ ४९ ॥

हृदङ्गणे हरिं लक्ष्यं स्थाप्य बाणानमूमुचत्।
सद्भक्तिचापे वर्त्तन्तं दृढं तं सात्त्विकं गुणम् ॥ ५० ॥

परामृश्य च संयोज्य चित्तमेकं शरः कृतः।
येनापि ऋजुना बालः प्राप लक्ष्यं जनार्दनम् ॥ ५१ ॥

उसने अपने हृदयरूपी मैदानमें श्रीहरिको लक्ष्य बनाकर स्थापित कर लिया, फिर विचार करके सद्भक्तिरूपी धनुषपर सुदृढ़ सत्त्वगुणरूपी प्रत्यञ्चा चढ़ा दी और एकमात्र अपने चित्तको ही बाण बनाया। तत्पश्चात् धनुषपर उस बाणका संधान करके अपने लक्ष्य (श्रीकृष्ण) पर बाण छोड़ने लगा। ऐसी सरल प्रक्रियाद्वारा भी उस बालकने अपने लक्ष्यभूत श्रीकृष्णको प्राप्त कर लिया ॥ ५०-५१ ॥

अमुना तु प्रकारेण ये तु लक्ष्यं न जानते।
तांश्चनानर्दयत्येव तल्लक्ष्यं पाण्डुनन्दन ॥ ५२ ॥

पाण्डुनन्दन! जो लोग इस ढंगसे उस लक्ष्य (श्रीकृष्ण) को नहीं जानते हैं, उन्हें वह लक्ष्य ही पीडित करता है। अर्थात् श्रीकृष्णकी प्राप्ति न होनेसे वे दुःखार्णवमें गोते लगाते रहते हैं ॥ ५२ ॥

नारद उवाच

शरीरतूणात् स्वयमेव पञ्च
बाणा ययुस्तस्य कुलिन्दसूनोः।
एकीभवंस्तस्य ह्यनुप्रविष्टा
जनार्दनं लक्ष्यमतीव चित्रम् ॥ ५३ ॥

नारदजी कहते हैं—अर्जुन! उस कुलिन्दकुमार चन्द्रहासके शरीररूपी तरकससे स्वयं ही पाँच (शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शरूप) बाण निकले और वे बाण एकीभूत होकर उसके लक्ष्यभूत श्रीकृष्णमें जा घुसे। यह अत्यन्त अद्भुत बात हुई ॥ ५३ ॥

एवं धनुर्वेदमथाभ्यसत् स
ततो गुरूंस्तानपि पर्यपूजयत्।
वाजीगणं शत्रुगणं समग्र-
मपीपलद् देशमजीजयत् तम् ॥ ५४ ॥

इस प्रकार चन्द्रहासने धनुर्वेदका अभ्यास किया। तत्पश्चात् उसने अपने उन गुरुओंका भी सम्यक्‌रूपसे आदर-सत्कार किया। फिर अश्वसमूहों तथा समस्त शत्रुगणोंको वशमें करके उनकी रक्षा की और उस देशपर अधिकार जमा लिया ॥

हंसाधिरूढश्च सकुण्डलोऽसौ
खलीनमाक्रम्य चकार नम्रम्।
गुरुभ्य आह स्म न मे भ्रमोऽस्ती-
त्यूचे हरिं प्राप्य कथं विमूढः ॥ ५५ ॥

एक बार कुण्डलमण्डित चन्द्रहास घोड़ेपर सवार हुआ और उसकी लगाम खींचकर उसे अपने वशमें किया; फिर अपने गुरुजनोंसे कहने लगा कि मुझे (अपने धनुर्वेदकी शिक्षाके विषयमें) कोई भ्रम नहीं है; क्योंकि श्रीकृष्णको पाकर मनुष्य विमूढ़ कैसे रह सकता है ? ॥ ५५ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि चन्द्रहासोपाख्याने चन्द्रहासविद्याभ्यासवर्णनं नामैकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें चन्द्रहासोपाख्यानके प्रसंगमें चन्द्रहासका विद्याध्ययननामक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥५१॥

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

चन्द्रहासोपाख्यान—अर्जुनके पूछनेपर नारदजीका चन्द्रहासकी तरुण-अवस्थाके चरित्रोंका वर्णन करना चन्द्रहासका दिग्विजय करके बहुत-सी सम्पत्तिके साथ चन्दनावतीपुरीको लौटना, कुलिन्दद्वारा उसका स्वागत तथा अपने पदपर अभिषेक, चन्द्रहासका अपनी प्रजाको एकादशीका माहात्म्य बतलाते हुए व्रत-पालनका आदेश देना, कुलिन्दके कहनेसे कररूपमें बहुत-सी धनराशि कुन्तलपुर भेजना, राजमन्त्री धृष्टबुद्धिका चन्दनावतीपुरीमें आना और चन्द्रहासको देखकर सशङ्कित होना

अर्जुन उवाच

धन्यास्ते विषया येषु तादृशो वैष्णवः स्थितः।
अभ्यासमीदृशं चक्रे धनुर्वेदस्य नारद ॥ १ ॥

अर्जुनने कहा—नारदजी! जिसने इस प्रकार धनुर्वेदका अभ्यास किया है, वैसा विष्णु-भक्त चन्द्रहास जिनमें निवास करता है, वे देश धन्य हैं ॥ १ ॥

हरिभक्तं कदा वीक्षे इतीहा मे सदाभवत्।
आवयोः शब्दसांनिध्यं वर्तते नेतरेष्विदम्॥ २ ॥

देवर्षे ! मेरे मनमें सदा ऐसी इच्छा बनी रहती थी कि मुझे कब हरिभक्तका दर्शन प्राप्त होगा ? हमारे और आपमें जो यह शब्दसान्निध्य—वार्तालाप हो रहा है, यह दूसरोंके लिये दुर्लभ है ॥ २ ॥

औत्तानचरणो व्योम्नि पाताले स बलिः स्थितः।
विभीषणस्तु लङ्कायां स स्वर्गे नः पितामहः॥ ३ ॥
इतस्ततस्त्वं भ्रमसि कुतस्त्वद्दर्शनं मम।
अधुना भाग्यसंयोगाज्जातो नौ संगमो मुने॥ ४ ॥

राजा उत्तानपादके पुत्र (भक्तप्रवर) ध्रुव आकाशमें विराजमान हैं, हरिभक्त राजा बलि पातालमें बैठे हैं, राम-भक्त विभीषण लङ्कामें निवास करते हैं और श्रीकृष्ण-भक्त हमारे पितामह भीष्म स्वर्ग सिधार गये। शेष रहे आप, सो आप भी इधर-उधर भ्रमण ही करते रहते हैं, अतः आपका दर्शन मुझे कहाँसे हो सकता है ? मुने ! इस समय बहुत बड़े भाग्यके संयोगसे हमारा-आपका समागम हो पाया है !! ३-४ ॥

अधुना चन्द्रहासं तं दृष्ट्वा प्राप्स्ये महत्फलम्।
कथयस्व कथामेतां सुधारूपां मनोरमाम्॥ ५॥

अब मैं हरिभक्त चन्द्रहासका दर्शन करके महान् फलका भागी होऊँगा। आप मनको आनन्द प्रदान करनेवाली उस अमृतस्वरूपिणी कथाका वर्णन कीजिये ॥ ५ ॥

तारुण्यं विषमं प्राप्य किमाचरितवान् मुने।
चन्द्रहासो नृपवरस्तन्ममाचक्ष्व तत्त्वतः॥ ६ ॥

मुने ! विषम तरुण-अवस्था प्राप्त होनेपर नृपश्रेष्ठ चन्द्रहासने कैसा आचरण किया, वह सब मुझे यथार्थरूपसे बताइये ॥ ६ ॥

नारद उवाच

अथोनषोडशाब्दोऽसौ जनकं वाक्यमब्रवीत्।
विभो ददासि चेन्मह्यमाज्ञां दिग्विजयाय तान्॥ ७ ॥
याम्यहं सकलान् भूपाञ्जित्वा तव बलादरीन्।
धनं समानयिष्यामि नरराजैः समं नृप॥ ८ ॥

नारदजीने कहा—अर्जुन ! जब चन्द्रहास पंद्रह वर्षका हो गया, तब उसने अपने पिता कुलिन्दसे इस प्रकार कहा—'सामर्थ्यशाली राजन् ! यदि आप मुझे आज्ञा दे दें तो मैं दिग्विजयके लिये जाना चाहता हूँ। मैं आपके उन समस्त वैरी राजाओंको बलपूर्वक जीतकर उन नरेशोंके साथ-साथ बहुत-सा धन ले आऊँगा' ॥ ७-८ ॥

कुलिन्दः प्रत्युवाचेदं कथमेकः प्रयास्यसि।
राजानः सन्ति दुर्जेयाः सैन्येन महता वृताः॥ ९ ॥

तब कुलिन्दने यों उत्तर दिया—'बेटा ! इधर ऐसे राजा हैं, जो दुर्जेय हैं। उनके पास बड़ी-बड़ी सेनाएँ हैं, ऐसी दशामें तुम अकेले उनपर कैसे आक्रमण कर सकोगे ? ॥ ९ ॥

अथवा वासुदेवं तं संस्मृत्य गच्छसे हठात्।
अस्मत्स्वामी धृष्टबुद्धिर्मन्त्री कौन्तलपस्य सः॥ १० ॥
शतग्रामक एवायं देशस्तेनार्पितो मम।
इतस्तस्यैव नृपतेर्वैरिणो बलवत्तराः॥ ११ ॥
पीडयन्ति स्म मद्देशं त्वामाकर्ण्योपरेमिरे।

'अथवा यदि तुम वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णका स्मरण करके हठपूर्वक जाना ही चाहते हो तो मेरी बातपर ध्यान दो—कुन्तलनरेशके मन्त्री जो धृष्टबुद्धि हैं, वे हमारे स्वामी हैं। उन्होंने ही मुझे यह सौ गाँवोंका प्रदेश दे रखा है। इधर ही उन नरेशके अधिक बलवान् शत्रु भी हैं, जो सदा मेरे देशको पीड़ा पहुँचाते रहते थे। इस समय तुम्हारा पराक्रम सुनकर वे उपरत हो गये हैं; अतः तुम्हारे लिये उन्हींको परास्त करना आवश्यक है' ॥ १०-११½ ॥

इत्थं पितुर्वचः श्रुत्वा चन्द्रहासो ययौ मुदा॥ १२ ॥
रथिभिः पञ्चभिः सार्धं देशांस्तान् वीरपूरितान्।
तान् सर्वानजयद् धन्वी चन्द्रहासो नृपान् हसन्॥ १३

पिताकी ऐसी बात सुनकर चन्द्रहास पाँच रथियोंको साथ लेकर आनन्दपूर्वक उन वीरोंसे भरे हुए देशोंकी ओर चल दिया। वहाँ पहुँचकर धनुर्धर वीर चन्द्रहासने हँसते-हँसते उन सभी राजाओंको जीत लिया ॥ १२-१३ ॥

वृथा राज्यमदेनामी मत्ता नाराधयन् हरिम्।
परिभूतान् मया मत्तान् रथिनः सादिनो नरान्॥१४॥
न रक्षिता मया ग्रस्तानृते देवं जनार्दनम्।

(और कहने लगा-—) 'व्यर्थ ही ये राजालोग राज्यमदसे उन्मत्त हो गये थे, जिसके कारण उन्होंने श्रीहरिकी आराधनासे मुख मोड़ लिया। अब मैंने इन राज्याभिमानियोंको रथी,

घुड़सवार और पैदल सैनिकोंसहित परास्त कर दिया है। मेरे द्वारा आक्रान्त हुए इन नरेशोंकी भगवान् श्रीकृष्णके अतिरिक्त दूसरा कोई रक्षा करनेवाला नहीं है ॥ १४½ ॥

चन्द्रहासभयाद् भीता वैरिणस्ते विलिलियिरे ।
वासुदेवकथालापात् कलिदोषा यथोत्कटाः ॥ १५ ॥

फिर तो जैसे भगवान् श्रीकृष्णका गुणगान करनेसे कलियुगके उत्कट दोष विलीन हो जाते हैं, उसी तरह वे शत्रुता रखनेवाले राजा चन्द्रहासके भयसे भीत होकर इधर-उधर छिप गये ॥ १५ ॥

नारद उवाच

विजित्य नृपतीन् सर्वान् गजानश्वान् सहस्रशः ।
सुवर्णरत्नमुक्ताभिः पूरिताञ्छकटान् बहून् ॥ १६ ॥
चन्द्रहासः समादाय स्वां पुरीं चन्दनावतीम् ।
आविवेश कुलिन्देन सम्मुखेनाभिनन्दितः ॥ १७ ॥
दीपदीपितपात्रेण मात्रा नीराजितस्तथा ।

नारदजी कहते हैं—अर्जुन ! इस प्रकार चन्द्रहासने समस्त वैरी राजाओंको जीतकर हजारों हाथी, घोड़े तथा सुवर्ण, रत्न और मोतियोंसे भरे हुए बहुत-से छकड़े साथ लिये हुए अपनी चन्दनावतीपुरीमें प्रवेश किया । उस समय राजा कुलिन्दने सम्मुख आकर उसका अभिनन्दन किया तथा माताने प्रज्वलित दीपकोंद्वारा प्रकाशित थाल हाथमें लेकर उसकी आरती उतारी ॥ १६-१७½ ॥

पितरौ च नमस्कृत्य शिबिकायामरोपयत् ॥ १८ ॥
नरवाहैर्गृहीतायां पदातिः प्रययौ पुरः ।
वहन्नुपानहौ पित्रोश्चन्द्रहासोऽब्रवीद् वचः ॥ १९ ॥

तब चन्द्रहासने माता-पिताके चरणोंमें प्रणाम किया और उन्हें एक पालकीमें बैठाया, जिसे मनुष्य अपने कंधेपर उठाकर ले चल रहे थे तथा स्वयं वह अपने माता-पिताकी जूतियोंको हाथमें लेकर पैदल ही उनके आगे-आगे चला। उस समय चन्द्रहास इस प्रकार कहने लगा—॥ १८-१९ ॥

पित्रोर्भक्त्या विना किंचिल्लभ्यते भुवि नो नरैः ।
लक्ष्मीनारायणावेतौ पितरौ चिन्तयाम्यहम् ॥ २० ॥

'इस भूतलपर माता-पिताकी भक्तिके बिना मनुष्योंको कोई भी उत्तम वस्तु प्राप्त नहीं हो सकती; मैं अपने इन माता-पिताको लक्ष्मी-नारायणका साक्षात् स्वरूप समझता हूँ' ॥२०॥

नारद उवाच

चतुष्पथे समायान्तं ददृशुः पौरयोषितः ।
चन्द्रहासं विशालाक्षं हसन्तं मदनं श्रिया ॥ २१ ॥

नारदजी कहते हैं—अर्जुन ! जो अपनी शोभासे कामदेवका भी उपहास कर रहा था, उस विशाल नेत्रोंवाले चन्द्रहासको चौराहेपर आते हुए नगरनिवासिनी स्त्रियोंने देखा २१

चन्द्रहास इह चागतः सखीं
प्राह काचिदबला च सस्मितम् ।
चन्द्रहास इह यावदञ्चितो
हन्ति पातकचमूं विलोकनैः ॥ २२ ॥

तब कोई स्त्री अपनी सखीसे मुसकराती हुई कहने लगी—'सखी ! चन्द्रहास इधर ही आ रहे हैं । जबतक इनका यहाँ स्वागत-सत्कार होगा, तबतक ये पापकी विशाल सेनाका दृष्टियोंद्वारा ही संहार कर डालेंगे' ॥ २२ ॥

तामथालपत काचिदद्दोस्वि-
लज्जसे न गदती किमवद्यम् ।
यः सदा हसति कामुकवृन्दं
मन्त्रिजो विकलमेतदवश्यम् ॥ २३ ॥

फिर कोई दूसरी उससे बोली—'अरी सखी ! तुझे ऐसी निन्दित बात कहनेमें लज्जा क्यों नहीं आती है ? ये मन्त्रिकुमार तो सदा विकल और अपने वशमें न रहनेवाले (अजितेन्द्रिय) कामियोंके समूहपर हँस रहे हैं' ॥ २३ ॥

एवमादि वचः शृण्वंश्चन्द्रहासः स्वमालयम् ।
प्रविवेश सुहृन्मित्रपितृव्यादीन् प्रतोषयन् ॥ २४ ॥

इस प्रकारकी अनेक बातें सुनते हुए चन्द्रहासने अपने सुहृद्, मित्र तथा पितृव्य आदि कुटुम्बियोंको विशेषरूपसे संतुष्ट करके अपने भवनमें प्रवेश किया ॥ २४ ॥

अथाभ्यषिञ्चत् तं पुत्रं चन्द्रहासं स्वके पदे ।
वेदविद्भिर्द्विजैः सार्धं कुलिन्दः पञ्चमीदिने ॥ २५ ॥

तदनन्तर पञ्चमीके दिन कुलिन्दने वेदज्ञ ब्राह्मणोंको साथ लेकर अपने पुत्र चन्द्रहासको अपने राज्यपदपर अभिषिक्त कर दिया ॥ २५ ॥

महोत्सवं तदा चक्रुः पौराः सर्वे यथाक्रमम् ।
प्रक्षाल्य तोयैः प्रथमं स्वानि स्वान्यङ्गणानि च ॥ २६ ॥
प्रमार्जुश्चन्दनैः शुभ्रैश्चान्द्रैः संचूर्णकैर्व्यधुः ।
चतुष्काणि पताकाश्च वितेनुर्हर्षिता जनाः ॥ २७ ॥
उच्चैर्जगुर्नाम हरेः पदैर्ललितवर्त्तनैः ।

उस अवसरपर समस्त पुरवासीजन हर्षित होकर अपनी-अपनी स्थितिके अनुसार महोत्सव मनाने लगे । पहले उन्होंने अपने-अपने घरोंके आँगनोंको जलसे धोकर शुद्ध किया, फिर उन आँगनोंमें कपूरचूर्णमिश्रित सफेद चन्दनसे चौक पूर दिया । अपने-अपने घरोंपर पताकाएँ फहरायीं । फिर वे सुन्दर लययुक्त पदोंद्वारा उच्च स्वरसे भगवन्नामोंका कीर्तन करने लगे ॥ २६-२७½ ॥

एकीभूय ततः पौराश्चन्द्रहासमपूजयन् ॥ २८ ॥
चन्दनेन सुगन्धेन केसरेण सुचन्द्रिणा ।
तथा चम्पकमालाभिर्धूपैरगुरुजैः शुभैः ॥ २९ ॥
नीराजयन्ति स्म तदा तं च कर्पूरदीपकैः ।
एवं सम्पूजितः पौरैश्चन्द्रहासोऽब्रवीच्च तान् ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् सभी नागरिकोंने एकत्र होकर सुगन्धित चन्दन, केसर, उत्तम कपूर, चम्पाके पुष्पोंसे गुँथी हुई मालाओं और माङ्गलिक अगुरुके धूपोंसे चन्द्रहासका पूजन किया तथा कपूरके दीपकोंसे उसकी आरती उतारी । इस प्रकार पुरवासियोंद्वारा भलीभाँति सत्कृत होनेपर चन्द्रहासने उनसे कहा—॥२८–३०॥

अतः प्रभृति भोः पौराः प्राप्ते याम्ये दिने शुभे ।
उत्सवं चैकभक्तं यो न करोति स मे रिपुः ॥ ३१ ॥
तथा विष्णोस्तिथौ चान्नं यो भुङ्क्ते स महानरिः ।

'ऐ मेरे पुरवासियो ! आजसे लेकर दशमीका शुभ दिन आनेपर जो नागरिक एकसमय भोजन करके उत्सव नहीं करेगा, वह मेरे लिये शत्रुके समान होगा तथा विष्णुकी तिथि—एकादशीके दिन जो अन्न खायगा, उसे मैं अपना महान् शत्रु समझूँगा ॥ ३१½ ॥

पातकानां गणः सर्वः प्राप्ते चैकादशीदिने ॥ ३२ ॥
भीतो विलीयते चान्ने न भोक्तव्यं ततो नरैः ।

एकादशीका दिन आनेपर पातकोंका समस्त समुदाय भयभीत होकर अन्नमें छिप जाता है, इसलिये उस दिन मनुष्योंको अन्न नहीं खाना चाहिये ॥ ३२½ ॥

घटिकाः षट् तु पञ्चाशद् दृश्यते दशमी यदा ॥ ३३ ॥
रिक्ता तिथिः सा मन्तव्या दशमी त्वपरेऽहनि ।
अविद्धा चैव कर्तव्या वैष्णवैर्विष्णुवल्लभा ॥३४॥

जिस दिन दशमी छप्पन घड़ीतक रहनेवाली हो, उस दिन उसे रिक्ता (नवमी) मानना चाहिये और दशमीका उत्सव अगले दिन करना चाहिये; जो एकादशी दशमीसे विद्ध नहीं रहती, वह भगवान् विष्णुको प्यारी होती है, उसी एकादशीका व्रत वैष्णवोंको करना चाहिये ॥ ३३-३४ ॥

पापाद् भीता धर्मरता विष्णोर्भक्तिसमन्विताः ।
उभयोः पक्षयो रात्रौ ये जाग्रति हरेर्दिने ॥ ३५ ॥
तेषामहं सदा दासो भविष्यामि न संशयः ।

'जो विष्णुकी भक्तिसे संयुक्त तथा धर्मपरायण मनुष्य पापसे भयभीत होकर दोनों पक्षकी एकादशीके दिन रातमें जागरण करते हैं, उनका मैं सदा दास बना रहूँगा, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है ॥ ३५½ ॥

आयुष्यं चपलं तादृग् जलबुद्बुदसंनिभम् ॥ ३६ ॥
चिन्तयध्वं जना मूढा माधवं वर्ष्म सुस्थिरम् ।

'माया-मोहमें पड़े हुए मनुष्यो ! यह आयु जलके बुलबुलेके समान क्षणभङ्गुर है, अतः तुमलोग इस शरीरमें सुस्थिर रहनेवाले माधवका ध्यान करो ॥ ३६½ ॥

अस्थिस्तम्भं स्नायुबद्धं मांसक्षतजलेपनम् ॥ ३७ ॥
शतच्छिद्रं ग्रहैर्व्याप्तं लोभक्रोधादिवैरिभिः ।
एतादृशं शरीरं च व्रतमेकादशीसमम् ॥ ३८ ॥
यद् विचार्य क्षमं बुद्ध्या तद् यूयं कर्तुमर्हथ ।

'यह शरीर एक घर है, इसमें हड्डियोंके खंभे लगे हैं, यह नस-नाडियोंसे बँधा है, इसपर मांस और रक्तका लेप लगा हुआ है । इसमें सैकड़ों छिद्र हैं तथा यह ग्रहोंसे आक्रान्त तथा लोभ-क्रोध आदि शत्रुओंसे व्याप्त है । ऐसा तो यह तुच्छ शरीर है और उधर एकादशीके समान उत्तम व्रत नहीं है, अतः अब तुमलोगोंको अपनी बुद्धिसे विचार करनेपर जो युक्त प्रतीत हो, उसका पालन करना चाहिये ॥ ३७-३८½ ॥

एकादशीसमं किंचित् पावनं भुवनत्रये ॥ ३९ ॥
न श्रुतं न मया दृष्टं तस्याः स्वामी हरिर्यतः ।
इत्यादिष्टास्तेन पौरा हृष्टास्तदनुमेनिरे ॥ ४० ॥

'एकादशीके समान पवित्र करनेवाला दूसरा कोई व्रत इस त्रिलोकीमें न तो मैंने सुना है और न देखा ही है; क्योंकि इसके स्वामी साक्षात् श्रीहरि हैं।' चन्द्रहासके इस प्रकार आदेश देनेपर समस्त पुरवासियोंने हर्षपूर्वक उस आज्ञाका अनुमोदन किया ॥ ३९-४० ॥

सुवर्णरत्नवासोभिः पौरानन्यांश्च दुर्बलान् ।
चन्द्रहासो द्विजान् सर्वान् समलंकृतवान् मुदा ॥४१॥

तदनन्तर चन्द्रहासने समस्त ब्राह्मणों तथा अन्य दुर्बल—गरीब पुरवासियोंको आनन्दपूर्वक सुवर्ण, रत्न और वस्त्र प्रदान करके उन्हें भलीभाँति अलंकृत किया ॥ ४१ ॥

मन्दिराणि विचित्राणि स द्विजार्थमकारयत् ।
वापीकूपतडागादि पूर्तं विष्ण्वालयानि च ॥ ४२ ॥
शिवालयानि सत्राणि बहून् योगेश्वराश्रमान् ।
प्रपाश्चकार विविधाः फलपत्रपयोऽधिकाः ॥ ४३ ॥

फिर उसने ब्राह्मणोंके लिये बहुत-से सुन्दर-सुन्दर घर बनवा दिये। अपने राज्यमें बावड़ी, कुँआ, पोखरा आदि पूर्तकर्म, विष्णु-मन्दिर, शिवालय, अन्नसत्र, योगेश्वरोंके निवास-योग्य बहुत-से आश्रम तथा जिनमें फल, पत्र और जलकी बहुतायत थी, ऐसे अनेक प्रकारके पौंसले निर्माण कराये ॥

नारद उवाच

देशाद् देशात् तदा लोका आजग्मुश्चन्दनावतीम् ।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रप्रभृतयः प्रजाः ॥४४॥
पुत्रपौत्रैः परिवृता धनधान्यसमन्विताः ।
संस्थापयामास मुदा प्रजाः सर्वाः कुलिन्दजः ॥ ४५ ॥

नारदजी कहते हैं—पार्थ ! उस समय देश-देशान्तरोंसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि सभी वर्णके लोग अपने पुत्र-पौत्रोंके साथ धन-धान्यसे संयुक्त होकर चन्दनावती-पुरीमें बसनेकी इच्छासे आने लगे और कुलिन्दकुमार चन्द्रहासने उन सभी समागत प्रजाओंको हर्षपूर्वक अपने नगरमें (यथायोग्य स्थान देकर) बसा दिया ॥ ४४-४५ ॥

प्रजाभिरष्टादशभिर्हृष्टाभिश्च समन्वितः ।
चन्द्रहासो हरौ भक्तिं व्यवर्धयत तां पुरीम् ॥ ४६ ॥

इस प्रकार हर्षपूर्वक निवास करती हुई अठारह प्रकार-की प्रजाओंके साथ चन्द्रहास अपनी उस नगरीमें भगवान् श्रीहरिकी भक्तिकी उत्तरोत्तर वृद्धि करने लगा ॥ ४६ ॥

यस्यां समागतश्चार्थी कुबेरं हसति श्रिया ।
दत्तया चन्द्रहासेन प्रीयतामित्यधोक्षजः ॥ ४७ ॥

उस नगरीमें आये हुए याचकको चन्द्रहास 'भगवान् अधोक्षज प्रसन्न हों' इस बुद्धिसे इतना धन देता था, जिससे वह अर्थी कुबेरका उपहास करने लगता था ॥ ४७ ॥

तां चन्दनाह्वां परिपालयन्तं
तं चन्द्रहासं जनकः कुलिन्दः ।
उवाच हे पुत्र मया प्रदेयं
निष्कायुतं कुन्तलपाय राज्ञे ॥ ४८ ॥
तदर्धमस्मत्प्रभवे प्रदेयं
तदर्धमप्यर्धममुष्य पत्न्यै ।
तत्प्रेषयाशु त्वमुदारसत्त्व
प्रीतिं यथा मन्त्रिनृपौ लभेताम् ॥ ४९ ॥

इस प्रकार जब चन्द्रहास उस चन्दनावतीपुरीका पालन कर रहा था, उसी समय उसके पिता कुलिन्दने उससे कहा—'हे पुत्र ! मुझे कुन्तलपुरका पालन करनेवाले राजाको

---

१. मन्त्री, पुरोहित, युवराज, सेनापति, द्वारपाल, अन्तर्वेशिक (अन्तःपुराध्यक्ष), कारागाराध्यक्ष, कोषाध्यक्ष, यथायोग्य कार्योंमें धनका व्यय करनेवाला सचिव, प्रदेष्टा (पहरेदारोंको काम बतानेवाला), नगराध्यक्ष, कार्यनिर्माणकर्ता (योजना बनानेवाला अथवा शिल्पियोंका परिचालक), धर्माध्यक्ष, सभाध्यक्ष, दण्डपाल, दुर्गपाल, राष्ट्रसीमापाल तथा वनरक्षक—इन अठारह तीर्थोंको ही यहाँ अठारह प्रकारकी प्रजा कहा गया है। नीतिशास्त्रमें इन अठारह तीर्थोंके नाम इस प्रकार उपलब्ध होते हैं—

मन्त्री पुरोहितश्चैव युवराजश्चमूपतिः ।
पञ्चमो द्वारपालश्च षष्ठोऽन्तर्वेशिकस्तथा ॥ १ ॥
कारागाराधिकारी च द्रव्यसंचयकृत् तथा ।
कृत्याकृत्येषु चार्थानां नवमो विनियोजकः ॥ २ ॥
प्रदेष्टा नगराध्यक्षः कार्यनिर्माणकृत् तथा ।
धर्माध्यक्षः सभाध्यक्षो दण्डपालस्त्रिपञ्चमः ॥ ३ ॥
षोडशो दुर्गपालश्च तथा राष्ट्रान्तपालकः ।
अटवीपालकान्तानि तीर्थान्यष्टादशैव तु ॥ ४ ॥

(सभापर्व अध्याय ५, श्लोक ३८ की नीलकण्ठी टीकासे)

(वार्षिक करके रूपमें) दस सहस्र स्वर्ण-मुद्राएँ देनी पड़ती हैं। इनमेंसे आधी अर्थात् पाँच हजार मुद्राएँ तो मेरे स्वामीको मिलती हैं और आधेका आधा-आधा भाग अर्थात् ढाई-ढाई हजार मुद्राएँ मन्त्री एवं महारानीको दी जाती हैं। इसलिये उदार पराक्रमी बेटा ! तुम शीघ्र ही उन मोहरोंको भेज दो, जिससे मन्त्री और राजा मुझपर प्रसन्न रहें॥ ४८-४९ ॥

इतः षड् योजनं वत्स विद्यते कौन्तलं पुरम्।
यस्मिन् कौन्तलपो राजा गालवेन पुरोधसा ॥ ५० ॥
राज्यं च कुरुते सम्यङ् मन्त्रिणा धृष्टबुद्धिना।

'वत्स ! जिस नगरमें अपने पुरोहित गालव ऋषि तथा मन्त्री धृष्टबुद्धिके साथ निवास करते हुए कुन्तलनरेश सम्यक् प्रकारसे राज्यका शासन करते हैं, वह कुन्तलपुर यहाँसे छः योजन अर्थात् चौबीस कोसकी दूरीपर विद्यमान है' ॥५०½॥

चन्द्रहासः समाकर्ण्य पितुर्वाक्यं प्रहर्षितः ॥ ५१ ॥
यन्मन्त्रिणे च राज्ञे च पत्न्यै यत् प्रेर्यते वसु।
तत् सर्वं गालवायाशु दीयते तात सत्वरम्।
इत्युक्त्वा वस्तुजातं तद् प्रेषयामास लीलया ॥ ५२ ॥

पिताकी बात सुनकर चन्द्रहास परम प्रसन्न होकर कहने लगा—'तात ! जो धन राजा, राजपत्नी तथा राजमन्त्रीके लिये भेजा जाता है, वह सारा-का-सारा धन मैं गालवजीके पास शीघ्र ही भेजे देता हूँ।' यों कहकर उसने खेल-ही-खेलमें तुरंत उन समस्त वस्तुओंके भेजनेका प्रबन्ध कर दिया ॥ ५१-५२॥

वामीभिरुष्ट्रैः शकटैर्दुकूलानि च काञ्चनम्।
शुद्धं च मलयं चारु कर्पूरं मृगसम्भवम् ॥ ५३ ॥
गजाः सम्प्रेषितास्तेन वाजिनश्च मनोरमाः।
तस्मै कुन्तलपायासौ मन्त्रिणे धृष्टबुद्धये ॥ ५४ ॥
चारु विज्ञप्तिसहितं पत्रं प्रेषितवान् पुनः।

उस समय चन्द्रहासने रेशमी वस्त्र, सुवर्ण,मलयाचलका शुद्ध चन्दन, सुन्दर कपूर और कस्तूरी आदि सामग्रियाँ घोड़ियों, ऊँटों और छकड़ोंपर लदवाकर भिजवायीं, फिर उसने बहुत-से हाथी तथा मनको आनन्द देनेवाले सुन्दर घोड़े भिजवाये। साथ ही उसने उन कुन्तल-नरेश तथा मन्त्री धृष्टबुद्धिके नाम सुन्दर विज्ञप्तिसहित एक पत्र भी लिखा ॥

पत्रं च तद्धनं सर्वं समादाय प्रतस्थिरे ५५ ॥
सेवकाश्चन्द्रहासस्य प्रापुः कौन्तलकं पुरम्
एकादशीदिने प्राप्ते सायाह्ने तस्य सेवकाः ॥ ५६ ॥

चन्द्रहासके सेवक उस सम्पूर्ण धन तथा पत्रको लेकर चल पड़े और एकादशीके दिन सायंकाल होनेपर उसके वे सेवक कुन्तलपुरके समीप जा पहुँचे ॥ ५५-५६ ॥

पुरोपकण्ठे सुजलां नदीं दृष्ट्वाब्रुवन् वचः।
स्नात्वा सम्पूज्य च हरिं प्रविशाम ततः पुरम् ॥ ५७ ॥
हरेः सम्पूजनात् सद्यो भद्रं नो हि भविष्यति।

वहाँ नगरके समीप स्वच्छ जलसे भरी हुई नदीको देखकर वे कहने लगे कि 'हमलोग अब यहीं स्नान करके भगवान् श्रीहरिका पूजन कर लें, तत्पश्चात् नगरमें प्रवेश करेंगे; क्योंकि भगवान् श्रीहरिका भलीभाँति पूजन कर लेनेसे हमलोगोंका तत्काल ही कल्याण हो जायगा' ॥ ५७½ ॥

नारद उवाच

सस्नुः प्रणेमुर्जेपुस्ते दध्युर्नारायणं तदा ॥ ५८ ॥
दधुः शिरसि तां देवीं तुलसीं हरिवल्लभाम्।

नारदजी कहते हैं—अर्जुन ! तब यों निश्चय करके उन सेवकोंने उसी नदीमें स्नान किया और फिर वे भगवान् नारायणको नमस्कार, उनके नामोंका जप तथा उनके स्वरूपका ध्यान करने लगे। तत्पश्चात् उन्होंने उन तुलसीदेवीको, जो भगवान् श्रीहरिकी वल्लभा हैं, अपने-अपने मस्तकपर धारण किया ॥ ५८½ ॥

एवं नियममास्थाय विविशुस्तस्य मन्दिरम् ॥ ५९ ॥
सेवकाश्चन्द्रहासस्य धृष्टबुद्धेस्तु मन्त्रिणः।

इस प्रकार अपना नियम पूर्ण करके चन्द्रहासके सेवकोंने राजमन्त्री धृष्टबुद्धिके भवनमें प्रवेश किया ॥ ५९½ ॥

तानार्द्रवाससो दृष्ट्वा धृष्टबुद्धिरदूषयत् ॥ ६० ॥
मनसीत्थं कुलिन्दोऽसौ मृतस्तेनेदृशा अमी।

उन सेवकोंको गीला वस्त्र पहने हुए देखकर धृष्टबुद्धिके मनमें ऐसा दूषित विचार उत्पन्न हुआ कि मानो वह कुलिन्द मर गया है, इसी कारण ये सब इस रूपमें आये हैं ॥६०½॥

अथाब्रवीत् सम्प्रणतान् स कुलिन्दस्य सेवकान्।६१।
कदा पञ्चत्वमापन्नः कुलिन्दो देशरक्षकः।
दिनानि कति जातानि तच्चानिष्टमभून्महत् ॥ ६२ ॥

तदनन्तर धृष्टबुद्धिने कुलिन्दके सेवकोंके प्रणाम करनेपर उनसे पूछा—'सेवको ! हमारा देशरक्षक कुलिन्द कब मृत्युको प्राप्त हुआ है ? उसे मरे हुए कितने दिन बीते होंगे ? उसका मरण तो महान् अनिष्टकी बात हुई' ॥ ६१-६२ ॥

सेवका ऊचुः

अनिष्टं वैरिणां भूयान्मा कुलिन्दस्य जातुचित् ।
कुलिन्दस्य सुपुत्रेण चन्द्रहासेन धीमता ॥ ६३ ॥
कृत्वा दिग्विजयं युष्मत्प्रदेयं प्रेषितं वसु ।
अमी हिरण्यकलशैः कर्पूरागुरुचन्दनैः ॥ ६४ ॥
दुकूलैः शकटाः पूर्णा आयान्ति तव मन्दिरे ।
एषां सप्तगुणाः प्राप्ताः कुन्तलाधिपतेर्गृहम् ॥ ६५ ॥

तब सेवकोंने कहा—स्वामिन् ! अनिष्ट तो शत्रुओंका हो, हमारे राजा कुलिन्दका कभी भी अनभल मत हो । कुलिन्दके सुपुत्र बुद्धिमान् चन्द्रहासने दिग्विजय करके आपको दिया जानेवाला धन आपके पास भेजा है । देखिये न, सुवर्णके कलशोंसे तथा कपूर, अगुरु, चन्दन और रेशमी वस्त्रोंसे भरे हुए ये छकड़े आपके भवनमें आ रहे हैं तथा इनके सात गुने छकड़े कुन्तल-नरेशके महलमें पहुँच चुके हैं ॥

विस्मितो धृष्टबुद्धिस्तद् धनं जग्राह हर्षितः ।
उवाच सूदान् देवान्नमेभ्यो देयं सुशोभनम् ॥ ६६ ॥

यह सुनकर धृष्टबुद्धि आश्चर्यचकित हो गया । उसने हर्षपूर्वक उस धनको स्वीकार किया और अपने रसोइयोंको बुलाकर आदेश दिया कि इन लोगोंको भोजनके लिये अत्यन्त सुन्दर देवान्न प्रदान किया जाय ॥ ६६ ॥

आहूता बहुशस्तैस्ते सूदैर्जग्मुर्न सेवकाः ।
सूदास्तदा धृष्टबुद्धेः कथयामासुरादरात् ॥ ६७ ॥
आकार्योवाच तान् मन्त्री कुपितो रक्तलोचनः ।

परंतु जब उन रसोइयोंके बारंबार बुलानेपर भी चन्द्रहासके वे सेवक भोजन करनेके लिये नहीं गये, तब रसोइयोंने धृष्टबुद्धिके पास जाकर उससे आदरपूर्वक सारा हाल कह सुनाया । यह सुनकर मन्त्री धृष्टबुद्धिके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये । वह उन सेवकोंको बुलवाकर कहने लगा ॥ ६७½ ॥

धृष्टबुद्धिरुवाच

दत्तान्नमपि ये गर्वादभीक्ष्णं नोपभुञ्जते ॥ ६८ ॥
कुलिन्दं निगडे बद्ध्वा कुर्वेऽहं धनवर्जितम् ।

धृष्टबुद्धि बोला—दुष्टो ! तुमलोग गर्वके कारण बारंबार बुलाकर दिये जानेपर भी मेरा अन्न नहीं खा रहे हो, अतः मैं उस कुलिन्दको बेड़ियोंसे जकड़कर उसका सारा धन छीन लूँगा ॥ ६८½ ॥

तन्मन्त्रिणो वचः श्रुत्वा सेवका ह्यब्रुवन् प्रभो ॥ ६९ ॥
न गर्विता वयं स्वामिन् न भुञ्जामो हरेर्दिने ।

मन्त्रीकी वह बात सुनकर सेवकोंने कहा—'प्रभो ! हमलोग गर्वके कारण ऐसा नहीं कर रहे हैं । स्वामिन् ! आज एकादशीका दिन है, अतः हमलोग भोजन नहीं करेंगे ॥

कृतघ्नानां च सम्पर्को मार्गे नः समपद्यत ॥ ७० ॥
तस्माद् विशेषतो नान्नं स्वीकुर्मो मन्त्रिसत्तम ।

'मन्त्रिश्रेष्ठ ! मार्गमें हमारा कृतघ्न पुरुषोंसे सम्पर्क हो गया है, इसी कारण विशेषरूपसे आज हम अन्न नहीं स्वीकार कर रहे हैं' ॥ ७०½ ॥

अथ प्रेष्यवचः श्रुत्वा प्रीतः प्रातरभोजयत् ॥ ७१ ॥
तान् स्वयं बुभुजे पश्चादामन्त्र्य नृपतिं ययौ ।
आलोचितुं धृष्टबुद्धिः पुरीं तां चन्दनावतीम् ॥ ७२ ॥
संदिश्य मदनं पुत्रं व्यापारे नृपतेरथ ।

सेवकोंकी बात सुनकर धृष्टबुद्धि प्रसन्न हो गया । प्रातःकाल होनेपर उसने उन सबको पहले भोजन कराकर पीछे स्वयं भी भोजन किया । तत्पश्चात् राजाकी आज्ञा लेकर और राजकार्यकी देख-भालके लिये अपने पुत्र मदनको आदेश देकर वह उस चन्दनावतीपुरीकी देख-रेख करनेके लिये प्रस्थित हुआ ॥ ७१-७२½ ॥

सम्प्राप्ता विषया कन्या पितरं तमभाषत ॥ ७३ ॥
प्रत्यहं यो मया सिक्तः स रसालः फलोद्गमी ।
वर्तते तात तस्याद्य पालनं हृदि चिन्तय ।
वैयग्र्यं राजकार्यत्वात् तव नित्यं प्रजायते ॥ ७४ ॥

उसी समय उसकी विषया नामवाली कन्या आ पहुँची और अपने पितासे कहने लगी—'तात ! मैंने जिस आमके वृक्षको प्रतिदिन जलसे सींचकर पाला-पोसा है, उसमें अब फल लगनेका समय आ गया है; अतः अब आप अपने मनमें उसकी रक्षाका उपाय सोचिये । आप तो राजकार्यमें फँसे रहनेके कारण सदा व्यग्र ही बने रहते हैं' ॥ ७३-७४ ॥

इत्युक्त्वोपरता कन्या यौवनोद्भिन्नशैशवा ।
तामाश्वास्य ययौ मन्त्री हर्षितः सेवकैः सह ॥ ७५ ॥

जो शिशु-अवस्थाको पार कर चुकी थी तथा जिसके शरीर-में जवानीके लक्षण प्रकट हो रहे थे, वह कन्या यों कहकर चुप हो गयी। तब मन्त्री धृष्टबुद्धि उसे आश्वासन देकर हर्ष-पूर्वक सेवकोंके साथ (चन्दनावतीपुरीकी ओर) चल दिया ॥

द्वाभ्यां दिनाभ्यां नगरीं प्राप तां चन्दनावतीम् ।
महारण्यमिदं चादावद्याहोऽस्मिन् महापुरी॥ ७६ ॥

दो दिन यात्रा करनेके पश्चात् वह उस चन्दनावतीपुरीमें पहुँच गया। (उस नगरीको देखकर वह महान् आश्चर्यमें पड़कर सोचने लगा कि) अहो ! यहाँ तो पहले बहुत बड़ा वन था, परंतु इस समय तो यहाँ विशाल नगरी बस गयी है ॥ ७६ ॥

इति विस्मयमापन्नं मन्त्रिणं सम्मुखागतः ।
कुलिन्दः सह पुत्रेण नमस्कृत्यानयद् गृहम् ॥ ७७ ॥
पूजयामास विधिवत् सपुत्रः प्रणतः स्थितः ।

धृष्टबुद्धि इस प्रकार विस्मयमें डूबा हुआ था, तबतक कुलिन्द पुत्रके साथ उसके समक्ष आ पहुँचा और उसे नमस्कार करके अपने घर लिवा ले गया। वहाँ कुलिन्दने मन्त्रीका विधिवत् स्वागत-सत्कार किया और फिर वह पुत्रके साथ विनम्रभावसे उसके सामने खड़ा हो गया ॥ ७७½ ॥

तं मन्त्री परिपप्रच्छ पुत्रस्तेऽयं कदाभवत् ॥ ७८ ॥
नाख्यातवान् पुत्रजन्म भवान् नः पुरतः कथम् ।

तब मन्त्री धृष्टबुद्धिने कुलिन्दसे पूछा—'सरदार ! आपका यह पुत्र कब पैदा हुआ था ? आपने अपने इस पुत्रके जन्मका समाचार पहले ही हमें क्यों नहीं बतलाया था ?'॥

कुलिन्द उवाच

औरसो न हि पुत्रो मे स्वयं प्राप्तो मनोरमः ॥ ७९ ॥
एकदा मृगयाविष्टचित्तोऽहं वनगह्वरम् ।
प्रविष्टः कौन्तलपुराद् योजनद्वयसम्मितम् ॥ ८० ॥

तब कुलिन्दने कहा—स्वामिन् ! यह मेरा औरस पुत्र नहीं है। यह मनोहर बालक तो मुझे स्वयं ही प्राप्त हो गया है। (इसकी प्राप्तिका वर्णन करता हूँ, सुनिये—) एक समयकी बात है, मेरे मनमें शिकार खेलनेकी इच्छा जाग्रत् हो उठी। तब मैंने कुन्तलपुरसे आठ कोसकी दूरीपर स्थित एक गहन वनमें प्रवेश किया ॥ ७९-८० ॥

तत्राद्राक्षमहं बालं छिन्नषष्ठाङ्गुलिं सुतम् ।
पञ्चाब्दमधिकं पुत्रादौरसाद्धरिसेवकम् ॥ ८१ ॥
चन्द्रहासं विष्णुभक्तं जानीहि त्वं महामते ।

वहाँ मैंने इस पाँच वर्षकी अवस्थावाले बालकको देखा। इसके पैरकी छठी अँगुली कट गयी थी और यह भगवन्नामों-का उच्चारण कर रहा था। यह मुझे औरस पुत्रसे भी अधिक प्रिय लगा, अतः मैंने इसे अपना पुत्र बना लिया। महामते ! अब आप ऐसा समझें कि यह वही विष्णुभक्त बालक है; इसका नाम चन्द्रहास है ॥ ८१½ ॥

नारद उवाच

अन्तर्दृष्टिरभूत् पार्थ योगिवद् धृष्टधीः क्षणम्॥ ८२ ॥
न जानन् विष्णुभक्तं तं चन्द्रहासं विमूढधीः ।
अन्तर्विचूणुतेऽस्मायं किंचित् सत्यं मुनेर्वचः ॥ ८३ ॥

नारदजी कहते हैं—पार्थ ! यह सुनकर धृष्टबुद्धि क्षणभरतक योगियोंकी भाँति अन्तर्दृष्टि होकर मन-ही-मन सोचने लगा। उस मन्दबुद्धिको पता नहीं था कि यह चन्द्रहास भगवान् विष्णुका भक्त है (इसपर मेरी माया नहीं लग सकेगी); अतः वह बारंबार अपने हृदयमें यही विचारने लगा कि क्या मुनियोंका वचन सत्य होकर रहेगा ? ॥ ८२-८३ ॥

स एवायं मया बालो ज्ञायते षोडशाब्दिकः ।
चाण्डालैर्वञ्चितश्चाहमङ्गुलीदर्शकैर्ध्रुवम् ॥ ८४ ॥

मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि भले ही इसकी अवस्था सोलह वर्षकी हो गयी है; परंतु यह वही बालक है। निश्चय ही अँगुली दिखानेवाले उन चाण्डालोंने मुझे धोखा दिया था ॥

द्वौ पुत्रौ मम विद्येते युवानौ मदनामलौ ।
तौ किं करिष्यतश्चेत् स्यादयं मे सम्पदां प्रभुः॥ ८५ ॥

मेरे मदन और अमल नामवाले दो पुत्र मौजूद हैं, वे तरुण भी हो चुके हैं। अब यदि यह बालक मेरी सम्पत्तिका स्वामी हो जायगा तो मेरे वे दोनों पुत्र क्या करेंगे ? ॥ ८५ ॥

अतिक्रान्तं हि यत् कार्यं पश्चाच्चिन्तयते बुधः ।
तच्चास्य न भवेत् कार्यं चिन्तयानो विनश्यति ॥ ८६ ॥

अच्छा, अब जिस कार्यके करनेका अवसर बीत चुका, उसपर पीछे यदि बुद्धिमान् पुरुष विचार भी करता है तो उसका वह कार्य तो होनेसे रहा, वह स्वयं भी व्यर्थकी चिन्ता करनेसे विनष्ट हो जाता है ॥ ८६ ॥

यद् गतं गतमेवास्तु करिष्याम्यनृतं वचः।
मुनीनामथ निश्चित्य मनसाथाब्रवीद् गिरम् ॥ ८७ ॥
धारयन् हर्षचिह्नानि बाह्यान्तर्मलिनस्तथा।
यथा पाखण्डजा बुद्धिर्मनुष्यस्य महीपते ॥ ८८ ॥

अतः जो बीत गया, सो तो गया ही, अब आगे मैं मुनियोंका वचन असत्य करनेके लिये प्रयत्न करूँगा। महीपाल! तदनन्तर धृष्टबुद्धि अपने मनमें ऐसा निश्चय करके मनुष्यकी पाखण्डपूर्ण बुद्धिके समान भीतर मलिनता लिये हुए ऊपरसे हर्षके चिह्न प्रकट करके इस प्रकार कहने लगा ॥ ८७-८८ ॥

धृष्टबुद्धिरुवाच

सफलं तव जन्माद्य येन प्राप्तः सुतः शुभः।
ममापि हृदये हर्षः संजातस्तु महानहो ॥ ८९ ॥
तव पुत्रं समालोक्य स च वक्तुं न शक्यते ॥ ९० ॥

धृष्टबुद्धि बोला—कुलिन्द! आपको जो इस सुन्दर पुत्रकी प्राप्ति हो गयी है, इससे अब आपका जन्म सफल हो गया। अहो! आपके इस पुत्रको देखकर तो मेरे हृदयमें भी इतना महान् हर्ष उत्पन्न हो गया है, जिसका मैं मुखसे वर्णन नहीं कर सकता ॥ ८९-९० ॥

इत्थं वचः प्राह निगूढभावं
क्षुरं प्रलिप्तं मधुनेव तीक्ष्णम्।
यथा तृणैश्छादितगर्तमेव
यथान्नमाविष्टविषं विचित्रम् ॥ ९१ ॥

यद्यपि धृष्टबुद्धिने अपने मनोगत भावोंको छिपाकर उस समय ऐसा वचन कहा, तथापि उसका वह वचन वैसा ही था, जैसे मधुसे लिपटा हुआ तीखा छुरा, तृणोंसे आच्छादित गड्ढा और विषमिश्रित सुन्दर स्वादिष्ट अन्न ॥ ९१ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि चन्द्रहासोपाख्याने धृष्टबुद्धेश्चन्दनावतीं प्रति गमनं नाम द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें चन्द्रहासोपाख्यानके प्रसंगमें धृष्टबुद्धिका चन्दनावतीपुरीका गमननामक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥५२॥

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

चन्द्रहासोपाख्यान—धृष्टबुद्धिका चन्द्रहासको पत्र देकर कुन्तलपुरमें मदनके पास भेजना, चन्द्रहास-का कुन्तलपुरमें पहुँचकर क्रीडोद्यानके सरोवर-तटपर शयन करना, राजकन्या चम्पकमालिनी और मन्त्रिकन्या विषयाका सखियोंके साथ उद्यानमें आकर विहार करना, सरोवरमें जलक्रीडा करना, तत्पश्चात् विषयाका चन्द्रहासको देखना

नारद उवाच

पुनर्दध्यौ धृष्टबुद्धिः कुबुद्धीनां महार्णवः।
कथं मुनिवचोऽसत्यं कथं पञ्चत्वमेत्ययम् ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—अर्जुन! तब कुबुद्धियोंका अगाध सागर धृष्टबुद्धि पुनः सोचने लगा कि किस प्रकार मुनियोंका वचन असत्य हो जाय और किस युक्तिसे यह चन्द्रहास मृत्युको प्राप्त हो ॥ १ ॥

प्रत्यक्षं हन्मि चेदत्र कुलिन्दतनयं रिपुम्।
तदा मां विविधैः शस्त्रैर्हिंस्युरेते न संशयः ॥ २ ॥
ततो भवेतां नूनं मे दुःखितौ मदनामलौ।

यदि मैं अपने शत्रु इस कुलिन्दकुमारको यहाँ प्रत्यक्ष-रूपसे मार डालता हूँ तो उस दशामें कुलिन्दके ये सेवक निस्संदेह नाना प्रकारके शस्त्रोंसे मेरी हत्या कर डालेंगे। उस समय मेरे पुत्र मदन और अमलको निश्चय ही महान् दुःख प्राप्त होगा ॥ २½ ॥

स्वयमेव वधं कुर्यामुत राजभटैरहम् ॥ ३ ॥
नामुना तु प्रकारेण हन्तुं शक्यो मया रिपुः।

क्या मैं स्वयं ही इसका वध कर दूँ अथवा राजाके योधाओंद्वारा मरवा डालूँ। किंतु इस प्रकारसे भी मैं इस शत्रु-को नहीं मार सकता ॥ ३½ ॥

शम्भुना यद् धृतं कण्ठे तद् दानाद्धन्मि तं रिपुम्॥ ४ ॥
चन्द्रहासमिति ध्यात्वा हर्षितः सोऽब्रवीद् वचः।

(अच्छा, इसके मारनेका उपाय सूझ गया) शंकरजी अपने गलेमें जिसे धारण करते हैं, उसी (विष) को देकर मैं अपने शत्रु चन्द्रहासके प्राण लूँगा; ऐसा निश्चय करके वह परम प्रसन्न हुआ और यों बोला—॥ ४½ ॥

चन्द्रहास विचित्रं त्वं पत्रमानय लेखनीम् ॥ ५ ॥
मर्षी यथा लिखित्वैकं पत्रं त्वां प्रेषये पुरम् ।
तेनार्पितमुपादाय पत्रमेकान्तसंस्थितः ॥ ६ ॥

'चन्द्रहास ! तुम थोड़ा सुन्दर कोरा कागज, कलम और दावात तो ले आओ, जिससे मैं एक पत्र लिखकर तुम्हें कुन्तलपुर भेजूँगा।' तब चन्द्रहासद्वारा दिये गये कागज आदिको लेकर धृष्टबुद्धि एकान्तमें जा बैठा॥ ५-६ ॥

धृष्टधीरर्पयामास तस्मिन् वर्णान् यथाक्रमम् ।
स्वस्ति श्रीरस्तु मदन वक्तुं कारणमीदृशम् ॥ ७ ॥

तब धृष्टबुद्धि उस कागजपर क्रमानुसार अक्षरोंको लिखना आरम्भ किया—'मदन ! तुम्हारा कल्याण हो; तुम्हें लक्ष्मीकी प्राप्ति हो । बेटा ! पत्र लिखनेका कारण इस प्रकार है—॥

चन्द्रहासोऽहितोऽतीव ममायं सम्पदां पदम् ।
ज्ञातव्यो नात्र संदेहः पुत्र कार्यं त्वयेदृशम् ॥ ८ ॥

'यह चन्द्रहास मेरा अत्यन्त अहित (शत्रु) है । तुम्हें ऐसा समझना चाहिये कि यह मेरी सम्पत्तिका भावी उत्तराधिकारी है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है । इसलिये पुत्र ! तुम्हें मेरे लिखे अनुसार कार्य करना चाहिये ॥ ८ ॥

मा रूपं मा वयो द्राक्षीः कुलं शीलं पराक्रमम् ।
विद्यां वित्तं विलम्बं मामित्रस्यास्य कुरु ध्रुवम् ॥ ९ ॥

'तुम इस अमित्र (शत्रु) क रूप, अवस्था, कुल, शील, पराक्रम, विद्या और धनकी ओर मत देखना, निश्चय ही बिना विलम्ब किये ऐसा करना ॥ ९ ॥

विषमस्मै प्रदातव्यं त्वया मदन शत्रवे ।
पार्वतीशमिति ध्यात्वा कृतार्थाः स्याम यद् वयम्॥ १०॥

'मदन ! शत्रुको पार्वती-पति भगवान् शंकरका ध्यान करके विष दे देना, जिससे हमलोग कृतार्थ हो जायँगे' ॥ १० ॥

चन्द्रहासं विशालाक्षमूचिवान् मद्वचः शृणु ।
महत् कौन्तलके कार्यं विद्यते मदनं प्रति ॥ ११ ॥

तदनन्तर उसने विशाल नेत्रोंवाले चन्द्रहाससे कहा—'चन्द्रहास ! तुम मेरी बात सुनो । कुन्तलपुरमें मदनके पास मेरा एक बहुत बड़ा काम है ॥ ११ ॥

त्वं याहि पत्रं हि मया मुद्रितं मा विमोचय ।
भूयाद् गूढं तव हितं पत्रे दत्तं सुताय मे ॥ १२ ॥

'अतः तुम मेरेद्वारा मुद्रित इस पत्रको लेकर मदनके पास चले जाओ । मार्गमें इसे खोलना मत । यदि तुम इसे मेरे पुत्रके हाथमें दे दोगे तो तुम्हारा गुप्तरूपसे परम हित होगा॥

त्वं भेत्सि यदि मुद्रां मे भविष्यति मलं तव ।
उभयोः शिवयोर्भेदाद् यथावत् तव जायते ॥ १३ ॥

'यदि कहीं तुम मेरी इस मुद्रा (मुहर) को तोड़ दोगे तो दो शिव-मूर्तियोंको तोड़नेसे जितना पाप होता है, वही पातक तुम्हें लगेगा ॥ १३ ॥

शीघ्रं वाजिनमारुह्य चतुर्भिः सेवकैर्वृतः ।
याहि कौन्तलकं पुत्र धर्म्यं द्रक्ष्यसि पुत्रकम् ॥ १४ ॥

'बेटा ! अब तुम चार सेवकोंको साथ लेकर घोड़ेपर सवार हो शीघ्र ही कुन्तलपुरकी यात्रा कर दो । वहाँ तुम्हें मेरा धर्मात्मा पुत्र मदन अवश्य मिलेगा' ॥ १४ ॥

नारद उवाच

स तत् पत्रमुपादाय वेगमास्थाय शोभनम् ।
मन्त्रिणं तं नमस्कृत्य कुलिन्दं पितरं ततः ॥ १५ ॥
मेधावतीमगात् प्रष्टुं नमस्कर्तुं कुलिन्दवत् ।
तया नीराजितश्चाथ आशीर्भिरभिनन्दितः ॥ १६ ॥

नारदजी कहते हैं—अर्जुन ! तब चन्द्रहासने शीघ्रतापूर्वक उस सुन्दर पत्रको लेकर मन्त्री धृष्टबुद्धि तथा अपने पिता कुलिन्दको प्रणाम किया । तत्पश्चात् वह अपनी माता मेधावतीकी आज्ञा लेने तथा कुलिन्दकी भाँति उसे भी नमस्कार करनेके लिये भवनके भीतर गया । वहाँ मेधावतीने अपने पुत्रकी आरती उतारी और फिर आशीर्वादोंद्वारा उसका अभिनन्दन किया ॥ १५-१६ ॥

दधिदूर्वाक्षतोन्मिश्रं तिलकं कुर्वती प्रसूः ।
अब्रवीत् सा तु पन्थानः शिवास्ते सन्तु सर्वदा॥ १७ ॥

माताने दधि, दूर्वा और अक्षतोंके सम्मिश्रणसे पुत्रके ललाटमें तिलक लगाया और फिर वह यों कहने लगी—'बेटा! तुम्हारे मार्ग सर्वदा मङ्गलमय हों ॥ १७ ॥

मुखं नारायणः पातु बाहू पातु जनार्दनः।
वक्षः पातु हृषीकेश उदरं पातु माधवः ॥ १८ ॥

'नारायण तुम्हारे मुखकी, जनार्दन दोनों भुजाओंकी, हृषीकेश वक्षःस्थलकी और माधव उदरकी रक्षा करें ॥ १८॥

पद्मनाभः सदा पातु नाभिं कुक्षिं नृकेसरी।
कटिं कमलपत्राक्षो जङ्घे द्वे मधुसूदनः ॥ १९ ॥

'पद्मनाभ नाभिको, नृसिंह कुक्षिको, भगवान् कमलपत्राक्ष कटिको और मधुसूदन दोनों जंघाओंको सदा सुरक्षित रखें ॥

जानुनी यज्ञभोक्ता ते गुल्फौ दामोदरोऽवतु।
सहस्रपादङ्घ्रियुगं सहस्राक्षस्तवाक्षिणी ॥ २० ॥

'तुम्हारे दोनों जानुओंकी यज्ञभोक्ता, गुल्फोंकी दामोदर, दोनों चरणोंकी सहस्रपाद और दोनों नेत्रोंकी सहस्राक्ष रक्षा करें॥

त्रिविक्रमः पातु सर्वशरीरं तव पुत्रक।
समं याहि पुनः शीघ्रं पत्न्या त्वमनुरूपया ॥ २१ ॥
यथा त्वं नृपतेः कुक्षिं प्राप्तः सहजया श्रिया।

'भगवान् त्रिविक्रम तुम्हारे सारे शरीरको संकटसे बचावें। बेटा! जाओ और जैसे तुम अपनी सहज कान्तिसे सम्पन्न हो राजाकी गोदमें प्राप्त हुए थे, उसी तरह तुम अपने अनुरूप पत्नीके साथ पुनः शीघ्र ही लौट आओ' ॥ २१½ ॥

चन्द्रहासोऽथ जननीं नमस्कृत्य परीत्य च ॥ २२ ॥
प्रायादश्वाधिरूढस्तैः प्रेष्यैः प्रियहिते रतैः।

तदनन्तर चन्द्रहासने अपनी माताकी परिक्रमा करके उसे प्रणाम किया और फिर वह अपना प्रिय एवं हित करनेमें तत्पर रहनेवाले उन सेवकोंको साथ ले घोड़ेपर सवार होकर चल दिया॥ २२½॥

ग्रामान्तरात् समायान्तं स ददर्श वधूवरम् ॥ २३ ॥
हरिद्राकुङ्कुमोद्रेकरञ्जितारं मनोरमम्।
नववत्सामथाद्राक्षीद् गृष्टिं स पुरतः स्थिताम्॥ २४ ॥

मार्गमें उसे दूसरे गाँवसे नवविवाहिता वधूके साथ आता हुआ एक दूल्हा दिखायी दिया। वह हल्दी और कुङ्कुमके रंगसे गाढ़ा रँगा हुआ था, जिससे बड़ा मनोहर लग रहा था। आगे बढ़नेपर उसे पहले-पहलकी ब्याई हुई गौ अपने नवजात बछड़ेके साथ आगे खड़ी हुई दीख पड़ी ॥२३-२४॥

तस्मै पथि वनाध्यक्षाः प्रददुर्दाडिमीफलम्।
केचिच्चम्पकमालाभिरर्चयन्ति स्म तं पथि ॥ २५ ॥

मार्गमें वनाध्यक्षोंने उसे अनारके फल प्रदान किये। रास्ते चलते-चलते कुछ लोगोंने चम्पाके पुष्पोंसे गुँथी हुई मालाओंद्वारा उसका सत्कार किया॥ २५ ॥

बबन्धुर्मुकुटं भाले नानापुष्पमयं मुदा।
नवो वर इवाभाति चन्द्रहासः स सुन्दरः ॥ २६ ॥

कुछ लोगोंने आनन्दमग्न होकर उसके मस्तकपर नाना प्रकारके पुष्पोंद्वारा निर्मित मुकुट बाँध दिया, जिससे सुन्दर रूपवाला वह चन्द्रहास नये दूल्हेके समान सुशोभित हो रहा था॥ २६ ॥

प्राप्य कौन्तलकाभ्याशे रम्यं क्रीडावने सरः।
वरटाभिः समं हंसा यत्र गार्हस्थ्यमास्थिताः।
कमलोदयेन महता धवला ब्रह्मपत्रजाः ॥ २७ ॥

इस प्रकार चन्द्रहास कुन्तलपुरके समीप जा पहुँचा। वहाँ नगरके बाहर एक क्रीडा-उपवन था। उसमें एक रमणीय सरोवर था (चन्द्रहास उसी सरोवरके तटपर ठहर गया)। उस सरोवरमें हंस हंसिनियोंके साथ गृहस्थ-धर्मका पालन करते हुए निवास कर रहे थे। बहुत-से कमलोंके खिले होनेके कारण वे हंस (उनके बीच) और भी उज्ज्वल दीख रहे थे॥ २७॥

तस्यामलाम्भःसरसः समीपे
वनं ददर्शाम्रतमालनीलम्।
स चन्द्रहासोऽद्भुतमेव मेने
साक्षाद् वसन्तं च वसन्तमत्र ॥ २८ ॥

स्वच्छ जलसे भरे हुए उस सरोवरके निकट चन्द्रहासने एक वन भी देखा, जो आम और तमालके वृक्षोंसे व्याप्त होनेके कारण नीले रंगका दीख रहा था। उसने उस वनको अद्भुत ही माना और यही समझा कि साक्षात् वसंत ऋतु ही यहाँ निवास कर रहा है॥ २८ ॥

फुल्लं पलाशं नवकुङ्कुमाभं
तमेव वक्त्रं किल बिभ्रतं तम्।
वनश्रिया संगमकज्जलाङ्कं
तत्पत्रवल्लीधरमद्भुताभम् ॥ २९ ॥

वहाँ नये कुङ्कुमकी-सी आभासे युक्त खिला हुआ जो पलाशके वृक्षोंका समूह सुशोभित था, वही मानो उस ऋतुराज-का मुख था। उस वनस्थलीमें जो यत्र-तत्र काला रंग दीखता था, वही मानो वनश्रीके साथ समागम करते समय उसके नेत्रोंके काजलका चिह्न लग गया था। उसके पत्ते तथा लताएँ ऋतुराजके होंठके समान थे। इस प्रकार वह अद्भुत कान्तिसे युक्त था॥ २९॥

ततः पल्लविता आसन् द्रुमास्तस्मिन् मधौ सति।
मञ्जर्यः पल्लवा रम्या भान्ति चूततरौ तदा ॥ ३० ॥

उस समय वसन्त ऋतुके निवास करनेके कारण उस उपवनके सभी वृक्षोंमें नये-नये पल्लव निकल आये थे। आमके वृक्षोंमें सुन्दर किसलय तथा मनोहर मञ्जरियाँ सुशोभित हो रही थीं॥ ३०॥

तस्मिन् पल्लवितेऽत्यन्तं कोकिला मधुरस्वरम्।
चुकूज कामिनां चित्तमाकर्षन्तीव दूतिका ॥ ३१ ॥

नवीन एवं सुकोमल पल्लवोंवाले आमके वृक्षोंपर कोयल अत्यन्त मधुर स्वरमें इस प्रकार कूज रही थीं, मानो कामियोंके चित्तका आकर्षण करनेवाली दूतिका हो॥ ३१॥

पुन्नागबकुलाशोकचम्पकाः पुष्पिता बभुः।
मालतीयूथिकाजात्यः पुष्पस्तनभरानताः ॥ ३२ ॥

वहाँ पुष्पोंसे लदे हुए नागकेसर, मौलसिरी, अशोक और चम्पाके वृक्ष सुशोभित हो रहे थे। मालती, जूही और जाती अपने पुष्परूपी स्तनोंके भारसे झुकी जा रही थीं॥ ३२॥

केतक्यः पुष्पगन्धाढ्या लीनभ्रमरलोचनाः।
पुष्पवर्षैरर्चयन्त्यः स्वभर्त्तारं च माधवम् ॥ ३३ ॥

जिनमें छिपे हुए भ्रमर नेत्र-से प्रतीत हो रहे थे तथा जो पुष्पोंके उत्कट गन्धसे संयुक्त थीं, ऐसी केतकियाँ पुष्पोंकी वर्षा करके अपने पतिदेव वसन्तऋतुका स्वागत-सत्कार कर रही थीं॥ ३३॥

नारद उवाच

मधोरुत्सवमालोक्य कुलिन्दतनयो मुदम्।
परां प्राप हरेरेव चरित्रं हृदये दधत् ॥ ३४ ॥

नारदजी कहते हैं—अर्जुन! इस प्रकार वसन्त ऋतुके उत्सवको देखकर कुलिन्दकुमार चन्द्रहासने अपने हृदयमें उसे श्रीहरिका ही चरित्र समझा। अतः वह परमानन्दमें निमग्न हो गया॥ ३४॥

स्नात्वा सम्पूज्य च हरिं तैः पुष्पैर्मधुसम्भवैः।
संकल्पयित्वा हरये पाथेयं बुभुजे शनैः ॥ ३५ ॥

तत्पश्चात् उसने उस सरोवरमें स्नान करके वसन्त ऋतुमें उत्पन्न हुए उन पुष्पोंसे भगवान् श्रीहरिका पूजन किया, फिर साथमें लाये हुए पाथेय (रास्तेके भोजन) को श्रीहरिके निमित्त अर्पण करके उनके उस प्रसादको वह स्वयं धीरे-धीरे भोजन करने लगा॥ ३५॥

सेवकैः क्षिप्तदूर्वादि पुरस्ताद् वाजिनं तरौ।
रसाले संनियम्याथ अशेत प्रहरद्वयम् ॥ ३६ ॥

उसने घोड़ेको पहले ही एक आमके वृक्षसे बाँधकर सेवकोंद्वारा उसके आगे घास-पात डलवा दिया था। भोजनके पश्चात् वह दो पहर विश्राम करनेके लिये वहीं सो गया॥ ३६॥

अथ कौन्तलपस्यैका कन्या चम्पकमालिनी।
धृष्टबुद्धेश्च विषया रतिं हसति या श्रिया ॥ ३७ ॥
कन्यके जग्मतुः कन्याशतेन परिवारिते।
वसन्तागमपुष्पाढ्यं पुरोपवनमुत्तमम् ॥ ३८ ॥

इसी समय कुन्तलनरेशकी इकलौती कन्या चम्पकमालिनी और जो अपनी शोभासे रतिका उपहास कर रही थी, ऐसी धृष्टबुद्धिकी पुत्री विषया—ये दोनों कन्याएँ सौ कन्याओंसे घिरी हुई नगरके उस उत्तम उपवनमें (विहार करनेके लिये) गयीं। वह उद्यान वसन्तके आगमनके कारण नये-नये खिले हुए पुष्पोंसे सम्पन्न था॥ ३७-३८॥

पुष्पावचयमिच्छन्त्यः कर्तुं सर्वाश्च कन्यकाः।
सार्द्धत्रयोदशाब्दास्ता यौवनोद्भेदचञ्चलाः ॥ ३९ ॥

वे सभी कन्याएँ पुष्प-चयन करना चाहती थीं। उनकी अवस्था साढ़े तेरह वर्षकी थी और यौवनकाल समीप होनेके कारण उनमें चञ्चलता प्रकट हो रही थी॥ ३९॥

कौसुम्भाम्बरधारिण्यः स्फुरत्कञ्चुकपल्लवाः।
न वबिल्वफलाभाभ्यां स्तनाभ्यां समलंकृताः ॥ ४०॥

रम्यमौक्तिकहारैश्च मण्डिताभ्यां शनैर्ययुः ।
नृत्यन्त्यो नूपुररवैस्तालिकाशब्दकैः पथि ॥ ४१ ॥
गायन्त्यः स्म हसन्त्यः स्म क्षरत्ताम्बूलचन्द्रिकाः।
प्रापुः क्रीडावनं रम्यं कोकिलालापनादितम् ॥ ४२ ॥

उनके शरीरपर कुसुम्भी रंगकी साड़ियाँ शोभा पा रही थीं और उनकी चोलीके ऊपरका आँचल हवामें उड़ रहा था। जो नये बिल्वफलके समान उभरे हुए तथा सुन्दर मोतियोंके हारोंसे विभूषित थे, ऐसे स्तनोंसे सुशोभित वे कन्याएँ मार्गमें ताली बजाती हुई और पायजेबकी झनकारके अनुकूल नाचती हुई धीरे-धीरे चल रही थीं। वे गाती और हँसती हुई जा रही थीं। बीच-बीचमें उनके मुखसे ताम्बूलकी पीक टपक जाती थी। इस प्रकार वे कोकिलकी काकलीसे निनादित उस रमणीय क्रीडावनमें जा पहुँचीं ॥ ४०-४२ ॥

हस्तिनी पुरतः काचिद् ययौ पुष्पौघवीक्षया ।
तां चैव भीतोवाचैका कन्या बिल्वफलस्तनी ॥ ४३ ॥

वहाँ कोई हस्तिनी[1] जातिकी कन्या पुष्प-समूहको देखनेकी लालसासे जब आगे बढ़ी, तब बिल्वफलके समान स्तनवाली दूसरी कन्याने भयभीत होकर उससे कहा—॥ ४३ ॥

मा गा हस्तिनि कुञ्जं त्वमेका पुष्पाभिलाषिणी ।
दारयिष्यति मुक्ताढ्यौ स्तनकुम्भौ नृकेसरी ॥ ४४ ॥

'अरी हस्तिनी ! पुष्प-दर्शनकी अभिलाषासे तू अकेली हो सघन वनमें मत जा; क्योंकि वहाँ यदि कोई नररूप सिंह मिल गया तो वह मोतियोंसे युक्त तेरे इन स्तनरूपी कुम्भ-स्थलोंको विदीर्ण कर देगा' ॥ ४४ ॥

परस्परं हसन्त्यस्ताः प्राकुर्वन् पुष्पसंचयम् ।
मालतीयूथिकाजातीमुद्गरादिकवीरुधाम् ॥ ४५ ॥

इस प्रकार परस्पर हास-परिहास करती हुई वे कन्याएँ मालती, जूही, जाती और मोगरा आदि पुष्पवृक्षोंसे तोड़-तोड़कर पुष्प-संचय करने लगीं ॥ ४५ ॥

कन्याः सुमनसां मालाश्चक्रुः कण्ठेषु ता दधुः ।
सपुष्पां दाडिमीं वीक्ष्य प्राह चम्पकमालिनी ॥ ४६ ॥

१. स्त्रियोंके चार भेद माने गये हैं—पद्मिनी, चित्रिणी, शङ्खिनी और हस्तिनी। यहाँ केवल हस्तिनीकी चर्चा है; अतः उसका लक्षण बताया जाता है। हस्तिनी नारीका शरीर स्थूल, ओठ और अङ्गुलियाँ मोटी तथा आहार और कामवासना अन्य सब स्त्रियोंसे अधिक होती है।

फिर उन कन्याओंने उन फूलोंको गूँथकर मालाएँ बनायीं और उन्हें अपने-अपने गलेमें धारण कर लिया। उसी समय चम्पकमालिनीने एक पुष्पित अनारवृक्षको देखकर विषयासे कहा—॥ ४६ ॥

विषये सुभगे पश्य महदद्भुतमग्रतः ।
आदौ पुष्पोद्गमः पश्चाद् दृश्यते स्म फलोद्गमः ॥ ४७ ॥
विपरीतं त्वयि कथं जातं बिल्वफलस्तनि ।
वनस्पतीनां धर्मोऽयं विषया प्राह भूपजाम् ॥ ४८ ॥

'सुन्दरी विषये ! यह आगे महान् अद्भुत बात तो देख, इस अनारवृक्षमें पहले पुष्प लगे हैं, तत्पश्चात् फलोंकी उत्पत्ति दीख रही है (और सर्वत्र यही नियम है भी); परंतु बिल्वफलके समान स्तनोंवाली विषये ! तेरे शरीरमें यह विपरीत कैसे हो गया (अर्थात् तू अभी पुष्पवती—ऋतुमती हुई ही नहीं, उसके पहले ही ये बिल्वफलके सदृश स्तन कैसे निकल आये?)' तब विषयाने राजकुमारीसे कहा—'सखि ! यह तो वनस्पतियोंका धर्म है (न कि हमारा)' ॥ ४७-४८ ॥

अथ पुष्पाण्युपादाय शिरस्याधाय निद्रिताम् ।
पुष्पावचयखिन्नाङ्गीं विषया प्राह भूपजाम् ॥ ४९ ॥

तदनन्तर जब पुष्प-चयन करते-करते श्रमके कारण राजकुमारीके बदनमें पसीना आ गया, तब वह उन फूलोंके ढेरको लेकर सिरके नीचे रख आलस्यवश उसीपर लेट गयी। उस समय विषयाने राजकुमारीसे कहा—॥ ४९ ॥

शिरस्याधाय पुष्पाणि मा शेथास्त्वं वरानने ।
कश्चिदन्तर्वने भोगी कुण्डली त्वां समेष्यति ॥ ५० ॥

'सुमुखि ! तुम इन पुष्पोंको सिरके नीचे रखकर मत सोओ; नहीं तो इस वनके भीतर (इन एकत्रित फूलोंकी उत्कट सुगन्धसे आकृष्ट होकर) कोई फणाधारी सर्प अवश्य तुम्हारे पास आ जायगा।' (यहाँ कुण्डली भोगी शब्द द्व्यर्थक हैं। हास्यपक्षमें इनका अर्थ होगा—कुण्डलधारी भोगी राजपुत्र) ॥ ५० ॥

राजकन्योवाच

विषये ते मुखे शोभा वरीवर्ति सुधांशुजित् ।
स्तनौ वक्षसि वर्तेते रत्या किं मन्मथः सह ॥ ५१ ॥

राजकन्याने कहा—विषये ! तेरे मुखपर चन्द्रमाको भी मात करनेवाली अतिशय उत्कृष्ट शोभा वर्तमान है और वक्षः-

स्थलपर जो ये स्तन विद्यमान हैं, इनके रूपमें क्या वहाँ रतिके साथ कामदेव शोभा पा रहे हैं?॥ ५१॥

भक्त्या प्रादुरभूतां तौ स्वप्नं दत्त्वा तवाशये।
कंचित् प्रार्थय पूजार्थमनयोर्लिङ्गयोः सखि॥ ५२॥

तेरी भक्तिभावसे संतुष्ट होकर तुझे स्वप्न देकर वे दोनों रति और कामदेव इस समय तेरे वक्षःस्थलपर प्रकट हुए हैं, अतः सखि! तू इन्हें उनका प्रतीक ही समझकर इनकी पूजा करनेके लिये (भगवान्‌से) किसी पूजककी प्राप्तिके निमित्त प्रार्थना कर॥ ५२॥

चन्दनेन सुगन्धेन केसरेण सुचन्द्रिणा।
पत्रालिभिर्विचित्राभिर्य एतावर्चितुं क्षमः॥ ५३॥
सायंप्रातर्ह्यनलसो दक्षस्तं प्रार्थयाधुना।
प्राणानपि स्वकान् दत्त्वा पूजकं त्वं वशी कुरु॥ ५४॥

जो सुगन्धित चन्दन, केसर, कपूर और सुन्दर पत्र-भङ्गियोंद्वारा इन रति और मन्मथके प्रतीकोंकी पूजा करनेमें समर्थ हो, सायंकाल हो अथवा प्रातःकाल, किसी समय उसे पूजनमें आलस्य न आता हो और पूजन-कार्यमें जो निपुण हो, ऐसे ही किसी पुजारीकी तू इस समय याचना कर। मिल जानेपर तू ऐसे पूजकको अपने प्राण देकर भी वशमें कर लेना॥ ५३-५४॥

चक्षुः स्फुरति ते वामं काको रौत्याम्रमास्थितः।
शंसतीव प्रियं प्राप्तं पूजकं तव देवयोः॥ ५५॥

सखि! तेरा बायाँ नेत्र फड़क रहा है और आमके वृक्षपर बैठा हुआ कौवा बोल रहा है, जिससे सूचित होता है कि तेरे इन (स्तनरूपी) देवोंकी पूजा करनेवाला कोई प्रिय पुरुष आ ही रहा है॥ ५५॥

इत्थं चम्पकमालिन्या वचः श्रुत्वा जहास सा।
उवाच वचनं रम्यं लज्जतीव प्रधानजा॥ ५६॥

चम्पकमालिनीके ऐसे वचन सुनकर विषया हँस पड़ी और फिर वह मन्त्रिकन्या लजाती हुई-सी यह सुन्दर वचन बोली॥ ५६॥

विषयोवाच

अलं पुष्पचयेनाद्य संतप्ता रविणा वयम्।
यामः शीतजलं तस्मात् तत् सरः कमलाकरम्॥ ५७॥

विषयाने कहा—सखि! अब फूलोंका तोड़ना बंद होना चाहिये; क्योंकि हमलोग सूर्यके तापसे संतप्त हो चुकी हैं, अतः आओ अब हमलोग कमलोंसे भरे हुए उस शीतल जलवाले सरोवरकी ओर चलें॥ ५७॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्याः कन्यका निर्ययुर्वनात्।
केचिद्दोलाधिरूढे ते गायन्त्यौ मधुरस्वरम्॥ ५८॥
प्रहरन्त्यौ तदान्योऽन्यं कन्यके कुचमण्डले।
त्रुटन्मौक्तिकहारे ते दोलाया अवतेरतुः॥ ५९॥

विषयाकी वह बात सुनकर सभी कन्याएँ पुष्प-वनसे निकलने लगीं। उनमेंसे दो कन्याएँ कहीं झूलेपर बैठी हुई मधुर स्वरसे गान कर रहीं थीं, वे भी हिंडोलेसे उतरने लगीं। उतरते समय उन दोनों कन्याओंके कुचमण्डल परस्पर टकरा गये, जिससे उनके मोतियोंके हार टूट गये॥ ५८-५९॥

काचित् पुष्पचयं कृत्वा राजकन्यां प्रधाविता।
विषयामपि हर्षेण पुष्पवर्षमथाक्षिपत्॥ ६०॥

कोई पुष्पोंको एकत्र करके वेगसे दौड़ती हुई आयी और हर्षके मारे राजकुमारी चम्पकमालिनी तथा विषयापर भी उन फूलोंकी वर्षा करने लगी॥ ६०॥

एवं तास्तत्सरः प्रापुः पद्मिनीखण्डमण्डितम्।
हंसा भीताः पलायन्ते सिञ्जितश्रवणाद् वनात्॥ ६१॥

यों क्रीडा करती हुई वे कन्याएँ कमलिनी-समूहसे सुशोभित उस सरोवरपर जा पहुँचीं। उस समय उनके नूपुरोंकी झनकार सुनकर हंस भयभीत होकर उस कमलवनसे भाग खड़े हुए॥

अस्माकं मनसोल्लासि सरः कलुषितं भवेत्।
पुष्पवन्त्यो विशेषेण कन्या आयान्ति कामुकाः॥ ६२॥

(उन हंसोंने अपने मनमें सोचा कि) हमारे मनमें उल्लास उत्पन्न करनेवाला यह सरोवर अब गँदला हो जायगा; क्योंकि ये कामुक कन्याएँ बहुत-सा पुष्प लिये हुए (इसमें क्रीडा करनेके लिये) आ रही हैं॥ ६२॥

नारद उवाच

सरस्तीरे दुकूलानि रम्यकार्पासकानि च।
कन्याभिस्त्यज्यमानानि मर्मरेति विचुक्रुशुः॥ ६३॥

नारदजी कहते हैं—अर्जुन! उस सरोवरके तटपर पहुँचकर जब वे कन्याएँ अपने पहने हुए रेशमी तथा सुन्दर सूती वस्त्रोंको उतारने लगीं, उस समय (सिकुड़नेके कारण) उन वस्त्रोंसे मरमराहटकी आवाज प्रकट होने लगी॥ ६३॥

सूक्ष्माण्यपि दुकूलानि नेतुं न क्षमतेऽनिलः।
तासां गुणमयैः पाशैर्बद्धो निश्चलतां ययौ ॥ ६४ ॥

उस समय पवन उन सूक्ष्म (महीन) रेशमी वस्त्रोंको भी उड़ानेमें समर्थ न हो सका; क्योंकि वह उन कन्याओंके गुणमय पाशोंसे बँधा होनेके कारण निश्चलताको प्राप्त हो गया था ॥ ६४ ॥

ताश्चम्पकाङ्ग्यो विविशुस्तत्सरः शिवलीलया।
अगाधं निर्मलं गाधं कलुषं तत्सरोऽभवत् ॥ ६५ ॥

तदनन्तर चम्पाके समान गौर वर्णवाली वे कन्याएँ आनन्दपूर्वक क्रीडा करनेकी इच्छासे उस सरोवरमें उतर पड़ीं। उनके प्रवेश करते ही वह अगाध एवं निर्मल जलसे भरा हुआ सरोवर उथला एवं गँदला हो गया ॥ ६५ ॥

कन्याभिर्निष्ककण्ठीभिस्तादृशीभिरधिष्ठितम् ।
परस्परं हाससूक्तीश्चक्रुस्ता अभितः सरः ॥ ६६ ॥

फिर तो जिनके गलेमें स्वर्णपदक झलमला रहे थे, ऐसी उन कन्याओंसे वह सरोवर सर्वत्र व्याप्त हो गया। वे उसमें चारों ओर घूम-घूमकर परस्पर हास्ययुक्त बातें करने लगीं ॥

क्रीडालोलकरास्फालत्रुटन्मौक्तिकपूरितम् ।
मणिबन्धस्खलद्रम्यप्रवालमणिचित्रितम् ॥ ६७ ॥
अनन्तश्रीधरं तासां मुखचन्द्रैरलंकृतम्।
तत्सरः शुशुभेऽतीव रत्नाकरनिभं स्फुटम् ॥ ६८ ॥

क्रीडा करते समय चञ्चल हाथोंके उछालनेसे टूटकर गिरे हुए मोतियोंसे पूरित हुआ वह तालाब उनकी कलाइयोंसे खिसककर गिरे हुए मूँगे-मणियोंसे चित्रित-सा लगने लगा तथा उन कन्याओंके मुखरूपी चन्द्रमाओंसे अलंकृत होनेके कारण वह अपार शोभासे सम्पन्न हो गया। इस प्रकार वह सरोवर उस समय साक्षात् रत्नाकर (समुद्र) के समान अत्यन्त शोभा पाने लगा ॥ ६७-६८ ॥

परस्परं ताः सिषिचुर्जलेनातिसुगन्धिना।
स्तनकुङ्कुमकस्तूरीचन्दनागुरुगन्धिना ॥ ६९ ॥

तत्पश्चात् उनके स्तनोंपर लगे हुए कुङ्कुम, कस्तूरी, चन्दन और अगुरुकी गन्धसे अत्यन्त सुगन्धित जलसे वे कन्याएँ परस्पर एक-दूसरीको भिगोने लगीं ॥ ६९ ॥

उच्छलज्जलबिन्दूनां मिषेण जलदेवताः।
क्रीडन्ते मौक्तिकैश्चैताः कन्यकाः शुशुभुर्वने ॥ ७० ॥

जल उछालते समय उन कन्याओंकी ऐसी शोभा हो रही थी, मानो उस वनमें जलदेवता (ही आकर) उछलते हुए जलबिन्दुओंके व्याजसे मोतियोंद्वारा क्रीडा कर रहे हों ॥७०॥

बिन्दुवर्षं समालोक्य चातका घनशङ्कया।
मुखं व्यादाय पश्यन्ति घनपङ्क्तीः पिपासया ॥ ७१ ॥

उस समय जलबिन्दुओंकी वर्षा होते देखकर चातकोंको बादलकी आशङ्का हो आयी; फिर तो वे जलपानकी इच्छासे अपने मुख फैलाकर बादलोंकी पङ्क्तियोंकी ओर निहारने लगे॥

रम्यैः कनकनालैस्तु बबन्धुः काश्च काश्चन।
जहसुर्बभ्रमुः कन्या डिण्डिभं चुक्रुशुर्जगुः ॥ ७२ ॥

फिर कुछ कन्याओंने मिलकर किसी दूसरीको सोनेके सुन्दर नालों (नारों) से बाँध दिया। यह देखकर कुछ कन्याएँ ठहाका मारकर हँसने लगीं, कुछ डिंडिमघोष करती हुई घूमने लगीं और कुछ गीत गाने लगीं ॥ ७२ ॥

एवं स्म ताः सरसि कुङ्कुमनीरभाजि
स्नात्वाबलाः परिदधुः स्म दुकूलवृन्दम्।
ताटङ्कपत्रवरमौक्तिकहारनिष्कैः
पूर्णोडुपाभतिलकैर्व्यधुरङ्गभूषाम् ॥ ७३ ॥

इस प्रकार कुङ्कुमसंयुक्त जलवाले उस सरोवरमें स्नान करके उन कन्याओंने तटपर आकर अपने-अपने रेशमी वस्त्र पहिन लिये। तत्पश्चात् वे कर्णफूल, बहुमूल्य मोतियोंके हार और सुवर्ण-पदकोंसे तथा पूर्ण चन्द्रमाके समान कान्तिमान् तिलकोंसे अपने शरीरका शृंगार करने लगीं ॥ ७३ ॥

तां विहाय जलकेलिमुत्तमां
धृष्टबुद्धितनया तटस्थिता।
अन्ववैक्षत हरिं यथा रमा
चन्द्रहासमथ सा सरस्तटे ॥ ७४ ॥

उसी समय धृष्टबुद्धिकी पुत्री विषया जब उस उत्तम जल-क्रीडासे निवृत्त होकर तटपर खड़ी हुई, तब वह उस सरोवर-के तीरपर शयन करते हुए चन्द्रहासको टकटकी लगाकर देखने लगी, ठीक उसी तरह, जैसे रमादेवी भगवान् विष्णुको निहारती हैं ॥ ७४ ॥

षोडशाब्दवयसं सुकुमारं
श्मश्रुलं विमलदीर्घललाटम्।

पट्टबद्धहयमल्पजनं तं
सिंहशावमिव बाढममंस्त ॥ ७५ ॥

तब जिसकी अवस्था सोलह वर्षकी थी, जिसके मुखपर दाढ़ी-मूँछके चिह्न प्रकट हो गये थे, जिसका प्रकाशमान ऊँचा ललाट था, थोड़े-से मनुष्य जिसके साथ थे और जिसने रेशमकी डोरीसे अपने घोड़ेको बाँध रखा था, ऐसे उस सुन्दर कुमारको देखकर विषयाने यही समझा कि यह कोई सिंहशावकके समान वीर राजकुमार है ॥ ७५ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि चन्द्रहासोपाख्याने त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें चन्द्रहासोपाख्यानके प्रसङ्गमें तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

विषयाका गुप्तरूपसे अकेले ही चन्द्रहासके समीप जाना, उसके जेबसे पत्र निकालकर उसे पढ़ना और 'विष' की जगह 'विषया' बनाकर पत्रको बंद करके पुनः जेबमें डाल देना, फिर लौटकर सखियोंके साथ घर जाना, चन्द्रहासका जागना और मन्त्रीके भवनपर पहुँचकर द्वारपालद्वारा अपने आगमनका समाचार भेजवाना, द्वारपालकी बात सुनकर मदनका द्वारपर आकर चन्द्रहासको सभामें ले जाना, चन्द्रहासके दिये हुए पत्रको सभामें पढ़ना, विषयाका चन्द्रहासको पतिरूपमें पानेके लिये पार्वतीजीसे प्रार्थना करना

नारद उवाच

जलक्रीडारुणाक्ष्यस्ता निर्ययुः स्वान् गृहान् प्रति।
विषया न ययौ पार्थ चन्द्रहासगुणैर्वृता ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—पार्थ ! तदनन्तर जलक्रीडा करनेसे जिनके नेत्र लाल हो गये थे, वे कन्याएँ अपने-अपने घरकी ओर चल पड़ीं; परंतु विषया नहीं गयी; क्योंकि चन्द्रहासके गुणोंने उसे घेर रखा था ॥ १ ॥

गच्छत्सु मानुषेष्वेको निधिं पश्यत् पुरःस्थितम्।
स यथा निश्चलस्तत्र तथा सा विषया स्थिता ॥ २ ॥

जैसे बहुत-से मनुष्योंके एक साथ जाते समय किसी एकको आगे पड़ा हुआ खजाना दीख जाय और वह वहीं निश्चल होकर खड़ा हो जाय, उसी प्रकार वह विषया (चन्द्रहासको देखकर) वहाँ खड़ी रह गयी ॥ २ ॥

किं न याम्यथवा यामि सुन्दरं पुरुषं वने ।
अमुं विवेकं मदनस्तदीयं व्यलुनाच्छरैः ॥ ३ ॥

(वह अपने मनमें तर्क-वितर्क करने लगी कि) इस निर्जन वनमें उस सुन्दर पुरुषके पास मैं जाऊँ अथवा न जाऊँ । इतनेमें ही कामदेवने अपने बाणोंसे उसके इस विवेकको छिन्न-भिन्न कर दिया ॥ ३ ॥

सैरन्ध्रीं सा समाहूय नूपुरौ प्रददौ निजौ ।
ततः पदं पदे कृत्वा दुकूलेऽपि विशङ्किता ॥ ४ ॥
हंसीव सा यथा हंसं ययौ दृष्टस्तुरङ्गमः ।
चरन् दूर्वाङ्कुराञ्छ्यामाञ्छ्यामया स नमस्कृतः॥५ ॥
मम प्राणान् प्रिये सक्तान् मा शब्देन वियोजय ।
इति ब्रुवन्ती शनकैः प्राप्ता कुण्डलिनं जनम् ॥ ६ ॥
पतिवत् तं हि विषया दत्तदृष्टिरवैक्षत ।

फिर तो उसने सैरन्ध्रीको बुलाकर अपने दोनों पायजेब उसे दे दिये । तत्पश्चात् स्वयं जैसे हंसी हंसके पास जाती है, उसी तरह अपने पैरपर पैर रखती हुई चन्द्रहासकी ओर चली । उस समय अपने रेशमी वस्त्रोंके फड़क जानेपर भी वह सशंकित हो जाती थी । आगे बढ़नेपर उसे हरी-हरी घास चरता हुआ (चन्द्रहासका) घोड़ा दीख पड़ा । उस समय वह सुन्दरी घोड़ेको नमस्कार करके कहने लगी—'अश्वराज ! मेरे प्राण अपने प्रियतममें आसक्त हो गये हैं, तुम हींसकर उन्हें वियुक्त न करना ।' इस प्रकार कहती हुई विषया धीरे-धीरे उस कुण्डलधारी पुरुषके पास जा पहुँची और उसे अपने पतिके समान मानकर एकटक निहारने लगी ॥ ४—६½ ॥

ततो ददर्श रुचिरं पत्रं कञ्चुकनिःसृतम् ॥ ७ ॥
गृहीत्वा तत् करेणाशु मुद्रामुन्मुच्य विस्मिता ।
वाचयामास तत् पत्रं पितुरत्यन्तहर्षिता ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् उसकी दृष्टि चन्द्रहासके कोटकी जेबसे बाहर निकले हुए उस सुन्दर पत्रपर पड़ी । उसने शीघ्र ही उसे अपने हाथमें ले लिया और आश्चर्यचकित होकर उसकी मुहर खोल दी । फिर अत्यन्त हर्षित होकर अपने पिताके उस पत्र-को बाँचने लगी ॥ ७-८ ॥

स्वस्तिश्रीरस्तु मदन वक्तुं कारणमीदृशम् ।
चन्द्रहासो हितोऽतीव ममायं सम्पदां प्रभुः ॥ ९ ॥
ज्ञातव्यो नात्र संदेहः पुत्र कार्यं त्वयेदृशम् ।
मा रूपं मा वयो द्राक्षीः कुलं शीलं पराक्रमम् ॥ १० ॥
विद्यां बलं विलम्बं मा मित्रस्यास्य कुरु ध्रुवम् ।
विषमस्मै प्रदातव्यं त्वया मदनशत्रवे ॥ ११ ॥
पार्वतीशमिति ध्यात्वा कृतार्थाः स्याम तद् वयम् ।
दध्यौ सा विषया पश्चादभिप्रायं विवृण्वती ॥ १२ ॥

(उस पत्रमें लिखा था—) 'मदन ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम्हें लक्ष्मीकी प्राप्ति हो । बेटा ! पत्र लिखनेका कारण इस प्रकार है—यह चन्द्रहास मेरा परम हित है । तुम्हें ऐसा समझना चाहिये कि यह मेरी सम्पत्तिका भावी उत्तराधिकारी है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है । इसलिये पुत्र ! तुम्हें मेरे लिखे अनुसार कार्य करना चाहिये । तुम इस मित्रके रूप, अवस्था, कुल, शील, पराक्रम, विद्या और बलकी ओर मत ध्यान देना, निश्चय ही विना विलम्ब किये ऐसा करना । तुम पार्वतीपति भगवान् शंकरका ध्यान करके इस मदनशत्रु (कामदेवसे भी अधिक सुन्दर) को विष अवश्य दे देना, जिससे हमलोग कृतार्थ हो जायँगे ।'* पत्र पढ़नेके पश्चात् विषया इसका अभिप्राय समझनेके लिये विचार करने लगी ॥ ९—१२ ॥

सम्पदां मे प्रभुर्नित्यं हितो मदनसंनिभः ।
एवमादि मया पत्रे रुचिरं वीक्ष्यते यथा ॥ १३ ॥

* इस पत्रमें 'चन्द्रहासो हितोऽतीव' इसमें (ऽ) खण्डाकार माना जाय तो 'अहित' अर्थ होता है और खण्डाकार न माननेपर 'हित' अर्थ होता है । इसी तरह मित्रके पहले खण्डाकार माननेसे अमित्र अर्थ होता है । विषयाने खण्डाकार न मानकर उस पत्रका अर्थ अनुकूल ही समझा । 'मदनशत्रवे' को एक शब्द माननेसे उपर्युक्त अर्थ प्रतीत होता है ।

वरं मनोरमं वीक्ष्य मद्रूपं हर्षनिर्भरः ।
विषमस्मै प्रदातव्यमत्र चस्खाल मे पिता ॥ १४ ॥
पितुर्वै पत्रमालोक्य मदनोऽपि हनिष्यति ।

(सोच-विचार करनेके पश्चात् उसके मनने यह निर्णय किया कि) 'इस पत्रमें जो यह लिखा है कि यह मदनके समान मेरा सदा हितकारी और मेरी सम्पत्तिका स्वामी है,' ऐसी सारी बातें तो मुझे ठीक ही जँच रही हैं; परंतु 'विषमस्मै प्रदातव्यम्—इसे विष दे देना' यहाँ मेरे पिताजीने लिखनेमें भूल की । ज्ञात होता है कि वे मेरे अनुरूप इस मनोहर वरको देखकर आनन्दविभोर हो गये थे (जिससे उन्होंने 'विषया' की जगह 'विष' लिख दिया) । अब पिताजीका यह पत्र देखकर मदन भी निश्चय ही इनका वध कर डालेगा' ॥

कनिष्ठिकानखेनाथ तीक्ष्णेनादाय सुन्दरी ॥ १५ ॥
रसालद्रुमनिर्यासं लिलेख विषया तदा ।
विषयास्मै प्रदातव्येत्येवं वर्णान् समालिखत् ॥ १६ ॥

ऐसा विचारकर सुन्दरी विषयाने उस समय अपनी कनिष्ठिका अँगुलीके तीखे नखसे आमके वृक्षसे गोंद खरोंच लिया और फिर उसीसे 'विषमस्मै प्रदातव्यम्'के स्थानपर 'विषयास्मै प्रदातव्या—इसे विषया दे देना' ऐसे अक्षरोंको लिख दिया ॥ १५-१६ ॥

पत्रं रसालनिर्यासकृतमुद्रं विधाय सा ।
कञ्चुकाभ्यन्तरे न्यस्य विषयागान्निवेशनम् ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् विषयाने उसी आमके गोंदसे पत्रको यथास्थान मुद्रित करके उसे चन्द्रहासके कोटकी जेबमें डाल दिया और फिर वह अपने घरकी ओर चल दी ॥ १७ ॥

पुनः पुनश्च पश्यन्ती पृष्ठतः प्राणवल्लभम् ।
ततो दृष्टा व्रजन्ती सा सखीभिर्विषया तदा ॥ १८ ॥

चलते समय वह बारंबार पीछेकी ओर मुड़कर अपने प्राणवल्लभकी ओर निहारती जाती थी । तदनन्तर सखियोंने उस समय विषयाको इस प्रकार चलती हुई देखकर लक्ष्य किया ॥ १८ ॥

सख्य ऊचुः

कस्माद् विलम्बितं भद्रे कस्माद्धर्षो महांस्त्वयि ।
कस्माद् वै वीक्ष्यते पृष्ठे कश्चिद् दृष्टो नृकेसरी ॥ १९ ॥

तब सखियोंने पूछा—भद्रे ! तूने विलम्ब क्यों कर दिया ? तेरे मनमें तो महान् हर्ष लक्षित हो रहा है—इसका

क्या कारण है ? तू पीछे मुड़-मुड़कर क्यों देखती जाती थी ? तूने किसी पुरुषसिंहको तो नहीं देख लिया ? ॥ १९ ॥

सिंहो दृष्टः कथं त्यक्तः सुप्तो नूनं त्वयेक्षितः ।
मन्ये तदीयं सर्वस्वं मुष्णासि त्वं निगूहसे ॥ २० ॥
क्रीडन्त्यो हास्यवचनैः सर्वाः स्वं स्वं गृहं ययुः ।

(अच्छा हम मान लेती हैं) यदि कोई नृसिंह तेरे दृष्टिगोचर हो ही गया तो तूने उसका त्याग कैसे कर दिया ? (इससे ज्ञात होता है कि) निश्चय ही तूने उसे शयन करते हुए देखा है । मैं खूब समझती हूँ, तूने उसका सर्वस्व चुरा लिया है और अब हमसे छिपा रही है । इस प्रकार हास्ययुक्त वचनोंद्वारा क्रीडा करती हुई वे सभी कन्याएँ अपने-अपने घर चली गयीं ॥ २०½ ॥

प्रहस्य विषया कन्या शुश्राव पुटभेदने ॥२१॥
विवाहोत्सवकार्याणां पणवानां तु निःस्वनम् ।
गायन्तीनां पुरन्ध्रीणां संगीतध्वनिमिश्रितम् ॥ २२ ॥
सूर्यं दृग्भ्यां प्रपश्यन्ती प्रार्थयन्ती पतिं प्रियम् ।

कुमारी विषया भी हँसकर चल दी । जब नगरमें होते हुए विवाहोत्सवके अवसरपर बजनेवाले नगारोंके शब्दको, जो गान करती हुई सौभाग्यवती स्त्रियोंकी संगीतध्वनिसे मिश्रित था, उसने सुना, तब वह अपने दोनों नेत्रोंसे सूर्यदेवकी ओर देखकर उनसे अपने प्रियतम पतिकी प्राप्तिके लिये प्रार्थना करने लगी ॥ २१-२२½ ॥

विषया गृहमागत्य हृष्टा सा प्रियदर्शनात् ॥२३॥
सप्तभूमिकमास्थाय मन्दिरं सा व्यलोकयत् ।

तत्पश्चात् प्रियतम पतिके दर्शनसे आह्लादित हुई वह विषया अपने घर आयी और सात भूमिक (तल्ले) वाले भवनके ऊपरी छतपर बैठकर चारों ओर देखने लगी ॥

चन्द्रहासोऽपि सायाह्ने प्रबुद्धः सिंहविक्रमः ॥ २४ ॥

प्रक्षालितास्यः कृतवक्त्रशुद्धिः
पल्याणयुक्तं हयमारुरोह ।
चतुर्भिरेवानुगतः स्वभृत्यैः
पुरं विवेशाप्रतिमप्रभावः ॥ २५ ॥
यस्मिन् पुरे धर्ममतिः सुमन्त्री
राजा परं ध्यानपरः स योगी ।
आस्ते परं गालवसूक्तिमुक्ता-
फलानि गृह्णन्निशं विचिन्तयन् ॥ २६ ॥

इधर सायंकाल होनेपर सिंह-तुल्य पराक्रमी चन्द्रहासकी भी नींद टूटी । तब उसने अपना मुँह धोया और आचमन आदि करके मुखको शुद्ध किया। फिर वह जीन आदि सामग्रीसे सुसज्जित घोड़ेपर सवार हुआ । तत्पश्चात् अनुपम प्रभाववाले चन्द्रहासने जिस नगरमें गालवमुनिकी सुन्दर उक्तिरूपी मोतियोंको ग्रहण करके निरन्तर सद्विचारोंमें लीन, धर्मबुद्धि, सुन्दर मन्त्रणा करनेवाला, भगवद्ध्यानपरायण, परम योगी राजा निवास करता था, उस नगरमें अपने उन्हीं चारों सेवकोंके साथ प्रवेश किया ॥ २४–२६ ॥

चन्द्रहासो धृष्टबुद्धिभवनं प्राप सत्वरः ।
अवतीर्य हयात् तस्माद् द्वाःस्थं वचनमब्रवीत् ॥ २७ ॥

वहाँ चन्द्रहास तुरंत ही धृष्टबुद्धिके घरपर जा पहुँचा और अपने उस घोड़ेकी पीठसे नीचे उतरकर द्वारपालसे इस प्रकार कहने लगा—॥ २७ ॥

अन्तः कथय रे द्वाःस्थ मदनं प्रति मे वचः ।
श्रीमद्धृष्टमतेर्वाक्यकारकश्चन्द्रहासकः ॥ २८ ॥
प्राप्तो वचनसंदेशकथापत्रधरो बहिः ।

'रे द्वारपाल ! तू भीतर जाकर मदनसे मेरी बात कह दे कि श्रीमान् धृष्टबुद्धिकी आज्ञाका पालन करनेवाला चन्द्रहास उनके वचन-संदेशसे परिपूर्ण पत्र लेकर आया हुआ है और बाहर खड़ा है' ॥ २८½ ॥

शिर आनम्य स द्वाःस्थः स्वामिनं मदनं ययौ ॥ २९ ॥
शंसितुं चन्द्रहासं तं पार्थाकर्णय विस्मयम् ।

यह सुनकर उस द्वारपालने सिर झुकाकर वह आज्ञा शिरोधार्य की और फिर वह चन्द्रहासके आगमनकी सूचना देनेके लिये अपने स्वामी मदनके पास चल दिया । पार्थ ! अब उस समयकी आश्चर्यजनक बात सुनो ॥ २९½ ॥

स द्वाःस्थो ह्यपरं द्वाःस्थं गत्वा वचनमब्रवीत् ॥ ३० ॥
चन्द्रहासमनुप्राप्तं मदनाय निवेदय ।
द्वितीयो द्वाःस्थमागम्य तृतीयं वाक्यमब्रवीत् ॥ ३१ ॥

वह द्वारपाल दूसरे द्वारपालके पास जाकर उससे यों कहने लगा कि तुम स्वामी मदनके पास जाकर निवेदन कर दो कि चन्द्रहास आये हुए हैं । तब दूसरा तीसरे द्वारपालके पास आकर ऐसा ही कहा ॥ ३०-३१ ॥

तृतीयस्तु चतुर्थं च चतुर्थः पञ्चमं तथा ।
पञ्चमश्चागमत् षष्ठं षष्ठः सप्तममाव्रजत् ॥ ३२ ॥

इसी प्रकार क्रमशः तीसरा चौथेके पास, चौथा पाँचवेंके पास, पाँचवाँ छठेके पास और छठा सातवेंके पास गया ॥

द्वाःस्थं विवेकनामानं मदनस्य प्रियं सदा।
श्रद्धायष्टिधरं षष्ठश्चन्द्रहासं न्यवेदयत् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार छठे द्वारपालने विवेक नामवाले सातवें द्वारपालसे, जो श्रद्धारूपी सोंटा धारण करनेवाला और सदैव मदनका प्यारा था, चन्द्रहासके आगमनका समाचार निवेदन किया ॥ ३३ ॥

नारद उवाच

विवेकनामा द्वाःस्थोऽयं श्रद्धायष्टिं करे दधत्।
प्रययौ मदनायाशु चन्द्रहासं निवेदितुम् ॥ ३४ ॥

नारदजी कहते हैं—अर्जुन ! तब वह विवेक नामक द्वारपाल हाथमें श्रद्धारूपी डंडा लेकर मदनसे चन्द्रहासके आगमनकी सूचना देनेके लिये शीघ्र ही चल दिया ॥ ३४ ॥

सिंहासने चोपविष्टं मदनं शङ्करप्रियम्।
ददर्श दक्षिणे पार्श्वे वेदशास्त्रविदो जनान् ॥ ३५ ॥
कवीन् सदुक्तिकर्तॄंश्च वक्तॄन् कृष्णगुणान् बहून्।
कृष्णवेषनटान् कृष्णगीतनृत्यप्रगायकान् ॥ ३६ ॥
कृष्णस्य कृष्णभक्तानां वन्दिनो गुणवर्णकान्।
वामपार्श्वे क्षत्रियांश्च कृष्णभक्तिपरायणान् ॥३७॥
नानादेशसमायातान् दूताञ्छास्त्रविशारदान्।
चामरैर्वीज्यमानं च मदनं धृष्टबुद्धिजम्।
विवेकनामा द्वाःस्थस्तं नमस्कृत्यालपद् गिरम् ॥३८॥

वहाँ पहुँचकर उसने भगवान् शंकरके प्रिय भक्त मदनको सिंहासनपर बैठा हुआ देखा । उनके दाहिनी ओर वेद-शास्त्रके ज्ञाता विद्वान्, कवि, उत्तम कहावतें कहनेवाले, नाना प्रकारसे श्रीकृष्णके गुणोंका वर्णन करनेवाले, श्रीकृष्णके-से वेष धारण करनेवाले तथा उनके गीत और नृत्यका प्रदर्शन करनेवाले नट तथा श्रीकृष्ण और उनके भक्तोंके गुणोंका वर्णन करनेवाले वंदीजन बैठे हुए थे एवं मदनके वामपार्श्वमें श्रीकृष्णभक्तिपरायण क्षत्रिय और नाना देशोंसे आये हुए शास्त्रविशारद दूत विराजमान थे । उन धृष्टबुद्धिकुमार मदनके ऊपर चँवर डुलाये जा रहे थे । तब उस विवेक नामक द्वारपालने उन्हें नमस्कार करके यों कहना आरम्भ किया ॥ ३५—३८ ॥

विवेक उवाच

केवलं तव भृत्योऽहं प्रियश्च न पितुस्तव।
पितुस्तेऽन्यः क्रोधनामा हिंसायष्टिधरः प्रियः ॥ ३९ ॥

विवेकने कहा—स्वामिन् ! मैं तो केवल आपका ही सेवक हूँ, आपके पिताको मैं अच्छा नहीं लगता; क्योंकि आपके पिताको तो एक दूसरा क्रोध नामक द्वारपाल प्रिय है, जो हिंसारूपी डंडा धारण किये रहता है ॥ ३९ ॥

स स्वामिभक्तो मदन यावन्नायाति ते सदः।
तावन्मदीयं वचनं शृणु सभ्यैः समन्वितः ॥ ४० ॥

मदनजी ! वह स्वामिभक्त क्रोध जबतक आपकी सभामें नहीं आ जाता है, उससे पहले ही इन सभासदोंके साथ बैठे हुए आप मेरी बात सुन लीजिये ॥ ४० ॥

यश्चिन्त्यते सदा शान्तैर्योगिभिर्मधुसूदनः।
तस्य भक्तश्चन्द्रहासः प्राप्तो द्वारं महामते ॥ ४१ ॥

महाबुद्धे ! शम-दमसम्पन्न योगी जिन मधुसूदनका सदा ध्यान करते रहते हैं, उन्हींका भक्त चन्द्रहास आपके द्वारपर आया हुआ है ॥ ४१ ॥

अहं तव पितुर्भीतः क्रोधस्यानुचरस्य च।
न यामि शंसितुं किंचित् प्राप्तं त्वां प्रति न ब्रुवे ॥४२॥
जनस्तव पितुः प्रेष्यः स्वयं वा मां हनिष्यति।

मैं तो आपके पिताजीसे तथा उनके अनुचर क्रोधसे बहुत डरता हूँ, इसीलिये यदि कोई आपसे मिलने आता है तो मैं उसकी सूचना देनेके लिये न आपके पास आता हूँ और न उसीसे कुछ कहता हूँ; क्योंकि ऐसा जानकर आपके पिताका सेवक वह क्रोध अथवा स्वयं आपके पिताजी ही मुझे मार डालेंगे ॥ ४२½ ॥

इत्थं मनोरमं तस्य वचनं शास्त्रसम्मितम् ॥ ४३ ॥
उत्तस्थौ च समाकर्ण्य मदनस्तैः सभाजनैः।

उस विवेक नामवाले द्वारपालके ऐसे शास्त्रसम्मत एवं मनोहर वचन सुनकर मदन उन सभासदोंके साथ अपने सिंहासनसे उठकर खड़ा हो गया (और दरवाजेकी ओर चल पड़ा) ॥

स्खलद्दुकूलाभरणः प्राञ्चलं च समुत्क्षिपत् ॥४४॥
क्षणाद् ददर्श मदनश्चन्द्रहासं हरेः प्रियम्।

चलते समय मदनके रेशमी वस्त्र और आभूषण यत्र-तत्र खिसकते जा रहे थे। वह अपने दुपट्टेके अञ्चलको कंधेपर

फेंकता जाता था। इस प्रकार क्षणभरमें द्वारपर पहुँचकर उसने भगवान् श्रीहरिके भक्त चन्द्रहासका दर्शन किया ॥ ४४½ ॥

नमस्कृत्याभिलिङ्ग्याथ सभां रम्यां समानयत् ॥४५॥
वरासने संनिवेश्य सम्पूज्य मदनोऽब्रवीत्।

फिर तो मदनने चन्द्रहासको प्रणाम करके उसे गले लगाया और फिर वह उसे आदरपूर्वक अपनी रमणीय सभामें ले आया। वहाँ एक श्रेष्ठ आसनपर बैठाकर भलीभाँति स्वागत-सत्कार करनेके पश्चात् मदनने उससे पूछा—॥ ४५½ ॥

कच्चित् कुलिन्दः कुशली कच्चित् कुशलिनी प्रिया ४६
कच्चित् ते विषये विप्रा वेदाभ्यासं प्रकुर्वते।
कच्चित् क्षत्रियविट्शूद्राः पूजयन्ति द्विजान् धनैः ।४७।
कच्चित् प्रजा नो पिशुनैर्बाध्यन्ते दुःखदैः करैः।
अपि त्वं कुशली प्राप्तश्चिन्तयन् मनसा हरिम् ॥४८॥
किमत्रागमने कार्यं तदाचक्ष्व जनप्रियम्।

'राजा कुलिन्द सकुशल तो हैं न ? उनकी प्यारी रानी भी कुशलसे हैं न ? क्या आपके राज्यमें ब्राह्मण वेदाभ्यास करते हैं ? क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र धन आदि प्रदान करके उन ब्राह्मणोंका आदर-सत्कार करते हैं ? आपकी प्रजा चुगलखोरों तथा कष्टदायक करों (टैक्सों) द्वारा पीडित तो नहीं रहती ? आप मार्गमें मनसे श्रीहरिका ध्यान करते हुए कुशलपूर्वक तो आये हैं न ? किस जन-हितकारी कार्यके लिये आपका यहाँ शुभागमन हुआ है ? उसे बतानेकी कृपा कीजिये' ॥

चन्द्रहास उवाच

युष्मादृशां सतां सङ्गाद् विपदो यान्ति संक्षयम् ॥४९॥
कृष्णे तु भक्तिः सुदृढा जायते मुक्तिदा नृणाम्।

चन्द्रहासने उत्तर दिया—मन्त्रिपुत्र ! आप-जैसे सत्पुरुषोंकी संगतिसे विपत्तियोंका सर्वथा विनाश हो जाता है और भगवान् श्रीकृष्णमें सुदृढ़ भक्ति उत्पन्न हो जाती है, जो मनुष्योंको मुक्ति प्रदान करनेवाली है ॥ ४९½ ॥

संदेशात् ते पितुः प्राप्तः पत्रं गृहीष्व वाचय ॥५०॥
एकान्ते गूढमस्त्यत्र महत् कार्यं न वेद्मि तत्।

मैं आपके पिताजीका संदेश लेकर आया हूँ। इस पत्रको लीजिये और इसे एकान्तमें पढ़िये; क्योंकि इसमें कोई महान् गुप्त कार्य लिखा हुआ है; परंतु मुझे उसका कुछ भी पता नहीं है ॥ ५०½ ॥

करे गृहीत्वा मदनः पत्रं प्रोवाच विस्मितः ॥ ५१ ॥
शृण्वन्तु निखिलाः पत्रमेकान्ते करवाणि किम्।
अथ पत्रं सभामध्ये वाचयिष्यामि नान्यथा ॥५२॥
शृण्वतां सर्वलोकानां वाचयामास मन्त्रिजः।

यह सुनकर मदनको महान् विस्मय हुआ और वह उस पत्रको हाथमें लेकर कहने लगा—'मैं इस पत्रको एकान्तमें पढ़कर क्या करूँगा ? यहाँ पढ़नेसे ये उपस्थित सभी सभासद् भी तो सुनेंगे; इसलिये मैं इस पत्रको सभामें ही बाँचूँगा, इसके विपरीत एकान्तमें नहीं जाऊँगा।' ऐसा कहकर मन्त्रिकुमार मदन सब लोगोंके सुनते हुए उस पत्रको बाँचने लगा ॥

स्वस्त्यस्तु मदनायाशु विषयास्मै प्रदीयताम् ॥ ५३ ॥
न रूपं न कुलं शौर्यं मा विद्यां चावलोकय।

(उस पत्रमें लिखा था—) 'मदन ! तुम्हारा मङ्गल हो। तुम इसके रूप, कुल, पराक्रम और विद्याकी ओर कुछ भी ध्यान न देकर शीघ्र ही इसे विषया प्रदान कर देना' ॥५३½॥

इति पत्रे स्थितं वीक्ष्य हृषितो मदनोऽब्रवीत् ॥ ५४ ॥
अद्य मे पावितो वंशः पित्रा सर्वे च बान्धवाः।
मया यच्चिन्त्यते नित्यं स्वयमेवाभवच्च तत् ॥ ५५ ॥

पत्रमें लिखी हुई ऐसी बातको देखकर मदन हर्षमग्न हो कहने लगा—'आज पिताजीने मेरे वंशको तथा सारे भाई-बन्धुओंको पावन बना दिया। मैं जिसकी नित्य चिन्ता करता था, वह कार्य आज अपने-आप ही पूर्ण हो गया' ॥५४-५५॥

नारद उवाच

हर्म्यस्य सप्तमे पृष्ठे विषया काममोहिता।
सखीभिः सवयोभिस्तं चन्द्रहासमवैक्षत ॥ ५६ ॥

नारदजी कहते हैं—अर्जुन ! उधर कामसे मोहित हुई विषया अपनी समवयस्का सहेलियोंके साथ महलकी सातवीं छतपर बैठी थी, उसी समय उसकी दृष्टि उस चन्द्रहासपर पड़ी ॥ ५६ ॥

ध्यायन्ती मनसा देवीं पार्वतीं शङ्करप्रियाम्।
भर्तारं देहि मे देवि दाक्षायणि नमोऽस्तु ते ॥ ५७ ॥

तब वह मन-ही-मन शंकरप्रिया देवी पार्वतीका ध्यान करती हुई प्रार्थना करने लगी—'दक्षकुमारी ! आपको प्रणाम है। देवि ! मुझे पति प्रदान कीजिये ॥ ५७ ॥

त्वत्प्रियार्थं करिष्यामि व्रतं नभसि चागते।
कृष्णपक्षे तृतीयायां रात्रौ कृत्वा तु पूजनम् ॥ ५८ ॥
गन्धैश्च विविधैर्धूपैः पक्वान्नैर्मोदकादिभिः।
पुष्पमण्डपिकां कृत्वा मूर्तिं चित्रमयीं शुभाम् ॥ ५९ ॥
तोषयिष्यामि नक्तेन तथा जागरणेन च।
मदनस्य मुखाद् वाणी सत्या निर्यातु वेदवत् ॥ ६० ॥

'माता! श्रावणमास आनेपर मैं आपकी प्रसन्नताके लिये आपका व्रत करूँगी। उस मासके कृष्णपक्षकी तृतीया तिथिको रात्रिके समय मैं एक पुष्पमण्डप तैयार करके उसमें आपकी सुन्दर चित्रमयी मूर्ति स्थापित करूँगी और गन्ध, नाना प्रकारके धूप, पक्वान्न तथा मोदक आदिसे पूजन और रात्रिमें जागरण करके आपको संतुष्ट करूँगी। देवि! (आपकी कृपासे) मदनके मुखसे जो वाणी निकले, वह वेदके समान सत्य हो'॥

इति संचिन्तयन्तीं तां वयस्या काचिदब्रवीत्।
मनोरथस्ते किं जातः किं चिन्तयसि भामिनि ॥ ६१ ॥

विषया इस प्रकार विचार कर ही रही थी, तबतक कोई सखी बोल उठी—'भामिनि! तेरे मनमें कौन-सी इच्छा जाग्रत् हो गयी है? तू क्या सोच रही है?॥ ६१ ॥

तया चम्पकमालिन्या हसन्त्या यदुदाहृतम्।
वक्षो भित्त्वा निर्गतौ तौ भक्त्या किं ते रतिस्मरौ ॥ ६२ ॥
प्रियं प्रार्थय पूजार्थमनयोस्तापसं क्वचित्।
दृष्टः स तापसः प्राणानस्मै सा त्वं प्रयच्छ च ॥ ६३ ॥

'(क्या तू उस बातको सोच रही है) जो उस चम्पकमालिनीने हँसीमें तुझसे कहा था कि क्या तेरी भक्तिसे प्रसन्न होकर ये दोनों रति और कामदेव तेरे वक्षःस्थलको विदीर्ण करके निकल आये हैं? अच्छा, अब तू इन दोनोंकी पूजा करनेके लिये किसी प्रिय तपस्वीकी प्राप्तिके निमित्त प्रार्थना कर और उस तापसके मिल जानेपर तू उसे अपने प्राणोंको समर्पित कर दे'॥ ६२-६३ ॥

इत्थं सखीनां वचनेन बाला
प्रहर्षिताधोवदना लिलेख।
भूमिं पदाङ्गुष्ठनखेन भर्तु-
र्गुणानिवाग्र्यान् विषयातिनम्रा ॥ ६४ ॥

सखियोंकी ऐसी बात सुनकर सुन्दरी विषया परम प्रसन्न हुई और लज्जासे उसका मुख अवनत हो गया। फिर वह अत्यन्त नम्र होकर पैरके अँगूठेके नखसे पृथ्वीको इस प्रकार कुरेदने लगी मानो अपने पतिदेवके उत्तम गुणोंको लिख रही हो॥ ६४॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि चन्द्रहासमदनसम्भाषणं नाम चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें चन्द्रहास और मदनका सम्भाषणनामक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५४॥

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अर्जुनके पूछनेपर नारदजीद्वारा चन्द्रहास और विषयाके विवाहका वर्णन

अर्जुन उवाच

अतः परं किमभवन्मदनो धृष्टबुद्धिजः।
कथं विवाहमकरोद् विषयाचन्द्रहासयोः ॥ १ ॥
कथं च चन्दनावत्याः प्राप्तो मन्त्री स्वकं पुरम्।
किमब्रवीत् स मदनं तन्ममाचक्ष्व नारद ॥ २ ॥

अर्जुनने पूछा—नारदजी! इसके पश्चात् कौन-सी घटना घटी? धृष्टबुद्धिकुमार मदनने किस प्रकार विषया और चन्द्रहासका विवाह किया? मन्त्री धृष्टबुद्धि चन्दनावतीपुरीसे लौटकर अपने नगरको कैसे आया और घर आकर उसने मदनसे क्या कहा? वह सब बातें मुझे बताइये॥ १-२॥

नारद उवाच

अथ विप्रान् समाहूय ज्योतिःशास्त्रविशारदान्।
पप्रच्छ मदनो लग्नं विषयाचन्द्रहासयोः ॥ ३ ॥

नारदजीने कहा—अर्जुन! तदनन्तर मदनने ज्योतिःशास्त्रविशारद ब्राह्मणोंको बुलाकर उनसे विषया और चन्द्रहासके विवाहका लग्न पूछा॥ ३॥

गणकास्त्वब्रुवन् वाक्यं मदनं प्रति हर्षिताः।
शुक्रजीवावधिपती तृतीयैकादशं शुभम् ॥ ४ ॥

तब ज्योतिषीलोग हर्षित होकर मदनसे इस प्रकार कहने लगे—'मन्त्रिकुमार ! शुक्र और बृहस्पति वर-कन्याके स्वामी हैं और ये दोनों परस्पर तीसरे और ग्यारहवें पड़ रहे हैं; इसलिये शुभ है (अर्थात् विषयाकी राशि वृष है और चन्द्रहासकी मीन । वृषके स्वामी शुक्र और मीनके स्वामी बृहस्पति हैं । मीनसे वृष तीसरी राशि है और वृषसे मीन ग्यारहवीं राशि है । इस प्रकार वरकी राशिसे कन्याकी राशि तीसरी और कन्याकी राशिसे वरकी राशि ग्यारहवीं हो तो विवाह शुभ माना जाता है) ॥ ४ ॥

अनयोस्तव भाग्याच्च गोरजो भ्रियते पुनः।
पताका इव कुर्वन्त्यः पुच्छैरूर्ध्वमुखैः पुरम् ॥ ५ ॥
लक्षयित्वाभिधावन्त्यो गावो वत्सदिदृक्षवः।
त्रिगुणोद्भूतया रज्ज्वा बद्धं गोष्ठे हि चातुरम् ॥ ६ ॥

'साथ ही इन दोनों वर-कन्याके तथा आपके भाग्यसे इस समय गोधूलि वेला भी वर्तमान है । देखिये न, बछड़ोंको देखनेकी लालसासे गौएँ पूँछोंको पताकाओंकी भाँति फहराती हुई तथा मुँह ऊपर करके नगरकी ओर दौड़ती हुई आ रही हैं । इनके बछड़े गोष्ठमें तीन लड़ियोंवाली रस्सियोंसे बँधे हुए (अपनी माँसे मिलनेके लिये) आतुर हो रहे हैं ॥५-६॥

पश्य भाग्योदयं वत्स वैष्णवस्य समागमात्।
अद्यैव रुचिरं लग्नं सर्वदोषविवर्जितम् ॥ ७ ॥
गोधूलिकं वराहाद्यैरुदितं फलदं नृणाम्।

'वत्स ! इन विष्णु-भक्तके समागमसे आप अपने भाग्योदयकी ओर तो दृष्टि डालिये । आज ही समस्त दोषोंसे रहित एवं सुन्दर गोधूलिकालिक लग्न है । यह लग्न मनुष्योंको उत्तम फल देनेवाला होता है—ऐसा वाराह (मिहिर) आदि श्रेष्ठ ज्योतिषियोंने बता रखा है' ॥ ७½ ॥

तेषामाकर्ण्य वचनं मदनो हर्षनिर्भरः ॥ ८ ॥
आदिदेश पुरन्ध्रीस्ताः पातिव्रत्योपशोभिताः।
स्नापयन्त्वद्य विषयां चन्द्रहासं पृथक् पृथक् ॥ ९ ॥
सजलैः कलशैरार्द्रपल्लवैस्तन्तुभिर्युतैः।
परिधाप्य च वासांसि समानयितुमर्हथ ॥ १० ॥

उन ज्योतिषियोंकी बात सुनकर मदन आनन्दमें निमग्न हो गया । उसने पातिव्रत्य-धर्मसे सुशोभित सौभाग्यवती स्त्रियोंको आज्ञा दी कि 'अब तुमलोग जिनके गलेमें रक्षा-सूत्र बँधे हुए हैं तथा जिनमें हरे-हरे पल्लव डाले गये हैं, ऐसे जलपूर्ण कलशोंसे विषया और चन्द्रहासको अलग-अलग स्नान कराओ और फिर उन्हें (नूतन माङ्गलिक) वस्त्र पहनाकर यहाँ ले आओ' ॥ ८—१० ॥

रक्तचन्दनवर्णाढ्यो मदनस्तमुपाययौ।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते चन्द्रहास महामते ॥ ११ ॥
पतिव्रताकरधृतैः कलशैः स्नाहि वारुणैः।

स्त्रियोंसे ऐसा कहकर रक्तचन्दनके अनुलेपसे सुशोभित मदन स्वयं ही चन्द्रहासके पास गया और कहने लगा—'महाबुद्धिमान् चन्द्रहासजी ! आपका कल्याण हो । अब आप उठिये और शीघ्र ही चलकर जिन्हें पतिव्रता नारियोंने अपने हाथोंमें धारण कर रक्खा है, ऐसे कलशोंके जलसे वरुणदेवता-सम्बन्धी मन्त्रोंके उच्चारणपूर्वक स्नान कीजिये' ॥ ११½ ॥

नारद उवाच

सुस्नातं चन्द्रहासं तं गृहे रम्ये न्यवेशयत् ॥ १२ ॥
मदनः साधुशब्दादिमधुपर्कमचीकरत्।
जायया तारकाक्ष्या च पादप्रक्षालनं कृतम् ॥ १३ ॥

नारदजी कहते हैं—अर्जुन ! जब चन्द्रहास भलीभाँति स्नान कर चुका, तब मदनने उसे ले जाकर एक रमणीय भवनमें बैठाया और 'साधु भवानास्ताम्' आदि प्रक्रियाद्वारा मधुपर्क निवेदन किया तथा उसकी पत्नी तारकाक्षीने चन्द्रहासका पादप्रक्षालन किया ॥ १२-१३ ॥

तं चन्द्रहासं रमणीयवेष-
मन्तर्गृहे सोऽप्यनयत् सराद्धः।
स्वां कन्यकां तां विषयामथान्तरा
चित्रां पटीं मन्त्रयुतैरधारयत् ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् मदन रमणीय वेषधारी उस चन्द्रहासको भी भवनके भीतर ले गया और वहाँ घरके भीतर ही अपनी उस कन्या-तुल्य छोटी बहिन विषयाको मन्त्रोच्चारणपूर्वक विचित्र रेशमी साड़ी धारण कराया ॥ १४ ॥

पप्रच्छ गोत्रं मदनस्तदीयं
पितुः पितुस्तत्पितुराशु नाम।
स चन्द्रहासोऽप्यवदत् स्वगोत्रं
हरिः स्वयं मे जनकः स एव ॥ १५ ॥

पितामहः स प्रपितामहश्च
हरेर्न चान्योऽस्ति सुहृद् द्वितीयः ।
ऋते कुलिन्दाच्च गुरोर्मदीया-
दाधारशक्तेर्न च तस्य पत्न्याः ॥ १६ ॥

फिर मदनने शीघ्रतापूर्वक चन्द्रहाससे उसके गोत्र तथा पिता, पितामह और प्रपितामहका नाम पूछा । तब चन्द्रहासने अपने गोत्रका परिचय देते हुए कहा—'मेरा गोत्र साक्षात् श्रीहरि हैं और वे ही मेरे पिता, पितामह और प्रपितामह भी हैं । मेरे गुरु (पालक पिता) कुलिन्द और आधारशक्तिस्वरूपा उनकी पत्नीको छोड़कर इस संसारमें उन श्रीहरिके सिवा दूसरा कोई मेरा सुहृद्-बन्धु नहीं है' ॥

तच्चन्द्रहासीयमनन्यभावं
वचो निशम्यार्थपतिः स्वकामात् ।
स्वसारमुच्चैः प्रददाद् गिरास्मै
लक्ष्मीपतिस्तृप्तिमुपैतु दानात् ॥ १७ ॥

भगवान् श्रीहरिके प्रति अनन्य भावसे युक्त चन्द्रहासके उस वचनको सुनकर अर्थपति मदनने 'इस कन्यादानसे भगवान् लक्ष्मीपति तृप्तिको प्राप्त हों' यों उच्च स्वरसे उच्चारण करके स्वेच्छानुसार अपनी बहिनको चन्द्रहासके हाथमें समर्पित कर दिया ॥ १७ ॥

बद्धाञ्जली कुङ्कुमचर्चिताङ्गौ
तौ दम्पती प्रापतुराशु वेदिम् ।
हुताशनं तर्पितमाज्यपूरैः
परीयतुः सप्तपदान्ययाताम् ॥ १८ ॥

तदनन्तर जिनके शरीर कुङ्कुमसे चर्चित थे, ऐसे वे दोनों पति-पत्नी [चन्द्रहास और विषया] अञ्जलि बाँधे हुए शीघ्र ही वेदीके पास आये । वहाँ उन दोनोंने घीकी आहुतियोंसे भलीभाँति तृप्त किये गये अग्निदेवकी परिक्रमा की । फिर वे दोनों सात पग साथ-साथ चले (इस तरह सप्तपदीकी क्रिया पूर्ण हुई) ॥ १८ ॥

द्विजान् नमश्चक्रतुराशिषस्ताः
स्वीचक्रतुः कान्तिमवापतुस्तौ ।
पतिव्रतानां तिलकानि भाले
संदधतुः पत्रफलानि पाणौ ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् उन दोनोंने ब्राह्मणोंको प्रणाम करके उनके आशीर्वाद ग्रहण किये । उस समय उनकी बड़ी शोभा हो रही थी । उन दोनोंने ललाटमें पतिव्रता नारियोंद्वारा लगाया हुआ तिलक धारण किया था और अञ्जलिमें पत्र एवं फल ले रखे थे ॥ १९ ॥

ततोऽसौ मदनो हृष्टः प्रददौ मण्डनं बहु ।
गावश्च घटदोहिन्यो महिष्यः क्षीरसिन्धवः ॥ २० ॥
मुक्ताफलानि रत्नानि स्वच्छानि विविधानि च ।
वासांस्यगुरुकर्पूरचन्दनानि च वीर्यवान् ॥ २१ ॥

तदनन्तर उस पराक्रमी मदनने हर्षित होकर चन्द्रहासको बहुत-से आभूषण, घड़ेभर दूध देनेवाली गायें, दूधकी समुद्र-जैसी भैंसें, अनेक प्रकारके निर्मल मोती और रत्न, वस्त्र, अगुरु, कपूर और चन्दन दहेजमें दिये ॥ २०-२१ ॥

दत्त्वा तु मदनो दध्यौ किमस्मै दीयते मया ।
चन्द्रहासाय चात्मानमर्पयामीति मे मतिः ॥ २२ ॥

इतना सब देनेके पश्चात् मदन अपने मनमें विचार करने लगा कि मैं चन्द्रहासको क्या दे रहा हूँ अर्थात् यह तो कुछ भी नहीं है; इसलिये मेरी बुद्धिमें तो ऐसा जँचता है कि मैं अपने-आपको ही चन्द्रहासके अर्पण कर दूँ ॥२२॥

पश्यतां सर्वलोकानां मदनो वाक्यमब्रवीत् ।
इदं शिरःसरोजं च कालायास्मै गमिष्यते ॥ २३ ॥
यदा कदाचिद् दास्यामि क्रीडनार्थं कराम्बुजे ।

ऐसा विचारकर सब लोगोंके सामने ही मदनने इस प्रकार कहा—'चन्द्रहासके निमित्त मेरा यह सिर-कमल भी कालके हवाले किया जा सकेगा । जब कभी भी ऐसा अवसर आयेगा, मैं अपने इस सिरको क्रीडाके लिये इनके करकमलमें अर्पित कर दूँगा' ॥ २३½ ॥

यथायं चन्द्रहासो मे जामाता विषयान्वितः ॥ २४ ॥
पुत्रपौत्रैः परिवृतश्चिरकालं प्रशास्त्विमाम् ।
तथा भूयाच्च मे पुण्याद् विष्णोराराधनात्मकात् ।

(पुनः चन्द्रहासकी मङ्गल-कामना करते हुए उसने कहा—) 'मैंने जो भगवान् विष्णुकी आराधना की है, मेरे उस पुण्यके प्रभावसे ऐसा हो जाय, जिससे बहिन विषयाके साथ मेरे ये जामाता-तुल्य बहनोई चन्द्रहास पुत्र-पौत्रोंसे संयुक्त होकर चिरकालतक इस पृथ्वीका शासन करें' ॥ २४½ ॥

नानालंकरणैर्वस्त्रैः पूजयित्वाथ गालवम् ॥ २५ ॥
मदनः प्रत्युवाचाथ द्विजानन्यांश्च याचकान् ।

तदनन्तर मदनने नाना प्रकारके आभूषणों और वस्त्रों-

द्वारा गालव मुनिका तथा अन्य ब्राह्मणों और याचकोंका सत्कार करके उनसे कहा—॥ २५½ ॥

प्रातः सर्वैरलंकार्यं गृहं पूज्यतमैर्मम ॥ २६ ॥
यथाशक्त्या किङ्करोऽहं पूजयिष्यामि चाखिलान्।

'कल प्रातःकाल आप सभी पूजनीय महानुभाव अपने शुभागमनसे मेरे घरको अलंकृत करनेकी कृपा कीजियेगा। मैं आपलोगोंका एक किंकर हूँ। यथाशक्ति आप सभीका पूजन करूँगा' ॥ २६½ ॥

तान् विसृज्य द्विजान् सर्वांश्चन्द्रहासमभोजयत्॥२७॥
विषयासहितं कामो बुभुजे स्वजनान्वितः।

इस प्रकार उन सभी ब्राह्मणोंको विदा करके मदनने विषया और चन्द्रहासको भोजन कराया। तत्पश्चात् अपने भाई-बन्धुओंके साथ स्वयं भी भोजन किया ॥ २७½ ॥

सुष्वाप मदनः किंचिद् ब्राह्मे जाते समुत्थितः ॥ २८ ॥
कृत्वाऽऽत्मचिन्तनं पश्चादादिदेश वचोहरान्।

फिर मदन थोड़ी देरके लिये सो गया और ब्राह्म मुहूर्त आनेपर उठ बैठा। उस समय उसने आत्मचिन्तन करनेके पश्चात् अपने आज्ञाकारी सेवकोंको इस प्रकार आज्ञा दी—॥ २८½ ॥

मण्डपं रचयन्त्वेके चित्रयन्त्वद्य मन्दिरम् ॥ २९ ॥
सम्मार्जयन्तु केचिच्च चन्दनोदकसेचनैः।
उच्चैः क्रियन्तां विपुलाः पताका दण्डमण्डिताः ॥ ३० ॥

'तुमलोगोंमेंसे कुछ लोग एक मण्डपकी रचना करें, कुछ लोग महलकी सजावटमें जुट जायँ, कुछ लोग चन्दन-मिश्रित जलसे सींचकर गली-कूचोंको शुद्ध करें और कुछ लोग बड़ी-बड़ी पताकाओंको डंडोंसे सुशोभित करके उन्हें बहुत ऊँचाईपर फहरा दें' ॥ २९-३० ॥

नारद उवाच

तैस्तदाकारि बीभत्सो सेवकैरथ निर्मलाः।
दिशः कुर्वन् समुदितो विनतातनयो विपात् ॥ ३१ ॥
कथयन्निव लोकानां स्वामिनं समुपागतम्।
उत्थीयन्तां तु भो लोकाः क्रियतां वैदिको विधिः॥ ३२॥

नारदजी कहते हैं—बीभत्सो! उस समय मदनके सेवकोंने उसके कथनानुसार सारा कार्य पूर्ण कर दिया। इसी बीच जिनके चरण नहीं हैं, वे विनतानन्दन अरुण दिशाओंको प्रकाशित करते हुए उदित हुए, मानो वे अपने स्वामी सूर्य-देवके आगमनकी सूचना देते हुए लोगोंसे कह रहे थे कि 'ऐ प्राणियो! अब तुमलोग उठो और अपनी वेदोक्त संध्या-वन्दन आदि क्रियाएँ पूर्ण करो' ॥ ३१-३२ ॥

उदयाचलकूटस्थो रविः संनिहितोऽभवत्।
चन्द्रहासः समालोक्य ज्ञात्वा सम्यगथोज्ज्वलम्॥ ३३॥
रात्रिजं प्राणिनां चित्तमोहध्वान्तमपोथयत्।

इतनेमें ही चन्द्रहास भी पूर्ण रूपसे उजाला हुआ जानकर उठ बैठा। उसने देखा कि सूर्यदेव उदयाचलके शिखरपर स्थित होकर हमारे समीप आ गये हैं। इन्होंने प्राणियोंके चित्तका रात्रिजनित मोहरूपी अन्धकार नष्ट कर दिया है ॥ ३३½ ॥

विषयाचन्द्रहासौ तौ स्नापितौ विमलैर्जलैः ॥ ३४ ॥
हरिद्राचम्पकस्नेहैरुद्वर्त्य च पुरन्ध्रिभिः।
परिधाप्य च वासांसि मुकुटाभ्यामलंकृतौ ॥ ३५ ॥

तदनन्तर सौभाग्यवती स्त्रियोंने विषया और चन्द्रहासके शरीरमें हरिद्रामिश्रित चमेलीके तेलका उबटन लगाकर उन दोनोंको निर्मल जलसे स्नान कराया और उन्हें वस्त्र पहनाकर उनके मस्तकको मुकुटोंसे सुशोभित कर दिया ॥ ३४-३५ ॥

तौ दम्पती ततो वेदीमागतौ स्त्रीपुरस्कृतौ।
कृतस्वस्त्ययनौ विप्रैरुपविष्टौ वरासने ॥ ३६ ॥

तत्पश्चात् वे नवदम्पती उन स्त्रियोंके साथ वेदीके निकट आये। वहाँ ब्राह्मणोंने उनके लिये मङ्गलपाठ किया। फिर वे दोनों एक श्रेष्ठ आसनपर विराजमान हुए ॥ ३६ ॥

अथ प्राप्ता द्विजाः पूज्या वेदशास्त्रविशारदाः।
नराश्वगजदेहानां सम्यग्रक्षाश्चिकित्सकाः ॥ ३७ ॥
मागधा नर्त्तका गीतशिक्षका वंशधारिणः।
मृदङ्गवादका वेश्याः शैलूषा जलचित्रकाः ॥ ३८ ॥

इसके बाद वहाँ वेद-शास्त्रविशारद पूजनीय ब्राह्मण, मनुष्य, घोड़े और हाथियोंके शरीरोंकी सम्यक् रूपसे रक्षा एवं चिकित्सा करनेमें निपुण वैद्य, मागध, नर्तक, गीतोंकी शिक्षा देनेवाले, बाँसुरी तथा मृदंग बजानेवाले, वेश्याएँ, नट और जलतरंग बजानेवाले लोग आये ॥ ३७-३८ ॥

ऊर्ध्ववंशं समारुह्य ये क्रीडन्ति नराः क्षितौ ।
मुखाद् वह्नेर्महाज्वालामुत्सृजन्ति तथा च ये ॥ ३९ ॥
ढक्काडमरुजीवाश्च किन्नरा मधुरस्वराः ।
सूता ये च पुराणस्थानुच्चरन्ति नृपान् सदा ॥ ४० ॥
प्रेतलोकगताञ्छूरान् वर्णयन्ति च मागधाः ।
वर्तमानान् नृपान् सम्यग् ये तु संग्रामकारिणः ॥ ४१ ॥
वर्णयन्ति प्रबन्धैर्ये वन्दिनस्ते समाययुः ।
नानाबन्धेषु कुशला मल्लास्ते ब्रह्मचारिणः ॥ ४२ ॥

तथा भूतलपर घूम-घूम करके बाँसके ऊपर चढ़कर खेल दिखानेवाले लोग, अपने मुखसे अग्निकी बड़ी-बड़ी ज्वालाएँ प्रकट करनेवाले बाजीगर, डफली और डमरू बजाकर जीविका-निर्वाह करनेवाले याचक, मधुर स्वरसे गान करनेवाले किन्नर, सदा पुराणोंमें वर्णित राजाओंकी कीर्तिका गान करनेवाले सूत, यमलोकमें गये हुए शूरवीरोंका यशोगान करनेवाले मागध, जो संग्राम करनेवाले भूतलपर वर्तमान नरेशोंका उत्तम छन्द-प्रबन्धोंद्वारा सम्यक् रूपसे वर्णन करते हैं, ऐसे बंदी और नाना प्रकारके दाव-पेचोंमें कुशल ब्रह्मचारी पहलवान भी वहाँ उपस्थित हुए ॥ ३९—४२ ॥

एवं नानाविधैर्लोकैः संकीर्णं तस्य मन्दिरम् ।
मदनस्याभवत् पार्थ तृष्णैका न समागता ॥ ४३ ॥

पार्थ ! इस प्रकार वहाँ आये हुए नाना प्रकारके मनुष्योंसे मदनका वह भवन खचाखच भर गया; परंतु एक तृष्णा ही वहाँ नहीं आयी ॥ ४३ ॥

अन्ये सर्वे जनाः प्राप्ता लाभकौतुकवीक्षया ।
तेभ्यो रत्नानि वासांसि काञ्चनं प्रददौ बहु ॥ ४४ ॥

अन्य समस्त मनुष्य जो लाभ और कौतुक देखनेकी इच्छासे वहाँ आये हुए थे, मदनने उन्हें बहुत-सा रत्न, वस्त्र और सोना प्रदान किया ॥ ४४ ॥

अनुक्रमात् स मदनो विनयाढ्यैर्वचोऽमृतैः ।
सुहृत्सम्बन्धिनः सर्वांस्तोषयामास भारत ॥ ४५ ॥

भरतवंशी जनमेजय ! तत्पश्चात् मदनने यथाक्रम अपने सम्पूर्ण सुहृदों तथा सम्बन्धियोंको विनयपूर्ण एवं अमृतके समान मधुर वचनोंसे संतुष्ट किया ॥ ४५ ॥

हृष्टपुष्टजनाकीर्णं तदभूत् कौन्तलं पुरम् ।
वैष्णवागमनात् पार्थ विष्णुभक्तेः फलं शृणु ॥ ४६ ॥

पार्थ ! विष्णु-भक्त चन्द्रहासके आगमनसे उस समय वह कुन्तलपुर हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे व्याप्त हो गया । अब तुम विष्णु-भक्तिका फल (प्रभाव) सुनो—॥ ४६ ॥

अकैतवं हृषीकेशं ध्यायन्ति मनसा सदा ।
तेषां विघ्नगणाः पार्थ किं करिष्यन्ति निर्बलाः॥ ४७ ॥

पृथानन्दन ! जो लोग सदा निष्कपटभावसे मनोयोग-पूर्वक भगवान् हृषीकेशका ध्यान करते रहते हैं, उनके सामने विघ्नसमूह निर्बल पड़ जाते हैं, अतः वे उनका क्या बिगाड़ सकते हैं ? ॥ ४७ ॥

विषमस्मै प्रदातव्यमिति हेतोश्च मन्त्रिणा ।
प्रेरितश्चन्द्रहासोऽयं विषयां प्राप कन्यकाम् ॥ ४८ ॥

देखो न, मन्त्री धृष्टबुद्धिने इस चन्द्रहासको 'इसे विष दे दिया जाय' इस निमित्तसे कुन्तलपुर भेजा था, परंतु यहाँ आकर चन्द्रहासको उसकी कन्या विषया प्राप्त हो गयी ॥४८॥

भूमौ परवशो जन्तुरभिमानी भवेद् वृथा ।
हठाद् यः कुरुते जन्तुस्तन्न सिध्यति कर्हिचित् ॥ ४९ ॥

इस भूतलपर प्रारब्धके परवश हुआ प्राणी व्यर्थ ही अभिमान करने लगता है । जो (अभिमानवश दैवको टालकर) हठपूर्वक कार्य करना चाहता है, उसका वह कार्य कभी भी सिद्ध नहीं होता ॥ ४९ ॥

विवाहस्त्वभवज्जिष्णो विषयाचन्द्रहासयोः ।
अतः परं यदभवत् तदाकर्णय निश्चलः ।
अभक्तिभक्त्योर्माहात्म्यं पुंसां विस्मयकारकम् ॥ ५० ॥

विजयशील अर्जुन ! इस प्रकार विषया और चन्द्रहासका विवाह तो हो गया । तत्पश्चात् जो घटना घटी, वह भक्ति और अभक्तिके माहात्म्यसे पूर्ण तथा मनुष्योंको विस्मयमें डालनेवाली है । उसे तुम निश्चल मनसे श्रवण करो ॥ ५० ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि चन्द्रहासविवाहो नाम पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें चन्द्रहासके विवाहका वर्णन नामक पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

चन्दनावतीपुरीमें कुलिन्दको कैद करनेके पश्चात् धृष्टबुद्धिका भीषण अत्याचार, वहाँ लोभको अधिकारी बनाकर उसका कुन्तलपुरको प्रस्थान, मार्गमें तरह-तरहके अपशकुन होना, कुन्तलपुर पहुँचकर विवाहोत्सवके दर्शनसे कुपित होना और मदनको फटकारना, मदनके उसका पत्र दिखानेपर शान्त होना और चन्द्रहासके वधका उपाय सोचना

नारद उवाच

तस्यां तु चन्दनावत्यां कुलिन्दं निगडैर्दृढैः।
धृष्टबुद्धिर्बबन्धासौ दण्डयामास ताः प्रजाः॥ १॥

नारदजी कहते हैं—अर्जुन! उधर उस चन्दनावतीपुरीमें धृष्टबुद्धिने कुलिन्दको तो सुदृढ़ बेड़ियोंसे जकड़कर बाँध दिया और नगरनिवासिनी प्रजाओंको सताना आरम्भ किया॥१॥

कण्ठे बद्ध्वा शिलां तोये निमज्यार्थमयाचत।
ज्वलदग्नेरुपरि ताः प्रजा दध्रेऽर्थलिप्सया॥ २॥

वह उन प्रजाजनोंमें कुछ लोगोंके गलेमें पत्थर बाँधकर उन्हें जलमें डुबो देता और उनसे धन माँगता था। उसने धनकी लिप्सासे कितनी ही प्रजाओंको जलती हुई आगपर खड़ा कर दिया॥ २॥

अतूतुदत् स मांसानि शस्त्रैश्च पुरवासिनाम्।
अपाययच्चूर्णतोयं नासारन्ध्रेण कांश्चन॥ ३॥
दण्डयित्वा प्रजाश्चैवं धृष्टबुद्धिरथाब्रवीत्।

वह पुरवासियोंके शरीरके मांसोंको शस्त्रोंसे नोचवाकर उन्हें पीड़ा देने लगा। कितने ही लोगोंको नाकके छिद्रसे चूनेका पानी पीनेके लिये विवश कर दिया। इस प्रकार प्रजाओंको दण्ड देकर धृष्टबुद्धि कुलिन्दसे कहने लगा—॥३½॥

कुलिन्द त्वं हि रे मूढ मां न जानासि दारुणम्॥ ४॥
चन्द्रहासाश्रयेण त्वं गर्वितोऽसि धनागमात्।

'रे मूर्ख कुलिन्द! क्या तू नहीं जानता कि मैं कैसा भयंकर हूँ? तू चन्द्रहासके आश्रयसे थोड़ा धन प्राप्त हो जानेके कारण गर्वसे भर गया है?॥ ४½॥

द्रव्यं तत् प्रेषितं मह्यं तेन सार्धं भवान् कथम्॥ ५॥
नागतोऽसि विमूढात्मन् सेवकाः प्रेषितास्त्वया।
तेऽपि मत्ता मया दत्तमन्नमादन्न बालिशाः॥ ६॥

'मन्दबुद्धे! तूने (वार्षिक करके रूपमें) मेरे लिये जो धन भेजा था, उसके साथ स्वयं अपने-आप क्यों नहीं आया? नौकरोंको तूने क्यों भेजा? फिर उन मूर्ख एवं मतवाले सेवकोंने मेरे दिये हुए अन्नको खाया भी नहीं॥५-६॥

साम्प्रतं त्वं व्रतं दानं करोषि धनगर्वतः।
मदीयं नाशितं द्रव्यं निश्चलं तु त्वया व्ययात्॥ ७॥

'इस समय तू धनके घमंडमें भरकर दान-व्रत करने चला है? तूने मेरे बहुत दिनोंसे जमा किये हुए धनको खर्च करके नष्ट कर दिया?॥ ७॥

आशैशवात् कदाचिन्मे नास्यां पुरि शिवालयम्।
विष्ण्वालयं तडागानि वापीकूपमठाः प्रपाः॥ ८॥
ब्राह्मणानां गृहाश्चेह पुराणपठनं तथा।
न बभूवुरिदानीं तु सर्वतस्तन्मयी पुरी॥ ९॥
कृता त्वया मदीयेन वित्तेन निखिलेन च।
कुत्र वेश्मविदः सन्ति कुत्र ते शिल्पिनो गताः॥ १०॥
यैर्भक्षितं मदीयं तद् वसु सर्वं दुरात्मभिः।
क्व गता ब्राह्मणास्ते वै सर्वे पुर्यधिकारिणः॥ ११॥

'मैं अपने बचपनसे देखता आ रहा हूँ कि मेरी इस नगरीमें कभी भी कहीं शिवालय, विष्णुमन्दिर, पोखरे, बावड़ी, कुएँ, आश्रम, पौंसले और ब्राह्मणोंके घर नहीं थे तथा यहाँ पुराणोंकी कथाएँ नहीं हुआ करती थीं; परंतु इस समय तूने मेरा सम्पूर्ण धन लगाकर इस नगरीको चारों ओरसे उन पदार्थोंसे व्याप्त कर दिया है। गृह-निर्माणके ज्ञाता लोग अब कहाँ हैं? इनके बनानेवाले वे कारीगर कहाँ चले गये, जिन दुरात्माओंने मेरा वह सारा धन खा लिया? तथा जो इस नगरीके अधिकारी बने बैठे थे, वे सभी ब्राह्मण कहाँ चले गये?'॥ ८—११॥

इत्थं निर्भर्त्सयामास कुलिन्दं धृष्टधीस्तदा।
लोभमाहूय सचिवं सेवकं वाक्यमब्रवीत् ॥ १२ ॥
तृष्णया जायया सार्धं त्राहीमां चन्दनावतीम्।

उस समय धृष्टबुद्धिने कुलिन्दको इस प्रकार फटकारा। फिर अपने मन्त्री तथा सेवक लोभको बुलाकर कहा—'सचिव! तुम अपनी पत्नी तृष्णाके साथ यहीं रहकर इस चन्दनावतीपुरीकी रक्षा करो' ॥ १२½ ॥

इति संदिश्य तं पश्चाद् ययौ कौन्तलकं पुरम् ॥ १३ ॥
हर्षेण महता युक्त आदाय विपुलं धनम्।
पुत्रं मनसि संचिन्त्य चन्द्रहासं तथैव च ॥ १४ ॥

इस प्रकार लोभको आदेश देनेके पश्चात् धृष्टबुद्धि उस विपुल धनराशिको लेकर महान् हर्षके साथ कुन्तलपुर लौट जानेके लिये उद्यत हुआ। उस समय उसके मनमें अपने पुत्र मदन और चन्द्रहासके विषयमें ही विचार उठ रहे थे॥१३-१४॥

मदीयो मदनः पुत्रो विषं तस्मै प्रदास्यति।
तृतीयो दिवसो ह्यद्य चन्द्रहासे गते सति ॥ १५ ॥

(वह सोचने लगा—) 'मेरे पुत्र मदनने उसे विष दे दिया होगा; क्योंकि चन्द्रहासको गये आज तीसरा दिन बीत रहा है ॥ १५ ॥

एकेनावाप नगरं द्वितीये वासरे रिपुः।
प्राप्तो नूनं स मदनः सायाह्ने तत् करिष्यति ॥ १६ ॥
यामेनैकेन यास्यामि कृतकार्यः पुरं प्रति।

'मेरा वह शत्रु चन्द्रहास एक दिनमें कुन्तलपुर पहुँच गया होगा और दूसरे दिन वह निश्चय ही मदनसे मिला होगा। उसी दिन सायंकालके समय मदनने वह (विष-प्रदानरूप) कार्य पूर्ण कर लिया होगा। मेरा भी यहाँका कार्य पूर्ण हो चुका है, अतः अब मैं भी एक पहरके भीतर ही नगरमें पहुँच जाऊँगा' ॥ १६½ ॥

इति संचिन्त्य मनसा शिबिकामारुरोह सः ॥ १७ ॥
ऊढां च त्रिशतैः पुम्भिर्मत्स्यभुग्भिर्महाबलैः।

मनमें ऐसा विचारकर धृष्टबुद्धि उस पालकीमें जा बैठा, जिसे तीन सौ मत्स्यभक्षी महाबली धीवर वहन करते थे ॥१७½॥

पार्थ गच्छन् धृष्टबुद्धिः पापात्मा दण्डमाददे ॥ १८ ॥
वैणवं ग्रन्थिलं दीर्घं ताडयामास धीवरान्।
शीघ्रं गच्छत रे दुष्टा धीवरा मत्स्यभक्षकाः ॥ १९ ॥

पार्थ! चलते समय उस पापात्मा धृष्टबुद्धिने अपने हाथमें एक गाँठदार बाँसका लंबा डंडा ले रखा था। वह उसीसे धीवरोंको पीटते हुए कहने लगा—'रे मछली खानेवाले दुष्ट धीवरो! जल्दी-जल्दी चलो' ॥ १८-१९ ॥

तेऽब्रुवन्नपगच्छामो मन्त्रिञ्छीघ्रतरं प्रभो।
मा ताडय भृशं दण्डप्रहारैर्गच्छतो हि नः ॥ २० ॥

तब उन धीवरोंने कहा—'सामर्थ्यशाली मन्त्रीवर! हमलोग तो यों ही तीव्र गतिसे चल रहे हैं। इस प्रकार तेज चलते हुए हम लोगोंको डंडेके प्रहारोंसे पीड़ित न कीजिये ॥ २० ॥

नहुषस्य कुले जातो भवान् किं न मुनीश्वराः।
वयं स्म भूप मन्युत्वाद् भोगिराजं न कुर्महे ॥ २१ ॥
सुवाते पोतवज्जग्मुर्धीवरा ढीवराश्च ते।

'राजन्! क्या आप राजा नहुषके कुलमें उत्पन्न हुए हैं? परंतु हमलोग तो मुनीश्वर हैं नहीं; अतः क्रोध आनेपर भी हम आपको अजगर नहीं बना सकते।' यों कहकर वे धीवर और ढीवर उसी प्रकार तीव्र गतिसे दौड़ने लगे, जैसे वायुके अनुकूल होनेपर (जलमें) नौका भागने लगती है ॥

उपर्युपरि डीयन्ते काकाः स्म शिबिकां हठात् ॥ २२ ॥
चञ्च्वाभिघातं कुर्वन्ति पक्षतुण्डनखैश्च तम्।
एवं पार्थाभवत् तत्र विद्धि पापस्य चेष्टितम् ॥ २३ ॥

इतनेमें ही बहुत-से कौवे उस पालकीके ऊपर आकर हठपूर्वक मँडराने लगे और धृष्टबुद्धिके ऊपर अपने चोंचों, डैनों और नखोंसे प्रहार करने लगे। पार्थ! इस प्रकार वहाँ अपशकुन होने लगे। इसे तुम उसकी पापचेष्टाका ही परिणाम समझो ॥ २२-२३ ॥

तावत् पुरः प्रादुरभूद् विशालः
फणाभिराकाशमिवालिहन् वै।
पुच्छं निवेश्य क्षितिपृष्ठ एव
प्रोवाच सर्पो नृगिरा विषाढ्यः ॥ २४ ॥

उसी समय धृष्टबुद्धिके सामने एक ऐसा विशालकाय सर्प प्रकट हुआ, जो मानो अपने फनोंसे आकाशको चाट रहा था। तत्पश्चात् वह विषधर सर्प अपनी पूँछको भूतलपर ही टिकाकर मनुष्यकी-सी वाणीमें यों कहने लगा—॥ २४ ॥

त्वदीयसौवर्णघटेषु नित्यं
वसामि रक्षंस्तव सूनुना तत्।
स्थानं मदीयं किल नाशितं हि
गच्छामि ते स्वस्ति अलं विषादात् ॥ २५ ॥

'राजन्! मैं तुम्हारे सोनेसे भरे हुए घड़ोंकी रक्षा करता हुआ नित्य उन्हींके ऊपर निवास करता था, परंतु तुम्हारे पुत्रने निश्चय ही मेरे उस स्थानको नष्ट कर दिया; अब मैं यहाँसे जा रहा हूँ। तुम्हारा कल्याण हो। इस विषयमें तुम्हारा विषाद करना व्यर्थ है' ॥ २५ ॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं सर्पः पातालमाविशत्।
विसिस्माय स मूढात्मा नाजानाद् गूढपाद् वचः॥२६॥

ऐसी बात कहकर वह सर्प पातालमें प्रवेश कर गया। इधर सर्पकी बात सुनकर धृष्टबुद्धि महान् आश्चर्यमें पड़ गया। उसके चित्तपर मोह छा गया, अतः उस सर्पकी वे गूढ़ बातें उसकी समझमें न आयीं ॥ २६ ॥

धृष्टबुद्धिः पुनर्दण्डप्रहारैर्धीवरान् दृढम्।
उत्तिष्ठंश्चर्वयन्नोष्ठौ दन्तैर्दन्तांश्च पीडयन् ॥ २७ ॥
युष्माकं चरणान् ग्रामं गत्वा छेत्स्यामि मा चिरम्।

तदनन्तर धृष्टबुद्धि क्रोधके मारे पालकीमें उठकर खड़ा हो गया और दाँतोंसे होठोंको चबाते तथा दातोंको पीसते हुए उन धीवरोंपर पुनः कसकर दण्डप्रहार करके कहने लगा—'दुष्टो! देर मत करो, नहीं तो मैं नगरमें पहुँचकर तुमलोगोंके पैर कटवा लूँगा' ॥ २७½ ॥

इत्थं स पीडयन् प्राप्तो धीवरान् कौन्तलं पुरम् ॥२८॥
यामेनैकेन शुश्राव धृष्टधीस्तूर्यनिःस्वनम्।
चिन्तयामास मनसा कार्यं पुत्रेण तत् कृतम् ॥ २९ ॥

इस प्रकार उन धीवरोंको कष्ट देता हुआ धृष्टबुद्धि एक पहरमें कुन्तलपुरमें जा पहुँचा। उसी समय उसे तुरहियोंका शब्द सुनायी दिया। उसे सुनकर वह मनमें विचार करने लगा कि मेरे पुत्रने वह कार्य पूरा कर लिया है (इसीके उपलक्षमें ये बाजे बज रहे हैं) ॥ २८-२९ ॥

नारद उवाच

तस्माद् विमानादवरुह्य मूढः
पदातिरेकः प्रययौ पुरस्तात्।
ददर्श सूतानथ मागधान् बहून्
स्वलंकृतान् बन्दिन एव वस्त्रैः ॥ ३० ॥

नारदजी कहते हैं—अर्जुन! तब वह मूर्ख उस पालकीसे उतर पड़ा और पैदल ही अकेले शीघ्रतापूर्वक चलने लगा। आगे बढ़नेपर उसे वस्त्रोंसे सुसज्जित बहुत-से सूत, मागध और बंदी दिखायी पड़े ॥ ३० ॥

बन्दिन ऊचुः

आगच्छ शीघ्रं धृष्टबुद्धे सुतेन
कृतं कार्यं सूरिणा तच्च सर्वम्।
ब्रह्मायुस्ते चन्द्रहासस्य भूयात्
तथा सूनोर्मदनस्यातिदातुः ॥ ३१ ॥

बंदियोंने कहा—धृष्टबुद्धे! शीघ्र ही पधारिये। आपके बुद्धिमान् पुत्र मदनने वह सारा कार्य पूर्ण कर लिया है; अतः आपको, चन्द्रहासको तथा आपके परम दानी पुत्र मदनको ब्रह्माकी-सी लंबी आयु प्राप्त हो ॥ ३१ ॥

धृष्टबुद्धिरुवाच

आः पापा रे बन्दिनश्चन्द्रहासः
कोऽसौ दूराद् सर्पत हन्मि दण्डैः।
इत्यूचिवान् धृष्टबुद्धिः पुरस्तात्
पूज्यान् विप्रान् पूजितांश्चन्दनेन ॥ ३२ ॥
नानाक्षौमैर्भूषितान् भूषणैश्च
गृहान् स्वीयानागतानन्वपश्यत् ॥ ३३ ॥

(यह सुनकर) **धृष्टबुद्धि बोला**—अरे पापी बंदियो! यह चन्द्रहास कौन है? दूर हट जाओ, नहीं तो अभी डंडोंसे पीटूँगा। धृष्टबुद्धि यों बक ही रहा था कि आगे उसे अपने घर आये हुए ऐसे बहुत-से पूज्य ब्राह्मण दीख पड़े, जिनकी चन्दनद्वारा पूजा की गयी थी और जो नाना प्रकारके रेशमी वस्त्रों तथा आभूषणोंसे विभूषित थे ॥ ३२-३३ ॥

विप्रा ऊचुः

भूयादेवं स्वस्ति ते धृष्टबुद्धे
कुतो लब्धश्चन्द्रहासो वरोऽयम्।
भाग्योदयस्तव रम्यो विभाति
येनेदृशी कीर्तिरापूर्यते ते ॥ ३४ ॥

ब्राह्मणोंने कहा—धृष्टबुद्धे! आपका ऐसा ही कल्याण होता रहे। आपको वररूपमें यह चन्द्रहास कहाँसे प्राप्त हो गया? इस समय आपका सुन्दर भाग्य उदय होकर विशेषरूपसे प्रकाशित हो रहा है, इसी कारण आपकी ऐसी कीर्ति फैल रही है ॥ ३४ ॥

निशम्य तेषां वचनं दुरात्मा
जज्वाल मन्त्री किल वाडवोऽब्धौ ।
दण्डं समुद्यम्य कुतः पुरस्ताद्
गमिष्यथेत्यादि जजल्प विप्रान् ॥ ३५ ॥

उन विप्रोंके वचन सुनकर दुरात्मा धृष्टबुद्धि समुद्रमें वडवानलकी भाँति भीतर-ही-भीतर क्रोधसे जल उठा । फिर तो वह हाथमें डंडा लेकर उन ब्राह्मणोंसे यों कहने लगा—'खड़े रहो, मेरे सामनेसे भागकर कहाँ जाओगे ?' ॥ ३५ ॥

विप्राः पलायन्ति विसृज्य वासः
कृष्णाजिनं ते तु ततः स्खलन्तः ।
विमुक्तकेशाः स्खलदुत्तरीय-
यज्ञोपवीताः पथि निःश्वसन्तः ॥३६॥

यह सुनकर वे ब्राह्मण अपने वस्त्र तथा कृष्ण-मृगचर्मका परित्याग करके वहाँसे गिरते-पड़ते भागने लगे । उस समय उनकी चोटीके बाल खुल गये तथा मार्गमें उनके दुपट्टे और यज्ञोपवीत कंधेसे खिसककर गिरने लगे । वे लंबी साँसें खींच रहे थे ॥ ३६ ॥

ततो ददृशे गायका मन्त्रिणं ते
प्रोचू राज्यं चन्द्रहासो विधत्ताम् ।
स तांश्चक्रे भिन्नकपालवीणा-
मृदङ्गढक्कानकभेरिवंशान् ॥ ३७ ॥

आगे बढ़नेपर उसे आनन्दमग्न होकर गान करते हुए गवैये मिले । वे उस मन्त्रीसे कहने लगे—'यह चन्द्रहास चिर-कालतक राज्य करें ।' यह सुनकर धृष्टबुद्धिने उनके कपाल, वीणा, मृदङ्ग, डफली, ढोल, नगारे और बाँसुरियोंको तोड़-फोड़ डाला ॥ ३७ ॥

पश्यंश्चित्रं द्वारि वर्णैर्विचित्रं
प्रायाद् द्वाराभ्यन्तरं धृष्टबुद्धिः ।
नीराजितुं चम्पकाङ्ग्योऽभिजग्मु-
र्दीपान्विताः कुङ्कुमचर्चिताश्च ॥ ३८ ॥

यों दरवाजेपर पहुँचकर धृष्टबुद्धिने देखा कि उसकी दीवारोंपर नाना प्रकारके रंगोंसे सुन्दर चित्रकारी की गयी है, उसे देखता हुआ जब वह द्वारके भीतर ड्योढ़ीमें आया, तब वहाँ जो कुङ्कुम आदिसे सुसज्जित थीं, ऐसी चम्पाके-से वर्ण-वाली सुन्दरी स्त्रियाँ हाथमें दीपकयुक्त थाल लिये हुए उसकी आरती उतारनेके लिये सामने आयीं ॥ ३८ ॥

आह स्म ता धृष्टधीरुत्सवोऽयं
कस्मात् कुतः किं च लब्धं सुतेन ।
ऊचुर्मृगाक्ष्यस्तव सूनुनाद्य
लब्धोऽतिथिश्चन्द्रहासः कुलस्य ॥३९॥
दुष्टो मूढो धृष्टधीराह तस्मै
धनं दत्तं चन्द्रहासाय तेन ॥ ४० ॥

उस समय धृष्टबुद्धि उन स्त्रियोंसे पूछने लगा—'मेरे पुत्र मदनको कौन-सी वस्तु प्राप्त हो गयी है ? किसलिये वह यह उत्सव कर रहा है ?' तब उन मृगनयनी नारियोंने बताया कि 'इस समय आपके पुत्र मदनको अपने कुलके अतिथिस्वरूप चन्द्रहास प्राप्त हुए हैं ।' यह सुनकर दुष्ट प्रकृतिवाला मूर्ख धृष्टबुद्धि बोल उठा—'क्या मदनने उस चन्द्रहासको धन तो नहीं दे डाला ?' ॥ ३९-४० ॥

स्त्रिय ऊचुः

मैवं ब्रूहि चन्द्रहासाय तस्मै
दत्ता कन्या विषया पुत्रकेण ।
तासां वचःशल्यविभिन्नगात्रो
बिभ्रच्छोणे लोचने क्रोधयुक्तः ॥ ४१ ॥

तब उन स्त्रियोंने कहा—स्वामिन् ! ऐसा मत कहिये । (धनकी तो बात ही क्या ?) आपके पुत्रने तो उस चन्द्रहासको आपकी कन्या विषया समर्पित कर दी है । तब तो उन स्त्रियोंके वचनरूपी बाणोंसे उसका शरीर विदीर्ण-सा होने लगा । वह क्रोधसे आगबबूला हो उठा । उसके नेत्र अरुण वर्णके हो गये॥

ततः प्रायात् सप्तमद्वारमध्यं
यत्रास्तेऽयं द्वारपालो विवेकः ।
श्रद्धायष्टिस्तं च दृष्ट्वा ससार
प्राप्ते क्रोधे का विवेकस्य वार्ता ॥ ४२ ॥

तत्पश्चात् धृष्टबुद्धि, जहाँ श्रद्धारूपी छड़ी हाथमें लिये हुए विवेक नामका द्वारपाल खड़ा रहता था, उस सातवीं ड्योढ़ीपर आया । उसे देखते ही वह द्वारपाल वहाँसे चलता बना; क्योंकि क्रोधके आ जानेपर विवेककी बात कौन पूछता है ?॥

अथापश्यद् धृष्टधीर्वेदिकायां
तं चन्द्रहासं विषयां च कन्याम् ।
बद्धाञ्चलां चन्द्रहासाञ्चलेन
पुष्पोद्गुम्फमुकुटं बिभ्रतीं च॥ ४३ ॥

वहाँ पहुँचकर धृष्टबुद्धिने देखा कि वेदीके ऊपर वह चन्द्रहास और मेरी कन्या विषया—दोनों बैठे हुए हैं। विषया-के सिरपर पुष्पोंको गूँथकर बनाया हुआ मुकुट सुशोभित है और उसकी साड़ीका अञ्चल चन्द्रहासके दुपट्टेके अञ्चलसे बँधा हुआ है ॥ ४३ ॥

स्वेदो महान् वेपथुश्चास्य गात्रे
प्रादुर्बभूवाप्रतिमः शुष्कमास्यम् ।
क्रुद्धो दध्यौ किं कृतं मत्सुतेन
यन्नापश्यद् गूढपत्रं मदीयम् ॥ ४४ ॥

यह सब देखते ही धृष्टबुद्धि क्रोधसे तमतमा उठा। उसके भालपर स्वेदबिन्दु छलक आये, शरीरमें अतुलनीय महान् कम्प छा गया और मुख सूख गया। वह सोचने लगा कि मेरे पुत्रने यह क्या अनर्थ कर डाला, जो उसने मेरे गूढ़ पत्र-को ध्यानपूर्वक नहीं पढ़ा ॥ ४४ ॥

जामाताथो श्वशुरं वीक्ष्य पत्न्या
सहोत्थितः कुरुते स्म प्रणामम् ।
यथा व्याघ्रं बालमृगो विलोक्य
तथा चामुं नाभ्यनन्दद् गिरापि ॥ ४५ ॥

तदनन्तर अपने श्वशुरको देखकर जामाता चन्द्रहास अपनी पत्नी विषयाके साथ उठ खड़ा हुआ और उसे प्रणाम करने लगा; परंतु जैसे बालमृग व्याघ्रका अभिनन्दन नहीं करता, उसी प्रकार मूर्ख धृष्टबुद्धिने वाणीसे भी चन्द्रहासका अभिनन्दन नहीं किया ॥ ४५ ॥

अथ मदनमुपागतं प्रणम्रं
चरणयुगे वदति स्म धृष्टबुद्धिः ।
वद सुत किमकारि रे दुरात्मन्
मम च मनो न हि तोषमाजगाम ॥ ४६ ॥

तत्पश्चात् जब मदनने वहाँ आकर उसके दोनों चरणोंमें सिर झुकाकर प्रणाम किया, तब धृष्टबुद्धि उससे कहने लगा—'रे दुरात्मा पुत्र! बता, तूने यह क्या कर डाला? तेरे इस कार्यसे मेरा मन संतुष्ट नहीं हुआ' ॥ ४६ ॥

आह स्म तं मदनस्तात पत्रं
विलोक्याहं दत्तवान् स्वां स्वसारम् ।
वरायास्मै चन्द्रहासाय धेनू-
र्वासो हिरण्यं महिषीः कोटिशोऽद्य ॥४७॥

तब मदन उससे कहने लगा—'पिताजी! मैंने आपके पत्रको देखकर इस चन्द्रहास वरको इस समय अपनी बहिन विषया तथा वस्त्र, सुवर्ण, करोड़ों गौएँ और भैंसें प्रदान कर दी हैं ॥

कस्मात् तातः क्रुध्यति मां विलोक्य
कोशागारं पश्य रिक्तं कृतं तत् ।
नानादेशादागतेभ्यो द्विजेभ्यो
दत्तं द्रव्यं याचकेभ्योऽखिलेभ्यः ॥४८॥

'तात! आप मुझे देखकर किसलिये कुपित हो रहे हैं? चलिये देखिये न, मैंने अनेक देशोंसे आये हुए ब्राह्मणों तथा सम्पूर्ण याचकोंको सारा धन बाँटकर उस कोशागारको खाली कर दिया है' ॥ ४८ ॥

नारद उवाच

आः पापो यो धूनयन् स्वं कपालं
हस्ते हस्तं पेषयन्निःश्वसन् सः ।
प्रोवाचेदं धृष्टधीर्याहि घोरं
वनं भिक्षामट कृष्णाजिनी त्वम् ॥ ४९ ॥

नारदजी कहते हैं—अर्जुन! यह सुनकर पापी धृष्टबुद्धि 'आः' ऐसा कहकर अपना सिर पीटने लगा और लंबी साँस खींचता हुआ हाथसे हाथ मलने लगा। फिर उसने मदनसे यों कहा—'दुष्ट! तू गहन वनमें चला जा और काला मृगचर्म धारण करके भीख माँग' ॥ ४९ ॥

मदन उवाच

नैतच्चित्रं तात रामो वनं किं
पितुर्वाक्यान्निरगात् पुण्यकीर्तिः ।
तथा वनं तव वाक्यात् प्रयास्ये
परं न्यूनं किं कृतं मे विवाहे ॥ ५० ॥

तब मदनने कहा—पिताजी! यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। क्या पुण्यकीर्ति भगवान् राम अपने पिताजीकी आज्ञा-से वनको नहीं चले गये थे, उसी तरह मैं भी आपके आदेशसे वनमें चला जाऊँगा; परंतु यह तो बताइये कि मैंने इस विवाहमें कौन-सी न्यूनता कर दी (जिसके कारण आप रुष्ट हो गये हैं)? ॥ ५० ॥

नाहूतोऽयं देशपालः कुलिन्दः
पत्नी तदीया किं करोम्यल्पकाले ।
समायातस्तत्सुतोऽलेखि पत्रं
शीघ्रं बलं न मुहूर्तस्त्वथेत्थम् ॥५१॥

(हाँ, एक कमी अवश्य दीख पड़ती है कि) मैं उन देशपाल कुलिन्द तथा उनकी पत्नीको इस अवसरपर न बुला सका। इसमें भी मेरा दोष नहीं है; क्योंकि मैं क्या करूँ, थोड़ा ही समय शेष रहनेपर उनके पुत्र ये चन्द्रहास यहाँ आये और आपने भी तो उस पत्रमें ऐसा ही लिखा था कि बल आदिकी ओर दृष्टि न डालकर शीघ्रतापूर्वक कार्य सम्पन्न करना। इसके सिवा ऐसा उत्तम मुहूर्त भी दूसरा नहीं था॥

किं वाधुना यामि कुलिन्दमेकः
समाहूयात्रानयिष्ये नमस्ये।
न्यूनं नान्यद् विषयाया विवाहे
सर्वे दत्ता वाजिनो हस्तिनश्च।
बाहू शिरोऽदायि मया वराय
पूज्याय कृष्णानुचराय तात॥ ५२॥

क्या अब मैं अकेला चन्दनावतीपुरीको जाऊँ और कुलिन्दको यहाँ बुला लाऊँ तथा उन्हें नमस्कार करूँ? विषयाके विवाहमें इसके अतिरिक्त और कोई न्यूनता नहीं रह गयी है; क्योंकि मैंने हाथी-घोड़े आदि सभी वस्तुएँ प्रदान की हैं। पिताजी! मैंने तो इन श्रीकृष्णभक्त पूजनीय वर चन्द्रहासके लिये (समय पड़नेपर) अपनी दोनों भुजाएँ तथा सिर भी दे देनेका संकल्प कर लिया है॥ ५२॥

धृष्टबुद्धिरुवाच

दूरं प्रसर्प न मुखं मम दर्शयाद्य
पत्रं समानय निरीक्षय तत्र किंस्वित्।
तेनाहृतं पत्रमपश्यदेष
मन्त्री विधातुर्लिपिमन्वमंस्त॥ ५३॥

तब धृष्टबुद्धिने कहा—रे दुष्ट! जा, दूर हट जा, अब तू मुझे अपना मुख मत दिखला। जरा मेरे पत्रको तो ले आ और देख कि उसमें क्या लिखा है। तत्पश्चात् जब मदनद्वारा लाये हुए उस पत्रको मन्त्री धृष्टबुद्धिने देखा, तब उसकी समझमें यह बात आयी कि यह तो विधाताकी लिपि है अर्थात् विधाताने ही मुझसे ऐसा लिखवा दिया है॥

क्षणं दध्यौ सान्त्वयामास पुत्रं
सत्यं त्वदीयं किल वीक्षितं च।
मया त्वसौ चन्द्रहासो विसृष्ट-
स्तथा पत्रं लिखितं गूढभावम्॥ ५४॥
जातो दैवाद् विषयाया विवाहो
नाहं कर्त्ता न भवान् नापरोऽपि।

उस समय धृष्टबुद्धि क्षणभरतक विचार-विनिमग्न हो गया। फिर अपने पुत्र मदनको सान्त्वना देते हुए वह कहने लगा—'बेटा! निश्चय ही मैंने तेरे सत्यकी परीक्षा लेनी चाही थी। मैंने ही इस चन्द्रहासको तेरे पास भेजा था और वह रहस्यमय पत्र भी मेरा ही लिखा हुआ था। परंतु प्रारब्धवश विषयाका विवाह हो गया। इसका कर्ता न मैं हूँ, न तू है और न कोई दूसरा ही है (यह सब विधाताकी खेल है)'॥ ५४½॥

इत्थं समाश्वास्य सुतं दुरात्मा
तं चन्द्रहासं परिपूज्य दम्भात्॥ ५५॥
जाते चतुर्थे दिवसे चतुर्थी-
कर्म व्यधात् कैतवाद् धृष्टबुद्धिः।

दुरात्मा धृष्टिबुद्धिने इस प्रकार पुत्रको भलीभाँति आश्वासन देकर चन्द्रहासका भी दम्भपूर्वक आदर-सत्कार किया। फिर चौथा दिन आनेपर उसने छलपूर्वक चतुर्थी-कर्मका भी विधान सम्पन्न किया॥ ५५½॥

ततः परं दूयमानः स राजन्
कर्ता किमत्राद्य विपक्षपक्षे॥ ५६॥
कृतं मया ह्येकमहो द्वितीय-
मग्रे कथं कार्यममुष्य शत्रोः।
इत्थं निमग्नः स तु शोकसिन्धौ
कर्तव्यनौकारहितेऽल्पबुद्धिः॥ ५७॥

राजन्! तत्पश्चात् वह अपने मनमें दुखी होकर सोचने लगा—'अब इस शत्रुके विषयमें मुझे क्या करना चाहिये। अहो! मैंने एक (चाण्डालोंद्वारा वधरूपी) उपाय किया, पुनः दूसरा (विषदानरूपी) प्रयत्न किया; (परंतु ये दोनों निष्फल हो गये।) अब भविष्यमें इस शत्रुके वधके लिये कौन-सा कार्य करूँ?' इस प्रकार वह मन्दबुद्धि धृष्टबुद्धि शोक-सागरमें गोते लगाने लगा, परंतु उससे पार होनेके लिये उसे कोई कर्तव्यरूपी नौका न मिली अर्थात् उसे चन्द्रहासके वधका कोई उपाय न सूझा॥ ५६-५७॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि धृष्टबुद्धिसंतापो नाम षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५६॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें धृष्टबुद्धिका संताप नामक छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५६॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धृष्टबुद्धिका चन्द्रहासका वध करनेके लिये चाण्डालोंको चण्डिका-मन्दिरमें भेजना और सायंकाल-में चन्द्रहासको देवी-पूजनका आदेश देना, कुन्तल-नरेशका गालवमुनिद्वारा अरिष्टाध्याय सुनना और चन्द्रहासको अपनी कन्या चम्पकमालिनी तथा राज्य समर्पित करके वनमें जाकर निर्वाण प्राप्त करना, चन्द्रहासका चम्पकमालिनीके साथ गान्धर्व विवाह और राज्याभिषेक, चन्द्रहासके बदले मदनका चण्डिका-मन्दिरमें जाना और वहाँ चाण्डालोंद्वारा उसका वध

नारद उवाच

धृष्टधीश्चिन्तयामास विपरीतमभून्मम ।
दत्ता तु विषया कन्या वध्यायास्मदरातये ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—अर्जुन ! उस समय धृष्टबुद्धि विचार करने लगा कि यह सारा कार्य मेरी इच्छाके विरुद्ध ही हुआ । मैं तो चन्द्रहासका वध करना चाहता हूँ, परंतु इस मूर्ख पुत्रने मेरे शत्रुको मेरी कन्या विषया प्रदान कर दी ॥ १ ॥

अतः परं मया कार्यं किं कं गच्छामि बान्धवम् ।
पुत्रोऽयं मद्वशे नैव वर्तते मदनोऽमलः ॥ २ ॥

(अच्छा, जो हुआ सो हुआ) अब इसके पश्चात् मुझे क्या करना उचित है । (इसकी सलाहके लिये) मैं अपने किस सुहृद्-बन्धुके पास जाऊँ ? मेरा यह पुत्र मदन तो मेरे वशमें है नहीं । अमलकी भी वही दशा है ॥ २ ॥

आभ्यां मदीयं हि कुलं पुत्राभ्यां नाशितं ध्रुवम् ।
चन्द्रहासो विशेषेण नाशयिष्यति मत्कुलम् ॥ ३ ॥

इन दोनों पुत्रोंने तो निश्चय ही मेरे कुलको चौपट कर दिया । अब यह चन्द्रहास विशेषरूपसे मेरे वंशका विनाश कर डालेगा ॥ ३ ॥

विषया विधवा भूयात् करिष्याम्यनृतं वचः ।
मुनीनामिति संचिन्त्य चाण्डालांस्तानथाह्वयत् ॥ ४ ॥

अतः विषया विधवा क्यों न हो जाय; परंतु मैं मुनियोंका वचन असत्य करके ही रहूँगा । ऐसा विचारकर उसने उन चाण्डालोंको बुलवाया ॥ ४ ॥

एकान्ते संस्थितः पाप्मा संदिदेश शनैः शनैः ।
चण्डिकायतनं बाह्ये पुरादुपवने शुभे ॥ ५ ॥

करवालकराः सर्वे तत्र गच्छत मौनिनः ।
गूढं तस्य स्थिताः कोणद्वये निश्चलमानसाः ॥ ६ ॥

फिर एकान्तमें जाकर पापी धृष्टबुद्धि उन चाण्डालोंको धीमे स्वरसे आदेश देते हुए कहने लगा—'चाण्डालो ! नगरके बाहर उस सुन्दर बगीचेमें जो चण्डिका देवीका मन्दिर है, वहाँ तुम सब लोग चले जाओ और निश्चल मनसे मौन धारण करके हाथमें तलवार लिये हुए उस मन्दिरके दोनों कोनोंमें छिपकर बैठ जाओ ॥ ५-६ ॥

जाते पितृप्रसूकाले यः कश्चिदपि यास्यति ।
भवद्भिः स हि हन्तव्यो मा विचारयत ध्रुवम् ॥ ७ ॥

'सायंकाल होनेपर जो कोई भी वहाँ जायगा, उसे तुमलोग निश्चय ही मार डालना । इसमें किसी प्रकारका विचार मत करना ॥ ७ ॥

पूर्वं यथा वञ्चितोऽहं तथा मा कुरुताधुना ।
युष्माकं सम्पदामर्धं प्रदास्ये मदनांशकम् ॥ ८ ॥

'किंतु देखना, पहले जैसे तुमलोगोंने मुझे धोखा दे दिया था, वैसा इस समय मत करना । (कार्य सिद्ध हो जानेपर) मैं तुमलोगोंको मदनके हिस्सेकी आधी सम्पत्ति दे दूँगा' ॥ ८ ॥

तस्य वाक्यं समाकर्ण्य तेऽन्त्यजाश्चण्डिकालयम् ।
जग्मुः प्रच्छन्नवेषाश्च तृतीयप्रहरे सति ॥ ९ ॥

धृष्टबुद्धिकी बात सुनकर वे चाण्डाल तीसरा पहर होनेपर अपने वेष छिपाकर चण्डिका-मन्दिरको चले गये ॥ ९ ॥

धृष्टबुद्धिश्चन्द्रहासं विनयाद् वाक्यमब्रवीत् ।
चन्द्रहास महाप्राज्ञ शृणु मे वचनं हितम् ॥ १० ॥

इधर धृष्टबुद्धिने चन्द्रहाससे विनयपूर्वक इस प्रकार

कहा—'महाबुद्धिमान् चन्द्रहास ! तुम मेरे हितकारी वचनोंपर ध्यान दो ॥ १० ॥

अस्माकं हि कुले देवी चण्डिका पूज्यते किल।
कृतोद्वाहो भवानद्य तां नमस्कुरु तारकाम् ॥ ११ ॥

'हमारे कुलमें (विवाह आदि माङ्गलिक अवसरोंपर) चण्डिका देवीके पूजनकी प्रथा है और तुम्हारा अभी-अभी विवाह हुआ है, अतः आज तुम भी संकटसे तारनेवाली उन भगवतीको नमस्कार करने जाओ ॥ ११ ॥

सायंसंध्यां विधायाशु पुष्पाण्यादाय चन्दनम्।
एकः प्रयाहि तां देवीं पुरबाह्यकृतालयाम् ॥ १२ ॥
पूजितुं च नमस्कर्तुमित्यादिश्य कुधीः स्थितः ।
ओमित्युक्त्वा ततो वाक्यं चन्द्रहासो ह्यकैतवात् ॥ १३॥

'तुम शीघ्र ही सायंकालिक संध्या-वन्दन कर लो और पुष्प-चन्दन लेकर अकेले ही उन देवीका पूजन तथा उन्हें नमस्कार करनेके लिये वहाँ चले जाओ। वे चण्डिकादेवी नगरके बाहरवाले मन्दिरमें विराजमान हैं।' ऐसा आदेश देकर वह दुष्टबुद्धि धृष्टबुद्धि चुपचाप बैठ गया। तब चन्द्रहासने सरलभावसे 'ॐ—बहुत अच्छा' ऐसा कहकर उसकी आज्ञा स्वीकार कर ली ॥ १२-१३ ॥

स संध्यावन्दनं कृत्वा गन्तुकामो बभूव ह ।
अम्बिकालयमेवासौ चन्द्रहासो महायशाः ॥ १४ ॥

फिर तो महायशस्वी चन्द्रहास संध्या-वन्दन करके अकेले ही अम्बिकामन्दिर जानेको उद्यत हुआ ॥ १४ ॥

नारद उवाच

एतस्मिन्नन्तरे पार्थ राजा कौन्तलपः सुधीः।
गालवं तं समाहूय देहचेष्टामथाब्रवीत् ॥ १५ ॥

नारदजी कहते हैं—पार्थ ! इसी अवसरपर कुन्तलपुरकी रक्षा करनेवाले बुद्धिमान् नरेश अपने पुरोहित गालव मुनिको बुलाकर उनसे अपने शरीरकी दशाका वर्णन करते हुए कहने लगे—॥ १५ ॥

स्वामिन् गालव भूलोके राज्यं मे कुर्वतो न हि ।
सुखमस्ति तनुच्छायामशिरस्कां विलोकये ॥ १६ ॥

'स्वामिन् ! गालव ! अब इस भूलोकपर राज्य करते हुए मुझे सुखका अनुभव नहीं हो रहा है; क्योंकि मुझे अपने शरीरकी छाया मस्तकहीन दीख पड़ती है ॥ १६ ॥

उत्क्रान्तिसमयो मेऽद्य समायातो न संशयः ।
अरिष्टाध्यायमाख्याहि यं श्रुत्वा निर्वृतिं लभे ॥ १७ ॥

'(इससे ज्ञात होता है कि) निस्संदेह अब मेरी मृत्युका समय निकट आ गया है, अतः मुने ! आप मुझसे अरिष्टाध्यायका वर्णन कीजिये, जिसे सुनकर मैं शान्ति लाभ करूँ' ॥१७॥

गालव उवाच

अरिष्टानि महाराज शृणु वक्ष्यामि तानि ते ।
दत्तात्रेयो ह्यलर्काय यान्याचख्यौ महात्मने ॥ १८ ॥

तब गालव मुनि कहने लगे—महाराज ! दत्तात्रेयजीने महात्मा राजा अलर्कसे जिन अरिष्टों (मृत्यु-लक्षणों) का वर्णन किया था, उन्हीं लक्षणोंको मैं आपसे कहूँगा; सुनिये ॥ १८ ॥

अरिष्टानि समालोक्य मृत्युं जानाति योगवित्।
देवमार्गं ध्रुवं शुक्रं सोमच्छायामरुन्धतीम् ॥ १९ ॥
यो न पश्येन्नजीवेत् स नरः संवत्सरात् परम् ।

योगवेत्ता पुरुष अरिष्टोंको देखकर अपनी मृत्युका समय जान लेता है। जो मनुष्य देवमार्ग (आकाश) में ध्रुवतारा, शुक्र, चन्द्रच्छाया और अरुन्धतीको नहीं देख पाता, वह एक वर्षसे अधिक नहीं जीता ॥ १९½ ॥

अरश्मिबिम्बं सूर्यस्य वह्निं चैवांशुमालिनम् ॥ २० ॥
दृष्ट्वैकादशमासाच्च नरस्तूर्ध्वं न जीवति ।
सुवर्णवर्णान् वृक्षांश्च नवमासान् स जीवति ॥ २१ ॥

सूर्य-मण्डलको किरणोंसे रहित और अग्निको किरणोंसे व्याप्त देखनेवाले मनुष्यका जीवन ग्यारह माससे ऊपर नहीं जाता और जिस मनुष्यको वृक्ष सुनहले रंगके दीख पड़ें, वह नौ मासतक जीवित रहता है ॥ २०-२१ ॥

स्थूलः कृशः कृशः स्थूलो योऽकस्मादेव जायते ।
प्रकृतिश्च विवर्त्तेत तस्यायुश्चाष्टमासिकम् ॥ २२ ॥

जो स्थूल शरीरवाला मनुष्य अकस्मात् ही दुर्बल हो जाय और कृशकाय स्थूलकाय हो जाय तथा उसके स्वभावमें परिवर्तन हो जाय तो उसकी आयु आठ मास और समझनी चाहिये ॥ २२ ॥

खण्डं यस्य पदं पार्ष्ण्योः पादस्याग्रे तथा भवेत्।
पांसुकर्दमयोर्मध्ये सप्तमासान् स जीवति ॥ २३ ॥

धूल अथवा कीचड़में पड़नेपर जिसके पैरका चिह्न एँड़ी अथवा पंजेकी ओरसे खण्डित दीख पड़े, वह सात मासतक जीवित रहता है ॥ २३ ॥

कपोतगृध्रोलूकाश्च वायसो वापि मूर्धनि ।
क्रव्यादो वा खगो लीनः षण्मासायुःप्रदर्शकाः ।
हन्यते काकपङ्क्तीभिः पांसुवर्षेण यो नरः ॥ २४ ॥
स्फुरच्च यस्य वै चर्म स्तनादूर्ध्वमुरःस्थलम् ।
तस्यापि पञ्चभिर्मासैर्विद्यान्मृत्युमुपस्थितम् ॥ २५ ॥

यदि किसी मनुष्यके मस्तकपर कबूतर, गृध्र, उल्लू, कौआ अथवा दूसरे ही कोई मांसभक्षी पक्षी आकर बैठ जायँ तो ये सब यह सूचित करते हैं कि इसकी आयु केवल छः मास शेष है । जिस मनुष्यके ऊपर कौओंकी पङ्क्तियाँ धूलकी वर्षा करने लगें तथा जिसके वक्षःस्थलपर स्तनके ऊपरका चमड़ा फड़कने लगे तो समझना चाहिये कि उसकी भी मृत्यु पाँच मासमें होनेवाली है ॥ २४-२५ ॥

स्वां छायां चान्यथा दृष्ट्वा चतुर्मासान् स जीवति ।
अनभ्रे विद्युतं दृष्ट्वा दक्षिणां दिशमाश्रिताम् ॥ २६ ॥
यो निशीन्द्रधनुर्वापि जीवितं द्वित्रिमासिकम् ।

जिसे अपनी परछाईं शरीरसे विपरीत दीख पड़े, वह चार मासतक और जीता है । जिसे बादलरहित आकाशमें दक्षिण दिशाका आश्रय लेकर कौंधती हुई बिजली अथवा रातके समय इन्द्रधनुष दीख पड़े, उसका जीवन दो-तीन मासका समझना चाहिये ॥ २६½ ॥

घृते तैलेऽथवाऽऽदर्शे तोये वाप्यात्मनस्तनुम् ॥ २७ ॥
यः पश्येदशिरस्कां च मासार्धं न स जीवति ।

जो घी, तेल, दर्पण अथवा जलमें अपने शरीरकी परछाईंको सिररहित देखता है, वह पंद्रह दिनतक भी जीवित नहीं रहता ॥ २७½ ॥

यस्य ह्यस्थिसमो गन्धो गात्रे शवसमोऽपि वा ॥ २८ ॥
तस्यार्धमासिकं ज्ञेयं नरस्य नृप जीवितम् ।

राजन् ! जिसके शरीरसे हड्डी अथवा लाशके समान गन्ध निकले, उस मनुष्यका जीवन पंद्रह दिनका और समझना चाहिये ॥ २८½ ॥

यस्य वै स्नानमात्रस्य हृत्पद्ममवशुष्यति ॥ २९ ॥
पिबतश्च जलं शोषो दशाहं सोऽपि जीवति ।

स्नान करते-करते जिस मनुष्यका हृदय-कमल सूख जाता है तथा जल पीते समय भी गलेमें शुष्कता प्रतीत होने लगती है, वह दस दिनतक जीवित रहता है ॥ २९½ ॥

ऋक्षवानरयुग्मस्थो गायन् यो दक्षिणां दिशम् ॥ ३० ॥
स्वप्ने प्रयाति तस्यापि मृत्युस्तत्कालमृच्छति ।

जो स्वप्नमें भी रीछ और वानर दोनोंपर बैठकर गाता हुआ दक्षिण दिशाकी ओर प्रयाण करता है, उसे तत्काल ही मृत्यु प्राप्त हो जाती है ॥ ३०½ ॥

रक्तकृष्णाम्बरधरा गायन्ती हसती च या ॥ ३१ ॥
दक्षिणाशां नयेन्नारी स्वप्ने सोऽपि न जीवति।

जो लाल अथवा काले रंगका वस्त्र धारण करनेवाली हो, ऐसी कोई नारी जिसे स्वप्नमें गाती और हँसती हुई दक्षिण दिशाकी ओर ले जाय तो वह मनुष्य भी जीवित नहीं रहता ॥

नग्नं क्षपणकं स्वप्ने हसमानं प्रपश्यति ॥ ३२ ॥
य एवं तस्य च क्षिप्रं विद्यान्मृत्युमुपस्थितम् ।

जो स्वप्नमें नंगे क्षपणक (कापालिक) को हँसता हुआ देखता है, उसकी मृत्यु शीघ्र ही होनेवाली है—ऐसा समझना चाहिये ॥ ३२½ ॥

आमस्तकतलाद् यस्तु निमग्नः पंकसागरे ॥ ३३ ॥
स्वप्ने पश्यत्यथात्मानं नरः सद्यो म्रियेत सः ।

जो मनुष्य स्वप्नमें अपने-आपको एँड़ीसे चोटीतक कीचड़के समुद्रमें डूबा हुआ देखता है, वह तुरंत ही मृत्युका ग्रास बन जाता है ॥ ३३½ ॥

कोशागारं रथागारं धक्ष्यन्तं स्वकं शिरः ॥ ३४ ॥
दृष्ट्वा स्वप्ने दशाहेन मृत्युरेव न संशयः ।

जिसे स्वप्नमें कोशागार, रथशाला तथा अपना मस्तक जलता हुआ दीख पड़े, उस मनुष्यकी मृत्यु निस्संदेह दस दिनके भीतर ही हो जाती है ॥ ३४½ ॥

करालैर्विकटैः कृष्णैः पुरुषैरुद्यतायुधैः ॥ ३५ ॥
पाषाणैस्ताडितः स्वप्ने सद्यो मृत्युमवाप्नुयात् ।
नात्मानं परनेत्रस्थं वीक्ष्यते न स जीवति ॥ ३६ ॥

जिसे स्वप्नमें हाथोंमें शस्त्र लिये हुए काले-कलूटे,

विकराल एवं विकट पुरुष पत्थरोंसे पीटते हैं, वह तुरंत ही मृत्युको प्राप्त हो जाता है। जो सम्मुख खड़े हुए दूसरे मनुष्यके नेत्रोंमें स्थित अपनी परछाईंको नहीं देख पाता, वह भी नहीं जीता है॥ ३५-३६॥

पिधाय कर्णौ निर्घोषं न शृणोत्यात्मसम्भवम्।
स्वभाववैपरीत्येन वर्तते न स जीवति॥ ३७॥

जो मनुष्य अपने दोनों कानोंको मूँदकर अपने ही द्वारा किये गये शब्दको नहीं सुन पाता और जिसके स्वभावमें भी विपरीतता आ जाती है, वह जीवित नहीं रह सकता॥ ३७॥

देवान् नार्चयते विप्रान् गुरून् वृद्धांश्च निन्दति।
मातापित्रोरसत्कारं जामातॄणां करोति यः॥ ३८॥
योगिनां ज्ञानविदुषामन्येषां च महात्मनाम्।
प्राप्तकालः स पुरुषो न तु जीवति वै क्षणम्॥ ३९॥

जो पुरुष देवताओंकी पूजा नहीं करता, ब्राह्मणों, गुरुजनों और वृद्धोंकी निन्दा करता है तथा माता, पिता, जामाता, योगी, ज्ञानी और अन्य महात्मा पुरुषोंका अपमान करता है, उसकी मृत्यु आयी हुई समझना चाहिये; वह क्षणभर भी जीवित नहीं रहता॥ ३८-३९॥

योगिनां सततं यत्नादरिष्टान्यवनीपते।
विलोक्य स्वासने स्थित्वा ध्यातव्यं परमं पदम्॥ ४०॥

इसलिये महीपाल! योगी पुरुषको चाहिये कि जब ऐसे अरिष्ट दीख पड़ें, तब वह अपने आसनपर बैठकर निरन्तर यत्नपूर्वक परमपद--भगवान् विष्णुका ध्यान करता रहे॥४०॥

सारभूतमुपासीत ज्ञानं यत् कार्यसाधनम्।
इदं ज्ञेयमिदं ज्ञेयमिति यस्तृषितश्चरेत्॥ ४१॥
अपि कल्पसहस्रायुर्न स ज्ञानमवाप्नुयात्।

उसे जो कार्यको सिद्ध करनेवाला सारभूत ज्ञान है, उसीकी उपासना करनी चाहिये; क्योंकि जो मनुष्य 'इदं ज्ञेयम्, इदं ज्ञेयम्—यह जानने योग्य है, यह जानने योग्य है' यों ज्ञानपिपासासे संयुक्त होकर विचरता रहता है, उसे सहस्र कल्पोंकी आयु प्राप्त होनेपर भी ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती॥

त्यक्तसङ्गो निराहारो जितक्रोधो जितेन्द्रियः॥ ४२॥
विषयेभ्यो निवर्त्याशु मनो ध्याने निवेशयेत्।

अतः योगीको चाहिये कि वह निःसंग हो जाय और निराहार रहकर क्रोध तथा अपनी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करे, फिर शीघ्र ही अपने मनको विषयोंसे हटाकर भगवद्ध्यानमें निविष्ट करे॥ ४२½॥

नारद उवाच

योगसारं समाकर्ण्य गालवान्मुनिपुङ्गवात्॥ ४३॥
राज्यं त्यक्तुमनाः सोऽथ जीर्णां त्वचमिवोरगः।
तत्रोपविष्टं मदनं समाहूयेदमब्रवीत्॥ ४४॥
राजा कौन्तलपस्तस्य कर्णे जामातरं स्वकम्।
समानयाशु मदन करिष्ये ह्यात्मनो हितम्॥ ४५॥

नारदजी कहते हैं—अर्जुन! तदनन्तर मुनिश्रेष्ठ गालवके मुखसे इस योगसारको सुनकर कुन्तलपुराधिपति अपने राज्यका परित्याग करनेको उद्यत हो गये, ठीक उसी तरह, जैसे सर्प अपनी पुरानी केंचुलको छोड़ देता है। तब उन्होंने वहाँ समीप ही बैठे हुए मदनको बुलाकर उसके कानमें इस प्रकार कहा—'मदन! तुम अपने जामाता-तुल्य बहनोईको शीघ्र यहाँ लिवा लाओ; क्योंकि मैं अपने लिये कुछ हितकर कार्य करना चाहता हूँ'॥ ४३—४५॥

बाढमित्यालपित्वा स प्रायाज्जामातरं प्रति।
सूर्ये जपाप्रसूनाभे ह्यस्तंगिरिमुपाश्रिते॥ ४६॥

तब 'बहुत अच्छा' यों कहकर मदन अपने जामाता (बहनोई) के पास चला। उस समय सूर्यदेवकी कान्ति अड़हुलके पुष्पके समान अरुणवर्णकी हो चुकी थी और वे अस्ताचलका आश्रय ले रहे थे॥ ४६॥

ददर्श चन्द्रहासं तं कृतसंध्याविधिं शुचिम्।
पुष्पकर्पूरकस्तूरीचन्दनाम्बरधारिणम्॥ ४७॥
हरिद्राकुङ्कुमोन्मर्दगौराङ्गमुकुटावृतम्।
एकाकिनं समायान्तं पथि दृष्ट्वाब्रवीत् स्मरः॥ ४८॥
अयि त्वं चन्द्रहासाशु कुतो व्रजसि तद् वद।

उसने देखा कि चन्द्रहास पवित्र होकर संध्या-वन्दन कर चुके हैं, हरिद्रामिश्रित कुङ्कुमके अनुलेपसे उनका शरीर गौरवर्णका हो गया है, मस्तकपर मुकुट सुशोभित है, वे पुष्प, कपूर, कस्तूरी, चन्दन-और वस्त्र धारण किये हुए अकेले ही मार्गमें आ रहे हैं। तब उन्हें देखकर मदनने पूछा—'चन्द्रहास! यह तो बताओ, तुम इतनी शीघ्रतासे कहाँ जा रहे हो?'॥ ४७-४८½॥

चन्द्रहासोऽब्रवीद् वाक्यं पित्राहं प्रेरितस्तव॥ ४९॥
चण्डिकां च नमस्कर्तुं महिषघ्नीं बहिःस्थिताम्।

तब चन्द्रहासने इस प्रकार उत्तर दिया—'मैं आपके पिताजीकी आज्ञासे नगरके बाहर स्थित महिषमर्दिनी भगवती चण्डिकाको प्रणाम करनेके लिये जा रहा हूँ' ॥४९½॥

वारयामास मदनस्त्वं याहि नृपमन्दिरम् ॥ ५० ॥
देहि चन्दनपुष्पाणि त्वं नृपं त्वरितं व्रज ।

यह सुनकर मदनने चन्द्रहासको वहाँ जानेसे रोक दिया और कहा कि 'तुम राजमहलको जाओ । यह चन्दन और पुष्प हमें दे दो और तुम शीघ्र ही राजाके पास चले जाओ' ॥

इत्युक्त्वा पुष्पमालाढ्यं पात्रमाच्छिद्य तत्करात् ॥ ५१ ॥
ययौ स मदनश्चैकश्चण्डिकाभवनं तदा ।
अवतीर्य हयात् तस्मात् सेवकान् विनिवार्य च ॥ ५२ ॥
व्रतभङ्गभयात् पार्थ छत्रचामरवर्जितः ।

ऐसा कहकर मदन अपने उस घोड़ेसे उतर पड़ा और चन्द्रहासके हाथसे पुष्पमालाओंसे भरे हुए उस पात्रको छीन लिया । फिर सेवकोंको अपने साथ आनेसे मना करके वह अकेले ही चण्डिका-मन्दिरको चल दिया । पार्थ ! उस समय 'व्रत भंग न हो जाय' इस भयसे मदनने अपने छत्र-चँवरको भी छोड़ दिया था ॥ ५१-५२½ ॥

चन्द्रहासस्तमारुह्य वाजिनं च प्रयत्नतः ॥ ५३ ॥
तैरेव सेवकैः सार्धं छत्रचामरवीजितः ।
प्राप कौन्तलपं वेगान्नमस्कृत्य पुरः स्थितः ॥ ५४ ॥

तत्पश्चात् चन्द्रहास प्रयत्नपूर्वक मदनके उस घोड़ेपर सवार हो गया तथा उसीके छत्र-चँवरसे सुशोभित होकर उन्हीं सेवकोंके साथ वेगपूर्वक कुन्तलपुर-नरेशके पास जा पहुँचा और उन्हें नमस्कार करके उनके आगे खड़ा हो गया ॥५३-५४॥

चन्द्रहासं समालोक्य राजा कौन्तलपोऽब्रवीत् ।
स्वामिन् गालव यास्यामि वनं त्यक्त्वा परिच्छदम् ।५५।
सर्वसङ्गपरित्यागं पात्रे कुर्वेऽद्य वैष्णवे ।

चन्द्रहासको आया हुआ देखकर कुन्तल-नरेशने अपने पुरोहितसे कहा—'स्वामिन् ! गालव ! मैं इस राज्यसामग्रीका त्याग करके वन जाना चाहता हूँ । आज इस विष्णुभक्त सुपात्र चन्द्रहासके लिये अपना सर्वस्व परित्याग कर देनेका मेरा विचार है' ॥ ५५½ ॥

ओमित्युक्तः स मुनिना ददौ चम्पकमालिनीम् ॥ ५६ ॥
चन्द्रहासाय निखिलं राज्यं प्रादादवाङ्मुखः ।
परित्यज्य च वस्त्राणि नग्न ऊर्ध्वभुजो नृपः ॥ ५७ ॥
वनं जगाम संत्यक्त्वा समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।

'यह सुनकर मुनिके 'ओम्' ऐसा कहकर उनकी बातका समर्थन कर देनेपर राजाने चन्द्रहासको अपनी पुत्री चम्पकमालिनी समर्पित कर दी । फिर उन्हें अपना सारा राज्य प्रदान कर दिया और राजा स्वयं वस्त्रोंका परित्याग करके नंगे हो गये फिर मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्णमें समान दृष्टि होनेके कारण सबका त्याग करके भुजाएँ ऊपर उठाकर नीचे मुख किये हुए वनको चले गये ॥ ५६-५७½ ॥

प्राप्य योगर्द्धिमतुलां परां निर्वाणलक्षणाम् ॥ ५८ ॥
पश्यंस्तुच्छमिमं सर्वं सदेवासुरमानुषम् ।
पाशैर्गुणमयैर्बद्धं बध्यमानं च नित्यशः ॥ ५९ ॥
पुत्रस्वभ्रातृपौत्रादिस्वपारक्यादिभावितैः ।
आकृष्यमाणं करणैर्दुःखार्तं भिन्नदर्शनम् ॥ ६० ॥
अज्ञानपङ्कगर्तस्थमनुबुद्ध्वा महीपतिः ।
आत्मानं च समुत्तीर्णं गाथामेतामगायत ॥ ६१ ॥

वहाँ राजाको निर्वाणस्वरूपिणी योगकी परम अनुपम सिद्धि प्राप्त हो गयी । तब उनकी दृष्टिमें ऐसा भासने लगा कि देवता, राक्षस और मनुष्योंसहित यह सारा संसार सत्त्व, रज, तमरूप त्रिगुणमय पाशोंसे बँधा हुआ है और नित्य बँधता जा रहा है; अतः यह तुच्छ है । यह संसार 'यह मेरा पुत्र है, यह भाई है, यह पौत्र है, यह अपना है और यह पराया है' ऐसी भावनाओंसे युक्त उपकरणोंद्वारा आकृष्ट होनेके कारण कष्ट भोग रहा है तथा द्वैतदृष्टि होनेके कारण अज्ञानरूपी कीचड़के गड्ढेमें पड़ा हुआ है । ऐसा विचारकर और अपनेको इस संसारसे पार हुआ समझकर राजाने यह गाथा गायी थी—॥ ५८–६१ ॥

अहो कष्टं यदस्माभिः पूर्वं राज्यमनुष्ठितम् ।
अपि पश्चान्मया ज्ञातं योगान्नास्ति परं सुखम् ॥ ६२ ॥

'अहो ! पहले मैंने जिस राज्यको (सुखदायी समझकर) स्वीकार किया था, वह तो कष्टदायक ही है; परंतु अब मुझे पीछे ज्ञात हुआ है कि योगसे बढ़कर सुखद वस्तु दूसरी नहीं है' ॥ ६२ ॥

नारद उवाच

इत्थं संसारपाशेभ्यो मुक्तः कौन्तलपो नृपः ।
सिंहासने चन्द्रहासं गालवः सोऽभ्यषेचयत् ॥ ६३ ॥

नारदजी कहते हैं—अर्जुन ! इस प्रकार कुन्तल देशके राजा इस संसाररूपी बन्धनसे मुक्त हो गये । इधर गालव मुनिने चन्द्रहासको राजसिंहासनपर अभिषिक्त कर दिया ॥ ६३ ॥

गान्धर्वेण विवाहेन तदा चम्पकमालिनीम् ।
परिणिन्ये चन्द्रहासः सूर्येऽस्तं याति पाटले ॥ ६४ ॥

तत्पश्चात् जब सूर्यकी प्रभा अरुणवर्णकी हो गयी और वे अस्ताचलको प्रयाण करने लगे, उस समय चन्द्रहासने गान्धर्व-विवाहकी विधिसे चम्पकमालिनीका पाणिग्रहण किया ॥

पुष्पाणि च समादाय गच्छन् स मदनः पथि ।
ददर्श युध्यत् पुरतो बिडालद्वयमातुरम् ॥ ६५ ॥

उधर मदन जब पुष्प आदि पूजन-सामग्री लेकर चला, तब मार्गमें उसे सामने ही दुःखित होकर लड़ते हुए दो बिलाव दीख पड़े ॥ ६५ ॥

हस्ताच्चन्दनपुष्पाणां पात्रं भूमावथापतत् ।
रुधिरं प्रास्रवन्नेत्रान्मदनस्य मुखात् तथा ॥ ६६ ॥

तदनन्तर मदनके हाथसे चन्दन और पुष्पोंसे भरा हुआ वह पात्र पृथ्वीपर गिर पड़ा तथा उसके नेत्र और मुखसे खून टपकने लगा ॥ ६६ ॥

उलूकः स च वै मूर्ध्नि स्थितवान् भीमनिःस्वनः ।
तथाप्यगणयन् पार्थ मदनो वाक्यमब्रवीत् ॥ ६७ ॥

पुनः भयंकर शब्द करता हुआ उलूक मदनके मस्तकपर आ बैठा; परंतु पार्थ ! अपने विषयमें इन सब अपशकुनोंकी कुछ भी परवा न करते हुए मदन कहने लगा—॥ ६७ ॥

अपि स्वस्ति भवेत् तस्मै चन्द्रहासाय धीमते ।
वैष्णवाय च धीराय जामात्रे मम साम्प्रतम् ॥ ६८ ॥
इत्येवं चिन्तयन् प्राप मदनश्चण्डिकालयम् ॥ ६९ ॥

'जिन्हें मैं अपना जामाता-तुल्य मानता हूँ तथा जो धैर्यशाली एवं विष्णुभक्त हैं, उन बुद्धिमान् चन्द्रहासका इस समय मङ्गल हो ।' यों विचार करता हुआ मदन चण्डिका-मन्दिरमें जा पहुँचा ॥ ६८-६९ ॥

अवाङ्मुखः सन् स विवेश धीमान्
कपाटयुग्मं प्रहरन् करेण ।
शब्दं समाकर्ण्य च ते पशुघ्नाः
शस्त्राणि यत्नाज्जगृहुः प्रमत्ताः ॥ ७० ॥

तत्पश्चात् जब बुद्धिमान् मदन अपने हाथसे द्वारके दोनों किंवाड़ोंको धक्का देकर नीचे मुख किये हुए भीतर घुसा, तब उस शब्दको सुनकर उन उन्मत्त कसाइयोंने सावधान होकर अपने शस्त्र हाथमें ले लिये ॥ ७० ॥

कर्णे लगित्वा शनकैरवोचन्
द्विजघ्न धेनुघ्न शिशुघ्न कश्चित् ।
प्राप्तो मुमूर्षुस्त्विह चात्र जन्तुः
स्वनामवैयर्थ्यमहो न कार्यम् ॥ ७१ ॥
न लङ्घनीयः कुलधर्म एव
नीतिस्ततो हिंस्युरमुं च शूलैः ।

पुनः वे एक-दूसरेके कानसे लगकर परस्पर कहने लगे—'अहो ब्राह्मणघाती ! अरे गो-हत्यारे ! ओ शिशुघातक ! सुनो न, यहाँ कोई प्राणी मृत्युका ग्रास बननेकी इच्छासे आ गया, अब तुम्हें अपना नाम व्यर्थ नहीं करना चाहिये अर्थात् तुम्हें अपने नामके अनुरूप इसे अवश्य मार डालना चाहिये। वध करना हमारा कुलधर्म है, अतः उसका उल्लङ्घन करना उचित नहीं है, यही नीतिसम्मत है । इस कारण इसे शूलोंसे मार डालना चाहिये' ॥ ७१½ ॥

अथ प्रविष्टं मदनं सुवेषं
दक्षं पितुर्वाक्यकरं पशुघ्नाः ॥ ७२ ॥
शूलैश्च खड्गैर्निशितैश्च पट्टिशै-
र्जघ्नुस्तदा प्राह सुतः सुमन्त्रिणः ।
हे चण्डिके वैष्णवि नो लुलायो
दैत्यो निशुम्भोऽपि न शुम्भ एव ।
न रक्तबीजोऽहमिहागतस्त्वां
कस्माच्च शूलैरभिहंसि मातः ॥ ७३ ॥

ऐसी सलाह करके जब वे पशु-हत्यारे पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाले, सुन्दर वेषधारी, कार्यकुशल मदनको मन्दिरमें प्रवेश करनेपर शूल, तीखी तलवार और पट्टिशोंसे मारने लगे, तब उस मन्त्रिकुमार मदनने कहा—'हे चण्डिके ! वैष्णवि ! यहाँ तुम्हारे संनिकट आया हुआ मैं न तो महिषासुर हूँ और न निशुम्भ एवं शुम्भ ही हूँ तथा मैं रक्तबीज भी नहीं हूँ; फिर मातः ! किस कारण तुम मुझे शूलोंसे मार रही हो ? ॥

न प्रार्थयाम्यद्य च जीवितार्थं
त्वं साक्षिणी मे वचनस्य भूयाः ।

यच्चन्द्रहासार्थमभाणि बाहू
शिरः प्रदास्ये ह्यनृणोऽहमासम्॥ ७४ ॥

'देवि ! मैं इस समय अपने जीवनके लिये तुमसे प्रार्थना नहीं कर रहा हूँ । तुम तो मेरे उस वचनकी साक्षी हो जाओ, जो मैंने चन्द्रहासके लिये कहा था कि 'समय पड़नेपर मैं उनके निमित्त अपनी दोनों भुजाएँ तथा सिर भी प्रदान कर दूँगा ।' आज मैं अपनी उस प्रतिज्ञासे उऋण हो गया' ॥ ७४ ॥

इत्यूचिवान् मन्त्रिपुत्रस्तदानीं
जहौ प्राणानुच्चरन् माधवेति ।
चाण्डालास्ते प्रस्फुरद्वाक्यभीता
जग्मुस्ते वै को हतोऽस्माभिरेव ॥ ७५ ॥

उस समय मन्त्रिकुमार मदनने ऐसा कहकर 'माधव ! माधव !' यों उच्चारण करते हुए प्राण त्याग दिये । उसके मुखसे निकलते हुए वचनको सुनकर भयभीत हुए वे चाण्डाल भी वहाँसे चलते बने । वे सोचने लगे कि 'हमलोगोंने किसको मार डाला है ?' ॥ ७५ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि कुन्तलपुरराज्यप्राप्तिर्नाम सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें (चन्द्रहासको) कुन्तलपुर राज्यकी प्राप्तिनामक सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

चन्द्रहासका चम्पकमालिनीके साथ धृष्टबुद्धिसे मिलने जाना, चन्द्रहासके मुखसे देवीमन्दिरमें मदनके जानेकी बात सुनकर धृष्टबुद्धिका मन्दिरमें जाना और विलाप करके प्राण-त्याग करना, प्रातःकाल एक तपस्वीका चन्द्रहासको इसकी सूचना देना, चन्द्रहासका मन्दिरमें जाकर अपना मांस काटकर आहुति देना तथा अपना सिर काटनेको उद्यत होना, देवीका प्राकट्य और चन्द्रहासको वर-प्रदान, धृष्टबुद्धि और मदनका जीवित होना, चन्द्रहासका कुलिन्द और उसकी पत्नीको कुन्तलपुर ले आना, शालग्राम-शिलाका माहात्म्य, नारदजीका स्वर्गलोक-गमन और अर्जुनका कुन्तलपुरको प्रस्थान

नारद उवाच

राज्यं लब्ध्वा चन्द्रहासः पत्नीं चम्पकमालिनीम् ।
शुभे गजे तया सार्धमारुरोह निशागमे ॥ १ ॥
नमस्कर्तुं धृष्टबुद्धिं मृदङ्गध्वनिशोभितः ।
आजगाम त्वरायुक्तो दिदृक्षुः श्वशुरं नृपः ॥ २ ॥

नारदजी कहते हैं—अर्जुन ! इस प्रकार जब चन्द्रहासको कुन्तलपुरका राज्य और चम्पकमालिनी नामवाली पत्नी प्राप्त हो गयी, तब वह रात्रिके समय धृष्टबुद्धिके पास जाकर उसे प्रणाम करनेके लिये अपनी उस पत्नीके साथ एक सुन्दर गजराजपर सवार हुआ । उस समय मृदङ्गोंकी सुन्दर ध्वनि हो रही थी । इस प्रकार राजा चन्द्रहास अपने श्वशुरका दर्शन करनेकी अभिलाषासे बड़ी उतावलीके साथ उसके भवनकी ओर चला ॥ १-२ ॥

शंसन्ति स्म वचस्तस्मै मन्त्रिणे च वचोहराः ।
मन्त्रिन् समागतं पश्य चन्द्रहासं नृपं नवम् ॥ ३ ॥
जामातरं तव विभो राज्ञः कौन्तलपस्य च ।

तब संदेशवाहक मन्त्री धृष्टबुद्धिके पास जाकर उससे इसकी सूचना देते हुए कहने लगे—'मन्त्रिन् ! देखिये, ये नये महाराज चन्द्रहास आपके पास पधार रहे हैं । विभो ! ये आपके तथा महाराज कुन्तलनरेशके जामाता हैं' ॥ ३½ ॥

तेषां वचनमाकर्ण्य क्रोधान्मन्त्री वचोऽब्रवीत् ॥ ४ ॥
युष्माकं रसनां छेत्स्ये मूलमारभ्य पापिनाम् ।
कोऽन्यः कौन्तलपाद् राजा भविष्यति धरातले ॥ ५ ॥

उनका कथन सुनकर धृष्टबुद्धि कुपित हो उठा और इस प्रकार कहने लगा—'दुष्टो ! मैं तुम सभी पापियोंकी जिह्वा जड़से काट लूँगा । मूर्खो ! इस भूतलपर कुन्तल-नरेशके अतिरिक्त दूसरा कौन हमारा राजा हो सकेगा ?' ॥ ४-५ ॥

वचोहरा ब्रुवन्ति स्म स्वामिन् दृष्ट्यावलोकय ।
तावत् प्राप्तश्चन्द्रहासो जायया सहितः पुरः ॥ ६ ॥

तब दूतोंने कहा—'स्वामिन् ! जरा आँख उठाकर देखिये तो ।' तबतक चन्द्रहास अपनी पत्नी चम्पकमालिनीके साथ सामने आता दीख पड़ा ॥ ६ ॥

ददर्श धृष्टबुद्धिस्तं नेत्रे स्वे परिमार्जयन्।
उताहोस्वित् सुतः प्राप्तो मदनोऽयं भविष्यति॥ ७ ॥
पुरतो विद्यते कन्या यथा चम्पकमालिनी।
उवाचोच्चैस्तदा मन्त्री रे रे मदन किं कृतम्॥ ८ ॥

उस समय धृष्टबुद्धि अपने नेत्रोंको पोंछकर चन्द्रहासकी ओर देखने लगा और विचारने लगा कि सम्भवतः यह मेरा पुत्र मदन आता होगा; क्योंकि इसके आगे राजकुमारी चम्पकमालिनी विद्यमान है। फिर वह उच्च स्वरसे बोल उठा—'रे रे मदन! तूने यह क्या कर डाला?' ॥ ७-८ ॥

इति चिन्तयतस्तस्य चन्द्रहासः पुरः स्थितः।
अवतीर्य गजात् तस्मात् पादौ जग्राह मन्त्रिणः॥ ९ ॥

धृष्टबुद्धि यों विचार कर ही रहा था कि चन्द्रहास सामने उपस्थित हो गया और उस हाथीसे उतरकर उसने मन्त्रीके दोनों पैर पकड़ लिये ॥ ९ ॥

चुबुके धृष्टबुद्धिस्तं दधार न भवान् गतः।
चण्डिकाभवनं रम्यं गोत्रस्थितिविनाशकृत्॥ १० ॥

तब धृष्टबुद्धि चन्द्रहासकी ठोढ़ी पकड़कर पूछने लगा—'क्या आप चण्डिकादेवीके रमणीय मन्दिरपर नहीं गये? (ऐसी अवहेलना तो) मेरे कुटुम्बका समूल विनाश करनेमें कारण हो सकती है' ॥ १० ॥

चन्द्रहास उवाच

यावद्गच्छाम्यहं स्वामिन् पुष्पचन्दनपात्रभृत्।
तावत् कौन्तलपादेशकारको मदनश्च माम्॥ ११ ॥
वारयामास पश्चाच्च स्वयं देवीं जगाम सः।

चन्द्रहासने उत्तर दिया—स्वामिन्! मैं चन्दन और पुष्पोंसे भरे हुए पात्रको लेकर जा ही रहा था, तबतक कुन्तलाधिपतिकी आज्ञाका पालन करनेवाले मदनने मेरे पास आकर मुझे वहाँ जानेसे रोक दिया। तत्पश्चात् वे स्वयं ही देवीके मन्दिरको चले गये ॥ ११½ ॥

तत् तस्य वचनं श्रुत्वा कठोरं मर्मभेदि च॥ १२ ॥
ऊर्ध्वबाहुर्मुक्तकेशो मन्त्री स विलपन् ययौ।

चन्द्रहासके ऐसे कठोर एवं मर्मभेदी वचन सुनकर धृष्टबुद्धि बाल बिखेरे तथा हाथ ऊपरको उठाये यों विलाप करते हुए (चण्डिका-मन्दिरको) चला—॥ १२½ ॥

परार्थे योऽवटं कर्ता तस्मिन् स पतति ध्रुवम्॥ १३ ॥
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन प्राणिनां हितमाचरेत्।

'जो दूसरेके लिये गड्ढा खोदता है, वह स्वयं ही उस गड्ढेमें गिरता है—यह ध्रुव सत्य है; इसलिये सर्वथा प्रयत्नपूर्वक प्राणियोंका हित ही करना चाहिये' ॥ १३½ ॥

उत्तिष्ठन्निपतन् भूमौ ध्वान्ते घोरे स्थितः पथि॥ १४ ॥
धृष्टबुद्धिर्जगामाशु पश्यन् प्रेतस्थलीं बहिः।
प्रज्वलन्ति चिता यत्र भस्म वातेन नीयते॥ १५ ॥

उस समय धृष्टबुद्धि तमसाच्छन्न भयंकर मार्गमें पृथ्वीपर गिरते-उठते बड़ी तेजीसे चल रहा था। नगरके बाहर उसे श्मशानभूमि दीख पड़ी, जहाँ चिताएँ जल रही थीं और वायुके चलनेसे चिता-भस्म उड़ रही थी॥ १४-१५ ॥

तं दृष्ट्वा भूतवेतालकङ्काला वाक्यमब्रुवन्।
अस्मत्तोऽभ्यधिकः कोऽपि समायाति च पश्यताम्॥ १६॥

धृष्टबुद्धिको देखकर भूत, वेताल और कंकाल परस्पर कहने लगे—'अरे भाइयो! देखो, यह कोई हमसे भी बढ़कर पापी आ रहा है' ॥ १६ ॥

तथापरोऽब्रवीत् प्रेतः कोऽस्मत्तोऽभ्यधिको भवेत्।
मया प्रेष्येण युष्माकं घातितं ब्राह्मणत्रयम्॥ १७ ॥

तबतक एक दूसरा प्रेत बोल उठा—'हमसे बढ़कर कौन हो सकता है? मैं तुमलोगोंका एक छोटा-सा सेवक हूँ, फिर भी मैंने तीन ब्राह्मणोंकी हत्या की है ॥ १७ ॥

विश्वासधनहर्त्तारं परनिन्दापरायणम्।
विद्धि मां सर्वदा भूतजन्तुघ्नं भयदं सताम्॥ १८ ॥

'मुझे तुमलोग ऐसा समझो कि मैं विश्वासघाती, धनका अपहरण करनेवाला, परायी निन्दामें तत्पर, भूत-प्राणियोंका घातक और सर्वदा सत्पुरुषोंको भय प्रदान करनेवाला था ॥१८॥

तथा ब्राह्मणहन्तारं भ्रातरं मेऽद्य पश्यत।
मम पुत्रादभ्यधिकस्तस्मात् पथिकघातकात्॥ १९ ॥

'उसी प्रकार अब ब्राह्मणोंकी हत्या करनेवाले मेरे इस भाईकी ओर दृष्टिपात करो। यह पथिकोंका वध करनेवाले मेरे उस पुत्रसे भी आगे बढ़ा हुआ है' ॥ १९ ॥

तावद् ब्रह्मग्रहस्त्वेकः प्रहसन् वाक्यमब्रवीत्।
अधिकस्ते सुतो भ्राता त्वं ततो ब्रह्मघातकी॥ २० ॥
अयमायाति चान्योऽस्ति त्वादृशो न च मादृशः।
तस्मात् पलायनं कार्यं युष्माभिर्न च दर्शनम्॥ २१ ॥

कर्तव्यं तस्य पापस्य दुष्टस्यातिविरोधिनः।
मित्रद्रोही कृतघ्नोऽयं विश्वासस्यैव घातकः ॥ २२ ॥

तबतक एक ब्रह्मराक्षस हँसता हुआ यों कहने लगा—'ठीक है, तुम्हारे पुत्र और भाई महान् पापी हैं और तुम उनसे भी बढ़कर ब्रह्महत्यारे हो; परंतु यह जो दूसरा आ रहा है, यह तो न तुम्हारे समान है और न मेरी ही समतामें आ सकता है। यह मित्रद्रोही, कृतघ्न और विश्वासघातक है। ऐसे अत्यन्त ईर्ष्यालु एवं दुष्टात्मा पापीका मुख भी नहीं देखना चाहिये, इसलिये तुमलोगोंका यहाँसे भाग जाना ही उचित है॥ २०—२२ ॥

अयमायाति पापिष्ठस्तस्माद् दूरं पलायते।
इत्यालोच्य पलायन्ते तं दृष्ट्वा भूतभैरवाः ॥ २३ ॥

'यह महान् पापी इधर ही आ रहा है, इसलिये मैं तो दूर हट जाता हूँ।' ऐसी आलोचना करके उन भूतों तथा भैरवोंका समुदाय धृष्टबुद्धिको देखकर (श्मशानभूमिसे) भाग खड़ा हुआ॥ २३ ॥

धृष्टधीः पुत्रशोकार्तश्चिताकाष्ठानि संदधत्।
ज्वलन्ति पाणौ प्रययौ चण्डिकाभवनं प्रति ॥ २४ ॥

इधर पुत्रशोकसे पीड़ित धृष्टबुद्धि चिताकी जलती हुई लुकाठी हाथमें लेकर चण्डिका-मन्दिरकी ओर शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़ा॥ २४॥

ददर्श पुत्रं मदनं खड्गशूलविदारितम्।
चण्डिकापुरतो नूनं पशुं द्वात्रिंशता गुणैः ॥ २५ ॥
अन्वितं तं सुचारित्रं योगिनां तपतां वरम्।
ज्ञातार्थसमयं शान्तं मनोवाक्कायदण्डकम् ॥ २६ ॥
विभिन्नकलशं दिव्यं प्रासादमिव भूतले।
काश्मीरमिव सम्भिन्नं लिङ्गं पाखण्डिभिर्नरैः ॥ २७ ॥

मन्दिरमें पहुँचकर धृष्टबुद्धिने देखा कि क्षमा आदि बत्तीस गुणोंसे सम्पन्न, सच्चरित्र, योगियों और तपस्वियोंमें श्रेष्ठ, अर्थ और कालका ज्ञाता, शान्तस्वभाव तथा अपने मन, वाणी और शरीरपर नियन्त्रण रखनेवाला मेरा पुत्र मदन भूतलपर गिरे हुए टूटे कलशोंवाले दिव्य प्रासाद तथा पाखण्डी जनोंद्वारा तोड़े हुए काश्मीर-लिङ्गकी भाँति तलवार और शूलोंसे विदीर्ण किये गये पशुके समान चण्डिकाके सामने पड़ा है ॥

दृष्ट्वा तं मदनं पुत्रं तथा छिन्नमनोरथः।
स्वकीयस्यैव वंशस्य छिन्नं मूलं स धृष्टधीः ॥ २८ ॥

अपने पुत्र मदनकी वह दशा देखकर धृष्टबुद्धिका मनोरथ छिन्न-भिन्न हो गया। उसने समझ लिया कि अब तो मेरे वंशकी जड़ ही कट गयी ॥ २८ ॥

परित्यज्य चिताकाष्ठं पश्यन् स सुतमातुरः।
आलिलिङ्ग तथाभूतं समुत्थाप्य च पाणिना ॥ २९ ॥

फिर तो अपने हाथमें ली हुई चिताकी लुकाठीको फेंक दिया और आतुर होकर वह अपने पुत्रकी ओर निहारने लगा। तत्पश्चात् उस मरे हुए पुत्रको हाथसे उठाकर वह उसका आलिङ्गन करते हुए कहने लगा ॥ २९ ॥

धृष्टबुद्धिरुवाच

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ रे पुत्र चन्द्रहासः समागतः।
तस्मै त्वं विषयां कन्यां प्रदेहि विपुलं धनम् ॥ ३० ॥

धृष्टबुद्धि बोला—बेटा! उठ, जल्दी उठ! देख, यह चन्द्रहास आया हुआ है। तू इसे मेरी कन्या विषया तथा बहुत-सा धन प्रदान कर॥ ३० ॥

मया त्वं कठिनैर्वाक्यैः पीडितोऽसि प्रकोपितः।
साम्प्रतं वैष्णवद्रोहफलं प्राप्तं मया सुत ॥ ३१ ॥

मैंने तुझे कठोर वचनोंद्वारा पीड़ित किया था, क्या इसी कारण तू मुझसे रूठ गया है? पुत्र! इस समय मुझे वैष्णवोंसे द्रोह करनेका फल प्राप्त हो गया ॥ ३१ ॥

वैष्णवद्रोहिणां सत्यं हृदयं तु विदीर्यते।
तस्मान्मदीयं हृदयं विदीर्णमधुनाभवत् ॥ ३२ ॥

विष्णु-भक्तोंसे द्रोह करनेवालोंका हृदय विदीर्ण हो जाता है—यह उक्ति तो बिल्कुल सत्य ही है; इसीलिये आज मेरा हृदय टूक-टूक हो गया है ॥ ३२ ॥

अयं स मदनो यस्य रतिः कृष्णे सदा स्थिता।
नायं शिवद्रोहकरो न योगिजनतापनः ॥ ३३ ॥

यह वही मदन है, जिसका भगवान् श्रीकृष्णमें सदा प्रेम बना रहता था। यह न तो शिवद्रोही था और न योगियोंको ही संताप देता था॥ ३३ ॥

इत्थं विलप्य बहुधा धृष्टधीः स्वशिरस्तदा।
आस्फालयामास भृशं स्तम्भे धातुविभूषिते ॥ ३४ ॥

यों अनेक प्रकारसे विलाप करके धृष्टबुद्धि उस समय धातुओंसे विभूषित एक खम्भेपर बड़े जोरसे अपना सिर दे मारा॥ ३४॥

**स भिन्नमस्तको भूमौ स्फुटिताण्डमिवापतत्।
तस्मिन् निपतिते पार्थ धृष्टबुद्धौ च तत्सुते ॥ ३५ ॥**

जिससे उसका मस्तक फट गया और फूटे हुए अण्डेके समान पृथ्वीपर गिर पड़ा। पार्थ ! इस प्रकार धृष्टबुद्धि तथा उसका पुत्र मदन उस मन्दिरमें पृथ्वीपर गिरे पड़े थे॥ ३५॥

**प्रभातसमये जाते तापसः पुष्पतोयभृत्।
चण्डिकाभवनं प्रायात् स्नापितुं पूजितुं च ताम्॥ ३६ ॥**

जब प्रातःकाल हुआ, तब कोई तपस्वी पुष्प और जल लेकर उन देवीको स्नान कराने तथा उनकी पूजा करनेके लिये चण्डिका-मन्दिरको गया॥ ३६॥

**प्राविशद् भवनं देव्याः सलिङ्गी पुरतो मृतौ।
धृष्टधीमदनौ शान्तौ दीपाविव ददर्श ह ॥ ३७ ॥**

वहाँ पहुँचकर जब उस तपस्वीने देवीके मन्दिरमें प्रवेश किया, तब उसने सामने ही देखा कि धृष्टबुद्धि और मदन बुझे हुए दीपककी भाँति मरे पड़े हैं॥ ३७॥

**अहोस्वित् किं बभूवात्र नवराज्यफलं स्फुटम्।
मन्त्रिपुत्रावपि हतौ नृपकौन्तलपप्रियौ ॥ ३८ ॥
आगतश्चन्द्रहासाय तापसः शंसितुं तदा।**

(तब वह आश्चर्यचकित होकर कहने लगा—) 'अहो ! यहाँ यह क्या हो गया ? (मुझे तो प्रतीत होता है कि) नये राज्यका फल स्पष्ट प्रकट हुआ है; क्योंकि जो कुन्तल-नरेशके परम प्रिय थे, वे मन्त्री धृष्टबुद्धि और मदन—दोनों मार डाले गये।' तब वह तपस्वी चन्द्रहासको इसकी सूचना देनेके लिये उनके पास आया॥ ३८½॥

तापस उवाच

**केनापि निहतौ राजन् धृष्टधीमदनौ बहिः ॥ ३९ ॥
चण्डिकाभवने रात्रौ तच्छीघ्रमवधार्यताम्।**

(वहाँ पहुँचकर वह) तपस्वी कहने लगा— राजन् ! रात्रिके समय किसीने धृष्टबुद्धि और मदनको मार डाला है। वे दोनों नगरके बाहर स्थित चण्डिका-मन्दिरमें मरे पड़े हैं। अब आप शीघ्र ही इसकी छान-बीन कीजिये॥

**तस्य वाक्यं समाकर्ण्य पद्भ्यामेवागतो नृपः ॥ ४० ॥
चन्द्रहासः सुदुःखार्त्तो देव्या भवनमातुरः।
ददर्श पुरतो देव्याः पितापुत्रौ च तादृशौ ॥ ४१ ॥**

तपस्वीकी बात सुनकर राजा चन्द्रहास महान् दुःखमें निमग्न हो गया और फिर वह आतुरतापूर्वक पैदल ही देवीके मन्दिरकी ओर चल पड़ा। वहाँ पहुँचकर उसने देखा कि वे दोनों पिता-पुत्र देवीकी मूर्तिके सामने मरे पड़े हैं॥४०-४१॥

**चन्द्रहासोऽब्रवीद् वाक्यं हे मातश्चण्डिके मयि।
क्रुद्धासि चेन्मां गृहाण त्वया ह्येतौ वृथा हतौ ॥ ४२ ॥**

यह देखकर चन्द्रहास यों बोल उठा—'हे माता चण्डिके ! यदि आप मुझपर रुष्ट हो गयी हैं तो मुझे स्वीकार कर लीजिये। आपने व्यर्थ ही इन दोनोंका वध कर दिया'॥ ४२॥

**इत्युक्त्वा पुरतो देव्याः पितापुत्रौ च तादृशौ।
दृष्ट्वा स्नात्वा शुचिर्भूत्वा स्वस्ति वाच्य ततो नृपः॥ ४३ ॥
कुण्डं खनित्वा रुचिरं चतुरस्रं सुलक्षणम्।
तस्मिन् पावकमारोप्य बलिदीपपुरःसरम् ॥ ४४ ॥
जुहावाज्यतिलान् रम्यान् पायसं सितया सह।
स्वदेहमांसमुद्धृत्य सूक्तं जप्त्वा जुहाव सः ॥४५॥**

ऐसा कहकर राजा चन्द्रहास देवीके सामने उन दोनों पिता-पुत्रको मृतक-अवस्थामें पड़ा देखकर स्वयं स्नान करके शुद्ध हुआ। फिर उसने स्वस्तिवाचन करके एक शुभ लक्षणोंसे युक्त सुन्दर चौकोर कुण्ड खोदकर तैयार किया और उस कुण्डमें बलि एवं रक्षादीपके साथ-साथ अग्निस्थापन करके वह घी-मिश्रित सुन्दर तिलों तथा शक्कर मिली हुई खीरकी आहुतियाँ देने लगा। तत्पश्चात् वह देवीसूक्तका पाठ करके अपने शरीरका मांस काट-काटकर अग्निमें हवन करने लगा॥

**सर्वं मांसं चन्द्रहासो हुत्वा पादशिरोधरान्।
अस्थीनि धारयन् शीर्षं प्राह स्म जगदम्बिकाम्॥ ४६ ॥**

इस प्रकार चन्द्रहासने अपने शरीरके पैरसे लेकर मस्तक-तकका सारा मांस काटकर होम दिया। उस समय केवल हड्डियोंका ढाँचा और मस्तक ही शेष रह गया। तब वह जगदम्बिकासे कहने लगा—॥ ४६॥

**चराचरगुरोर्विष्णोश्चिच्छक्तिस्त्वमुदाहृता ।
सर्वेषां कर्मणां मातः साक्षिणी त्वं पृथक् स्थिता ।४७।
अधुना छेद्मि खड्गेन शिरस्तेन जगत्पतिः।
प्रीयतां स हृषीकेशस्त्वद्रूपः कालिकेऽम्बिके ॥ ४८ ॥**

'माता ! आप चराचर जगत्के गुरु भगवान् विष्णुकी चित्-शक्ति कहलाती हैं और आप ही सबसे पृथक् रहकर भी सबके कर्मोंकी साक्षी हैं; इसलिये कालिके ! अब मैं तलवारसे

अपना सिर काटता हूँ, अम्बिके ! इससे आपके स्वरूपमें विराजमान जगदीश्वर हृषीकेश प्रसन्न हों ॥ ४७-४८ ॥

इत्येवमुक्त्वा तं खड्गं यावत् कण्ठे दधार सः ।
तावत् प्रादुर्बभूवैषा चण्डिका प्राह तं नृपम् ॥ ४९ ॥

यों कहकर चन्द्रहासने ज्यों ही उस तलवारको अपने गलेपर मारना चाहा, त्यों ही चण्डिका देवी प्रकट हो गयीं और वे राजा चन्द्रहाससे बोलीं—॥ ४९ ॥

मैवमात्मवधं कार्षीरेष पाप्मा कुकर्मणा ।
पञ्चत्वमगमन्मन्त्री तत्सुतोऽप्यददादृणम् ॥ ५० ॥
त्वदीयं यत् पुरा प्रोक्तं विवाहसमये स्वसुः ।
प्रसन्नाहं हरेर्भक्त चन्द्रहास तवाधुना ।
वरौ प्रार्थय भद्रं ते स्वेच्छया मानसौ ध्रुवम् ॥ ५१ ॥

'चन्द्रहास ! तुम इस प्रकार अपनी हत्या मत करो । यह पापी धृष्टबुद्धि तो अपने ही कुकर्मसे मृत्युको प्राप्त हुआ है और उसके पुत्र मदनने भी तो तुम्हारे ही ऋणको चुकाया है, जिसे उसने पहले अपनी बहिनके विवाहकालमें संकल्प किया था । हरिभक्त ! अब मैं तुमपर प्रसन्न हूँ, अतः तुम स्वेच्छानुसार मुझसे अपने किन्हीं दो मनोऽभिलषित वरोंको माँग लो । निश्चय ही तुम्हारा मङ्गल होगा' ॥ ५०-५१ ॥

चन्द्रहास उवाच

हरौ भक्तिः सदा भूयान्मम जन्मनि जन्मनि ।
वरोऽयं प्रथमो मातर्द्वितीयेन मृतौ त्विमौ ॥ ५२ ॥
पितापुत्रौ प्रजीवेतां जगत्पावनि ते नमः ।

तब चन्द्रहास बोला—जगत्को पवित्र करनेवाली देवि ! आपको प्रणाम है । माता ! मेरा पहला वर तो यह है कि प्रत्येक जन्ममें मेरी सदा श्रीहरिके चरणोंमें भक्ति बनी रहे और दूसरे वरके रूपमें मैं यह याचना करता हूँ कि ये मरे हुए दोनों पिता-पुत्र जीवित हो जायँ ॥ ५२½ ॥

श्रीदेव्युवाच

अचला ते हरौ भक्तिर्भविष्यति च सात्त्विकी ॥ ५३ ॥
पुत्रोऽपि भविता शूरस्तोषयिष्यति यो हरिम् ।

श्रीदेवीने कहा—राजन् ! श्रीहरिके चरणोंमें तुम्हारी अविचल सात्त्विकी भक्ति बनी रहेगी और तुम्हारा पुत्र भी शूरवीर होगा, जो (अपनी भक्तिसे) श्रीहरिको संतुष्ट कर देगा ॥ ५३½ ॥

आशैशवाच्चरित्रं ते चन्द्रहास कलौ युगे ॥ ५४ ॥
नरा नार्यश्च सततं श्रोष्यन्ति परमादरात् ।
पठिष्यन्ति च ये भक्त्या हृदि कृत्वा जनार्दनम् ॥ ५५ ॥
तेषां भक्तिर्हि सुदृढा भविष्यति रमापतौ ।

चन्द्रहास ! कलियुग आनेपर चाहे स्त्री हों अथवा पुरुष, जो लोग अपने हृदयमें भक्तिपूर्वक भगवान् जनार्दनका ध्यान करके बचपनसे लेकर अन्ततकके तुम्हारे चरित्रको परम आदरके साथ निरन्तर सुनेंगे अथवा पढ़ेंगे, उनकी भक्ति भगवान् श्रीलक्ष्मीपतिके चरणोंमें सुदृढ़ हो जायगी ॥ ५४-५५½ ॥

चन्द्रहास महाप्राज्ञ आयाहि पुरतो मम ।
स्थिरो भव मुहूर्तार्धं पिधाय नयने स्वके ॥ ५६ ॥

महाबुद्धिमान् चन्द्रहास ! अब तुम मेरे समीप आ जाओ और अपने दोनों नेत्र मूँदकर एक घड़ीके लिये यहाँ स्थिर होकर बैठ जाओ ॥ ५६ ॥

नारद उवाच

तथा चक्रे स नृपतिर्वैष्णवी शक्तिरुत्थिता ।
खड्गशक्तिगदाब्जाद्यैरायुधैः परिवारिता ॥ ५७ ॥
दध्रे नृपस्य शिरसि हस्तं ज्ञानोपदेशकम् ।

नारदजी कहते हैं—अर्जुन ! तब राजा चन्द्रहासने देवीके आदेशानुसार वैसा ही किया । उस समय खड्ग, शक्ति, गदा और कमल आदि आयुधोंसे सुशोभित वे वैष्णवी शक्ति उठीं और फिर उन्होंने राजाके मस्तकपर ज्ञानका उपदेश करनेवाला अपना हाथ रख दिया ॥ ५७½ ॥

ततस्तावेव सोऽपश्यद् धृष्टधीमदनौ नृपः ॥ ५८ ॥
तादृग्रूपवयोवेषौ यथा सुप्तोत्थितौ हि तौ ।

तदनन्तर राजा चन्द्रहासने (आँख खोलनेपर) देखा कि धृष्टबुद्धि और मदन—दोनों पूर्ववत् रूप, अवस्था और वेषभूषासे संयुक्त हो गये हैं और ऐसे लग रहे हैं मानो अभी नींदसे जगे हों ॥ ५८½ ॥

आत्मानं पूर्ववच्चातिनिर्व्रणं चन्दनार्चितम् ॥ ५९ ॥
न तां ददर्श जननीं जगदम्बां हरेस्तनुम् ।

उसने अपने शरीरको भी पहलेकी तरह क्षतहीन एवं चन्दनचर्चित पाया; परंतु श्रीहरिकी मूर्तिस्वरूपा वे माता जगदम्बा पुनः न दीख पड़ीं ॥ ५९½ ॥

खात् पुष्पवृष्टिं पतितां सुरमुक्तां विलोक्य च ॥ ६० ॥

नमश्चक्रे धृष्टबुद्धिं चन्द्रहासः स्मरं तथा।
समालिङ्गय सुसम्पूज्य श्वशुरं वाक्यमब्रवीत् ॥ ६१ ॥

उस समय देवता आकाशसे पुष्पवृष्टि करने लगे। यह दृश्य देखकर चन्द्रहासने धृष्टबुद्धि और मदनको प्रणाम किया। फिर अपने श्वशुर धृष्टबुद्धिका आलिङ्गनपूर्वक भलीभाँति आदर-सत्कार करके इस प्रकार कहा ॥ ६०-६१ ॥

चन्द्रहास उवाच

हरेर्माया त्वियं सर्वा कश्च जीवति को मृतः।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन भजामस्तमधोक्षजम् ॥ ६२ ॥

चन्द्रहास बोला—श्वशुरजी ! कौन मरा और कौन जीवित हुआ ? (इस विषयमें विचार करना व्यर्थ है; क्योंकि) यह सब तो श्रीहरिकी माया थी; इसलिये हमलोगोंको सब तरहके प्रयत्नोंद्वारा उन अधोक्षजका ही भजन करना चाहिये॥

नारद उवाच

एवं स वैष्णवः पार्थ व्यसनेन न पीडितः।
प्रविवेश परं ताभ्यां चन्द्रहासः पुरं निजम् ॥ ६३ ॥

नारदजी कहते हैं—पार्थ ! इस प्रकार आपत्तियोंसे मुक्त होकर वह विष्णुभक्त चन्द्रहास धृष्टबुद्धि और मदनके साथ अपने उत्तम नगर कुन्तलपुरमें प्रविष्ट हुआ ॥ ६३ ॥

अर्जुन उवाच

दैवात् प्राप महद् राज्यं चन्द्रहासो महामुने।
कुलिन्देन तु पश्चाच्च दुःखितेन तु किं कृतम् ॥ ६४ ॥

अर्जुनने पूछा—महामुने ! इस प्रकार चन्द्रहासको तो प्रारब्धवश विशाल राज्यकी प्राप्ति हो गयी; परंतु उधर कुलिन्दको जब बेड़ियोंसे जकड़कर कष्टमें डाल दिया गया, तब उसके बाद कुलिन्दने क्या किया ? (यह बतानेकी कृपा कीजिये) ॥ ६४ ॥

नारद उवाच

शृणु पार्थ महाबाहो कुलिन्दस्य च चेष्टितम्।
गतेऽथ चन्द्रहासे स पीडितो धृष्टबुद्धिना ॥ ६५ ॥
विचार्य मनसा देवं हरिं बन्धविमोक्षकम्।
धनं तद् ब्राह्मणेभ्यस्तु दत्त्वा निर्वेदमागमत् ॥ ६६ ॥

नारदजीने कहा—महाबाहु अर्जुन ! अब मैं कुलिन्दके चरित्रका वर्णन करता हूँ, सुनो। चन्द्रहासके कुन्तलपुर चले जानेपर जब धृष्टबुद्धि कुलिन्दको कष्ट देने लगा, तब उसने अपने मनमें विचार किया कि बन्धनसे मुक्त करनेवाले तो एकमात्र भगवान् श्रीहरि ही हैं। यों सोचकर उसके मनमें वैराग्य उत्पन्न हो गया, जिससे उसने अपना सारा धन ब्राह्मणोंको दान कर दिया ॥ ६५-६६ ॥

पुत्रं मे चन्द्रहासाख्यं त्वद्भक्तं त्वत्परायणम्।
त्वया दत्तं हृषीकेश रक्षास्मात् पापचेष्टितात् ॥ ६७ ॥

(फिर वह चन्द्रहासके लिये भगवान्से प्रार्थना करने लगा—) 'हृषीकेश ! मेरा चन्द्रहास नामवाला पुत्र आपका भक्त है, वह आपके ही ध्यानमें तत्पर रहता है, और उसे आपने ही मुझे प्रदान किया है; अतः भगवन् ! अब आप ही इस पापाचारीसे उसकी रक्षा कीजिये' ॥ ६७ ॥

इत्युक्त्वा स्वगृहे तस्मिन् सपत्नीकः सबान्धवः।
प्रविवेश हुताशं वै निर्विण्णो ध्यानतत्परः ॥ ६८ ॥

ऐसा कहकर निर्वेदको प्राप्त हुआ कुलिन्द भगवद्ध्यान-परायण होकर अपनी पत्नी तथा भाई-बन्धुओंके साथ अपने उस घरमें ही अग्निमें प्रवेश कर जानेका विचार करने लगा ॥

एतस्मिन्नन्तरे लोका धृष्टबुद्धौ न्यवेदयन्।
स्वामिन् कुलिन्दो नृपतिः सर्वदा हितकृत् तव ॥६९॥
दुःखात् सपरिवारोऽसौ विशति स्म हुताशनम्।

इसी समय कुछ लोगोंने धृष्टबुद्धिके पास जाकर उससे यों निवेदन किया—'स्वामिन् ! राजा कुलिन्द सदासे आपके हितकारी ही रहे हैं, परंतु आज वे दुःखसे व्याकुल होकर सपरिवार अग्निमें प्रवेश करनेको उद्यत हैं' ॥ ६९½ ॥

इति तेषां वचः श्रुत्वा प्रेरितो हरिणा ययौ ॥७०॥
विचार्य मनसा सम्यक् पुत्रोऽस्य निहतो मया।
किमर्थं घातयाम्येनं वृद्धं धनविवर्जितम् ॥७१॥
पुत्रहीनो मृतो ह्येष दैवेन हि निपातितः।
एवं विमृश्य मनसा शीघ्रं गत्वा न्यवारयत् ॥ ७२ ॥

उन लोगोंकी वैसी बात सुनकर धृष्टबुद्धि श्रीहरिकी प्रेरणासे वहाँ गया। वह अपने मनमें सम्यक्रूपसे विचार करने लगा कि 'मैंने इसके पुत्रको तो मरवा ही दिया है, अब इस धनहीन वृद्धका वध क्यों होने दूँ ? पुत्रहीन होनेके कारण यह तो यों ही मृतक-तुल्य हो गया है। दैवने ही इसे मार गिराया है। यों मनमें विचार-विमर्श करके वह शीघ्र ही वहाँ पहुँचकर कुलिन्दको रोकते हुए कहने लगा—॥ ७०—७२ ॥

मा कुलिन्द विषादं त्वं कुरु द्रव्यापहारजम्।
पुनर्दास्यामि ते वित्तं देशं च विविधं वसु ॥ ७३ ॥

'कुलिन्द ! तुम धनका अपहरण हो जानेके कारण विषाद मत करो। मैं तुम्हें पुनः बहुत-सा धन, राज्य तथा नाना प्रकारके रत्न दूँगा' ॥ ७३ ॥

इति नानाविधैर्वाक्यैराश्वस्तः स कुलिन्दकः।
पुत्राशां परमां कृत्वा उत्थितः प्रणनाम तम् ॥ ७४ ॥

इस प्रकार जब धृष्टबुद्धिने अनेक प्रकारकी बातें कहकर उसे आश्वासन दिया, तब वह कुलिन्द अपने पुत्र चन्द्रहाससे मिलनेकी बहुत बड़ी आशा करके उठा और फिर उसने धृष्टबुद्धिको प्रणाम किया ॥ ७४ ॥

धृष्टबुद्धिस्त्वाजगाम तं निवार्य स्वमन्दिरम्।
कुलिन्देन श्रुतं सर्वं चन्द्रहासेन यत् कृतम् ॥ ७५ ॥

इस प्रकार कुलिन्दको भस्म होनेसे रोककर धृष्टबुद्धि अपने भवनको लौट गया। तत्पश्चात् चन्द्रहासने कुन्तलपुरमें जो कुछ किया था, वह सारा वृत्तान्त कुलिन्दने भी सुना ॥ ७५ ॥

तच्छ्रुत्वा हर्षसम्पन्नो हरिं नत्वा द्विजान् धनैः।
पूजयामास धर्मात्मा याचकानथ सर्वशः ॥७६॥

उसे सुनकर वह परमानन्दमें निमग्न हो गया। फिर उस धर्मात्माने भगवान् श्रीहरिको नमस्कार करके ब्राह्मणों तथा याचकोंको धन देकर सब तरहसे उन्हें सत्कृत किया ॥ ७६ ॥

चन्द्रहासोऽपि तद् राज्यं लब्ध्वा तानर्चयद् द्विजान्।
स्वयं तु बन्धुभिः सार्धं मदनेन द्विजातिभिः ॥ ७७ ॥
आनयामास पितरं मातरं पुत्रवत्सलाम्।
ततः कौन्तलके राज्यं चकाराब्दशतत्रयम् ॥ ७८ ॥

उधर चन्द्रहासने भी कुन्तलपुरका राज्य पाकर वहाँके निवासी द्विजवरोंकी पूजा की और स्वयं भाई-बन्धुओं, ब्राह्मणों और मदनके साथ (चन्दनावतीपुरी जाकर) अपने पिता कुलिन्द तथा पुत्रवत्सला माताको कुन्तलपुर लिवा लाया। तत्पश्चात् तीन सौ वर्षोंसे वह कुन्तलपुरमें राज्य कर रहा है ॥ ७७-७८ ॥

विषयासूत तनयं मकरध्वजमूर्जितम्।
असूत शूरं पद्माक्षं सुतं चम्पकमालिनी ॥ ७९ ॥

इसी बीचमें विषयाने मकरध्वज नामक बलवान् पुत्रको जन्म दिया है और चम्पकमालिनीके गर्भसे पद्माक्ष नामवाला शूरवीर पुत्र उत्पन्न हुआ है ॥ ७९ ॥

इत्थं पार्थ महाबाहो चन्द्रहासः पुरा शिशुः।
शालग्रामशिलासङ्गान्निस्ततार भवार्णवम् ॥ ८० ॥
तस्मात् सम्पूजयेन्नित्यं शालग्रामशिलां नरः।

महाबाहु अर्जुन ! इस प्रकार पूर्वकालमें बालक चन्द्रहास शालग्राम-शिलाके संगसे इस भवसागरको पार कर गया था; इसलिये मनुष्यको नित्य शालग्राम-शिलाकी अर्चना करनी चाहिये ॥ ८०½ ॥

शालग्रामशिलां चक्रं द्वारकायाः समुद्भवम् ॥ ८१ ॥
कलिकाले विभुः पार्थ न जहाति जनार्दनः।

पार्थ ! कलिकालमें सर्वव्यापी जनार्दन शालग्राम शिलाका तथा द्वारकामें उत्पन्न हुए गोमतीचक्रका कभी परित्याग नहीं करते ॥ ८१½ ॥

सर्वलोकोपकाराय यतिरूपेण तिष्ठति ॥ ८२ ॥
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन यतिः पूज्यो हि केशवः।

भगवान् केशव समस्त लोकोंके उपकारके लिये यतिरूपसे विराजमान रहते हैं; इस कारण सभी उपायोंद्वारा संन्यासियोंकी पूजा करनी चाहिये ॥ ८२½ ॥

द्वे रूपे देवदेवस्य चरं चाचरमेव च ॥ ८३ ॥
चरं संन्यासिनं प्राहुरचरं चक्रचिह्नितम्।

अर्जुन ! उन देवदेवेश्वर भगवान् केशवके दो रूप हैं—एक चर और दूसरा अचर। उनमें संन्यासीको चररूप कहा जाता है और चक्रचिह्नित शिला (गोमतीचक्र) भगवान्का अचर रूप है ॥ ८३½ ॥

यदीच्छसि हि दुष्पारं तर्तुं संसारसागरम् ॥ ८४ ॥
शालग्राममयं शैलं भक्त्यार्चय महामते।

महाबुद्धे ! यदि तुम इस दुस्तर संसार-सागरको सुगमतासे पार करना चाहते हो तो भक्तिपूर्वक शालग्राम-शिलाकी अर्चना करो ॥ ८४½ ॥

शालग्रामशिलां चक्रं ये यच्छन्ति महीपते ॥ ८५ ॥
विष्णुभक्ताय विप्राय तेषां मुक्तिर्न दुर्लभा।

महीपाल ! जो लोग विष्णु-भक्त ब्राह्मणको शालग्राम-

शिला और गोमतीचक्र प्रदान करते हैं, उनके लिये मुक्ति दुर्लभ नहीं रह जाती ॥ ८५½ ॥

अर्चितः पूजितो ध्यातः संस्तुतः शैलनायकः ॥ ८६ ॥
पापिनामुपकाराय किं पुनर्धर्मशीलिनाम् ।

शालग्राम-शिलाका अर्चन, पूजन, ध्यान और भलीभाँति स्तवन करनेपर उसके स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण पापियोंका भी उपकार (उद्धार) कर देते हैं, फिर धर्मात्माओंके लिये तो कहना ही क्या है ॥ ८६½ ॥

नैमिषाच्च प्रयागाच्च गङ्गासागरसंगमात् ॥ ८७ ॥
कुरुक्षेत्राच्छतगुणं शालग्रामशिलार्चनम् ।

शालग्रामशिलाका पूजन नैमिषारण्य, प्रयाग, गङ्गासागर-संगम और कुरुक्षेत्रकी यात्रासे सौगुना अधिक फल देनेवाला है ॥ ८७½ ॥

यदि युक्ता महापापैर्जन्मकोटिसमुद्भवैः ॥ ८८ ॥
मुच्यन्ते नात्र संदेहः शालग्रामशिलार्चनात् ।

यदि करोड़ों जन्मोंमें समुपार्जित महान् पापोंसे युक्त मनुष्य शालग्रामशिलाका पूजन करते हैं तो वे उस अर्चनाके प्रभावसे उन पापोंसे मुक्त हो जाते हैं, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है ॥ ८८½ ॥

शालग्रामशिलात्यक्तं चन्दनं वाथ कुङ्कुमम् ॥ ८९ ॥
देहे धारयते नित्यं स मुक्तो नात्र संशयः ।

जो शालग्रामशिलासे उतरे हुए चन्दन अथवा कुङ्कुमको नित्य अपने शरीरपर धारण करता है, वह तो निस्संदेह मुक्त ही है ॥ ८९½ ॥

शालग्रामशिलात्यक्तं निर्माल्यं शिरसा वहेत् ॥ ९० ॥
हरिरेव स मन्तव्यो ब्रह्मणा कथितं स्वयम् ।

जो मनुष्य पूजनके पश्चात् शालग्रामशिलापरसे उतरे हुए निर्माल्यको अपने सिरपर धारण करता है, उसे तो साक्षात् श्रीहरि ही समझना चाहिये, ऐसा स्वयं ब्रह्माजीने कहा है ॥ ९०½ ॥

शालग्रामशिलादत्तं नैवेद्यं यस्तु भक्षयेत् ॥ ९१ ॥
सिक्थे सिक्थे भवेत् पुण्यं कपिलागोसमुद्भवम् ।

जो मनुष्य शालग्रामशिलाको नैवेद्य (भात आदि) अर्पित करके पीछे उस प्रसादको स्वयं खाता है, उसे उसके एक-एक दानेमें कपिला गौके दानसे उत्पन्न हुए फलके समान पुण्य प्राप्त होता है ॥ ९१½ ॥

शालग्रामशिलास्पर्शं ये कुर्वन्ति दिने दिने ॥ ९२ ॥
तैः कृतं पूजनं भूप पितृविप्रदिवौकसाम् ।

राजन् ! जो लोग प्रतिदिन शालग्रामशिलाका स्पर्श करते हैं, उन्होंने तो मानो देवता, पितर और ब्राह्मणोंकी पूजा कर ली अर्थात् उन्हें इनके पूजनका फल प्राप्त हो जाता है ॥ ९२½ ॥

शालग्रामसमीपे तु यः श्राद्धं कुरुते नरः ॥ ९३ ॥
नित्यं नैमित्तिकं वापि गयाश्राद्धसमं भवेत् ।

जो मनुष्य शालग्रामके समीप नित्य अथवा नैमित्तिक श्राद्ध भी करता है, उसका वह श्राद्ध गया-श्राद्धके समान फलदायक होता है ॥ ९३½ ॥

शालग्रामसमीपे तु भक्त्या पुस्तकवाचनम् ॥ ९४ ॥
भारतं हरिवंशं वा पुत्रदं धनदं भवेत् ।

शालग्रामके समीप भक्तिपूर्वक महाभारत एवं हरिवंशकी पुस्तकका पारायण-पाठ पुत्र एवं धन प्रदान करनेवाला होता है ॥ ९४½ ॥

श्रीमद्भागवतं पुण्यं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ॥ ९५ ॥
शृणोति हृष्टमनसा स पुनाति जनान् बहून् ।

श्रीमद्भागवत भोग और मोक्षरूप फल प्रदान करनेवाला है । जो मनुष्य शालग्रामके सामने प्रसन्न मनसे उस पुण्यमय पुराणका श्रवण करता है, वह बहुत-से लोगोंको पवित्र कर देता है ॥ ९५½ ॥

शालग्रामशिला यस्य नित्यं तिष्ठति वेश्मनि ॥ ९६ ॥
तत्र सर्वाणि तीर्थानि सन्ति सर्वे सुरा मखाः ।

जिसके घरमें सदा शालग्रामकी मूर्ति वर्तमान रहती है, वहाँ समस्त तीर्थ तथा सारे देवता और यज्ञ निवास करते हैं ॥ ९६½ ॥

अन्तकालेऽपि यस्यास्ये शालग्रामशिलोदकम् ॥ ९७ ॥
क्षिप्यते पापिनोऽपीह स याति परमां गतिम् ।

इस संसारमें प्राणत्यागके अवसरपर भी जिस पापीके भी मुखमें शालग्रामशिलाका चरणोदक डाल दिया जाता है, वह परम गतिको पा लेता है ॥ ९७½ ॥

नारायणसमो बन्धुर्न तिथिर्द्वादशीसमा ॥ ९८ ॥
विष्णुपादोदकैस्तीर्थं न तुल्यं भुवनत्रये ।

इस त्रिलोकीमें नारायण-सरीखा (अकारण हितैषी) बन्धु, द्वादशीके समान (पुण्यमयी) तिथि और विष्णुके चरणोदकके सदृश पवित्र तीर्थ कोई नहीं है ॥ ९८½ ॥

दर्शनात् पातकं हन्ति तुलसी नवपल्लवा ॥ ९९ ॥
तस्यास्तु दीर्घमञ्जर्यां नित्यं वसति केशवः ।

नवीन पल्लवोंसे सुशोभित तुलसी दर्शनसे ही पापोंका विनाश कर देती है; क्योंकि उसकी लंबी-लंबी मञ्जरियोंमें भगवान् केशव नित्य निवास करते हैं ॥ ९९½ ॥

तत्पत्रैः केशवः पूज्यो गलितैरपि चार्जुन ॥१००॥
तस्य यज्ञकृतं पुण्यं भवतीति न संशयः ।

इसलिये अर्जुन ! यदि पत्ते तुलसीके वृक्षसे टूटकर गिर गये हों तो उन पत्तोंसे भी भगवान् केशवकी पूजा करनी चाहिये । इस प्रकार जो तुलसीदलसे भगवान् विष्णुकी पूजा करता है, उसे यज्ञ करनेका पुण्य प्राप्त होता है । इसमें कुछ भी संदेह नहीं है ॥ १००½ ॥

शालग्रामशिलायास्तु महिमा वर्णितुं मया ॥१०१॥
न शक्यते बहुत्वाच्च गमिष्यामि सुरालयम् ।

पार्थ ! शालग्रामशिलाकी महिमा तो बहुत बड़ी है, इसलिये मैं उसका पूर्णरूपसे वर्णन नहीं कर सकता; अतः अब मैं देवलोकको जाना चाहता हूँ ॥ १०१½ ॥

इत्युक्त्वा नारदः प्रायादर्जुनो विस्मयं ययौ ॥१०२॥
सतां सङ्गाद् विना लोके लभ्यते न सुखं नरैः ।

ऐसा कहकर जब नारदजी चले गये, तब अर्जुनको महान् विस्मय हुआ और वे कहने लगे कि इस जगत्में सत्पुरुषोंकी संगतिके बिना मनुष्योंको सुखकी प्राप्ति दुर्लभ है ॥ १०२½ ॥

इति ब्रुवन् सव्यसाची सर्वैर्भूपतिभिर्वृतः ॥१०३॥
जगाम चन्द्रहासस्य पुरं कौन्तलकं मुदा ॥१०४॥

यों कहते हुए सव्यसाची अर्जुन सभी राजाओंके साथ आनन्दपूर्वक चन्द्रहासके कुन्तलपुरकी ओर चले॥१०३-१०४॥

जैमिनिरुवाच

इतिहासमिमं भक्त्या यः शृणोति पठत्यपि ।
स भुक्त्वा विविधान् भोगान् विष्णुलोके महीयते१०५

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! जो मनुष्य भक्तिपूर्वक इस इतिहासको पढ़ता अथवा सुनता है, वह इस लोकमें नाना प्रकारके भोग भोगकर मृत्युके पश्चात् विष्णुलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ १०५ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि चन्द्रहासोपाख्याने शालग्राममहिमावर्णनं नामाष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें चन्द्रहासोपाख्यानके प्रसंगमें शालग्रामकी महिमाका वर्णन नामक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

चन्द्रहासका श्रीकृष्णके दर्शनकी इच्छासे अपने पुत्र मकरध्वजको घोड़ोंको पकड़नेके लिये आदेश देना, श्रीकृष्णका चन्द्रहासको चतुर्भुजरूपमें दर्शन देना, उसका अर्जुनके साथ मेल कराना और कुन्तलपुरका राज्य चन्द्रहासके पुत्रको देकर आगे बढ़ना

जनमेजय उवाच

दधार चन्द्रहासः किं वाजिनौ तौ न वा मुने ।
एतत् सर्वं समाख्याहि मया पृष्टोऽसि जैमिने ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—मुने ! क्या चन्द्रहासने उन दोनों घोड़ोंको पकड़ लिया था या नहीं ? जैमिनिजी ! मैंने जो पूछा है, वह सब आप विस्तारपूर्वक बताइये ॥ १ ॥

जैमिनिरुवाच

प्रातःकाले तु बाह्यस्थौ तस्मिन् कौन्तलके पुरे ।
ददर्शतुर्हरी प्राप्तौ पद्माक्षमकरध्वजौ ॥ २ ॥

जैमिनिजीने कहा—राजन् ! प्रातःकाल मकरध्वज और पद्माक्ष दोनों नगरके बाहर टहल रहे थे, उसी समय उन्होंने उन दोनों घोड़ोंको अपने नगर कुन्तलपुरमें आया हुआ देखा ॥ २ ॥

विस्मयं परमं प्राप्तौ दधतुस्तौ तुरङ्गमौ ।
पत्राभिप्रायमालोक्य जग्मतुः पितरं तदा ॥ ३ ॥

फिर तो उन्होंने उन घोड़ोंको पकड़ लिया और (घोड़ोंके मस्तकपर बँधे हुए) स्वर्णपत्रके अभिप्रायको समझकर वे परम विस्मित हुए । तब वे अपने पिता चन्द्रहासके पास गये (और उनसे उन्होंने उन घोड़ोंके विषयमें निवेदन किया) ॥ ३ ॥

चन्द्रहासोऽपि विज्ञाय प्राप्तौ पार्थतुरङ्गमौ ।
प्रहर्षमतुलं लेभे जातः कृष्णसमागमः ॥ ४ ॥

चन्द्रहासको भी जब यह ज्ञात हुआ कि अर्जुनके दोनों घोड़े मेरे नगरमें आ पहुँचे हैं, तब उन्हें परम हर्ष प्राप्त हुआ । (वे सोचने लगे कि) 'अब तो अवश्य श्रीकृष्णका दर्शन प्राप्त होगा ॥ ४ ॥

आशैशवान्मया देवो नित्यं यश्चिन्त्यते हरिः ।
स केशवः पार्थयुतो नूनमत्रागमिष्यति ॥ ५ ॥

'बचपनसे ही मैं जिन भगवान् श्रीहरिका सदा ध्यान करता रहता हूँ, वे केशव अर्जुनके साथ निश्चय ही यहाँ पधारेंगे' ॥ ५ ॥

विषयातनयं प्राह चन्द्रहासः शुभं वचः ।
साक्षाद् धर्मस्य सम्प्राप्तौ वाजिनौ पुत्र साम्प्रतम् ॥ ६ ॥

ऐसा विचारकर चन्द्रहासने विषयानन्दन मकरध्वजसे यह शुभ वचन कहा—'बेटा ! इस समय साक्षात् धर्मके अवतार युधिष्ठिरके ये दोनों घोड़े हमारे यहाँ आ गये हैं ॥६॥

रक्षितौ वर्षमात्रं तैः क्लेशेनेति मया श्रुतम् ।
धारयिष्यसि चेदेतौ पूर्णाब्दे विफलः क्रतुः ॥ ७ ॥

'मैंने सुना है कि उन लोगोंने महान् कष्ट झेलकर वर्ष-पर्यन्त इन अश्वोंकी रक्षा की है । अब यदि तू इन्हें पकड़ लेगा तो वर्ष पूर्ण हो जानेपर उनका यज्ञ निष्फल हो जायगा ॥ ७ ॥

त्वं रक्ष वाजिनौ पुत्र मासमात्रं प्रयत्नतः ।
बद्ध्वेमौ वाजिनौ पश्चाद् धर्मराजाय चार्पय ॥ ८ ॥

'अतः पुत्र ! तू इन घोड़ोंको बाँधकर एक महीनेतक प्रयत्नपूर्वक इनकी रक्षा कर । तत्पश्चात् इन्हें धर्मराजको समर्पित कर देना ॥ ८ ॥

सुकृतेनैव नः कार्यं वाजिभ्यां किं प्रयोजनम् ।
सुकृतं वासुदेवस्य दर्शनान्नो भविष्यति ॥ ९ ॥
अहं योत्स्येऽद्य पार्थेन यथा तुष्येदयं हरिः ।

'क्योंकि इन घोड़ोंसे हमारा क्या प्रयोजन है ? हमें तो पुण्यसे ही मतलब है और वह पुण्य हमें भगवान् वासुदेवके दर्शनसे प्राप्त हो जायगा । इसलिये आज मैं अर्जुनके साथ युद्ध करूँगा, जिससे ये श्रीहरि प्रसन्न हो जायँ' ॥ ९½ ॥

जैमिनिरुवाच

विषयातनयः प्रायाद् वाजिनौ परिपालयन् ॥ १० ॥
चन्द्रहासोऽपि नगराद् बहिस्तस्थौ ससैनिकः ।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर मकरध्वज उन घोड़ोंकी रक्षा करनेके लिये चला गया और इधर चन्द्रहास भी सैनिकोंके साथ नगरके बाहर आकर डटकर खड़े हो गये ॥ १०½ ॥

एतस्मिन्नन्तरे प्राप्तः स पार्थः कृष्णसारथिः ॥ ११ ॥
ददर्श चन्द्रहासं तं गरीयांसं तु वैष्णवम् ।

इसी समय श्रीकृष्ण जिनके रथपर सारथिरूपसे विराजमान थे, वे अर्जुन वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने परम विष्णु-भक्त उस चन्द्रहासको वहाँ खड़ा हुआ देखा ॥ ११½ ॥

शङ्खचक्राङ्किततनुं बिभ्राणं चोर्ध्वपुण्ड्रकम् ॥ १२ ॥
श्रीमत्कृष्णपदाम्भोजतुलसीपूतमस्तकम् ।
वयोवृद्धं तपोवृद्धं ज्ञानवृद्धं नवं युधि ॥ १३ ॥

उनका शरीर शङ्ख और चक्रके चिह्नोंसे अङ्कित था, ललाटपर ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक सुशोभित था, मस्तक भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंपर चढ़े हुए तुलसीदलसे पवित्र हो रहा था । वे अवस्था, तप और ज्ञानमें तो वृद्ध थे; परंतु युद्धस्थलमें नवयुवक-से डटकर खड़े थे ॥ १२-१३ ॥

पार्थोऽब्रवीन्मे सफलं जन्म चास्मत्कुलं तथा ।
यच्चन्द्रहासो दृष्टोऽयं बाल्यादारभ्य वैष्णवः ॥ १४ ॥

उन्हें देखकर अर्जुनने कहा—'भगवन् ! जो बाल्यावस्थासे ही विष्णु-भक्तिमें तत्पर रहनेवाले इन चन्द्रहासका दर्शन मुझे प्राप्त हो गया, इससे हमारा जन्म तथा कुल—दोनों सफल हो गये' ॥ १४ ॥

अथ कृष्णोऽपि संतस्थौ रथोपस्थे चतुर्भुजः ।
शङ्खचक्रगदाम्भोजैरायुधैः समलंकृतः ॥ १५ ॥

तदनंन्तर श्रीकृष्णने भी अपना चतुर्भुज रूप धारण कर लिया। उनके चारों हाथोंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म आयुधरूपसे सुशोभित होने लगे और वे उस रथकी बैठकपर खड़े हो गये ॥ १५ ॥

तं दृष्ट्वा पुण्डरीकाक्षं चन्द्रहासो रथात् तदा।
अवतीर्य नमश्चक्रे पार्थस्य पुरतस्तदा ॥ १६ ॥
आलिलिङ्ग हरिर्दोर्भिश्चन्द्रहासं विशाम्पते।

प्रजानाथ! तब कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णको देखकर चन्द्रहास अपने रथसे उतर पड़े और आगे बढ़कर उनके चरणोंमें अभिवादन करने लगे, उस समय श्रीकृष्णने अर्जुनके सामने ही चन्द्रहासको अपनी भुजाओंसे उठाकर हृदयसे लगा लिया ॥ १६½ ॥

वासुदेव उवाच

उत्तिष्ठालिङ्ग भो पार्थ मद्भक्तं ध्रुवसंनिभम्॥ १७ ॥
चन्द्रहासं महाबाहुं वृद्धं सद्धर्मकारकम्।

पुनः श्रीकृष्णने (अर्जुनसे) कहा—भो पार्थ! तुम भी उठो और इन महाबाहु चन्द्रहासका आलिङ्गन करो। ये ध्रुवके समान मेरे प्यारे भक्त हैं। इनकी अवस्था वृद्ध हो चली है और ये सद्धर्मका पालन करने एवं करानेवाले हैं॥

पार्थ उवाच

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणःपरधर्मात् स्वनुष्ठितात् ॥ १८ ॥
इत्थं हि शिक्षितं कृष्ण त्वया भीष्मसमागमे।
विपरीतं कथं ब्रूषे साम्प्रतं देवकीसुत ॥ १९ ॥
युद्धमत्र प्रकर्तव्यं कथमालिङ्गनं ददे।
नमस्करोमि चरणौ वृद्धत्वादस्य भूपतेः ॥ २० ॥

(यह सुनकर) अर्जुन बोले—श्रीकृष्ण! पहले पितामह भीष्मजीके साथ मुठभेड़ होनेके अवसरपर तो आपने मुझे ऐसी शिक्षा दी थी कि 'भलीभाँति आचरणमें लाये हुए पराये धर्मसे अपना धर्म गुणहीन भी हो तो वह श्रेष्ठ है।' देवकीनन्दन! इस समय आप उससे विपरीत कैसे कह रहे हैं। यहाँ तो युद्ध करना ही उचित प्रतीत हो रहा है, फिर मैं इन चन्द्रहासका आलिङ्गन कैसे करूँ। (अच्छा, यदि आपकी आज्ञा है तो) वृद्ध होनेके कारण मैं इन नरेशके चरणोंमें प्रणाम कर लूँगा ॥ १८–२० ॥

श्रीकृष्ण उवाच

मद्भक्तश्च नमस्कार्यः समालिङ्ग्यो विशेषतः।
कपिलागोशते दत्ते यत् फलं जायते नृणाम् ॥ २१ ॥
तत् फलं लभते पार्थ वैष्णवालिङ्गनान्नरः।

श्रीकृष्णने कहा—पृथानन्दन! मेरे भक्तको नमस्कार करना चाहिये और विशेषरूपसे उसका आलिङ्गन करना उचित है; क्योंकि सौ कपिला गौओंके दानसे मनुष्योंको जिस फलकी प्राप्ति होती है, वह फल मनुष्य विष्णु-भक्तका आलिङ्गन करनेसे पा लेता है ॥ २१½ ॥

मद्भक्तेषु च या प्रीतिः स धर्मः परिकीर्तितः ॥ २२ ॥
परिष्वजैनं चन्द्रहासं वैष्णवं विष्णुवल्लभम् ॥ २३ ॥

मेरे भक्तोंसे जो प्रेम किया जाता है, वही धर्म कहलाता है; इसलिये अर्जुन! तुम इन विष्णुके प्यारे भक्त चन्द्रहासका आलिङ्गन करो ॥ २२-२३ ॥

जैमिनिरुवाच

अथार्जुनो गाढमालिङ्ग्य तस्थौ
तं चन्द्रहासं कृष्णवाक्येन तुष्टः।
तदाब्रवीच्चन्द्रहासोऽपि वाक्यं
युद्धायाहं संस्थितः पाण्डुसूनो ॥ २४ ॥
मखो विनश्येत् तव नूनं विसृष्टः
पुत्रो मया वाजिनो रक्षणार्थम्।
जातं सख्यं नौ हरेः सद्वचोभि-
स्तस्मादमुं केशवं संश्रयावः ॥ २५ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! श्रीकृष्णकी ऐसी बातें सुनकर अर्जुनको संतोष हो गया। फिर वे चन्द्रहासका गाढ़ आलिङ्गन करके उनके सामने खड़े हो गये। तब चन्द्रहासने भी इस प्रकार कहा—'पाण्डुनन्दन! मैं तो युद्धके लिये तैयार खड़ा था और मैंने अपने पुत्रको आपके घोड़ेकी रखवालीके लिये भेज दिया है। ऐसा करनेसे निश्चय ही आपके यज्ञका विनाश हो जाता। परंतु इन श्रीहरिके उत्तम वचनोंसे हमारे और आपमें मित्रता स्थापित हो गयी है, इसलिये अब हम दोनोंको इन श्रीकेशवका ही आश्रय ग्रहण करना चाहिये ॥ २४-२५ ॥

एवं चोभौ भाषमाणौ तुरङ्गौ
समायातौ यत्र कृष्णार्जुनौ स्तः।

तयोः पृष्ठे विषयासूनुरागा-
न्नमश्चक्रे पितरं तौ च कृष्णौ ॥ २६ ॥
प्रद्युम्नाद्यैः पूजितश्चन्द्रहास-
स्तस्थौ कृष्णं संस्तुवन् वाग्विलासैः॥२७॥

वे दोनों यों बातें कर ही रहे थे, तबतक वे दोनों घोड़े वहाँ आ पहुँचे जहाँ श्रीकृष्ण और अर्जुन विद्यमान थे। उन अश्वोंके पीछे लगा हुआ विषयानन्दन मकरध्वज भी वहाँ आया और उसने अपने पिता चन्द्रहासको तथा श्रीकृष्ण और अर्जुन—इन दोनोंको प्रणाम किया। तत्पश्चात् प्रद्युम्न आदि वीरोंने भी चन्द्रहासका सत्कार किया। तब चन्द्रहास सुन्दर वाणीद्वारा श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए उनके सामने खड़े हो गये ॥ २६-२७ ॥

जैमिनिरुवाच

महोत्सवेन तौ कृष्णौ प्रवेश्य नगरं मुदा।
चन्द्रहासः कृष्णयुतः स बभौ भूपुरन्दरः ॥ २८ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर चन्द्रहास आनन्दपूर्वक बड़े समारोहके साथ उन श्रीकृष्ण और अर्जुनको अपने नगरमें लिवा ले गये। उस समय श्रीकृष्णसे संयुक्त होनेके कारण वे भूतलपर इन्द्रके समान सुशोभित होने लगे ॥

चन्द्रहासाश्रयात् सर्वे जनाः कृष्णपरायणाः।
धृष्टबुद्धिः पुत्रयुतः कृतार्थः समपद्यत ॥ २९ ॥
तत्पदं वासुदेवस्य वैष्णवानुग्रहान्नृप।

राजा जनमेजय! इस प्रकार चन्द्रहासके आश्रयसे सारी जनता कृष्णपरायण हो गयी और उन विष्णु-भक्तके अनुग्रहसे अपने पुत्र मदनसहित धृष्टबुद्धि कृतार्थ होकर भगवान् श्रीकृष्णके परमपदको प्राप्त हो गया ॥ २९½ ॥

ततो गालवमाहूय हरेः पूजां व्यधान्नृप ॥ ३० ॥
गालवं तं समालोक्य आगच्छन्तं तदा हरिः।
नमश्चक्रे योगिराजं परमानन्दनिर्भरम् ॥ ३१ ॥

राजन्! तदनन्तर चन्द्रहासने अपने पुरोहित गालव मुनिको बुलवाकर श्रीकृष्णकी पूजा सम्पन्न की। उस समय परमानन्दमें निमग्न हुए योगिराज गालव मुनिको आते देखकर श्रीकृष्णने उन्हें प्रणाम किया ॥ ३०-३१ ॥

गालवोऽपि नमश्चक्रे परमात्मानमव्ययम्।
मनसा तत्पदं ध्यायन् मुहूर्तं तन्मयो ह्यभूत् ॥ ३२ ॥

तब गालवने भी उन अविनाशी परमात्मा श्रीकृष्णको नमस्कार किया और दो घड़ीतक मन-ही-मन उनके चरणोंका ध्यान करते हुए वे तन्मय हो गये ॥ ३२ ॥

पूजां प्राप हरिस्तत्र चन्द्रहासेन तोषितः।
स्थित्वा त्रिरात्रं नगरे ह्यनुज्ञाप्य च गालवम् ॥ ३३ ॥
निर्ययौ नगरात् तस्मात् कृष्णः कमललोचनः।
चन्द्रहासोऽपि तद् राज्यं ददौ कृष्णकरे मुदा ॥ ३४ ॥

इस प्रकार वहाँ श्रीकृष्णकी पूजा हुई थी और वे चन्द्रहाससे सत्कृत होकर तीन राततक उस नगरमें ठहरे रहे। तत्पश्चात् कमलनयन श्रीकृष्ण गालव मुनिकी आज्ञा लेकर उस नगरसे बाहर निकले। उस समय चन्द्रहासने आनन्दपूर्वक अपना वह राज्य भी श्रीकृष्णके हाथमें समर्पित कर दिया ॥

कृष्णोऽपि प्रददौ सर्वं तत्पुत्रायार्जुनाज्ञया।
अर्जुनः परमानन्दमवाप नृपदर्शनात् ॥ ३५ ॥

तब श्रीकृष्णने भी अर्जुनकी अनुमतिसे वह सारा राजपाट चन्द्रहासके पुत्र मकरध्वजको प्रदान कर दिया। इस प्रकार राजा चन्द्रहासके दर्शनसे अर्जुनको परमानन्दकी प्राप्ति हुई थी ॥ ३५ ॥

इदं चरित्रं चन्द्रहासस्य भक्त्या
नरः पठेच्छृणुयाद् यः समग्रम्।
स चाप्नुयाद् बलमायुश्च पुत्रान्
सदाचारान् विष्णुभक्तांश्च दातॄन् ॥ ३६ ॥
कृष्णे भक्तिः सुदृढा ह्यन्तकाले
संसाराब्धेस्तारयेद् वासुदेवः ॥ ३७ ॥

जो मनुष्य चन्द्रहासके इस सम्पूर्ण चरित्रको भक्तिपूर्वक पढ़ेगा अथवा सुनेगा, उसे बल, आयु तथा सदाचारी, दाता एवं विष्णु-भक्त पुत्रोंकी प्राप्ति होगी। अन्त समयमें उसकी भक्ति भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें सुदृढ़ हो जायगी, जिससे भगवान् वासुदेव भवसागरसे उसका उद्धार कर देंगे ॥ ३६-३७ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि चन्द्रहासोपाख्यानसमाप्तिर्नामैकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें चन्द्रहासोपाख्यानकी समाप्ति नामक उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

षष्टितमोऽध्यायः

चन्द्रहासका अपने पुत्र मकरध्वजको राज्यपर अभिषिक्त करके श्रीकृष्णके साथ घोड़ेकी रक्षामें जाना, घोड़ोंका उत्तर दिशामें जाकर समुद्रमें घुस जाना, हंसध्वज, बभ्रवाहन, प्रद्युम्न और मयूरध्वजके साथ अर्जुनका समुद्रमें प्रवेश करना, वहाँ बकदाल्भ्य ऋषिसे भेंट और वार्तालापके प्रसंगमें ऋषिका वैराग्य और श्रीकृष्णकी महिमा तथा अनेक मुखवाले ब्रह्माओंकी कथाका वर्णन करना, श्रीकृष्णका ऋषिको पालकीपर बैठाकर ले चलना

जैमिनिरुवाच

चन्द्रहासः पुराध्यक्षं विषयातनयं व्यधात्।
अब्रवीच्च मया पुत्र वार्द्धकत्वाद् वनं महत्॥ १॥
गन्तव्यं मोक्षलाभाय स मोक्षः सुलभोऽधुना।
कृष्णस्य दर्शनाज्जातो न मुञ्चामि ततो हरिम्॥ २॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! जब चन्द्रहासने विषयाकुमार मकरध्वजको कुन्तलपुरका अध्यक्ष नियुक्त कर दिया, तब उसने अपने पुत्रसे कहा—'बेटा ! अब मैं वृद्ध हो चला हूँ, अतः मोक्ष-प्राप्तिके लिये मेरा विशाल वनमें चला जाना ही उचित है। वह मोक्ष इस समय श्रीकृष्णके दर्शनसे मेरे लिये सुलभ भी हो गया है, इसलिये अब मैं इन श्रीहरिका आश्रय नहीं छोड़ूँगा' ॥ १-२ ॥

इति संदिश्य तनयं कृष्णेन सहितो ययौ।
पालयन् वाजिनौ तस्य पार्थस्यामिततेजसः॥ ३॥

इस प्रकार अपने पुत्र मकरध्वजको आदेश देकर चन्द्रहास अमित तेजस्वी उन अर्जुनके घोड़ोंकी रक्षा करते हुए श्रीकृष्णके साथ ही चल दिये ॥ ३ ॥

येषु येषु च देशेषु तौ प्राप्तौ वाजिनौ नृप।
तत्रत्यै राजभिर्मुक्तौ नमस्कृत्य महाभयात्॥ ४॥

राजन् ! वे दोनों घोड़े जिन-जिन देशोंमें जाते, वहाँ-वहाँके नरेश अत्यन्त भयभीत होनेके कारण उन्हें नमस्कार करके दूर हट जाते थे ॥ ४ ॥

केचिद्वरी तु हरिणा पालितौ वीक्ष्य सादरम्।
दक्षिणीकृत्य सम्पूज्य भक्त्या नत्वाग्रतः स्थिताः॥ ५॥

कुछ भूपाल उन घोड़ोंको श्रीकृष्णद्वारा सुरक्षित देखकर आदरपूर्वक प्रदक्षिणा करके उनकी सम्यक् प्रकारसे पूजा करते थे और फिर भक्तिपूर्वक नमस्कार करके आगे खड़े हो जाते थे ॥ ५ ॥

अथोत्तरस्यामम्भोधिं दिशि प्राप्तौ तुरङ्गमौ।
प्रविष्टौ सरितां पत्युर्जलेऽगाधे विशाम्पते॥ ६॥

प्रजानाथ ! तदनन्तर वे दोनों घोड़े उत्तर दिशामें आगे बढ़ते हुए समुद्रतटपर जा पहुँचे और उस नदीपतिके अगाध जलमें घुस गये ॥ ६ ॥

दुःखं प्राप्ताः पार्थमुख्या योधाः प्रोचुर्हरिं प्रति।
किमिदानीं प्रकर्तव्यं तयोः प्राप्तिः कथं भवेत्॥ ७॥

यह देखकर अर्जुन आदि प्रधान वीर दुखी हो गये और वे श्रीकृष्णसे पूछने लगे—'भगवन् ! अब हमलोगोंको क्या करना चाहिये ? उन दोनों घोड़ोंकी प्राप्ति कैसे सम्भव होगी ?' ॥

श्रीभगवानुवाच

पञ्चानां केवला ह्यश्वाः सन्ति वारिचराः शुभाः।
हंसध्वजस्य जिष्णोश्च बभ्रुवाहस्य मद्भुवः॥ ८॥
मयूरकेतोः पञ्चैते रथाः सर्वत्र गामिनः।
इत्युक्त्वा प्रविवेशाब्धिं कृष्णस्ते च महारथाः॥ ९॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—वीरो ! हंसध्वज, अर्जुन, बभ्रुवाहन, मेरे पुत्र प्रद्युम्न और मयूरध्वज—केवल इन पाँच वीरोंके ही सुन्दर घोड़े जलमें विचरण करनेवाले हैं, इसलिये ये ही पाँचों रथ जल-स्थल सर्वत्र गमन कर सकते हैं। ऐसा कहकर श्रीकृष्ण और वे पाँचों महारथी समुद्रमें पिल पड़े ॥

ददर्श फाल्गुनो वृद्धं मुनिं मध्ये सरित्पतेः।
द्वीपस्थं धारयन्तं के वटपत्रं करेण च॥ १०॥
जीर्णं शुष्कं शतच्छिद्रं लूतामन्दिरमण्डितम्।
बकदाल्भ्यं महाभागं निमील्य नयने स्थितम्॥ ११॥
अवतेरू रथेभ्यश्च नमश्चक्रुश्च ते मुदा।

वहाँ समुद्रके बीच अर्जुनने एक द्वीपमें वृद्ध तपस्वी महाभाग बकदाल्भ्य मुनिको आँखें बंद किये हुए बैठे देखा। वे मुनि अपने मस्तकपर एक पुराना सूखा हुआ बरगदका पत्ता रखकर उसे अपने हाथसे पकड़े हुए थे। उस पत्तेमें सैकड़ों छिद्र थे और वह मकड़ियोंके जालोंसे व्याप्त था। मुनिको देखकर वे सभी वीर अपने रथोंसे उतर पड़े और निकट जाकर उन्होंने हर्षपूर्वक मुनिको प्रणाम किया॥

उन्मील्य नयने दीप्ते कृष्णादींस्तान् विलोक्य च॥ १२॥
हर्षादुत्फुल्लनयनो गाथामेतामगायत।

तब मुनिने अपने प्रकाशयुक्त नेत्र खोले और सामने उन श्रीकृष्ण आदि वीरोंको उपस्थित देखा। फिर तो हर्षातिरेकसे उनके नेत्र खिल उठे और वे इस गाथाका गान करने लगे—॥

अहो पञ्चभिरानीतो हृषीकेशोऽतिचञ्चलैः॥ १३॥
अतः परं हि नो वासो मण्डलेऽस्मिन् न सौख्यकृत्।

'अहो! ये पाँचों अति चपल पुरुष ही श्रीकृष्णको यहाँ ले आये हैं। अब भविष्यमें हमारा इस मण्डलमें निवास करना सुखकर नहीं होगा'॥ १३½॥

इति ब्रुवन्तं तमृषिं पार्थः प्राह स विस्मितः॥ १४॥
युष्माभिर्ध्रियते पत्रं शुष्कं न क्रियते गृहम्।

यों कहते हुए ऋषि बकदाल्भ्यसे अर्जुन विस्मित होकर पूछने लगे—'मुने! आपने यह सूखा पत्ता क्यों सिरपर धारण कर रक्खा है? आप अपने लिये कुटिया क्यों नहीं बना लेते?॥

युष्माकं जानुनी भित्त्वा किंशुकौ निर्गताविमौ॥ १५॥
ययोः कृतं नीडशतं पक्षिभिर्गृहिणीयुतैः।

'आपकी जानुओंका भेदन करके ये दो पलाशके वृक्ष उग आये हैं, जिनपर अपनी पत्नियोंसहित पक्षियोंने सैकड़ों घोंसले बना रखे हैं॥ १५½॥

वल्मीकानि विराजन्ते पुरस्तात् पृष्ठतश्च वः॥ १६॥
येभ्यो निर्यान्त्यमी सर्पा युष्मत्स्कन्धस्थिताः सुखम्।
पिबन्ति वायुमास्यैर्वः कुर्वन्त्यासनमुच्छ्रितम्॥ १७॥
कण्डूयन्ति मृगाः स्वाङ्गमहो निस्पृहता दृढा।

'आपके आगे और पीछे बहुत-से वल्मीक (बिमउट) विराजमान हैं, जिनसे ये सर्प निकल रहे हैं और आपको अपने लिये ऊँचा आसन बना रहे हैं। फिर वे आपके कंधेपर बैठकर सुखपूर्वक मुखोंसे हवा पी रहे हैं। हिरन आपके शरीरसे अपने अङ्ग खुजला रहे हैं। आपकी यह दृढ़ निस्पृहता तो बड़ी आश्चर्यजनक है!'॥ १६-१७½॥

प्रहस्य बकदाल्भ्योऽसौ श्रुत्वा पार्थस्य भाषितम्॥ १८॥
उवाच हर्षयंश्चित्तं तदीयं शुभया गिरा॥ १९॥

अर्जुनका कथन सुनकर महर्षि बकदाल्भ्य ठठाकर हँस पड़े और अर्जुनके मनको हर्षित करते हुए सुन्दर वाणीमें बोले॥

बकदाल्भ्य उवाच

क्लेशावहो दारपरिग्रहोऽयं
पापस्य मूलं हि भवेदधोगतिः।
तत्पोषणे कार्यमकार्यमेतद्
विचार एषोऽतितरां विनश्येत्॥ २०॥

बकदाल्भ्यने कहा—अर्जुन! यह पत्नी-परिग्रह तो महान् कष्टदायक तथा पापकी जड़ है। इससे अधोगतिकी प्राप्ति होती है। इसके पालन-पोषणमें 'यह कर्तव्य है और यह अकर्तव्य है'—इसका विचार तो पूर्णरूपसे नष्ट हो जाता है॥ २०॥

नष्टे विचारे कुत एव मोक्ष-
स्तृष्णा वरीवर्ति नृणामतीव।
एते मदीयाः खलु वत्ससंघा
वृद्धिंगताः क्षेत्रवहा भवेयुः॥ २१॥

जब विचार ही नहीं रह जाता, तब मोक्ष कहाँसे मिल सकता है? उस समय मनुष्योंकी तृष्णा विशेषरूपसे बढ़ जाती है। वे सोचा करते हैं कि 'ये मेरे बछड़ोंके झुंड निश्चय ही एक दिन बड़े होकर खेतोंमें हल चलाने योग्य हो जायँगे'॥

पुत्राः कथं स्युश्च तथैव पौत्रा
वेदांश्च शास्त्राणि कथं पठेयुः।
विवाह एषां भविता कथंस्वित्
प्रेक्षाम्यहं पुत्रमुखं कदास्वित्॥ २२॥

'मुझे पुत्रका मुख कब देखनेको मिलेगा? किस उपायसे मेरे बेटे और पोते हो जायँ और किस तरह वे वेदों तथा शास्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त कर लें। फिर कैसे इनका विवाह होगा?'॥

एवं सदा चिन्तयते गृहस्थः
स्त्रीपाशबद्धो न तु धर्ममार्गम्।
अतो मयाकारि न दारसंग्रहो
न पर्णशाला विहितात्पमायुः॥ २३॥

स्त्रीरूपी पाशसे बँधा हुआ गृहस्थ पुरुष सदा ऐसी ही चिन्ताओंमें व्यस्त रहता है, धर्ममार्गकी ओर तो उसका ध्यान ही नहीं जाता; इसीलिये मैंने न तो विवाह किया है और न पत्तोंकी कुटिया ही बनायी है; क्योंकि मेरी आयु भी तो थोड़ी ही है ॥ २३ ॥

पार्थोऽब्रवीत् कियदायुर्गतं वः
शुष्कं पर्णं मस्तके बिभ्रतां च ।
प्राह स्मायुर्बकदाल्भ्योऽर्जुनं नः
कियान् यातः काल इह स्थितानाम् ॥ २४ ॥

तब अर्जुनने पूछा—'मुने ! इस सूखे पत्तेको मस्तकपर धारण किये हुए आपकी कितनी आयु बीत चुकी ?' यह वचन सुनकर बकदाल्भ्य मुनि अर्जुनसे अपनी आयुका वर्णन करते हुए बोले—'अर्जुन ! यहाँ बैठे-बैठे मेरे कितने ही समय बीत गये ॥

मार्कण्डेया लोमशाः कत्यभूवं-
स्तेषां संख्या कर्तुमलं मयापि ।
अस्तं गता ब्रह्मणां विंशतिर्मे
स्थितस्यात्र प्राय आयुष्यमल्पम् ॥ २५ ॥

'न जाने कितने मार्कण्डेय और लोमश मेरे सामने हो चुके, मैं उनकी ठीक-ठीक गणना भी नहीं कर सकता । मैं जबसे यहाँ बैठा हूँ, तबसे बीस ब्रह्मा समाप्त हो चुके, फिर भी मुझे अपनी आयु प्रायः थोड़ी ही प्रतीत होती है ॥ २५ ॥

तस्मादहं न करोम्यत्र जिष्णो
वारं वारं नाशमायात्यपारः ।
यदा यदा ब्रह्मणो ह्यन्तकाल-
स्तदा तदा वारिमयं जगत् स्यात् ॥ २६ ॥

'जयशील अर्जुन ! इसीलिये मैं यहाँ अपनी कुटिया नहीं बना रहा हूँ; क्योंकि यह अपार संसार बारंबार नाशको प्राप्त होता रहता है । जब-जब ब्रह्माका अन्तकाल आता है, तब-तब यह जगत् जलमय हो जाता है ॥ २६ ॥

वटश्चैकः स्निग्धपत्रो विभाति
शाखाशतैर्व्याप्नुवन् रोदसी च ।
तच्छाखायां वटपत्रे शयानं
पश्यामि बालं हसमानं रुदन्तम् ॥ २७ ॥

'उस एकार्णवके जलमें अपनी सैकड़ों शाखाओंसे पृथ्वी और आकाशको व्याप्त करता हुआ एक चिकने पत्तोंवाला वटवृक्ष सुशोभित होता रहता है । उस वटवृक्षकी एक शाखा-पर पत्रपुटकमें शयन करता हुआ एक बालक मुझे दीख पड़ता है । वह बालक कभी हँसता है और कभी रोता है ॥

पदाङ्गुष्ठं वदने संनिवेश्य
गौरं धयन्तं सुनसं चारुवक्त्रम् ।
तद्दर्शनात् सागरे मज्जितोऽहं
न तादृशः सम्प्रति कान्यवार्ता ॥ २८ ॥
स एवायं कृष्णरूपो हि जातः
पञ्चानां वः सङ्गवशान्मयाप्तः ॥ २९ ॥

'उसकी नासिका बड़ी सुघड़ और मुख अत्यन्त मनोहर है । वह अपने चरणके गौरवर्ण अँगूठेको मुखमें डालकर चूसता रहता है । उसीके दर्शनके हेतु मैं इस सागरमें डूबा हुआ बैठा हूँ; परंतु जब (आयुकी समतामें) मैं उसके समान नहीं हूँ, तब इस समय दूसरेकी तो बात ही क्या है । यह वही बालक है, जो कृष्णरूपमें प्रकट हुआ है और तुम पाँचों व्यक्तियोंके संगवश मुझे भी प्राप्त हो गया है' ॥ २८-२९ ॥

कस्माद् दूरं दूरमस्मात् सकाशात्
प्रयासि विष्णो मां जलेऽस्मिन् विहाय ।
बालोऽभूस्त्वं वटपत्रे शयानो
दृष्टो यदा प्रार्थितो नैव किंचित् ॥ ३० ॥

(फिर महर्षि बकदाल्भ्य भगवान् श्रीकृष्णसे कहने लगे—) 'विष्णो ! मुझे इस अगाध जलमें छोड़कर आप मेरे पाससे अत्यन्त दूर क्यों चले जाते हैं ? जब आप बालकरूपमें प्रकट होकर वटवृक्षके पत्रपुटकमें शयन कर रहे थे, तब मैंने आपको देखा था; किंतु उस समय (बालक समझकर) मैंने आपसे कोई याचना नहीं की थी ॥ ३० ॥

युवाद्य लक्ष्मीमधिगम्य धर्म-
पुत्रं कथं दर्शयते न मां त्वम् ।
आलिङ्गनं देहि जगन्निवास
धर्मं स्वयं दर्शय तत्पुरं च ॥ ३१ ॥

'परंतु भगवन् ! इस समय तो आपकी युवावस्था हो गयी है और आप लक्ष्मीसे सम्पन्न हो गये हैं, फिर आप मुझे धर्मपुत्र युधिष्ठिरका दर्शन क्यों नहीं कराते ? जगन्निवास ! अब आप स्वयं मेरा आलिङ्गन कीजिये और धर्मराज युधिष्ठिर तथा उनके नगर हस्तिनापुरका मुझे दर्शन कराइये' ॥ ३१ ॥

जैमिनिरुवाच

इत्यूचिवान् स मुनिस्तं च कृष्णं
समालिङ्ग्य प्राह तं फाल्गुनं च ।

मह्यासार्थं गृहमेतत् स्फुटंस्या-
न्मुक्तिर्ध्रुवा गृहिणी यत्र भाति ॥३२॥
करोमि किं न गृहं नापि पत्नीं
न तादृशीमधिगच्छामि पार्थ ।
तस्मात् कालो गमितः शुष्कपत्रैः
पश्याधुना गृहदारानवाप्तान् ॥ ३३ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! श्रीकृष्णसे ऐसा कहकर बकदाल्भ्य मुनिने उनका गाढ़ आलिङ्गन किया और फिर वे अर्जुनसे कहने लगे—'पार्थ ! मेरे निवासके लिये प्रत्यक्षरूपसे ऐसा घर चाहिये, जिसमें मुक्तिरूपी गृहिणी अटल-रूपसे प्रकाशित होती रहती है; परंतु क्या करूँ, आजतक मुझे न तो वैसा घर मिला और न वैसी पत्नी ही प्राप्त हुई । इसी कारण सूखे पत्तोंसे ही इतना समय व्यतीत किया । अब देखो, मुझे वैसा गृह और वैसी पत्नी—दोनों प्राप्त हो गये ॥३२-३३॥

एवं ब्रुवन्तं बकदाल्भ्यं स कृष्णः
सम्भावयामास वचोभिरीड्यैः ।
त्वमेव साक्षात् पुरुषः पुराण-
स्त्वया दृष्टा ब्रह्मणां विंशतिश्च ॥ ३४ ॥
सर्वेषां नः पूज्यतमस्त्वमेव
जातो यज्ञः सफलो धर्मसूनोः ।

जब बकदाल्भ्य मुनि ऐसा कह रहे थे, उसी समय भगवान् श्रीकृष्णने प्रशंसायुक्त वचनोंद्वारा उनका सम्मान करते हुए कहा—'मुने ! आप ही साक्षात् पुराणपुरुष हैं; क्योंकि आप-की आँखोंके समक्ष बीसों ब्रह्मा बीत चुके हैं । आप ही हम सबके परम पूज्य हैं । अब (आपके दर्शनसे) धर्मनन्दन युधिष्ठिरका यज्ञ सफल हो गया ॥ ३४½ ॥

प्रहस्येषन्मुनिराह स्म विष्णुं
त्वया भारो मयि गर्वस्य मुक्तः ॥ ३५ ॥
परं गर्वो व्यगलन्मे समग्र-
स्तथास्य पङ्केरुहजन्मनश्च ।
तत् त्वं समाकर्णय पार्थ यत्नात्
कृष्णः सर्वं वेद वेदस्य मूलम् ॥ ३६ ॥

यह सुनकर मुनिको कुछ हँसी आ गयी और वे भगवान् श्रीकृष्णसे कहने लगे—"प्रभो ! आपने तो मेरे ऊपर यह अच्छा गर्वका भार लाद दिया; परंतु मेरा तथा इन कमल-जन्मा ब्रह्माका सारा गर्व तो पहले ही गल चुका है । अर्जुन ! तुम वह (गर्वनाशका) वृत्तान्त यत्नपूर्वक भलीभाँति श्रवण करो । श्रीकृष्ण तो यह सब जानते ही हैं; क्योंकि ये वेदके भी मूल हैं ॥ ३५-३६ ॥

महाकल्पे वेदसंज्ञो विरिञ्चि-
श्चत्वारिंशद्वार्षिको मामियाय ।
पठन् वेदान् मानसौकोऽधिरूढः
प्रोवाचेदं गर्वभारेण वाक्यम् ॥ ३७ ॥

"महाकल्पकी बात है, उस समयके ब्रह्माका नाम वेद था । उनकी अवस्था चालीस वर्षकी हो गयी थी । वे एक दिन मानसरोवरनिवासी एक हंसपर सवार होकर वेदपाठ करते हुए मेरे पास आये और यों गर्वसे भरा हुआ वचन बोले—॥

कस्त्वं किमर्थं ध्रियते पर्णमेतत्
त्वया घोरं तप्यते वेद्मि कामात् ।
प्रसन्नोऽहं प्रार्थय वाञ्छितं च
ब्रह्माहमित्येवमवेहि विप्र ॥ ३८ ॥

"ब्रह्मन् ! तुम कौन हो ? तुमने किसलिये अपने मस्तक-पर यह पत्ता धारण कर रखा है ? मैं समझता हूँ कि तुम किसी कामनाको लेकर ही ऐसा घोर तप कर रहे हो । अतः तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि मैं ब्रह्मा हूँ और तुमपर प्रसन्न हूँ; अतः अब तुम अपना मनोवाञ्छित वर माँग लो' ॥३८॥

तच्छ्रुत्वाहं चाब्रुवं गर्वभाराद्
ब्रह्माणं तं गच्छ दूरं दुरात्मन् ।
मया दृष्टास्त्वादृशा विंशतिश्च
त्वं मह्यं किं दास्यसे याहि याहि ॥३९॥

"यह सुनकर मैंने अभिमानपूर्वक उन ब्रह्मासे कहा—दुरात्मन् ! हट, दूर जा । मैंने तेरे-जैसे बीसों ब्रह्मा देखे हैं । तू मुझे क्या दे सकेगा । जा, दूर भाग जा' ॥ ३९ ॥

एवं मयि ब्रुवति प्रादुरासीद्
वात्या घोरा दारयन्तीव पृथ्वीम् ।
आवर्तेन द्रुमभङ्गं विदधत्या-
नीतौ तदा द्वावपि खं विशालम् ॥ ४० ॥

"मैं ऐसा कह ही रहा था, तबतक पृथ्वीको विदीर्ण करती हुई-सी प्रचण्ड आँधी प्रकट हो गयी । उस समय अपने झोंकेसे वृक्षोंको तोड़ते हुए उसने हम दोनोंको भी विशाल आकाशमें पहुँचा दिया ॥ ४० ॥

औदुम्बरादन्यमौदुम्बरं हि
विशन्त्यमी जन्तवः कर्मनुन्नाः।
तथा प्रविष्टो देवदेवस्य विष्णो-
र्ब्रह्माण्डैस्तैः फलितस्य द्वितीयम् ॥ ४१ ॥

''फिर तो जैसे कर्मसे प्रेरित हुए जन्तु गूलरके एक फलसे दूसरे फलमें प्रवेश करते हैं, उसी तरह हम दोनों देवदेवेश्वर भगवान् विष्णुके शरीरमें फलरूपसे लगे हुए उन ब्रह्माण्डोंमेंसे दूसरे ब्रह्माण्डमें जा पहुँचे ॥ ४१ ॥

अस्माद् रम्यं ब्रह्मलोकं विरिञ्चिः
प्रविश्याहं विस्मयं चाप्तवान् सः।
ततः प्रोवाचाष्टमुखो विरिञ्चिः
समाह्वयन्नौ परिपप्रच्छ पार्थ ॥ ४२ ॥
कस्माद् युवां प्राप्तवन्तावपूर्वौ
किन्नामानौ शंस तं मत्पुरस्तात्।

''पार्थ ! वह ब्रह्मलोक पहलेकी अपेक्षा रमणीय था। उसमें प्रवेश करके मुझे तथा उन ब्रह्माको महान् आश्चर्य प्राप्त हुआ। तदनन्तर वहाँ निवास करनेवाले अष्टमुख ब्रह्मा हम दोनोंको बुलाकर पूछने लगे—'तुम दोनों अपूर्व व्यक्ति किस देशसे आये हो ? तुम्हारा नाम क्या है ? मेरे सामने यह सब बतलाओ' ॥ ४२½ ॥

चतुर्मुखोऽथावदत् सत्यलोकात्
समागतं विद्धि मां पद्मयोनिम् ॥ ४३ ॥
शिष्यं यो मे परिचर्यार्थमागा-
न्नाम्ना स्फुटं बकदाल्भ्यः प्रसिद्धः।

''तब चतुर्मुख ब्रह्माने कहा—'आपको विदित होना चाहिये कि मैं सत्यलोकसे आ रहा हूँ और पद्मयोनि मेरा नाम है। दूसरा जो यह मेरी सेवा करनेके लिये साथ आया है, यह मेरा शिष्य है और यह स्पष्टरूपसे बकदाल्भ्य नामसे प्रसिद्ध है' ॥ ४३½ ॥

निशम्योच्चैरष्टमुखो जहास
भवान् ब्रह्मा शिष्य एव द्वितीयः ॥४४॥
तावत् तद्वै यावदहं न दृष्टो
ब्रह्माशिष्यौ सम्प्रति मे भवन्तौ।
शौचार्थमत्रापि जलं मृदं च
समानयेतां स्वस्थचित्तौ मदर्थम् ॥४५॥

''यह सुनकर अष्टमुख ब्रह्मा ठठाकर हँस पड़े और कहने लगे—'आप ब्रह्मा हैं और यह दूसरा शिष्य है (यह तो ठीक है); परंतु यह सम्बन्ध तभीतक था, जबतक तुमलोगोंने मुझे नहीं देखा था। अब तुम दोनों ब्रह्मा और शिष्य मेरे शिष्य हो गये; अतः अब यहाँ तुम दोनों स्वस्थचित्त होकर मेरे शौचके लिये जल और मिट्टी तो ले आओ' ॥ ४४-४५ ॥

एवं ब्रुवत्यष्टमुखे विरिञ्चौ
वात्या घोरा मां च तावप्यनैषीत्।
मया सार्धं खे भ्रमन्तौ विरिञ्ची
विष्णोः प्रविष्टौ ब्रह्मगोलं तृतीयम् ॥४६॥

''अष्टमुख ब्रह्मा जब यों कह रहे थे, उसी समय उस प्रचण्ड आँधीने मुझे तथा उन दोनों ब्रह्माओंको भी उड़ाकर आकाशमें पहुँचा दिया। वहाँ वे दोनों ब्रह्मा मेरे साथ चक्कर काटते हुए भगवान् विष्णुके तीसरे ब्रह्माण्डमें प्रविष्ट हुए ॥

यस्मिँल्लोकाः पुण्यशीला वदान्या
दृष्ट्वास्मांस्ते जहसुः के भवन्तः।
कस्माद् देशादागता नाम किं व-
स्तत् सर्वं वै ब्रूत लज्जां विहाय ॥ ४७ ॥

''उस गोलकके निवासी पुण्यात्मा तथा उदार दाता थे। वे हमलोगोंको देखकर हँसे और पूछने लगे—'आपलोग कौन हैं ? किस देशसे आ रहे हैं ? आपलोगोंका नाम क्या है ? लज्जाका परित्याग करके ये सारी बातें बताइये' ॥ ४७ ॥

आह स्माथो वसुवक्त्रो विरिञ्चि-
रहं प्राप्तो ब्रह्मलोकान्मनोज्ञात्।
प्रोचुर्लोकास्ते तदा ब्रूत मैवं
कलावक्त्रः श्रोष्यति वै विरिञ्चिः॥४८॥
आयात पश्यत विहाय विरिञ्चिगर्वं
मौनं समाश्रयत देवमजं प्रणम्य।

''तब आठ मुखवाले ब्रह्मा कहने लगे—'मैं ब्रह्मा हूँ और मनोहर ब्रह्मलोकसे आ रहा हूँ।' यह सुनकर उन लोगोंने कहा—'अरे चुप रहिये, ऐसा मत कहिये; नहीं तो षोडश मुखवाले ब्रह्मा सुन लेंगे। आपलोग अपने ब्रह्मत्वका अभिमान त्यागकर हमारे साथ आइये और उन भगवान् ब्रह्माको प्रणाम करके उनका दर्शन कीजिये' ॥ ४८½ ॥

ततो वयं भीतभीताः प्रयाता
विलोकितुं षोडशतुण्डकं च ॥ ४९ ॥

जहासोच्चैः षोडशास्यो विरिञ्चि-
र्दृष्ट्वा चतुर्वक्त्रमथाष्टवक्त्रम् ॥ ५० ॥
अहो चित्रमहो चित्रं ब्रह्मण्यपि मयि स्थिते ।

"तदनन्तर हमलोग भयभीत होकर उन षोडश मुखवाले ब्रह्माका दर्शन करनेके लिये वहाँ गये । तब षोडश मुखवाले ब्रह्मा चतुर्मुख तथा अष्टमुख ब्रह्माको देखकर हँसे और कहने लगे—'अहो आश्चर्य है ! महान् आश्चर्य है ! जो मुझ ब्रह्माके रहते हुए भी दूसरे ब्रह्मा आ गये' ॥ ४९-५०½ ॥

इति गर्वायते तस्मिन् विरिञ्चौ षोडशानने ॥ ५१ ॥
वात्या प्रादुरभूद् घोरा तया भ्रान्ता वयं विभो ।

"विभो ! वे षोडशमुख ब्रह्मा जब ऐसी गर्वीली बातें कह रहे थे, उसी समय ऐसी भयंकर आँधी उठी, जिसने हम-लोगोंको चक्करमें डाल दिया ॥ ५१½ ॥

अधोवक्त्रा ऊर्ध्वपादाः प्राप्ता ब्रह्मालयं परम् ॥५२॥
द्वात्रिंशद्वदनो ब्रह्मा यत्र लोकस्तु सुन्दरः ।
नापृच्छत् कश्चिदेवास्मान् नाम तत्रभवो जनः ॥ ५३ ॥

"फिर तो हमलोगोंके पैर ऊपर उठ गये और मुख नीचेको लटक गया, इसी दशामें हमलोग एक दूसरे ब्रह्मलोकमें जा पहुँचे । वह लोक अत्यन्त सुन्दर था और वहाँ बत्तीस मुखवाले ब्रह्मा निवास करते थे । परंतु वहाँके निवासी किसी भी मनुष्यने हमलोगोंसे नामतक नहीं पूछा ॥ ५२-५३ ॥

ततो वयं स्म चत्वारो दृष्टा दैवाद् विरिञ्चिना ।
आहूताः कृपया पश्चात् परिपप्रच्छ नाम सः ॥ ५४ ॥

"तत्पश्चात् संयोगवश हम चारोंपर उन ब्रह्माकी दृष्टि पड़ गयी । तब उन्होंने कृपापूर्वक हमें बुलाया और नाम-धाम पूछा ॥ ५४ ॥

प्रहस्य पूर्वं गर्वितोऽतीव सत्यं
ब्रह्माब्रवीदहमेवास्मि नान्यः ।
खद्योतालिर्द्योत्यते तावदेव
यावत् सूर्यो ध्वान्तहा नाभ्युदेति ॥५५॥

"पहले तो वे अत्यन्त गर्वमें आकर जोरसे हँसे और फिर कहने लगे—'यह बिल्कुल सत्य है कि ब्रह्मा तो मैं ही हूँ, मेरे अतिरिक्त दूसरा कौन ब्रह्मा है; क्योंकि जुगुनुओंका दल तभीतक अपना प्रकाश दिखाता है, जबतक तमोहारी भगवान् सूर्य उदय नहीं होते' ॥ ५५ ॥

द्वात्रिंशद्वदनोऽप्येवं ब्रुवन् वात्या परिप्लुतः ।
खेऽभ्रमत् सहितोऽस्माभिश्चतुःषष्ट्याननं स्थितम् ५६
ददृशे गोलकेऽन्यस्मिन् स गर्वं कृतवान् बहु ।
एवं द्विगुणया वृद्ध्या गर्वितास्ते विरिञ्चयः ॥ ५७ ॥
प्राप्ताः सहस्रनयनं सहस्रवदनं विभुम् ।
स्तूयमानं च मुनिभिः सनकाद्यैस्तथा सुरैः ॥ ५८ ॥

"ऐसा कहते हुए वे बत्तीस मुखवाले ब्रह्मा भी उस आँधीकी चपेटमें आ गये और हमलोगोंके साथ ही आकाशमें चक्कर काटने लगे । फिर दूसरे गोलकमें जा पहुँचे, जहाँ चौसठ मुखवाले ब्रह्मा विराजमान थे । वहाँ उन ब्रह्माने भी महान् गर्व किया । इस प्रकार दुगुनी वृद्धिके कारण गर्वमें भरे हुए वे सभी ब्रह्मा उन सहस्र नेत्र तथा सहस्र मुखवाले विराट् परमेश्वरके पास जा पहुँचे, जिनकी सनकादि मुनि तथा देवगण स्तुति कर रहे थे ॥ ५६—५८ ॥

अथ तानागतान् दृष्ट्वा सहस्रवदनोऽब्रवीत् ।
कुतः प्राप्तं पूज्यपादैर्ब्रह्मभिः स्वागतं हि वः ॥ ५९ ॥
युष्मत्प्रसादाल्लोकेऽस्मिन् ख्यातिं प्राप्स्याम्यनुत्तमाम् ।

"तदनन्तर उस समागत ब्रह्म-समुदायको देखकर सहस्रवदन परमेश्वरने कहा—'आइये, आपलोगोंका स्वागत है । कहिये, आप पूज्यपाद ब्रह्मगणका कहाँसे शुभागमन हो रहा है ? आपलोगोंकी कृपासे मुझे भी इस संसारमें अनुपम कीर्ति प्राप्त होगी' ॥ ५९½ ॥

इति ब्रुवाणं पुरुषं प्रणम्य धरणीं गताः ॥ ६० ॥
विहाय गर्वं ब्रह्माणस्तुष्टुवुस्तमधोक्षजम् ।

"उन विराट् पुरुषके यों कहनेपर उन ब्रह्माओंका सारा गर्व गल गया और उन्होंने पृथ्वीपर लोटकर उन अधोक्षजको प्रणाम किया । तत्पश्चात् वे उनकी स्तुति करने लगे ॥६०½॥

ततः प्रसन्नो भगवान् यथास्थानं न्यवेशयत् ॥ ६१ ॥
तान् विरिञ्चीनहं पार्थ विहायास्मान् स्थितोऽम्बुधौ ।
तस्माद् गर्वो न कर्तव्यः पुंभिः सच्छास्त्रकोविदैः॥६२॥

"तब भगवान् प्रसन्न हो गये और उन सभी ब्रह्माको उन्होंने यथास्थान नियुक्त कर दिया । तत्पश्चात् मैं उनका साथ छोड़कर इस समुद्रमें आकर बैठ गया । इसलिये पार्थ ! उत्तम शास्त्रोंके जानकार पुरुषोंको गर्व नहीं करना चाहिये" ॥

मुनेर्भाषितमाकर्ण्य हर्षितौ कृष्णपाण्डवौ ।
ददर्शतुस्तुरङ्गौ तौ कथां श्रुत्वा विनिर्गतौ ॥ ६३ ॥

प्रार्थयित्वा मुनिं कृष्णः शिबिकायामरोपयत् ॥ ६४ ॥

बकदाल्भ्य मुनिका यह कथन सुनकर अर्जुन और श्रीकृष्णको परम आनन्द प्राप्त हुआ। यह कथा सुननेके पश्चात् उन्हें समुद्रसे निकलते हुए वे दोनों घोड़े दीख पड़े। उस समय भगवान् श्रीकृष्णने प्रार्थना करके बकदाल्भ्य मुनिको एक पालकीपर चढ़ा लिया॥ ६३-६४ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि बकदाल्भ्यसंवादो नाम षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें बकदाल्भ्यका संवादनामक साठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ६० ॥

एकषष्टितमोऽध्यायः

घोड़ोंका जयद्रथके नगरमें पहुँचना, अर्जुनके आगमनकी बात सुनकर जयद्रथ-पुत्रका भयसे प्राणत्याग करना, दुःशलाकी पुत्रको जीवित करनेके लिये श्रीकृष्णसे प्रार्थना, श्रीकृष्ण-द्वारा उसके पुत्रको जीवनदान, अर्जुनका दुःशलाको निमन्त्रित करके हस्तिनापुरको प्रस्थान

जैमिनिरुवाच

व्यावृत्य वाजिनौ शीघ्रं पुरं जायद्रथं शुभम्।
प्रापतुर्यत्र नृपतिर्दौःशलेयः शिशुः स्थितः ॥ १ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर वे दोनों घोड़े लौटकर शीघ्र ही राजा जयद्रथके सुन्दर नगरमें आ पहुँचे। वहाँ दुःशलाका पुत्र राज्य करता था। वह अभी बालक ही था॥ १ ॥

सिंहासनस्थः सचिवैः सेव्यमानः सभास्थितैः।
श्रुत्वा च फाल्गुनं प्राप्तं स जयद्रथघातिनम् ॥ २ ॥
उच्चैः प्रकम्पे प्रखिन्नो रोमाञ्चितवपुर्धरः।
जहौ प्राणान् दौःशलेयः सिंहासनगतो भयात्॥ ३ ॥

वह अपनी सभामें सिंहासनपर विराजमान था और उसके सभासद् मन्त्री उसकी सेवामें उपस्थित थे। जब उसने सुना कि मेरे पिता जयद्रथका वध करनेवाले अर्जुन यहाँ आ पहुँचे हैं, तब वह भयभीत होकर थरथर काँपने लगा। उसके रोंगटे खड़े हो गये और शरीरमें पसीना छूटने लगा। फिर तो उस दुःशलानन्दनने सिंहासनपर बैठे-बैठे ही अपने प्राणोंका परित्याग कर दिया॥ २-३ ॥

विलपन्ती ततः प्राप्ता दुःशला फाल्गुनं प्रति।
दृष्ट्वा कृष्णं नमस्कृत्य प्राह्योच्चैस्त्राहि मामिति॥ ४ ॥
जिष्णुना निहतो भर्त्ता साम्प्रतं च सुतो मम।
त्वामहं शरणं प्राप्ता कृष्ण कृष्ण जगत्पते ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् दुःशला विलाप करती हुई अर्जुनके पास आयी। वहाँ उसने श्रीकृष्णको देखकर उन्हें नमस्कार किया और फिर वह उच्च स्वरसे कहने लगी—"श्रीकृष्ण! जगदीश्वर श्रीकृष्ण! इस अर्जुनने मेरे पति (जयद्रथ) को तो पहले ही मार डाला था, इस समय इसने मेरे पुत्रको भी समाप्त कर दिया; अतः मैं आपकी शरणमें आयी हूँ, आप मेरी रक्षा कीजिये'॥ ४-५ ॥

अथोत्थितो रथात् पार्थः स्वसारं सम्प्रणम्य च।
अब्रवीन्न कृतं किंचित्तव पुत्रस्य वैशसम् ॥ ६ ॥
तथापि क्षम्यतां सर्वं मया यच्च पुरा कृतम्।
गृह्णीष्व हस्तिनो मत्तान् सहस्रं लक्षमेव वा ॥ ७ ॥
जित्वा च वैरिणः सर्वं राज्यं दास्यामि तेऽनघे।

यह सुनकर अर्जुन अपने रथसे उतर पड़े और बहिन दुःशलाको प्रणाम करके कहने लगे—"बहिन! मैंने तेरे पुत्रको कुछ भी कष्ट नहीं दिया है। हाँ, पहले मैंने जो (जयद्रथ-वधरूपी) दुष्कर्म किया है, वह सब भी अब तू मुझे क्षमा कर दे और इन हजारों अथवा लाखों मदमत्त गजराजोंको भेंटरूपमें स्वीकार कर ले। पापरहिते! मैं सारे शत्रुओंको जीतकर सम्पूर्ण राज्य तुझे दे दूँगा'॥ ६-७½ ॥

अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा दुःशला दुःखिता भृशम्॥ ८ ॥
कृष्णं नत्वा पुनर्वाक्यमुवाच क्लेशसंयुता।

अर्जुनकी बात सुनकर दुःशला अत्यन्त दुखी हो गयी। फिर उस दुखियाने श्रीकृष्णको नमस्कार करके यों कहना आरम्भ किया—॥ ८½ ॥

दुःखहन्ता त्वमेवात्र प्राणिनां हृदि संस्थितः ॥ ९ ॥
द्रौपद्या संस्मृतः पूर्वं दुःखं तस्या व्यपोहयः।

'श्रीकृष्ण! आप तो समस्त प्राणियोंके हृदयमें विराजमान रहते हैं, अतः इस समय आप ही मेरे दुःखोंका विनाश कर सकते हैं। द्रौपदीने भी पहले आपका ही स्मरण किया था और आपने उसका सारा दुःख दूर कर दिया था ॥ ९½ ॥

अन्येषामपि जन्तूनां स्मरणाद् दुःखहानिदः ॥ १० ॥
कृतार्था दर्शनेनाद्य जातास्मि तव वै प्रभो।

'प्रभो! आप तो स्मरण करनेपर दूसरे प्राणियोंके भी दुःखका विनाश करनेवाले हैं। मैं भी आज आपके दर्शनसे कृतार्थ हो गयी ॥ १०½ ॥

पतिहीना पुत्रहीना पार्थेनास्मि कृता विभो ॥ ११ ॥
न त्रपा जायते तस्य सम्बन्धद्योतनेन च।

'विभो! अर्जुनने तो मुझे पति और पुत्र—दोनोंसे हीन कर दिया है, फिर भी इसे अपना (भाई-बहिनका) सम्बन्ध प्रकट करते हुए लज्जा नहीं आती है' ॥ ११½ ॥

साम्प्रतं पुत्रहीना च राज्यहीना तथा कृता ॥ १२ ॥
कथमश्वगजानां च सहस्रं दातुमिच्छसि।

(पुनः अर्जुनको सम्बोधित करके कहने लगी—) 'अर्जुन! इस समय तूने ही तो मुझे राज्य और पुत्र—दोनोंसे हीन कर दिया है, फिर तू हजारों हाथी और घोड़े कैसे देना चाहता है ?' ॥ १२½ ॥

ब्रुवन्त्येवं बहुविधं लुठन्ती कृष्णपादयोः ॥ १३ ॥
नेत्राम्बुना क्षालयन्ती पादाब्जं सुरदुर्लभम्।

यों अनेक प्रकारकी बातें कहती हुई दुःशला श्रीकृष्णके चरणोंमें लोटती हुई अपने नेत्रोंके जलसे उस देवदुर्लभ चरण-कमलको पखारने लगी ॥ १३½ ॥

एवं सुदुःखितां दृष्ट्वा आर्तत्राणपरो हरिः ॥ १४ ॥
आश्वासयामास च तां भवमायाप्रपीडिताम्।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते गच्छ पुत्रस्य संनिधौ ॥ १५ ॥

तब दुखियोंकी रक्षा करना जिनका स्वभाव ही है, वे श्रीहरि सांसारिक मायासे प्रपीडित दुःशलाको इस प्रकार अत्यन्त दुखी देखकर उसे आश्वासन देते हुए बोले—'दुःशले! उठ, जल्दी उठ और अपने पुत्रके पास चल। तेरा कल्याण हो' ॥ १४-१५ ॥

इत्युक्त्वा सह पार्थेन प्रविवेश पुरं तदा।
हर्म्ये सभायां पतितं ददर्श तनयं शुभम् ॥ १६ ॥

तब श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर दुःशलाने अर्जुनको साथ लेकर अपने नगरमें प्रवेश किया और वहाँ सभाभवनमें अपने सुन्दर पुत्रको पृथ्वीपर पड़ा हुआ देखा ॥ १६ ॥

उत्तिष्ठ भो वत्स भयं मा कृथा मम संनिधौ।
इत्युक्त्वा पाणिना बालं पस्पर्श मधुसूदनः।
उत्थितस्तत्क्षणादेव प्रणनाम हरिं मुदा ॥ १७ ॥
वन्दितौ तु जनैः सर्वैः कृष्णपार्थौ मुदान्वितैः।

उस समय भगवान् मधुसूदनने 'भो वत्स! उठ, तू मेरे समीप भय मत कर' यों कहकर अपने हाथसे उस बालकके शरीरका स्पर्श किया। फिर तो वह उसी क्षण उठ बैठा और हर्षपूर्वक उसने भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम किया तथा वहाँ उपस्थित सभी लोगोंने आनन्दपूर्वक श्रीकृष्ण और अर्जुनकी चरण-वन्दना की ॥ १७½ ॥

भेरीमृदङ्गपटहगीतनृत्यमहोत्सवैः ॥ १८ ॥
माङ्गल्यं परमं चक्रुर्नागराः कृष्णसंनिधौ।

नागरिकोंने श्रीकृष्णके सामने भेरी, मृदङ्ग और ढोल बजाकर तथा नाच-गान करके परम माङ्गलिक महोत्सव मनाया ॥ १८½ ॥

अर्जुनः शमयामास दुःशलां पुत्रसंयुताम् ॥ १९ ॥
अब्दः पूर्णोऽद्य संजातो गन्तव्यं तु गजाह्वये।
निमन्त्रिता समायाहि कुन्तीं द्रष्टुं च पार्षतीम् ॥ २० ॥
सा तथेत्यब्रवीत् पार्थो हृष्टश्चासीद् विशाम्पते।

तत्पश्चात् अर्जुनने पुत्रसे संयुक्त हुई दुःशलाको शान्त करते हुए कहा—'बहिन! (नगरसे चले हुए मुझे) आज एक वर्ष पूरा हो गया, अतः अब मुझे हस्तिनापुर लौट जाना चाहिये। मैं तुझे भी वहाँ चलनेके लिये निमन्त्रित करता हूँ, अतः तू माता कुन्ती और द्रौपदीसे मिलनेके लिये वहाँ चल।' प्रजानाथ! जब दुःशलाने 'बहुत अच्छा' कहकर निमन्त्रण स्वीकार कर लिया, तब अर्जुन प्रसन्न हो गये ॥ १९-२०½ ॥

जैमिनिरुवाच

हर्षिता सा हृषीकेशं दुःशला वाक्यमब्रवीत्॥ २१॥
एवमेव त्वया कार्यं भक्तानां जीवनं सदा।
प्रसादात् तव राज्यं मे प्राप्तं गच्छामि धर्मजम्॥ २२॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर वह दुःशला हर्षित होकर भगवान् श्रीकृष्णसे कहने लगी—'भगवन्! आप सदा इसी प्रकार भक्तोंको जीवन-दान देते रहें। आपकी कृपासे मुझे राज्यकी प्राप्ति हो गयी, अब मैं धर्मनन्दन युधिष्ठिरके पास चलती हूँ'॥ २१-२२॥

इत्युक्त्वा पुत्रसहिता निर्गता च गजाह्वयम्।
आनयत् तत्पुरं सर्वं यज्ञार्थं पाण्डवोऽर्जुनः॥ २३॥

ऐसा कहकर दुःशला पुत्रको साथ लेकर चलनेको तैयार हो गयी। उस समय पाण्डुनन्दन अर्जुन उन समस्त नगरवासियोंको यज्ञमें सम्मिलित होनेके लिये हस्तिनापुर लिवा लाये॥ २३॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि जयद्रथपुरे दुःशलासान्त्वनं नामैकषष्टितमोऽध्यायः॥ ६१॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें जयद्रथके नगरमें दुःशलाको सान्त्वना-प्रदान नामक एकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ६१॥

द्विषष्टितमोऽध्यायः

हस्तिनापुरके निकट पहुँचनेपर श्रीकृष्णका घोड़ोंसहित सबको एक उपवनमें रोककर स्वयं नगरमें जाना, युधिष्ठिरसे मिलना और यात्राका सारा समाचार सुनाना फिर अर्जुनके स्वागतकी व्यवस्था करना, नागरिकों तथा श्रीकृष्ण-पत्नियोंका सज-धजकर स्वागत-समारोहमें सम्मिलित होना

जैमिनिरुवाच

पूर्णेऽब्दे देवकीपुत्रः पार्थस्य तुरगौ मुदा।
दधौ स्वयं वने रम्यौ भ्रममाणौ स्वलीलया॥ १॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! जब वर्ष पूरा हो गया, तब स्वयं देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने एक वनमें लीलापूर्वक सानन्द भ्रमण करते हुए अर्जुनके उन दोनों मनोहर घोड़ोंको पकड़ लिया॥ १॥

प्रत्युवाच कथं पार्थ वीरैर्भूपतिभिर्वृताम्।
दिष्ट्या भूमिं पार्थहयौ भ्रमितौ निखिलामपि॥ २॥

फिर वे अर्जुनसे कहने लगे—'पार्थ! यद्यपि यह पृथ्वी बड़े-बड़े शूरवीर भूपालोंसे समावृत है, तथापि महाराज युधिष्ठिरके ये दोनों घोड़े इस सारी पृथ्वीपर भ्रमण करके किस प्रकार सकुशल लौट आये—यह बड़े सौभाग्यकी बात है॥ २॥

चिरकालं धर्मराजः क्लिश्यते विविधैर्यमैः।
वर्षमात्रं हि संजातं कुर्मः कर्माग्निसंनिधौ॥ ३॥

'उधर धर्मराज युधिष्ठिर चिरकालसे नाना प्रकारके यम-नियमसम्बन्धी कर्मोंका पालन करते हुए कष्ट उठा रहे हैं। उन्हें ऐसा करते एक वर्ष पूरा हो गया; अतः अब हमलोगोंको अग्निके संनिकट चलकर यज्ञ-कार्य आरम्भ करना चाहिये॥

अद्य सर्वे महीपालाः पाण्डवं धर्मनन्दनम्।
वीक्षितुं त्वरिता यान्तु त्वया सह गजाह्वयम्॥ ४॥
पुरस्कृत्य हयावग्रे नानावादित्रवादकाः।
नर्त्तक्यो विविधैस्तालैर्हस्तकैश्चरणैस्तथा॥ ५॥

'इसलिये आज सभी भूपाल तुम्हारे साथ इन दोनों घोड़ोंको आगे करके धर्मनन्दन युधिष्ठिरका दर्शन करनेके लिये शीघ्रतापूर्वक हस्तिनापुरकी यात्रा करें। इनके आगे-आगे नाना प्रकारके बाजा बजानेवालोंको तथा अनेक तरहके तालोंके साथ हाथों और पैरोंसे भाव दिखाती हुई नर्तकियोंको चलना चाहिये॥ ४-५॥

प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च वृषकेतुर्महाबलः।
बभ्रुवाहोऽपि शैनेयो वीरवर्मानुशाल्वकः॥ ६॥
बर्हिकेतुर्हंसकेतुस्तथा नीलध्वजो बली।
ताम्रध्वजो महावीरः प्रवीरश्च महारथः॥ ७॥
यौवनाश्वश्चन्द्रहासस्तथान्ये बहवो नृपाः।
भूषिता विविधैर्हारैः कटकैरङ्गदैस्तथा॥ ८॥

कुण्डलैश्चामरैर्धूपवासैः पुष्पैर्विलासिताः।
नानाकुसुममालाभिर्वरचम्पकमण्डिताः ॥ ९ ॥
रात्रौ पुरं प्रयान्त्वेते दीपिकाभिः प्रकाशिताः।
गन्धतैलावसिक्ताभिः प्रस्तुता वन्दिभिर्भृशम्।
अहमग्रे प्रयास्यामि धर्मराजपुरं प्रति ॥ १० ॥

'प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, महाबली वृषकेतु, बभ्रुवाहन, शिनिनन्दन सात्यकि, वीरवर्मा, अनुशाल्व, मयूरध्वज, हंसध्वज, बलवान् नीलध्वज, महावीर ताम्रध्वज, महारथी प्रवीर, यौवनाश्व, चन्द्रहास तथा दूसरे भी जो बहुत-से नरेश उपस्थित हैं—ये सभी भाँति-भाँतिके हार, कटक (कड़े), बाजूबंद, कुण्डल और चँवरोंसे विभूषित, सुगन्धित धूप और पुष्पोंसे सुवासित, नाना प्रकारके पुष्पोंकी मालाओं तथा चम्पाके पुष्पोंसे सुसज्जित होकर रात्रिके समय सुगन्धित तेलसे पूर्ण दीपकोंके प्रकाशके साथ हस्तिनापुरको चलें। उस समय वंदीगण उच्चस्वरसे इनका यशोगान करते रहें। मैं सबसे पहले धर्मराजके नगर हस्तिनापुरको चल रहा हूँ' ॥ ६—१० ॥

जैमिनिरुवाच

एतावदुक्त्वा वचनं कृष्णो नागपुरं ययौ।
यत्रास्ते धर्मतनयो महर्षिपरिवारितः ॥ ११ ॥
गङ्गातीरे वरक्षेत्रे दिव्यमण्डपमण्डिते।
देवकीप्रमुखा यत्र स्त्रियः सन्ति मनोरमाः ॥ १२ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! इतनी बातें कहकर श्रीकृष्ण उस हस्तिनापुरके लिये रवाना हो गये, जहाँ गङ्गा-तटपर दिव्य-मण्डपसे सुशोभित उत्तम क्षेत्रमें धर्मनन्दन युधिष्ठिर महर्षियोंसे घिरे हुए बैठे थे। जहाँ देवकी आदि मनोरम महिलाएँ भी उपस्थित थीं ॥ ११-१२ ॥

धर्मराजगृहं प्राप्य राजानं वीक्ष्य माधवः।
नमस्कृत्याग्रतस्तस्थौ नृपेणाप्यभिनन्दितः ॥ १३ ॥

वहाँ पहुँचकर वे माधव सीधे धर्मराजके भवनमें गये। वहाँ राजा युधिष्ठिरको देखकर उन्होंने प्रणाम किया और फिर वे उनके आगे खड़े हो गये। तब महाराज युधिष्ठिरने भी श्रीकृष्णका अभिनन्दन किया ॥ १३ ॥

शशंस पार्थं सम्प्राप्तं हयं राजन्यमण्डलम्।
प्राप्तो नीलध्वजो राजा हंसकेतुर्महाबलः ॥ १४ ॥
मयूरकेतुर्बलवान् बहुधा यः परीक्षितः।
धर्मराज तव भ्रात्रा त्वत्पुण्येन जिता नृपाः ॥ १५ ॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण यज्ञिय अश्व, अर्जुन तथा राजाओंके एक विशाल मण्डलके आनेकी सूचना देते हुए कहने लगे—'राजन् ! राजा नीलध्वज तथा महाबली हंसध्वज पधार रहे हैं। साथमें बलवान् राजा मयूरध्वज भी हैं, जिनकी मैंने बहुत तरहसे परीक्षा ली थी। धर्मराज ! आपके पुण्यके प्रभावसे आपके भाई अर्जुनने इन नरेशोंपर विजय पायी है ॥१४-१५॥

सुधन्वा योधितो वीरो राजन् कृच्छ्रेण संयुगे।
सुरथेनापि सभयाः कृता वीरेण ते विभो ॥ १६ ॥

'राजन् ! वीरवर सुधन्वाने समरभूमिमें हमारे साथ अत्यन्त भयंकर युद्ध किया था तथा विभो ! शूरवीर सुरथने भी आपके सैनिकोंको भयभीत कर दिया था ॥ १६ ॥

ततो मणिपुरं प्राप्तः सव्यसाची हयान्वितः।
बभ्रुवाहेण संग्रामे पुत्रेण निहतोऽर्जुनः ॥ १७ ॥

'तदनन्तर सव्यसाची अर्जुन उस यज्ञिय अश्वके साथ-साथ मणिपुरमें पहुँचे। वहाँ उनका अपने पुत्र बभ्रुवाहनके साथ संग्राम हुआ, जिसमें अर्जुन मार डाले गये थे ॥ १७ ॥

उलूपी मणिना पार्थं जीवयामास भामिनी।
प्रथमं कर्णपुत्रं तं सर्ववीरप्रतोषकम् ॥ १८ ॥
संजीवयित्वा त्वरिता तस्मिन् काले पतिव्रता।

'उस समय अर्जुनकी पतिव्रता पत्नी उलूपीने समस्त वीरोंको संतुष्ट करनेवाले कर्णपुत्र वृषकेतुको शीघ्रतापूर्वक मणिस्पर्शद्वारा पहले जीवित करके पुनः अर्जुनको जिलाया था ॥

पुत्रेण सहितः पार्थो ययौ सारस्वतं पुरम् ॥ १९ ॥
वीरवर्मा वशी यत्र संजातः स्वयमेव सः।

'फिर पुत्र बभ्रुवाहनको साथ लेकर अर्जुन सारस्वतपुरको गये, जहाँका राजा वीरवर्मा था। वह स्वयं ही वशीभूत हो गया था ॥ १९½ ॥

ततः कौन्तलकं वाजी प्राप्तस्ते धर्मनन्दन ॥ २० ॥
चन्द्रहासोऽधिपो यत्र दुर्जयः स सुरासुरैः।

'धर्मनन्दन ! तदनन्तर आपका अश्व कुन्तलपुरमें जा पहुँचा, जहाँके अधिपति चन्द्रहास हैं, जो देवताओं और असुरोंके लिये भी दुर्जय हैं ॥ २०½ ॥

ततः स तुरगो यातो मध्ये नद्नदीपतेः ॥ २१ ॥
शुष्कं पत्रं यत्र कृत्वा मस्तके बकदाल्भ्यकः।
चिरं स्थितो महातेजास्तपस्तप्तुं च सुव्रतः ॥ २२ ॥

'तत्पश्चात् वह अश्व नद और नदियोंके स्वामी समुद्रके भीतर घुस गया, जहाँ उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महातेजस्वी महर्षि बकदाल्भ्य अपने मस्तकपर एक सूखा पत्ता धारण करके तपस्या करनेके लिये चिरकालसे बैठे हुए थे ॥

ददृशुः पार्थमुख्यास्ते पञ्च वीरा मया सह ।
तं मुनिं हि पुरस्कृत्य समानयति तेऽनुजः ॥ २३ ॥

'तब आपके अर्जुन आदि पाँच प्रधान वीरोंने मेरे साथ जाकर उन मुनिका दर्शन किया। इस समय आपके अनुज अर्जुन उन मुनिको सत्कारपूर्वक यहाँ लिवा ला रहे हैं॥ २३ ॥

वित्तं बहु समानीतं रत्नानि विविधानि च ।
स्तोका हि पृथिवी पार्थ प्रतापस्तेऽधिकः प्रभो ॥ २४ ॥

'वे अपने साथ बहुत-सा धन तथा अनेक तरहके रत्न भी ला रहे हैं। पृथानन्दन ! यह पृथ्वी तो थोड़ी है; परंतु प्रभो ! आपका प्रताप तो इससे कहीं अधिक बड़ा है ॥२४॥

एवं कुशलिनः सर्वे पुनः प्राप्ताः स्वमन्दिरम् ।
यथा मां वीक्षसे राजंस्तथा सर्वान् विलोकय ॥ २५ ॥

'राजन् ! इस प्रकार सब लोग कुशलपूर्वक पुनः अपने घरको लौट आये हैं। जैसे आप मुझे सकुशल देख रहे हैं, वैसे ही उन सबको भी कुशली समझिये' ॥ २५ ॥

एहि भीम महाबाहो देहि मे परिरम्भणम् ।
ततो भीमादिभिर्वीरैर्वासुदेवो नमस्कृतः ॥ २६ ॥

(फिर श्रीकृष्णने भीमसेनसे कहा—)'महाबाहु भीमसेन आओ और हृदयसे लग जाओ।' तब भीमसेन आदि वीरोंने वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको नमस्कार किया ॥ २६ ॥

नमस्कृत्य हरिः कुन्तीं मातरस्ताः पुरः स्थिताः ।
ववन्दे मुदितस्तत्र कथयन् कुशलं स्वकम् ॥ २७ ॥

तत्पश्चात् श्रीकृष्णने अपनी बूआ कुन्तीको प्रणाम करके सामने खड़ी हुई अपनी माताओंकी चरण-वन्दना की और हर्षपूर्वक वे अपना कुशल-समाचार बताने लगे ॥ २७ ॥

द्रौपदी च सुभद्रा च नमस्कृत्य जनार्दनम् ।
स्थिता समीपं कृष्णस्य हर्षव्याकुललोचना ॥ २८ ॥

इसी समय द्रौपदी और सुभद्राने भी आकर श्रीकृष्णको अभिवादन किया और फिर वे उनके समीप ही खड़ी हो गयीं। उस समय उनके नेत्र हर्षसे चञ्चल हो रहे थे ॥ २८ ॥

गान्धारीं धृतराष्ट्रं च विदुरं संजयान्वितम् ।
ददर्श कृष्णो भगवान् परिष्वज्य यथासुखम् ॥ २९ ॥

पुनः भगवान् श्रीकृष्णने गान्धारी, धृतराष्ट्र और संजयसहित विदुरका दर्शन किया और फिर सुखपूर्वक वे उनसे गले लगकर मिले ॥ २९ ॥

ततो भीमेन सहितो विवेश स्वं निवेशनम् ।
यत्र सा रुक्मिणी देवी सत्यभामा च लक्ष्मणा ॥ ३० ॥
तथा जाम्बवती रम्या कृष्णदर्शनलालसा ।
एताश्चान्याश्च ता बह्व्यो वीक्षन्ते हरिमागतम् ॥ ३१ ॥

तदनन्तर श्रीकृष्णने भीमसेनके साथ अपने उस भवनमें प्रवेश किया, जहाँ देवी रुक्मिणी, सत्यभामा, लक्ष्मणा तथा श्रीकृष्णके दर्शनकी लालसासे युक्त सुन्दरी जाम्बवती—ये तथा अन्य बहुत-सी रानियाँ श्रीकृष्णके आगमनकी बाट जोह रही थीं ॥

उवाच सत्यभामाथ स्वनाथं सुसमागतम् ।
पालितः पाण्डवो नाथ सहयः सबलो वने ॥ ३२ ॥
काचित् प्राप्ता त्वया नो वा नारी कुब्जाथ वामना ।
प्रमीलां हि यथा पार्थः प्रयाणेऽस्मिन् प्रलब्धवान्॥३३ ॥

वहाँ सत्यभामाने अपने प्राणनाथको सकुशल आया हुआ देखकर कहा—'नाथ ! आपने वनमें घोड़े तथा सेनासहित अर्जुनकी सब प्रकारसे रक्षा तो की, परंतु स्वामिन् ! इस यात्रामें जैसे अर्जुनको प्रमीला मिल गयी है, उसी तरह आपको भी कोई कुबड़ी अथवा बौनी स्त्री प्राप्त हुई या नहीं ?' ॥

जैमिनिरुवाच

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा प्रहस्य मधुसूदनः ।
प्रत्युवाच समीपस्थं भीमसेनं महामतिः ॥ ३४ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! सत्यभामाकी वह बात सुनकर महामति मधुसूदन हँस पड़े और फिर उन्होंने समीपमें खड़े हुए भीमसेनसे कहा—॥ ३४ ॥

अस्याः श्रुतं भीम वचो वक्रं यन्मां प्रभाषितम् ।
बहुपुत्रोऽस्मि संजातः पौत्रैरपि समन्वितः ॥ ३५ ॥

'भीमसेन ! सत्यभामाने मेरे प्रति जो वक्रोक्ति मुँहसे निकाली है, उसे तुमने सुन लिया न ? अब मेरे बहुत-से पुत्र हो गये तथा मैं पौत्रोंसे भी सम्पन्न हूँ ॥ ३५ ॥

युधिष्ठिरस्य नगरे बहुवृद्धसमागमे ।
यस्य मेऽत्र स्थितिर्जाता त्रपा हि स्त्रीपरिग्रहे ॥ ३६ ॥

'युधिष्ठिरके इस नगरमें, जहाँ बहुत-से वृद्धजनोंका समारोह जुटा हुआ है, मैं आकर रहता हूँ। यहाँ स्त्री-परिग्रहकी बात सुनकर मुझे बड़ी लज्जा हुई है ॥ ३६ ॥

एवमेव न जानाति सत्या वक्तुं च गोपने ।
बालत्वे यत्कृतं किंचित् साम्प्रतं तन्न मे प्रियम् ॥ ३७ ॥

'यह सत्यभामा इसी तरह बकती रहती है। कौन बात कहने योग्य है और किसे छिपाये रखना चाहिये—इसका इसे कुछ भी ज्ञान नहीं है। बचपनमें मेरेद्वारा जो कुछ किया गया है, वह इस समय मुझे प्रिय नहीं है' ॥ ३७ ॥

एतस्मिन्नन्तरे प्राप्तः प्रतीहारो महीपतेः ।
कृष्णं विलोक्य भीमं च विनीतवदुवाच ह ॥ ३८ ॥

इसी समय वहाँ महाराज युधिष्ठिरका दूत आ पहुँचा। वह श्रीकृष्ण और भीमसेनको एकत्र देखकर नम्रतापूर्वक कहने लगा—॥ ३८ ॥

उत्तिष्ठन्तु जनाः सर्वे कृष्णमुख्या नृपालये ।
सर्वैस्तु सहितः कृष्ण कुरु यज्ञं मनोरमम् ॥ ३९ ॥

'अब श्रीकृष्ण आदि सभी प्रधान लोग उठें और राजभवनमें पधारें। श्रीकृष्ण! आप सबको साथ लेकर अब उस सुन्दर अश्वमेध यज्ञका आरम्भ कराइये' ॥ ३९ ॥

जैमिनिरुवाच

ततो देवो नृपं प्राप्य प्रत्युवाच महाबलः ।
त्वयात्र राजन् स्थातव्यं यज्ञवाटे मनोरमे ॥ ४० ॥
अहं च धृतराष्ट्रेण वृद्धैश्च परिवारितः ।
ऋषिभिः सहितो यास्ये भ्रातृभिः सहितोऽग्रतः ॥ ४१ ॥
अर्जुनो यत्र तं दिव्यं परिवार्य महाबलः ।
बकदाल्भ्यं सुचरितं सहयः संस्थितः पथि ॥ ४२ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! तत्पश्चात् महाबली भगवान् श्रीकृष्ण राजा युधिष्ठिरके पास जाकर यों बोले—'राजन्! आप तो इस रमणीय यज्ञशालामें ही बैठे रहें और मैं जहाँ मार्गमें महाबली अर्जुन उस यज्ञिय अश्वके साथ उत्तम आचरणवाले दिव्य महर्षि बकदाल्भ्यको घेरकर खड़े हैं, वहाँ धृतराष्ट्र, अन्य वृद्धजन, ऋषिगण और आपके भाइयोंको साथ लेकर पहले ही जाता हूँ ॥ ४०—४२ ॥

कुन्ती च सम्मुखा यातु तथैव मम योषितः ।
सम्भावयन्तु सम्प्राप्तं मुनिस्त्रीगणसंयुताः ॥ ४३ ॥

'बुआ कुन्ती (अर्जुनके स्वागतार्थ) उनके सम्मुख चलें। उसी तरह मेरी पटरानियाँ भी मुनि-पत्नियोंको साथ लेकर यहाँ आये हुए अर्जुनका स्वागत करें ॥ ४३ ॥

ब्राह्मणाद्याश्च ये वर्णा वेदध्वनिसमन्विताः ।
लाजवर्षं प्रकुर्वाणा गजस्थाश्च कुमारिकाः ॥ ४४ ॥

'जो ब्राह्मण आदि वर्णके लोग हैं, वे वेदमन्त्रोंका उच्चारण करें। कुमारी कन्याएँ हाथियोंपर बैठकर खीलोंकी वर्षा करती हुई चलें ॥ ४४ ॥

पताकाभिर्विचित्राभिर्नगरं समलंकृतम् ।
नरैश्च नृत्यसंयुक्तैर्नानाकौतुकमिश्रितैः ॥ ४५ ॥
पुष्पोत्करैः समाकीर्णं चन्दनोदकशीतलैः ।
कुर्वन्तु राजपुरुषाः पार्थस्याद्य समागमे ॥ ४६ ॥

'अर्जुनके इस समागमके अवसरपर राजकर्मचारी हस्तिनापुरको चित्र-विचित्र पताकाओंसे सुसज्जित कर दें। राजमार्गोंपर चन्दनमिश्रित शीतल जलका छिड़काव करके उसपर पुष्प बिखेर दें। नर्तकगण नाना प्रकारके कौतुक-प्रदर्शनके साथ-साथ नृत्य करते हुए चलें' ॥ ४५-४६ ॥

एवं कृष्णेन ते सर्वे संदिष्टास्तैस्तथा कृतम् ।
पुरस्कृत्य हृषीकेशं निर्गताः पुरवासिनः ॥ ४७ ॥
प्राप्तः पार्थो हयौ प्राप्तौ दिष्ट्या दिष्ट्येतिवादिनः ।

जब श्रीकृष्णने उन सबको ऐसा आदेश दिया, तब उन्होंने वैसा ही सारा प्रबन्ध कर दिया। तत्पश्चात् नगर-निवासी श्रीकृष्णको आगे करके नगरसे बाहर निकले। उस समय वे भी कह रहे थे कि बड़े सौभाग्यकी बात है कि अर्जुन सकुशल लौट आये तथा इन दोनों घोड़ोंका आना भी भाग्यसे ही सम्भव हुआ है ॥ ४७½ ॥

रुक्मिणी स्ववधूवृन्दैः सहिता शिबिकां ययौ ॥ ४८ ॥
उषा स्त्रीणां सहस्राणि पुरस्कृत्य ययौ पथि ।
तथा सत्या स्वकं वृन्दं नारीणां समलंकृतम् ॥ ४९ ॥
कुसुमैः पारिजातस्य दुकूलैः क्षीरहासकैः ।
कुसुम्भरङ्गयुक्तैश्च रम्यकार्पासकैर्ययौ ॥ ५० ॥

उस समय रुक्मिणी अपनी बहुओंके साथ पालकीपर चढ़कर चलीं। उषा मार्गमें हजारों स्त्रियोंको आगे करके निकली तथा सत्यभामा अपने दलकी अलंकृत नारियोंको साथ लेकर प्रस्थित हुईं। उस दलकी स्त्रियाँ पारिजातके पुष्पों, अपनी उज्ज्वलतासे दुग्धका भी उपहास करनेवाले रेशमी वस्त्रों और कुसुम्भी रंगमें रँगी हुई सुन्दर सूती साड़ियोंसे सुसज्जित थीं ॥ ४८—५० ॥

ततो जाम्बवती देवी निरगान्मानिनीगणैः ।
मुक्तामालावृतैः कान्तैर्युवभावसमन्वितैः ॥ ५१ ॥
वेष्टितैर्दिव्यवसनैस्तमालनिभकञ्चुकैः ।

तदनन्तर युवावस्थासे सम्पन्न, गलेमें मोतियोंके हारोंसे सुशोभित तथा दिव्य वस्त्रों और तमालके-से रंगवाली चोलियोंसे विभूषित मानिनी स्त्रियोंके समुदायके साथ जाम्बवती देवी नगरसे बाहर निकलीं ॥ ५१½ ॥

हर्षादतीव निर्यान्ति समूहाः स्त्रीमयाः पथि ॥ ५२ ॥
परस्परस्य संघर्षात् क्षरत्कुङ्कुमपङ्किलाम् ।

छिन्नमौक्तिकहाराणां तोयेन धरणीं स्त्रियः ॥ ५३ ॥
चक्रुः कर्पूरदानेन च्युतेन च करात् करैः ।

इस प्रकार वे सभी स्त्रियोंके समूह मार्गमें अत्यन्त हर्ष-पूर्वक चल रहे थे। उस समय उन स्त्रियोंने परस्परके संघर्षके कारण झरते हुए कुङ्कुमोंसे, टूटे हुए हारोंके जलस्रावी मोतियोंके जलसे और परस्पर हाथके रगड़से गिरे हुए कपूरसे पृथ्वीको कीचयुक्त कर दिया ॥ ५२-५३½ ॥

गजस्था देवकी देवी यशोदा रुक्मिणी स्थिता ॥ ५४ ॥
कुन्ती चैव गजे मत्ते प्रस्थिता पाण्डवं प्रति ।

उस समय देवकी देवी, यशोदा और रुक्मिणी हाथीपर सवार थीं तथा कुन्ती भी एक मतवाले गजराजपर बैठकर अर्जुनको देखनेके लिये प्रस्थित हुईं ॥ ५४½ ॥

धृतातपत्राः सर्वास्ता योषितश्चलचामराः ॥ ५५ ॥
हर्षेण मार्गे संयान्ति वीक्षितुं चारुलोचनाः ।
धनंजयं चिरात् प्राप्तं वासुदेवेन नोदिताः ॥ ५६ ॥

उन सभी महिलाओंके ऊपर छत्र लगा हुआ था और चँवर डुलाये जा रहे थे। वे सुन्दर नेत्रोंवाली नारियाँ श्रीकृष्णकी प्रेरणासे चिरकालके बाद लौटे हुए अर्जुनको देखनेके लिये मार्गमें हर्षपूर्वक यात्रा कर रही थीं ॥ ५५-५६ ॥

एवं महाजनयुतः प्रातःस्नानं मलापहम् ।
कृत्वा कुसुमगन्धेन वासितो हि समस्थले ॥ ५७ ॥
व्यूह्य सेनां स्वयं रम्यामर्धचन्द्रनिभां हरिः ।
अग्रतो ब्राह्मणाः सर्वे वेदध्वनिकृताः स्थिताः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार उस महान् जनसमुदायके साथ श्रीकृष्णने प्रातःकाल मलको दूर करनेवाला स्नान करके और पुष्पोंकी सुगन्ध (इत्र) से सुवासित होकर एक समतल भूमिपर स्वयं ही सेनाको सुन्दर अर्धचन्द्र-व्यूहके आकारमें खड़ा किया। उसमें वेदध्वनि करनेवाले सभी ब्राह्मणोंको आगे रखा गया ॥ ५७-५८ ॥

तेषां पत्न्यो ययुश्चाग्रे दधिदूर्वाक्षतैर्युताः ।
क्षत्रियाः स्वर्णपात्रेषु धृतकर्पूरदीपिकाः ॥ ५९ ॥

उन ब्राह्मणोंकी पत्नियाँ दधि, दूर्वा और अक्षत लेकर आगे-आगे चलीं और क्षत्राणियाँ स्वर्ण-थालोंमें कपूरके दीपक सँजोकर खड़ी थीं ॥ ५९ ॥

गोरोचनं कुङ्कुमचन्दनानि
सुवर्णपात्रेषु निधाय वैश्याः ।
कौसुम्भवस्त्रैश्च विकासिताङ्ग्य-
स्तस्थुः प्रभासन्मुकुटाः कृशाङ्ग्यः ॥ ६० ॥

वैश्यपत्नियाँ स्वर्णथालोंमें गोरोचन, कुङ्कुम और चन्दन रखकर खड़ी थीं। वे सब-की-सब कृशाङ्गी थीं। उनके मस्तकपर मुकुटकी प्रभा छिटक रही थी और उनके शरीर कुसुम्भी रंगकी साड़ियोंसे खिल उठे थे ॥ ६० ॥

महाजनानां पुरतश्च वेश्या
नृत्यन्ति मुक्ताफललोलहाराः ।
प्रमाथिभिर्नेत्रकटाक्षवीक्षणै-
र्विकाशयन्त्याशु मनांसि यूनाम् ॥ ६१ ॥

वेश्याएँ महाजनोंके समक्ष आकर नृत्य कर रही थीं। उनके मोतियोंके हार हिल रहे थे। वे मनको मथ डालनेवाली अपने नेत्रोंकी कटाक्षयुक्त चितवनसे नवयुवकोंके मनको शीघ्र ही उद्दीपित कर देती थीं ॥ ६१ ॥

नृत्येन ताः पथि हरिं परितोषयन्ति
सद्भावहावरसतालयुगेन रामाः ।
मुग्धं च तत् स्वमुखपद्मरसाधिरूढं
तस्थुः करैरलिकुलं विनिवारयन्त्यः ॥ ६२ ॥

वे सुन्दरी वेश्याएँ मार्गमें उत्तम हाव-भाव, रस और तालसे संयुक्त नृत्यद्वारा श्रीकृष्णको रिझा रही थीं और अपने मुखकमलके रसके लोभसे मुग्ध होकर मँड़राते हुए भ्रमर-समूहोंको हाथोंसे हटाती रहती थीं ॥ ६२ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि अर्जुनागमो नाम द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें अर्जुनका आगमन नामक बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

अर्जुनका आकर दल-बलसहित श्रीकृष्णसे मिलना, राजाओंद्वारा हस्तिनापुरके वैभवका वर्णन, अर्जुनद्वारा धृतराष्ट्रको समागत राजाओंका परिचय देना, राजाओंका धृतराष्ट्रको तत्पश्चात् युधिष्ठिरको प्रणाम करना, यज्ञ-सम्भारका एकत्र किया जाना, युधिष्ठिरका समाजसहित गङ्गा-तटपर जाकर जल ले आना और उससे यज्ञिय अश्वको पवित्र करना

जैमिनिरुवाच

पार्थः प्राप्तो वृतो भूपैः कालेन कियता नृप ।
यत्र तिष्ठति कृष्णोऽसौ महाजनयुतः पथि ॥ १ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—राजा जनमेजय ! तदनन्तर मार्गमें जहाँ महान् जन-समुदायके साथ भगवान् श्रीकृष्ण खड़े थे, वहाँ कुछ कालके बाद राजाओंसे घिरे हुए अर्जुन भी आ पहुँचे ॥ १ ॥

अर्जुनेन स्वकं सैन्यं रचितं राजभिर्युतम् ।
समुत्तीर्य स्वयं यानात् पुरस्कृत्य तुरङ्गमौ ॥ २ ॥

तब अर्जुन अपने रथसे उतर पड़े और राजाओंसे भरी हुई अपनी सेनाको यथोचित रूपसे खड़ा करने लगे । उन्होंने दोनों यज्ञिय अश्वोंको सबसे आगे खड़ा किया ॥ २ ॥

नृपतीन् पुरतः कृत्वा ऋषिं च शिविकां स्थितम् ।
त्यक्त्वा यानानि भूपालाः प्रयान्ति हरिसम्मुखम् ।३।

फिर पालकीमें बैठे हुए महर्षि बकदाल्भ्यको आगे रखकर राजाओंकी कतार लगायी । तत्पश्चात् वे सभी नरेश अपनी-अपनी सवारियोंसे उतरकर श्रीकृष्णके सम्मुख चले ॥ ३ ॥

ददृशुः पार्थसैन्यं ते लीनं कृष्णकलेवरे ।
धर्मराजनिमित्तं हि सैन्यरूपः स्वयं हरिः ॥ ४ ॥

निकट पहुँचकर उन्होंने देखा कि अर्जुनकी सारी सेना श्रीकृष्णके शरीरमें लीन हो गयी है; क्योंकि धर्मराज युधिष्ठिर-के लिये स्वयं श्रीहरिने ही सेना-दलका रूप धारण कर लिया था ॥ ४ ॥

गजा मत्ता हयाः शुभ्रा रथाश्चैव पदातयः ।
राजानो राजपुत्राश्च बभूवुः कृष्णरूपिणः ॥ ५ ॥

उस समय मदमत्त गजराज, सुन्दर घोड़े, रथ, पैदल सैनिक, राजाओं और राजकुमारोंका समुदाय—ये सब-के-सब श्रीकृष्णरूप हो गये थे ॥ ५ ॥

सर्वे सुन्दररूपाणि कृत्वा यत्राग्रतः स्थिताः ।
राजानः प्रसमीक्ष्याथ प्रोचुस्ते वै परस्परम् ॥ ६ ॥

वे सब वहाँ सुन्दर रूपोंमें सजकर आगे खड़े थे । तब उन्हें देखकर समागत राजा लोग परस्पर कहने लगे— ॥ ६ ॥

दृष्टा वै बहवोऽस्माभिर्देशाः पार्थहयानुगैः ।
देशानां वैभवेनापि तुष्टानि विदुषामपि ॥ ७ ॥
मनांसि यानि तान्यत्र वीक्ष्य यौधिष्ठिरं पुरम् ।
गर्हयन्ति निजं चारु वैभवं देशसम्भवम् ॥ ८ ॥

'अर्जुनके घोड़ेके पीछे-पीछे घूमते हुए हमलोगोंने बहुत-से देश देखे और उन देशोंके वैभवको देखकर विद्वानोंके भी जो मन संतुष्ट हो गये थे, वे ही मन यहाँ युधिष्ठिरके नगरका वैभव देखकर अपने देश-सम्बन्धी सुन्दर वैभवकी निन्दा कर रहे हैं ॥ ७-८ ॥

पुण्यं धनं सुखं धर्मो देवोद्यानस्य कौतुकम् ।
सम्पदो बहुला यत्र हसन्ति भुवनत्रयम् ॥ ९ ॥

'यह नगर पुण्य, धन, सुख और धर्मसे भरा-पूरा है । यहाँ नन्दनवनका-सा दृश्य दृष्टिगोचर हो रहा है । सम्पदाएँ तो इतनी अधिक हैं कि वे त्रिलोकीका उपहास कर रही हैं ॥९॥

जनाः पुण्यप्रिया यस्मिन् नानामण्डनभूषिताः ।
रतिरूपास्तु कामिन्यो नरा मन्मथरूपिणः ॥ १० ॥

'यहाँके निवासी पुण्यसे प्रेम करनेवाले तथा नाना प्रकार-के अलंकारोंसे विभूषित हैं । स्त्रियाँ तो साक्षात् रतिकी प्रतिमूर्ति ही हैं और पुरुष कामदेव-सरीखे सुन्दर हैं ॥ १० ॥

सूर्येन्द्रवाहनैर्मान्या रत्नालंकारभूषिताः ।
विलोक्यन्ते गजा यत्र किं प्रसूता हरेर्गजात् ॥ ११ ॥

'इस नगरमें ऐसे गजराज दीख रहे हैं, जो सूर्य और इन्द्रके वाहनोंद्वारा सम्मानित तथा रत्ननिर्मित अलंकारोंसे विभूषित हैं । क्या ये इन्द्रके गजराज ऐरावतसे उत्पन्न हुए हैं ? ॥ ११ ॥

नानारत्नैः किरीटैश्च भूषिता रत्नकम्बलैः ।
धाराभिः पञ्चभिर्युक्ता यत्र सन्ति तुरङ्गमाः ॥ १२ ॥
विजेतारः सुरहयान् स्ववेगेन समर्धिताः ।

'यहाँके घोड़े भी रत्ननिर्मित नाना प्रकारकी कलँगियोंसे सुशोभित हैं । इनकी पीठपर पाँच धारियोंवाली रत्नजटित झूलें पड़ी हैं । ये इतने वेगशाली हैं कि अपनी तेज चालसे देवलोकके घोड़ोंको भी मात कर देनेवाले हैं ॥ १२½ ॥

किमत्र वर्ण्यते चारु पाण्डवस्य पुरे हरिः ॥ १३ ॥
सर्वं व्याप्य स्थितोऽनन्तः स्वभाभिर्भासयन् दिशः ।

'भला, यहाँकी किस वस्तुकी सुन्दरताका वर्णन किया जा सकता है; क्योंकि युधिष्ठिरके इस नगरमें साक्षात् भगवान् अनन्त सभी वस्तुओंमें व्याप्त होकर अपनी प्रभासे समस्त दिशाओंको प्रकाशित करते हुए विराजमान हैं ॥ १३½ ॥

कन्यकाकरनिर्मुक्तैर्मौक्तिकै रत्नमिश्रितैः ॥ १४ ॥
पार्थागमे भूभृतोऽत्र क्रियन्ते हारसंयुताः ।

'अर्जुनके आगमनके इस अवसरपर कुमारी कन्याएँ इतनी रत्नमिश्रित मोतियाँ बिखेर रही हैं, जिससे जान पड़ता है कि राजाओंके गलेमें हार पहना दिया गया है ॥ १४½ ॥

एते राजप्रभृतयो विराजन्तेऽत्र चामरैः ॥ १५ ॥
उद्यताश्चलितैर्वीराः किमूर्ध्वकरभास्कराः ।

'इस समारोहमें सम्मिलित होनेके लिये उद्यत हुए वीर राजाओंपर चँवर डुलाये जा रहे हैं, जिससे इनकी ऐसी शोभा हो रही है, मानो ये ऊपरकी ओर किरणोंवाले सूर्य ही हैं ॥ १५½ ॥

अत्रायान्ति हि वृन्दानि ऋषीणामूर्ध्वरेतसाम् ॥ १६ ॥
याचितुं दीक्षिताद् धर्मादसिपत्रव्रतस्थितात् ।

'यहाँ ऊर्ध्वरेता ऋषियोंके यूथ यज्ञमें दीक्षित एवं असिपत्रव्रतके पालनमें तत्पर धर्मराज युधिष्ठिरसे याचना करने-के लिये आ रहे हैं ॥ १६½ ॥

धूपधूमेन गमनं समांसलमिवाभवत् ॥ १७ ॥
कृष्णस्योपरि भूलोके वादित्रभयशङ्कितम् ।

'वहाँ भगवान् श्रीकृष्णके ऊपरका आकाश भूतलपर बाजा बजनेके भयसे शङ्कित होकर धूपके धुएँसे सुपुष्ट हो गया है अर्थात् गर्जना करनेके लिये उद्यत-सा दीखता है ॥ १७½ ॥

एषा सेनात्र विरजा धर्मराजस्य वीक्ष्यते ॥ १८ ॥
चलितापि धृता धीरैः स्वयं कृष्णेन रक्षिता ।
एवं ब्रुवन्तस्ते सर्वे राजानः संगता हरिम् ॥ १९ ॥

'यहाँ यह धर्मराज युधिष्ठिरकी निर्मल सेना दीख रही है। यह स्वयं भगवान् श्रीकृष्णद्वारा सुरक्षित है। यह चलती हुई भी रणधीर वीरोंद्वारा नियन्त्रित है।' यों बातें करते हुए वे सभी नरेश श्रीहरिके समीप पहुँच गये ॥ १८-१९ ॥

तत्र पार्थो महाबुद्धिः कृष्णमुख्यान् महाजनान् ।
नमस्कृत्य मुदालिङ्ग्य दर्शयामास भूपतीन् ॥ २० ॥

उस समय महाबुद्धिमान् अर्जुनने श्रीकृष्ण आदि महान् पुरुषोंको प्रणाम करके हर्षपूर्वक उन्हें गले लगाया और समागत भूपालोंको उनका दर्शन कराया ॥ २० ॥

सौबलेयीं च कुन्तीं च देवकीं च पितृव्यकम् ।
धृतराष्ट्रं च विदुरं प्रत्युवाच धनंजयः ॥ २१ ॥

तत्पश्चात् अर्जुन सुबलकुमारी गान्धारी, कुन्ती, देवकी, ताऊ धृतराष्ट्र और चाचा विदुरसे कहने लगे—॥ २१ ॥

एनं पश्यन्तु मे पूज्यं राजानं चन्द्रहासकम् ।
विषयाभिरतं वीरं विष्णुभक्तं समागतम् ॥ २२ ॥

'आपलोग यहाँ पधारे हुए इन राजा चन्द्रहासका दर्शन करें। अपनी पत्नी विषयामें रत होनेवाले ये वीर नरेश भगवान् विष्णुके भक्त और मेरे पूज्य हैं॥ २२ ॥

वीरवर्मा नृपश्रेष्ठो नानावीरगणाग्रणीः ।
नमस्करोति पुरतो धृतराष्ट्र महीपते ॥ २३ ॥

'पृथ्वीनाथ धृतराष्ट्र! जो बहुत-से वीर-दलोंके नेता हैं, वे ही ये नृपश्रेष्ठ वीरवर्मा आपके सामने खड़े होकर प्रणाम कर रहे हैं॥ २३ ॥

मयूरकेतुः समुपैति चायं
विभेदितो यो हरिणा न भिन्नः ।
स्वधर्मतो वीरजनं तृणं खे
न्यवेशयद् बाणसमीरणेन ॥ २४ ॥
एनं विभावय नृपं सुधियां वरिष्ठं
त्वत्पादसेवनरतं सहसाभिपन्नम् ।
यस्य प्रतापरविणा रिपुवक्त्रपद्मं
संकोचितं गतबलं स्वकरैर्दिवापि ॥ २५ ॥
यः शेषराजभवनान्मणिमाजहार
यो नागभोगविलसद्विषमादधार ।
यो जाह्नवीगहनशापदवाग्निदग्धं
मां बान्धवैर्युतमचीकरदेति सोऽयम् ॥ २६॥

'ये राजा मयूरध्वज आ रहे हैं, जो श्रीकृष्णके परीक्षा लेनेपर भी अपने धर्मसे विचलित नहीं हुए थे।

'राजन्! जिसने अपने बाणोंकी वायुसे वीरजनोंको तृणके समान आकाशमें उड़ा दिया था। जिसके प्रतापरूपी सूर्यने अपनी किरणोंसे शत्रुओंकी सेनाका संहार करके उनके मुखरूपी कमलको दिनमें ही संकुचित कर दिया था, जो विषधर नागोंके फनपर विलास करनेवाले विषको अपने ऊपर धारण करके नागराज शेषके भवनसे संजीवक मणि लाया था और जिसने गङ्गाजीके भयंकर शापरूपी दावाग्निसे दग्ध हुए मुझको पुनः (जीवित करके) भाई-बन्धुओंसे मिला दिया, यह वही बभ्रुवाहन आ रहा है। अब आप विद्वानोंमें श्रेष्ठ इस राजा बभ्रुवाहनका सत्कार कीजिये। यह आपके चरणोंकी सेवा करनेके लिये सहसा प्राप्त हो गया है॥ २४–२६ ॥

हंसध्वजं पश्य पुरः पादयोः प्रणतं नृप ।
यस्य पुत्रौ महावीरौ शङ्करं पार्वतीपतिम् ॥ २७ ॥
स्वशिरोभ्यां प्रभायुक्तं चक्रतुर्मुदितं दिवि ।

'नरेश्वर! जिनके दो महाबली पुत्रों (सुधन्वा और सुरथ) ने अपने मस्तकोंद्वारा आकाशमें पार्वतीपति भगवान् शङ्करको सुशोभित एवं प्रसन्न कर दिया है, वे राजा हंसध्वज सामने ही आपके चरणोंमें पड़े हुए हैं; इनकी ओर दृष्टि डालिये॥

येन सर्वे रणे वीराः स्वप्रतापेन मोचिताः ॥ २८ ॥
तं कर्णपुत्रं प्रणतं परिष्वज जनाधिप ।

'जनेश्वर! जिसने रणभूमिमें अपने पराक्रमसे हम सब वीरोंको भयसे मुक्त किया था, अपने चरणोंमें पड़े हुए उस कर्णपुत्र वृषकेतुको आप हृदयसे लगाइये॥ २८½ ॥

नीलध्वजं च बलिनं समुत्थापय मारिष ।
वह्निना येन तत् सैन्यं दग्धं संशयिता वयम् ॥ २९ ॥

'आर्य! जिन्होंने अग्निकी सहायतासे हमारी सेनाको दग्ध करके हमें संशयमें डाल दिया था, (अपने चरणोंमें पड़े हुए) उन बलवान् राजा नीलध्वजको उठाइये'॥ २९ ॥

जैमिनिरुवाच

ततः सर्वे नृपास्तेन धृतराष्ट्रेण पूजिताः ।
समागत्य महात्मानं धर्मराजं ववन्दिरे ॥ ३० ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर धृतराष्ट्रने उन सभी राजाओंका आदर-सत्कार किया। तब उन नरेशोंने महात्मा राजा युधिष्ठिरके पास जाकर उनकी चरण-वन्दना की॥

नमस्कृत्यार्जुनस्तं वै समालिङ्ग्याग्रतः स्थितः ।
भीमसेनं च वृद्धांस्तानभिवन्द्य प्रहर्षितः ॥ ३१ ॥

तब अर्जुनने युधिष्ठिरको प्रणाम करके उनका आलिङ्गन

किया और फिर उनके आगे खड़े हो गये । तत्पश्चात् भीमसेन तथा वहाँ उपस्थित वृद्धजनोंकी अभिवन्दना करके अर्जुन परम प्रसन्न हुए ॥ ३१ ॥

कुन्ती वीक्ष्य सुतं प्राप्तं शरतोमरदारितम् ।
परिष्वज्य स्थिता वीरं मुञ्चती हर्षजं जलम् ॥ ३२ ॥

तत्पश्चात् बाण और तोमरसे घायल हुए अपने वीर पुत्र अर्जुनको आया हुआ देखकर कुन्तीदेवीने उठकर उसे छातीसे लगा लिया । उस समय उनके नेत्रोंसे हर्षके कारण आँसू बह रहे थे ॥ ३२ ॥

कर्णपुत्रं समाघ्राय मूर्ध्नि वै प्रियबालकम् ।
प्रत्युवाच त्वया सर्वं रक्षितं वृषकेतुना ॥ ३३ ॥

फिर कुन्ती अपने प्यारे बालक वृषकेतुका मस्तक सूँघकर कहने लगीं—'बेटा वृषकेतु ! तूने तो (लौटकर) हम सबको बचा लिया' ॥ ३३ ॥

तथा प्रहर्षिता कुन्ती स्थिता धर्मनिवेशने ।
युधिष्ठिरोऽथ ऋषिभिः सहितः कर्षितुं ययौ ॥ ३४ ॥
क्षेत्रं गृहीत्वा वृषभौ द्रौपदीं च सुमध्यमाम् ।
ओषधीः समुपादाय दीक्षितो वसुमेव च ॥ ३५ ॥

इस प्रकार कुन्तीदेवी अत्यन्त हर्षपूर्वक धर्मराज युधिष्ठिरके भवनमें विराजमान हुईं । तदनन्तर यज्ञकी दीक्षासे सम्पन्न युधिष्ठिर दो बैल, सुन्दर कटिभागवाली द्रौपदी तथा औषध और द्रव्य साथ लेकर यज्ञक्षेत्र जोतनेके लिये ऋषियोंसहित चले ॥ ३४-३५ ॥

कृष्णाद्याः सर्वभूपालाः पश्यन्तः पृष्ठगामिनः ।
कुन्ती च देवकी देवी यशोदा वरवर्णिनी ॥ ३६ ॥
सिषिचुश्चन्दनजलैः सकर्पूरैर्युधिष्ठिरम् ।
मन्त्रपाठं प्रकुर्वन्ति ब्राह्मणाः स्त्रीभिरन्विताः ॥ ३७ ॥

उस समय श्रीकृष्ण आदि समस्त भूपाल वह दृश्य देखते हुए पीछे-पीछे चल रहे थे । कुन्ती, देवी देवकी और सुन्दरी यशोदा—ये चन्दन और कपूरमिश्रित जलसे युधिष्ठिरका अभिषेक कर रही थीं और अपनी स्त्रियोंसे संयुक्त ब्राह्मण मन्त्रपाठ कर रहे थे ॥ ३६-३७ ॥

कृषित्वा तत् तदा क्षेत्रमिष्टिकाचयनं ततः ।
चकार त्वरितो मन्त्रैरिष्टिकानां चतुःशतैः ॥ ३८ ॥
चतुर्वेदैश्च विधिवद् व्यासमुख्यैः प्रचोदितः ।
बकदाल्भ्येन मुनिना समस्तैर्वन्दितेन च ॥ ३९ ॥

तब चारों वेदोंके ज्ञाता व्यास आदि मुख्य-मुख्य ऋषियोंके तथा समस्त ऋषियोंद्वारा वन्दित महर्षि बकदाल्भ्यके आज्ञानुसार युधिष्ठिरने उस क्षेत्रको जोतकर फिर तुरंत ही मन्त्रोच्चारणके साथ-साथ चार सौ ईंटोंद्वारा विधिपूर्वक इष्टिका-चयन किया ॥ ३८-३९ ॥

सुपर्णा चितिरेका हि प्रथमा तत्र सा कृता ।
सुपर्णाख्या च हंसाख्या इष्टिकानां चतुःशतैः ॥ ४० ॥

इनमें जो एक 'सुपर्णा चिति' वेदी है, उसका निर्माण वहाँ पहले किया गया । उसका नाम 'सुपर्णा चिति' और 'हंसा चिति' भी है । वह चार सौ ईंटोंसे बनायी गयी ॥ ४० ॥

दक्षिणस्तस्य पक्षस्तु विहितो यज्ञवेदिभिः ।
चतुश्चत्वारिंशता च शतेनैकेन चैव हि ॥ ४१ ॥
अनेनैवान्यपक्षो हि पुच्छं मध्ये शतेन च ।
एकविंशतियुक्तेन तस्य वै रचितं मुखम् ॥ ४२ ॥

यज्ञवेत्ताओंने उसका दाहिना पक्ष एक सौ चौवालीस ईंटोंसे बनाया, इतनी ही ईंटोंसे उसका बायाँ पक्ष भी तैयार किया गया । बीचमें सौ ईंटोंसे पुच्छभाग बना और एक सौ इक्कीस ईंटोंसे उसके मुखका निर्माण किया गया ॥ ४१-४२ ॥

द्वितीया द्विगुणाभिर्हि कृता श्येनैव सा चितिः ।
इष्टिकाभिस्तृतीया तु तस्मिन् वै द्विगुणा तथा ॥४३॥

इसी तरह दूसरी श्येना चिति दुगुनी ईंटोंसे तैयार की गयी और तीसरी उससे भी दुगुने विस्तारवाली बनायी गयी॥

चतुर्थी पञ्चमी यावत् सुपर्णानां च पञ्चकम् ।
संजातं परिशिष्टैश्च वेष्टितं बहुभिस्तथा ॥ ४४ ॥

इसी क्रमसे चौथी-पाँचवींका भी निर्माण हुआ । इस तरह जो सुपर्णपञ्चक तैयार हुआ, वह शेष रहे हुए बहुत-से ईंटोंसे घेर दिया गया ॥ ४४ ॥

अष्टद्वारयुतं रम्यं मण्डपं चक्रिरे बुधाः ।
सुपताकं सुकुण्डानामष्टकं याज्ञिकैः कृतम् ॥ ४५ ॥

फिर विद्वानोंने सुन्दर पताकाओंसे सुशोभित एक रमणीय मण्डप तैयार कराया, जिसमें आठ दरवाजे थे । याज्ञिकोंने वहाँ सुन्दर-सुन्दर आठ कुण्ड बनवाये ॥ ४५ ॥

षट् खादिराः कृता यूपाः सप्त पालाशजाः कृताः ।
पञ्च बैल्वाश्च रचिताः पञ्च श्लेष्मातकस्य ते ॥ ४६ ॥
चषालैर्भूषितास्तत्र वेदिकात्रितयं कृतम् ।
स्रुवाश्च स्थापिता रम्या जुहूनां शतमेव च ॥ ४७ ॥

वहाँ छः खैरके, सात पलाशके, पाँच बेलके और पाँच लहसोड़ेके यूप (यज्ञस्तम्भ) बनाये गये, जो सब-के-सब चषालों (लकड़ीके छल्लों) से विभूषित थे । तीन वेदियाँ निर्माण की गयीं । सुन्दर स्रुवा और सैकड़ों जुहू (आहुति देनेके चमचे) रखे गये ॥ ४६-४७ ॥

वैकङ्कतीनां राजेन्द्र स्रुचीनां षष्टिरेव च ।
गोचर्मलोहितं सोमवल्ली मुसलमेव च ॥ ४८ ॥
मण्डपे विहितं सर्वं तथा रम्यमुलूखलम् ।
सम्भाराणि च भूरीणि वस्तुजातं समाहृतम् ॥ ४९ ॥

विकंकत (कण्टाई) नामक वृक्षके काष्ठकी सात स्रुचियाँ बनायी गयीं। इस प्रकार उस मण्डपमें लाल रंगका गोचर्म, सोमलता, मुसल और सुन्दर ओखली—ये सभी पदार्थ रखे गये। बहुत-सी यज्ञ-सामग्रियाँ और वस्तुसमूह वहाँ लाये गये ॥ ४८-४९ ॥

आचार्यस्तु कृतो व्यासो बकदाल्भ्यः पितामहः।
ऋत्विजश्च कृता दिव्या ऋषयो दीप्ततेजसः ॥५०॥

उस यज्ञमें आचार्य-पदपर व्यासजीका वरण हुआ और महर्षि बकदाल्भ्य ब्रह्मा बनाये गये तथा बहुत-से उद्दीप्त तेजस्वी दिव्य ऋषि ऋत्विज हुए ॥ ५० ॥

वामदेवो वसिष्ठश्च गौतमोऽत्रिः पराशरः।
भारद्वाजो जामदग्न्यः कहोडो भागुरिस्तथा ॥ ५१ ॥
रैभ्यः सुमन्तुः कौण्डिन्यो जातूकर्ण्योऽथ गालवः।
सौभरिर्लोमशाद्याश्च कृतास्ते ऋत्विजः क्रमात् ॥५२॥

(ऋत्विजोंके नाम ये हैं—) वामदेव, वसिष्ठ, गौतम, अत्रि, पराशर, भारद्वाज, जमदग्निनन्दन परशुराम, कहोड, भागुरि, रैभ्य, सुमन्तु, कौण्डिन्य, जातूकर्ण्य, गालव, सौभरि और लोमश आदि। ये सभी क्रमशः ऋत्विज बनाये गये थे ॥ ५१-५२ ॥

रक्षां विधाय सन्मन्त्रै रक्षोघ्नैर्द्वारपालकाः।
वृतास्ते धर्मराजेन तस्मिन् यज्ञे मनोरमे ॥ ५३ ॥

तत्पश्चात् धर्मराज युधिष्ठिरने उस मनोरम यज्ञमें उत्तम रक्षोघ्न मन्त्रोंद्वारा रक्षाका विधान करके द्वारपालोंका वरण किया ॥ ५३ ॥

विश्वामित्रश्च पुलहो धौम्यश्चारुणिरेव च।
उपमन्युर्वायुभक्षो मधुच्छन्दा विभाण्डकः ॥ ५४ ॥
एते कृता द्वारपालास्तस्मिन् यज्ञेऽतिसुन्दरे।

उस अत्यन्त सुन्दर यज्ञमें विश्वामित्र, पुलह, धौम्य, आरुणि, उपमन्यु, वायुभक्ष, मधुच्छन्दा और विभाण्डक—ये द्वारपाल बनाये गये थे ॥ ५४½ ॥

एते चान्ये च बहवो वृतास्ते पूजिताः क्रमात् ॥ ५५ ॥
दीक्षितेन तदा राजन् मृगाजिनविधारिणा।
नवनीतानुलिप्तेन द्रौपदीसहचारिणा ॥ ५६ ॥

राजन्! इस प्रकार उस समय राजा युधिष्ठिरने जो यज्ञकी दीक्षा ले चुके थे, जिनके शरीरपर मक्खनका अनुलेप और मृगचर्म सुशोभित था, द्रौपदी ही जिनकी सहायिका थी, इन मुनियोंका तथा इनके अतिरिक्त अन्य बहुत-से ऋषियोंका वरण किया और क्रमशः उनकी पूजा की ॥ ५५-५६ ॥

व्यासस्ततः प्रत्युवाच दीक्षितं धर्मनन्दनम्।
उपविष्टांश्च भूपालान् दिव्यसिंहासनेषु च ॥ ५७ ॥

तदनन्तर व्यासजीने दीक्षासम्पन्न धर्मनन्दन युधिष्ठिर तथा दिव्य सिंहासनोंपर विराजमान राजाओंसे कहा—॥ ५७ ॥

दम्पतीनां चतुःषष्ट्यर्यातु गङ्गातटं शुभम्।
आहर्तुं जाह्नवीतोयं मयाऽऽदिष्टं यथोचितम् ॥ ५८ ॥

'अब मेरे आदेशानुसार चौंसठ दम्पति (स्त्री-पुरुषके जोड़े) यथोचितरूपसे गङ्गाजल लानेके लिये सुन्दर गङ्गातटपर जायँ ॥ ५८ ॥

अत्रिस्तु पत्नीसहितो वसिष्ठोऽरुन्धतीयुतः।
रुक्मिणीसहितः कृष्णः सुभद्रासहितोऽर्जुनः।
मायावतीयुतो वीरः प्रद्युम्नो यातु सत्वरः ॥ ५९ ॥

'उनमें अपनी पत्नी अनसूयासहित अत्रि, अरुन्धतीसहित वसिष्ठ, रुक्मिणीसहित श्रीकृष्ण, सुभद्रासहित अर्जुन और मायावतीसहित वीर प्रद्युम्न—ये शीघ्र ही तैयार हो जायँ ॥ ५९ ॥

ऊषा गृहीतकरका अनिरुद्धान्विता सती।
हिडिम्बया भीमसेनो वृषकेतुः प्रभद्रया ॥ ६० ॥
मयूरकेतुः प्रियया लीलावत्याद्य गच्छतु।

'हाथमें कलश धारण किये हुए अनिरुद्धके साथ सती ऊषा, हिडिम्बाके साथ भीमसेन, प्रभद्राके साथ वृषकेतु और अपनी प्यारी पत्नी लीलावतीके साथ मयूरध्वज—ये सब अभी यात्रा कर दें ॥ ६०½ ॥

प्रभावत्या यौवनाश्वो नीलकेतुः सुनन्दया ॥ ६१ ॥
गृह्णातु कलशं शीघ्रमनुशाल्वो धमिल्लया।

'प्रभावतीके साथ यौवनाश्व, सुनन्दाके साथ नीलध्वज और धमिल्लाके साथ अनुशाल्व—ये सभी शीघ्र ही कलश उठा लें ॥ ६१½ ॥

एते मया हि निर्दिष्टास्तथान्ये जाह्नवीजलम् ॥ ६२ ॥
आनयन्तु नृपस्यार्थे सदाराः कलशैः शुभम्।

'इस प्रकार जिनका मैंने नाम-निर्देश कर दिया है—ये तथा दूसरे लोग भी अपनी पत्नियोंके साथ राजा युधिष्ठिरके लिये सुन्दर गङ्गाजल कलशोंमें भरकर ले आवें' ॥ ६२½ ॥

जैमिनिरुवाच

एवं व्याससमादिष्टास्ते पत्नीसहिता मुदा ॥ ६३ ॥
आनेतुं जाह्नवीतोयं प्रस्थिता बद्धपल्लवाः।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! व्यासजीके यों आदेश देनेपर वे सभी नरेश अपनी पत्नियोंके साथ आनन्दपूर्वक गङ्गाजल लानेके लिये प्रस्थित हुए। उस समय उनके दुपट्टेके छोर उनकी पत्नियोंके अञ्चलसे बँधे थे ॥ ६३½ ॥

वादित्राणां स्वनो रम्यः प्रावर्तत जलागमे ॥ ६४ ॥
ब्राह्मणाद्याश्च ये लोका गजस्थाश्च कुमारिकाः।
मुक्ताफलानि वर्षन्त्यः शृण्वन्त्यः शङ्खगर्जितम्॥ ६५ ॥

उस जलानयनके अवसरपर बाजोंका सुन्दर शब्द हो रहा था। जो लोग ब्राह्मण आदि वर्णोंके थे, वे तथा हाथियोंपर बैठी हुई कुमारी कन्याएँ शङ्खध्वनि सुनती हुई मोतियोंकी वर्षा कर रही थीं ॥ ६४-६५ ॥

पठन्तस्तत्र मुनयो गायन्तो गीतकोविदाः।
तत्र नृत्यं प्रकुर्वाणास्ते लोकाः प्रस्थिताः पुरः॥ ६६ ॥

उस समय मुनिगण मन्त्रपाठ कर रहे थे, चतुर गायक राग अलाप रहे थे और नर्तक नृत्य कर रहे थे। ये सभी लोग आगे-आगे प्रस्थित हुए ॥ ६६ ॥

नानाशृङ्गारसहितो निर्ययौ स महाजनः।
देवकीं चैव कुन्तीं च पुरस्कृत्य जनार्दनः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार वह महान् जनसमुदाय नाना प्रकारके शृङ्गारोंसे सज-धजकर निकला। उस समय श्रीकृष्ण देवकी और कुन्तीको आगे करके चले ॥ ६७ ॥

तदा कुन्ती च कृष्णस्य गृहीत्वा वस्त्रपल्लवम्।
बबन्ध रुक्मिणीपट्टकूलप्रान्ते मनस्विनी ॥ ६८ ॥

उस समय मनस्विनी कुन्तीने श्रीकृष्णके दुपट्टेका छोर पकड़कर रुक्मिणीकी रेशमी साड़ीके अञ्चलमें बाँध दिया ॥ ६८ ॥

तत् कौतुकं समालोक्य नारदो मुनिसत्तमः।
जगाम सत्याभवनं शंसितुं कृष्णनिर्गमम् ॥ ६९ ॥

यह कौतुक देखकर मुनिश्रेष्ठ नारदजी श्रीकृष्णकी यात्राका समाचार सूचित करनेके लिये सत्यभामाके भवनमें गये ॥ ६९ ॥

नारद उवाच

सत्यभामे शृणु वचो मदीयं कृष्णवल्लभे।
यज्ञारम्भे सतां पार्श्वे नानानृपसमागमे ॥ ७० ॥
रुक्मिणी बहुलं मानं प्रपेदे हरिसंयुता।
निर्याति जलमानेतुं कृष्णेनैव सुसंयुता ॥ ७१ ॥

नारदजीने कहा—श्रीकृष्णकी प्रियतमे सत्यभामे! मेरी बात सुनो। इस यज्ञारम्भके अवसरपर, जहाँ बहुत-से नरेशोंका समुदाय जुटा हुआ है, वहाँ सत्पुरुषोंके समीप श्रीकृष्णके साथ रहनेसे रुक्मिणीको महान् सम्मानकी प्राप्ति हुई है; क्योंकि वही श्रीकृष्णके साथ गँठजोड़ा करके जल लानेके लिये जा रही है ॥ ७०-७१ ॥

धृतातपत्रा सा याति सधूपा चलचामरा।
लभते राजसम्मानं सैव नान्याः स्त्रियो हरेः ॥ ७२ ॥
समर्थः कामपुत्रोऽसौ पौत्रो यस्यानिरुद्धकः।
कस्माद्धि शयितं गेहे त्वया सत्ये च तद् वद ॥ ७३ ॥

उसके ऊपर छत्र लगा हुआ है; चँवर डुलाये जा रहे हैं तथा वह धूपकी सुगन्ध लेती हुई जा रही है। इस प्रकार राजसम्मान तो उसीको मिल रहा है। श्रीकृष्णकी अन्य पत्नियाँ वह सम्मान नहीं पा रही हैं। उसके पुत्र प्रद्युम्न और पौत्र अनिरुद्ध भी समर्थ हो गये हैं; परंतु सत्ये! यह तो बताओ कि तुम किस लिये घरमें ही शयन कर रही हो? ॥ ७२-७३ ॥

समीपे त्वां समालोक्य मुखदाक्ष्येण केशवः।
तत्रानेष्यत् सत्यभामे यद्यासिष्यः समीपगा ॥ ७४ ॥

सत्यभामे! यदि तुम उनके समीप होतीं तो केशव तुम्हें अपने निकट देखकर तुम्हारे मुखकी दक्षता (बातचीतकी कुशलता) से तुम्हें वहाँ अवश्य ले जाते ॥ ७४ ॥

सत्यभामोवाच

अत्र तिष्ठति गोविन्दो मद्गृहे मुनिसत्तम।
अनेन सहिता यास्ये तत्त्वं पश्य समागमम् ॥ ७५ ॥

तब सत्यभामा बोली—मुनिश्रेष्ठ! गोविन्द तो यहाँ मेरे घरमें ही विराजमान हैं। मैं इन्हींके साथ जाऊँगी, तब आप उस समागमको देखियेगा ॥ ७५ ॥

जैमिनिरुवाच

नारदो ददृशे सत्याः केतने तार्क्ष्यकेतनम्।
उवाच केशवं विप्रस्त्वं दृष्टोऽसीति संसदि ॥ ७६ ॥
सत्यागृहे च पश्यामि विस्मयो मे प्रजायते।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! तब नारदजीने सत्यभामाके महलमें गरुडध्वज भगवान् श्रीकृष्णको देखा। उस समय विप्रवर नारद केशवसे कहने लगे—'भगवन्! मैंने तो आपको उस राजसभामें देखा था और इस समय यहाँ सत्यभामाके भवनमें भी देख रहा हूँ, इसलिये मुझे महान् आश्चर्य हो रहा है ॥ ७६½ ॥

युधिष्ठिरस्य पुरतो मया दृष्टोऽसि मन्त्रदः ॥ ७७ ॥
सत्यायुक्तः प्रयास्येवं गच्छ गच्छ जगत्पते।
निर्जगाम गृहात् तस्मान्निर्गतं वीक्ष्य माधवम्॥ ७८ ॥

'जगदीश्वर! उस समय तो आप युधिष्ठिरके सामने सलाह देते हुए देखे गये थे और इस समय सत्यभामाके साथ प्रस्थान कर रहे हैं। अच्छा, जाइये, शीघ्र जाइये।' यों कहकर नारदजी माधवको उस महलसे निकला हुआ देखकर स्वयं भी वहाँसे चल दिये ॥ ७७-७८ ॥

नारदो मुनिरन्यत्र ययौ जाम्बवतीगृहम्।
प्रविश्य मन्दिरं तस्याः प्राह जाम्बवतीमिदम् ॥७९॥

फिर मुनिवर नारद वहाँसे अन्यत्र जाम्बवतीके महलकी ओर चले। उसके भवनमें प्रवेश करके वे जाम्बवतीसे यों बोले ॥ ७९ ॥

नारद उवाच

स्थितासि किं गृहे मातर्न गतासि नृपालयम्।

आहर्तुं जाह्नवीतोयं यत्र याति स्वयं हरिः ॥ ८० ॥
रुक्मिणीं सत्यभामां च सह नेष्यति माधवः ।

नारदजीने कहा—मातः ! तुम घरमें ही क्यों बैठी हो ? तुम उस राजभवनको क्यों नहीं गयीं, जहाँ स्वयं श्रीहरि गङ्गाजल लानेके लिये जा रहे हैं। वे माधव रुक्मिणी और सत्यभामाको तो अपने साथ ले जायँगे ॥ ८०½ ॥

जाम्बवत्युवाच

सर्वास्तेन युताः सन्ति महिष्यः केशवस्य ताः ॥ ८१ ॥
यां परित्यज्य गन्तासौ सा न जीवति मानिनी ।
अस्मिन् समागमे रम्ये साधूनामपमानिता ॥ ८२ ॥

तब जाम्बवती बोली—मुने ! उन केशवकी जितनी रानियाँ हैं, वे सबकी सब उनके साथ ही हैं; क्योंकि वे जिस पत्नीका परित्याग करके चले जायँगे, वह मानिनी सत्पुरुषोंके इस सुन्दर समारोहमें अपमानित होनेके कारण प्राण त्याग देगी ॥ ८१-८२ ॥

जैमिनिरुवाच

तत्रापि नारदो वीक्ष्य माधवं बद्धपल्लवम् ।
मन्दिराणि स गोपीनां बभ्राम मुनिसत्तमः ॥ ८३ ॥
सर्वाणि तानि सद्मानि सकृष्णानीत्यमन्यत ।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! वहाँ जाम्बवतीके महलमें भी नारदजीने श्रीकृष्णको जाम्बवतीके साथ गँठजोड़ा किये हुए देखा। फिर वे मुनिश्रेष्ठ गोपियोंके भवनोंमें विचरने लगे। वहाँ भी उन्हें यही प्रतीत हुआ कि श्रीकृष्ण उन सभी घरोंमें विराजमान हैं ॥ ८३½ ॥

पुनरागत्य देवर्षिर्मण्डपे पाण्डवस्य हि ॥ ८४ ॥
ऋत्विग्भिः सहितस्तस्थौ स्तुवन् कृष्णं सनातनम् ।

तत्पश्चात् देवर्षि नारद पुनः युधिष्ठिरके यज्ञमण्डपमें आकर ऋत्विजोंके साथ खड़े हो गये और सनातन भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करने लगे ॥ ८४½ ॥

वसिष्टेन समं सर्वे राजानो जाह्नवीतटे ॥ ८५ ॥
जग्मुः सकृष्णाः सानन्दा महावीरैः सुरक्षिताः ।

तदनन्तर वसिष्ठजीके साथ श्रीकृष्णसहित सभी नरेश आनन्दपूर्वक गङ्गातटपर गये। उस समय बहुत-से महाबली वीर उनकी रक्षामें नियुक्त थे ॥ ८५½ ॥

व्यासेन मन्त्रितं तोयं पूजिता जलदेवताः ॥ ८६ ॥
पूरयित्वा ततो व्यासः कलशं च सपुष्पकम् ।
ददौ करेऽनसूयायास्तस्मिन् काले नराधिप ॥ ८७ ॥

जनेश्वर ! उस समय वहाँ पहुँचकर व्यासजीने जलको अभिमन्त्रित किया तथा जल-देवताओंकी भी पूजा की, तत्पश्चात् उन्होंने पुष्पोंसे सुशोभित एक कलशको जलसे भरकर उसे अनसूयाके हाथमें पकड़ा दिया ॥ ८६-८७ ॥

सुवर्णकलशं चैकं परिपूर्णमरुन्धती ।
जग्राह पुरतस्तेषां मुनीनां भावितात्मनाम् ॥ ८८ ॥

फिर उन भावितात्मा मुनियोंके सामने ही अरुन्धतीने जलसे भरा हुआ एक सोनेका कलश उठाया ॥ ८८ ॥

रुक्मिणीमस्तके स्वे तु कलशं तोयपूरितम् ।
अरुन्धत्यार्पितं स्नेहाद् गङ्गातीरे दधौ मुदा ८९ ॥

तब गङ्गातटपर अरुन्धतीद्वारा स्नेहवश दिये गये उस जलपूर्ण कलशको रुक्मिणीने हर्षपूर्वक अपने मस्तकपर धारण कर लिया ॥ ८९ ॥

रुक्मिणीं प्रत्युवाचाथ वसिष्ठस्य प्रिया सती ।
दूयते तव भद्रे कं पुष्पभारेण यद्गृहे ॥ ९० ॥
तस्मिन् मयार्पितेनात्र कलशेन न दूयसे ।

उस समय वसिष्ठजीकी पतिव्रता पत्नी अरुन्धतीने रुक्मिणीसे कहा—'भद्रे ! तुम्हारा जो मस्तक महलमें पुष्पोंके भारसे दुख जाता था, उसी सिरपर यहाँ मैंने यह (जलपूर्ण) कलश रख दिया है। इससे तुम्हें कष्ट तो नहीं हो रहा है ?' ॥ ९०½ ॥

अरुन्धतीवचः श्रुत्वा सुभद्रा वाक्यमब्रवीत् ॥ ९१ ॥
एषा भारसहा मातर्येन गोवर्धनो गिरिः ।
धृतः करे गवार्थं च सप्ताहं च स्वलीलया ॥ ९२ ॥
रुक्मिणी तं दिवारात्रौ हृदि धृत्वा न दूयते ।
पतिव्रतानां धर्मोऽयं कृतः केवलयानया ॥ ९३ ॥

अरुन्धतीकी बात सुनकर सुभद्रा यों बोल उठी—'माता ! ये रुक्मिणी भार सहन करनेमें अभ्यस्त हैं; क्योंकि जिन्होंने अपनी लीलासे ही गौओंकी रक्षाके लिये गोवर्धन पर्वतको एक ही हाथपर सात दिनतक धारण कर रखा था, उन श्रीकृष्णको ये रुक्मिणी दिन-रात अपने हृदयमें धारण करके भी कष्टका अनुभव नहीं करतीं (तब फिर कलश किस गिनतीमें है)। पतिव्रताओंका जो यह धर्म है, उसे तो अकेले इन्होंने ही निबाहा है' ॥ ९१—९३ ॥

रुक्मिण्युवाच

मम व्रतं समालोक्य सुभद्रा तं धनंजयम् ।
धारयन्ती हृदि सदा सौख्यमाप्नोति नित्यशः ॥ ९४ ॥

तब रुक्मिणीने कहा—माताजी ! मेरे व्रतको देखकर यह सुभद्रा भी उन अर्जुनको सदा अपने हृदयमें धारण किये रहती है, इसीसे यह निरन्तर सुखका अनुभव करती रहती है ॥ ९४ ॥

जैमिनिरुवाच

एवं ब्रुवन्त्यस्ताः सर्वा जगृहुः कलशान् बहून् ।
स्वे स्वे शिरसि पुष्पाढ्ये धृतमौक्तिकपुञ्जके ॥ ९५ ॥
सभर्तृकाश्च सम्प्राप्ता यज्ञवाटे तथाविधे ।

मृदङ्गा यत्र वाद्यन्ते शङ्खाश्च पटहैः सह ॥ ९६ ॥
वीणाश्च विविधा भेर्यः शङ्खाश्च काहलाः शुभाः ।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! यों परस्पर परिहास करती हुई उन सभी नारियोंने मोतियोंके समूह तथा पुष्पोंके गुच्छोंसे सुसज्जित अपने-अपने मस्तकपर बहुत-से कलशोंको रख लिया और फिर वे अपने पतियोंके साथ उस यज्ञशालामें जा पहुँचीं, जहाँ नगारेके साथ-साथ मृदङ्ग, शङ्ख, वीणा, तरह-तरहकी भेरियाँ और सुन्दर काहल बज रहे थे ॥ ९५-९६½ ॥

तत्रानीय जलं पुण्यं पावितः स तुरङ्गमः ।
द्रौपद्या धर्मराजेन यूपे बद्धः सुपूजितः ॥ ९७ ॥

तब द्रौपदीसहित धर्मराज युधिष्ठिरने उस पावन गङ्गाजल-को वहाँ लाकर उसके अभिषेकसे यज्ञस्तम्भमें बँधे हुए उस सुपूजित अश्वको* पवित्र किया ॥ ९७ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि जलयात्रावर्णनं नाम त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें जलयात्राका वर्णन नामक तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

अश्वमेध यज्ञका आरम्भ, भीमसेनद्वारा घोड़ेका वध, घोड़ेके सिरका आकाशमें चला जाना, ज्योति निकलकर श्रीकृष्णमें समा जाना और उसके शरीरका कपूर हो जाना, उस कपूरसे हवन, इन्द्रादि देवताओंका आकर अपना भाग ग्रहण करना, युधिष्ठिरका मुनियोंको दान देना

जैमिनिरुवाच

ततः प्रववृते यज्ञो धर्मराजस्य शासनात् ।
यज्ञविद्याविधानेन स्नातोऽयं मन्त्रितैर्जलैः ॥ १ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर धर्मराज युधिष्ठिरकी आज्ञासे यज्ञकार्य आरम्भ हुआ। उस समय यज्ञविद्याके विधानानुसार युधिष्ठिरने अभिमन्त्रित जलसे स्नान किया ॥ १ ॥

भीमार्जुनादयः सर्वे सकृष्णाः कर्मकारकाः ।
पादप्रक्षालनं कृत्वा मुनीनां भावितात्मनाम् ॥ २ ॥
स्वयमेव हृषीकेशः स्थापयामास तानृषीन् ।

उस यज्ञमें श्रीकृष्णसहित भीमसेन और अर्जुन आदि सभी लोग कार्यकर्ता थे । स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने ही उन भावितात्मा मुनियोंके चरण पखारकर उन्हें उत्तम आसनपर बैठाया ॥ २½ ॥

तत्रोपविष्टा वासांसि परिधाय द्विजोत्तमाः ॥ ३ ॥
चन्दनेनानुलिप्ताङ्गा दिव्यालंकारभूषिताः ।
स्रग्विणो दत्तमाल्याश्च दत्तकर्पूरवीटिकाः ॥ ४ ॥
सुवर्णपीठेष्वासीनाः संस्तुताः कृष्णपाण्डवैः ।

उस समय जिनके शरीरपर चन्दन लगा था, जो दिव्यालंकारोंसे विभूषित हो माला धारण किये हुए थे और जिन्हें पुष्पमालाएँ तथा कर्पूरमिश्रित पानके बीड़े समर्पित किये गये थे, वे उत्तम ब्राह्मण जब नूतन वस्त्र धारण करके अपने-अपने आसनोंपर आसीन हो गये, तब सुवर्ण-पीठोंपर विराजमान हुए उन ब्राह्मणोंकी श्रीकृष्ण और पाण्डवोंने स्तुति की ॥ ३-४½ ॥

दीयतां दीयतामन्नं शब्दोऽभून्नृपतेर्गृहे ॥ ५ ॥
युधिष्ठिरस्य यज्ञे तु नानाद्विजसमागमे ।
सुवर्णं चैव रत्नानि वासांसि रुचिराणि च ॥ ६ ॥
गजाश्वरथयानानि गोसहस्राणि चन्दनम् ।
छत्राणि चामराण्येव दासीदासगणान् महीम् ॥ ७ ॥
अर्थिभ्यश्चेतरेभ्यश्च मन्दिराणि धनानि च ।
यस्य यस्य प्रियं यत्तु तत्तस्मै दीयतामिति ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् जहाँ बहुत-से ब्राह्मणोंका समूह जुटा हुआ था, युधिष्ठिरके उस यज्ञमें राजमहलके भीतर 'अन्न दो, अन्न वितरण करो' ऐसा शब्द हो रहा था तथा याचकों एवं अन्य लोगोंके लिये भी सुवर्ण, रत्न, सुन्दर वस्त्र, हाथी, घोड़े, रथ, सहस्रों गायें, चन्दन, छत्र, चँवर, दास-दासियोंके झुंड, पृथ्वी, घर और धन-दौलत बाँटे जा रहे थे। (लोग कहते थे कि) 'जिस-जिसको जो-जो वस्तु प्रिय हो, उसे वही दिया जाय' ॥ ५—८ ॥

युधिष्ठिरः कृतस्नानो यज्ञकर्मणि दीक्षितः ।
सुवर्णचयमासाद्य समानीय तुरङ्गमम् ॥ ९ ॥
प्रोवाचाग्रे पशुरभूच्छ्रुतिमेतां पठन्पुरः ।
पिब भोस्त्वमपो घोट तव लोको भविष्यति ॥ १० ॥

तत्पश्चात् यज्ञकर्ममें दीक्षित हुए महाराज युधिष्ठिरने स्नान किया और सुवर्णराशिके समीप जाकर वे उस यज्ञिय अश्वको वहाँ ले आये। फिर उसके आगे 'पशुरभूत्' इस श्रुतिका पाठ करते हुए वे उस घोड़ेसे कहने लगे—'ऐ घोड़े ! अब तू जलपान कर, इससे तुझे उत्तम लोककी प्राप्ति होगी' ॥ ९-१० ॥

* इस ग्रन्थके अध्याय ४१ श्लोक १० में राजा मयूरध्वजके यज्ञिय अश्वके साथ युधिष्ठिरके अश्वका मिलन बताया गया है। वहाँसे अध्याय ६३ के द्वितीय श्लोकतक दोनों घोड़ोंका साथ-साथ वर्णन आया है; परंतु ६३ । ९७ में केवल युधिष्ठिरके अश्वका ही उल्लेख है। प्रश्न होता है कि वह दूसरा अश्व कहाँ गया ? जान पड़ता है, हस्तिनापुरके पास पहुँचनेपर वह अश्व स्वेच्छानुसार आगे बढ़ गया। वह युधिष्ठिरके यज्ञका नहीं था, इसलिये उसे रोक रखनेकी चेष्टा नहीं की गयी।

युधिष्ठिरस्य तद् वाक्यमाकर्ण्य तुरगः स्वयम्।
धूनयामास वदनमपश्यत् केशवं मुदा॥ ११॥

युधिष्ठिरकी वह बात सुनकर वह अश्व स्वयं ही अपना मुख हिलाते हुए आनन्दपूर्वक श्रीकृष्णकी ओर निहारने लगा॥ ११॥

प्रोथाभ्यां स्वमभिप्रायं शशंस नकुलाय सः।
ज्ञात्वा भावं तुरङ्गस्य नकुलः प्राह धर्मजम्॥ १२॥

फिर उस घोड़ेने नथुने फड़फड़ाकर नकुलसे अपना अभिप्राय सूचित किया। तब नकुल उस घोड़ेके मनोभावको समझकर धर्मनन्दन युधिष्ठिरसे कहने लगे—॥ १२॥

वाजी शंसति राजेन्द्र नाहं यास्ये त्रिविष्टपम्।
अन्येषु किंतु यज्ञेषु स्वर्गकामेषु ये हयाः॥ १३॥
त्रिविष्टपं गता वीर तेषु कृष्णो न कर्मकृत्।

"राजेन्द्र! यह घोड़ा सूचित कर रहा है कि 'वीर! मैं स्वर्ग जाना नहीं चाहता, किंतु स्वर्गकामनापरक अन्य यज्ञोंमें जो घोड़े स्वर्गलोकमें गये हैं (उसका कारण यह है कि) उन यज्ञोंमें भगवान् श्रीकृष्ण कार्यकर्ता नहीं थे॥ १३½॥

अनीश्वरेषु यज्ञेषु स्वर्गस्तु परमं फलम्॥ १४॥
जायते भुवि कर्तॄणामस्मिन् यज्ञे फलं हरिः।
ममापि कृष्णवदने स्थितं पश्यन्तु याज्ञिकाः॥ १५॥

"इस भूतलपर यज्ञ करनेवालोंके ईश्वररहित यज्ञोंमें स्वर्ग ही परम फलरूपसे मिलता है, परंतु इस यज्ञमें तो साक्षात् श्रीहरि फलरूपसे विराजमान हैं; अतः याज्ञिकलोग मुझे भी श्रीकृष्णके शरीरमें स्थित देखें'॥ १४-१५॥

एवं ब्रूते धर्मराज तुरङ्गस्ते महाक्रतौ।
अथैनं मुनयः सर्वे यूपपार्श्वे सुमन्त्रितः॥ १६॥
राजानः स्त्रीसमूहोऽपि यान्तं पश्यन्तु माधवम्।

"धर्मराज! आपके इस महायज्ञमें भलीभाँति अभिमन्त्रित हुआ यह अश्व यों ही कह रहा है। अब यज्ञस्तम्भके निकट जाते हुए इसे तथा श्रीकृष्णको समस्त मुनिगण, राजालोग और स्त्रियाँ भी देखें"॥ १६½॥

नकुलस्य वचः श्रुत्वा यूपे नीतस्तुरङ्गमः॥ १७॥
यूपे बद्धो हयो विप्रैः सकृष्णैरभिमन्त्रितः।

नकुलकी बात सुनकर वह अश्व यूपके समीप ले जाया गया। वहाँ श्रीकृष्णसहित ब्राह्मणोंने उसे अभिमन्त्रित किया। तत्पश्चात् वह अश्व यज्ञस्तम्भमें बाँध दिया गया॥ १७½॥

धौम्य उवाच

भीम खड्गं समादाय तिष्ठ त्वं निश्चलः क्षणम्॥ १८॥
यावत् परीक्षां कुर्वेऽहं वाजिनोऽस्य महामते।

उस समय धौम्यजीने कहा—महाबुद्धिमान् भीमसेन! जबतक मैं इस घोड़ेकी परीक्षा करता हूँ, उतनी देर-तक तुम तलवार लेकर चुपचाप खड़े रहो॥ १८½॥

ततो धौम्यो हयस्याशु वामकर्णं न्यपीडयत्॥ १९॥
तावत् क्षीरस्य धारा तु निर्गता जनमेजय।
विस्मिताः सकला लोकाः शोणितं नैव दृश्यते॥ २०॥

जनमेजय! तत्पश्चात् जब धौम्य ऋषिने उस घोड़ेके बायें कानको दबाया, तब उसमेंसे दूधकी धारा निकलने लगी। यह देखकर सभी लोग आश्चर्यचकित होकर कहने लगे कि इसके शरीरमें रुधिर तो नहीं दीख रहा है॥ १९-२०॥

धौम्योऽब्रवीद् भीमसेनं छिन्धि कं वाजिनोऽधुना।
यथा तुष्येज्जगन्नाथः पुराणपुरुषोत्तमः॥ २१॥

तदनन्तर महर्षि धौम्यने भीमसेनसे कहा—'भीम! अब तुम इस घोड़ेका सिर काट दो, जिससे पुराणपुरुषोत्तम भगवान् जगदीश्वर प्रसन्न हो जायँ'॥ २१॥

वादित्रनादे महति प्रवर्तिते
भीमोऽलुनात् तस्य हयस्य शीर्षम्।
ऊर्ध्वं गतं तच्च शिरो न चाधः
सूर्ये प्रविष्टं किल वह्निरूपम्॥ २२॥

उस समय बाजोंका महान् गम्भीर शब्द हो रहा था, उसी बीच भीमसेनने उस अश्वके मस्तकको काट दिया। वह कटा हुआ सिर नीचे न जाकर ऊपर आकाशमें उछला और अग्निरूप होकर सूर्यमें प्रविष्ट हो गया॥ २२॥

शुद्धं ज्ञात्वा हृषीकेशस्ततोऽदैनमुरःस्थले।
बैल्वेन कण्टकेनापि भिन्नः कृष्णेन पावनः॥ २३॥

उस घोड़ेको शुद्ध जानकर भगवान् श्रीकृष्णने बेलके काँटेसे उसकी छातीमें छेद कर दिया। श्रीकृष्णद्वारा विदीर्ण किये जानेपर भी वह अश्व पावन हो गया॥ २३॥

निर्गता क्षीरधारा तु तुरगस्य कलेवरात्।
धारां विनिर्गतां वीक्ष्य ऋषयो धर्ममब्रुवन्॥ २४॥
एवंविधो न कस्यापि शुद्धः पूर्वं तुरङ्गमः।

उस समय उस घोड़ेके शरीरसे दूधकी धारा बह चली। तब उस बहती हुई दुग्धधाराको देखकर ऋषियोंने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा—'राजन्! अबसे पहले किसीका भी अश्व इस प्रकार शुद्ध नहीं देखा गया था'॥ २४½॥

शुद्धं ज्ञात्वा हृषीकेशो धर्मपुत्रं तु सोऽब्रवीत्॥ २५॥
तथाब्रुवंस्ते ऋषयो दृष्ट्वा शुद्धं तुरङ्गमम्।
दिष्ट्या ते सफलो यज्ञो जायतेऽद्य युधिष्ठिर॥ २६॥

उसे शुद्ध जानकर भगवान् श्रीकृष्ण धर्मनन्दन युधिष्ठिरसे कहने लगे—'महाराज युधिष्ठिर! बड़े सौभाग्यकी बात है कि आपके घोड़ेको इस प्रकार शुद्ध हुआ देखकर ये ऋषिगण वैसी बातें कह रहे हैं, इससे अब आपका यज्ञ सफल हो गया'॥ २५-२६॥

तेषां संवदतामेवं तुरङ्गमकलेवरात् ।
निर्गतं सुमहत्तेजः प्रविष्टं केशवानने ॥ २७ ॥

वे लोग यों बातें कर ही रहे थे तबतक घोड़ेके शरीरसे अत्यन्त महान् तेजःपुञ्ज निकला और वह श्रीकृष्णके मुखमें प्रवेश कर गया ॥ २७ ॥

पश्चाच्छरीरं पतितं भूत्वा कर्पूरमेव तत् ।
विभूतिरिव रुद्रस्य च्युता गात्रादशोभत ॥ २८ ॥

तत्पश्चात् उस अश्वका शरीर कपूर होकर पृथ्वीपर बिखर गया । उस समय वह भगवान् रुद्रके शरीरसे झरकर गिरी हुई विभूतिके समान शोभा पाने लगा ॥ २८ ॥

विस्मिता मुनयस्तं तु कर्पूरं वीक्ष्य तेऽभवन् ।
कर्पूरं जुहुवुस्ते तु होमकुण्डे तु तत्क्षणात् ॥ २९ ॥

उस अश्वको कपूर हुआ देखकर उन मुनियोंको महान् विस्मय हुआ । फिर तो वे उसी क्षण हवनकुण्डमें उस कपूरकी आहुतियाँ देने लगे ॥ २९ ॥

यत्रोपविष्टो राजासौ सपत्नीकः समाधवः ।
व्यासो गृहीत्वा कर्पूरं स्रुवेणेदमथाब्रवीत् ॥ ३० ॥

तदनन्तर जहाँ पत्नीसहित महाराज युधिष्ठिर श्रीकृष्णके साथ बैठे हुए थे, वहीं व्यासजी स्रुवासे उस कपूरको उठाकर यों बोले ॥ ३० ॥

व्यास उवाच

गृहाणेन्द्र महायज्ञे घनसाराहुतिं विभो ।
एहि राज्ञार्पितामेनां दुर्लभामग्रतः कलौ ॥ ३१ ॥

व्यासजीने कहा—इन्द्र ! इस महान् यज्ञमें पधारिये और राजाद्वारा अर्पित की गयी इस कपूरकी आहुतिको ग्रहण कीजिये । विभो ! आगे चलकर कलियुगमें ऐसी आहुति दुर्लभ हो जायगी ॥ ३१ ॥

शक्रः समागतः साक्षात् प्रत्युवाच महामुनिम् ।
देहि पावकवक्त्रेण यावत्तृप्तिर्ममाक्षया ॥ ३२ ॥
यां वीक्ष्य तृप्तिप्राप्तोऽस्मि भुक्त्वा शं च भविष्यति ।

तब साक्षात् इन्द्र वहाँ आये और महामुनि व्यासजीसे कहने लगे—'मुने ! अग्निरूपी मुखके द्वारा मुझे इतनी आहुतियाँ प्रदान कीजिये, जिससे मुझे अक्षय तृप्ति प्राप्त हो जाय; क्योंकि मैं जिस तृप्तिकी आशासे यहाँ आया हूँ तदनुकूल भोजन करनेपर ही मुझे शान्ति प्राप्त होगी' ॥ ३२½ ॥

व्यासस्ततो जुहावाग्नौ वसन्ते दशमीदिने ॥ ३३ ॥
शुक्लपक्षे हि चैत्रस्य सार्पर्क्षे गुरुवासरे ।
स्वाहेतीन्द्राय विधिवत् परमामाहुतिं ददौ ॥ ३४ ॥

तदनन्तर व्यासजी अग्निमें हवन करने लगे । उस समय वसन्त ऋतु था, चैत्रमासके शुक्ल पक्षकी दशमी तिथि थी, गुरुवासर तथा आश्लेषा नक्षत्र था । ऐसे समयमें उन्होंने पहले 'इन्द्राय स्वाहा' यों मन्त्रोच्चारण करके विधिपूर्वक उत्तम आहुति प्रदान की ॥ ३३-३४ ॥

चन्द्रादिदेवताभ्यश्च तत्तन्मन्त्रैर्यथाक्रमम् ।
ततो दिग्देवताभ्यश्च मन्त्रैर्दत्त्वा यथाविधि ॥ ३५ ॥
घनसारं जुहावाग्नौ देवतानां पुरस्तदा ।
हवनेन जगत् प्रीतं बभूव सचराचरम् ॥ ३६ ॥

तत्पश्चात् उन देवताओंके सामने ही उसी विधिके अनुसार क्रमशः उन्होंने चन्द्रमा आदि देवताओंको तथा दिक्पालोंको उन-उन देवोंके नाम-मन्त्रोंद्वारा अग्निमें उस कपूरका हवन किया । उस समय उस हवनसे सारा चराचर जगत् संतुष्ट हो गया ॥ ३५-३६ ॥

होमधूमेन राजासौ पूतः प्रीतो युधिष्ठिरः ।
समालिङ्ग्याब्रवीद् भीमं दिष्ट्या जातश्च मे क्रतुः॥३७॥
यज्ञान्तेऽवभृथस्नानं कुर्वेऽहं नात्र संशयः ।

उस होमधूमसे पवित्र होकर राजा युधिष्ठिर परम प्रसन्न हुए और भीमसेनको गले लगाकर उन्होंने कहा—'भीमसेन ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि मेरा यह अश्वमेधयज्ञ पूर्ण हो गया । अब मैं यज्ञान्तमें अवभृथ स्नान करूँगा—इसमें संदेह नहीं रह गया' ॥ ३७½ ॥

जैमिनिरुवाच

ऋषिभिः सहितः कृष्णः स्नापयामास पार्थिवम्॥३८॥
सदारं भीमसेनाद्यैर्वृतं भूपतिभिस्तथा ।

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर महाराज युधिष्ठिर अपनी पटरानी द्रौपदीसहित आसनपर विराजमान हुए । उस समय भीमसेन आदि उनके भाई तथा उपस्थित सभी नरेश उन्हें घेरकर खड़े हो गये, तब ऋषियोंको साथ लेकर भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें स्नान कराया ॥ ३८½ ॥

सोमपानं कारयित्वा प्राशयित्वा यथाक्रमम् ॥ ३९ ॥
पुरोडाशं तु सर्वेभ्यो दत्त्वा शेषं तदाभ्यदत् ।

तत्पश्चात् सोमपान कराकर उन्हें जिमाया और क्रमशः सबको पुरोडाश प्रदान करके अन्तमें स्वयं भोजन किया ॥३९½॥

जयशब्दैर्वन्दिनस्ते तथा वादित्रनिःस्वनैः ॥ ४० ॥
तुष्टुवुर्धर्मराजानं गुणगीतैश्च गायकाः ।

उस समय वन्दीगण वाद्योंके तुमुल घोष तथा जयकारोंसे और गायकगण यशोगानद्वारा धर्मराज युधिष्ठिरकी स्तुति करने लगे ॥ ४०½ ॥

नीराजनं ततश्चक्रुर्देवकीप्रमुखाः स्त्रियः ॥ ४१ ॥
कुन्ती वधूभिः सहिता मुदिता प्राप तत्सुखम् ।

फिर देवकी आदि प्रधान महिलाओंने उनकी आरती उतारी । उस समय वधुओंसहित हर्षमग्न हुई कुन्तीको परम सुख प्राप्त हुआ ॥ ४१½ ॥

कृत्वा पूर्णाहुतिं राजा उपविष्टो युधिष्ठिरः ॥ ४२ ॥
अलंकृतश्च कृष्णेन तत्र राजा महात्मना ।
शुशुभे मघवेवासौ यथा स्वर्गे सुरोत्तमैः ॥ ४३ ॥

तदनन्तर जब राजा युधिष्ठिर पूर्णाहुति करके महात्मा श्रीकृष्णके साथ वहाँ आसनपर विराजमान हुए, उस समय उनकी ऐसी शोभा हुई, जैसे स्वर्गमें प्रधान देवताओंके साथ बैठे हुए इन्द्र सुशोभित होते हैं ॥ ४२-४३॥

पूर्वं हरिं पूजयित्वा वस्त्रालंकारचन्दनैः ।
व्यासाय पृथिवीं सर्वां ददौ राजा मुदान्वितः ॥ ४४ ॥

तब आनन्दमग्न हुए राजा युधिष्ठिरने पहले वस्त्र, आभूषण और चन्दन आदि सामग्रियोंद्वारा श्रीकृष्णकी पूजा करके फिर व्यासजीको सारी पृथ्वी दान कर दी ॥ ४४ ॥

संकल्पपूर्वं विधिवत् पुनर्व्यासः क्रमाद् ददौ ।
तद् द्रव्यं ब्राह्मणेभ्यश्च दीनेभ्यश्च ददावृषिः ॥ ४५ ॥

पुनः महर्षि व्यासने विधिवत् संकल्पपूर्वक वह सारा धन क्रमशः ब्राह्मणों और दीनोंको बाँट दिया ॥ ४५ ॥

रत्नाद्रिशिखरस्थं तु चरन्तं कनकं वृषम् ।
बकदाल्भ्याय च ददौ तदा राजा युधिष्ठिरः ॥ ४६ ॥

उस समय राजा युधिष्ठिरने रत्ननिर्मित पर्वतशिखरपर विचरता हुआ स्वर्णमय वृष बकदाल्भ्य मुनिको प्रदान किया ॥ ४६ ॥

एको रथो वारण एक एव
दशाश्वमुख्याश्च सुवर्णभारः ।
शतं गवां हेमविभूषितानां
प्रस्थश्च दत्तो वरमौक्तिकानाम् ।
एकैकशो भृत्यचतुष्टयं च
कार्येषु दक्षं स ददौ नरेन्द्रः ॥ ४७ ॥

पुनः राजा युधिष्ठिरने प्रत्येक ब्राह्मणको एक रथ, एक हाथी, दस उत्तम घोड़े, एक भार सुवर्ण, स्वर्णालंकारोंसे विभूषित सौ गौएँ, एक सेर उत्तम मोती और कार्यसम्पादनमें कुशल चार-चार सेवक दान किये ॥ ४७ ॥

ऋत्विग्भ्यो द्वारपालेभ्यो ददौ पूर्णमनोरथः ।
तदर्धार्धं क्रमेणैव इच्छादानान्यनेकशः ॥ ४८ ॥
ददौ युधिष्ठिरो राजा नृपतीनप्यतोषयत् ।

फिर सफल-मनोरथ हुए राजा युधिष्ठिरने ऋत्विजों तथा द्वारपालपदपर नियुक्त ऋषियोंको क्रमशः उसका आधा-आधा भाग प्रदान किया । पुनः उन्होंने अनेक प्रकारका इच्छादान भी दिया । तत्पश्चात् राजाओंको भी दान-मानसे संतुष्ट किया ॥ ४८½ ॥

तुरङ्गाणां सहस्रं च गजानां च शतं शतम् ॥ ४९ ॥
अलंकारान् सुवर्णस्य कोटिं च प्रददौ नृपः ।
प्रत्येकं नृपतीन् पूज्य द्विगुणेनैव यादवान् ॥ ५० ॥

उस समय उन नरेशने प्रत्येक राजाको हजार-हजार घोड़े, सौ-सौ हाथी और स्वर्णनिर्मित करोड़ों आभूषण प्रदान किये। यों उन राजाओंका सम्मान करके इससे दुगुने पदार्थोंद्वारा यादवोंका सत्कार किया ॥ ४९-५० ॥

रुक्मिण्याद्याः स्त्रियःसर्वा अलंकारैश्च तोषिताः ।
उपवेश्यासने कृष्णमलंकारशतैर्युतम् ॥ ५१ ॥
यज्ञजं सुकृतं सर्वं हृषीकेशकरे ददौ ।
वादित्रनादः संजज्ञे पुष्पवृष्टिः पपात च ॥ ५२ ॥

उन्होंने रुक्मिणी आदि समस्त स्त्रियोंको आभूषण आदि देकर संतुष्ट किया । तदनन्तर उन्होंने श्रीकृष्णको सैकड़ों अलंकारोंसे विभूषित करके एक आसनपर बैठाया और फिर अपना यज्ञजन्य सारा पुण्य उन हृषीकेशके हाथमें समर्पित कर दिया । उस समय बाजे बजने लगे और पुष्पवृष्टि होने लगी ॥ ५१-५२ ॥

भीमाद्याः पाण्डवाः सर्वे यज्ञः कृष्णेन कारितः ।
इति ब्रुवन्तः सततं हर्षिताश्चाभवन्नृप ॥ ५३ ॥

नरेश्वर ! उस समय भीमसेन आदि सभी पाण्डव 'यह यज्ञ श्रीकृष्णकी कृपासे पूर्ण हुआ है' यों बारंबार कहते हुए हर्षमग्न हो रहे थे॥ ५३ ॥

मोचिताः पशवः सर्वे ये च यूपे नियन्त्रिताः ।
तुष्टुवुस्ते जनाः सर्वे यज्ञः कृष्णेन कारितः ॥ ५४ ॥

फिर यज्ञस्तम्भमें जो पशु बँधे थे, वे सभी खोल दिये गये और सभी लोग यों स्तुति करने लगे कि श्रीकृष्णने ही यह यज्ञ पूर्ण कराया है ॥ ५४ ॥

यज्ञप्रकरणं श्रुत्वा मुच्यन्ते सर्वपातकैः ।
सर्वैश्च पूजितास्ते वै संतिष्ठन्ति धरातले ॥ ५५ ॥

इस यज्ञप्रकरणको श्रवण करके मनुष्य समस्त पातकोंसे मुक्त हो जायँगे और जबतक इस भूतलपर जीवित रहेंगे, तबतक सभी लोग उनका आदर करेंगे ॥ ५५ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि युधिष्ठिराभिषेको नाम चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें युधिष्ठिरका अभिषेकनामक चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

भीमसेनका यज्ञान्तमें ब्राह्मणों तथा राजाओंको नाना प्रकारके व्यञ्जन जिमाकर तृप्त करना, दो ब्राह्मणोंका अपना झगड़ा निपटानेके लिये युधिष्ठिरके पास आना, भगवान् श्रीकृष्णका कलियुगमें होनेवाले दोषोंका वर्णन करना

जैमिनिरुवाच

यज्ञस्यान्ते भीमसेनः प्रार्थयित्वा मुनीन् नृपान् ।
सकृष्णान् भोजयामास विविधान्नेन मारिष ॥ १ ॥

जैमिनिजी कहते हैं— आर्य जनमेजय ! जब यज्ञ समाप्त हो गया, तब भीमसेनने प्रार्थना करके मुनियों तथा श्रीकृष्णसहित राजाओंको अनेक प्रकारके अन्न परोसकर भोजन कराया ॥ १ ॥

जनमेजय उवाच

कथं ते भोजिता विप्राः सकृष्णाश्च महीभुजः ।
यया रीत्या स्त्रियो बाला भीमेन रसकारिणा ॥ २ ॥
अन्नानि कानि जातानि सर्वं शंस महामुने ।
कौतुकं जायतेऽतीव शृण्वतो मे तवाननात् ॥ ३ ॥

जनमेजयने पूछा—महामुने ! स्वादिष्ठ रसोई तैयार करनेवाले भीमसेनने उन ब्राह्मणों, श्रीकृष्णसहित राजाओं, स्त्रियों और बालकोंको किस प्रकार तथा किस रीतिसे भोजन कराया था ? तथा कितने प्रकारके अन्न (भक्ष्य पदार्थ) तैयार किये गये थे ? यह सब मुझे बतलाइये; क्योंकि आपके मुखसे ऐसी बात सुनकर मुझे महान् कौतूहल हो रहा है ॥ २-३ ॥

जैमिनिरुवाच

शृणु राजेन्द्र वक्ष्यामि भीमसेनेन यत् कृतम् ।
मण्डपे नवरत्नाढ्ये रम्ये काञ्चनभूषिते ॥ ४ ॥
तत्र चन्दनजातेषु पीठास्तरणकम्बलाः ।
सरत्नाः स्थापिता भान्ति पुष्पप्रकरपूरिताः ॥ ५ ॥
कचोलानां चतुःषष्टिर्हेमस्थालीनियन्त्रिताः ।
प्रतिविप्रं धृता स्थाली रत्नदीपद्वयान्विता ॥ ६ ॥

जैमिनिजीने कहा—राजाधिराज जनमेजय ! उस समय भीमसेनने जो कुछ किया था, उसे मैं बतला रहा हूँ; सुनो । जो नूतन रत्नोंसे सम्पन्न और सुवर्णसे विभूषित था, उस रमणीय मण्डपमें चन्दन-काष्ठके बने हुए पीढ़ोंपर उन्हें ढकनेवाले रत्नजटित कालीन बिछे हुए थे, जो पुष्पराशियोंसे पूरित थे । उनके सामने प्रत्येक ब्राह्मणके लिये सोनेकी थालीमें चौसठ-चौसठ कटोरियाँ जँचाकर रखी गयी थीं और प्रत्येक थालीके पास दो-दो रत्नमय दीप जल रहे थे ॥ ४–६ ॥

तिरस्करिण्यः पुष्पाणां चन्द्रिकालम्बिताः शुभाः ।
कृष्णागुरुकृतैर्धूपैर्वासिते मण्डपेऽमले ॥ ७ ॥

कृष्णागुरुके धूपसे सुवासित उस निर्मल मण्डपमें ऊपर चँदोवा तना था और उसमें फूलोंके बने हुए सुन्दर परदे लटक रहे थे ॥ ७ ॥

सुगन्धेन जलेनाथ पात्रप्रक्षालनं कृतम् ।
प्रतिपात्रं सुवर्णस्य धृतो रत्नकमण्डलुः ॥ ८ ॥

सभी पात्र सुगन्धित जलसे धोये गये थे । प्रत्येक स्वर्ण-पात्रके निकट एक-एक रत्ननिर्मित कमण्डलु (जलपात्र) रखा गया था ॥ ८ ॥

ततो भीमेन सरसं पायसं तु प्रवेशितम् ।
ददृशुर्ब्राह्मणाः स्थाल्यां चन्द्रबिम्बमिवोदितम् ॥ ९ ॥
भक्तं सूपान्वितं चैव यूथिकाकुड्मलप्रभम् ॥ १० ॥

तदनन्तर भीमसेनने उन थालोंमें रसदार खीर परोस दी । उसे देखकर ब्राह्मणोंको ऐसा लगा मानो चन्द्रमण्डल उदित हो गया है और दालके साथ भात जूहीकी अधखिली कलीके समान प्रकाशित होता था ॥ ९-१० ॥

पुष्पपत्रफलमूलदारुभि-
र्वल्कलैर्व्यजनपत्रकृतानि ।
व्यञ्जनानि कटुतिक्तकखण्डै-
र्निर्मितानि पवनात्मजयत्नात् ॥ ११ ॥

भीमसेनके प्रबन्धसे पत्र (पालक आदि), पुष्प (कुम्हड़ा गोभी आदि), दारु (बनकेले), वल्कल (आमके छिलके और गूदे), फल (परवल, केले आदि), मूल (आलू, अरवी आदि) और पंखेके आकारके (अरवी आदिके) पत्तोंद्वारा कटु, तिक्त मसालों और खंड (खाँड़) के सम्मिश्रणसे नाना प्रकारके व्यञ्जन तैयार किये गये थे ॥ ११ ॥

कश्चिद् द्विजस्तदा पूपान् वीक्ष्य पप्रच्छ चापरम् ।
न वनस्थेन च मया दृष्टमेतद्धि किं वद ॥ १२ ॥

उस समय उन पूओंको देखकर किसी ब्राह्मणने दूसरेसे पूछा—'भाई ! बताओ तो, यह क्या है ? मैं तो सदा वनमें रहता हूँ, अतः मैंने इसे देखा भी नहीं है' ॥ १२ ॥

पृच्छन्तं प्राह विप्रोऽसौ मत्वाऽऽत्मानमतोऽधिकम् ।
चन्द्रस्य शकलं विद्धि पतितं शतधा भुवि ॥ १३ ॥

तब अपनेको उससे अधिक जानकार समझकर उस ब्राह्मणने अपने पूछते हुए साथीसे कहा—'तुम इन्हें सौ खण्ड होकर भूतलपर गिरे हुए चन्द्रमाके टुकड़े ही समझो' ॥

एवं वदति विप्रेऽस्मिंस्ततः प्राप्ताः स्म फेनिकाः ।
स्थाले स्वस्मिन् समीक्ष्यैको ब्राह्मणो विस्मयं गतः १४

वह ब्राह्मण यों कह ही रहा था तबतक फेनिकाएँ परोस दी गयीं। तब अपनी थालीमें उन फेनिकाओंको देखकर एक ब्राह्मणको महान् विस्मय हुआ ॥ १४ ॥

मरालो धर्मराजस्य सितपत्त्रयुतो महान्।
समुत्पन्न इति प्राह वायुभक्षो महातपाः ॥ १५ ॥

वे विप्रवर वायुको आहार करनेवाले महान् तपस्वी थे। वे कहने लगे—"धर्मराज युधिष्ठिरके यहाँ श्वेत पंखोंसे युक्त कोई महान् हंस उत्पन्न हुआ है क्या ?" ॥ १५ ॥

दन्तोलूखलिना प्रोक्तं मोदकान् वीक्ष्य यद् वचः।
औदुम्बराणि चामूनि विषयेऽस्मिन् मयोच्यते ॥१६॥

दाँतसे ही ओखलीका काम लेनेवाले एक ऋषिने लड्डुओंको देखकर उस विषयमें जो बात कही थी, उसे मैं बतलाता हूँ। उन्होंने कहा था कि ये गूलरके फल हैं॥ १६ ॥

भक्तं मेने द्विजः कश्चित् पुष्पाणि कुटजस्य तु।
करञ्जिकां मुनिवरः कर्णिकां मन्यते परः ॥ १७ ॥

एक द्विजने भातको देखकर ऐसा समझा कि ये कुटजके पुष्प हैं, तबतक दूसरा मुनि करञ्जिकाको कर्णिकार मानने लगा॥

वटकं कनकाभं तु मेने कश्चिद् द्विजस्तदा।
पतितं भानवीयं किं रथचक्रं ममाग्रतः ॥ १८ ॥

उस समय सुनहली आभावाले बड़ेको देखकर किसी ब्राह्मणको ऐसा भ्रम होने लगा कि सूर्यके रथका चक्र ही मेरे आगे गिर पड़ा है क्या ? ॥ १८ ॥

द्राक्षारसं पिबन्त्येके केचिच्चूतरसं मुदा।
लुठितं हि सितामध्ये घृताक्तं कदलीफलम् ॥ १९ ॥
मुखे चिक्षेप सकलं मुनिशिष्यो गतत्वचम्।

कोई दाखका रस पी रहे थे तो कुछ लोग आनन्दपूर्वक आमके रसका स्वाद ले रहे थे। कोई मुनिशिष्य, जिसका छिलका उतार दिया गया था तथा जो घृतयुक्त एवं शक्करमें डालकर पगा हुआ था, ऐसे केलेके फलको पूरा-का-पूरा मुखमें डाल रहा था ॥ १९½ ॥

सिताज्यैर्मण्डकं विप्रो वेष्टयित्वा ततोऽपरः ॥ २० ॥
चिक्षेप मुखमध्ये तु सम्प्राप्तः सुखमुत्तमम्।
मेने मोक्षसुखं तुच्छं भक्षयन् खण्डलड्डुकान् ॥२१॥

दूसरे ब्राह्मणने मण्डकको घी और शक्करसे लपेटकर मुखमें डाल लिया। उस समय उसे उत्तम सुखका अनुभव हुआ; फिर मोतीचूरके लड्डुओंको खानेपर उसे जो सुख प्राप्त हुआ, उसके सामने तो वह मोक्ष-सुखको भी तुच्छ समझने लगा ॥ २०-२१ ॥

इत्थं भीमेन ते विप्रास्तथान्ये क्षत्रियादयः।
लोकाः सम्भोजिताः सर्वे तस्मिन् यज्ञमहोत्सवे॥२२॥

इस प्रकार उस यज्ञमहोत्सवके अवसरपर भीमसेनने उन ब्राह्मणों तथा अन्य क्षत्रिय आदि वर्णोंके सभी लोगोंको भलीभाँति भोजन कराया ॥ २२ ॥

संतर्पिता हि ते विप्रा दिव्यचन्दनचर्चिताः।
ताम्बूलं चन्द्रसंयुक्तं दृष्ट्वा विस्मयमागताः ॥ २३ ॥

(तत्पश्चात् उन्हें ताम्बूल दिया गया।) तब जो भोजनादिसे भलीभाँति संतुष्ट हो चुके थे तथा दिव्य चन्दनोंद्वारा जिनकी पूजा की गयी थी, वे ब्राह्मण उस कपूरयुक्त ताम्बूलको देखकर विस्मय-विमुग्ध हो गये ॥ २३ ॥

शुष्कपत्राणि संचूर्ण्य भक्षयामो वने वयम्।
ते कृता वरताम्बूलरसज्ञा धर्मसूनुना ॥ २४ ॥

(और कहने लगे—) 'हमलोग तो वनमें रहकर सूखे पत्तोंका चूर्ण बनाकर भोजन करनेवाले थे; परंतु आज धर्मनन्दन युधिष्ठिरने हमें उत्तम ताम्बूलके रसका अनुभवी बना दिया' ॥ २४ ॥

जैमिनिरुवाच

ब्राह्मणैः सहितो राजा क्षत्रियैश्च महाबलैः।
उपविष्टः स यज्ञान्ते सकृष्णो यज्ञमण्डपे ॥ २५ ॥
ततः प्राप्तौ विप्रवरौ विवदन्तौ हि संसदि।
धर्मराजं समागत्य प्रोचतुर्वचनं नृप ॥ २६ ॥
धर्मराजावयोर्वादं सम्यक् छिन्धि महामते।

जैमिनिजी कहते हैं—नरेश्वर जनमेजय ! यज्ञ समाप्त हो जानेपर जब राजा युधिष्ठिर ब्राह्मणों तथा महाबली क्षत्रियोंसे घिरे हुए श्रीकृष्णके साथ यज्ञ-मण्डपमें विराजमान थे, उसी समय दो विप्रवर परस्पर विवाद करते हुए राज-सभामें आये और युधिष्ठिरके पास जाकर यों कहने लगे—"धर्मराज ! आपकी बुद्धि तो बड़ी गम्भीर है, अतः आप हम दोनोंके इस झगड़ेको उचित रीतिसे निपटा दीजिये' ॥ २५-२६½ ॥

राजोवाच

बकदाल्भ्यमुखाः सन्ति वसिष्ठात्रिपुरोगमाः ॥ २७ ॥
यत्र सभ्याः सुमनसस्तत्र वादकथा हि का।
निरूपयस्व विप्रेन्द्र कारणं स्वं पृथक् पृथक् ॥ २८ ॥

तब राजा युधिष्ठिरने कहा—विप्रेन्द्र ! जहाँ महर्षि बकदाल्भ्य, वसिष्ठ और अत्रि आदि उत्तम विचारवाले सभासद् बैठे हुए हैं, वहाँ विवादको निपटानेकी बात ही क्या है ? अच्छा, अब आपलोग पृथक्-पृथक अपने कलहका कारण वर्णन कीजिये ॥ २७-२८ ॥

ब्राह्मण उवाच

एभिस्तु मत्करे दत्तं क्षेत्रं स्वीयं यथाक्रमम्।
तत् पुनः कर्षितं तस्मान्निधानं निर्गतं नृप ॥ २९ ॥

ब्राह्मण बोला—नरेश्वर ! इन्होंने अपना खेत मेरे हाथमें सौंप दिया था। जब मैंने क्रमशः उसे जोतवाया, तब उसमेंसे खजाना निकला है ॥ २९ ॥

धान्यमेव मया ग्राह्यं यत् क्षेत्रे जायते पुनः ।
निधानं न ग्रहीष्येऽहं न मदीयं हि तद् ध्रुवम् ॥ ३० ॥

अब उस खेतमें उत्पन्न हुए अन्नको ग्रहण करना तो मेरे लिये उचित है, परंतु मैं उस खजानेको नहीं लूँगा; क्योंकि निश्चय ही वह मेरा नहीं है ॥ ३० ॥

एभिरेव तु तद् ग्राह्यं मया त्यक्तं नृपाधुना ।
पश्य मां पीडयन्त्येते निधानेन गतत्रपाः ॥ ३१ ॥

राजन् ! इसीलिये मैंने उसका परित्याग कर दिया है, अतः अब इन्हें उस खजानेको स्वीकार कर लेना चाहिये; परंतु देखिये, ये निर्लज्ज होकर उसे ग्रहण करनेके लिये मुझे कष्ट दे रहे हैं ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सत्यं वद महाबुद्धे किमर्थं पीडयेर्द्विजम् ।
भवान् गृह्णातु तद् द्रव्यं यन्न दत्तं त्वया पुरा ॥ ३२ ॥

युधिष्ठिरने कहा—महाबुद्धे ! सच-सच बताइये, आप किसलिये ब्राह्मणको पीड़ा दे रहे हैं ? जिसे आपने पहले दिया ही नहीं है, उस द्रव्यको क्यों नहीं ग्रहण करते ? ॥ ३२ ॥

ब्राह्मण उवाच

मया समर्पितं क्षेत्रं पुरास्मै धर्मनन्दन ।
यत्किंचिज्जायते तस्मिन् ब्राह्मणस्य न तन्मम ॥ ३३ ॥

ब्राह्मण बोला—धर्मनन्दन ! पहले मैंने इन्हें यह खेत इस शर्तपर समर्पित किया था कि उसमें जो कुछ उत्पन्न होगा, वह ब्राह्मणका होगा, न कि मेरा ॥ ३३ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं कृष्णः प्रत्युवाच हसन्निव ।
मासत्रयं तु विप्रेन्द्रौ स्थिरौ भवितुमर्हथः ॥ ३४ ॥

ब्राह्मणकी बात सुनकर श्रीकृष्ण हँसते हुए-से बोले—'विप्रेन्द्रो ! तीन मासतक आपलोगोंको शान्त रहना चाहिये' ॥

कृष्णवाक्येन तुष्टौ तौ क्षिप्त्वा वित्तं नृपालये ।
जग्मतुश्च गृहं राजन् प्रतीक्षन्तौ च तद् दिनम् ॥ ३५ ॥

राजन् ! श्रीकृष्णके इस कथनसे उन दोनों ब्राह्मणोंको संतोष हो गया । फिर वे उस धनको राजमहलमें छोड़कर अपने-अपने घर चले गये और उस दिनके आगमनकी प्रतीक्षा करने लगे ॥ ३५ ॥

राजोवाच

अधुना माधव कथं निर्णयो न त्वया कृतः ।
सर्वेषां पश्यतामेव विस्मयो मे महान् विभो ॥ ३६ ॥

राजा युधिष्ठिरने पूछा—माधव ! इस समय सबके सामने ही आपने झगड़ेका निर्णय क्यों नहीं किया ? विभो ! यह देखकर तो मुझे महान् विस्मय हो रहा है ॥ ३६ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

ऋषयः सन्ति राजानः सुखेन तव संनिधौ ।
यज्ञान्ते मुदिता लोका मध्ये वादकथा कथम् ॥ ३७ ॥

श्रीकृष्णने कहा—राजन् ! इस यज्ञान्तके अवसरपर जब कि ऋषिगण और राजालोग आपके संनिकट सुखपूर्वक बैठे हैं और सभी लोग आनन्दमग्न हैं, इस बीचमें झगड़ेका प्रसङ्ग कैसे चलाया जाय ? ॥ ३७ ॥

मासे तृतीये घोरस्तु भविष्यति कलिर्नृप ।
द्रव्यार्थं विवदन्तौ हि ताडयन्तौ परस्परम् ॥ ३८ ॥
मुष्टामुष्टि सम्प्रहारं केशाकेशि नखानखि ।
आगन्तारौ च ते पार्श्वे कलिना मथितौ नृप ॥ ३९ ॥
त्वं तद्धनं द्विधा कृत्वा ताभ्यां दास्यसि मे मतिः ।

नरेश्वर ! आजसे तीसरे महीनेमें भयंकर कलियुगका प्रवेश होगा । उस समय कलिसे पीड़ित हुए ये दोनों ब्राह्मण इस द्रव्यके लिये विवाद करते हुए एक-दूसरेको पीटेंगे और मुक्कोंसे, केशोंको खींचकर तथा नखोंसे बकोटकर परस्पर प्रहार करते हुए आपके पास आयेंगे । तब आप उस धनको दो भागोंमें विभक्त करके दोनों ब्राह्मणोंको देंगे—ऐसा मेरी बुद्धिमें आ रहा है ॥ ३८-३९½ ॥

भविष्यन्ति कलौ विप्रा आचारश्रुतिवर्जिताः ॥ ४० ॥
राजानो धर्महीनाश्च पीडयिष्यन्ति ते प्रजाः ।
अधर्मवल्लभो लोको धर्मद्वेषी च मत्सरी ॥ ४१ ॥

कलियुग आनेपर ब्राह्मणोंमें सदाचार नहीं रह जायगा । वे वेदोंसे हीन हो जायँगे । राजाओंमें धर्मभावना नहीं रह जायगी । वे प्रजाओंको पीड़ा पहुँचाते रहेंगे । सारा संसार अधर्मका प्रेमी और धर्मसे द्वेष तथा ईर्ष्या करनेवाला हो जायगा ॥ ४०-४१ ॥

द्यूतमद्यरता नित्यं सर्वे व्यसनिनः सदा ।
देवकार्ये पितॄणां वा साधुस्त्रीभरणे तथा ॥ ४२ ॥
ब्राह्मणार्थे धनं स्वल्पं दत्त्वा ते दुःखभाजिनः ।
भविष्यन्ति कलौ राजन् मुदिता गणिकागृहे ॥ ४३ ॥
नेष्यन्ति च धनं भूरि द्यूतादिव्यसनेष्वपि ।

राजन् ! कलियुगमें सभी लोग नित्य द्यूत और मदिरासे प्रेम करनेवाले तथा सदा व्यसनपरायण होंगे । वे देवकार्य, पितृकार्य, पतिव्रता स्त्रियोंके भरण-पोषण और ब्राह्मणके लिये थोड़ा-सा ही धन देकर दुःखका अनुभव करेंगे; परंतु वे ही वेश्याओंके घर तथा द्यूत आदि व्यसनोंमें हर्षपूर्वक बहुत-सा धन ले जायँगे ॥ ४२-४३½ ॥

जननीं जीर्णवस्त्रेण वेष्टयिष्यन्ति ते कलौ ॥ ४४ ॥
वेश्यां वा पुंश्चलीं वापि दुकूलैर्विविधैः स्वयम् ।

कलियुगमें वे लोग अपनी माताको तो फटे-पुराने वस्त्र पहननेको देंगे, परंतु वेश्याओं और व्यभिचारिणी स्त्रियोंको अपने हाथसे अनेक प्रकारके रेशमी वस्त्र पहनायेंगे ॥ ४४½ ॥

धत्तूरकस्य पुष्पाणि करवीरभवानि च ॥४५॥
सकण्टकानि पुष्पाणि नयिष्यन्ति शिवालये।
वरपङ्कजजां मालां कर्पूरं चन्दनं तथा ॥ ४६ ॥
नेष्यन्ति कुमुदं चारु वेश्यास्त्रीकुलटागृहे।

लोग धतूरके फूल तथा करवीरके वृक्षसे उत्पन्न हुए काँटेदार पुष्पोंको तो शिवालयमें ले जाकर शिव-पूजन करेंगे और उत्तम कमल-पुष्पोंकी बनी हुई माला, कपूर, चन्दन तथा सुन्दर कुमुद-पुष्प वेश्याओं एवं कुलटा स्त्रियोंके घर ले जायँगे॥

मातरं पितरं चैव त्यजन्ति हि जनाः कलौ ॥ ४७ ॥
स्त्रीसेवका भविष्यन्ति परिचारकवत् सदा।
जननीं ताडयिष्यन्ति लालयिष्यन्ति स्वां स्त्रियम्॥४८॥

कलियुगमें लोग माता-पिताका परित्याग कर देंगे और नौकरकी तरह सदा स्त्रीकी सेवामें तत्पर रहेंगे। वे माताको तो पीटेंगे और अपनी पत्नीके साथ लाड़ लड़ायेंगे ॥४७-४८॥

श्वश्रूश्वशुरयोश्चैव स्नुषाः कलियुगे नृप।
वदिष्यन्त्यप्रियं वाक्यं हृदये शल्यकारकम् ॥ ४९ ॥

जनेश्वर ! कलियुग आनेपर बहुएँ सास-ससुरको ऐसे कटु वचन सुनायेंगी, जो हृदयमें काँटेकी तरह चुभेगा ॥ ४९ ॥

न विश्वासं करिष्यन्ति देवेषु ब्राह्मणेषु च।
कर्मभ्रष्टा भविष्यन्ति चतुर्वर्णाः कलौ युगे ॥ ५० ॥
स्वीयं कर्म परित्यज्य परकीयं प्रकुर्वते।

कलियुगमें चारों वर्णोंके लोग कर्मभ्रष्ट हो जायँगे। वे देवताओं तथा ब्राह्मणोंके वचनोंपर विश्वास नहीं करेंगे और अपने (वर्णाश्रमानुकूल) कर्मका परित्याग करके दूसरेका कर्म करनेवाले होंगे ॥ ५०½ ॥

जैमिनिरुवाच

एवं कृष्णेन कथिताः कलिधर्मा भयावहाः।
ततो वीराः कथाश्चक्रुर्यज्ञान्ते कृष्णपाण्डवाः ॥ ५१ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने कलियुगके भयदायक धर्मोंका वर्णन किया था। तत्पश्चात् यज्ञके अन्तमें श्रीकृष्ण और वीर पाण्डव अनेक प्रकारकी कथाएँ कहने लगे ॥ ५१ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि कलिधर्मवर्णनं नाम पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें कलियुगके धर्मका वर्णन नामक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमोऽध्यायः

यज्ञकी समाप्तिपर गर्वयुक्त होकर बैठे हुए युधिष्ठिरकी सभामें एक नकुलका आना और इनके यज्ञसे कुरुक्षेत्रनिवासी शिलोञ्छवृत्तिवाले ब्राह्मणके सत्तूयज्ञको उत्कृष्ट बताना, आश्चर्यचकित हुए सभासदोंके पूछनेपर नकुलद्वारा सत्तू-यज्ञका वर्णन

जैमिनिरुवाच

श्रूयतां राजशार्दूल महदाश्चर्यमुत्तमम्।
अश्वमेधे महायज्ञे निवृत्ते यदभूद् विभो ॥ १ ॥

जैमिनिजी कहते हैं—राजशार्दूल ! विभो ! उस महान् यज्ञ अश्वमेधके समाप्त होनेपर जो अत्यन्त आश्चर्यजनक एवं उत्तम घटना घटित हुई थी, उसे सुनो !! १ ॥

तर्पितेषु द्विजाद्येषु ज्ञातिसम्बन्धिबन्धुषु।
दीनान्धकृपणे चापि तदा भरतसत्तम ॥ २ ॥
जायमाने महानादे दिक्षु सर्वासु भारत।
पतत्सु पुष्पवर्षेषु धर्मराजस्य मूर्धनि ॥ ३ ॥
गर्वितोऽभूत् तदा राजा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
बिलान्निष्क्रम्य नकुलो रुक्मपार्श्वस्तदा नृप ॥ ४ ॥
वज्राशनिसमं नादममुञ्चत विशाम्पते।
सकृदुत्सृज्य तं नादं त्रासयानो द्विजान् नृपान् ॥ ५ ॥

भरतसत्तम ! जब उत्तम ब्राह्मण, कुटुम्बी, सम्बन्धी, भाई-बन्धु सभी संतुष्ट हो गये, दीनों, अंधों और कृपणोंको भी सब तरहसे तृप्त कर दिया गया, सम्पूर्ण दिशाओंमें (जयकारका) महान् शब्द गूँजने लगा और धर्मराजके मस्तकपर पुष्पोंकी वृष्टि होने लगी, तब धर्मनन्दन राजा युधिष्ठिरको कुछ गर्व हो आया। राजन् ! उसी समय एक नेवला, जिसका एक पार्श्वभाग सोनेका था, बिलसे निकलकर वहाँ आया और उसने वज्रकी गड़गड़ाहटके समान भयंकर शब्द किया। प्रजानाथ ! यद्यपि उसने एक ही बार वह शब्द किया था तथापि उससे सभी ब्राह्मण और नृपतिगण भयभीत हो गये ॥ २-५ ॥

मानुषं वचनं प्राह धृष्टो बिलशयो महान्।
सक्तुप्रस्थेन वो नायं यज्ञस्तुल्यो नराधिप ॥ ६ ॥
उञ्छवृत्तेर्वदान्यस्य कुरुक्षेत्रनिवासिनः।

बिलमें निवास करनेवाला वह नेवला अत्यन्त ढीठ था। वह मनुष्यकी-सी वाणीमें कहने लगा—"नरेश्वर ! आपका यह यज्ञ तो उञ्छवृत्तिसे जीवन-यापन करनेवाले कुरुक्षेत्रनिवासी उदारचेता उस ब्राह्मणके सेरभर सत्तूदानके भी तुल्य नहीं हुआ' ॥ ६½ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा नकुलस्य विशाम्पते ॥ ७ ॥
विस्मयं परमं जग्मुः सर्वे ते ब्राह्मणर्षभाः।

प्रजानाथ ! उस नेवलेकी वैसी बात सुनकर उन सभी विप्रवरोंको परम विस्मय हुआ ॥ ७½ ॥

ततः समेत्य नकुलं पर्यपृच्छन्त ते द्विजाः ॥ ८ ॥
कुतस्त्वं समनुप्राप्तो ह्यस्मिन् यज्ञसमागमे ।
किं बलं परमं तुभ्यं किं श्रुतं किं परायणम् ॥ ९ ॥
कथं भवन्तं विद्यामो यो नो यज्ञं विगर्हसे ।

तदनन्तर वे ब्राह्मण नेवलेके पास जाकर उससे पूछने लगे—'इस यज्ञ-समारोहके अवसरपर तुम कहाँसे आये हो ? तुम्हारेमें कौन-सा उत्कृष्ट बल है ? तुमने कितना शास्त्राध्ययन किया है और तुम किसके भक्त हो ? हमलोग कैसे जानें कि तुम कौन हो, जो इस प्रकार हमारे यज्ञकी निन्दा कर रहे हो ? ॥

अविलुप्यागमं कृत्स्नं विविधैर्याज्ञिकैः कृतम् ॥ १० ॥
यथागमं यथान्याय्यं कर्तव्यं च तथा कृतम् ।
पूजार्हाः पूजिता यत्र विधिवच्छास्त्रचक्षुषा ॥ ११ ॥
मन्त्रपूर्वं हुतश्चाग्निर्दानं दत्तममत्सरम् ।
तुष्टा द्विजर्षभाश्चात्र दानैर्बहुविधैरपि ॥ १२ ॥

'यह यज्ञ बहुत-से याज्ञिकोंद्वारा निखिल शास्त्रोंके आधारपर ही सम्पन्न हुआ है । इस यज्ञमें जो कार्य जैसा शास्त्रोंमें वर्णित था तथा उसे जिस विधिसे करना चाहिये था, वह तदनुकूल ही किया गया है । इसमें शास्त्रविधानानुसार पूजनीयोंकी विधिवत् पूजा की गयी है । मन्त्रोच्चारणपूर्वक अग्निमें हवन किया गया है । मत्सररहित होकर दान दिया गया है । अनेक प्रकारके दानोंसे श्रेष्ठ द्विजोंको भी तृप्त किया गया है ॥ १०–१२ ॥

क्षत्रियाश्च सुयुद्धेन श्राद्धैरपि पितामहाः ।
पालनेन विशस्तुष्टाः कामैः शूद्राश्च योषितः ॥ १३ ॥

'उत्तम युद्धसे क्षत्रिय, श्राद्धोंसे पितामह आदि पितर, पालन-पोषणसे वैश्य और कामनापूर्तिसे शूद्र तथा स्त्रियाँ संतुष्ट हो चुकी हैं ॥ १३ ॥

अनुक्रोशैस्तथा दानैराशीर्भिश्च पृथग् जनाः ।
ज्ञातिसम्बन्धिनस्तुष्टाः शौचेन च नृपस्य नः ॥ १४ ॥

'दया, दान और आशीर्वादोंसे पृथक्-पृथक् लोगोंको प्रसन्न किया गया है । हमारे राजाके शौचाचारसे उनके भाई-बन्धु एवं सम्बन्धी भी संतुष्ट हैं ॥ १४ ॥

देवा हविर्भिः पुण्यैश्च रक्षणैः शरणार्थिनः ।
यदत्र न्यूनं तद् ब्रूहि सभायां ब्राह्मणस्य हि ॥ १५ ॥

'पवित्र हविष्यान्नद्वारा देवताओंको तृप्त किया गया है । शरणागतोंकी भलीभाँति रक्षा की गयी है । अब इस यज्ञमें जो न्यूनता रह गयी है, वह तुम इस ब्राह्मणोंकी सभामें बतलाओ ॥

श्रद्धेयवाक्यः प्राज्ञस्त्वं दिव्यरूपं बिभर्षि च ।
सभागतैश्च पृष्टस्त्वं तत्त्वतो वक्तुमर्हसि ॥ १६ ॥

'तुम तो बड़े विद्वान् हो । तुम्हारे वचन भी श्रद्धाके पात्र हैं और तुमने दिव्य रूप भी धारण कर रखा है, अतः इन सभासदोंद्वारा किये गये प्रश्नका उत्तर तुम्हें यथार्थरूपसे देना चाहिये' ॥ १६ ॥

इति पृष्टो द्विजैस्तैश्च प्रहस्य नकुलोऽब्रवीत् ।
नैषानृता मया वाणी प्रोक्ता गर्वेण वा द्विजाः ॥ १७ ॥
यन्मयोक्तमिदं सर्वं युष्माभिश्चाप्युपश्रुतम् ।
सक्तुप्रस्थेन वो नायं यज्ञस्तुल्यो नराधिप ॥ १८ ॥
उञ्छवृत्तेर्वदान्यस्य कुरुक्षेत्रनिवासिनः ।

उन ब्राह्मणोंके ऐसा पूछनेपर वह नेवला हँस पड़ा और यों कहने लगा—'द्विजगण ! मैंने जो यह कहा है कि 'नरेश्वर ! आपका यह यज्ञ उञ्छवृत्तिसे जीवन-निर्वाह करनेवाले कुरुक्षेत्रनिवासी उस उदारचेता ब्राह्मणके सेरभर सत्तूदानके बराबर नहीं हुआ ।' मेरा यह कथन न तो असत्य है और न यह मेरी गर्वोक्ति ही है । आपलोगोंने भी इसे सुना होगा ॥ १७-१८½ ॥

शृणुताव्यग्रमनसः शंसतो मे द्विजर्षभाः ॥ १९ ॥
अनुभूतं च दृष्टं च यन्मयाद्भुतमुत्तमम् ।

'द्विजवरो ! मैंने जिस उत्तम एवं अद्भुत घटनाको अपनी आँखों देखा तथा अनुभव किया है, उसे बतला रहा हूँ; अब आपलोग सावधान-मनसे उसे सुनिये ॥ १९½ ॥

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे धर्मज्ञैर्बहुभिर्वृते ॥ २० ॥
उञ्छवृत्तिर्द्विजः कश्चित् कापोतीं वृत्तिमास्थितः ।
सभार्यः सहपुत्रेण सस्नुषस्तपसि स्थितः ॥ २१ ॥

'कुरुक्षेत्र एक धर्मक्षेत्र है । वहाँ बहुत-से धर्मज्ञजन निवास करते हैं । उसी कुरुक्षेत्रमें एक ब्राह्मण अपनी पत्नी, पुत्र तथा पुत्रवधूके साथ कापोती-वृत्तिका आश्रय लेकर तपस्या कर रहे थे । उञ्छवृत्तिसे ही उनका जीवन-निर्वाह होता था ॥ २०-२१ ॥

वधूचतुर्थो वृद्धः स धर्मात्मा नियतेन्द्रियः ।
षष्ठे काले सदा विप्रो भुङ्क्ते तैः सह सुव्रतः ॥ २२ ॥

'उनके परिवारमें पुत्रवधूसहित चार व्यक्ति थे । वे उत्तम व्रतका पालन करनेवाले, धर्मात्मा और जितेन्द्रिय थे । उनकी अवस्था वृद्ध हो चली थी, फिर भी वे अपने परिवारके साथ सदा छठे समय ही भोजन करते थे ॥ २२ ॥

कपोतधर्मिणस्तस्य दुर्भिक्षे सति दारुणे ।
नाभविष्यत्तदा विप्राः संचयस्तन्निबोध मे ॥ २३ ॥

'ब्राह्मणो ! एक बार महान् भयंकर अकाल पड़ गया, उस समय उन कपोतधर्मी ब्राह्मणके पास अन्नका संचय न हो सका । अतः अब आगेका वृत्तान्त मुझसे सुनिये ॥ २३ ॥

क्षीणौषधिसमावेशो द्रव्यहीनोऽभवत् तदा ।
काले काले सुसम्प्राप्ते नैवाविन्दत भोजनम् ॥ २४ ॥

'उस अकालके समय अन्नका अभाव हो जानेके कारण जब ब्राह्मणके पास अन्नका संग्रह नहीं रह गया, तब बार-बार छठा समय आता था और यों ही चला जाता था, परंतु उन्हें भोजन नहीं मिलता था ॥ २४ ॥

क्षुधा परिगताः सर्वे प्रातिष्ठन्त तदा तु ते ।
उञ्छस्तदा शुक्लपक्षे मध्ये तपति भास्करे ॥ २५ ॥

'तब भूखसे पीडित होकर वे सबके सब दाने बीननेके लिये चले । उस समय शुक्लपक्ष था और सूर्य आकाशके मध्यमें तप रहे थे अर्थात् दोपहरका समय था ॥ २५ ॥

तृषार्तश्च क्षुधार्तश्च स विप्रस्तपसि स्थितः ।
उञ्छं न प्राप्तवानेव सार्धं परिजनैस्ततः ॥ २६ ॥

'वह तपस्वी ब्राह्मण अपने परिवारके साथ भूख और प्याससे व्याकुल हो गया; परंतु उसे अन्नके दाने नहीं मिले ॥

स तथैव क्षुधाविष्टः स्पृष्ट्वा तोयं यथाविधि ।
क्षपयामास तं कालं सार्धं परिजनेन वै ॥ २७ ॥

'तब भूखसे व्याकुल हुए उस ब्राह्मणने परिवारसहित जलका स्पर्श करके निराहार अवस्थामें ही उस समयको भी व्यतीत किया ॥ २७ ॥

अथ षष्ठे गते काले स यवप्रस्थमर्जयत् ।
यवप्रस्थेन ते सक्तूनकुर्वंस्तु तपस्विनः ॥ २८ ॥

'तदनन्तर उस छठे कालके बीत जानेपर उस ब्राह्मणने एक सेर जौ इकट्ठा किया । फिर तो उन सभी तपस्वियोंने मिलकर उस जौका सत्तू बनाया ॥ २८ ॥

कृतजप्याह्निकास्ते तु हुत्वाग्निं च यथाविधि ।
कुडवं कुडवं सर्वे व्यभजन्त तपस्विनः ॥ २९ ॥

'तत्पश्चात् उन सभी तपस्वियोंने नाम-जप आदि अपना नित्यकर्म किया और यथाविधि अग्निमें आहुतियाँ डालीं । फिर परस्पर पाव-पाव भर सत्तूका हिस्सा लगाया गया ॥ २९ ॥

अथागमद् द्विजः कश्चिदतिथिर्भुञ्जतां तदा ।
तं पूजयित्वा विधिवत् स विप्रः प्रीतमानसः ॥ ३० ॥
प्रोवाच मधुरं वाक्यं मनःप्राह्लादकारकम् ।

'ज्यों ही वे भोजन करनेके लिये बैठे त्यों ही कोई ब्राह्मण अतिथि आ पहुँचा । उस अतिथिको देखकर ब्राह्मणका मन प्रसन्न हो गया । उसने विधिपूर्वक उसका आतिथ्य किया और मनको आनन्द देनेवाला मीठा वचन कहना आरम्भ किया ॥ ३०½ ॥

विप्र उवाच

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि पावितोऽस्मि यतो भवान् ।
प्राप्तोऽस्यतिथिवेलायां घर्मार्तस्येव तोयदः ॥ ३१ ॥

ब्राह्मणने कहा—ब्रह्मन् ! आपने मुझपर बड़ी कृपा की, जो इस अतिथिवेलामें पधारकर मुझे पावन बनाया । मैं तो धन्य हो गया । आपका आगमन मुझे वैसा ही सुख दे रहा है, जैसे घामसे पीडित हुए प्राणीको बादल सुखद होता है ॥

स्वागतं ते द्विजश्रेष्ठ भूयः सुस्वागतं तव ।
सनाथः क्रियतां ब्रह्मन्नुटजोऽयं प्रविश्यताम् ॥ ३२ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! आप भले पधारे ! आपका बारंबार स्वागत है । ब्रह्मन् ! अब इस कुटियामें प्रवेश करके मुझे सनाथ करनेकी कृपा कीजिये ॥ ३२ ॥

ते गृहा गृहिणः सत्या येषु मार्गश्रमातुराः ।
स्वगृहेष्विव विश्रान्ता भवन्ति च भवादृशाः ॥ ३३ ॥

गृहस्थोंके वे ही घर यथार्थरूपमें घर कहलाने योग्य हैं, जिनमें आप-सरीखे मार्गके थके-माँदे अतिथि अपने गृहकी भाँति विश्राम करके सुखका अनुभव करते हैं ॥ ३३ ॥

अहोऽतीव सभाग्यास्ते निःस्वापि गृहमेधिनः ।
येषामशून्या दिवसा गच्छन्त्यतिथिपूजनैः ॥ ३४ ॥

अहो ! दरिद्र होनेपर भी वे गृहस्थ महान् भाग्यशाली हैं, जिनके दिन अतिथि-सत्कारके बिना नहीं बीतते अर्थात् जिन्हें प्रतिदिन आतिथ्य करनेका सुअवसर प्राप्त होता रहता है ॥ ३४ ॥

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता ।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ ३५ ॥

तृण, भूमि, जल और चौथी प्रिय वाणी—इनका सत्पुरुषोंके घरमें कभी भी अभाव नहीं होता ॥ ३५ ॥

देयमार्त्तस्य शरणं पथि श्रान्तस्य चासनम् ।
तृषितस्य तु पानीयं क्षुधितस्यापि भोजनम् ॥ ३६ ॥

दुखी होकर शरणमें आये हुएको आश्रय, मार्गके थके-माँदेको आसन, प्यासेको पीनेयोग्य जल और भूखेको भोजन देना चाहिये ॥ ३६ ॥

चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद् वाचं दद्यात् सुकोमलाम् ।
अभ्युत्थानानुव्रजनं कुर्यान्न्यायेन चार्चनम् ॥ ३७ ॥

जो अपने घरपर आ जाय, उसे स्नेहभरी दृष्टिसे देखे । उसे देखकर मनको प्रसन्न रखे, अत्यन्त कोमल वाणीका प्रयोग करे, न्यायपूर्वक उसका आदर-सत्कार करे और जब वह जाने लगे, तब उठकर उसके पीछे-पीछे कुछ दूरतक जाय ॥

नकुल उवाच

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा तमभ्यर्च्य यथाविधि ।
स्वभागं प्रददौ हृष्टो न च तृप्यति तेन सः ॥ ३८ ॥

नकुल कहता रहा—विप्रवरो ! यों कहकर उस धर्मात्मा ब्राह्मणने विधिपूर्वक उस अतिथिकी पूजा की और प्रसन्न-मनसे अपने भागका सत्तू उसे प्रदान कर दिया;

परंतु उतनेसे वह अतिथि तृप्त नहीं हुआ ॥ ३८ ॥

ततोऽस्य भार्या क्षुत्क्षामा वृद्धा ग्लाना तपस्विनी।
त्वगस्थिभूता वेपन्ती भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ ३९ ॥

तब उस ब्राह्मणकी वृद्धा तपस्विनी पत्नी, जो भूखसे दुर्बल एवं कुम्हला गयी थी तथा जिसके शरीरमें चमड़ा और हड्डीमात्र शेष रह गया था, काँपती हुई अपने पतिसे निम्नाङ्कित वचन बोली ॥ ३९ ॥

भार्योवाच

ममापि भागो भो स्वामिन् दीयतां मा विचारय।
अर्थिनामन्नदानेन कृतार्था स्यामहं ध्रुवम् ॥ ४० ॥

भार्याने कहा—स्वामिन्! चिन्ता मत कीजिये। आप मेरे हिस्सेका भी सत्तू दे डालिये; क्योंकि अन्नार्थीको अन्नदान करनेसे निश्चय ही मैं कृतार्थ हो जाऊँगी ॥ ४० ॥

ब्राह्मण उवाच

अपि कीटपतङ्गानां मृगादीनां च शोभने।
स्त्रियो रक्ष्याश्च पोष्याश्च न चैवं वक्तुमर्हसि ॥ ४१ ॥
धर्मकामार्थकार्याणि शुश्रूषा कुलसंततिः।
दारेष्वधीनः स्वर्गश्च पितॄणामात्मनस्तथा ॥ ४२ ॥

ब्राह्मणने कहा—शोभने! तुम्हारा ऐसा कहना उचित नहीं है; क्योंकि कीट-पतंग और पशु आदि भी अपनी स्त्रियोंकी रक्षा एवं भरण-पोषण करते हैं; क्योंकि धर्म, अर्थ और कामसम्बन्धी कार्य, सेवा, कुलको बढ़ानेवाली संतति, अपनेको तथा पितरोंको स्वर्गकी प्राप्ति—ये सब पत्नीके ही अधीन रहते हैं ॥ ४१-४२ ॥

भुङ्क्ष्व तस्मात् स्वसक्तूंश्च न ते कश्चिदतिक्रमः।
अनुज्ञाता मया भद्रे कुरु वाक्यं मयेरितम् ॥ ४३ ॥

इसलिये भद्रे! तुम अपने भागका सत्तू खा लो। इससे तुम्हें कोई दोष नहीं लगेगा; क्योंकि मैं आज्ञा दे रहा हूँ। जाओ, मेरी आज्ञाका पालन करो ॥ ४३ ॥

यो नानुकम्पते भार्यां न पुष्णाति नराधमः।
न यशो महदाप्नोति नरकं चाधिगच्छति ॥ ४४ ॥

जो नराधम अपनी पत्नीपर न तो दयाभाव रखता है और न उसका भरण-पोषण ही करता है, उसे उत्तम यशकी प्राप्ति नहीं होती और वह नरकमें जाता है ॥ ४४ ॥

ब्राह्मण्युवाच

सहधर्मचरौ धात्रा सृष्टौ भार्यापती द्विज।
तस्मान्महति धर्मे त्वं न बाधां कर्तुमर्हसि ॥ ४५ ॥

ब्राह्मणी बोली—पतिदेव! ब्रह्माने पति और पत्नीको साथ रहकर धर्माचरण करनेके लिये बनाया ही है, इसलिये आपका इस महान् धर्ममें बाधा पहुँचाना उचित नहीं है ॥

पतिर्नार्याः परो धर्मः पतिरेव हि दैवतम्।
पतिरेव परो बन्धुः पतिरेव परा गतिः।
धर्ममर्थं च कामं च यशः स्वर्गतिरेव च ॥ ४६ ॥
पत्यौ प्रसन्ने स्त्री सर्वमेतत् प्राप्नोत्यसंशयम्।

स्त्रीके लिये पति ही उत्कृष्ट धर्म है, पति ही देवता है, पति ही घनिष्ठ भाई-बन्धु है, पति ही परम गति है तथा धर्म, अर्थ, काम, यश और स्वर्गलोककी प्राप्ति भी पति ही है। पतिदेवके प्रसन्न हो जानेपर स्त्रीको निस्संदेह ये सारी वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं ॥ ४६½ ॥

कर्मणा मनसा वाचा या स्त्री पतिमनुव्रता ॥ ४७ ॥
इह चैव महाभागा सा देवैरपि पूज्यते।

जो स्त्री मन, वचन और कर्मसे पतिका अनुवर्तन करती है, वही इस लोकमें महान् भाग्यवती कहलाती है और देवतालोग भी उसका आदर करते हैं ॥ ४७½ ॥

न मया त्वय्यभुक्ते तु भुक्तपूर्वं कदाचन ॥ ४८ ॥
व्रतमेतद् विदित्वा तु त्वं सक्तून् दातुमर्हसि।

नाथ! बिना आपके भोजन किये मैंने अबतक कभी भी पहले आहार नहीं ग्रहण किया है। मेरे इस व्रतपर ध्यान देकर आप मेरे हिस्सेका सत्तू अवश्य दे डालिये ॥ ४८½ ॥

नकुल उवाच

एवमुक्तो गृहीत्वा तान् सक्तून् सोऽतिथये ददौ ॥ ४९ ॥
भक्षयित्वातिथिस्तांश्च नैव तृप्तोऽभवत् तदा।
ततः पुत्रो विनीतात्मा पितरं प्राह धर्मवित् ॥ ५० ॥

नेवला कहता रहा—द्विजवरो! तब पत्नीके ऐसा कहनेपर ब्राह्मणने उन सत्तुओंको लेकर अतिथिको दे दिया; परंतु उन्हें खाकर भी जब वे अतिथि देवता तृप्त नहीं हुए, तब विनयी तथा धर्मज्ञ पुत्रने पितासे कहा ॥ ४९-५० ॥

पुत्र उवाच

तृप्त्यर्थमतिथेस्तात मद्भागोऽपि प्रदीयताम्।
किं तस्य जीवितफलं प्राप्तो यस्याशयातिथिः ॥ ५१ ॥
शून्यादिव गृहाद् दीनो निराशः प्रतिगच्छति।

पुत्र बोला—पिताजी! अतिथिदेवकी तृप्तिके लिये आप मेरा भाग भी उन्हें दे दीजिये; क्योंकि जिसके घरपर किसी आशासे प्रेरित होकर आया हुआ अतिथि सूने घरकी भाँति वहाँसे दीन एवं निराश होकर लौट जाता है, उस गृहस्थके जीवनसे क्या लाभ हुआ अर्थात् उसका जीना निरर्थक है ॥

विष्णुमुद्दिश्य ये चान्नमात्मानं पीडयन्त्यपि ॥ ५२ ॥
ददति ते हरेर्लोके पूज्यन्ते दैवतैरपि।

जो लोग स्वयं कष्ट सहकर भी अतिथिको विष्णु-तुल्य समझकर उन्हें अन्न प्रदान करते हैं, इन्द्रलोकमें देवगण भी उनकी पूजा करते हैं ॥ ५२½ ॥

तेनार्जितेन वित्तेन किं तेषां दुष्टचेतसाम् ॥ ५३ ॥

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिगच्छति।
अतएव मया चैव भागो देयो द्विजन्मने ॥ ५४ ॥

जिनके घरसे अतिथि निराश होकर लौट जाता है, उन दुष्टात्मा पुरुषोंके उस संचित धनसे क्या लाभ? इसलिये मुझे इन ब्राह्मणको अपना भाग अवश्य दे देना चाहिये ॥५३-५४॥

कुटुम्बं पीडयित्वा तु त्यक्त्वा लोभं विमत्सरः।
ददाति योऽतिथेरन्नं स याति परमां गतिम् ॥ ५५ ॥

जो मनुष्य परिवारको थोड़ा कष्ट भी होता हो तो भी उसकी परवा न करके लोभ त्यागकर ईर्ष्यारहित हो अतिथिको अन्न देता है, उसे परम गतिकी प्राप्ति होती है ॥ ५५ ॥

पितोवाच

अपि वर्षशतायुस्त्वं बाल एव मतो मम।
बालानां क्षुद् बलवती तस्मात् त्वं भुङ्क्ष्व पुत्रक ॥५६॥

पिताने कहा—बेटा! तेरी आयु सौ वर्षकी हो जाय तो भी तू मेरे लिये बालक ही है और बालकोंकी क्षुधा बड़ी बलवती होती है, इसलिये तू अपना सत्तू खा ले ॥ ५६ ॥

जयन्ति लोकान् पुत्रेण श्रुतिरेषा सनातनी।
त्वया तु जीवता पुत्र लोकाः सर्वे हिता मम ॥ ५७ ॥
तस्माज्जिगीषता लोकान् रक्ष्यस्त्वं सर्वथा मया।

पुत्रके रहनेसे मनुष्य उत्तम लोकोंको जीत लेते हैं—ऐसी सनातनी श्रुति है। अतः बेटा! तेरे जीवित रहनेसे वे सभी लोक मेरे लिये हितावह होंगे; इसलिये उन लोकोंपर विजय पानेकी इच्छावाले मुझको सर्वथा तेरी रक्षा करनी चाहिये ॥ ५७½ ॥

यस्मान्ममासि पुत्रस्त्वं नाहं मृत्योर्बिभेम्यतः ॥ ५८ ॥
प्रायशः पापकारित्वान्मृत्योरुद्विजते जनः।
कृतकृत्याः प्रतीक्ष्यन्ते मृत्युं प्रियमिवातिथिम् ॥ ५९ ॥

बेटा! जिस पुण्यके फलस्वरूप तू मेरा पुत्र हुआ है, उसी पुण्यके बलपर मुझे मृत्युका भय नहीं है; क्योंकि प्रायः पापाचरणके कारण ही मनुष्य मृत्युसे उद्विग्न होता है, परंतु जो लोग कृतकृत्य हो चुके हैं, वे तो प्यारे अतिथिकी तरह मृत्युकी प्रतीक्षा करते रहते हैं ॥ ५८-५९ ॥

पुत्र उवाच

पूर्वे वयसि पुष्णाति पिता पुत्रमिति श्रुतिः।
उत्तरे पितरं पुत्रस्तस्मात् सक्तून् प्रयच्छ मे ॥ ६० ॥

पुत्र बोला—पिताजी! श्रुति तो ऐसा कहती है कि बाल्यावस्थामें पिता पुत्रका भरण-पोषण करता है और बुढ़ापा आनेपर पुत्र पिताकी रक्षा करता है; इसलिये आप मेरे हिस्सेका सत्तू दे डालिये ॥ ६० ॥

नकुल उवाच

इत्युक्तः स गृहीत्वा तु सक्तून् सोऽतिथये ददौ।
भुक्त्वा तानपि सर्वांस्तु नैव तृप्तिमवाप्तवान् ॥ ६१ ॥

नेवला कहता रहा—ब्राह्मणो! पुत्रके ऐसा कहनेपर ब्राह्मणने उसके हिस्सेका भी सत्तू लेकर अतिथिको दे दिया; परंतु वह सब खा लेनेपर भी अतिथिदेवकी तृप्ति नहीं ही हुई ॥ ६१ ॥

ततः प्रीता स्नुषा प्राह श्वशुरं विनयान्विता।
मद्भागोऽपि महाभाग विप्रस्यास्य प्रदीयताम् ॥ ६२ ॥

तदनन्तर विनयशीला पुत्रवधूने प्रसन्नतापूर्वक अपने श्वशुरसे कहा—'महाभाग! मेरा भाग भी इन ब्राह्मणदेवको दे दीजिये' ॥ ६२ ॥

श्वशुर उवाच

योषिद् बाला स्नुषा साध्वी नियमव्रतकर्शिता।
कुलसंततिहेतुश्च रक्ष्या त्वं सर्वदा मया ॥ ६३ ॥

श्वशुरने कहा—बेटी! मुझे तो तेरी सर्वदा रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि तू स्त्री है, अभी तेरी बाल्यावस्था है, तू मेरी पतिव्रता पुत्रवधू है तथा नियमों और व्रतोंका पालन करनेके कारण यों ही दुबली हो गयी है और मेरे कुलकी संततिकी कारण भी तो तू ही है ॥ ६३ ॥

गुरुशुश्रूषणे सक्तां नियमस्थां पतिव्रताम्।
त्वां दृष्ट्वा म्लानवदनां पीड्यते च मनो मम ॥ ६४ ॥

तू नियमोंका पालन करती हुई गुरुजनोंकी सेवामें तत्पर रहती है। तुझ पतिव्रताका कुम्हलाया हुआ मुख देखकर मेरे मनमें महान् कष्ट हो रहा है ॥ ६४ ॥

स्नुषोवाच

मम त्वं स्वामिनः स्वामी देवतायाश्च देवता।
गुरोर्गुरुर्गरीयांश्च नैवं त्वं वक्तुमर्हसि ॥ ६५ ॥

पुत्रवधू बोली—श्वशुरजी! आप मेरे पतिदेवके स्वामी, देवताके देवता और गुरुके भी श्रेष्ठ गुरु हैं। आपका ऐसा कहना उचित नहीं है ॥ ६५ ॥

अनुकम्प्येति संचिन्त्य दृढभक्तेति वा पुनः।
प्रयच्छ भगवन् सक्तून् दीनामनुगृहाण माम् ॥ ६६ ॥

भगवन्! मुझ दीनपर अनुग्रह कीजिये और मुझे अपना कृपापात्र अथवा दृढ़ भक्त समझकर मेरे हिस्सेका सत्तू दे डालिये ॥ ६६ ॥

नकुल उवाच

ततस्तानपि सक्तून् स गृहीत्वातिथये ददौ।
बुभुजेऽथातिथिः सर्वान् न चासौ चुक्षुभे द्विजः॥ ६७ ॥
अनुग्रहं मन्यमानः सकुटुम्बो महातपाः।
धर्मवर्त्मनियुक्तात्मा न चचालाचलोपमः ॥ ६८ ॥

नकुल कहता रहा—द्विजवरो! तदनन्तर ब्राह्मणने वह सत्तू भी लेकर अतिथिको दे दिया। तब वह अतिथि

सारा-का-सारा सत्तू खा गया। फिर भी उन ब्राह्मणके मनमें जरा-सा भी क्षोभ नहीं हुआ; क्योंकि वे महान् तपस्वी थे। उन्होंने अपने आत्माको धर्ममार्गमें नियुक्त कर रखा था, इसलिये वे परिवारसहित उस अतिथिका अनुग्रह मानते हुए पर्वतकी भाँति अपने मार्गसे विचलित नहीं हुए ॥ ६७-६८ ॥

तं शुद्धभावं विज्ञाय प्रीतः प्रोवाच सोऽतिथिः।
धर्मोऽहं द्विजरूपेण जिज्ञासुस्त्वामिहागतः ॥ ६९ ॥

तब उस ब्राह्मणको शुद्ध भावसे भावित जानकर वह अतिथि प्रसन्न हो गया और कहने लगा—'ब्रह्मन्! मैं धर्म हूँ और तुम्हारी परीक्षा लेनेकी इच्छासे ब्राह्मणका रूप धारण करके यहाँ आया हूँ ॥ ६९ ॥

दमस्तपो दया दानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
सत्यं क्षमाऽऽर्जवं ज्ञानमित्येते सूनवो मम ॥ ७० ॥
तस्मान्नित्यमिमान् यस्तु भक्त्या मे भजते नरः।
तस्य भक्तिमतस्तुष्टो गतिमिष्टां ददाम्यहम् ॥ ७१ ॥

'विप्रवर! दम, तप, दया, दान, शौच, इन्द्रियनिग्रह, सत्य, क्षमा, आर्जव और ज्ञान—ये मेरे दस पुत्र हैं; इसलिये जो मनुष्य सदा भक्तिपूर्वक मेरे इन पुत्रोंका सेवन करता है, उस भक्तिमान्पर प्रसन्न होकर मैं उसे मनोवाञ्छित गति प्रदान करता हूँ ॥ ७०-७१ ॥

यस्मात्तु शुद्धभावेन दत्तमुञ्छार्जितं त्वया।
कृच्छ्रं प्राप्तेन सर्वस्वं ब्रह्मलोकं ततो व्रज ॥ ७२ ॥

'द्विजश्रेष्ठ! यद्यपि तुम भूखसे पीड़ित हो, फिर भी तुमने जो दाने बीनकर इकट्ठा किये हुए अपने सम्पूर्ण अन्नको शुद्ध भावपूर्वक मुझे प्रदान कर दिया है, इसके फलस्वरूप अब तुम ब्रह्मलोकको जाओ ॥ ७२ ॥

स्वर्गस्थास्त्रिदशाः सर्वे दिव्या ब्रह्मर्षयस्तथा।
स्तुवन्तु दानमेतत् ते विस्मयाविष्टमानसाः ॥ ७३ ॥

'स्वर्गवासी देवता तथा सम्पूर्ण दिव्य ब्रह्मर्षि विस्मयाविष्ट-मनसे तुम्हारे इस दानकी प्रशंसा करेंगे ॥ ७३ ॥

सक्तुप्रस्थपरित्यागं श्रद्धया समचीकरत्।
तेनाशु भवतो नूनं पप्रथे हि यशो भुवि ॥ ७४ ॥

'तुमने श्रद्धापूर्वक जो यह सेरभर सत्तूका दान किया है, इससे शीघ्र ही तुम्हारा यश इस भूतलपर अवश्य विख्यात हो जायगा ॥ ७४ ॥

अग्नयः सफलास्तेऽद्य वेदा यज्ञास्तपांसि च।
येनेदृशो ह्यनुप्राप्तो भावो भूतेषु दुर्लभः ॥ ७५ ॥

'जो प्राणियोंमें मिलना दुर्लभ है, ऐसा उत्तम भाव जो तुम्हें प्राप्त हो गया है, इससे आज तुम्हारे अग्निहोत्र, वेदाध्ययन, यज्ञ और तप—सभी सफल हो गये' ॥ ७५ ॥

इत्थं तस्मिन् महाराज ब्रुवाणे मुनिपुङ्गवे।
गगनात् पुष्पवृष्टिश्च पतिता तस्य मूर्धनि ॥ ७६ ॥

महाराज! जब ब्राह्मणवेषधारी मुनिश्रेष्ठ धर्म यों कह रहे थे, उसी समय आकाशसे उस ब्राह्मणके मस्तकपर पुष्पोंकी वर्षा होने लगी ॥ ७६ ॥

तेजः प्रज्ञां बलं धैर्यं क्षुन्नाशयति देहिनाम्।
दुर्जयां तां यो जयति तेन स्वर्गो जितो भवेत् ॥ ७७ ॥

(अतिथि कहता है—) 'ब्रह्मन्! क्षुधा प्राणियोंके तेज, बुद्धि, बल और धैर्यका नाश कर देती है, अतः उस दुर्जय भूखको जो जीत लेता है, उसने मानो स्वर्गपर विजय पा ली॥

भार्या पुत्रः स्नुषा साध्वी तथैवात्मा सुदुस्त्यजः।
सर्वाण्येतानि धर्मार्थे त्यक्तानि तृणवत् त्वया ॥ ७८ ॥

'अहो! पत्नी, पुत्र, पतिव्रता पुत्रवधू तथा परम दुस्त्यज अपना आत्मा—इन सबको तुमने धर्मकी रक्षाके लिये तृणके समान त्याग दिया! ॥ ७८ ॥

न तथा प्रीयते धर्मो दानैर्दत्तैर्महाधनैः।
न्यायलब्धैर्यथा ह्यर्थैः श्रद्धापूतैः स तुष्यति ॥ ७९ ॥

'(अन्यायोपार्जित एवं श्रद्धारहित) बहुत बड़ी धन-राशिके दानसे धर्मको वैसी प्रसन्नता नहीं प्राप्त होती, जैसा वह न्यायोपार्जित एवं श्रद्धासे पवित्र थोड़े-से भी धनके दानसे संतुष्ट होता है ॥ ७९ ॥

अश्रद्धा परमं पापं श्रद्धा पापविनाशिनी।
जहाति पापं श्रद्धावाञ्जीर्णां त्वचमिवोरगः ॥ ८० ॥

'श्रद्धाका न होना महान् पाप है और श्रद्धा पापका विनाश करनेवाली है। जो मनुष्य श्रद्धावान् है, वह पुरानी केंचुलको छोड़नेवाले सर्पकी भाँति पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥

बहु श्रद्धाविरहितं नष्टमाहुर्मनीषिणः।
वार्यपि श्रद्धया दत्तमक्षय्यमुपजायते ॥ ८१ ॥

'विद्वानोंका कथन है कि श्रद्धारहित होकर दिया हुआ ढेर-का-ढेर दान नष्ट हो जाता है; परंतु श्रद्धापूर्वक दिया हुआ जल भी अक्षय होकर प्राप्त होता है ॥ ८१ ॥

रन्तिदेवस्तु धर्मात्मा पुरा निष्किञ्चनोऽभवत्।
श्रद्धापूतः स धर्मात्मा नाकपृष्ठमितो गतः ॥ ८२ ॥

'प्राचीन कालकी बात है, धर्मात्मा राजा रन्तिदेव (सर्वस्व दान कर देनेके कारण) निष्किंचन हो गये थे; परंतु श्रद्धा-संयुक्त होनेके कारण वे धर्मनिष्ठ नरेश पावन हो चुके थे, इसलिये यहाँसे स्वर्गलोकको चले गये ॥ ८२ ॥

आत्ममांसप्रदानेन शिबिरौशीनरो तथा।
सर्वदुःखविनिर्मुक्तो मुमुदे देववच्चिरम् ॥ ८३ ॥

'इसी प्रकार उशीनर-पुत्र राजा शिबिने (बाजरूपधारी इन्द्रको) अपना मांस काटकर प्रदान कर दिया था, जिससे वे

सम्पूर्ण दुःखोंसे छूट गये और चिरकालसे स्वर्गलोकमें देवताकी भाँति आनन्द भोग रहे हैं ॥ ८३ ॥

पश्य देवविमानं खे तव प्राप्तमिदं द्विज।
स्वर्गं गच्छ समारुह्य सभार्यःससुतस्नुषः ॥ ८४ ॥

'द्विजवर ! आकाशमें उस देवविमानकी ओर देखिये। यह तुम्हारे लिये ही आया है। अब तुम पत्नी, पुत्र और पुत्रवधूसहित इसपर बैठकर स्वर्गलोकको जाओ' ॥ ८४ ॥

नकुल उवाच

इत्युक्तः परितुष्टेन साक्षाद्धर्मेण स द्विजः।
दिव्यं विमानमारुह्य सकुटुम्बो ययौ दिवम् ॥ ८५ ॥

नेवला कहता रहा—विप्रगण ! जब साक्षात् धर्मने परम प्रसन्न होकर इस प्रकार कहा, तब वह ब्राह्मण परिवार-सहित उस दिव्य विमानपर चढ़कर स्वर्गलोकको चला गया ॥

ततोऽहं तेषु यातेषु बिलान्निःसृत्य सत्वरम्।
दिव्यपुष्पसमाकीर्णे सक्तुतोये व्यचेष्टयम् ॥ ८६ ॥

तदनन्तर उन सबके चले जानेपर मैं तुरंत ही बिलसे निकलकर दिव्य पुष्पोंसे आच्छादित उस सत्तूके जलमें लोटने लगा ॥ ८६ ॥

अथ धर्मप्रसादान्मे मुनेस्तस्य च तेजसा।
दिव्यपुष्पविमर्दाच्च हैमं पार्श्वमभूदिदम् ॥ ८७ ॥

तब धर्मकी कृपा, उस मुनिके तेज और दिव्य पुष्पोंपर लोटनेसे मेरा यह एक पार्श्व सोनेका हो गया ॥ ८७ ॥

द्वितीयं तु कथं पार्श्वं हैमं स्यादिति चिन्तयन्।
तपोवनानि तीर्थानि यज्ञांश्चाप्यगमेस्तथा।
ततो यज्ञमिमं श्रुत्वा धर्मराजस्य धीमतः ॥ ८८ ॥
आशया परया प्राप्तो न तु काञ्चनतां गतः ॥ ८९ ॥

अब मेरा दूसरा पार्श्व सुवर्णका कैसे हो—इसी चिन्तामें डूबा हुआ मैं तपोवनों, तीर्थस्थानों तथा यज्ञोंमें भी घूमता फिरा। इसी बीच जब मैंने बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरके इस यज्ञका समाचार सुना, तब परम आशान्वित होकर मैं यहाँ आया; परंतु मेरा दूसरा पार्श्व सोनेका नहीं हुआ ॥८८-८९॥

जैमिनिरुवाच

इत्येवं कथयित्वा तु द्विजानां नकुलस्तदा।
ययौ यथागतं राजन् विप्राणां तत्र पश्यताम् ॥ ९० ॥

जैमिनिजी कहते हैं—राजा जनमेजय ! तब उन ब्राह्मणोंसे ऐसा कहकर वह नेवला वहाँ उपस्थित विप्रोंके देखते-देखते जैसे आया था, वैसे ही लौट गया ॥ ९० ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
अश्वमेधे महायज्ञे यदाश्चर्यमभूत् तदा ॥ ९१ ॥

राजन् ! उस समय उस महान् यज्ञ अश्वमेधकी समाप्तिके अवसरपर जो आश्चर्यजनक घटना घटी थी और जिसके विषयमें तुमने मुझसे पूछा था, वह सारा वृत्तान्त मैंने तुम्हें सुना दिया ॥ ९१ ॥

तस्मान्न विस्मयः कार्यस्त्वया यज्ञेषु पार्थिव।
विनैव यज्ञैर्मुनयः श्रद्धापूता दिवं गताः ॥ ९२ ॥

इसलिये पृथ्वीनाथ ! तुम्हें यज्ञोंके विषयमें आश्चर्य नहीं करना चाहिये; क्योंकि बहुत-से मुनि यज्ञानुष्ठानके बिना ही श्रद्धासे पवित्र हो स्वर्गलोकको प्राप्त हुए हैं ॥ ९२ ॥

अद्रोहः सर्वभूतेषु संतोषः सत्यमार्जवम्।
सर्वेन्द्रियजयः शान्तिस्तपश्च स्वर्गसाधनम् ॥ ९३ ॥

(यज्ञ करनेसे ही स्वर्ग मिलता हो, ऐसी बात नहीं है; बल्कि) समस्त प्राणियोंसे द्रोह न करना, संतोष, सत्य, सरलता, सम्पूर्ण इन्द्रियोंपर विजयी होना, शान्ति और तप—ये सभी स्वर्गप्राप्तिके साधन हैं ॥ ९३ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि नकुलोपाख्याने सकुटुम्बब्राह्मणस्वर्गप्राप्तिर्नाम षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें नकुलोपाख्यानके प्रसङ्गमें परिवारसहित ब्राह्मणका स्वर्गप्राप्तिनामक छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

जनमेजयकी नेवलेके विषयमें जिज्ञासा और जैमिनिजीद्वारा नेवलेका पूर्वचरित्र-वर्णन

जनमेजय उवाच

कोऽसौ नकुलरूपेण शिरसा काञ्चनेन च।
प्राह मानुषवद् वाचमेतत् पृष्टो वदस्व मे ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—मुने ! जिसका सिर सुवर्णका था, ऐसा वह नकुलरूपधारी कौन था, जो मनुष्यकी-सी वाणी बोलता था ? मेरे इस प्रश्नका उत्तर देनेकी कृपा कीजिये ॥१॥

जैमिनिरुवाच

श्रूयतां नकुलो योऽसौ यथा वागस्य मानुषी।
इहार्थे यत्पुरा वृत्तं तदिहैकमनाः शृणु ॥ २ ॥

जैमिनिजीने कहा—राजन् ! वह नकुल जो था और जैसे मनुष्यकी-सी वाणी बोलता था, इस विषयमें जो प्राचीन वृत्तान्त है, उसे अब एकाग्रमनसे श्रवण करो ॥ २ ॥

श्राद्धं संकल्पयामास जमदग्निः पुरा किल।
होमधेनुस्तमागाद् वै स्वर्गलोकादरिंदम ॥ ३ ॥

शत्रुसूदन ! प्राचीन कालकी बात है, एक बार महर्षि

जमदग्निने श्राद्ध करनेका संकल्प किया, उस समय स्वर्गलोकसे होमधेनु उनके पास आयी ॥ ३ ॥

तत्क्षीरं स्थापयामास नवे भाण्डे दृढे शुभे।
तच्च क्रोधः स्वरूपेण सर्पस्य पर्यधर्षयत् ॥ ४ ॥

मुनिने उसके दूधको एक सुन्दर एवं मजबूत नवीन पात्रमें डालकर रख दिया। तब क्रोधने सर्पका रूप धारण करके उस दूधको दूषित कर दिया ॥ ४ ॥

जिज्ञासुस्तमृषिश्रेष्ठं किं कुर्याद्धि विषीकृते।
इति संचिन्त्य दुर्मेधा धर्षयामास तत् पयः ॥ ५ ॥

दुर्बुद्धि क्रोध मुनिश्रेष्ठ जमदग्निकी यह परीक्षा लेना चाहता था कि दूधको विषैला कर देनेपर ये क्या करेंगे (अर्थात् इन्हें क्रोध आता है या नहीं)? इसी विचारसे उसने उस दूधको दूषित किया था ॥ ५ ॥

तमाज्ञाय मुनिः कोपं न चास्य चुकुपे तदा।
स तु क्रोधस्तमाहेदं प्राञ्जलिर्मूर्तिमान् स्थितः ॥ ६ ॥

परंतु मुनि उस सर्पको क्रोध जानकर उसपर कुपित नहीं हुए। तब वह क्रोध मूर्तिमान् हो हाथ जोड़कर सामने खड़ा हो गया और मुनिसे इस प्रकार कहने लगा—॥ ६ ॥

जितोऽस्मीति भृगुश्रेष्ठ भृगवो ह्यतिरोषिणः।
लोके मिथ्यापवादोऽयं यत् त्वयास्मि पराजितः ॥ ७ ॥

'भृगुश्रेष्ठ! आपने मुझे जीत लिया, अतः 'भृगुवंशी अत्यन्त क्रोधी होते हैं' लोकमें फैली हुई यह चर्चा मिथ्यापवादमात्र है; क्योंकि आपने मुझे पराजित कर दिया है ॥७॥

सोऽहं त्वयि स्थितो ह्यद्य क्षमावति महात्मनि।
बिभेमि तपसः साक्षात् प्रसादं कुरु मे प्रभो ॥ ८ ॥

'वही मैं इस समय साक्षात् रूपसे आप-जैसे क्षमाशील महात्माके समक्ष खड़ा हूँ और आपकी तपस्यासे डर रहा हूँ। प्रभो! मुझपर कृपा कीजिये' ॥ ८ ॥

जमदग्निरुवाच

साक्षात् दृष्टोऽसि मे क्रोध गच्छ त्वं विगतज्वरः।
न ममापकृतं तेऽद्य न मन्युर्विद्यते मम ॥ ९ ॥

जमदग्निने कहा—क्रोध! मैंने तुझे साक्षात् रूपसे जान लिया है, अतः अब तू संतापरहित होकर अपने स्थानको चला जा। तूने मेरा कुछ भी अपकार नहीं किया है, इसलिये इस समय मेरे मनमें तेरे प्रति कुछ भी क्रोध नहीं है ॥ ९ ॥

यानुद्दिश्य तु संकल्पः पयस्यस्मिन् कृतो मया।
पितरस्ते महाभागास्तेभ्यो बुध्यस्व गम्यताम् ॥ १० ॥

मैंने जिनके उद्देश्यसे इस दूधमें संकल्प किया था, वे मेरे महाभाग पितर हैं। अब तू जा और उन्हें यह अवगत करा दे ॥ १० ॥

इत्युक्तो जातसंत्रासस्तत्रैवान्तरधीयत।
पितॄणामभिषङ्गात्तु नकुलत्वमुपागतः ॥ ११ ॥

मुनिके यों कहनेपर क्रोध भयभीत होकर वहीं अन्तर्धान हो गया। पीछे पितरोंका अपराध करनेके कारण उसे नकुल-भावकी प्राप्ति हुई ॥ ११ ॥

स तान् प्रसादयामास शापस्यान्तो भवेदिति।
तैश्चाप्युक्तो यदा धर्मसभायां कृष्णसंनिधौ ॥ १२ ॥
उञ्छवृत्तकथां ब्रूषे तदा मुक्तो भविष्यसि।

तत्पश्चात् 'मेरे शापका अन्त हो जाय' इस विचारसे जब नकुलने उन पितरोंको प्रसन्न किया, तब उन्होंने भी कहा—'नकुल! जिस समय तू धर्मराज युधिष्ठिरकी सभामें श्रीकृष्णके समीप उञ्छवृत्तिधारी ब्राह्मणकी कथाका वर्णन करेगा, उसी समय मुक्त हो जायगा' ॥ १२½ ॥

इत्युक्तो याज्ञिकान् देशान् धर्मारण्यानि चैव हि ॥ १३ ॥
कृष्णस्य दर्शनाकाङ्क्षी तं यज्ञं समुपागतः।

पितरोंके ऐसा कहनेपर वह नेवला भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनकी लालसासे याज्ञिक देशों तथा धर्मारण्योंमें घूमता हुआ उस यज्ञमें आ पहुँचा ॥ १३½ ॥

धर्मपुत्रमथाक्षिप्य सक्तुप्रस्थेन तेन सः ॥ १४ ॥
मुक्तः शापात् तथावृत्तं तव तस्य महात्मनः।
पश्यतामेव नस्तत्र नकुलोऽन्तरधीयत ॥ १५ ॥

वहाँ उसने उस महात्मा ब्राह्मणके सेरभर सत्तूदानका वर्णन करके धर्मनन्दन युधिष्ठिरपर आक्षेप किया, जिससे वह शापसे मुक्त हो गया। वह सारा वृत्तान्त मैंने तुम्हें सुना दिया। तत्पश्चात् हमलोगोंके सामने ही वह नेवला वहीं अन्तर्धान हो गया ॥ १४-१५ ॥

स चापि भगवान् कृष्णः शङ्खचक्रगदाधरः।
आसमाप्तेर्जगन्नाथो यज्ञं रक्षितवान् हरिः ॥ १६ ॥

राजन्! जो भक्तजनोंके पापोंका हरण करनेवाले, शङ्ख-चक्र-गदाधारी तथा जगत्के स्वामी हैं, वे भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार समाप्तिपर्यन्त उस यज्ञकी रक्षा करते रहे ॥ १६ ॥

रक्षित्वा स महाबाहुः पाण्डवैः पूजितश्चिरम्।
रममाणः पुरे तस्मिन्नुवास दिवसान् बहून् ॥ १७ ॥

यज्ञ-रक्षाके उपरान्त पाण्डवोंने महाबाहु श्रीकृष्णकी विशेषरूपसे पूजा की। फिर वे उस हस्तिनापुरमें विहार करते हुए बहुत दिनोंतक ठहरे रहे ॥ १७ ॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वणि नकुलोपाख्यानसमाप्तिर्नाम सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें नकुलोपाख्यानकी समाप्तिनामक सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

जैमिनीयाश्वमेधपर्वके श्रवणकी महिमा

जैमिनिरुवाच

ततः कृष्णादयः सर्वे धर्मराजेन धीमता।
पूजिता यादवास्तत्र नृपाश्च बहुमानिताः॥ १॥

जैमिनिजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर हस्तिनापुरमें बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरने श्रीकृष्ण आदि समस्त यादवों तथा समागत नरेशोंका बड़े सम्मानके साथ पूजन किया॥ १॥

नरनारीमहीपालाः स्वानि सौख्यानि भेजिरे।
हर्षप्रमुदिता लोका ह्यासन् धर्मेण पालिताः॥ २॥

उस समय धर्मावतार युधिष्ठिरसे सुरक्षित होनेके कारण नर-नारी तथा भूपालगण स्वानुकूल सुखोंका अनुभव करने लगे और सभी लोग आनन्दमग्न हो गये॥ २॥

आश्वमेधिकनामा च पर्व तुभ्यं प्रकीर्तितम्।
शृणुष्वास्य फलं राजन् सत्यं हि गदतो मम॥ ३॥

राजन्! मैंने तुमसे इस आश्वमेधिकपर्वका विस्तारपूर्वक वर्णन कर दिया। अब तुम मेरे मुखसे इसका यथार्थ फल श्रवण करो॥ ३॥

धेनूनां हि सहस्रे च दत्ते भवति यत् फलम्।
तत् प्राप्नोति समग्रं यः शृणुयादाश्वमेधिकम्॥ ४॥
फलं शतगुणं तस्माद् ग्रन्थदः समवाप्नुयात्।

एक हजार गौओंके दान करनेसे जो फल होता है, वह सारा-का-सारा फल उसे प्राप्त होता है, जो इस आश्वमेधिकपर्वको सुनता है और जो इस ग्रन्थका दान करता है, वह उससे भी सौगुना अधिक फलका भागी होता है॥ ४½॥

यो दद्यात् पुस्तकं गां च ब्राह्मणाय गृहं श्रियम्॥ ५॥
गौरीं वरयते कन्यां नीलं वा वृषमुत्सृजेत्।
आश्वमेधिकमध्यायं शृणुयाद् यः समौ च तौ॥ ६॥

एक ओर जो ब्राह्मणको पुस्तक, गौ, घर और सम्पत्ति दान करता है, गौरी (अष्टवर्षा) कन्याका वरण करता है अथवा नील वृष (साँड़) का उत्सर्ग करता है तथा दूसरी ओर जो आश्वमेधिकपर्वका एक अध्याय श्रवण करता है, उन दोनोंको समान फलकी प्राप्ति होती है॥ ५-६॥

यौवनाश्वमुखानां च नृपाणां च शुभाः कथाः।
शृणुयाच्छ्रावयेन् सोऽपि कलिदोषैर्न लिप्यते॥ ७॥

जो मनुष्य यौवनाश्व आदि प्रमुख राजाओंकी शुभ कथाओंको स्वयं सुनता अथवा दूसरोंको सुनाता है, वह भी कलियुगके दोषोंसे लिप्त नहीं होता॥ ७॥

ब्राह्मणो लभते विद्यां धनार्थी प्राप्नुयाद् धनम्।
क्षत्रियो जायते शूरः प्राप्नुयान्न पराजयम्॥ ८॥
अपुत्रो लभते पुत्रं रोगी रोगैर्विमुच्यते।

(इसके श्रवणसे) ब्राह्मण विद्यालाभ करता है, धनार्थीको धनकी प्राप्ति होती है, क्षत्रिय शूरवीर होता है; उसकी कभी पराजय नहीं होती, पुत्रहीनको पुत्र मिल जाता है और रोगी रोगसे मुक्त हो जाता है॥ ८½॥

अष्टादशपुराणानां पठनाद् यत् फलं भवेत्॥ ९॥
तत् फलं समवाप्नोति भारतश्रवणान्नरः।
समग्रं भारतं तेन श्रुतं भवति भारत॥ १०॥
यश्चाश्वमेधिकं सर्वं शृणुयाद् भावपूर्वकम्।
अस्मिन् पर्वणि राजेन्द्र समाप्ते पूजनं शृणु॥ ११॥

भारत! अठारहों पुराणोंको पढ़नेसे जो फल होता है, वह फल मनुष्यको महाभारतके श्रवणसे सुलभ हो जाता है तथा जो भक्तिभावपूर्वक समस्त आश्वमेधिकपर्वको सुनता है, उसने मानो सम्पूर्ण महाभारतका श्रवण कर लिया। राजेन्द्र! अब इस पर्वकी समाप्तिमें जैसी पूजनकी विधि है, उसे सुनो॥

ब्राह्मणान् भक्ष्यभोज्यैश्च सम्पूज्य वस्त्रभूषणैः।
अश्वो देयः सुवर्णस्य दशकर्षविनिर्मितः॥ १२॥

ब्राह्मणोंको भक्ष्य-भोज्य पदार्थों तथा वस्त्राभूषणोंसे भलीभाँति सत्कृत करके उन्हें दस कर्ष (तोला) सुवर्णका बना हुआ अश्व दान करना चाहिये॥ १२॥

प्रत्यक्षो वृषभो देयस्तस्य पर्वफलं महत्।
यथाशक्त्यथवा कार्यो विधिः पर्वणि यः स्मृतः॥ १३॥
दानं दत्त्वा नृपश्रेष्ठ सम्पूर्णफलभाग् भवेत्।

नृपश्रेष्ठ! जो प्रत्यक्षरूपसे वृषभ दान करता है, उसे इस पर्वका महान् फल प्राप्त होता है। अथवा इस पर्वमें जो विधि बतायी गयी है, उसका यथाशक्ति पालन करना चाहिये; क्योंकि दान करके ही मनुष्य सम्पूर्ण फलका भागी होता है॥

चतुर्दश च पर्वाणि कथितानि विशाम्पते॥ १४॥
अतश्चाश्रमवासाख्यं पर्व राजञ्छृणुष्व तत्॥ १५॥

प्रजानाथ! मैंने तुमसे चौदह पर्वोंका तो वर्णन कर दिया। अब आगे आश्रमवासिकपर्व है। राजन्! उसका वर्णन सुनो॥ १४-१५॥

इति जैमिनीयाश्वमेधपर्वण्यश्वमेधश्रवणफलवर्णनं नामाष्टषष्टितमोऽध्यायः॥ ६८॥

इस प्रकार जैमिनीयाश्वमेधपर्वमें अश्वमेध-श्रवणके फलका वर्णननामक अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ६८॥

॥ समाप्तो जैमिनीयाश्वमेधः॥

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु॥